□ प्रथम संस्करण : १९९५ ई., वि. सं. २०५२, वीर सं. २५२१

□ *सम्पादक*
शान्ति चन्द्र मेहता
'महत्ता सदन', ए-४ कुंभानगर, चित्तौड़गढ़ (राज.)

□ *प्रकाशक*
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
बीकानेर ३३४००५

□ मूल्य : ७० रुपये मात्र

□ आवरण : कानसिंह सोलंकी

□ *मुद्रक*
सांखला प्रिण्टर्स
सुगन निवास, चन्दन सागर
बीकानेर ३३४००१

प्रस्तावना

यह पुस्तक जैन आम्नगम के सम्मान्य एवं पूजनीय आचार्यदेव श्री नानालालजी महाराज सा. के राणावास प्रवचनों पर आधारित तथा श्री शांतिचन्द्रजी मेहता द्वारा सम्पादित है।

'आत्मसमीक्षण के नव-सूत्र' शीर्षक इस आकलन में जैन दर्शन एवं अध्यात्म साधना के समग्र सूत्र समाहित हैं। जैन परम्परा के प्राचीनतम सूत्र आचारांग के वाक्यों को शीर्ष-स्थान पर रखते हुए कालातीत एवं चिरंतन आईतीविद्या का यह अमृत-कलश साधकों के लिए एक संजीवनी है जिसमें समता-योग एवं ध्यान की क्रमागत एवं सुगम्य व्याख्या है। आचार्य भगवन की भाषा प्रांजल किन्तु सरल है, उदाहरण सुगम्य एवं दिशादर्शक हैं और अध्यात्म की सर्वोच्च अवस्था के साथ सामाजिक एवं आर्थिक राजनयिक जीवन के भी दिशा-निर्देश हैं। इस आकलन की एक अपूर्व एवं अनुपम विशेषता यह भी है कि यहां किसी अन्य पुरुष को संबोधित करते हुए आध्यात्मिक सत्यों का मात्र बौद्धिक विवेचन नहीं किया गया है अपितु आचारांग की भांति ही प्रथम-पुरुष में ही हर अध्याय का प्रारंभ और समापन किया गया है और हर अध्याय अपने पूर्ववर्ती चिंतन से इतना क्रमागत एवं गुंफित है कि यह ग्रंथ आध्यात्मिक चेतना की महायात्रा का एक निर्देशक आकलन बन गया है। पाठक यहाँ प्रथम-पुरुष में अपने को रख कर सतत आत्मावलोकन करते हुए समत्व योग के एक-एक सोपान को बुद्धि से परिलक्षित नहीं, अपितु भावना से आत्मसात करते हुए आगे बढ़ सकता है। यह पुस्तक अध्यात्म पथ के पथिकों के लिए एक सक्षम मार्गदर्शक एवं पथ-बंधु बन गयी है।

दृष्टव्य यह भी है कि यहाँ किसी प्रकार का साम्प्रदायिक मताग्रह या खंडन-मंडन नहीं है। जैन दर्शन एवं सिद्धांत का कोई भी सूत्र अविवेचित नहीं रहा है, लेकिन दृष्टि मानव-चेतना की जड़ जगत के साथ मिथ्या तादात्म्य से ऊर्ध्वारोहण कर अनंत-चेतन स्व-स्वरूप के साथ एकत्व की जय-यात्रा पर रही है जो इस आकलन का उद्देश्य है।

अध्यात्म-साधना के पथ पर चलते हुए भी मनीषी प्रवक्ता की दृष्टि वर्तमान विज्ञान की कषायविजड़ित राजनीतिक संकीर्ण स्वार्थों से संचालित तथाकथित प्रगति एवं मानव सभ्यता पर उसके दूषित प्रभाव को स्पर्श करते हुए सामाजिक विषमताओं, अंध-परंपराओं, साम्प्रदायिक मताग्रहों, सामाजिक कुरीतियों का समीक्षण और इनके दुष्प्रभावों से मानव समाज को सावधान करती रही है। इस दृष्टि से भी यह आकलन अमूल्य है।

तत्व-दर्शन के जिज्ञासुओं के लिए यहां समस्त गुणस्थानों, संवर-निर्जरा एवं तप के समस्त भेद-प्रभेदों एवं ध्यान-योग की समस्त आगम-सम्मत विधियों का विवेचन उपलब्ध है। संक्षेप में यह पुस्तक संप्रदायातीत शुद्ध जैन-दर्शन एवं साधना के सूत्रों का संक्षिप्त एवं सुगम सार सत्व है।

कलकत्ता — डॉ. भानीराम वर्मा 'अग्निमुख'

दिनांक २६.५.६५

सम्पादकीय

आचार्य श्री नानेश द्वारा उपदेशित एवं मेरे द्वारा सम्पादित ग्रंथ 'आत्मसमीक्षण' का देर से ही सही, प्रकाशन हो रहा है—यह अतीव हर्ष का विषय है।

यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य की महानता आत्म-चिन्तन से ही जन्म लेती है। आत्मा अपने कार्यों तथा कर्मों की कर्त्ता तो होती ही है, किन्तु जब तक उसके मूल स्वरूप की अतल गहराइयों से गंभीर चिन्तन नहीं फूटता, तब तक उसकी वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ सम्यक् ज्ञान एवं विवेक के समीप भी नहीं पहुँचतीं। इनका प्रादुर्भाव चिन्तन के प्रारम्भ के साथ ही होता है और ज्यों ज्यों चिन्तन की सूक्ष्मता बढ़ती जाती है, आत्मा की आन्तरिक आंखें खुलती जाती हैं। तब आत्मा कर्त्ता के साथ ही अपनी विज्ञाता और द्रष्टा भी बनती है।

आत्मा का विज्ञाता एवं द्रष्टा भाव ही उसकी जागृति का परिचायक होता है। आत्मा जब पल-पल अपने स्वरूप, क्रिया-कलापों तथा गति-क्रमों को देखती और समझती रहती है, तब वह पूर्ण जागरूक हो जाती है—सावधान रहती है कि किसी भी पल, किसी भी कदम पर उसके द्वारा ऐसा कोई विचार, उच्चार या कार्य न हो जो किसी भी प्राणी का किंचित् मात्र भी अहित करता हो अथवा स्वयं अपनी ही विकास गति में बाधा डालता हो। ऐसे ही आत्म-जागृति स्व-पर कल्याण की उत्प्रेरक बनती है।

प्रस्तुत ग्रंथ ग्यारह अध्यायों में विभाजित किया गया है, जिसके प्रथम और अन्तिम अध्याय को प्रारंभिक तथा उपसंहारात्मक बना कर बीच के नौ अध्यायों में इसी उत्कृष्ट आत्म चिन्तन के प्रतीक नौ सूत्रों का भावपूर्ण विश्लेषण दिया गया है कि ऐसा ही आत्म चिन्तन प्रबुद्धता को प्राप्त होता हुआ 'आत्मसमीक्षण' का स्वरूप ग्रहण करे। चिन्तन उत्प्रेरक होता है तो समीक्षण उपलब्धि। सरलार्थ में समान रूप से निरन्तर अपने आपको देखते और समझते रहने की प्रक्रिया को समीक्षण कहा जा सकता है। समीक्षण के फलस्वरूप ही आत्मा अपने श्रेष्ठ पराक्रम के लिए सन्नद्ध बनती है। समीक्षण के सतत अभ्यास के उपरान्त आत्मा का यह स्वभाव हो जाता है कि वह निरन्तर जागरूक रहे और परमात्म पद तक गति करने का सत्प्रयास करे। उक्त नौ सूत्रों के शीर्षक मात्र से, मेरा विश्वास है कि पाठक अपनी आन्तरिकता के प्रति उन्मुख होंगे एवं इस ग्रन्थ को पूरा पढ़ने, निरन्तर पढ़ते रहने तथा मनन करते रहने के अपने संकल्प को स्थिर कर सकेंगे।

सम्पूर्ण ग्रन्थ उत्तम पुरुष में लिखा गया है ताकि आरम्भ से अन्त तक पाठक सारी विषय-वस्तु को निजात्मा पर आरोपित करता हुआ चले और स्वाभाविक रूप से आत्म चिन्तन के प्रवाह में बहने लगे। कौन जाने, किसका चिन्तन प्रवाह उसे गहराई तक डुबोता हुआ आत्मविभोर बना दे! वस्तुतः इस ग्रन्थ रचना का यही सार्थक लक्ष्य है।

आचार्य नानेश मात्र एक साधक ही नहीं, बल्कि अपने आप में विकसित चेतना एवं उदात्त साधना के एक प्रतीक बन गये हैं, अतः उनके उपदेश से निसृत प्रत्येक शब्द अपने गूढ़ार्थ के साथ आत्म-सचेतक बन जाता है। इस ग्रन्थ में उनका यही प्रभावोत्पादक प्रकाशमान स्वरूप गुंफित है जो पाठकों को प्रभावित करेगा कि वे इन प्रकाश-कणों को आत्मसात् करें एवं अपने जीवन को 'ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः' के पथ पर गतिमान बनावें। मैं अपने सम्पादन को भी इसी दृष्टि से सफल मानना चाहता हूँ।

आचार्य श्री के उपदेश किसी भी प्रकार की विसंगति अथवा भूल से ऊपर उठे हुए होते हैं। अतः इस ग्रन्थ में जहाँ कहीं कोई विसंगति अथवा भूल दृष्टि या प्रतीति में भी आवे तो उसका दायित्व मेरा अपना है और उसके लिए मैं अग्रिम रूप से क्षमाप्रार्थी हूँ।

—शान्ति चन्द्र मेहता

महावीर जयन्ती

१३ अप्रैल १९९५

'महत्ता सदन'

ए-४, कुंभानगर,

चित्तौड़गढ़ ३१२००१ (राज.)

प्रकाशकीय

भारतीय संस्कृति की प्राणी-करुणा से ओतप्रोत जीवनधारा की अमल, अमर प्रवाहयात्रा का प्रतिनिधित्व करने वाली श्रमण संस्कृति में साधुमार्ग का विशिष्ट महत्त्व है। साधुमार्गी परम्परा ने गुणपूजा के पवित्र भावों से समाज को प्रभावित करते हुए उत्कृष्ट पथ का दिशा-निर्देश किया है। जीवन-व्यवहारों को आत्मसंयम से निर्देशित कर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति हेतु मानव-मात्र को दिशाबोध प्रदान करने वाली श्रमण संस्कृति की प्रतिनिधि धारा साधुमार्ग में ज्योतिर्धर, क्रांतदर्शी और शांतक्रांति के सूत्रधारों आचार्यों की ज्योतित रत्नमालिका में वर्तमान शासन नायक जिन शासन प्रद्योतक, समता दर्शन प्रणेता, धर्मपाल प्रतिबोधक, परमपूज्य आचार्य-प्रवर श्री १००८ श्री नानालाल जी म. सा. अद्‌भुत प्रतिभा और मेधा के धनी तथा आदर्श संगठन कौशल के साकार रूप हैं।

अपनी अनन्य शास्त्रीय निष्ठा और आगमिक ग्रंथों के तलस्पर्शी ज्ञान के साथ ही साथ आचार्य श्री नानेश क्रिया के क्षेत्र में अपने स्वयं के आचरण और अपनी शिष्यमंडली के शुद्धाचार हेतु अहर्निश सजग रहते हैं। शास्त्र के दिशा-निर्देश को अपनी जीवन साधना के बल पर, अपने चरित्र और दृढ़ आचार के द्वारा परमपूज्य आचार्य-प्रवर ने जन-जन के समक्ष प्रत्यक्ष किया ः। आचार्य श्री नानेश ने अपनी विहार यात्रा में, इस पवित्र भारत भूमि के ग्राम-ग्राम, नगर-नगर, डगर-डगर तक पांव पैदल चलते हुए, इस देश के सभी धर्म, पंथ, जाति के निवासियों को अपने ावन अमृतमय उपदेशों से लाभान्वित किया है। जन-जन के साथ गत ५६ वर्षों से निरन्तर संवाद रते हुए, उनके सुख-दुख में उन्हें धैर्य बंधाते हुए, सहस्त्र-सहस्त्र जनों की अनन्त जिज्ञासाओं का विचल धैर्य से समाधान करते हुए आचार्य श्री नानेश अपनी मर्यादा के साथ विचरण करते रहे हैं।

इस अनथक लोकयात्रा में विचक्षण मेधा और प्रखर प्रतिभा तथा उससे भी बढ़कर संवेदनशील अंतःकरण से आचार्य-प्रवर ने लोकजीवन का अवलोकन किया और घोर षमता से त्रस्त पीड़ित मानवता के परित्राण हेतु उनकी अमृतवाणी से 'समता' का सन्देश हेतु प्रवाहित हो उठा। समता के धरातल पर समाज जीवन को एक आधार-अधिष्ठान ला और तदनन्तर आचार्य-प्रवर की अन्वेषिणी बुद्धि ने लोकहित के लिए 'आत्मसमीक्षण' के ालजयी सत्य-तथ्य की ओर जन-जन का ध्यान आकर्षित किया।

पीड़ित लोक जीवन का भटकाव असह्य था। आत्म शांति की खोज में भटक रहे प्राणियों दशा देखी नहीं जा रही थी। ध्यान से शांति की संभावना है, मात्र इतना जान कर जन-जीवन ान के पीछे पगलाया-बौराया सा दौड़ चला। ध्यान-साधना के नाम पर अनेकानेक संस्थाएं उभर ईं। ध्यान के शास्त्रीय आधार, ध्यान के मूल स्वरूप से सर्वथा अनजान, अज्ञ जन ध्यान के पुरोधा बैठे और जनता उनकी उपासक बन गई। ध्यान साधना के क्षेत्र में एक अंधेरा सा छाने लगा। णामूर्ति आचार्य-प्रवर ने अंधियारे में उजियारे की भूमिका निभाई। आगम मर्मज्ञ आचार्यदेव ने - 'पण्णा समिक्खए धम्मे' के आधार पर अज्ञान समुद्र के गर्भ से निकालकर 'समीक्षण न' का 'अमृत कलश' समाज को सेवार्पित कर दिया।

'समीक्षण ध्यान' का आधार आगम है और इसके व्याख्याकार स्वयं समीक्षण ध्यानयोगी आचार्य श्री नानेश हैं, अतः देखते-देखते समाज ने समीक्षण ध्यान की साधना को अपना लिया। आत्मसात् कर लिया। समीक्षण ध्यान पर बहुआयामी सामग्री का प्रकाशन हुआ और समीक्षण ध्यान के साधना शिविरों में साधक उमड़ पड़े। करुणामूर्ति आचार्य-प्रवर ने समाज से 'आत्मसमीक्षण' का आह्वान किया। यह एक कालजयी आह्वान है और इसमें समतामय समाज-रचना कर सकने का अतुलित सामर्थ्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ 'आत्मसमीक्षण' आचार्य श्री नानेश के विचार सार, विचार नवनीत को अपने कलेवर में समेटे है और व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए एक प्रकाश-स्तंभ की भांति की पथ-प्रदर्शक है। यह अद्भुत ग्रंथ-रत्न विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में गुरुदेव की एक अपूर्व देन है। इसमें आत्मसमीक्षण के नव सूत्रों के साथ ही समता की जययात्रा तक का सांगोपांग विवेचन है।

विश्वास है यह ग्रन्थ समाज के लिए एक प्रेरक शक्ति के रूप में विश्व मानवता के लिए आगम साहित्य की अनमोल भेंट होगी। परमपूज्य आचार्य गुरुदेव के विचार नवनीत को समाज के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हम हर्षित हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्यश्री के भावों को पूर्ण रूप से आत्मसात करते हुए जो सम्पादन कार्य श्रीमान् शान्तिचन्द्र जी मेहता, चित्तौड़ ने किया इसके वास्ते हम श्री मेहता के प्रति अपना हार्दिक आभार ज्ञापित करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रस्तावना डॉ. भानीराम वर्मा 'अग्निमुख' कलकत्ता ने लिखी है। इस पुनीत कार्य के वास्ते हम डॉ. 'अग्निमुख' के हृदय से आभारी हैं।

आचार्य श्री का जीवन परिचय लिखने के वास्ते हम डॉ. आदर्श सक्सेना के आभारी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के उत्तम मुद्रण तथा कवर पृष्ठ डिजाइनिंग वगैरह में अपना अमूल्य परामर्श/सुझाव देने के वास्ते हम श्री दीपचन्द जी सांखला, सांखला प्रिण्टर्स के भी आभारी हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन में हमें देशनोक के दानवीर, शिक्षाप्रेमी लूणिया परिवार का उदात्त अर्थ सहयोग प्राप्त हुआ है। लूणिया परिवार का संक्षिप्त परिचय प्रकाशकीय के सत्वर पश्चात् इसी ग्रंथ में प्रकाशित है।

आचार्यप्रवर के प्रेरक विचारों को संकलित, सम्पादित और प्रकाशित करने में पूर्ण सावधानी बरती गई है, फिर भी कोई त्रुटि रह गई हो तो तदर्थ हम क्षमाप्रार्थी हैं।

भवदीय

रिधकरण सिपानी	चम्पालाल डागा	धनराज बेताला	पीरदान पारख
अध्यक्ष	उपाध्यक्ष	महामंत्री	संयोजक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

गुमानमल चोरड़िया	सरदारमल कांकरिया	डा. संजीव भानावत
मोहनलाल मूथा		केशरीचन्द सेठिया

सदस्यगण, साहित्य समिति

एक दीप आदित्य बन गया

(आचार्य नानेश - संक्षिप्त परिचय)

एक छोटा दीप,
एक नान्हा दीप,
हर रहा है तिमिर जग का
सहज शान्त अभीत!

छोटा सा दीपक, गाँव की मिट्टी की सोंधी गंध से सुवासित, सुसंस्कारों के नेह से सिंचित, निर्मल वर्तिका से सुसज्जित ज्योतिर्धर युगपुरुष श्री जवाहराचार्य के सुशासन में युवाचार्य श्री गणेशाचार्य से प्रकाश ले अपने चहुं ओर परिव्याप्त निबिड़ अंधकार को विदीर्ण करने हेतु प्रज्वलित हो उठा। अग्निज्योति, चन्द्रज्योति, रविज्योति की जाज्वल्यमान परम्परा में सम्मिलित होने का क्षीण दीपज्योति का दुस्साहस! बलिहारी उस आत्मबल की जो दीपक से दीपक जला कर अमानिशा को मंगलकारी दीपावली में परिवर्तित कर देने की क्षमता रखता है! तब यदि नन्हा दीपक, 'नाना' दीपक, प्रकाश की अजस्र धारा प्रवाहित करने हेतु, नानादिशोन्मुखी हो, नानाविध, सर्वजनहिताय आचार्य नानेश बन गया तो आश्चर्य कैसा? शास्त्रकारों ने कहा भी है—

जह दीवो दीवसयं पइप्पए जसो दीवो।
दीवसमा आयरिया दिव्वंति परं च दिवंति।।

और फिर बाल भगवान की परम्परा कोई नई भी तो नहीं! प्रलय पारावार में वट वृक्ष के पत्र पर सहज निद्रामग्न बालमुकुंद साक्षात् ब्रह्म ही तो थे जिन्हें श्रद्धालुजन भक्तिभाव से नमन करते हैं—'वटस्य पत्रस्य पुटः शयानम् बालमुकुन्दम् शिरसा नमामि' और उन्हीं के संरक्षण में नव सृष्टि का विकास संभव हुआ था। अज्ञानांधकार के हरण में महत्त्व वय, आकार, रूप अथवा वर्ण का नहीं होता—क्योंकि 'उत्तमत्तं गुणेहि चेव पविज्झई'। उत्तमता गुणों से प्राप्त होती है और गुणों की ही पूजा होती है—'गुणः पूजास्थानं न च लिंग न च वयः'। यही देखकर तो पू. आचार्य गणेशीलाल जी म. सा. ने पूर्ण आश्वस्तिभाव से आठवें पाट के अधिष्ठाता का पद 'नानालाल' को देने की पूर्व-पीठिका की दिशा में उन्हें युवाचार्य के पद पर अभिषिक्त किया था भले ही जननी शृंगार बाई का ममताव्याकुल संशयशील हृदय प्रार्थना करता रहा हो—'ई घणा भोला टाबर है, याँ पे अतरो मोटो बोझ मती नाखो।'

परन्तु बोझ डालता कौन है? दीपक से कोई कहता है—कि चतुर्दिश अंधकार को विदीर्ण करने का बोझ तू उठा! वह भार तो सूर्य का उत्तराधिकारी होने के कारण प्रज्वलित दीपक पर स्वतः ही आ जाता है। दीपक का अर्थ ही है प्रकाश और प्रकाश का अर्थ है तमहरण का संकल्प। इस संकल्प की पूर्ति हेतु दीपक का कर्त्तव्य बन जाता है कि वह अपनी प्रज्वलित वर्तिका से दीपक के बाद दीपक प्रदीप्त कर अवली में सजाता जाये जिससे सम्पूर्ण जगत् प्रकाशमान हो उठे। इसी

संकल्प की पूर्ति में 'नानादीप' ने दीपित संत-सतियों की एक सुदीर्घ शृंखला ही सर्जित कर दी—एक कड़ी दूसरी कड़ी से जुड़ती गई, सम्पूर्ण संसार को अपनी ज्योति-परिधि में आवेष्ठित कर लेने के लिये। और जगती का आँगन आचार्यश्री के नेश्राय में दीक्षित दीपकों की लम्बी शृंखला से सज गया। किसी एक आचार्य की प्रचण्ड ऊर्जा का यह असंदिग्ध प्रमाण था। यह चमत्कार भी था क्योंकि ज्ञान-साधना और समाज-निर्माण का यह कार्य इतने विशाल स्तर पर विगत पाँच सौ वर्षों में भी सम्पन्न नहीं हुआ था। फिर तत्कालीन परिस्थितियाँ अत्यंत विषम थीं। एक अत्यंत सीमित साधु-साध्वी वर्ग, साम्प्रदायिक आग्रहों से टकराव, विरोधों की उग्रता एवं दुर्बल संघीय व्यवस्था अपने आप में विकट समस्याएं थीं। परन्तु 'दिवा समा आयरिया पण्णता'—आचार्य उस दीपक के समान होता है जो अपनी प्रज्वलित ज्योतिशिखा से प्रत्येक कोने का तमहरण करने का सामर्थ्य रखता है। अतः भीषण झंझावात के उस काल में जब श्रमण संघों एवं श्रावक संघों की भावनाएं भीषण रूप से आलोड़ित थी, इस सद्यः प्रज्वलित दीपक ने साहसपूर्वक घोषणा की—

'सघर्ष से ही नवनीत निकलता है और संघर्ष ही विपुल शक्ति का उत्पादक होता है। संघर्ष से भयभीत होने वाला व्यक्ति प्रगति के पदचिह्नों पर नहीं चल सकता।'

और प्रारम्भ हुई लड़ाई—दिये की और तूफान की, जिसमें दीया विजयी हुआ, झंझावात शांत हुआ, सद्भाव, स्नेह, सहयोग और समर्पण की मंद फुहारों में सम्पूर्ण जन-जीवन स्नात हो निर्मल हो उठा तथा सर्वत्र व्यवस्था और अनुशासन का सागर उमंगें भरने लगा।

यह साधना थी, तपस्या थी, सोने की आग में तपने की। संवत् २०२० के रतलाम चातुर्मास ने यह सिद्ध कर दिया कि वीतरागी संत अपने-पराये, शत्रु-मित्र, हानि-लाभ जय-पराजय आदि के भावों से मुक्त होते हैं। सोना तप कर कुन्दन बनता है और संघर्षों में स्थिरमति रहकर मनस्वी वन्दनीय बन जाता है —

मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःख न च सुखं।
तप्तं तप्तं पुनरपि पुनः कांचन कान्तवर्णम्॥

अशान्ति, विरोध और संघर्ष से आलोड़ित जन सागर से इस अनन्य योगी ने सद्भाव, त्याग, तप और धार्मिक उपलब्धियों का जो नवनीत निकाला उसे अपनी साधना से मानव मात्र के हितार्थ सहज भाव से वितरित भी कर दिया। हिंसा, आतंक, विरोध, शोषण, पीड़ा के शमन तथा लोभ, मोह, क्रोध जैसी व्याधियों के उपचार में यह नवनीत अमृत रसायन सिद्ध हुआ। अपने दिव्य संदेशों द्वारा इस संत ने वर्तमान वैज्ञानिक सभ्यता के व्यामोह के प्रति अभिनव मनुष्य को जिस प्रकार सचेत किया है उसी की सुन्दर काव्यात्मक निदर्शना राष्ट्रकवि दिनकर की इन पंक्तियों में हुई है—

व्योम से पाताल तक सब कुछ इसे है ज्ञेय,
पर न यह परिचय मनुज का, यह न उसका श्रेय।

श्रेय उसका बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत
श्रेय मानव का असीमित मानवों से प्रीत।

एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान
तोड़ दे जो, बस वही ज्ञानी, वही विद्वान।

इस व्यवधान को तोड़ने की दिशा में यात्राओं, चातुर्मासों और उद्‌बोधनों के जो आयोजन हुए उनके बीच एक दिव्य व्यक्तित्व उभरा—उन्नत ललाट, तेजयुक्त आनन, सुदृढ़ ग्रीवा, विशाल वक्षस्थल, प्रलम्ब बाहु और अनोखे प्रभामण्डल से दीपित वपु जो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यूक दृष्टि की प्रकाश किरणें बरसाता इस सम्पूर्ण जीव-सृष्टि को अपने स्नेहपूर्ण कोमल आवेष्ठन में समेट लेने के लिये आतुर था।

रवि, पवन, मेघ, चंदन और संत, भेद-अभेद नहीं जानते। स्वभाव से ही अपना अक्षय स्नेह-भण्डार सब के लिये उन्मुक्त रखते हैं। फिर इस प्रकाशपुंज की ज्योति सीमा में कैसे बंधती? प्रसंग अनेक हो सकते हैं। परन्तु प्रतिबोध की महिमा अभिन्न होती है। इसीलिये सामाजिक उत्क्रान्ति की युगान्तरकारी दृष्टि धर्मपालों की अटूट श्रृंखला निर्मित कर सकी। इस प्रकार सम्यक्त्व के मंत्र के प्रभाव से समाज के निम्नतम स्तर पर बैठे व्यक्ति को भी उच्चतम व्यक्ति के स्तर पर वही आसीन करा सकता था जो मानता हो 'कम्मुणा बम्भणो होई, कम्मुणा होई खत्तियो...।' भगवान महावीर की इस वाणी को यदि आचार्य श्री ने चरितार्थ किया तो आश्चर्य कैसा? हरिकेशबल नामक चाण्डाल के लिये यदि प्रवज्या का विधान हो सकता था, तो जन्म के आधार पर निर्मित वर्णव्यवस्था की उपयुक्तता तर्कसंगत कहाँ बैठती थी? परिणामस्वरूप व्यापक मानव समाज के प्रति स्नेह, सद्‌भाव और न्याय की जो निर्मल धारा प्रवाहित हुई उसमें गुराड़िया, नागदा, आक्या और चीकली जैसे ग्रामों के दलित स्नान कर कृतार्थ हो गये। पारस गुण अवगुण नहिं जानत, कंचन करत खरो—तब संत के संसर्ग से सरल हृदय अज्ञानीजन धर्मपाल क्यों नहीं बन सकते थे? एक राजा भगीरथ ने [illegible] की पतितपावनी धारा अवतीर्ण करा कर प्राणिमात्र के लिये मुक्ति का द्वार उन्मुक्त कर दिया तो दूसरे भगीरथ ने समता समाज की पुण्यधारा में मानव मात्र के लिये अवगाहन का मार्ग प्रशस्त कर मानवता की अतुलनीय सेवा की।

एक जड़ सैद्धान्तिक विचार को सहज जीवन पद्धति में रूपान्तरित कर पाना निश्चय ही चामत्कारिक उपलब्धि थी। प्रजातंत्र, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता जैसे जटिल, विवादित, बौद्धिक वाग्जाल में उलझी अवधारणाओं को, सरल, व्यावहारिक, उपयोगी जीवनचर्या बना कर प्रचलित कर पाना युगपुरुष का ही कार्य हो सकता था। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक चिन्तन को सैद्धान्तिक आग्रहों से तथा धर्म और दर्शन के तत्त्वों को पाखण्ड, अतिचार, दुराग्रह और आडम्बर से मुक्त कर तथा उन्हें अन्योन्याश्रित बना कर इस महायोगी ने आधुनिक युग की विकट समस्याओं का सहज समाधान प्रस्तुत कर दिया। समता को युगधर्म के रूप में मान्य एवं प्रतिष्ठित कर पाना छोटी बात नहीं थी। कितनी कठोर साधना, कितना गहन चिन्तन, कितनी गहरी दार्शनिक पैठ और कैसे मनोवैज्ञानिक कौशल की इस हेतु आवश्यकता थी इसका प्रमाण वह विपुल साहित्य है जिसका निर्माण मानववृत्ति के परिष्कार, पुनर्निर्माण और निर्देशन हेतु इस युगाचार्य ने स्वयं किया एवं करने की प्रेरणा दी। समीक्षण ध्यान की पद्धतियों को परमात्म समीक्षण के दर्शन से आत्मसमीक्षण तक पहुँचाने में आत्मा-परमात्मा, जीव-ब्रह्म, द्वैत-अद्वैत आदि से संबंधित विविध चिन्तन धाराओं का जिस प्रकार समता दर्शन में समन्वय किया गया, वह स्वयं में उपलब्धि है। एक धर्म विशेष की समझी जाने वाली आचरण शैली को मानव मात्र की आचार संहिता बना सकने वाली दृष्टि निश्चय ही चामत्कारिक थी। इसकी सिद्धि के लिए जन-जन के हृदय को संस्कारित कर यह विचार पुष्ट करना आवश्यक था कि माया के पांच पुत्र काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ मनुष्य के अध:पतन के मूल

कारण हैं। ये ही आत्मा की परमात्मिकता में व्यवधान डालने वाले भी हैं —

पाँच चोर गढ़ मंझा, गढ़ लूटैं दिवस अरु संझा।

जो गढ़पति मुहकम होई, तो लूटि न सकै कोई।।

और आचार्य नानेश ऐसे मुहकम गढ़पति सिद्ध हुए जो रमैया की दुल्हन को बाजार लूटने का कोई अवसर ही लेने नहीं दे सकता था। ऐसे गढ़पति की महिमा का बखान करते हुए संत कबीर ने पहले ही कह दिया था—

ऐसा अद्‌भुत मेरा गुरु कथ्या, मैं रह्या उमेषै।

मूसा हस्ती सों लड़ै, कोई बिरला पेषै।

मूसा बैठा बांबि में, लारै साँपणि धाई,
उलटि मूसै सांपिण गिली यह अचरज भाई।

नाव में नदिया डूबी जाई।

आकाश के औंधे कुएं से पाताल की पनिहारन जो जल भरती है उसे कोई बिरला हंस ही पीता है।

यह उलटबांसी नहीं, सत्य है, तत्त्व है, सार है, यही वह ज्ञान है जिसके आलोक में यह चराचर जगत् किसी रूप में अर्थवान बनता है। एक नन्हें दीपक से विकीर्ण यह प्रकाश विगत लगभग अर्द्धशती में विस्तार पाता, प्रचण्डतर होता अब अपनी दीप्ति के कारण जाज्वल्यमान सूर्य का पर्याय बन गया है। अब कहीं अंधकार नहीं बचा है, कोना-कोना आलोकित है। बस आवश्यकता है उस आलोक को आत्मसात कर पाने की, जिसका मार्ग भी स्पष्ट कर दिया गया है। इस प्रकार—

अपने सहज समत्व ज्ञान से, दीपित कर धरती का आंगन।

कुटिया का वह नन्हा दीपक, एक नया आदित्य गया बन।।

—डॉ. आदर्श सक्सेना
बी-१७, शास्त्रीनगर, बीकानेर ३३४००३

अर्थ सहयोगी

शिक्षाप्रेमी, दानवीर लूणिया परिवार : एक संक्षिप्त परिचय

संघ को साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में उदारमना, दानी-मानी महानुभावों का सहयोग सदैव सहज ही सुलभ रहा है। प्रस्तुत पुस्तक 'आत्मसमीक्षण' के पुनः प्रकाशन में भी संघ को देशनोक के शिक्षाप्रेमी, दानवीर लूणिया परिवार का उदात्त अर्थ सहयोग प्राप्त हुआ है। वस्तुतः स्व. श्री करणीदान जी लूणिया की इच्छा थी कि 'आत्मसमीक्षण' ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु अर्थ सहयोग प्रदान किया जावे। वे अपने पिताजी श्री सुगनचंदजी लूणिया और माताजी श्रीमती कस्तूरी देवी जी लूणिया की स्मृति में प्रकाशित करवाना चाहते थे किन्तु दिनांक २० जनवरी १९९३ को उनका देहावसान हो गया। श्री करणीदान जी लूणिया के सुपुत्रों ने अपने पिताजी की सद्इच्छा को पूर्ण करने हेतु इस ग्रन्थ का प्रकाशन कराने हेतु मुक्तहस्त अर्थ सहयोग प्रदान किया। यह अर्थ सहयोग लूणिया परिवार के सुसंस्कारों और मातृ-पितृ भक्ति का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

परमपूज्य आचार्य गुरुदेव श्री १००८ श्री नानालालजी म. सा. के प्रति अनन्य निष्ठा और समर्पण के प्रतीक लूणिया परिवार ने श्रावक धर्म का आदर्श पालन करने की दिशा में सदैव अग्रणी भूमिका निभाई है। स्व. श्री सुगनचंदजी लुणिया और उनकी धर्मपत्नी स्व. श्रीमती किस्तूरीदेवी जी लूणिया के धर्म संस्कार उनके यशस्वी सुपुत्र स्वर्गीय श्री करणीदान जी लूणिया में साकार देखे जा सकते थे। स्वर्गीय श्री करणीदान जी लूणिया का जन्म सं. १९७५ की कार्तिक बदी १४ को हुआ था और उनका स्वर्गवास सं. २०४९ की माघ बदी १३ को हुआ। इस प्रकार आपने यशस्वी ७४ वर्ष की आयु प्राप्त की। आपने ४० वर्ष तक रात्रिभोजन का त्याग रखा और ३० वर्ष तक चौविहार का पालन किया। अत्यन्त सरल जीवन के धनी श्री लूणिया जी के दिन भर में २१ द्रव्य की मर्यादा थी। सं. २०३२ में आपने आजीवन शीलव्रत अंगीकार किया। संवत् २००६ में आपने वर्ष भर में कपड़ों पर १०० रुपये व्यय करने की मर्यादा ग्रहण की और उसे दृढ़तापूर्वक आजीवन निभाया। इस महंगाई और उपभोक्तावादी युग में उनका यह व्रत भारतीय संस्कृति के 'सम्पत्ति भगवान की' अर्थात् न्यास वृत्ति (ट्रस्टीशिप) का मूर्तिमन्त आदर्श था। आप श्री सु. कु. सांड शिक्षा सोसायटी के उपाध्यक्ष, श्री जैन जवाहिर मंडल के उपाध्यक्ष, श्री करणी गौशाला देशनोक के उपाध्यक्ष व संरक्षक तथा श्री करणी सुबोध शिक्षालय के अध्यक्ष रहे। वस्तुतः आपका जीवन सेवा समर्पित था। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सिरिया देवी जी लूणिया आदर्श सुश्राविका हैं। इस ग्रंथ के प्रकाशन में श्रीमती सिरिया देवी जी और उनके दोनों पुत्रों की धर्म प्रेरणा निर्णायक रही है।

आपके दोनों पुत्र भी समाजसेवी और उदारमना हैं। ज्येष्ठपुत्र श्री दीपचंद जी लूणिया देशनोक नगरपालिका के अध्यक्ष रहे व समता युवा संघ देशनोक के भी अध्यक्ष रहे। आपके द्वितीय पुत्र श्री डालचन्द जी लूणिया भी साधुमार्गी जैन श्रावक संघ सूरत के कोषाध्यक्ष हैं। आपके ३ पौत्र व ८ पौत्रियों का भरा-पूरा परिवार है। सारा परिवार सुसंस्कृत व जिनशासन को समर्पित है। इस शासननिष्ठ परिवार द्वारा इस ग्रन्थ को प्रकाशनार्थ प्रदत्त अर्थ सहयोग हेतु संघ साधुवाद और आभार ज्ञापित कर हर्ष का अनुभव करता है।

संयोजक

प्रारम्भिकी

शास्त्र चूड़ामणि आचारांग सूत्र में प्रभु महावीर ने फरमाया है—

जे अण्णणदंसी, से अण्णणारामे।
जे अण्णणारामे, से अण्णणर्दसी।

—आ. सूं. १।२।६,

अर्थात् जो अनन्यदर्शी है, वह अनन्यारामी है तथा जो अनन्यारामी है, वह अनन्यदर्शी है। प्रश्न उठता है कि साधना की किस प्रक्रिया को सफलता पूर्वक सम्पन्न कर लेने के पश्चात् अनन्यदर्शिता की अवस्था समुत्पन्न होती है तथा उससे अनन्य आनन्द की अनुभूति हो सकती है? अनन्यदर्शिता एवं अनन्य आनन्द की अनुभूति में क्या पारस्परिक सम्बन्ध एवं सामंजस्य है?

आनन्द का अनुभव सदा काल प्रिय अनुभव है। ऐसे सुखकारी अनुभव को सभी जीवों ने सदा चाहा है, सदा चाहते हैं और सदा चाहते रहेंगे। सभी जीवात्माओं की यह शाश्वत अभिलाषा होती है किन्तु उन्नतिकामी आत्माएँ ही सत्य आनन्दानुभूति के पथ पर अग्रगामी बन सकती है।

आनन्द की अनुभूति का विश्लेषण विभिन्न चरणों में विभिन्न प्रकार से किया जाता है तथा उन्हीं विविध विश्लेषणों के आधार पर सत्यानुभूति की शोध की जा सकती है। असत्य, भ्रम एवं द्विधा के विकट वनों को धैर्यपूर्वक पार कर लेने पर ही आनन्द की सत्य अनुभूति साधक के अन्तःकरण में अखूट सुख का दिव्य आलोक प्रसारित करती है।

जब जीव संसार के इस रंगमंच पर जन्म लेता है तो वह कोरा 'निज' नहीं होता, 'अन्य' के साथ जुड़ा होता है। फिर यह संसार तो जड़-चेतन का समन्वित क्रीडांगण ही है। जड़ दृश्यमान होता है और चेतन अदृश्य। स्वयं चेतन के लिये भी अपना 'निज' अदृश्य रहता है जब तक कि वह उसे अनुभवगम्य नहीं बनाता, अभिप्राय यह है कि नवागत जीवात्मा का प्रथम परिचय सर्व ओर व्याप्त एवं विस्तृत जड़ लीला से ही होता है। बचपन से यौवन तक और आगे भी भौतिकता के ऐसे उत्तेजक दृश्य जीवात्मा अपनी इन्द्रियों के माध्यम से देखती, सुनती और अनुभव करती है कि ठोस तथ्यों के रूप में वह उन्हीं को सबके बीच आसानी से जानती है।

यही कारण है कि सामान्य रूप से जीवात्माएँ निज के निजत्व को न जानती हुई अन्य के प्रखर अस्तित्व को पहले जानती है। बालक का लालन-पालन जिन पदार्थों से होता है, वे अधिकांशतः भौतिक या कि अन्य होते हैं तथा आन्तरिक मनोभावनाओं का व्यक्तिकरण भी बालक पदार्थ प्राप्ति के रूप में ही देखता है। अतः वह प्रारंभ से पदार्थों की महत्ता को ही जानता है अर्थात् अन्य के साथ ही अपना प्रमुख सम्बन्ध मानता है। फिर यौवन काल में तो खास तौर से भौतिक सुखों का आकर्षण उसे ललचाता है और वह उन्हीं को पाने, बनाये रखने एवं भोगने की राग-द्वेषमय क्रियाओं में बुरी तरह से उलझ जाता है।

कहने का अर्थ यह है कि जीव अपने आनन्द के अनुभव का आरोपण सर्वप्रथम अन्य में ही करता है—पदार्थों में ही उस आनन्द को खोजता और उसे पा लेने का भ्रम पालता है। वह महसूस करता है कि जब वह मधुर संगीत सुनता है, सुन्दर दृश्य देखता है, सुगंधमय वातावरण में रमण करता है, सुस्वादकारी व्यंजनों को चखता है, सुखद संस्पर्श से आह्लादित होता है अथवा इन सुखों की कल्पना भी करता है तो उसे आनन्द मिलता है।

तो क्या उसके इस आनन्दानुभव को सत्य कहा जायगा ? किन्तु, सत्यासत्य का निर्णय वह कई चरणों से गुजरने के बाद ही कर पाता है। उस समय तो वह क्षणिकता को भी समझ नही पाता और न ही उस आनन्द की नश्वरता को ही वह हृदय में उतार पाता है। उसकी मनोदशा तो एक मदमत्त जैसी होती है कि जब वैसा आनन्द मिल रहा है तो उसे मतिभ्रम हो जाता है। वह उसमें झूमने लगता है और जब वही आनन्द टूटता है तो वह क्रुद्ध होकर उसे फिर से पा लेने के लिये दौड़ लगाने लगता है। यदि वह दौड़ की थकान में सत्य को पाने की ओर न मुड़ सके तो उसी दौड़ धूप में उसका अमूल्य जीवन विनष्ट हो जाता है।

भौतिकता वाले भोगों में फंस जाने तथा अन्य पदार्थों में रमण करने की जीवात्मा की इस अज्ञान दशा को आत्मा का विभाव माना गया है। शाब्दिक अर्थ में विभाव वह जो स्वभाव से विपरीत हो। इस पर प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि फिर स्वभाव क्या होता है ? यदि आनन्द का ऐसा अनुभव आत्मा का विभाव है तो आत्मा का स्वभाव क्या होगा एवं उस आनन्द का अनुभव कैसा होगा ?

शास्त्रों में स्वभाव को ही धर्म कहा गया है—वत्थु सहावो धम्मो। जिस वस्तु का जैसा मूल स्वभाव है, वही उसका धर्म होगा। उस धर्म पर अधर्म तब हावी होता है जब धर्म की मौलिक शक्ति क्षीण हो जाती है। तब स्वभाव पर विभाव हावी हो जाता है। एक लकड़ी का टुकड़ा पानी की सतह पर तैरता है—यह उसका मूल स्वभाव है। उस टुकड़े के साथ एक लौह खंड बांध दिया जाय तो वह टुकड़ा तैरने की बजाय पानी में डूब जायगा- उसे उसका विभाव कहना होगा। स्वभाव पर जो विकृतियों के लेप चढ़ते हैं, उन लेपों का भार स्वभाव को छिपा देता है और वे विकृतियाँ ही विभाव के रूप में सक्रिय दिखाई देती है। लकड़ी के टुकड़े का तैरना स्वभाव, उसका लौह खंड के भार से डूब जाना उसका विभाव हुआ तो विभाव से स्वभाव में जाने की प्रक्रिया भी स्पष्ट हो गई कि उसके भार को हटा लिया जाय।

एक तथ्य और कि स्वभाव में रमण करने से सात्विक आनन्द की प्राप्ति होती है। जो परिवर्धित होता हुआ सत्य एवं शाश्वत आनन्द की स्थिति तक पहुँचता है। दूसरी ओर, विभाव में भोगा जाने वाला आनन्द क्षणिक, नश्वर तथा कष्टान्त वाला होता है। विभाव से मिलने वाले आनन्द के दुष्परिणामों को योग कर ही सत्य आनन्द के अनुसंधान की ओर गति प्रखर बनती है। विभाव से स्वभाव में लौटने की आकांक्षा भी तभी बलवती होती है।

अब आत्मा के स्वभाव एवं विभाव की चर्चा करें। यह चर्चा शब्दों की कम और अन्तरानुभव की अधिक होती है—यह मानकर चलना चाहिये। विभाव की गति-स्थिति को तो सामान्यतः सभी मानव जानते पहिचानते हैं। उन्हें समझानी है स्वभाव की अवस्था। विकृत से विकृत एवं पतित से पतित मानव के अन्तरंग में कुछ लहरें ऐसी होती हैं जो जब चलती हैं तो वैसे

मानव को भी भीतर से कुछ शिक्षा मिलती-सी प्रतीत होती है या कि भीतर की आवाज जैसे उसे जगाती है और इस अन्तरंगता में उसे कुछ ऐसा आनन्द मिलता है जो उसे अनूठा लगता है। इन क्षणों को वह बेभानी में भूल जाय—यह दूसरी बात है किन्तु विवेकशील व्यक्ति उन क्षणों को पकड़ लेता है, उनको बार-बार याद कराके उस आनन्द का बार-बार अनुभव करता है और अन्ततः उन क्षणों को अधिकाधिक स्थायित्व देने के प्रयासों में जुट जाता है।

विभाव से स्वभाव में लौटने की यह प्रक्रिया भीतर ही भीतर चलती है और मानव को अनुभव कराती रहती है कि आनन्द का भ्रम या आभास कहाँ है और सच्चे आनन्द का अनुभव कहाँ? एक साधक के अन्तःकरण में ऐसा अभ्यास निरन्तर चलता है जिसके प्रभाव से विभाव क्षीण होता जाता है एवं स्वभाव अधिकाधिक स्पष्ट एवं प्रकाशमान।

मूलतः यह प्रत्यावर्तन ही आत्मा की विकास यात्रा है जो उसे अन्य से हटाकर अनन्य बनाती है। इतना ही नहीं, अनन्यदर्शी बनाती है जिसके फलस्वरूप वह अनन्यदर्शी आत्मा अनन्य आनन्दमयी बन जाती है। इस अनन्यता में ही निजत्व का सम्पूर्ण विकास समाहित होता है।

इस विकास यात्रा के गतिमान चरणों पर ध्यान देना आवश्यक है। इसका पहला चरण है कि साधक अपनी आत्मा का स्वयं ज्ञाता बने। कोई हल्के विचार से कह सकता है कि अपनी ही आत्मा को जानना कौनसी बड़ी बात है। लेकिन उसे ही ऐसा करने को कहा जाएगा तो वह बड़ी दुविधा में फंस जायगा। क्योंकि स्वयं की आत्मा का स्वयं ज्ञाता बन जाना एक महान् उपलब्धि है।

आत्मा जब तक अन्य को ही निज मानती रहती है तो वह भ्रम दशा साधारण नहीं होती। विभाव की विकृतियाँ उसे उत्थानगामी नहीं बनने देती। उत्थान की बात तो दूर, उसे उस पतन को पतन भी मानने से रोके रखती है। तब वह पौद्गलिक सुखों में ही आनन्दाभास लेती है और उसे ही प्राप्य आनन्द मानती है। यह आत्मा की मूर्छावस्था होती है वैसी ही जैसी कि एक मद्यप की होती है। सुरा पिया हुआ व्यक्ति माँ और पत्नि में भेद नहीं कर पाता क्योंकि वह अपने ज्ञान और विवेक को शून्य बना लेता है। ऐसी मूर्छावस्था से तब तक उद्धार संभव नहीं है जब तक कि आत्मा को अपने ही अस्तित्व का बोध न हो।

आत्मा के अस्तित्व का बोध हो जाने पर ही उसके रूप-स्वरूप को जानने की अभिलाषा जगेगी और उसके मूल स्वभाव को पहिचानने की जिज्ञासा। अतः अपनी आत्मा का स्वयं ज्ञाता बनना एक अति महत्त्वपूर्ण अवस्था है। आत्मा को जानने में उसके अस्तित्व का अनुभव करना, उसके वर्तमान रूप-स्वरूप का ज्ञान करना तथा उसके मूल स्वभाव को पहिचानना यह सब कुछ समाया हुआ है। स्व का ज्ञाता साधक हाथ में रखी हुई मणि के समान अपनी आत्मा को जानता है।

ज्ञाता हो जाने के पश्चात् दूसरा चरण है कि साधक अपनी आत्मा का दृष्टा बने अपनी आत्मा एवं उसकी वृत्तियों व प्रवृत्तियों को प्रतिक्षण देखता रहे। जब साधक अपनी आत्मा के वर्तमान का एवं उसकी तात्विकता का ज्ञाता हो जाता है तो वह दृष्टा बनकर उसकी गति-विगति का कठोर नियंत्रक भी बन जाता है। प्रतिक्षण अपनी आत्मा याने कि अपनी अन्तरंगता को देखते रहने का अर्थ है कि वह अपने जीवन में पूर्ण रूप से सतर्क बन गया है। वह कभी भी कहीं भी अपनी आत्मा को अन्य में भटकने नहीं देता—मनसा वाचा कर्मणा सदा आत्मगति को ऊर्ध्वगामी बनाये रखता है। वह साधक सफल अश्वारोही के समान अपनी साधी हुई लगाम से आत्मा का अनन्यदर्शिता एवं अनन्य आनन्दानुभूति की दिशा में आगे से आगे बढ़ाता जाता है।

निजात्मा का स्वयं ही ज्ञाता एवं दृष्टा होना इस कारण आध्यात्मिक क्षेत्र की एक महान् उपलब्धि मानी गई है, क्योंकि एक ज्ञाता और दृष्टा साधक ही अपनी आत्मा को अनन्य बनाने के मार्ग पर गतिशील कर सकता है। और आत्मा को अनन्य बनाने का मार्ग है समता का मार्ग।

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो सर्व आत्माओं की समता के सिद्धान्त को निरूपित करता है। यह सिद्धान्त मूल आत्मिक स्वरूप की अवधारणा पर आधारित है। आत्मा का मूल स्वरूप दर्पण के समान एकदम स्वच्छ माना गया है। दर्पण पर जिस प्रकार बिना सार सम्हाल के धूल की परतें जमती रहती हैं और उसकी प्रतिबिम्ब क्षमता घटती रहती है, उसी प्रकार आत्मा के मूल शुद्ध स्वरूप पर भी कर्म बंधन के आवरण चढ़ते जाते हैं एवं उसकी स्वरूप-तेजस्विता को ढकते जाते हैं। कर्मावृत्त आत्मा संसारी आत्मा होती है। यही आत्मा जब अपने संयम एवं तप के बल पर उन आवरणों को मिटाती जाती है तो एक दिन उसका परम शुद्ध स्वरूप भी प्रकट हो जाता है और वही तब सिद्ध आत्मा बन जाती है।

इस सिद्धान्त की महत्ता इस अवधारणा में है कि मूलतः प्रत्येक आत्मा समान स्वरूपी होती है और इसी कारण समान व्यवहार की अधिकारी भी। ऐसा व्यवहार जो उनके कर्मावरणों को भी क्षीण करता जाय और उनके अभ्युदय का मार्ग भी प्रशस्त बनाता जाय। इस विचार की प्राभाविकता संसार के इसी रंगमंच पर भलीभांति अभिव्यक्त होनी चाहिये। न सिर्फ मानव जाति, बल्कि सम्पूर्ण प्राणी जगत् इस सिद्धान्त की सीमा में समावेश पा जाता है। यही विश्व बन्धुत्व अथवा सम्पूर्ण वसुधा के एक परिवार की मान्यता में आता है।

जब यह मान लिया जाता है कि संसार की सभी आत्माएँ समान हैं तथा समान लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ना चाहती हैं तो प्रत्येक मानव का यह सुनिश्चित ध्येय बन जाता है कि वह अपने इस पूरे परिवार की हित साधना में विवेकशील बने। स्वार्थ के संकुचित दायरे को त्याग कर तब वह समग्र प्राणियों के विस्तृत हित के लिए अपनी मानसिकता का निर्माण करता है, वैसी ही वाणी उच्चरित करता है तथा तदनुकूल आचरण को पूर्णत्त्व प्रदान करने का प्रयास करता है। मानव हृदय का ऐसा ही हितैषी विस्तार समता का मंगलमय मार्ग कहा जाता है।

विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, दुःख कोई नहीं चाहता, अतः सबको सुख पहुँचाओ, किसी को भी दुःख न दो—यह समता का प्राथमिक पग होता है अहिंसा का। किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट न देना—यह अहिंसा का नकारात्मक रूप है तो उसका सकारात्मक रूप होगा कि प्रत्येक प्राणी को अपने सामर्थ्य से भी आगे बढ़ कर सुख पहुँचाने की हितचिन्ता एवं कार्य विधि में लगे रहो। अहिंसा के इस रूप से अनुपालन में मनुष्य स्वार्थ की विकृति को त्यागता जायेगा और व्यापक हित से जुड़ता चला जायगा।

एक साधक जितना अधिक स्वार्थ से दूर होगा तथा परमार्थ में संलग्न बनेगा, उतना ही अधिक वह समता की दिशा में अग्रगामी बनेगा। जो सबको जान लेता है, वही एक को जानता है तथा जो एक को जान लेता है, वही सबको जानता है—इस सिद्धान्त के अनुसार समता की साधना में निरत साधक अनन्य बनता जाता है—उसके लिये एक भी प्राणी—एक भी आत्मा अन्य नहीं रहती। तभी वह अनन्यदर्शिता की ओर कदम बढ़ाता है। अवधारणा में समाने और आचरण में उतरने पर ही दर्शिता का स्तर परिपुष्ट बन सकता है।

समता अवधारणा में समा जाय—इसके लिए स्वयं आत्मा स्वयं की ज्ञाता बने। स्वस्वरूप से पूर्णतया परिचय पाने के पश्चात् ही ज्ञाता की अवस्था समुत्पन्न होती है। वह ज्ञाता अपनी आत्मा के मूल स्वरूप को भी पहिचान लेता है तो उसके वर्तमान कर्मावृत्त स्वरूप को भी जान लेता है। इस दृष्टि से वह सर्व आत्माओं के मूल स्वरूप को उसी भांति मानते हुए उनकी कर्मावृत्तता की भी पहिचान प्रारंभ करता है तथा प्रयास करता है कि वे आत्माएँ भी अपने वर्तमान स्वरूप को जानकर कर्मों को अनावृत्त करने की साधना की ओर गति करें। ऐसा आत्मीय सहयोग उसे सर्वात्माओं के साथ अनुराग भाव से जोड़ता है कि वे सब उसके साथ समान रूप से सम्बद्ध हैं।

अपनी परिपक्वता की ओर बढ़ती हुई समता की यह अवधारणा तब आचरण में उतरती और व्यवहृत होती है जब साधक अपनी आत्मा का स्वयं दृष्टा भी बन जाता है। वह दृष्टा तब अपने कर्त्ता होने पर नियंत्रक लगाम लगा लेता है। वह करता है किन्तु साथ ही साथ देखता भी रहता है कि वह क्या कर रहा है, कैसा कर रहा है, जो कर रहा है वह कितना समतामय है तथा कितना समताहीन ? यह दृष्टि प्रतिक्षण सतर्क रहती है। इस कारण समता साधक की आत्मा जो कुछ भी करती है, वह अधिकाधिक समतामय होता है तथा समतामय होता जाता है।

यह दृष्टा भाव स्वयं की आत्मा को सतत जागृत रखता है कि वह किसी भी स्तर पर सर्वात्म-हितैषिता से विलग न हो। सारा संसार उसकी स्नेहमयी समता की छाया में आ जाता है।

ज्ञाता और दृष्टा बनकर जब साधक अपनी आत्मा की समता को साध लेता है तब वह तीसरे चरण पर प्रतिष्ठित बनता है। वह होता है ध्याता का भाव। तब वह निरन्तर इस ध्यान में रहता है कि उसकी प्रेरणा से अन्य सभी आत्माएँ भी समता के मार्ग पर अविचल बनें और आगे बढें। तब वह अनन्यदर्शी बन जाता है और समता की सर्व स्नेहमयी रस धारा में स्वयं भी अवगाहन करता है तथा अन्य आत्माओं को भी अवगाहन कराता है। आत्मा की अनन्यदर्शिता ही अनन्त आनन्द की अनन्त अनुभूति प्रदान करती है। जो अनन्यदर्शी है, वह अनन्य आनन्दी है और जो अनन्य आनन्दी है वह अनन्यदर्शी है—यह एक शाश्वत सिद्धान्त एवं शाश्वत स्थिति है।

महावीर प्रभु ने अपने इस शाश्वत सिद्धान्त के माध्यम से उन्नतिकामी आत्माओं को प्रेरणा दी है कि वे निरन्तर आत्म-समीक्षण करें और यह जानें कि वे अपने ज्ञाता, दृष्टा एवं ध्याता भावों को विकसित बनाकर समता मार्ग पर निश्चल गति से अग्रगामी बन रही हैं अथवा मंथर गति से लक्ष्य को पाने का प्रयास कर रही हैं। यदि गति मंथर है तो अपनी समता साधना की उत्कृष्टता से उसे उग्र बनाना होगा तथा समता के उच्च शिखर पर आरूढ़ बनकर अनन्यदर्शी एवं अनन्य आनन्दी बनना होगा, क्योंकि वहां पहुंचकर ही सदा के लिए शाश्वत आनन्द का स्थायी रसास्वादन लिया जा सकता है। वही इस मानव जीवन का एवं कर्म मुक्ति का चरम ध्येय है।

किन्तु समता के सर्वोच्च शिखर पर आत्मा को पहुँचायेगा कौन ? कोई अन्य नहीं पहुँचायेगा, स्वयं इसी आत्मा को अपने आत्म समीक्षण एवं समतामय आचरण के आधार पर वहां पहुँचना होगा। आत्मा तो स्वयं कर्त्ता है, वह किसी की आश्रित नहीं। इसकी जो विवशता जाहिर होती है वह इसकी कर्मावृत्तता के कारण है। किन्तु जब और जितनी यह आत्मा कर्मों से अनावृत्त होती जाती है, तब और उतनी उसकी तेजस्विता, कर्मठता एवं शक्ति सम्पन्नता भी अभिव्यक्त होती जाती है।

आत्म के इसी मूल एवं पूर्ण स्वरूप को प्रकट करने का सशक्त साधन है आत्म समीक्षण। समीक्षण का अर्थ है समतामयी दृष्टि से देखना। यह इस रूप में देखने का काम करती है साधक की आत्मा, और वह देखती है उस दृष्टि से संसार की सभी आत्माओं को। इस दर्शिता से विकसित होती है उसकी अभेद दृष्टि कि उसकी अपनी आत्मा और संसार की अन्य सभी आत्माओं में एक प्रकार से भेद नहीं है, एक प्रकार की समानता है। आत्म समीक्षण इस प्रकार एक ओर समता भावना को परिपुष्ट बनाता है तो दूसरी ओर आत्मा के ज्ञाता, दृष्टा एवं ध्याता भावों को क्रमशः विकास की ओर ले जाता है।

आत्म समीक्षण ही आत्मा के समतामय विकास का मूल मंत्र है। आत्म-समीक्षण के ध्यान एवं अनुष्ठान के बल पर आत्मा स्वयं ही स्वयं को ऊर्ध्वगामी बनाती है। यह समीक्षण केवल दृष्टा भाव का ही परिचायक नहीं होता, अपितु दृष्टा एवं ध्याता भाव के सामंजस्य से जो एक समता दृष्टि विकसित होती है—यह समीक्षण उसी अवस्था का प्रतीक माना जाना चाहिये।

आत्म समीक्षण चिन्तन एवं आचरण की वह प्रक्रिया है जो आत्मा में उन्नति की आकांक्षा पैदा करती है, उसे विकास के पहले सोपान पर स्थापित करके विभाव के भटकाव को हटाकर स्वभाव में प्रत्यावर्तित होने की प्रेरणा देती है और तब उसे ज्ञाता, दृष्टा एवं ध्याता भावों का परिपक्व अभ्यास कराती है ताकि वह आत्मा समता के धरातल से उसके सर्वोच्च शिखर तक प्रगति करती ही रहे। अन्य को अपने समता क्षेत्र में समाहित करके वह अनन्य बने और अनन्य आनन्द की अनुभूति लेते हुए अन्य आत्माओं को भी उस आनन्द से आप्लावित बनावे।

वर्तमान परिस्थितियों में, जब कि लोगों का अधिक रूझान भौतिक एवं पौद्गलिक सुखों की तरफ बढ़ रहा है, इस आत्म समीक्षण का महत्त्व अधिक प्रासंगिक एवं उपयोगी हो जाता है। अपनी वैभाविक परिणति के कारण अधिकांश आत्माएँ भौतिक सुखसाधनों से परिपूर्ण बाह्य परिवेश में ही अपने आपको अनुरंजित मानने लगी हैं या कि उसी विपरीत दिशा में गति कर रही हैं। एक प्रकार से आज का मन-मानस ऐसी विभावपूर्ण बाहर की जिन्दगी जीने का ही अभ्यस्त हो रहा है। यह अभ्यास भी ऐसी जड़ स्थिति तक पहुँचता जा रहा है, जहाँ इन आत्माओं को अपने ही मूल-शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने की अन्तर्यात्रा प्रतिकूल प्रतीत होने लगी है। यदि इन्हें निज-विकास की पिपासा न रही, अपने अनन्य स्वरूप को विस्तृत बनाने की आकांक्षा न बनी और आचरण को श्रेष्ठतर एवं श्रेष्ठतम बनाने की अभिरुचि क्षीण होती रही तो वह आध्यात्मिक क्षेत्र की एक महान क्षति होगी। अतः आवश्यक है कि आत्म समीक्षण का अभ्यास अपनाया जाय चिन्तन और कर्म में तथा समीक्षण से समता की साधना की जाय।

आत्म समीक्षण के सतत अभ्यास से ही आत्मा को स्व-बोध होगा और वह तत्त्वों की हेयता, उपादेयता एवं ज्ञेयता को भलीभांति जान सकेगी तथा तदनुसार तत्त्वों से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन और दर्शन से चारित्र को समुन्नत बना सकेगी। समता से विभूषित यही रत्न त्रय का मार्ग है जो आत्मा के समस्त कर्मावरणों को हटा कर उसे मुक्ति के अनन्त आनन्द में सदा काल के लिए प्रतिष्ठित कर देता है।

प्रस्तुत ग्रंथ 'आत्म समीक्षण' में इसी दृष्टि से उत्तम पुरुष में लेखन किया गया है कि प्रत्येक आत्मा का, जो भी इसे पढ़े—यह भाव चिन्तन बन सके। इसका पठन करते हुए वह तल्लीन

बन सके कि यह सब कुछ उसके अपने चिन्तन के लिए है और उसके अपने समतामय उत्थान के लिए है। उत्तम पुरुष का प्रयोग एकात्मकता प्राप्त करने के लिए ही किया गया है—यह उत्तम पुरुष व्याख्याता या सम्पादक का नहीं है, मुख्य एवं सामान्य रूप से प्रत्येक पाठक का है कि वह इस चिन्तन के साथ अपने आत्म भावों को घनिष्ठ रूप से जोड़ ले। उत्तम पुरुष में आध्यात्मिक विवेचन का अपना विशेष महत्त्व होता है, क्योंकि आध्यात्मिक क्षेत्र में भावना का महात्म्य होता है। इसी कारण अपनी ही आत्मा को सीधे सम्बोधित करने वाले लेखन को जब भावपूर्वक पढ़ा जाता है तो उसमें एक निजत्व का भाव समाविष्ट हो जाता है। ऐसा लगता है कि यह सब कुछ सम्बोधन कोई अन्य नहीं कर रहा, बल्कि वह स्वयं ही अपनी आत्मा को कर रहा है तथा आत्मा की गति-विगति का जो सम्पूर्ण विवेचन है, वह जैसे उसकी अपनी आत्मा से ही सम्बन्धित है। इसी आत्म जागृति के भाव से इस ग्रंथ का प्रवचन-सम्पादन हुआ है और पाठकों को भी उसी भाव से इस ग्रंथ का पठन-पाठन एवं अध्ययन करना चाहिये—ऐसी अपेक्षा की जाती है।

'आत्म समीक्षण' में जिन नौ सूत्रों का प्रतिपादन किया गया है, वे आत्म-सम्बोधक एवं प्रेरक सूत्र हैं। ये बताते हैं कि आत्मा के मूल एवं शुद्ध स्वरूप से सम्बन्धित तत्त्व कौनसे हैं तथा उन्हें आचरण के माध्यम से पाने के लिये किस प्रकार का नित्य प्रति का चिन्तन बनना चाहिये, कौनसे आत्म विकास के संकल्प धारण करने चाहिये तथा आत्मा के पराक्रम का किस रूप में विस्फोट किया जाना चाहिये कि वह अनन्यदर्शिता एवं अनन्यानन्द अनुभूति के लक्ष्यों को प्राप्त कर सके एवं समता के सम्पूर्ण आदर्श को साकार बना सके।

सभी प्रकार के वचन एवं व्यवहार विचार के स्रोत से प्रस्फुटित होते हैं, अतः यदि विचारों में सर्व प्रथम समता का समावेश किया जाय तो वह समता वचन एवं व्यवहार के प्रवाहों से सुप्रकट हो सकेगी। विचारों के स्वस्थ निर्माण का एक मात्र साधन है—चिन्तन, सतत चिन्तन, निरन्तर चिन्तन और उसी चिन्तन को समता की रस धारा में डुबो कर प्रवहमान बनायेगा आत्म समीक्षण अर्थात् आत्मा को जानो, देखो, ध्याओ और अनन्त आनन्द में निमज्जित हो जाओ।

अनुक्रम

अध्याय एक

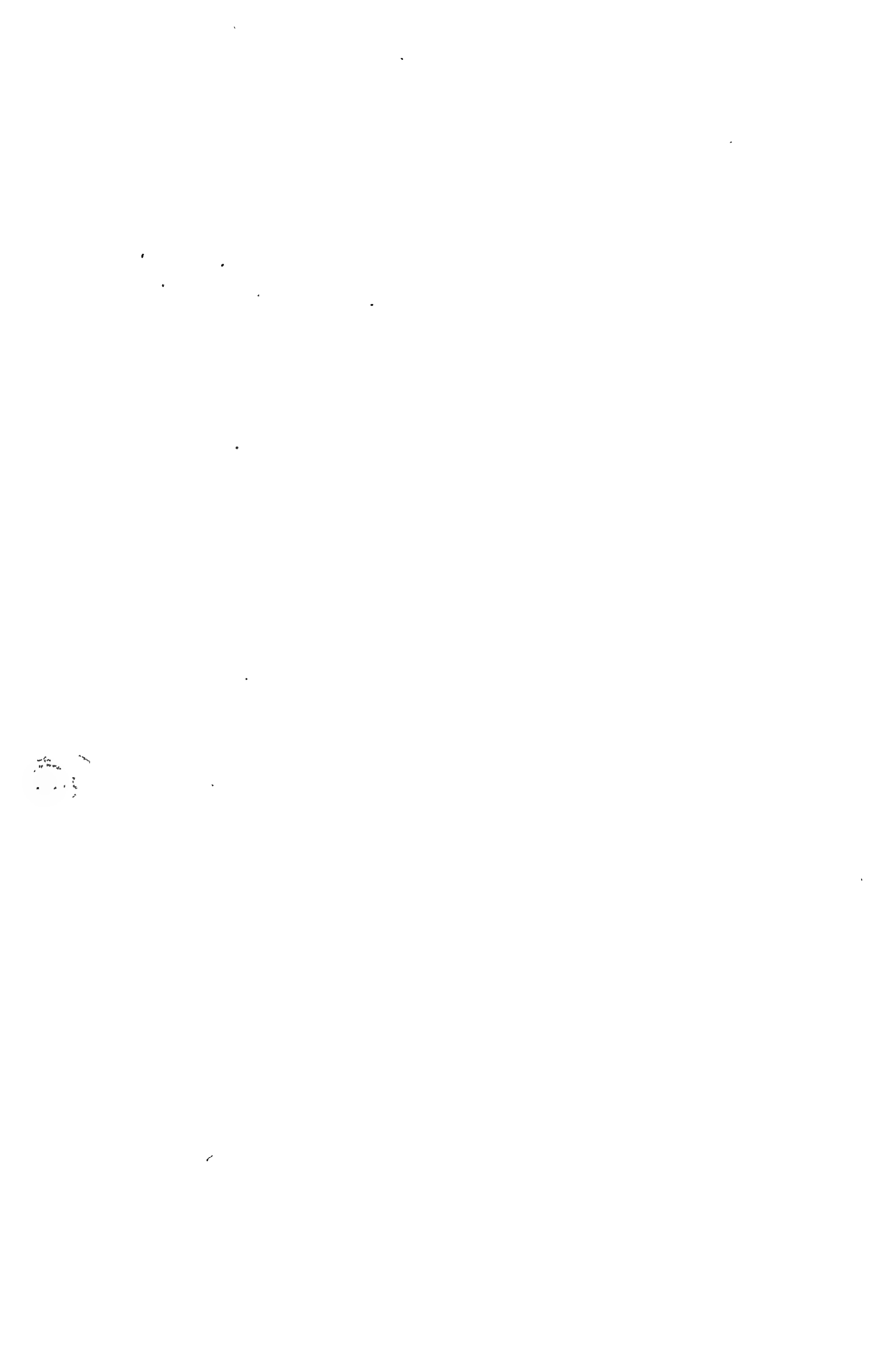
आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

आत्म-समीक्षण

'जे अण्णणदंसी, से अण्णणारामे,
जे अण्णणारामे, से अण्णणदंसी'

जो मनुष्य समतामयी आत्मा के दर्शन करने वाला होता है, वह अनुपम प्रसन्नता में रमण करता है।

और जो अनुपम प्रसन्नता में रमण करता है, वह समतामयी आत्मा के दर्शन करने वाला होता है।



आत्म-समीक्षण

श्री आचारांग सूत्र में कहा गया है कि—

जे अण्णणदंसी, से अण्णणारामे,
जे अण्णणारामें, से अण्णणदंसी

जो अनन्यदर्शी है, वह अनन्यारामी है और जो अनन्यारामी है वह अनन्यदर्शी है।

अन्तर्यात्रा का आनन्द

अनादिकालीन संसार परिभ्रमण के कारण आत्मा अपने स्वभाव को छोड़कर अधिकांशतः अपने विभाव में स्थित हो रही है। फिर भी यह हर्ष का विषय है कि अब सामान्य जीवन एक नये वैचारिक मोड़ पर आकर खड़ा हो गया है। वर्तमान विषम एवं विपरीत परिस्थितियों ने बुद्धिवादियों एवं विचारकों के हृदयों को आन्दोलित कर दिया है और वे इन ज्वलन्त परिस्थितियों के संदर्भ में सोचने लगे हैं कि क्या कोई ऐसा उपाय है जिससे मानसिक तनावों से मुक्त होकर स्थायी सुखानुभव किया जा सके ? यही अन्तरदर्शन या अन्तर्यात्रा की ओर गति करने का आशाजनक संकेत है।

यही नहीं, स्वयं वैज्ञानिक भी विज्ञान के तथाकथित विकास के प्रति सशंक और चिन्तामग्न हो गये हैं कि क्या विज्ञान का यह अतिशय विकास स्वयं मानव जीवन का ही घातक तो नहीं हो गया है ? छोटी-सी मशीन से लेकर कम्प्युटरी रोबोर्ट तक जो यह यांत्रिक विकास हुआ है, उससे एक ओर तो मनुष्य की मानसिक यंत्रणाएँ बढ़ गई हैं तो दूसरी ओर वायु प्रदूषण आदि दोषों से भांति-भांति के शारीरिक रोग फैल गये हैं।

यह स्थिति चौंकाने वाली बन गई है। सामान्य जन तक भी सोचने लगे हैं कि आज जिसे विकास कहा जा रहा है, क्या वह विकास भी है ? कहीं यह तो नहीं है कि यह विकास ही विनाश का रूप ले रहा है ? हम पूर्व वाले पश्चिम की दृश्यमान चमचमाती सभ्यता से आकर्षित हुए थे और उस दिशा में दौड़ने लगे थे किन्तु अब वह मोड़ आ गया है जहाँ हम अपनी विपथगामिता को महसूस करने लगे हैं। इस कारण ही अब यह समझ फैलने लगी है कि विकास की जो दिशा हमने पकड़ी थी, वह गलत थी। हम अपना सुख अब तक बाहर ही बाहर खोजते रहे हैं और यही हमारी भूल थी। जो सुख वास्तव में अपने ही भीतर में बसा हुआ है और जिसे हम अन्तर्यात्रा को सफल बनाकर प्राप्त कर सकते हैं, वह भला बाहर कहाँ और कैसे मिलता ?

वैचारिक दृष्टि से सामान्यजन तक में यह जो नया मोड़ आया है, इसे ही स्वस्थ रूप देकर हम आध्यात्मिक दिशा की ओर ले जा सकते हैं। आज करीब करीब सभी वर्ग—पूर्व के ही नहीं बल्कि पश्चिम के भी सभी वर्ग वैज्ञानिक विकास के इस भयावह रूप से संत्रस्त हो रहे हैं और आकुल-व्याकुल होकर सुख के नये क्षेत्रों तथा नये स्रोतों की शोध कर रहे हैं। यह शोध की प्रवृत्ति ही हमें अन्तर्यात्रा की दिशा में आगे बढ़ा सकेगी।

सुख के शोध की यह अन्तर्यात्रा हमें आरंभ करनी होगी अपने ही मन से, क्योंकि यह मन बाह्य एवं आभ्यन्तर जगत् के मध्य की कड़ी है। आज यह मन बाहर के विषयों में ही भटक रहा है—इसको साधना पड़ेगा और उसे एकाग्र बनाकर भीतर गहराई में उतारना होगा। मन की ऐसी साधना ही अन्तर्यात्रा की साधना बन सकेगी। इसमें चित्तवृत्तियों पर नियंत्रण की क्षमता बढ़ानी होगी तो उनके संशोधन के विविध प्रयोग भी कार्यान्वित करने होंगे। चित्तवृत्तियाँ अशुभ योगों से शुभ योगों में प्रवृत्ति करे—यह कोई सरल कार्य नहीं है। फिर यह आत्मा भी तो अनन्त काल से वैभाविक वातावरण में चल रही है जिसके कारण चित्तवृत्तियों में यह परिवर्तन लाना सहज रूप से संभव नहीं है। विपथ पर दौड़ते हुए चित्त को नियंत्रण में लेना एक भगीरथ कार्य है। कई साधकों ने कई प्रयोग इस हेतु किये हैं किन्तु उनके कई प्रयोग इस दिशा में विफल भी रहे हैं। कारण, जब तक आत्मा के मूल स्वभाव का सम्यक् ज्ञान नहीं हो तथा विपथ से मन को नियंत्रित करने की सम्यक् विधि अपनाई नहीं जाय, तब तक कोई भी प्रयोग सफल नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में वीतराग देवों ने संयमीय साधना की प्रकीर्णता के बाद अन्तरज्ञान को पाकर जो मनस्साधना एवं ध्यान का प्रयोग बताया है, उसी को केन्द्रस्थ बना कर साधना रूप अन्तर्यात्रा का श्रीगणेश किया जा सकता है।

आज प्रायः सम्पूर्ण जीवन बाह्य यात्रा में ही व्यस्त बना हुआ है। चौबीसों घंटे मनुष्य बहिर्दर्शन की दिशा में ही दौड़ रहा है। बाहर की प्रतिस्पर्धात्मक दौड़ से उसे तनिक भी अवकाश नहीं है कि वह अन्तर्यात्रा के विभिन्न पहलुओं का ज्ञान भी करे। अतः अन्तर्यात्रा विषयक चिन्तन का अभाव है। किन्तु वर्तमान युग की विषमताओं से वह अवश्य घबरा उठा है। इस घबराहट ने उसके मन में यह विवशता जरूर पैदा कर दी है कि भीतर में सुख को खोजे। इस कारण वह आत्म चिन्तन की तरफ अव्यक्त रूप से मुड़ा है—यह कहा जा सकता है। उसकी इस मनोदशा में यदि आत्म समीक्षण की भावना जगाई जाय और मन को सन्नद्ध बनाया जाय तो वह अपनी अन्तर्यात्रा के विषय में चिन्तनशील बन सकेगा। चिन्तनशीलता की भूमिका पर यदि मनुष्य के मन को आरूढ़ कर दिया जाय तो निश्चय ही वह आत्म-साधना के प्रति आकृष्ट हो जायेगा।

एक बार जब मनुष्य के मन की साधक के रूप में रचना हो जायगी, तब उसकी अन्तर्यात्रा की पिपासा अधिकाधिक तीव्र बनती जायेगी। मन की साधना में उसकी अभिरुचि भी बढ़ेगी एवं अनुभूति भी परिपुष्ट होगी। इसका वास्तविक कारण यह होगा कि उसके भीतर आनन्द का ऐसा स्रोत फूट निकलेगा जो उसे अनुपम लगेगा। इस आनन्द का रसास्वादन उसके अन्तःकरण में समुचित मनोभूमि का निर्माण करेगा जिसमें फिर अपनी चित्तवृत्तियों पर नियंत्रण कर लेना कठिन नहीं रह जायेगा। तब साधना में भी एक नई दृढ़ता की ज्योति जाग जायेगी।

समीक्षण ध्यान साधना

मन की साधना के सम्बन्ध में अगणित प्रयोग प्रचलित हैं जैसे हठयोग, भक्तियोग, लय योग, कर्मयोग, सहज योग आदि। इनमें से सहज योग की साधना अवश्य अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी है जिसके माध्यम से तनाव मुक्ति एवं शान्ति से साक्षात्कार किया जा सकता है। किन्तु इतना अवश्य है कि किसी भी आत्मदर्शन की साधना की प्रारंभिक भूमिका मन की साधना ही होगी। मन की साधना में मुख्य रूप से चित्तवृत्तियों के नियंत्रण एवं संशोधन पर बल दिया गया है।

यद्यपि यह कार्य आसान नहीं है और अधिसंख्य साधकों के प्रयास विफल हो चुके हैं, फिर भी जो स्वानुभूति से प्रबोध लेते चलते हैं तथा स्थायी सुख का मार्ग खोजते हैं एक दिन सफलता उनके चरण अवश्य चूमती है।

स्वानुभूति की परिपुष्टता की दृष्टि से उपरोक्त प्रयोगों की श्रृंखला में जो समीक्षण ध्यान पद्धति का सृजन किया है, वह यदि निष्ठा के साथ साधकों द्वारा अपनाई जाय तो विश्वास है कि स्वानुभूति की सक्षमता अभिवृद्ध की जा सकती है। मेरा यह विश्वास इस समीक्षण ध्यान पद्धति के सफल प्रयोगों पर आधारित है। कई साधक इस पद्धति को अपना रहे हैं और उन्हें इसके सुपरिणाम भी प्राप्त हो रहे हैं।

समीक्षण ध्यान पद्धति है क्या? अपने समस्त जीवाजीव पदार्थों को सम्यक् प्रकार से देखना। क्या यह देखना इन चर्म चक्षुओं से संभव होगा? कतई नहीं। यह देखना संभव हो सकेगा मात्र ज्ञान चक्षुओं के माध्यम से और इस कारण पहले अपने ज्ञान चक्षुओं को उघाड़ना होगा। यह पहले अन्तर्चक्षुओं को खोलेगी। समीक्षण ध्यान साधना से पहले भूमिका की शुद्धि आवश्यकता बताई गई है। इस ध्यान की भूमिका है मानस पटल और ध्यान की सफलता के लिए पहले इसी पटल को विशुद्ध बनाना होगा।

ध्यान साधना का अर्थ होगा कि मनुष्य बाह्य जगत् से अपने आपको संकुचित बनावे तथा अपने अन्तःकरण में प्रवेश करे। इसका उद्देश्य होगा विश्रृंखलित बनी चित्तवृत्तियों का विशोधनपूर्वक नियंत्रण करना। अनन्तकाल से बहिर्मुखी बनी हुई इन वृत्तियों को सुनियोजित करने के लिए विशेष प्रकार की भूमिका की आवश्यकता होगी। किसान बीज वपन के पहले जैसे अपने क्षेत्र की शुद्धि करता है, वैसी ही कोशिश एक साधक को भी विकेन्द्रित वृत्तियों के नियंत्रण से पहले स्थान, वातावरण की शुद्धि तथा संकल्पशक्ति की दृढता के रूप में करनी होती है।

सर्वप्रथम मन की साधना के प्रति तीव्रतम संकल्प की आवश्यकता होगी। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अपने ही संकल्प, अपने ही विकास या पतन की दिशा का निर्धारण करते हैं। किसी भी दिशा में अग्रगामी बनने के लिए संकल्पों की तीव्रता अपेक्षित होती है। संकल्प जितना सुदृढ़ होता है, तदनुसार उसका आचरण भी अधिक सक्रिय होता है। इसलिए साधना के क्षेत्र में प्रवेश करने से पहले सत्संकल्प की सुदृढ़ता वांछनीय और अनिवार्य है। सत्संकल्प की परिपूर्णता के साथ साधना निश्चित रूप से अधिक गतिशील होगी।

दृढ़ संकल्प के बाद स्थान तथा वातावरण का भी एक ध्यान-साधक के चित्त पर प्रभाव पड़ता है। ध्यान साधना के लिये उपयोगी स्थान वही माना जायेगा, जो एकान्त, शान्त, नीरव तथा इन्द्रियाकर्षण के पदार्थों से रहित हो। स्थान यदि उपयोगी नहीं हो तो साधना में विघ्न पड़ते रहते हैं जिनके कारण परिणाम प्राप्ति की अवधि लम्बी हो जाती है। इसलिये द्रव्य और भावरूप उभयमुखी शुद्धि वाले स्थान का चयन किया जाना चाहिये। इसी प्रकार आस-पास का वातावरण भी साधक के ध्यान-सम्बल को डिगाने वाला नहीं, बढ़ाने वाला होना चाहिये। अन्तर्प्रवेश के लिए सहजता अनिवार्य होती है और सहज सरल परिधान, स्थान तथा वातावरण की उपस्थिति में सहजता का सम्यक् विकास सरल बन जाता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार समय के साथ में भी मन का तादात्म्य स्थापित हो जाता है, अतः समीक्षण ध्यान की साधना में समय की नियमितता भी आवश्यक होगी क्योंकि

नियमबद्ध समय पर स्वतः ही साधना की स्मृति हो आयेगी तथा उसमें प्रवृत्त हो जाने की लगन लग जायेगी। समय की नियमितता सध जाने पर साधक के मन की क्रियाशीलता स्वचालित जैसी हो जायेगी। ध्यान के लिए सर्वोत्तम समय ब्रह्म मुहूर्त्त याने कि रात्रि का अन्तिम प्रहर और सूर्योदय के साथ प्रथम प्रहर का समय माना गया है।

तब यह समीक्षण ध्यान अपने विधि क्रम से साधा जाना चाहिये। ध्यानारंभ से 'आधा घंटा पूर्व साधक को निद्रा त्याग देनी चाहिये ताकि दैहिक चिन्ताओं से निवृत्त होकर वह यथासमय साधना में प्रवृत्त हो सके। तब साधक सामान्य आसन पर माला, मुखवाचिका आदि साधन सामग्री लेकर बैठे और यथा सुविधा सामायिक या संवर का प्रत्याख्यान ले। वन्दन-नमन द्वारा साधक पहले अपने प्रमाद को भी मिटावे तो अपनी वृत्तियों में मान को हटाकर नम्रता का संचार भी कर दे। विधिपूर्वक वन्दन तीन बार आवर्तन सहित वन्दन करने से वक्षस्थल की मांस पेशियों में नये रक्त का संचार होगा इससे प्राण वायु की ग्रहण क्षमता बढ़ जायेगी। फिर पद्मासन से बैठकर साधक ध्यान में बैठ जावे—किसी प्रकार का तनाव अपने भीतर न उठने दे। सहज भाव से मेरूदंड सीधा और सरल रहे। ध्यान की इस मुद्रा में निरहंकारी वृत्ति की स्पष्ट झलक होनी चाहिये।

इस विध ध्यान में स्थित हो जाने के बाद यों समझिये कि अपनी अन्तर्यात्रा का यह आरम्भ है। इस यात्रा का आरंभ ही आन्तरिक चिन्तनशीलता को उभारता है कि सारा जीवन और सारा समय हमने सांसारिक विषयों के पीछे लगा रखा है तो क्या मात्र इस मामूली से समय की ध्यानावस्थितता से काम चल जायेगा? तब भीतर ही भीतर एक असन्तोष उमड़ने घुमड़ने लगता है और ध्यान के लिए अधिक उत्साह व अधिक समय की अभिलाषा जागती है—अन्तर्दर्शन की पिपासा बलवती होती है। इस चिन्तन के साथ साधना के लिए समुचित एवं सहयोगी मनोभूमि का निर्माण होता है जिसके कारण चित्तवृत्तियों को सम्यक् दिशा में मोड़ना अधिक कठिन नहीं रहता।

संकल्प की दृढ़ता, परिवेश की शुद्धता, वातावरण व स्थान की पवित्रता तथा विनय-विवेकपूर्वक त्याग भावना की ओजस्विता के द्वारा साधना को श्रेष्ठ सम्पुष्टि प्राप्त हो जाती है। तब साधक को मन की गतिविधि पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिये तथा उसे समझकर आवश्यक निर्देश संकल्पित किये जाने चाहिये। यह प्रयास होना चाहिये कि मन कम से कम साधना की निर्धारित कालावधि में तो दिये गये निर्देशों का पालन करे ही। उसकी सारी बहिर्गमिता की दौड़ तब तक के समय के लिए तो शान्त कर दी जानी चाहिये। साधक के संकेतों के विपरीत उसका मन एक क्षण के लिये भी नहीं चले—इसका निरन्तर अभ्यास किया जाना चाहिये। जितने दृढ़ संकल्प के साथ साधक अपने मन को निर्देश देगा, वस्तुतः मन भी उतनी ही सक्रियतापूर्वक उन निर्देशों का अनुसरण करने लगेगा। निर्देशों का संकल्प के साथ संयुक्त होना आवश्यक है। साधक जब अपने ऊर्जायुक्त संकल्प का सहयोग लेगा तो मन की समस्त वृत्तियाँ अपने केन्द्र का अतिक्रमण करने में समर्थ नहीं रह सकेंगी। किसी प्रकार की आंधी उन वृत्तियों को अपने साथ बहा नहीं सकेगी। लेकिन यह सब संभव हो सकेगा तीव्रतम संकल्प के साथ निश्चित अवधि तक इन्द्रियों एवं मन पर सम्यक नियंत्रण रखने के कठिन प्रयास के माध्यम से ही। परमोच्च भावना और परमात्मा की साक्षी से लिया गया ऐसा संकल्प, उस अवधि में इन्द्रियों को उनके विषयों के आकर्षण विकर्षण में लिपटने नहीं देगा। वे पापजनक असत्य वृत्तियों में भी नहीं जा सकेगी तो वर्ण रस, गंध, स्पर्श

आदि के प्रलोभन में भी नहीं गिरेगी। ऐसे संकल्प से इन्दियों को प्रशस्त संबल मिल जायेगा जिसका आश्रय लेकर वे समस्त प्राणियों की रक्षा में सावधान बन जायेगी और विश्वमैत्री की उच्च भावना के अनुसार कार्य करेगी।

समीक्षण ध्यान में केन्द्रस्थ होने के लिये मन के स्वरूप एवं उसकी गतिविधि को बारीकी से समझना जरूरी है। वस्तुतः मन एक बालक के समान स्वभाव वाला होता है नादान और चंचल। चंचलता के कारण यह संभव होता है कि किसी भी चीज का उपयोग विकास के लिये नहीं, विनाश के लिए कर दिया जाता है। एक बालक के हाथ में कुल्हाड़ी आ जाय तो वह उस का उपयोग सबसे पहले अपने घर के दरवाजों पर ही करना शुरू कर देगा। उस समय जितने स्नेह, जितने विवेक और जितनी कुशलता से बालक को समझाया जा सकता है, मन को सही राह पर लगाने के लिए उससे भी अधिक स्नेह, विवेक और कुशलता की आवश्यकता होगी। इसका कारण यह है कि मन हर समय क्रियाशील रहता है और उसकी क्रियाशीलता जितनी अनुपयोगी होती है, वह शैतान का घर बनता जाता है। इसलिये मन की विपथगामिता को रोकने तथा उसे सम्यक् दिशा में प्रवर्तित करने के लिये भी अद्‌भुत कौशल चाहिये। यही कौशल समीक्षण ध्यानाभ्यास से प्राप्त होता है। मन को काम चाहिये—क्रिया चाहिये, आप उसे सही काम और क्रिया दे देते हैं तो वह और दौड़ेगा एवं आपके उद्देश्य को सफल बनाने में जुट पड़ेगा। यदि आप उसे व्यवस्थित दिशा नहीं दे पाते हैं तो वह बिगड़ैल बच्चे की तरह इधर उधर भटकेगा ही। तब वह विध्वंस के सूत्रों को ही पकड़ता रहेगा। अतः मन के मननपूर्ण स्वभाव को एक साधक समझें और उसकी गतिशीलता को शुभता की ओर मोड़ें। मन तो हर समय गति करेगा ही इसलिए उसे स्थिर नहीं करना है बल्कि उसकी गति को शुभ मोड़ देना है। मनस्साधना का यही अर्थ है कि मन की गति-दिशा को परिवर्तित कर लेना। उसे असत् से सत्, अन्धकार से प्रकाश की ओर मोड़ लेना ही इस साधना का ध्येय है। यह मानस-परिवर्तन आत्मा को उसके विभाव से निकाल कर स्वभाव में अवस्थित बना देगा।

संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्मों से संपृक्त बनी हुई है जिससे उसका मूल विशुद्ध रूप मलिन हो गया है। इस मैल को अनियंत्रित मन और इन्द्रियां बढ़ाती ही जाती हैं जो परत-दर-परत बहुत गाढ़ा और चिकना हो गया है। इस मैल को दूर करने का एक ही उपाय है कि विकार बढ़ाने वाली इन्द्रियों पर ही अपना अनुशासन स्थापित किया जाय और इसमें सहायता करता है समीक्षण ध्यान अर्थात् वृत्तियों के संशोधन, उदात्तीकरण अथवा रूपान्तरण की साधना। इस साधना का यह उद्देश्य कतई नहीं है कि मन को गतिहीन बना दिया जाय अथवा वृत्तियों का अवरूंधन कर दिया जाय। वृत्तियों के संशोधन, उदात्तीकरण तथा रूपान्तरण का कार्य करेगी समीक्षण ध्यान साधना, जो मन की गति को रोकेगी नहीं, शुभ दिशा में मोड़ देगी। साधक मन की गति को मोड़ेगा और मन इन्द्रियों को मोड़ेगा। यह क्रम चलता रहेगा और नियंत्रण का चक्र भी सुचारू रूप से घूमता रहेगा।

समीक्षण ध्यान के परिप्रेक्ष्य में 'समीक्षण' का अर्थ संदर्भ स्पष्ट हो जाना चाहिये। समीक्षण शब्द का अर्थ है सम्यक् रीति से अथवा समतापूर्वक देखना-निरीक्षण करना। यह शब्द दो शब्दों सम्+ईक्षण के संयोग से बना है। इसका भावार्थ यह हुआ कि अपनी ही वृत्तियों को हम सम्यक् रीति से समभाव पूर्वक देखें और निरन्तर उनका निरीक्षण करते रहें। फलस्वरूप चित्तवृत्तियों की कलुषितता हमको समझ में आयेगी तो यह भी समझ में आयेगा कि उनका परिशोधन कैसे किया

जाय ? समीक्षण ध्यान हमारे ज्ञान-चक्षु खोलेगा ही नहीं, बल्कि वह स्वयं ज्ञान-चक्षु रूप बन जायेगा। एक साधक कालुष्य को देखेगा तभी उसका परिशोधन भी कर सकेगा। अपनी प्रारंभिक भूमिका में वह केवल अपनी चित्तवृत्तियों का सम्यक् निरीक्षण ही कर सकेगा। निरीक्षण से ही वह जान सकेगा कि मन किन-किन अशुभ प्रवृत्तियों में गतिशील हो रहा है ? उन प्रवृत्तियों के उद्दीपक हेतु क्या-क्या हैं? इस जानकारी के बाद ही उन वृत्तियों की अशुभता से शुभता में प्रवृत्ति हेतु साधक अपने प्रयासों को तेज कर सकेगा। इस प्रकार का अनुचिंतनपूर्ण निरीक्षण ही समीक्षण ध्यान की भूमिका का कार्य करेगा।

समीक्षण की इस प्रक्रिया के साथ व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध स्थूल चिन्तन की ओर मुड़ना होगा। व्यक्ति अकेला नहीं होता, वह अपनी सामाजिकता से भी बंधा हुआ होता है और इसलिये उसे समाज, परिवार अथवा अन्य संगठनों से सम्बन्धित प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होना पड़ता है। यह उसकी व्यावहारिक अनिवार्यता है। इसलिये अपनी साधना के समय साधक को यह चिन्तन करना चाहिये कि विवशतावश उसको अपने समाज या अन्य संगठनों से सम्बन्धित अशुभ प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होना पड़ता है यह उसकी आत्मिक दुर्बलता है। अशुभ को अशुभ रूप में स्वीकार कर लेने से भी साधना को बल ही मिलता है। ऐसा ही विचार अपने अनैतिक आचरण के प्रति भी उठना चाहिये और साथ-साथ उस दुर्बलता को यथासाध्य शीघ्रातिशीघ्र दूर करने का भी मानस बनना चाहिये। विवशताजन्य असत्प्रवृत्तियों के प्रति पश्चात्ताप की भावना उभरनी चाहिये। इससे प्रायश्चित लेने की धारणा बनेगी क्योंकि प्रायश्चित उस भूल के प्रति सावधानी रखने के भाव का गहरा अंकन कर देता है। मन पर गंभीर प्रभाव को अंकित बनाये रखने का सरल उपाय यह है कि उसके द्वारा अधिक से अधिक इच्छित वैषयिक पदार्थ उसे न दिये जाय जिससे उसकी आसक्ति टूटती चली जाय। टूटती हुई आसक्ति में उसको जो संकल्पपूर्वक निर्देश दिये जायेंगे, उसकी पालना वह अवश्य करेगा। निर्देश देने के समय यह ध्यान में रखा जाना चाहिये कि मन की उन वृत्तियों का भी रूपान्तरण हो जो विवशता, प्रमाद अथवा दुर्बलता के घेरों में बंधी हुई हैं। उन वृत्तियों को भी जब परिमार्जित करने का पुरुषार्थ प्रकट होगा, तब समीक्षण ध्यान का भी वैज्ञानिक रूप अधिक सक्रिय बन जायेगा। यह सही है कि सभी भूलों या त्रुटियों का एक साथ परिमार्जन नहीं हो सकेगा किन्तु स्थूल वृत्तियों को शुभता की ओर मोड़ने के साथ सूक्ष्म दोषों पर भी साधक की दृष्टि अवश्य चली जायेगी। इस प्रकार जब तक चित्त में समीक्षण के प्रति उत्साह, उमंग और मन की गहरी भूख बनी रहे तब तक साधक आत्मावलोकन अथवा व्यवहार-दर्शन की इस प्रक्रिया में संलग्न बना रहे। चिन्तन का समय इस तरह बढ़ाया जाता रहे कि उससे मन ऊबे नहीं। क्योंकि शुरू में ही मन ऊब जायेगा तो वह चिन्तनशीलता आगे नहीं बढ़ सकेगी।

समीक्षण का द्वितीय चरण

जीवन के व्यावहारिक परिवेश में मनोवृत्तियों का समायोजन करने के बाद आत्म लक्ष्य में प्रवेश का समीक्षण का द्वितीय चरण प्रारंभ होता है। और यह चरण होता है आदर्श स्थिरता का। किसी भी उच्च आदर्श की स्थिरता के अभाव में साधना में अबाध गति उत्पन्न नहीं होती है। साधना का ही प्रश्न नहीं, किसी भी शुभ कार्य के प्रति तब तक समर्पित भाव उत्पन्न नहीं होता है जब तक कि कोई आदर्श-कल्पना सामने न हो। एक व्यवसायी भी अपने व्यवसाय को प्रारंभ करने से पूर्व

किसी समर्थ सफल व्यवसायी को आदर्श मानकर ही व्यवसाय के क्षेत्र में आगे बढ़ सकता है। ठीक इसी प्रकार साधना के क्षेत्र में कदम बढ़ाने से पहले किसी आदर्श को सामने रखना अनिवार्य है। किन्तु यह आदर्श परमोच्च एवं परम श्रेष्ठ होना चाहिये। यह आदर्श जितना उच्चतम होगा, उतनी ही साधना की गति ऊर्ध्वगामी बनेगी। इसलिये अपना आदर्श निर्धारण करने में जागृत वृत्ति की आवश्यकता होती है।

प्रश्न है कि आदर्श कैसा होना चाहिये? आदर्श वही हो जो अपने लक्ष्य का सर्वोत्तम प्रतिमान बन सके। वह लक्ष्य क्या है? वह लक्ष्य है आत्मा को सर्वविशुद्ध रूप प्रदान करके सिद्धावस्था तक पहुँचाने का। साधक का प्रथम चिन्तन इस दृष्टि से आदर्श का अनुचिन्तन ही होगा जो यह भान दिलाता है कि यह मानव-जीवन मात्र इसी जीवन तक सीमित नहीं है। यह विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करते हुए ऐसे सशक्त साधन के रूप में मिला है जो आध्यात्मिक उन्नति के लिये अनुकूल वातावरण प्रदान करता है। इस जीवन और अन्य दुर्लभ प्राप्तियों के पश्चात् आत्म-कल्याण के लक्ष्य से विचलित रहना, पुण्यमय संयोगों का सदुपयोग नहीं करना तथा भौतिक पदार्थों के उपार्जन में ही बहुमूल्य समय का दुरुपयोग करना कतई समुचित नहीं है।

साधक का यह चिन्तन चलना चाहिये कि मुझे आज जो अनुकूलताएँ मिली हैं, क्या मैं आत्म-विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि ये सब मुझे आगामी जन्म में भी प्राप्त होंगी? और यदि ऐसा नहीं है तो उनका इसी जीवन में पूर्ण सदुपयोग कर ही लेना चाहिये क्योंकि मात्र भौतिक साधनों की उपलब्धि का मार्ग अज्ञान के अंधकार से आवृत्त होता है। अंधकार की ओर गति करना मेरा लक्ष्य नहीं है। यदि मैं अंधकार में ही रहूँ तो ये इन्द्रियाँ भी काम भोगों की तरफ आकर्षित होती रहेगी। समस्त दृश्य, श्रव्य अथवा अस्वाद्य पदार्थ मुझे अपने आदर्श लक्ष्य से विचलित करने की ही क्रिया करते रहते हैं। इसलिए मुझे इन सबसे ऊपर उठकर अपने आत्म-साक्षात्कार की ओर इस गति से बढ़ना चाहिये कि जहाँ अंधकार की एक रेखा तक न रहे—चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश हो। इस प्रकाश में आत्म-ज्ञान का, अनन्त सूर्यों से अधिक तेज होते हुए भी परम शान्ति का आलोक व्याप्त होता है। लोगस्स के पाठ में 'आइच्चेसु अहियं पयासयरा' के अंश से ऐसे ही प्रकाश का उल्लेख किया गया है। अतः मेरा आदर्श भौतिक पदार्थों का अनुबंधित प्रकाशाभास नहीं, अपितु अपनी ही आत्मा से उद्घाटित होने वाला अपूर्व प्रकाश है। यह प्रकाश है सत्, चित् एवं आनन्दमय। यह परमोच्च आदर्श मुझे मेरी साधना में प्रतिपल अपने सामने रखना है। यही सर्वोत्तम आदर्श है।

भविष्य के निर्धारण का चरण

यह सर्वोत्तम आदर्श ही साधनारत आत्मा का प्रकाश स्तंभ होता है। आदर्श के निर्धारण एवं उसी प्रकार लक्ष्य के संस्मरण द्वारा आत्मलक्षी अन्तरावलोकन करने के बाद जब तक साधक पुनः अपने व्यावहारिक जीवन में लौटता है तब उसका तीसरा और अन्तिम चरण आरंभ होता है। यह अन्तिम चरण होता है अपने भविष्य के सम्यक् रीति से निर्धारण का।

साधक की अन्तर्यात्रा का आरंभ बाहर से भीतर में प्रवेश करने के रूप में होता है यानि वह अपने व्यावहारिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करता है, देह से चेतना की तरफ उन्मुख होता है। किन्तु यह क्रम पहले सामयिक ही रहता है क्योंकि साधना में निश्चित अवधि तक बैठने के बाद वह फिर से अपने व्यावहारिक जीवन में चला जाता है। किन्तु उस का यह प्रत्यावर्तन

भी उसे अपने लक्ष्य एवं आदर्श से विस्मृत नहीं बनाना चाहिये। आध्यात्मिक जीवन की ही यथोचित सम्यक् पूर्ति उसके व्यावहारिक जीवन में भी होनी चाहिये। फिर बार-बार जो एक जीवन से दूसरे जीवन में भावनात्मक प्रत्यावर्तन होता रहेगा, उसमें भावनात्मक परिवर्तन एवं उच्चतरता की अपेक्षा रहेगी। तब यह प्रत्यावर्तन एक दूसरे का सम्पूरक बन जायेगा बल्कि यों कहें कि दोनों जीवन आध्यात्मिकता से ओतप्रोत होने लगेंगे। व्यावहारिक जीवन में भी आदर्श एवं लक्ष्य के अनुकूल आचरण का विस्तार हो जायेगा।

भविष्य के निर्धारण के प्रति तब साधक का सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित होने लगेगा। तब उसकी संकल्प शक्ति भी बलवती होने लगेगी। जब वह व्यावहारिक जीवन में लौटेगा, तब पहले की तरह विषम परिस्थितियों के सामने झुकेगा या गिरेगा नहीं। उनसे सम्हल कर चलेगा, अपितु उन्हें सुधारने का सत्प्रयास भी करेगा। उसकी इस सजग वृत्ति से उसके व्यावहारिक जीवन में भी लोकोपकार की भावना पैदा होगी। वह सोचेगा कि जिस लक्ष्य एवं आदर्श को मैं उत्थानकारी मानता हूँ और जिस दिशा में मैं गति कर रहा हूँ, क्यों नहीं प्रत्येक मानव भी उस लक्ष्य और आदर्श को उत्थानकारी माने और क्यों नहीं, प्रत्येक मानव उसी दिशा में गति करे? यह उसकी लोकोपकार की भावना होगी। इस दृष्टि से वह अपने आध्यात्मिक जीवन में अपनी आत्मिक उच्चता का पुरुषार्थ करेगा तो उसका वही पुरुषार्थ उसके व्यावहारिक जीवन में प्रत्येक मानव के लिए कल्याणकारी चरण बन जायेगा। समुच्चय रूप से इस परिप्रेक्ष्य में तब एक साधक अपने भविष्य का निर्धारण समतापूर्वक करना चाहेगा।

आध्यात्मिक दृष्टि से साधक अपने भविष्य का निर्धारण इस रूप में करना चाहेगा कि उसकी साधना विस्तृत और व्यापक बने। इसका अर्थ है कि उसकी साधना अव्यक्त रूप से उसके व्यावहारिक जीवन में भी स्थान पावे और फैले। आध्यात्मिक जीवन से पुनः अपने व्यावहारिक जीवन में लौटते समय उसको अपने क्रियाकलापों में सबसे पहले प्रबलतम संकल्प के साथ-साथ सामयिक निश्चिंतता एवं समय की नियमितता पर विशेष ध्यान देना होगा। क्योंकि उसी आधार पर वह अपने चौबीसों घंटों का कार्यक्रम निश्चित कर पायेगा। आगे के कार्यक्रम का निर्धारण उसे साधना से उठते ही कर लेना चाहिये जो पुनः साधना में अवस्थित होने तक का हो। इस कार्यक्रम को इस प्रकार निश्चित करना चाहिये कि उसमें प्रत्येक मिनिट का हिसाब हो। एक भी मिनिट न आलस्य में खोया जाय और न एक भी मिनिट का दुरुपयोग किया जाय। इससे आगे बढ़कर यह निश्चय किया जाय कि अधिकाधिक समय स्व-पर लोक-कल्याण में नियोजित हो। ज्यों-ज्यों साधना का क्रम सघन होता जाय, त्यों-त्यों स्व-पर कल्याण की निष्ठा भी प्रबल बनती जाय। साधक के जीवन में तब वह स्थिति उत्पन्न हो सकती है, जहाँ उसके दोनों प्रकार के जीवनों में गहरा सामंजस्य पैदा हो जाय। उसी स्थिति में दोनों जीवन अपने वास्तविक अर्थ में एक दूसरे के सम्पूरक बन सकेंगे। फिर दैहिक चिन्ताओं से निवृत्ति भी की जा सकेगी तो निर्वाह हेतु व्यवसाय का संचालन भी हो सकेगा, तब भी भावनात्मक लक्ष्य सुस्थिर बना रहेगा और प्रतिपल आत्म चिन्तन की वृत्ति ही प्रबल एवं मुखर बनती जायेगी।

फिर साधक को अपने अगले चौबीस घंटों का पक्का कार्यक्रम भी बनाना चाहिये। साधना के समय पिछले चौबीस घंटों का आलोचनात्मक लेखा-जोखा भी लेना चाहिये। उदाहरणार्थ जब

साधक अपनी साधना से उठे तो पूरे चौबीस घंटों का अग्रिम कार्यक्रम निश्चित करे कि इतने बजकर इतने मिनिट पर वह अपनी व्यावहारिक चिन्ताओं से निवृत्ति पा लेगा व फिर इतने बजकर इतने मिनिट तक अमुक कार्य करेगा। सारी दिनचर्या इस रूप में सुनिश्चित हो जानी चाहिये। उसे निश्चय करके ही विराम नहीं ले लेना चाहिये बल्कि सशक्त मानस के साथ उस कार्यक्रम का उसे उसी रीति से अनुसरण भी करना चाहिये। उसमें प्रमादवश या अकारण किसी प्रकार का अन्तर नहीं आना चाहिये।

सहजता जीवन का अंग बने

एक साधक के लिए इस रूप में समय निर्धारण एवं कठोरतापूर्वक उसके पालन के साथ साधना की दृष्टि से यह आवश्यक होगा कि वह जिस किसी कार्य में संलग्न होता है, उसमें उसकी समस्त वृत्तियाँ समर्पित भाव से प्रवर्तित होनी चाहिये। उसका सम्पूर्ण ज्ञान, विवेक एवं उपयोग उस कार्य की सम्पूर्ति में लग जाना चाहिये। समझिये कि एक साधक शास्त्र अथवा उपयोगी ग्रंथ का वाचन कर रहा है तो उसका समग्र ध्यान उस वाचन में केन्द्रित हो जाय—इस तरह कि जैसे वह उस आनन्द में निमग्न हो गया हो। उसे ऐसी अनुभूति हो कि उसका चित्त उस कार्य में पूरी तरह से रस ले रहा है। तल्लीनता उसका आत्मगुण बन जाना चाहिए। ऐसी तल्लीनता आध्यात्मिक कार्यों में तो हो ही किन्तु उस तल्लीनता का प्रसार उसके व्यावहारिक जीवन में भी हो जाना चाहिये। जैसे वह जब भोजन कर रहा हो तो जो भी सामने है मुदित मन उसको प्रेमपूर्वक खावे और उसी तल्लीनता से खावे।

तल्लीनता का यह आत्म-गुण परिपुष्ट तब बन सकेगा, जब एक कार्य करते हुए दूसरे कार्य का स्मरण तक न किया जाय। जब साधक ग्रन्थ का वाचन कर रहा हो तब अन्य साधना के बारे में भी नहीं सोचे। किसी सांसारिक कार्य के लिए सोचने का सवाल ही नहीं है। इसी प्रकार जब वह भोजन कर रहा हो तो स्नान करने के बारे में नहीं सोचे। प्रत्येक क्रिया के प्रति इस तल्लीन भाव से उस क्रिया की सार्थकता का सीधा अनुभव होगा।

इसी तल्लीनता को एकावधानता का नाम दिया गया है और यही जीवन की सहजता है अथवा 'सहज योग' की साधना है। जो कार्य जिस समय कर रहे हैं, उसी में अपनी चित्तवृत्तियों का सारा ध्यान केन्द्रित हो जाय और अन्य कोई बात स्मृति तक में नहीं आवे, तब एकाग्रता का सुन्दर अभ्यास बनेगा। एकाग्रता से अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ जब एक ही कार्य में निरत बनेगी—समर्पित हो जायेगी तब उस कार्य की सफलता भी असंदिग्ध हो जायेगी। धीरे-धीरे यह अभ्यास इतना संपुष्ट बन जायेगा कि पूर्व निश्चित कार्यक्रमानुसार प्रत्येक कार्य सहजतापूर्वक सम्पन्न होने लगेगा। यों कहें कि सहजता जीवन का अंग बन जायगी।

सहज योग की साधना की यही उत्साहकारी भूमिका भी बन जायेगी। यह समीक्षण ध्यान साधना का तीसरा चरण अथवा अन्तिम आयाम होगा कि हाथ में लिये हुए कार्य के प्रति अथवा यदि कोई चिन्तन कर रहे हैं तो उस चिन्तन के प्रति समग्र समर्पण का संकल्प बन जाय। संकल्प की दृढ़ता यहाँ तक बन जाय कि धारणा ले लेने के बाद भोजन के समय एक-एक कृत-क्रिया पर सजगता की आलोचना हो सके। रोटी का टुकड़ा तोड़ते समय और कवल मुंह में रखते समय अथवा उसको चबाते समय साधक का उपयोग जागृत रहे। उसके मन में यह विचार चलता रहे कि

मैं अपनी प्रत्येक क्रिया का सूक्ष्मतापूर्वक अवलोकन करूंगा तथा उससे उत्पन्न होने वाले प्रत्येक प्रभाव की सम्यक् समीक्षा करूंगा। उसका एक भी कवल बिना इस प्रकार की सजगता के मुँह में नहीं जावे और न मुँह से गले में उतरे। यह सजगता भोजन के समय में ही रहे ऐसी बात नहीं है। साधक की प्रत्येक क्रिया में उसकी ऐसी सजगता वर्तमान रहनी चाहिये।

भोजन के समय में अथवा अन्य किसी कार्य के समय में साधी जाने वाली ऐसी सजग साधना से 'सहज योग' की साधना तो होगी ही किन्तु साथ-साथ में ऐसी साधना का सुप्रभाव शरीर के विविध अंगोपांगों पर भी पड़ेगा। जैसे भोजन के समय की ऐसी साधना उसकी पाचन क्रिया को सरल व सहज बना देगी। सतत जागृति के कारण खाद्य पदार्थों का मुँह में चर्वण अच्छी तरह से होगा तो उसमें पाचक रसों का सम्मिश्रण भी समुचित रीति से संभव बनेगा। भोज्य पदार्थ जितना सात्विक होगा, उतना ही वह सुपाच्य भी होगा। प्राणशक्ति के संवर्धन के लिए पाचन क्रिया का सुव्यवस्थित होना भी आवश्यक है। उसी प्रकार प्राणशक्ति का संवर्धन साधना की सफलता के लिये भी आवश्यक होता है। अतः भोजन के समय ऐसी तल्लीनता और जागृति रखी जायेगी तो उससे शारीरिक स्थिति भी व्यवस्थित रहेगी और साधना का सम्बल भी अभिवृद्ध बनेगा। भोजन ग्रहण करने के समान ही दिनचर्या की प्रत्येक क्रिया में साधक को ऐसी ही तल्लीनता एवं जागृति साधनी चाहिये। सतत सावधानता साधना की मूल वृत्ति हो जानी चाहिये।

साधना के इस त्रिचरणात्मक समीक्षण क्रम में पिछले चौबीस घंटों की क्रियाओं का संस्मरण एवं आगामी चौबीस घंटों की क्रियाओं का निर्धारण नियमित बन जाना चाहिये। और इन दोनों के बीच में जो आध्यात्मिक साधना का क्रम चलेगा, उसमें आदर्श लक्ष्य का एकावधान अनुचिन्तन भी नियमित रूप से चलना चाहिये। जहाँ-जहाँ मनो-वृत्तियों का स्खलन होता हो, वहां-वहाँ साधक को अपनी सावधानी का सम्बल बढ़ाते रहना चाहिये। साधक को यह ध्यान रखना चाहिये कि साधना-काल में मन उसका अनुचर बनकर रहे तथा उसके प्रत्येक निर्देश की यथावत् अनुपालना करे। इस दृष्टि से मन की एकाग्रता का संकल्प प्रतिक्षण स्मृति-पटल पर आता रहना चाहिये ताकि उसके तनिक से इधर उधर होते ही उसे पुनः अपने स्थान पर आ जाने के लिये बाध्य किया जा सके। क्योंकि मन को अनुचरवत् अनुशासित किये बिना संकल्पों का सशक्त बन पाना संभव नहीं होता है। और जब तक संकल्प सशक्त न बन सके तब तक लक्ष्य सिद्धि असंभव बनी रहती है। अतः लक्ष्य के प्रति पल-पल जागृति के साथ मनोवृत्तियों का नियमित समीक्षीकरण साधना का अनिवार्य पक्ष माना जायेगा। समीक्षण में जागृति की नितांत आवश्यकता होती है।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि हमारी आत्मा का लक्ष्य सिद्ध-स्वरूप का साक्षात्कार करना है। परम चैतन्य सत्ता की अभिव्यक्ति तथा अविचल शान्ति पूर्ण विश्रान्ति ये ही अपनी साधना के उच्चतम लक्ष्य हैं जिनके लिये त्रि-आयामी समीक्षण ध्यान पद्धति का निरूपण किया गया है। यह पद्धति मनःस्थिति को सुदृढ़ बनाकर एकावधानी बनाने की भूमिका मात्र है जबकि समीक्षण ध्यान की उन्नति असीम होती है। एकाग्र तल्लीनता अथवा एकावधानता स्वयं सर्वोच्च लक्ष्य नहीं हैं बल्कि सर्वोच्च लक्ष्य की पृष्ठभूमि मात्र है। यहाँ पर यह भी याद रखना चाहिये कि पूर्व भूमिका स्वरूप समीक्षण ध्यान के ये तीनों चरण प्रतिदिन की प्रखरता के साथ सूक्ष्मता में अवगाहन करने वाले बनते जावें। प्रतिदिन घटित होने वाली बातों पर जब प्रतिदिन चिन्तन चलता रहेगा, तब वह स्वयं

तो साधना नहीं होगी किन्तु साधना को उससे पुष्टि अवश्य मिलेगी। चिन्तन, साधना रूप तब बनेगा जब वह विषय की सूक्ष्मता में प्रवेश करके सूक्ष्मतम तलस्पर्शिता तक पहुँचेगा। गूढ़ता जितनी बढ़ती जायेगी, चिन्तन उतना प्राभाविक बनता जायेगा। 'जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठि' की उक्ति को सामने रखकर अधिकाधिक गंभीरता अर्जित की जानी चाहिये।

किन्तु गूढ़ता और गंभीरता अपने चिन्तन में अभिवृद्ध होती रहे इसके लिये साधक को क्या करना चाहिये? चिन्तन का क्रम तब तक ही चलाया जाना चाहिये जब तक मन-मस्तिष्क में किसी प्रकार का तनाव पैदा न हो। ज्यों ही यह अनुभव हो कि चिन्तन के प्रति उत्साह और उमंग में न्यूनता आ गई है त्यों ही चिन्तन के विषय को बदल देना चाहिये। साधक के लिए इस प्रकार की सावधानी तीनों में से प्रत्येक चरण में आवश्यक है। जरा-सा भी तनाव आ जाय तो थोड़ी देर के लिए विश्रान्ति ले लेनी चाहिये ताकि चिन्तन का पुनः आरम्भ मस्तिष्क की ताजगी के साथ हो। दूसरे चरण में भी आदर्श के अनुस्मरण रूप सावधानी आवश्यक होती है। अनुस्मरण करते-करते साधक को तदनुरूप की अनुभूति होनी चाहिये। उसके मन में ऐसा सुदृढ़ संकल्प उठना चाहिये कि मेरी अन्तश्चेतना में अनन्त सूर्यों की अपेक्षा भी अधिक देदीप्यमान प्रकाश विद्यमान है। आत्म-स्वरूप रूपी आकाश में वह प्रकाश चमचमा रहा है। मेरे आत्मिक धरातल पर अनेक शक्तिस्रोत प्रवाहित हो रहे हैं। मैं ऐसा अनुभव कर रहा हूँ जैसे कि मेरे भीतर अपार शक्तियों की अभिव्यक्तियां हो रही हों।

यह निश्चित है कि साधना के इस स्तर तक पहुँचने में पर्याप्त समय की अपेक्षा रहेगी। इसका कारण भी स्पष्ट है। दीर्घकाल से विशृंखल, विषम एवं उद्दंड बनी आत्मा की वृत्तियों को एकदम जीत लेना कठिन है। उसी प्रकार सर्वोच्च सिद्धि के लिए प्रयत्न भी सर्वोत्कृष्ट होने ही चाहिये। अपने जीवन-व्यवहार में देखा जाता है कि बीज बोने के साथ ही फल की प्राप्ति नहीं हो जाती है। किन्हीं फलों को प्राप्त करने के लिए कई महीनों तक और आम जैसे फल को प्राप्त करने के लिये कई वर्षों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। जब भौतिक फलों की प्राप्ति के लिये भी सन्तोष के साथ प्रतीक्षा कर ली जाती है और उसकी प्राप्ति में अविश्वास भी नहीं रखा जाता है, फिर आध्यात्मिक साधना के फल की कामना करते हुए धैर्य क्यों छोड़ देना चाहिये? निश्चित विश्वास तथा अगाध धैर्य के साथ ही साधना की जायेगी तो साध्य का साक्षात्कार भी निश्चित रूप से हो जायेगा। यह सही है कि आध्यात्मिक विषय के अनुसार इन्द्रियाँ और उसी प्रकार मन भी अपना नहीं, 'पर' होता है—सभी दृश्य पदार्थों से परे होकर ही अदृश्य सत्ता—आत्मज्योति पर ध्यान को केन्द्रित करना होता है। यह केन्द्रीकरण की साधना एक जन्म ही नहीं बल्कि कई बार अपने सम्पूर्ण विकास में कई जन्मों का समय ले लेती है। महान् योगी अथवा धुरंधर साधक भी इस ध्यान साधना में सफल बन ही जाय ऐसा नहीं होता। इसलिए एक साधक को यह बात याद रखनी चाहिये कि उसे एकनिष्ठा और सुदृढ़ संकल्प की प्रतिज्ञा लेकर अविचल विश्वासपूर्वक प्रगति के पथ पर आगे से आगे बढ़ते ही जाना है। क्योंकि कभी-कभी साधना में होने वाली थकान या सुस्ती उसके व्यवस्थित क्रम को अस्त-व्यस्त कर सकती है और ऐसे क्रमभंग से साधक का विश्वास डगमगा सकता है या साधना के प्रति अरुचि जाग सकती है। अतः आवश्यक है कि दृढ़ निश्चय एवं अगाध धैर्य को विधिपूर्वक साधना के प्रति समर्पित होना चाहिये और किसी भी प्रकार की सुस्ती को दूर रखनी चाहिये।

शक्ति केन्द्र के प्रति सावधानी

इस साधना क्रम में सर्वाधिक जागृति की आवश्यकता तब प्रतीत होती है जब हमारे दिल के कोनों में जम कर बैठी हुई दूषित वृत्तियाँ भारी तूफान मचाती हैं। साधना के समय जब सोई हुई शक्तियाँ जागती हैं, तब चारों तरफ पवित्रता का एक अनूठा वायुमंडल तैयार होता है। उस वायुमंडल से उन दूषित वृत्तियों का जमा हुआ आसन डोलने लगता है। अपने जमे हुए आसन को कौन आसानी से छोडना चाहता है? परिणामस्वरूप जागती हुई आत्म-शक्तियों तथा जमी हुई दूषित वृत्तियों के बीच में एक प्रकार का संघर्ष शुरू हो जाता है। यदि साधना का संकल्प दृढ़तर हुआ तो असत्वृत्तियों को अपना आसन छोड़ देना पड़ेगा और साधक को विजय-श्री मिल जायेगी। यदि ऐसी परिपक्व मनोदशा नहीं बन पाई तो अनादिकालीन दूषित विचार उस साधक की साधना को छिन्नभिन्न कर डालेंगे। उस दशा में हताशा और निराशा में डूबकर साधक लक्ष्य-भ्रष्ट हो जायेगा। अतः इस प्रकार की सावधानी अत्यन्त आवश्यक है कि जब विकारपूर्ण दूषित वृत्तियाँ अपना असर दिखाने लगें तभी तुरन्त आत्मशक्ति के संबल को जागृत बना लेना चाहिये ताकि अपनी उच्छृंखलता के प्रारंभ में ही उन वृत्तियों को परास्त किया जा सके। इतना ही नहीं, उन वृत्तियों के उभरने के कारणों को ही अवरुद्ध बना देना चाहिए। इन वृत्तियों के पहले और हल्के आक्रमण के साथ इस तरह का चिन्तन शुरू कर दिया जाना चाहिये कि ये वृत्तियाँ मेरी स्वाभाविक नहीं, 'पर' से प्रभावित होने से पराई है—आई हुई हैं, जिहोंने मेरी आत्मशक्ति पर अपना डेरा डाल दिया है और मेरी चेतना को व्यामोहित करके उसकी प्रभा हर रखी है।

इन दूषित वृत्तियों का आगमन और उनका मेरे आत्मस्वरूप पर आक्रमण तथा निवास होने का एकमात्र कारण यह है कि मैं असावधान रह गया और ये वृत्तियाँ अंकुरित और फलित होती गई ऐसा चिन्तन करते हुए एक साधक को उभरती हुई अपनी दूषित वृत्तियों का तत्काल उपशम कर देना चाहिये ताकि उनके कमजोर पड़ जाने पर उनका सरलतापूर्वक क्षय किया जा सके। वह निश्चय करे कि अब ये वृत्तियाँ उसकी आत्मशक्तियों को दबाकर नहीं रख सकेंगी। अब यह इन्द्रिय जन्य क्षणिक आनन्द सत्-चित् रूप शाश्वत आनन्द को आवृत्त नहीं कर सकेगा। क्योंकि यह दोष उन वृत्तियों का नहीं मेरा स्वयं का है। मैं असावधान नहीं रहता तो भला ये वृत्तियाँ कितनी ही दूषित क्यों न होती, मेरा क्या बिगाड़ सकती थी? असावधान मालिक के घर में कोई चोर घुस जाय और सारी व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करके वहीं बस जाय तो इसमें चोर को दोष देने से कोई लाभ नहीं होगा। दोष सारा घर के मालिक का है जो असावधान रहा और घर के दरवाजों में घुसने से चोरों को पहले ही रोक नहीं सका। इसी प्रकार की असावधानी के कारण दूषित वृत्तियाँ कभी चोर की तरह तो कभी डाकू की तरह आत्मस्वरूप के पावन मन्दिर में घुस आती हैं और अपनी विद्रूपता फैला देती हैं। साधक के जागृति के क्षणों में इसी कारण ये विद्रूप वृत्तियाँ उसके जागरण को आच्छादित बनाती रहती हैं। इसलिए साधक को मूल पर ही प्रहार करना होगा और इन वृत्तियों की सक्रियता को ही मन्द बनाते हुए उन्हें पाप-पथ से हटानी होगी।

साधक अपनी इन वृत्तियों का समीक्षण करते हुए सोचे कि यह मेरी विराट् भूल थी जो मैने इन क्षुद्र वृत्तियों में आनन्द की खोज की और मैं यह खोज करता ही रहा। तभी तो ये वृत्तियाँ मेरे अन्तःकरण में जम ही गई। किन्तु जब से मेरी दृष्टि आत्म-शक्ति की तरफ केन्द्रित बनी है तब से

मैं इन वृत्तियों की क्षुद्रता एवं कलुषितता को भलीभांति समझ गया हूँ। मुझे इस सत्य का भी ज्ञान हो गया है कि इन वृत्तियों से मिला मेरा आनन्द क्षणिक क्यों हैं? और क्यों नहीं मैं अब तक तत्त्वदृष्टाओं द्वारा वर्णित शाश्वत आनन्द को उपलब्ध कर पाया? किन्तु अब मेरी आत्म-ज्योति प्रज्वलित हो गई है तथा मेरी आन्तरिक शक्तियाँ क्रियाशील बन गई हैं, अतः मैं फिर से उन दूषित एवं विकृत वृत्तियों के दुष्चक्र में नहीं फसूंगा।

साधक तब यह अनुभव करेगा कि इस ज्योति और जागरण की उसको जो उपलब्धि हुई है, वह मात्र समीक्षण ध्यान का ही सुफल है और वह अपनी चिन्तन धारा को आगे बढ़ायेगा—समीक्षण ध्यान के द्वारा ही मैं अपनी आत्म-शक्ति को देख और परख सका हूँ और उसके गहरे तल तक मैं पहुँच पाया हूँ। समता की दृष्टि से जब मैंने अपने आत्म-स्वरूप को निहारा तो मुझे आश्चर्यमिश्रित दुःख हुआ। आश्चर्य तो इस बात का कि मैं कितनी असीम शक्तियों का धनी हूँ और दुःख इस बात का कि फिर भी मैं कितना अशक्त बना हुआ अपने निजत्त्व को भी पहिचान नहीं पा रहा था। मेरी मूल सत्ता केवल आनन्दरूप है, फिर भी मैं आनन्द की खोज बाहर ही बाहर करता रहा। शाश्वत आनन्द का असीम कोष मेरे भीतर ही विद्यमान होने के बावजूद मैं इन्द्रियों के मलिन विषयों में डूब गया था। शक्ति और श्री का स्वामी होने के बाद भी मैं अपने भ्रम के कारण राह भटकता भिखारी बन गया। मेरा यह भ्रम ही आज मेरे लिये आश्चर्य और दुःख दोनों का विषय बना हुआ है। विनश्वर पदार्थों के लिये मैंने अपनी सम्पूर्ण जीवन शक्ति समर्पित कर दी और अपने भव्य स्वरूप को भूल गया—इससे बढ़कर और क्या दुःख हो सकता है?

साधक का दृष्टा पक्ष तब अपने ही आत्मस्वरूप पर फैल रहे अंधकार को देखेगा, मैल की परतों को पहिचानेगा और अपनी विभाव दशा का निरीक्षण करेगा। ज्यों-ज्यों उसका निरीक्षण गहरा होता जायेगा, त्यों-त्यों एक बार तो अपनी विदशा देखकर उसका दुःख भी बढ़ता जायेगा किन्तु उसके साथ ही अपनी साधना के संदर्भ में आशा की प्रकाश रेखाएँ भी खिंच जायेगी कि अब उसका पुरुषार्थ उसकी आत्मा की विद्रूपता को परिमार्जन, संशोधन एवं संशुद्धि की त्रिरूपवती प्रक्रिया के द्वारा उज्ज्वल बनाकर उसे स्वरूपवती बना देगा। दुःख और खेद का विषय यह होगा कि अपना स्वरूप अनन्त आलोकमय होने के बावजूद वह अंधकार में ठोकरें खाता रहा और भटकता रहा। सत्, चित् और आनन्द स्वरूप अनिर्वचनीय अलौकिक आत्मशक्ति के ऊपर इन विकारी वृत्तियों के कारण जो धुआं और कोहरा छा गया है, उसकी ही वजह से वह अपने स्वरूप को पहिचान नहीं पाया। कितने गहरे अज्ञान में डूबा हुआ था वह, कितनी प्रगाढ़ मोह निद्रा ने उसे आत्म-विस्मृत बना दिया था और वह स्वामी होकर किस प्रकार दासों का दास बन गया था? इस प्रकार एक साधक का अपनी विकृत दशा पर आश्चर्य और खेद प्रकट होता रहता है।

साधक जब सद्गुरु का मार्गदर्शन ग्रहण करता है तो उसके ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं और वह समझ जाता है कि वह स्वयं ही अपने आपका स्रष्टा है। साधना के एक स्तर तक पहुँच जाने के बाद उसे अनुभूति होने लगती है कि उसकी अन्तरात्मा में अनन्त शक्ति का अविरल स्रोत प्रवाहित हो रहा है और अनन्त ज्योतिपुंज देदीप्यमान हो रहे हैं। उसे अपनी चेतना का भी अनुभव होता है कि वह 'स्व' के अनुशासन में संचालित होने पर कितनी स्वतंत्र, कितनी निर्विकारी और किस प्रकार लोकालोक को सम्यक् रीति से अवलोकन करने वाली है? वह चेतना मात्र ज्ञान और सत्ता को

धारण करने वाली है जिस के माध्यम से ही स्वरूप-बोध, स्वरूप-परिचय एवं स्वरूप-दर्शन संभव होता है।

इस चेतना को सावधान एवं प्रबुद्ध बनाने वाली होती है वीतराग देवों की वाणी, रागद्वेष के कुप्रभाव से मुक्त सर्वप्राणी हितकारिणी उपदेश-धारा। साधक इसी वीतराग वाणी को जब परिपूर्ण सत्य के रूप में स्वीकृत करता हुआ अपनी साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ता जाता है, तब उसके सामने उस वाणी का मक्खन रूप सार समीक्षण ध्यान अतीव प्रभावोत्पादक बन जाता है। साधक तब समीक्षण ध्यान के सविशेष प्रयोगों द्वारा अपने अनंत सुख स्वरूप चेतना बोध के प्रति अधिक सक्रिय हो जाता है। समीक्षण ध्यान के प्रभाव स्वरूप जो दिव्य आत्म-जागृति उसको प्राप्त होती है, वह उसके लिये स्वयं को धन्य मानने लग जाता है। उसका वह आत्म-बोध वर्तमान में तो श्रद्धा रूप ही रहता है किन्तु वही श्रद्धा प्रगाढ़ रूप धारण करके सम्यक् बनती हुई सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् आचरण को साधक के जीवन में जागृत एवं कार्यरत बनाती है। श्रद्धा से उसका आत्मविश्वास बलिष्ठ बन जाता है और मन में यह धारणा निश्चित हो जाती है कि वह अब अपनी विकृत वृत्तियों को समाप्त करके ही विराम लेगा। वह यह भी निश्चय करेगा कि तब भविष्य में ये विकृत वृत्तियाँ पुनः मेरे भीतर में कोई स्थान न पा सके। इस प्रकार स्वभाव और विभाव के संघर्ष में शुद्ध आत्म शक्ति की विजय होगी तथा आत्म शक्ति का केन्द्र अधिक तेजस्वी बनेगा।

किन्तु यह उपलब्धि तभी प्राप्त हो सकेगी जब इस आत्मा की चहुंमुखी सावधानी बनी रहेगी। साधक को यह अभ्यास बना लेना चाहिये कि वह एक पल के लिए भी असावधान न रहे। सावधानी उसका सहज गुण बन जाना चाहिये।

अहंभाव का विसर्जन

पूर्ण सावधानी के साथ जब साधना के क्षेत्र में प्रवेश किया जाता है, तभी साधना के महत्त्व को महसूस करने का अवसर उपस्थित होता है। यों साधनाएँ कई प्रकार की होती हैं तथा उसके आयाम भी कई प्रकार के होते हैं। यह साधक की परीक्षा बुद्धि का परिणाम होता है कि वह सम्यक् साधना के माध्यम से कभी मन्द अथवा कभी तीव्र गति से अपने गंतव्य तक पहुँचता है। सभी प्रकार की साधनाओं में आत्मिक साधना का सर्वाधिक महत्त्व माना गया है। इससे बढ़कर अन्य कोई साधना इस विश्व में नहीं है। सच पूछें तो इससे बढ़कर अन्य कोई साधना कभी विश्व में थी नहीं और आगे भी कभी होगी नहीं। इस अद्वितीय साधना को अपनाकर जब साधक गतिशील होता है तो वह सम्पूर्ण परिधियों को पार करके उच्चतम स्वरूप का वरण करता है। यह उच्चतम स्वरूप ही भव्य आत्माओं के लिए अपना चरम और अन्तिम गंतव्य स्थान है।

इस उच्चतम स्वरूप को प्राप्त करने की दृष्टि से समीक्षण ध्यान के तीन आयाम ऊपर बताये गये हैं। इन्हीं आयामों में जिस साधक की गतिशीलता जितनी तीव्र बनती है, उतनी ही गूढ़ता से वह अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करके अपनी वृत्तियों को सुव्यवस्थित बना लेता है। आत्म समीक्षण की इन बहुआयामी प्रवृत्तियों में कई विश्रामस्थल भी आते हैं। स्थूल परिधि के अन्दर प्रवेश करने में भी चित्तवृत्तियों के समक्ष ऐसे विश्राम के क्षण आते हैं जब साधक अपनी पिछली प्रगति का लेखाजोखा ले सकता है और अपने भविष्य के कार्यक्रम का सुविचारित निर्धारण कर सकता है। इस स्थूल परिधि के अन्तर्गत विचरण करने वाली चित्तवृत्तियाँ सामयिक स्वरूप को धारण करके मानस तंत्र को

उद्वेलित करती जाती हैं। अपने मानस तंत्र की उस उथल-पुथल में कभी-कभी साधक इतना आकुल-व्याकुल हो जाता है कि उसे आगे का कोई मार्ग सूझ नहीं पड़ता है। उस समय में साधक अपनी मन की वृत्तियों को एकाग्र बनाने का प्रयत्न करता है तो उसको सफलता नहीं मिलती है। प्रयत्नों का बल अधिक होता है किन्तु सफलता बहुत कम। उस एकाग्रता के अभाव में कई बार साधक तनाव और थकावट का अनुभव करता है और घबराहट में यह सोच लेता है कि अब साधनामार्ग में आगे प्रगति करना संभव नहीं है। कई साधक इस स्तर पर निराश होकर अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करने के अपने प्रयत्न को ही त्याग देते हैं। इससे विपरीत कई साधकों को ऐसा भ्रम हो जाता है कि अपनी साधना की प्रारंभिक अथवा सामान्य स्थिति में ही जैसे वे समाधिस्थ हो गये हों। क्योंकि वे शान्ति के चन्द क्षणों का रसास्वादन कर लेते हैं। उस सामान्य आभास के कारण उन्हें अहं का आच्छादन ढक लेता है। इस कारण वे कई प्रकार की भ्रान्तियों के शिकार बन जाते हैं। वे अपनी स्थूल परिधि को ही सूक्ष्म परिधि मान लेते हैं। इस प्रकार के भ्रम से ग्रस्त होकर वे साधक अपने मानस तंत्र का कुछ नियंत्रण करते हुए भी अपनी आगे की प्रगति को अवरुद्ध बना लेते हैं। क्योंकि स्थूल परिधि में अपेक्षाकृत सन्तोष और समय की वृद्धि को ही वे समाधि की वृद्धि मान लेते हैं जिसके कारण अदम्य उत्साह से परिपूर्ण उनकी आन्तरिक वृत्तियाँ गंतव्य स्थान तक पहुँच जाने के भ्रम में शिथिल हो जाती हैं। उस शिथिलता के साथ उनकी दुर्बलता भी फूट पड़ती है। परिणाम स्वरूप यत्किंचित् साधी हुई साधना की प्रगति भी समाप्त हो जाती है और गतिशीलता कुंठित बन जाती है। इसलिए साधकों को अपनी साधना के क्षेत्र में प्रत्येक पल दृढ़ संकल्प के साथ निश्चित ध्येय की प्राप्ति हेतु सदैव उत्साहित बने रहना चाहिये।

साधक को चाहिये कि साधना के दौरान जब निराशा और दुर्बलता के ऐसे क्षण आवें तो उन्हें वह आत्म विकास की अपनी महायात्रा का एक पड़ाव मानकर कुछ विराम ले ले और आत्म चिन्तन को प्रदीप्त बनाकर अपनी तनावपूर्ण एवं थकित मानसिकता को दूर हटा दे। यों समझे कि यह पड़ाव अपनी थकान मिटाने के लिए ही था। इस प्रकार ऐसे आने वाले प्रत्येक पड़ाव पर साधक अपनी दुर्बल होती हुई शक्तियों का पुनः संचय करे तथा परम उत्साह के साथ पुनः प्रस्थान कर दे। विफल वह साधक होता है जो ऐसे पड़ाव को आखिरी मंजिल मान लेता है। जिज्ञासु साधक तो विश्राम स्थल को यथोचित रीति से समझकर अपनी प्रगति-पिपासा को अधिक तीव्र बना लेता है तथा अधिक गरिमापूर्ण गति से आगे बढ़ चलता है। परन्तु स्थूल परिधि में विचरण करते हुए साधक को अपने मानस-तंत्र की उलझनों को सुलझाये बिना कुछ मिलेगा नहीं। ये उलझनें किन्हीं बाह्य साधनों अथवा बाहर की क्रियाओं द्वारा सुलझाई नहीं जा सकेगी। इन उलझनों को तो साधक को भीतर में ही समझनी होगी तथा अपनी साधना के बल से ही सुलझानी पड़ेगी। साधक आई हुई निराशाजनक इन उलझनों का सम्यक् रीति से अवलोकन करें और उन ग्रंथियों को ध्यान में ले जिन की वजह से उलझनें सामने आई हुई हैं। ये ग्रन्थियाँ मुख्यतः अपनी ही मनोवृत्तियों की ग्रंथियाँ होती हैं जो एक या दूसरे कारण से ग्रथित हो जाती है। ग्रंथियों को देखते-परखते समय एकावधानता आवश्यक है। इसमें मन भी एकाग्र हो तो शरीर भी स्थिर रहे और ध्यानावस्थित चिन्तन का क्रम चले। तब उन ग्रंथियों के कारण भी स्पष्ट हो जायेंगे तो उन का निदान भी उभर कर सामने आ जायगा।

ऐसा एकाग्र अवलोकन तभी सफल बन सकता है जब अहंभाव का विसर्जन कर दिया जाय। साधना का अहंभाव तो और भी घातक होता है। अहंभाव कई बार साधना की प्रगति के प्रति भ्रान्ति के कारण भी उत्पन्न होता है। कैसे भी हो, अहंभाव साधना की जड़ों पर ही कुठाराघात

करता है। अतः इस एकाग्र अवलोकन के समय अहंभाव का लेश मात्र भी नहीं होना चाहिये। साधक विनम्रतापूर्वक ही अपने भीतर की दशा का सम्यक् अवलोकन करे। भीतर की गुत्थियों को सुलझाने के लिए संशोधित वृत्तियों को ही काम में लें।

समता एवं एकावधानतामय जो विवेक जागृत होगा, वही साधक को अपनी गुत्थियाँ सुलझाने में सहायता करेगा तो उसे पुनः आत्म-समीक्षण की प्रक्रिया में सुदृढ़ता के साथ प्रतिष्ठित करेगा। समीक्षण ध्यान रूपी नेत्रों में जब प्रकाश भर उठेगा, तब मानस तंत्र में उपजी एक भी गुत्थी अनसुलझी नहीं रह सकेगी।

आत्म-समीक्षण को सफल बनाने वाली दो भुजाएँ होती हैं—एक एकाग्रता की तो दूसरी समता की। इन दोनों भुजाओं का जब साधक भव्य रीति से संयुक्तिकरण कर लेता है तब दूषित प्रवृत्तियों के साथ संघर्ष करने में कोई दुर्बलता नहीं रहती है। एकाग्रता एवं समता के दिव्य आलोक में आन्तरिकता का यह विज्ञान बन जाता है कि साधक अपने समीक्षण ध्यान के बल पर अपनी अन्तर्वृत्तियों का अवलोकन करते हुए उन्हें सुव्यवस्थित बना ले तथा आत्म विकास की महायात्रा में सफल बनने की क्षमता अर्जित कर ले। दृढ़ संकल्प एवं पूर्ण श्रद्धा के साथ उसके पांव मजबूती से साधना पथ पर आगे बढ़ते जाते हैं। उसका यह गमन जितना व्यवस्थित होगा, उतनी ही कुशलता से वह स्थूल परिधि में से निकल कर सूक्ष्म परिधि में प्रवेश कर सकेगा। इस सूक्ष्म परिधि में उसकी गति की जितनी विशिष्टता होगी, उसी परिमाण में वहाँ की जटिलताओं में कमी आयेगी। कारण, जितनी विचित्र प्रकार की झंझटें, अड़चनें और रुकावटें स्थूल परिधि में विचरण करते हुए आती हैं, उतनी सूक्ष्म परिधि में नहीं आती हैं। जो साधक स्थूल परिधि को पार करके सूक्ष्म परिधि में आगे बढ़ जाता है, मानिये कि वह मोक्ष के राजमार्ग पर पहुँच जाता है।

मोक्ष के राजमार्ग की अनुभूतियाँ अपूर्व आनन्द से भरी हुई होती हैं। इस मार्ग पर आगे बढ़ते हुए साधक ऐसी विचारणाओं में विचरण करने लग जाता है जो पूरी तरह सुलझी हुई होती हैं। अन्तर्वृत्तियों के उस सरोवर में तब ऐसे ऐसे भाव-कमल विकसित होते हैं जिन्हे देखकर अन्तरात्मा अनुरंजित हो उठती है। ये दृश्यावलियाँ बड़ी रंगबिरंगी होती हैं। इस सघनता में यदि साधक यकायक स्तब्ध हो जाता है और अपने समीक्षण ध्यान को सुव्यवस्थित नहीं रख पाता है तो उस दिव्य प्रकाश की चमचमाहट में वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाता है। जिस प्रकार जंगली जानवर भयंकर जंगल की झाड़ियों, पहाड़ियों, नदी-नालों तथा कांटों भरे पथरीले रास्तों को अंधेरी रात में भी सामान्य प्रकार से पार कर लेते हैं किन्तु उनके सामने तेज रोशनी एकाएक फैल जाय तो वे चकरा जातें हैं और अपना रास्ता भूल जाते हैं। उसी प्रकार साधक यदि उस दिव्य प्रकाश में चक्कर खा जाय तो अपनी साधना से वह पतित हो सकता है। सूक्ष्म परिधि में समीक्षण ध्यान की भी उतनी ही सूक्ष्मता अपेक्षित रहती है।

कई बार तो कई साधक उपर्युक्त स्थिति को ही सिद्धि मान लेते हैं और अपनी उस स्थिति का बाहर प्रदर्शन करने लग जाते हैं। वैसे साधक राजमार्ग पर पहुँच जाने के बावजूद बाह्य प्रदर्शन में संलग्न हो जाने के कारण उस सूक्ष्म परिधि से छिटक कर स्थूल परिधि में पतित हो जाते हैं। ऐसे साधक तब नाना भांति की समस्याओं में उलझ कर पुनः वहाँ से आगे प्रस्थान नहीं कर पाते हैं। उन समस्याओं को सुलझाने की उनमें क्षमता रहते हुए भी वे अपने अहंभाव से इस प्रकार आवृत्त

बन जाते हैं कि प्रगति करने की उनकी जिज्ञासा दब जाती है एवं उनके मन-मानस पर भ्रान्ति का कोहरा जम जाता है। वे यह समझ लेते हैं कि दुनिया में एक उन्हीं की साधना सिद्ध हुई है, अब किसी दूसरे से कुछ भी ज्ञान लेने की उन्हें आवश्यकता नहीं। उनका अहंभाव उन्हें किसी के सामने झुकने नहीं देता, क्योंकि कोई शंका उत्पन्न होने पर भी वे उसका समाधान लेने में अपने मानदंड की हानि समझने लग जाते हैं। वे सोचते हैं कि अपनी शंका का निवारण यदि किसी अन्य साधक से वे करवाने का यत्न करेंगे तो दूसरे साधक उन की पूर्णता में सन्देह करने लग जायेंगे। ऐसी विडम्बना में ग्रस्त होकर अहंभाव के कारण ये साधक अपनी सम्पादित प्रगति पर पानी फेर देते हैं।

साधक के मन में समाई वह अहं वृत्ति उसकी दुर्बलता को न तो प्रकट होने देती है और न सुधरने का अवसर देती है। वह अहं वृत्ति बाहरी दुनिया में यश लूटने के काम में साधक को बुरी तरह से लगा देती है और उसमें यह भ्रम भरा हुआ रखती है कि वह अपनी परिपूर्णता का स्वामी बन चुका है। ऐसी अहंवृत्ति के अधीन हो जाने वाला साधक अपने पवित्र साधना-क्षेत्र से स्खलित हो जाता है और उसने जिन आत्मशक्तियों की तब तक उपलब्धि कर ली थी, वे आत्मशक्तियाँ भी उससे छिन जाती है। अहंभाव से भर उठने के कारण साधक की साधना 'कातापींजा कपास' की तरह हो जाती है। इसलिये प्रत्येक बिंदु पर साधक को अपार धैर्य धारण करके रहना चाहिये। फिर से पतित हो सकने वाली सीमा तक तो साधक अपूर्व धीरज के साथ दृढ़तापूर्वक चले ही—यह आवश्यक है। मोक्ष के राजमार्ग पर चलते हुए उस सीमा तक उसके पाँव डगमगावे नहीं, इस हेतु उसे अपने समीक्षण ध्यान की दृष्टि को तेजस्विता से ओतप्रोत रखनी चाहिये। वह रंगबिरंगे दृश्यों को भी निरन्तर तत्परता के साथ देखे किन्तु उनके पीछे आशक्त न बने, आगे से आगे बढ़ते जाने का यत्न ही करता रहे। उसके इस प्रयत्न में यदि निरंतरता बनी रह जाय तो वह कभी न कभी अपने गंतव्य तक पहुँच जायगा—ऐसी सुनिश्चित आशा बंध जाती है।

इस सारे विश्लेषण का स्पष्ट आशय यह है कि साधक को अपनी साधना के किसी भी स्तर पर अहंभाव से मंडित नहीं होना चाहिये। अहंभाव के उठते ही वह उसको विसर्जित करता हुआ आगे बढ़े। साधक के लिए अपनी साधना की सूक्ष्म परिधि में प्रवेश करने से पहले यह आवश्यक है कि वह अपनी शक्ति तथा श्रद्धा, अपने धैर्य तथा संकल्प को अच्छी तरह दृढ़ीभूत बना ले और समीक्षण ध्यान के सबल माध्यम से अपनी सम्पूर्ण मनोवृत्तियों को एकाग्रता के अनुशासन में सुव्यवस्थित रूप प्रदान कर दे।

एकावधानता का प्रयोग

मनोनियंत्रण के रूप में की जाने वाली समीक्षण ध्यान की साधना यथार्थ रूप में अन्तर्यात्रा की ही साधना है यह स्पष्ट हो चुका है। इस यात्रा में अहंभाव के विसर्जन के बाद जिस शक्ति की आवश्यकता होती है, वह है एकाग्रता अथवा एकावधानता की शक्ति। जब तक एकावधानता का प्रयोग सफल नहीं बनता है, तब तक आत्मशक्तियों का संचय संभव नहीं होता है। इसका यह अर्थ है कि एकाग्रता अथवा एकावधानता की साधना भी समीक्षण ध्यान साधना की ही अंगभूत है, जिसका प्रारंभ भी विधिपूर्वक किया जा सकता है।

एकावधानता कई प्रकारों अथवा कई विधियों द्वारा साधी जा सकती है। कोई किसी ध्वनि के माध्यम से किसी मंत्र की एकावधानता साधते हैं तो कोई बिन्दु-दर्शन पर अपनी दृष्टि को केन्द्रित

बना कर एकावधानता का अभ्यास करते हैं। मंत्र के माध्यम की दृष्टि से महामंत्र 'णवकार मंत्र' का सम्बल ग्रहण किया जा सकता है। इस महामंत्र के प्रथम पद की ध्वनि के आधार पर एकावधानता की साधना के द्वारा अन्तर्प्रवेश के साथ वृत्तियों के केन्द्र को व्यवस्थित रूप से सक्रिय बनाया जा सकता है। शब्द-ध्वनि शब्द से सम्बन्धित तरंगों को उद्वेलित करती है।

शब्द-ध्वनि की ये तरंगें जिस दिशा में प्रसारित होती है, उस दिशा की आसपास की ध्वनियाँ प्रकम्पित हो जाती हैं। इस प्रकार का ध्वनि-प्रकम्पन प्रत्येक स्थान पर होता है और इस प्रकम्पन को साधक अपना सहायक बना सकता है। ध्वनि के प्रकम्पन बाह्य आकाश मंडल में यथायोग्य दूरी तक पहुँचते हैं और साधक के लिए इन प्रकम्पनों का सम्बल बहुत ही महत्त्व का होता है। एक भी ऐसा प्रकम्पन यदि प्रवाह बनकर आन्तरिक अवस्थान में प्रवाहित हो जाय तो आन्तरिक स्थानों के अनेक केन्द्रों में सुशुप्त बनी अनेक शक्तियों को जागृत बनाने का कार्य हो सकता है। इस जागृति के फलस्वरूप एकावधानता की शक्ति बलवती बनती है, एकावधानता के प्रयोग सफल होते हैं। तथा समीक्षण ध्यान की भूमिका का सार्थक निर्माण हो जाता है। इसलिये महामंत्र के प्रथम पद की ध्वनि का प्रारंभ करते हुए पहले उच्च स्वर, फिर मध्यम स्वर तथा अन्त में जघन्य स्वर में उच्चारण किया जाना चाहिये। इस क्रम के बाद मानस स्वर व उसके अन्त में भावप्रधान अर्थ स्वर की स्थिति में ध्वनि परिणत हो जानी चाहिये। इससे भावोर्मियाँ अधिकाधिक क्रियाशील हो जाती हैं।

महामंत्र की ध्वनि के आधार पर एकावधानता के प्रयोग के समय तार-स्वर का रूप इस प्रकार होना चाहिये—

'णमो अ....रि....हं....ता....णं!' इस प्रकार तार स्वर का उच्चारण कम से कम ग्यारह वार लयवद्ध गति से चलना चाहिये। प्रत्येक ध्वनि के प्रारंभ से लेकर ध्वनि समाप्ति तक उच्चारण एक समान चलना चाहिये। इन ग्यारह तार स्वर के बाद ग्यारह मध्यम स्वर का उच्चारण होना चाहिये 'णमो अ....रि....हं....ता....णं'। एक समान स्वर की पद्धति गतिमान रहनी चाहिये। उपयोग की अवस्था भी मध्यम स्वर के प्रारंभ से लेकर अन्त तक अस्खलित रहनी चाहिये। उसके वाद धीमे और जघन्य स्वर में 'णमो अरिहंताणं' का ग्यारह बार पूर्वानुसार उच्चारण होना चाहिये। तदनन्तर ध्वनि का स्वर अपने कर्णगोचर न हो इस प्रकार मानस स्वर में ही ग्यारह बार जाप किया जाय। मानस स्वर का अर्थ है कि मन में ही प्रथम पद का उच्चारण हो, मन में ही उसका जाप हो, मन ही उसका श्रवण करे तथा मन ही लयबद्ध रीति से उसके साथ तल्लीन बन जाय। यह मन के स्वर की गति अखंडित रूप से चलनी चाहिये। फिर क्रम आयेगा अर्थ स्वर का। जिसमें भावप्रधान मंत्र के अर्थ का भावों में ही उच्चारण किया जाय। इस अवस्था में प्रथम पद का भाव ही साक्षी के रूप में श्रवण करने में आवे।

इन भावों के साथ में उपयोग की अवस्था निरन्तर उपस्थित रहनी चाहिये। यह प्रक्रिया भी पहले की तरह ग्यारह की गिनती के साथ भावात्मक रूप से की जानी चाहिये। इस विधि से ध्वनियों में तार स्वर की ध्वनि तरंगें छःओं दिशाओं में न्यूनाधिक परिमाण में प्रवाहित हो जाने के वावजूद वाह्य दिशाओं में अधिकांश रूप में प्रसृत हो जाती है। उसके कारण वाहर की ध्वनियाँ सक्रिय वन जायेगी। गौण रूप से यह ध्वनि भीतर के अवयवों को स्पर्श करेगी एवं अन्य तंत्रों को प्रकम्पित

बनाती हुई आन्तरिक केन्द्रों तक पहुँच जायेगी। जबकि मंद स्वर की ध्वनि बाहर और भीतर समान मात्रा में प्रवाहित होगी, वहाँ जघन्य ध्वनि का सूक्ष्म प्रवाह प्रधान रूप से भीतर में ही बहेगा। बाहर तो वह गौण रूप से ही रहेगा। मानस स्वर तो मन की धरातल वाली ग्रन्थि-तंत्रों के क्रिया-केन्द्रों एवं ज्ञान-केन्द्रों को प्रभावित करना प्रारंभ कर देगा। भाव ध्वनि का सूक्ष्मतम प्रकम्पन स्थूल केन्द्र के मानस तंत्र की सूक्ष्म परिधि के समीप सूक्ष्म तथा बहुरंगी केन्द्रों को प्रभावित करता हुआ, सूक्ष्म केन्द्र के अग्रिम मोर्चे तक पहुँचने की शक्ति अर्जित करने में सक्षम बन जाता है। इस सूक्ष्म परिधि के सम्मुख जब-जब साधक किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में पहुँच जाता है जिसे एक दृष्टि से जड़ग्रस्त स्थिति मान सकते हैं, तब-तब उस जड़ता को भाव ध्वनि के माध्यम से निष्क्रिय बनाना शक्य हो सकता है।

भाव ध्वनि के इन प्रकम्पनों को जब भी वर्गीकृत करने का प्रश्न सामने आयेगा, तब उस वर्गीकरण में समीक्षण ध्यान की महत्त्वपूर्ण गरिमा का अवश्य ही अनुभव होगा। इस विधि के द्वारा साधक सूक्ष्म परिधि के समीप में रहने वाली विविध स्थितियों का निर्णय लेने में समर्थ बन जाता है। यह प्रक्रिया इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि इसके माध्यम से स्वरों की सहायता लेकर एकावधानता या एकाग्रता की स्थिति को साधक सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकता है। इसके माध्यम से यदि साधक अधिक योग्यता प्राप्त कर लेता है तो एकाग्रता से सम्बन्धित कई उपायों को वह सरल बना सकता है। कदाचित् इस विधि में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव हो तो एक अन्य विधि भी है—श्वास प्रक्रिया। सहज स्वाभाविक रूप से श्वास की गमनागमन की प्रक्रिया भी समीक्षण ध्यान को पुष्टि प्रदान कर सकती है। श्वास प्रक्रिया से समीक्षण ध्यान साधा जाय और उससे अन्तरावलोकन की स्थिति स्पष्ट बनाई जाय। वीतराग मुद्रा की स्थिति से साधक अपने मस्तिष्क के तनाव को समाप्त करके अवयवों का शिथिलीकरण कर ले और इस शिथिलीकरण के लिये यह श्वास प्रक्रिया का प्रयोग अधिक सुगम रहेगा क्योंकि यह प्रयोग समस्त मानसिक स्थिति को नेत्रों के समीप लाकर मन्द उच्चारण में 'जाने दो, जाने दो' के शब्द प्रतिध्वनित करेगा। तब तनाव मुक्ति भी होगी तो शिथिलीकरण की स्थिति भी उत्पन्न होगी।

शिथिलीकरण के अभ्यास को साध लेने के बाद उपयोगपूर्वक श्वास की गति का समीक्षण ध्यान के माध्यम से निरीक्षण करना आरंभ कर देना चाहिये। इसमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि श्वास का आना और जाना नासिका के किस रंध्र (छेद) में से हो रहा है? दाहिने रंध्र में से या बांए रंध्र में से? यदि दाहिने रंध्र में से श्वास का आवागमन हो रहा हो तो समझना चाहिये कि पिंगला नाड़ी सक्रिय हो रही है। यदि श्वास की गति बांए रंध्र में से आती-जाती मालूम पड़े तो उस अवस्था में यह माना जायेगा कि इड़ा नाड़ी गतिशील है। स्वर विज्ञों ने बांए रंध्र से आने-जाने वाले स्वर को चन्द्र स्वर कहा है तो दांए रंध्र वाले स्वर का नाम सूर्यस्वर बताया है। ये नाम स्वरशास्त्रज्ञाताओं के अपने पारिभाषिक शब्द हैं किन्तु योग साधना की दृष्टि से भी इन दोनों स्वरों का एकावधानता या एकाग्रता साधने में बड़ा महत्त्व माना गया है। इनसे एकाग्रता के केन्द्र रूप समता के धरातल का ज्ञान भी किया जा सकता है। जब तक एक-एक स्वर चालू रहता है तब तक वह अवस्था राग और द्वेष की विद्यमानता का सूचन करती है। वह स्वर समता का सूचक नहीं होता है। दांया स्वर राग की तो बांया स्वर द्वेष की गति का प्रतिनिधित्व करता है। जब दोनों स्वरों की गति समान रूप की अवस्था में परिलक्षित होने लगे तब वह अवस्था सषुम्ना नाड़ी के स्वर को सक्रिय बनाने की स्थिति में आ जाती है। यह अवस्था रात और दिन की परिणति से ऊपर उठकर समता की भूमिका का निर्माण करने में सहायक बन सकती है।

सुषुम्ना के सक्रिय हो जाने के बाद दोनों स्वरों की गति शान्त और विरल बन जाती है। क्योंकि सुषुम्ना का सम्बन्ध सुषुम्ना शीर्ष तथा पूरे नाड़ी तंत्र के साथ होने के कारण शक्ति केन्द्र, आनन्द केन्द्र, शुद्धि केन्द्र और ज्ञान केन्द्र संचालित करने की योग्यता साधक को प्राप्त हो जाती है। इन केन्द्रों के साथ सम्बन्ध रखने वाली ग्रन्थियाँ भी तब सुन्दर रीति से रसों का परिष्पंदन करेगी और उसी प्रकार केन्द्रों में रहे हुए रंगों के साथ स्थान की एकाग्रता, श्वास की स्तब्धता तथा मंत्र की भावात्मक शक्ति का संयोग आन्तरिक शक्तियों के आलोक को उद्भासित कर देता है। इस प्रकार एकावधानता के प्रयोग एवं प्राप्ति की ये विधियाँ वर्णित की गई हैं, जिन के माध्यम से साधक अपनी विश्रृंखलित चित्तवृत्तियों को नियोजित करके समानस्वरता प्रदान कर सकता है। यह समानस्वरता अथवा समरसता समीक्षण ध्यान की पूर्व भूमिका का रूप लेती है।

समीक्षण शरीर तंत्र का

यह दृश्य शरीर भी साधक की साधना के लिए एक महत्त्वपूर्ण अवस्थान है। इस दृश्य शरीर की भी आन्तरिक संरचना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु यह जीवन दृश्य शरीर की सीमा तक ही सीमित नहीं है। दृश्य शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर है तथा उससे भी आगे सूक्ष्मतम शरीर है। कम से कम ये तीन शरीर तो जीवन की वर्तमान उपलब्धि के रूप में विद्यमान हैं ही। इन तीनों शरीरों की आन्तरिक व्यवस्था एक-दूसरे से सम्बन्धित है। संधि स्थान के रूप में प्रत्येक शरीर की अपनी- अपनी सीमा में कार्य परिणति समुचित रूप से संचालित रहती है। साधक जव तक सूक्ष्म और सूक्ष्मतम शरीर में आवृत्त सच्चिदानन्द का साक्षात्कार नहीं करता है, तब तक उसके आत्म विकास की महायात्रा गतिमान रहती है।

यदि कोई व्यक्ति किसी दुर्ग में प्रवेश करना चाहता है तो पहले उसे उस दुर्ग की दीवारों, कोटों, कंगूरों तथा उसकी आन्तरिक संरचना की स्थिति को जान लेना जरूरी है। उस जानकारी के साथ उसकी निरीक्षण शक्ति भी प्रखर होनी चाहिये। तभी वह उस दुर्ग में प्रवेश करके अभिवांछित स्थान तक पहुँच सकता है। साधना के क्षेत्र में प्रवेश करने से पूर्व इसी प्रकार साधक को भी शरीर तंत्र का समुच्चय ज्ञान कर लेना चाहिये। अगर कोई साधक इस तथ्य की उपेक्षा करता है तो वह दुर्ग में छिपे हुए खजाने का अता-पता कभी भी नहीं पा सकेगा। अपने आत्मस्वरूप में ज्ञान और सुख का जो खजाना छिपा हुआ है, उस तक अपनी पहुँच करने के लिए पहले शरीर तंत्र रूपी दुर्ग की सब प्रकार की जानकारी करना तथा निरीक्षण शक्ति को सुघड़ बना लेना जरूरी है। इसके विना कोई साधक अपने भीतर रहे हुए आनन्द-कोष का उद्घाटन नहीं कर सकेगा।

शरीर भी धर्माराधना का अनिवार्य साधन है। आध्यात्मिक दृष्टि से पहले ही कोई साधक यह मान ले कि इस शरीर के साथ मेरा किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। शरीर विधानों के भीतर चलने वाली प्रक्रियाओं, विधि अथवा व्यवस्थाओं से मेरा कुछ भी लेना देना नहीं है तो वह साधक भूल करता है। शरीर-तंत्र के सम्यक् अनुसंधान तथा नियोजन के बाद ही वह आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश कर सकेगा। आवश्यकता इस बात की है कि इस शरीर तंत्र के सबल माध्यम को सांसारिक काम भोगों में न लगाकर धर्मसाधना के क्षेत्र में समभावपूर्वक नियोजित किया जाय। इस पुरुषार्थ का यह श्रेष्ठ फल साधक के समक्ष आ सकता है कि उसे अपने आत्म-स्वरूप में रहे हुए सच्चिदानन्द का साक्षात्कार हो जाय।

आध्यात्मिक धरातल पर साधना कर रहे साधक के लिए सच्चिदानन्द के साक्षात्कार रूपी लक्ष्यगत आस्था तो समुचित है किन्तु इस लक्ष्य की अभीष्ट सिद्धि हेतु किन-किन अवस्थाओं के साथ किन-किन मार्गों का अनुसरण करके किस प्रकार के तत्त्वावलोकन द्वारा किन-किन शक्तियों का निर्धारण करने से अन्तरात्मा में आछन्न निधि अभिव्यक्त की जा सकेगी—उसका पूर्व ज्ञान अनिवार्य होता है। इस ज्ञान के अभाव में हजारों या लाखों वर्ष तक तो क्या अनन्तान्त काल तक संसार का परिभ्रमण करते रहने पर भी लक्ष्य की प्राप्ति असंभव ही बनी रहेगी। पुरुषार्थ भी भले किया जाता रहे किन्तु वास्तविक गंतव्य स्थान तक पहुँचना नहीं हो सकेगा। यह तथ्ययुक्त वस्तुस्वरूप का सत्य कथन वीतराग देवों ने किया है।

परम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए साधक को लक्ष्य के आन्तरिक आयामों, अवस्थाओं और उनसे सम्बन्धित तंत्रों आदि का पूर्वावलोकन कर लेना चाहिये। यह अवलोकन भी समीक्षण ध्यान की धुरी पर ही संभव होगा। यद्यपि इस वर्तमान युग में शरीर-चिकित्सा-शास्त्रियों ने शरीर के विभिन्न अंगोपांगों के बारे में काफी नई जानकारियाँ हासिल की हैं, फिर भी शरीर में निवास करने वाली आत्मा के सम्बन्ध में कुछ भी जान पाना तो दूर अभी तक वे शरीर-तंत्र की अति सूक्ष्म प्रक्रियाओं को भी नहीं पहचान पाये हैं। आत्मा के सम्बन्ध में वे कुछ भी नहीं जान पाये हैं, यह तो ठीक—किन्तु वे आत्म-ज्ञान के प्रति आवश्यक आस्था भी नहीं बना पाये हैं। अतः उनकी शरीर सम्बन्धी जानकारियाँ भी अपूर्ण ही कहलायेंगी, क्योंकि शरीर-तंत्र की सम्यक् जानकारी के साथ ही आत्मतंत्र के ज्ञान की दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है। उनकी इस आस्था की अभावस्थिति के पीछे कई कारण हैं किन्तु मुख्य कारण है अर्थ-दृष्टि की प्रधानता। आज का मानव अर्थ-दृष्टि को सर्वोपरि मानता है तथा अर्थ की उपलब्धि के लिये अन्यान्य साधनों के साथ शरीर के स्थूल विज्ञान को मानकर ही सन्तोष कर लेता है। येन-केन-प्रकारेण मेडिकल परीक्षाओं को उत्तीर्ण करके ही अपने शरीर सम्बन्धी स्थूल ज्ञान को लेकर वह अर्थोपार्जन में तन्मय हो जाता है। इस कारण शरीर तंत्र के सूक्ष्मतम अवयवों की आन्तरिक परिधि में क्या-क्या रहस्य समाये हुए हैं इस दिशा में उसकी चिन्तन शक्ति आगे नहीं बढ़ पाती है। वह इस दिशा में जिज्ञासु भी नहीं बनता है।

परन्तु जो शरीर विज्ञान के ज्ञाता स्थूल विज्ञान तक ही सीमित न रह कर इस तंत्र की सूक्ष्मता में प्रवेश करते हैं वे उसकी व्यापक शोध में लगे हुए हैं। उन्होंने किन्हीं नवीन रहस्यों का ज्ञान भी किया है। कई वैज्ञानिक मनोविज्ञान को शरीर विज्ञान से जोड़कर कई प्रकार की ग्रंथियों की खोज भी कर पाये हैं, जो सूक्ष्म तंत्र की जानकारी लेने के काम में बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। ये ग्रंथियाँ प्रणालीयुक्त रसवाहिनी भी हैं और प्रणालीविहीन अन्तःस्रावों को स्थूल शरीर में पहुँचाने वाली भी हैं। यह हर्ष का विषय है कि इन नवीन शोधों से ही वे वैज्ञानिक सन्तुष्ट नहीं हो गये हैं किन्तु अपने अनुसंधानों को आगे बढ़ा रहे हैं।

आध्यात्मिक विज्ञान के विज्ञाता साधक इस क्षेत्र में निश्चय ही आगे बढ़े हुए हैं। इन साधकों में कई तो अनुकरणशील प्रवृत्ति के ही होते हैं और विरले साधक अपनी अनुकरणशीलता का नूतन संशोधनों के साथ अपना सामंजस्य बिठाते हैं। वस्तुतः आध्यात्मिक कोष की उपलब्धि के इच्छुक साधक तो अपना स्थिर प्राप्य विषय सच्चिदानन्द को ही मानते हैं। यह सच्चिदानन्द स्वरूप जिन आवरणों के पीछे छुपा हुआ है, उन आवरणों के अन्दर प्रवेश कराने वाले द्वारों की खोज में वे

यत्नशील बनते हैं। स्थूल शरीर के वर्तुल में ऐसे अनेक प्रवेश द्वार हैं जिनमें सर्वाधिक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण प्रवेश द्वार श्वास प्रणाली (प्राणायाम) का है। इस श्वास प्रणाली के वाहन पर यदि साधक एक बार सफलतापूर्वक आरूढ़ हो जाता है तो वह उस वाहन की सारी गतिविधि से भी परिचित हो जाता है। उस वाहन से वह आन्तरिक वाहन का अवलंबन प्राप्त करके विराट आन्तरिक मार्ग पर शक्ति के साथ चल पड़ता है।

श्वास समीक्षा

ऐसा साधक भीतर में रहने वाले पांच प्रकार के वायु संस्थान तथा उनकी समीपता से प्राणवायु का मूल्यांकन कर लेता है। इसी मूल्यांकन की सहायता से वह प्राणशक्ति की पहिचान कर सकता है। प्राणशक्ति के समीप पहुँच जाने पर सूक्ष्म परिधि के सान्निध्य में रहने वाली बहुरंगी शक्तियों को पहिचान पाने का सामर्थ्य उसमें जाग उठता है। उनकी पहिचान के बाद साधक का आगे का मार्ग आसान हो जाता है।

श्वास की अधिकांश गतिविधि नासिका के माध्यम से संचालित होती है। इसे विज्ञान के क्षेत्र में ऑक्सीजन (प्राणवायु) कहते हैं। यह ऑक्सीजन वनस्पति आदि तत्त्वों में से बहुलता से प्राप्त होती है। यह ऑक्सीजन जब फेफड़ों में पहुँचती है तो वहाँ रक्त-शुद्धि का कार्य करती है। यह शरीर में रहे हुए अशुद्ध तत्त्वों को बाहर निकाल देती है। शरीर विज्ञान के वैज्ञानिक अपने ज्ञान की सीमा इस ऑक्सीजन तक ही सामान्य रूप से मानते हैं। परन्तु योग पद्धति आदि की दृष्टि से इस विषय का चिन्तन बहुत गहराई तक पहुंचा हुआ है।

श्वास द्वारा संगृहीत प्राणवायु रक्तशुद्धि के साथ-साथ रक्त संचरण में भी समाविष्ट हो जाती है जिसके कारण प्राणवायु का फैलाव शरीर के छोटे से छोटे याने सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों से लेकर स्थूल से स्थूल अवयवों तक हो जाता है। इस रक्त संचार में प्राणवायु का जितनी अधिक मात्रा में प्रभाव पड़ेगा, उतने ही प्रभाव से प्राणवायु शरीर के आन्तरिक संस्थानों में मुख्य संचालन की वाहिका बन जायेगी। इस प्राणवायु के उपरांत इसी अवस्थान के अन्तर्गत समान वायु भी मिल जाती है। यह समान वायु समान रूप से यथायोग्य यथा-स्थान पर शरीर की आवश्यकताओं की सम्पूर्ति में सहायक बनती है। आन्तरिक संस्थानों की हलनचलन और प्रकम्पन आदि अवस्थाओं के फलस्वरूप अन्य वायुओं का निर्माण भी हो जाता है। इन्हीं वायुओं में से जिस वायु का प्रवाह ऊर्ध्व दिशा में जाता है, उसे 'ऊर्ध्ववायु' के नाम से पहिचानते हैं। दूसरी कई वायु शरीर के अधोभाग की तरफ बहती हैं, उन्हें 'अधोवायु' कहते हैं। ऊर्ध्व और अधोवायु की दिशाओं से अलग विभिन्न दिशाओं में भी शरीर के अवयवों से उत्पन्न होने वाली वायु को 'व्यानवायु' के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार योग पद्धति के अनुसार पांच प्रकार की वायु शरीर के आन्तरिक अवयवों में व्याप्त होकर फैली हुई रहती हैं।

शरीर में जहाँ कही वेदना का अनुभव होता है, उसका अधिकांश भाग वायु वेग के अवरुद्ध हो जाने के कारण ही होता है। इस अवरोध का मुख्य कारण व्यक्ति के बाह्य जीवन में व्यवस्थित क्रिया-कलाप का अभाव होता है। इस वायु संस्थान तथा उसके विभिन्न विभागों को व्यवस्थित रीति से संचालित करने के ज्ञान का अभाव भी इसका कारण है। सही ज्ञान नहीं होने से वायुओं का व्यवस्था-तंत्र बिगड़ जाता है। इतना ही नहीं, कई बार तो व्यवस्था-तंत्र ऐसा अस्त-व्यस्त

हो जाता है कि उसकी विकृति के कुप्रभाव से समग्र शरीर का ढांचा ही नहीं, समग्र जीवन की नौका ही डोलायमान हो जाती है। इस दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि मनुष्य भी अन्य प्राणियों के समान यंत्रवत् ही उत्पन्न होता है तथा यंत्रवत् ही अपना जीवन गुजारता है। वह अपने बाहरी अवयवों का तो श्रृंगार करता फिरता है—बाहरी अवयवों को सुन्दर बनाने के लिए अथवा उनकी सुन्दरता को बनाये रखने के लिए अपनी शक्ति का व्यय करता है, परन्तु इस शरीर के बाहरी अवयवों की सुन्दरता विशेषतः आन्तरिक वायु संस्थान की व्यवस्था आदि प्रक्रियाओं पर निर्भर करती है—यह वह नहीं जानता।

मनुष्य अपने जिन अंगोपांगों पर अपनी सुन्दरता का अनुभव करता है और जिनकी साज सज्जा के लिए अपनी पूरी जिन्दगी तक बिता देता है, बल्कि ऐसा करते हुए अपने को सुन्दर मानने के अभिमान में फूला नहीं समाता है, वही मनुष्य अपने भीतरी संस्थान को तथा उनकी सूक्ष्म प्रक्रियाओं को नहीं समझता। इन्हीं अंगोंपांगों के भीतरी संस्थान में प्रवाहित होती हुई वायु जब प्रकुपित हो जाती है और उसका प्रकोप असाध्य बन जाता है तब यह बाहर दिखाई देने वाली सुन्दरता बहुत जल्दी बदसूरती में बदल जाती है। यह विषय प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनुभवगम्य हो सकता है किन्तु तभी जब वह आन्तरिक व्यवस्था की ओर अपना ध्यान लगावे।

मनुष्य तो ऊपरी रूप रंग को सजाने के साथ-साथ पुष्ट और अधिक सुन्दर बनने की लालसा में अधिकाधिक पौष्टिक पदार्थों को भी उदरस्थ करता जाता है—यह सोचे बगैर कि अपनी लालची रसना के अधीन होकर वह जो पौष्टिक व स्वादिष्ट पदार्थों को बेमाप उदरस्थ करता जा रहा है, क्या वह उन पदार्थों को ठीक से पचा भी सकेगा ? विचित्र दशा ऐसी देखी जाती है कि पहले के खाये हुए पदार्थ तो पचते ही नहीं और उससे पूर्व ही वह अन्य स्वादिष्ट पदार्थ खाना शुरू कर देता है। परिणाम यह होता है कि पाचन तंत्र अव्यवस्थित हो जाता है और उस परिस्थिति में वायुवाहक नाड़ियाँ वायु के वेग को बढ़ाने के लिए अधिक सक्रिय होने की चेष्टा करती है। किन्तु क्षमता से अधिक भार पड़ने के कारण इस तीव्र चेष्टा से वे शीघ्र ही क्लांत हो जाती हैं। इस प्रकार वायु का सन्तुलन बिगड़ जाता है। पेट में पड़े पदार्थ सड़ने लगते हैं और सड़े हुए अन्न की दुर्गंध से समग्र वायुसंस्थान दूषण से व्याप्त हो जाते हैं। यह दूषित वायु जीवन के प्रत्येक कार्य के लिए अहितकर सिद्ध होती है। शरीर में इसके कारण बेचैनी बढ़ती जाती है। उस दशा में योग साधना की बात तो छोड़िये सामान्य व्यावहारिक कार्यो को करने की भी शक्ति नहीं रहती है। फिर वह डॉक्टर वैद्यों के पास जाता है। आज सही ईलाज करने वाले डॉक्टर वैद्य मुश्किल से ही मिलते हैं। अधिकांश डॉक्टर वैद्य अर्थोपार्जन में ही रचे-पचे होते हैं। अतः वे तेज दवाओं का प्रयोग करते हैं। फलस्वरूप रोगी के संवेदनशील ज्ञान तंतु क्षत विक्षित होकर इस तरह शून्यता पकड़ने लगते हैं कि तब दुःख की संवेदना भी सही तरीके से नही होती है। वेदना में कुछ कमी को महसूस करने से रोगी भ्रम में पड़ जाता है। वह सोचता है कि उसकी वेदना इन दवाओं से ही कम हुई है।

वास्तव में होता यह है कि आरोग्य आवे उससे पहले ही शरीर में कई प्रकार की विकृतियाँ प्रविष्ट हो जाती हैं। कई बार तो ऐसी दवाओं के अतिरेक से व्यक्ति की जीवन शक्ति का ही धीरे-धीरे ह्रास होता जाता है।

यदि गंभीरतापूर्वक सोचें तो वर्तमान जीवन में प्राप्त यह सुखद जीवन शक्ति कितनी अमूल्य है जो अनुभव से भी अपूर्व है। फिर इसी जीवन शक्ति को जब आध्यात्मिक साधना एवं योग विषयक

उपलब्धियों के साथ जोड़ देते हैं तो कितनी अननुभूत सुख शान्ति के समीप पहुँच सकते हैं? वास्तविक जीवन-विज्ञान के अभाव में ही मनुष्य ऐसी दुर्व्यवस्था का शिकार हो जाता है जिसका सम्यक् समाधान योग पद्धति के माध्यम से भव्य रीतिपूर्वक किया जा सकता है। परन्तु यह कब किया जायगा ? जब इस जीवन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सहायक तत्त्वों का मूल्यांकन किया जायगा एवं सहायक तत्त्वों की प्रणाली तथा उससे सम्बन्धित जातीय-विजातीय स्वरूपों को विधिवत् विशुद्ध किया जायगा, तभी मनुष्य इस बात से सावधान हो सकेगा कि वह अशुद्धिकारक तत्त्वों को अपने शरीर तंत्र के भीतर प्रविष्ट न होने दे। एक बार बिगड़ी हुई कार्य प्रणाली को तभी व्यवस्थित कर सकते हैं जब कड़ी भूख लगने पर ही भोजन किया जाय अथवा आवश्यक लगे तो उपवास व्रत-पूर्वक अधिकाधिक प्राणवायु को ग्रहण करें ताकि सम्पूर्ण वायुसंस्थान पुनः सुव्यवस्थित बन सके।

अपने सम्पूर्ण सुप्रभाव के साथ जब प्राणवायु प्रत्येक अंग-प्रत्यंग में पहुँच जाती है तब उसका जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग प्राणों के साथ सम्पर्क होता है। यह सम्पर्क साधक को सूक्ष्म परिधि के समीप पहुंचने में सहायक बनाता है। तब साधक को सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतम अवस्थानों एवं उनके अन्तर्गत बनी ग्रंथियों को समझने व सुलझाने का सुअवसर मिल जाता है। यही नहीं, अन्ततोगत्वा उसे सच्चिदानन्द के समीप पहुँच जाने का सुअवसर भी मिल सकता है।

तात्पर्य यह कि शरीर के समस्त अवयवों की अपेक्षा भी श्वास-प्रश्वास सम्बन्धी प्रक्रियाएँ अधिक महत्त्व रखती हैं। इनकी सहायक क्रियाओं का भी बड़ा महत्त्व होता है। अतः साधक श्वास प्रणालिका को सर्वाधिक महत्त्व दे तथा उसका समुचित मूल्यांकन करे। इसके पश्चात् ही वह अपने पुरुषार्थ को सार्थक रूप से क्रियाशील बना सकेगा।

श्वासानुसंधान

श्वास-प्रश्वास एक प्रकार से आन्तरिक क्रियातंत्र के संकेत चिह्न (कांटामापक यंत्र) है। जैसे पेट्रोल की टंकी पर लगे कांटे से उसके भीतर रही हुई मात्रा का संकेत मिल जाता है, उसी प्रकार जीवन सम्बन्धी समस्त क्रियाकांडों का संकेत श्वास की गतिविधि से जाना जा सकता है। एक दृष्टि से भीतर के क्रियाकांड एक विशाल कारखाने की मशीनों और उनके कार्य के समान हैं। उस विशाल कारखाने की बड़ी-बड़ी मशीनों के बीच में अगर छोटे से छोटे तार में भी कहीं अवरोध पैदा हो जाय तो सारी मशीनरी पर उसका असर पड़ता है। उसी प्रकार इस शरीर तंत्र के भीतर होने वाली स्थूल अथवा सूक्ष्म क्रिया-प्रक्रियाओं के बीच में यदि किसी सूक्ष्म से सूक्ष्म नाड़ी तंत्र की क्रिया में भी अवरोध पैदा हो जाय तो उस रुकावट का समग्र शरीर विषयक क्रियाकलाप पर बुरा असर पड़ता है। इस असर की सूचना श्वास प्रणालिका से मिल सकती है। इस कारण इस प्रणालिका-विज्ञान का बहुत गहराई से अध्ययन अवश्यक है। इससे अवरोध के कारणों की, भलीभांति जानकारी हो सकेगी, बल्कि उन कारणों को दूर करने, तन्त्र को पुनः सुव्यवस्थित बनाने की प्रेरणा भी पैदा होगी।

श्वास प्रणालिका के माध्यम से, जिस प्रकार शरीर तन्त्र के भीतर चलने वाले क्रियाकलापों का प्रभाव जाना जा सकता है, उसी प्रकार मानसतन्त्र सम्बन्धी भावोर्मियों का प्रभाव भी श्वास की गति से अभिव्यक्त होता है। कोई व्यक्ति अपने ज्ञान केन्द्र किस भाव के साथ अपने क्रिया के माध्यम से, मानसतन्त्र को झंकृत करता हुआ, शरीर के क्रियाकलापों को प्रभावित बना रहा है, यह विज्ञान भी श्वास-विज्ञान की परिधि में आ जाता है।

शरीर के आन्तरिक अवस्थानों पर, बाहर से ग्रहण किये गये, अपाच्य पदार्थों का ही नहीं, मलिन विचारों का भी दुष्प्रभाव पड़ता है। समझिये कि ज्योंही मलिन भावों ने, सर्वतन्त्रों पर अपना प्रभाव छोड़ा, त्योंही भीतर में एक अचकचाहट-सी फैल जाती है। उस समय में श्वास विधिज्ञ-साधक, उन भावों के प्रभाव को तत्क्षण निष्फल बनाने की अपनी कला का, यदि प्रयोग करे तो इन भावों के प्रभाव को नासिका के माध्यम से वापस बाहर फेंक सकता है। उन मलिन भावों के प्रभाव के स्थान पर तब वह शुभ भावों के प्रभाव को व्याप्त बना सकता है। जैसे पंप (नल या टूंटी) की सहायता से टंकी में भरे गंदे पानी को बाहर फैंक कर भीतर साफ पानी भरा जा सकता है, उसी प्रकार यह नासिका पंप का काम करती है। इस एकदेशीय रूपक को समझ कर यदि साधक मलिन भावों को श्वासनली से बाहर निकालता रहे और निर्मल भावों को भीतर ग्रहण करता रहे तो उसकी साधना दिन-प्रतिदिन फलवती बनती जाती है। एक दिन वह लक्ष्य के समीप भी पहुँच सकता है। एक दृष्टान्त से इसे समझिये। जिस समय साधक के भीतर में क्रोध का मलिन भाव उठे तो उस समय वह उस भाव को वाणी अथवा शरीर के अन्य अवयवों से बाहर प्रकट न होने दे, अपितु श्वासविधि के माध्यम से शान्त-प्रशान्त श्वास वर्गणाओं के स्कंधों को भीतर खींचे। जितने स्कंधों को खींच सके, उन्हें वह खींचे तथा दो सैकिंड का श्वास का आन्तरिक कुंभक करे और बाद में लयबद्ध आन्तरिक श्वास को बाहर फैंकने की चेष्टा करे। ऐसी प्रक्रिया कुछ समय तक करते रहने पर क्रोध का प्रभाव सफल न होकर निष्फल बाहर निकल जायगा। शान्त वर्गणा से सम्बन्धित श्वास वर्गणा का बारी-बारी से भीतर प्रवेश होने के कारण कषाय-क्रोध विषयक दुर्गंध समाप्त हो जायगी। यही प्रक्रिया काम-विकार अथवा अन्य प्रकार के विकारों को बाहर निकालने में सक्षम बनती है।

शरीर में विकृत पदार्थों की अथवा मलिन भावों की भारी गंदगी भरी रहती है, यदि साधक सम्यक् रीति से श्वासानुसंधान करे और उससे समबन्धित प्रक्रियाओं का विवेक सहित उपयोग करे तो शरीर में फैल रही इस गंदगी को दूर की जा सकती है तथा वहाँ शुद्धता का संचार किया जा सकता है। काम, क्रोध आदि की गंदगी के बीच में कई बार निमित्त-नैमेत्तिक सम्बन्ध, कार्य-कारण सम्बन्ध आदि भी नजर में आते हैं। आन्तरिक क्रियाकलापों के अस्त व्यस्त हो जाने से भीतर में दुर्गंध व्याप्त हो जाती है। इस दुर्गंध का प्रभाव नियंत्रण केन्द्र पर पड़ता है और ज्यों ही नियंत्रण केन्द्र शिथिल हो जाता है त्यों ही काम क्रोध का दुष्प्रभाव प्रकट होने लग जाता है। इससे पहले से व्याप्त दुर्गंध और अधिक गहरी हो जाती है।

यदि यही क्रम दीर्घकाल तक इसी प्रकार चलता रहे तो व्यक्ति का समग्र जीवन दोनों प्रकार की गंदगियों से भर उठता है, और सड़ांध मारने लगता है। इन दोनों प्रकार की गंदगियों की सघनता केवल श्वास-तंत्र को प्रभावित बना कर ही समाप्त नहीं हो जाती है, बल्कि अन्य तंत्रों पर भी अपना दुष्प्रभाव छोड़ती है। इससे तपस्तंत्र पर भी बुरा असर पड़ता है। इस हेतु साधक को उपवास-व्रत या लम्बी तपस्या करने का अभ्यास बनाना चाहिये ताकि अन्दर की दुर्गंध अन्दर ही समाहित हो जाय। उसके साथ ही शेष गंदगी को विरेचन पदार्थ आदि के माध्यम से बाहर निकालकर आहार तन्त्र को स्वस्थ एवं सक्रिय बनाना समीक्षा के लिये आवश्य है। इस शेष गंदगी को बाहर निकालने में श्वास तंत्र सहायक होगा तो गंदगी बाहर निकल जाने के बाद वह पुनः स्वस्थ रूप से सक्रिय भी बनेगा। जिससे नियंत्रण केन्द्र सबल बन जाता है और नये केन्द्रों से प्रवेश पाने वाली गंदगी भीतर पहुँच नहीं पाती है। साधक यदि प्रत्येक समय सावधान रहे और अपने विवेक

तंत्र को सतर्क रखे तो भीतर के अवस्थानों में उत्पन्न होने वाली काम-क्रोधादि वृत्तियों को वह रूपान्तरित कर सकता है।

इस प्रकार की प्रक्रिया को सावधानी के साथ लम्बे समय तक सक्रिय रखी जाय तो साधक सूक्ष्म परिधि की समीपता में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों का स्वयं स्रष्टा और निर्माता बन कर स्वतंत्रता साध सकता है।

प्रबलतम शक्ति संकल्प

इस त्रिआयामी साधना में सबसे प्रबलतम शक्ति होती है संकल्प की शक्ति। संकल्प जितना प्राणवान् होगा, साधना उतनी ही सप्राण होगी। इस संकल्प शक्ति का सम्बन्ध स्थूल शरीर के साथ कम किन्तु सूक्ष्म शरीर के साथ अधिक होता है। वह संस्कारात्मक सूक्ष्म शरीर भी जिसमें सूक्ष्म वृत्तियों के भी संस्कार होते हैं, आज से नहीं, अनादि एवं अनन्तकाल से ढलती आ रही चेतना के साथ सम्बन्धित होता है। इस चेतना ने अज्ञानवश इन वृत्तियों को निज भाव रूप में मान रखी है। बस यही भूल इस चेतन सत्ता को अनन्त काल से संत्रस्त बना रही है। चूंकि यह भूल अनन्त काल की है, इस कारण उसका परिमार्जन एकदम कुछ ही क्षणों में या कुछ वर्षों में ही हो जाय—इसकी कम संभावना रहती है। इसे सुधारने के लिये तो कई जन्मों तक साधना करनी पड़ती है। जिन महान् चेतनाओं ने अपनी ऐसी विकारी वृत्तियों पर विजय प्राप्त की है उन्होंने भी अपने अनेक जन्मों की साधना के द्वारा वह विजय प्राप्त की है। हमें भले ही ऐसा लगा हो कि उन महापुरुषों ने इसी जन्म में आत्म-साक्षात्कार करके मुक्ति प्राप्त कर ली। किन्तु मुक्ति प्राप्त होती है पूर्व जन्मों की अनेक साधनाओं के बल पर ही। ऐसा अपवादरूप से हो सकता है कि आत्मा की अवस्थिति का परिपाक अत्यन्त त्वरित गति से हो जाय। यह एक अलग बात है।

इस प्रकार ऐसा उत्साहपूर्ण संकल्प सदा बना रहना चाहिये कि इस जन्म में नहीं तो, मैं आगामी जन्म में अवश्यमेव अपने लक्ष्य को प्राप्त करके सिद्ध अवस्था में पहुँच जाऊँगा। यदि ऐसा संकल्प प्राणवान् होगा तो साधक इन विकारी वृत्तियों को परास्त करके सर्वकर्म विनिमुक्ति लोकालोक के साक्षात्कर्त्ता सिद्धस्वरूप को अवश्य ही प्राप्त करके रहेगा।

ऐसे दृढ़ संकल्प का संस्कार जब सूक्ष्म शरीर के साथ चेतना में संयुक्त हो जाता है, तब वैसे ही सुसंस्कार जन्म-जन्मान्तर तक अनुगामी बन जाते हैं। इस वजह से उसकी शक्ति आगामी जन्म में भी आध्यात्मिक ऊर्जा को सम्बल प्रदान करती है। वह प्रबल सम्बल एक दिन सूक्ष्मतम शरीर के समस्त विकारों को उखाड़ कर फैंक देता है और परम शुद्धि का द्वार खोल देता है।

सद्विचार की शक्ति

तीव्रतम संकल्प के साथ इस साधना में एक अन्य शक्ति की भी अपेक्षा रहती है और वह है सद्विचार की शक्ति। यह सद्विचार की शक्ति जब तक संकल्प की संपुष्टि का वातावरण तैयार करती रहती है, तब तक संकल्प शक्ति क्रियाशील बनी रहती है। संपुष्टि का ऐसा वातावरण न हो तो संकल्प निष्क्रिय बन जाता है। यदि सम्पूर्ण जीवन ही विलासपूर्ण वातावरण से विलग हो जाय और अपने आध्यात्मिक संकल्पों का आवर्तन करता रहे तो इन संकल्पों की सहायता से लक्ष्य सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। इसलिये संकल्प-साधना के साथ-साथ सद्विचारों के वायुमंडल का निर्माण

बहुत आवश्यक है अथवा यों कहा जा सकता है कि संकल्प रूपी नगर की सुरक्षा के लिये पवित्र विचारों का उसके चारों तरफ कोट बहुत जरूरी है।

विचारों के अनुसार ही जीवन के स्वरूप का सृजन होता है - ऐसी जैन दर्शन या कर्म सिद्धान्त की निश्चित मान्यता है। वास्तव में तो वर्तमान काल के विचार ही भावी जीवन निर्माण की रूपरेखा बनाते है। अतः इस संदर्भ में विचारों की महत्ता और अधिक बढ़ जाती है कि आज के विचार आचार ही कल के जीवन की नींव रखेंगे।

ये विचार यदि अप्रशस्त होंगे तो जीवन अप्रशस्तता की दिशा में गति करेगा और आगामी जीवन को भी अप्रशस्तता का रूप देगा। इसके विपरीत प्रशस्त विचारों के द्वारा वर्तमान तथा अनागत दोनों जीवनों को समुज्वल बनाया जा सकता है। जिसकी जैसी भावना होती है, उसकी सिद्धि भी वैसी ही होती है। ध्यान साधना के परिप्रेक्ष्य में विशुद्धतम विचारों का सुप्रभाव सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतम शरीरों पर अंकित हो जाता है और यदि आगामी जीवन का आयुष्य-बंध उन विचारों के दौरान हो जाय तो सूक्ष्मतम शरीर के साथ अनुबंधित वे विचार अपने भविष्य को याने कि आगामी जन्म को भव्यता प्रदान कर देते हैं। इस दृष्टि से साधानानुकूल वातावरण, आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल, स्वस्थ शरीर तथा आध्यात्मिक संयोग की अनुकूलताएँ उसे प्राप्त हो जाती है जिनके माध्यम से फिर साधना का मार्ग भी प्रशस्त हो जाता है। तदनुसार गति करने पर अबाधित आनन्द को पाया जा सकता है।

सत्संकल्पों के समान ही सद्विचारों की ऊर्जा प्राप्त होने से साधना की गहराई में उतरते हुए साधक का इस प्रकार का प्रयत्न होना चाहिये कि मैं अविलम्ब अपने गंतव्य पथ की तरफ आगे बढ़ता जाऊँ और अचल सिद्ध स्वरूप का वरण करलूं। इस दृढ़ संकल्प में संशय को कोई भी स्थान नहीं दिया जाना चाहिये। अटल निष्ठा का संकल्प साथ हो और हो किसी भी व्यवधान से बाधित न होने की प्रखर भावना। तब विशुद्ध और मंगल विचारों व संकल्पों की सावधानी सफलता की ओर साधक को अग्रगामी बना देगी।

समीक्षण की पूर्णता

समीक्षण ध्यान की परिपूर्णता के लिये तब तीसरे आयाम में निर्धारित भविष्य के संकल्पों में समता के संकल्प का उद्भव हो जाता है। समता का सर्वत्र प्रसार ही समीक्षण ध्यान की परिपूर्णता का प्रदीप्त प्रमाण बनता है।

तब साधक के चित्त के सृजन का पहला सूत्र बन जाता है - समता का सूत्र । समग्र साधना का मूल हो जाती है समता की सरल भावना। जब तक समता की साधना सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में नहीं साधी जाती है, तब तक सफलता नहीं मिलती है और अन्तः प्रवेश मात्र एक काल्पनिक उड़ान बन कर अवरुद्ध हो जाता है। विषमता की ज्वालाएं सुलगती रहेगी तो उसमें साधना का पल्लवन असंभव ही बना रहेगा। बिना समता के अन्तःसाधना चाहे जितनी कर ली जाय, उसका धरातल भी तैयार नहीं हो सकेगा।

अतः सम्पूर्ण जीवनी शक्ति का समर्पण समता के लक्ष्य के लिये ही होना चाहिये। समता को ही अध्यात्म की प्राण ऊर्जा माननी चाहिये और जीवन में समता के संवर्धन का संकल्प लेना

चाहिये। समत्त्व योग की चरम उपलब्धि यकायक नहीं हो जाती है यह सही है, फिर भी उसके प्रति आस्था का जो अंकुरण सम्यक् रीति से कर दिया जाय तो एक दिन वह समता विशाल वृक्ष का आकार ले लेगी। यही नहीं, उस वृक्ष के मीठे फल अनुपम आनन्द भी प्रदान करेंगे। समता सम्यक् आस्था के अभाव में जो भी साधना की जायगी, उसका समावेश विराधनां की कोटि में ही होगा। इसके विपरीत स्वल्प मात्रा में भी साधी गई समतापूर्वक साधना लक्ष्य की दिशा में गतिमान बनायगी। वही परम समत्व योग के समीप भी पहुँचा देगी।

साधक के मन में विषमता के बीज वपित कर उसकी आत्म-चेतना पर अंकुरित होने लगे उससे पहले ही वह अपनी समस्त वृत्तियों को समता की साधना में नियोजित कर दे, जिससे उसकी साधना को अबाध गति प्राप्त हो सके। समत्व साधना से साधक को विचलित करने के लिये अनेक तूफान खड़े होते हैं, झंझावातों के आघात चलते हैं, किन्तु उसे इन सबका अपनी समुन्नत आत्म शक्ति से मुकाबिला करना होगा। आंधियों और तूफानों के लिये सभी दिशाएँ द्रव्य और भाव रूप से खुली रहती हैं और यह कहना कठिन होता है कि किस दिशा से कितनी प्रबल आंधी उठेगी? परंतु यदि साधक का अपना समत्त्व योग का आसन सुदृढ होता है तो वे आंधियाँ उमड़-घुमड़ कर भी अप्रभावी ही रहकर थम जायगी। कारण, समत्व साधना एवं समीक्षण ध्यान का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। वे एक दूसरे के साथ पूरी गहराई और मजबूती से जुड़े रहते हैं। एक प्रकार से समीक्षण ध्यान को समता साधना का ही नाम दिया जा सकता है। समता पूर्वक सबकुछ देखना ही तो समीक्षण है।

समीक्षण की अन्तर्गत भावना को और अधिक स्पष्टता से समझ लें। इस देह के मृत्पिंड में सर्वशक्तिमान् चैतन्य अपनी समस्त शक्तियों को संगोपित करके रहा हुआ है और उसके द्रव्य तथा भाव रूप अनेक द्वार हैं। उन्हीं द्वारों से तथा प्रधानतया काम-क्रोध आदि विकारों के द्वारों से अथवा किसी भी एक द्वार से समता साधना के बाधक तत्त्वों का प्रवेश संभव हो सकता है। ऐसी वेला में यदि अन्तर्चेतना की शक्ति विवेक के दीपक के साथ जागृत न हो अथवा बाधक तत्त्वों का ज्ञान न हो तो वे बाधक तत्त्व जो अनादि काल से अपना आसन जमा कर बैठे हुए हैं, मलिन वृत्तियों को उभारेंगे तथा अल्प विकसित समता साधना के अंकुरों को उखाड़ कर ध्वस्त बना देंगे। इसलिये समीक्षण ध्यान की इस प्रक्रिया में समता की साधना के लिये सतत सविवेक जागृति की अपेक्षा रहती है।

सतत विवेक जागृति के दीपक को प्रदीप्त रखकर ही साधक समता की ज्योति को प्रज्वलित रख सकता है। कल्पना करें कि साधक समता की साधना में तन्मय बना हुआ है और उसकी आत्मलीनता अभिवृद्ध होती जा रही है, उस समय समझिये कि उसके कानों में इस प्रकार के विषम कटु शब्द आते हैं कि एक बार उसकी मनोभूमि पर विषमता की प्रतिध्वनि गूंजती है जो उसकी साधना की समता धारा को आन्दोलित कर देना चाहती है, तब भी वह अपनी समता धारा को शान्त-प्रशान्त बनाई रखे तो उसे समझना चाहिये कि उसकी साधना में परिपक्वता की स्थिति आने लगी है। दूसरी स्थिति यह हो सकती है कि वह विषमतापूर्ण कटु स्वर उसके ज्ञान केन्द्र को अस्थिर बनाकर विपथगामी बना दे तो वह भी विषम चिन्तन के लिये विवश बन जाता है। यह इस कारण होता है कि ज्ञान केन्द्र अपने क्रिया केन्द्रों को सूचित कर देता है, विषमता के फूट जाने के

बारे में। तब प्रतिक्रिया में साधक की चेतना आन्दोलित हो जाती है। साथ ही शरीर के सर्व केन्द्र भी प्रकंपित हो जाते हैं। समझिये कि यहीं से समता साधना का स्खलन शुरू हो जाता है। द्रव्य मन पर भाषा के उन स्कन्धों का ऐसा प्रभाव पड़ता है जिसके कारण ही ऐसा अनर्थ घटित हो जाता है। यह स्खलन ऐसा होता है कि वर्षों की साधना की प्रगति में बहुत बड़ा व्यवधान खड़ा हो जाता है। दुष्ट शब्दों की एक सामान्य-सी क्रिया भीतर में कितनी भयंकर प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देती है - यह बहुत ही गंभीरता से समझने योग्य विषय है।

समीक्षण ध्यान साधक के लिये इस दृष्टि से यह चिन्तन आवश्यक है कि चाहे कटु हो या मधुर—सभी प्रकार के शब्दों के प्रति उसकी विवेकपूर्ण समत्त्व प्रज्ञा सदा जागृत रहे। उसका ज्ञान केन्द्र इतना तटस्थ और समभावी हो जाय कि वह अपने हिताहित के विषयों पर तत्काल सम्यक् निर्णय ले सके। उसके द्रव्य मन को वह इस तरह घड़ ले कि प्रतिकार की कैसी भी भावना उसे आन्दोलित या चलायमान न बना सके। तब ऐसी जागृति सामान्य और सहज रूप ग्रहण करके उसे आत्मस्थ रहने में समर्थ बना देगी। वैसी अवस्था में उसे बाहर की कोई भी क्रिया विचलित नहीं बना सकेगी। यही नहीं, उसकी सहजता और समता से अपशब्द की कटु क्रिया भी उसकी साधना को अधिक सशक्त बनाने में सहायक भूत हो जायगी।

समीक्षण ध्यान साधना में अपने ज्ञान केन्द्रों के ऊपर तथा उसी प्रकार समस्त बाधक तत्त्वों पर एक सशक्त नियंत्रण उत्पन्न हो जाना चाहिये। यह नियंत्रण इतना सुदृढ़ हो कि उसकी समत्त्व भावना एवं विवेक दृष्टि का दीपक सदा प्रकाशमान रहे और वह उस प्रकाश को सदा अनुभव लेता रहे। फिर चाहे वह अपशब्द सुने, वीभत्स दृश्य देखे, दुर्गंध सूंघे या अस्वाद पदार्थ चखे अथवा स्पर्शे, उसके मन को कोई भी प्रतिकूलता चंचल नहीं बना सकेगी। उसकी ऐसी सुदृढ़ता के साथ ही इन्द्रियातीत विषय जैसे पूर्व दृष्ट, श्रुत वगैरा भी साधक के चित्त को विकेन्द्रित नहीं कर सकेंगे। कभी-कभी इन्द्रियातीत विषयों को साधक भली प्रकार से पहिचान नहीं पाता है तो वे उसके ध्यान को विकेन्द्रित करने की चेष्टा करते हैं किन्तु उस समय साधक समीक्षण ध्यान के माध्यम से अपने को उनसे दूर खींच लेता है और समत्व योग से अपने आत्म स्वरूप की गहराई में डूब जाता है। वह अपने इस प्रकार के अभ्यासक्रम से अपनी अत्यन्त सूक्ष्मतम वृत्तियों के अवलोकन में भी सक्षम हो जाता है तो उन वृत्तियों के परिमार्जन में भी दक्षता प्राप्त कर लेता है। तब वे मलिन वृत्तियाँ उसे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकती है और वह साधक स्वयं अपने आत्म-स्वरूप का तथा लक्ष्य पथ का भी सफल दृष्टा बन जाता है।

जैसे नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार समस्त विकार वृत्तियाँ समीक्षण ध्यान के माध्यम से समत्व के महासागर में विलीन होकर समता भाव में रूपान्तरित हो जाती हैं तथा इस स्तर पर पहुँच कर समीक्षण ध्यान अपनी परिपूर्णता पा जाता है। तब चेतना भी अलौकिक एवं अनिर्वचनीय सच्चिदानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है।

चिन्तन आचरण में उतरे

यह त्रिआयामी रूप समीक्षण साधना अपने तीन चरणों में विकसित होती हुई मनःशोधन तथा मनोविश्लेषण के सामर्थ्य को अवाप्त करे, पूर्णतः आत्म संयम को साधे एवं चरम व परम शक्ति

की प्राप्ति तक पहुँच कर ही विश्राम ले - साधक का ऐसा सुदृढ़ संकल्प बनना चाहिये और चिन्तन का यह सम्पूर्ण विषय साधक के आचरण में उतरता जाना चाहिये।

अपने अतीत का स्मरण करते समय साधक विगतकालीन अपनी कलुषित वृत्तियों का चिन्तन भी करे तो साथ-साथ उनका शोधन भी करता जाय। आदर्श लक्ष्य का स्मरण करते हुए वह परमात्म भाव के साथ तादात्म्य स्थापित करने की प्रेरणा भी ले तो अपने आत्म भाव को ऊर्ध्वगामी बनाने का पुरुषार्थ भी साधे। चिन्तन की गहराइयों में उतर कर वह विशुद्धतम मनःस्थिति का सृजन भी करे तो अपने कृर्तत्त्व की ऊर्जा को भी यत्नरत बनावे। इसके लिये उसे समीक्षण ध्यान के तीनों आयामों की साधना करते समय संकल्प की शक्ति, वातावरण की विशुद्धि, समय की नियमितता और विचारों की प्रांजलता को अपने सहयोगी अंगों के रूप में स्वीकार करना चाहिये। यह याद रहे कि समीक्षण ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिये सबसे पहले आवश्यकता होती है आत्म विकास की गहरी प्यास। यह पिपासा जितनी तीव्र होगी, ध्यान प्रयोग के प्रति उस की अभिरुचि भी उतनी ही तीव्र बनेगी। पूर्ण अभिरुचियुक्त पिपासा के साथ जो भी सत्कार्य हाथ में लिया जायेगा, उसकी सफलता असंदिग्ध बन जायेगी।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर दें कि उद्देश्य दृष्टि की परिपूर्णता के प्रतिपादन के बावजूद यहाँ पर समीक्षण ध्यान का जो विधिक्रम बताया गया है, उसे एक वर्ष के अभ्यास का विधिक्रम ही मानें। पूरे वर्ष की साधना के बाद साधक के लिए आगे के मार्गदर्शन की अपेक्षा रहेगी। क्योंकि अपनी वर्ष भर की साधना में साधक के समक्ष कौन-कौनसे और कैसे-कैसे व्यवधान उपस्थित हुए, उसकी समीक्षा करके ही उसके लिये भावी विधिक्रम का निर्धारण करना पड़ेगा। इस मार्गदर्शन से वह अपने अगले चरण में व्यवस्थित रूप से गति कर सकेगा। जब वह इस त्रिआयामी समीक्षण ध्यान साधना में स्वस्थ गति ग्रहण कर लेगा तब वह अपने भावी कार्यक्रम के निर्धारण में भी योग्य बन जायगा।

साधक इस संकेत को अपने हृदय का तलस्पर्शी बनावे कि समीक्षण ध्यान का यह प्रतिपादन अथवा उसका स्वयं का चिन्तन मात्र विचारों तक ही सीमित न रह जाय। यह प्रयोगात्मक रूप से उसके आचरण में उतरे तथा जीवन में एकीभूत हो जाय। साधना के उसके प्रत्येक चरण में सजगतापूर्वक समर्पण की भावना का निर्माण हो जाय तथा वह यथार्थ कार्यान्वय में ढल जाय तो उसकी मनःशक्ति तथा आत्मशक्ति के भव्य द्वार खुल सकते हैं जिनमें प्रवेश करके वह सम्पूर्ण मुक्ति के चरम लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

इस बात की गाँठ बाँध लें कि आम जनता के सामने साधना विषयक शब्दात्मक चर्चा करके ही न रह जाना महत्त्वपूर्ण नहीं है। अपितु ध्यान-साधना को पहले अपने जीवन में प्रेक्टिकल रूप देकर तथा स्वयं को आम जनता के सामने उस साधना के आदर्श रूप में रखना महत्त्वपूर्ण है। कई लोग इस साधना को अपने जीवन में न उतार पाने के हजार बहाने ढूंढ़ लेते हैं, ऐसे लोग जब साधना की चर्चा करते हैं तो वह मात्र वाणी-विलास बन जाता है।

समीक्षण ध्यान साधना अथवा किसी भी सत्साधना का यही वास्तविक अर्थ मानना चाहिये कि उस साधना के बल पर जीवन में फैल रही अन्तर एवं बाह्य विकृत वृत्तियों का रूपान्तरण हो तथा साध्य की निकटता बने। यह लक्ष्य अवश्य पूरा हो सकता है बशर्ते कि उपरोक्त प्रयोग विधि

को जीवन में आत्मसात् करके सर्व प्रकार के तनावों से मुक्त हो जाय एवं आत्म-दृष्टा भाव को जागृत बना लें। तब अशुभ वृत्तियों का शुभता में रूपान्तरण भी होगा तो सतत सावधानी से मुक्ति पथ पर आगे बढ़ते हुए आत्म देव के दर्शन भी होंगे।

आत्म-रमण की आवस्था

ध्यान साधना की सफलता से स्वरूप-दर्शन तो स्वरूप दर्शन से आत्म-रमण की अवस्था प्राप्त होती है। समीक्षण का सुफल ही आत्म-रमण के रूप में प्रतिफलित होता है। समतापूर्वक (समभाव के साथ) जब आन्तरिकता को निहारा जायेगा, तभी वहाँ विचरण करने की आवश्यकता महसूस होगी। निरीक्षण-परीक्षण के बाद ही क्रियाशीलता सुविचारित रूप से प्रोत्साहित होती है।

आत्मा के तीन प्रकार बताये गये हैं - बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा। सुसाधना की गति बहिरात्मा से अन्तरात्मा तथा अन्तरात्मा से परमात्मा की ओर बढ़ती है। इन्द्रियों एवं बाह्य पदार्थों में जो आशक्ति होती है, उसे ही बहिरात्मा की संज्ञा मिलती है। जब उसी आत्मा के अन्तरंग में आत्मानुभव रूप आत्मसंकल्प बनता है, तब वही बहिरात्मा अन्तरात्मा का रूप ले लेती है। अन्तरात्मा ही अपनी सतत साधना से परम विशुद्धावस्था प्राप्त करके परमात्मा का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार का रूपान्तरण ही आज की कर्मबद्ध आत्मा को परमात्म-स्वरूप प्रदान करता है। इसी रूपान्तरण के लिये सम्पूर्ण साधनाएँ हैं जिन में ध्यान साधनाएँ प्रमुख हैं। ऊपर समीक्षण ध्यान साधना का जो सूक्ष्म विश्लेषण दिया गया है, उससे स्पष्ट होता है कि एक साधक किस प्रकार तीन आयामों द्वारा अपनी अशुभ वृत्तियों का शुभता में रूपान्तरण कर सकता है।

आत्म-रमण की अवस्था में साधक बाह्य जगत् की अपेक्षा अपनी ही आन्तरिकता में अधिक विचरण करने लग जाता है। वह अवस्था उसकी सदा-जागृति की अवस्था होती है। वह सांसारिक व्यवहार के कार्यों में उदासीन बनता जाता है और स्व-पर के लोकोपकार में सतत सावधान हो जाता है। वह यह समझ जाता है कि जो सांसारिक व्यवहार के कार्यों में जागता है, वह आत्म-कार्यों में सोता है। यह समझ कर वह स्व-पर के लोकोपकार में तनिक भी प्रमाद नहीं करता है। वह सच्चा आत्म-रामी बन जाता है।

आत्म-रामिता आत्म-रमण का ही नाम है। आत्म-रामी सदा आध्यात्मिक विषयों का ही चिन्तन करता रहता है क्योंकि वह जो भी क्रिया करता है, विवेकपूर्वक करता है, फिर भी अपनी क्रिया की प्रतिक्रिया को भी वह जांचता और शुभता की कसौटी पर कसता है। तदनुसार वह अपनी भावी क्रियाओं का परिमार्जन करता रहता है। आत्मावलोकन, आत्मालोचना, आत्मनियंत्रण, आत्मचिन्तन तथा आत्मदमन का एक प्रक्रिया-चक्र आत्मरामी की अन्तरात्मा में चलता रहता है जिसके आधार पर वह स्वयं के चिन्तन को समुन्नत बनाता है, उस चिन्तन की छाप दूसरों पर छोड़ता है और दूसरों के चिन्तन की समुन्नति को भी प्रेरित करता है। आत्मचिन्तन को स्वस्थ सुधड़ एवं सैद्धान्तिक रूप देने के लिये आत्म-समीक्षण के नव सूत्रों का निरूपण किया गया है, जो निम्नानुसार हैः-

(१) मैं चैतन्य देव हूं।

मुझे सोचना है कि मैं कहाँ से आया हूँ, किसलिये आया हूँ?

चार गति चौरासी लाख जीव योनियों में भटकते हुए मुझे समझना है कि यह दुर्लभ मानव जीवन आदि किस पुण्योदय से प्राप्त हुआ है तथा जड़-चेतन संयोग, सुख दुःखानुभव एवं संसार के संसरण का क्या रूप है? यह समझ कर मैं मूर्छा और ममत्व को हटाऊंगा, राग द्वेष और प्रमाद को मिटाऊंगा तथा अपने जीवन को सम्यक् निर्णायक, समतामय व मंगलमय बनाऊंगा।

(२) मैं प्रबुद्ध हुँ, सदा जागृत हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा अपना क्या है और क्या मेरा नहीं है?

प्रबुद्धता की वेला में मुझे विदित होगा कि मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान एवं मिथ्या आचरण मेरे नहीं हैं, परन्तु पर-पदार्थों के प्रगाढ़ मोह ने मुझे पाप कार्यों में फंसा रखा है। मैं मिथ्यात्व को त्यागूंगा, नवतत्त्व की आधारशिला पर सम्यक्त्व की अवधारणा लूंगा एवं आत्म-नियंत्रण, आत्मालोचना व आत्म-समीक्षण से अपने मूल गुणों को ग्रहण करता हुआ संसार की आत्माओं में एकरूपता देखूंगा।

(३) मैं विज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ।

मुझे सोचना है कि मुझे किन पर श्रद्धा रखनी है और कौनसे सिद्धान्त अपनाने है?

मेरी दृष्टि लक्ष्याभिमुखी होते ही जान लेगी कि मैं सत्य श्रद्धा और श्रेष्ठ सिद्धान्तों से कितना दूर हूं? मैं सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म पर अविचल श्रद्धा रखूंगा, श्रावकत्व एवं साधुत्व के पालन में सत्सिद्धान्तों के आधार पर अपना समस्त आचरण ढालूंगा और ज्ञान व क्रिया के संयोग से निर्विकारी बनने में यत्नरत हो जाऊंगा।

(४) मैं सुज्ञ हूँ, संवेदनशील हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मानस, मेरी वाणी और मेरे कार्य तुच्छ भावों से ग्रस्त क्यों हैं?

अनुभूति के क्षणों में मुझे ज्ञात होगा कि जड़ग्रस्तता ने मेरी मूल महत्ता किस रूप में ढक दी है, मेरे पुरुषार्थ को कितना दबा दिया है और मेरे स्वरूप को कैसा विकृत बना दिया है? यही मेरी तुच्छता हीन-भावना का कारण है जिसे मैं तपाराधन से दूर करूंगा, मन, वाणी व कार्यों में लोकोपकार की महानता प्रकटाऊंगा और 'एगे आया' की दिव्य शोभा को साकार रूप दूंगा।

(५) मैं समदर्शी हूं, ज्योतिर्मय हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मन कहाँ-कहाँ घूमता है, वचन कैसा-कैसा निकलता है और काया किधर-किधर बहकती है?

अन्तर्ज्योति के जागरण से मुझे प्रतीति होगी कि अंधकार की परतों में पड़ा हुआ मेरा मन भौतिक सुख-सुविधाओं की ही प्राप्ति हेतु विषय-कषायों में उलझ कर कितना मानवताहीन,वचन कितना असत्य-अप्रिय तथा कर्म कितना द्विरूप-अधर्ममय हो गया है? मैं दृढ़ संकल्प के साथ मन, वचन एवं काया के योगों को सम्पूर्ण शुभता की ओर मोड़ दूंगा तथा भावना के धरातल पर समदर्शी बनने का प्रयास करूंगा।

(६) मैं पराक्रमी हूँ, पुरुषार्थी हूँ।

मुझे सोचना हैं कि मैं क्या कर रहा हूं और मुझे क्या करना चाहिये?

मेरा आत्मस्वरूप मूल रूप में सिद्धात्माओं जैसा ही है। मुझे देखना और परखना है कि यह मूल स्वभाव कितना विस्मृत हुआ है तथा विभाव कितना बढ़ गया है? अपने आन्तरिक स्वरूप एवं जागतिक वातावरण का दृष्टा बन कर मैं शुभ परिवर्तन का पराक्रम दिखाऊंगा, आत्म-शुद्धि का पुरुषार्थ प्रकट करूंगा एवं अहिंसा, संयम व तप रूप धर्म को धारण करके विश्व के समस्त प्राणियों के साथ समभाव बनाऊँगा तथा उनमें समभाव जगाऊंगा।

(७) मैं परम प्रतापी, सर्व शक्तिमान् हूं। मुझे सोचना है कि मैं बंधनों में क्यों बंधा हूं? मेरी मुक्ति का मार्ग किधर है?

अपनी अपार शक्ति से समीक्षण ध्यान में मुझे आत्म-साक्षात्कार होगा कि मैं अष्ट कर्मों के सारे बंधन कैसे तोड़ सकता हूं और मुक्ति के मार्ग पर वीतराग देवों की आज्ञा में रहता हुआ कितनी त्वरित गति से प्रगति कर सकता हूँ? मैं अपनी अनन्त शक्ति की अनुभूति लूंगा, उसे लोक-कल्याण की दृष्टि से सक्रिय बनाऊँगा तथा सर्व शक्तिमान् होने का उपक्रम करूँगा।

(८) मैं ज्ञानपुंज हूं, समत्त्व योगी हूं।

मुझे सोचना है कि मुझे अमिट शान्ति क्यों नहीं मिलती, अक्षय सुख क्यों नहीं प्राप्त होता?

ज्ञान के प्रकाश में मैं अनुभव करूंगा कि मेरा आत्म-समीक्षण एवं विश्व-कल्याण का चरण कितना पुष्ट और स्पष्ट हो गया है? तब मैं एकावधानता से सम्यक् दर्शन ज्ञान व चारित्र की आराधना करूंगा, गुणस्थान के सोपानों पर चढ़ता जाऊँगा और समत्त्व-योग के माध्यम से अमिट शान्ति व अक्षय सुख को प्राप्त कर लूंगा।

(९) मैं शुद्ध, बुद्ध निरंजन हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मूल स्वरूप क्या है और उसे मैं प्राप्त कैसे करूं।

शुद्ध स्वरूप के चिन्तन में मुझे प्रतिभासित होगा कि मैं दीर्घ, ह्रस्व, स्त्री, पुरुष या नपुंसक कहाँ हूं और वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के आकार वाला भी कहां हूँ? मैं तो अशरीरी, अरूपी, शाश्वत, अजर, अमर, अवेदी, असेदी-अलेशी आदि गुणों से सम्पन्न हूँ। इससे मैं गुणाधारित जीवन का निर्माण करूँगा, मनोरथ व नियम चिन्तन के साथ ज्ञानी व ध्यानी बनूंगा और अपने मूल स्वरूप को समाहित करने की दिशा में अग्रसर होऊंगा।

आगे के आध्यायों में इन्हीं नव-सूत्रों का विशद विवेचन किया गया है, इस दृष्टि से कि जब समीक्षण ध्यान का साधक आत्म-रमण की अवस्था में विचरण कर रहा हो तो वह इस विवेचन को एक बार पढ़े, कई बार पढ़े, बार-बार पढ़े और परिमार्जन वृति को जागृत करते हुए, आत्मानुभूति के सुखद क्षणों का आन्तरिक आनन्द ले। साधक इस विवेचन के साथ अपने अन्तःकरण को एकीभूत बना कर यथार्थ रूप से आत्मालोचना कर सके, आत्मज्ञान ले सके और

आत्म-पुरुषार्थ की दिशा में अपने चरण बढ़ा सके इस विचार से सारा विवेचन उत्तम पुरुष में दिया गया है। साधक उसे पढ़ते हुए एकात्मता का अनुभव करेगा और आत्म चिन्तन की आनन्द-धारा में अपने आपको तन्मय बना सकेगा।

नव-सूत्रों की विशेषता

इन नव सूत्रों का निरूपण यह ध्यान में रखकर किया गया है कि समीक्षण की ध्यान साधना सम्पूर्ण बन सके। आत्मस्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति से सम्बन्धित सभी विषयों को इन नव सूत्रों में समाहित कर लेने का यत्न किया गया है। एक प्रकार से जैन दर्शन की समूची सिद्धान्त-धारा का सार इन नव-सूत्रों में समावेश करने का ध्यान रखा गया है, क्योंकि जैन दर्शन प्रधानतः निवृत्ति मार्ग है और सांसारिकता से निवृत्ति में ही आत्मा का मोक्ष समाया हुआ है। संपूर्ण कर्मों की निवृति के लिये की जाने वाले सम्यक् प्रवृत्ति से ही मोक्ष की निस्पति अवाप्ति होती है।

निवृत्ति का दृष्टिकोण अकस्मात् भी कोई प्रभावकारी निमित्त पाकर उभर सकता है, किन्तु सामान्यतया इसे उभारने के लिये सबसे पहले वैचारिक परिवर्तन की आवश्यकता होती है। इसे परिवर्तन की संज्ञा इसलिये दी जा रही है कि इस जड़ संसार में रहते हुए, जड़ शरीर को धारण करते हुए तथा जड़ कर्मों से बंधे हुए होने के कारण मनुष्य के विचार सामान्यतः सांसारिक व्यवहार से ही सम्बद्ध होते हैं। वह इस विषय पर कम सोचता है कि जिन सांसारिक सुख सुविधाओं के पीछे वह भाग रहा है, वे उसे विकृत बनाती है, विशुद्ध नहीं। वह यह तो मुश्किल से ही सोचता है कि शुद्ध आत्मदृष्टि से यह शरीर भी उसका अपना नहीं है। वह तो शुद्ध रूप में केवल आत्मस्वरूपी है। अतः उसके वर्तमान विचारों में परिवर्तन आवश्यक है। यह आवश्यक है कि वह अपने आत्म-स्वरूप को मुख्यता दे तथा उसी को जांचने, परखने व सुधारने में अपनी प्राप्त शक्ति को नियोजित करे ताकि एक ओर वह अपने जीवन में उदात्त गुणों का विकास कर सके तो दूसरी ओर अपने श्रेष्ठ जीवन के माध्यम से अन्य प्राणियों के दुःखों को दूर करके तथा उन्हें भी अपनी वास्तविक उन्नति का मार्ग सुझा करके लोकोपकार में निजत्त्व को विसर्जित कर सके अतः पहले के विचार छूटे और स्वभाव के विचार आगे पकड़ें - यही समीक्षण ध्यान का प्रारंभिक लक्ष्य है।

यह विचार-परिवर्तन आसान नहीं है। सम्यक् श्रद्धा के जागृत होने पर ही मिथ्या ज्ञान, सम्यक् ज्ञान के रूप में रूपान्तरित होता है। अज्ञान के स्थान पर सम्यक् ज्ञान तो उपजे ही, किन्तु, भावना का गहरा पुट भी वहाँ लगे ताकि सम्यक् श्रद्धा भी जागृत हो, क्योंकि सम्यक् ज्ञान एवं श्रद्धा के सद्भाव में सम्यक् चारित्र का पुरुषार्थ दिखाने में फिर यह पुरुष पीछे नहीं रहेगा। चिन्तन की दृष्टि से आज के पुरुष में पुरुषार्थ का सत्संकल्प बल पकड़े—यही इन नव-सूत्रों का मूल लक्ष्य है।

इन नव सूत्रों की यथार्थ विशेषता तो समीक्षण ध्यान साधक ही इन्हें अपने गहन चिन्तन के विषय बनाकर जान सकेंगे किन्तु परिचयात्मक दृष्टि से यह कह सकते हैं कि जड़ चेतन संयोग के संदर्भ में संसार एवं आत्मा की गतिविधियों का अध्ययन करते हुए जड़-चेतन संघर्ष के जितने विन्दु हैं, वे इन नव सूत्रों में संकलित कर लिये गये हैं, ताकि यह चेतना अपनी जड़ग्रस्तता को बंधन रूप समझे तथा इस बंधन को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त करने का कठिन संकल्प ले। नव तत्त्वों की पृष्ठभूमि में चेतना-शक्ति इस रूप में भी अनुप्रेरित की गई है कि वह समता के सरल सद्भाव से न केवल अपने आत्मस्वरूप को ही ओतप्रोत बनाले, अपितु समता की ऐसी रसधारा प्रवाहित करे कि संसार की

सम्पूर्ण आत्माएं 'एगे आया' की दिव्य शोभा को साकार रूप दे दे। ये नव सूत्र गूढ़ चिन्तन के मोती हैं और प्रत्येक भव्य आत्मा को चिन्तन में निमज्जित बनाकर नये-नये मोती खोज लाने की भी ये नव तत्त्व अवश्य ही प्रेरणा देते हैं।

यह एक सत्य है कि वीतराग देवों ने आत्म विकास की महायात्रा के सम्बन्ध में स्वानुभव के साथ सम्पूर्ण ज्ञान पाकर विधि विधान प्रदान किया है कि कैसे यह महायात्रा मन, वचन एवं काया के सुव्यवस्थित योग-व्यापार के साथ संचालित की जाय तथा कैसे इस महायात्रा को संयम एवं तप की कठिन आराधना से सफल, सम्पूर्ण और सिद्ध बनाई जाय? फिर भी वह गूढ़ ज्ञान आज के साधक के मन-मानस में भी स्पष्ट होना चाहिये। इन नव सूत्रों के निरूपण में यह लक्ष्य भी सामने रखा गया है कि वीतराग देवों का ज्ञान ही सरल शैली में साधक आत्मसात् कर ले।

नव-सूत्रों के नौ अध्यायों के पश्चात् 'समता की जय यात्रा' के शीर्षक से सम्पूर्ण विवेचन का उपसंहार किया गया है कि आत्म-समीक्षण की पूर्णाहुति समता की सदा एवं सर्वदा जय यात्रा में ही प्रकट होनी चाहिए?

अध्याय दो

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : १ :

मैं चैतन्य देव हूँ।

मुझे सोचना है कि—

मैं कहाँ से आया हूँ, किसलिये आया हूँ?

चार गति चौरासी लाख जीव योनियों में भटकते हुए मुझे समझना है कि दुर्लभ मानव जीवन आदि किस पुण्योदय से प्राप्त हुए हैं तथा जड़-चेतन संयोग, सुख-दुःखानुभव एवं संसार के संसरण का क्या रूपक है? यह समझकर मैं मूर्च्छा-ममत्व को हटाऊँगा, राग-द्वेष और प्रमाद को मिटाऊँगा एवं अपने जीवन को सम्यक्, निर्णायक, समतामय व मंगलमय बनाऊँगा।

पहला सूत्र

मैं चैतन्य देव हूँ। अनन्त चेतना शक्ति का स्वामी हूं। क्योंकि मेरी चेतना का स्रोत कभी भी विलुप्त नहीं होता, निरन्तर प्रवहमान रहता है।

प्रवाह वैसा ही जैसे कि एक पहाड़ी झरने का होता है। झरने का जल बराबर बहता रहता है—कभी बड़े वेग से तो कभी धीमी गति से। समतल भूमि आ जाय तो उसका विस्तार दिखाई देता है और संकड़ा चट्टानों भरा मार्ग हो तो उस झरने की जल-धारा पतली ही नही पड़ जाती, बल्कि कभी-कभी वह चट्टानों के बीच में अदृश्य भी हो जाती है। अपनी गति तथा विस्तार की न्यूनाधिकता के बाद भी वह जल-धारा कभी भी अस्तित्वहीन नहीं होती। वह निरन्तर प्रवाहित होती रहती है और कभी न कभी नदी का रूप धारण करती ही है। कई झरने अथवा नदियाँ अपने मन्द प्रवाह के कारण भूमिगत हो जाती हैं यह दूसरी बात है। किन्तु अधिकांशतः ऐसी नदियाँ अपने प्रवाह की निरन्तरता बनाये रखकर एक न एक दिन महासागर में एकीभूत हो ही जाती हैं।

मेरी चेतना भी विकास की महायात्रा में निरन्तर प्रवाहित हो रही है और उस प्रवाह का सद्भाव बना हुआ है। कारण, प्रवहमानता मेरी चेतना का मूल लक्षण है। यदि प्रवाह ही समाप्त हो जाय तो चेतना चेतना ही नहीं रह जायेगी। प्रवाह न रहे तो झरने को या नदी को झरना या नदी ही कौन कहेगा? सतत प्रवाह ही के कारण वह जल-धारा झरने अथवा नदी के रूप में मानी जाती है। ठीक ऐसा ही चेतना शक्ति का प्रवाह होता है। मेरी चेतना सतत रूप से प्रवाहित होती है, इसीलिये मैं जीव हूँ, आत्मा हूँ। यदि मूल में चेतना का अस्तित्व ही न रहे तो मैं जीवात्मा ही नहीं कहलाऊँगा।

मैं सतत प्रवहमान चेतना शक्ति का स्वामी हूँ इसी कारण मैं चैतन्य देव हूँ। यह चेतना ही है जिसके माध्यम से मुझे आत्मानुभूति होती है—नित नई जागृति प्रस्फुटित होती है। मैं सचेतन हूँ, प्राणधारी हूँ तभी तो प्राणी हूँ। जीव, आत्मा अथवा प्राणी में चैतन्य का सद्भाव एक अनिवार्य शर्त है। इसके अभाव में पदार्थ होंगे, प्राणी नहीं होंगे। पदार्थ होते हैं और सदैव जड़ ही रहते हैं। वे कभी भी प्राणधारी नहीं बनते। इसी प्रकार प्राणधारी कभी भी जड़ पदार्थ नहीं बनते।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि मैं चैतन्य देव हूँ। मूल रूप में जो चैतन्य स्वरूप मेरी आत्मा का है, वैसा ही स्वरूप इस संसार की प्रत्येक आत्मा का है—छोटे से छोटे तथा बड़े से बड़े जीवधारी आत्मा का है। यही नहीं, मूल रूप में मेरा आत्म-स्वरूप ही सिद्धों, अरिहन्तों तथा महात्माओं के आत्म-स्वरूप में प्रतिबिम्बित होता है। यह दूसरी बात है कि सभी आत्माएँ विकास के अनेकानेक स्तरों पर प्रतिष्ठित होती हैं और जो आत्माएँ विकास की पूर्णता को साध लेती हैं, वे सिद्धात्माएँ बन जाती हैं।

तभी तो मैं मानता हूँ कि विकास के किसी भी स्तर पर गति कर रही मेरी आत्मा की चैतन्य धारा में भी सिद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेने की क्षमता विद्यमान है। पहाड़ी झरने के प्रवाह की

तरह ही मेरी चैतन्य धारा भी कभी सवल हो जाती है तो कभी दुर्वल बन जाती है। कभी-कभी तो ज्ञान दृष्टि से देखने वालों को मेरी पतनावस्था पर ऐसी अनुभूति होने लगती है कि जैसे मेरी चेतना एकदम विलुप्त हो गई हो, किन्तु वास्तव में ऐसा कभी होता नहीं। भाव-सरणियों के उत्थान के समय ऐसे क्षण भी प्रदीप्त हो उठते हैं जब मेरी चेतना शक्ति का प्रवाह अपने विकास की महायात्रा में अग्रगामी ही नहीं बन जाता है, अपितु अन्य कई जीवात्माओं को भी अपने प्रवाह का सम्बल प्रदान करके उन्हें भी प्रगतिशील बना देता है।

आह्वान अपनी चेतना का

मेरी चेतना शक्ति के प्रवाह की ऐसी गति, विगति अथवा प्रगति का क्रम क्या मेरे भीतर में भी निरन्तर चलता हुआ मेरे अनुभव में नहीं आता है? क्या भावनाओं की ऊर्जा कभी मेरे अन्तरतम को भी आन्दोलित नहीं बना देती है? मैं ऐसे कुसमय का भी अनुभव करता हूँ, जब मैं शून्य-सा हो जाता हूँ—हताशा जैसे मेरी जीवनी शक्ति को निगल-सी जाती है। तो इस प्रकार कभी मन्द तो कभी तीव्र कभी निम्न तो कभी ऊर्ध्व —मेरी चेतना का प्रवाह अटूट रूप से चलता ही रहता है। मेरा अमिट विश्वास है कि यह प्रवाह कभी न कभी नदी का रूप भी ग्रहण करेगा और एक न एक दिन अनन्त चेतना के महासागर सिद्ध स्वरूप में एकीभूत हो जायगा।

किन्तु इस प्रक्रिया की सफलता के लिये मुझे अपनी चेतना को आह्वान करना होगा —उसे सुषुप्ति से जगाकर सुजागृतिमय और अनुभूतिमय बनानी होगी। यही विकास की महायात्रा का शुभारंभ होगा।

जब मैं अपने इस मानव जीवन में गर्भावस्था से बाहर दुनिया के उजाले में आया, नाना भांति के रंग मेरी आंखों के आगे तैरने लगे। प्रकृति के विशाल वक्ष पर खिलते मैं उन रंगों को देखता, पल-पल फूटती हुई विविध ध्वनियों को मैं सुनता, भांति-भांति के स्वादों का मैं आस्वादन करता और नाना प्रकार की गंधों को मैं ग्रहण करता तो लगता है कि जैसे मेरे बाल्यकाल की संज्ञा बड़ी पैनी थी। बहुत कुछ जान लेने की उस में एक प्रखर उत्सुकता थी। बाहर के दृश्य भीतर में उभरते रहते थे। इन्द्रियों और मन की सक्रियता बढ़ती जाती थी। संसार का यह फैला हुआ क्षेत्र एवं आकाश का अपार अन्तराल मेरी चेतना को जागृत बनाते थे कि यहाँ जानने को बहुत है और उस ज्ञान को भीतर में उतार कर प्रकाश की किरणें खोज लेने की असीम गहराइयाँ भी यहाँ मौजूद हैं। तथ्यात्मक जगत् का ज्ञान एक सीढ़ी बनी तो उससे उपजने वाली भावनाओं ने मेरी चेतना को जो नया मोड़ दिया, वह मोड़ मुझे ऊपर की सीढ़ियों पर चढ़ते रहने की प्रेरणा देने लगा।

मैं देखता हूँ कि मुझे मेरे शारीरिक निर्वाह के लिये अमुक पदार्थों की आवश्यकता होती है जिन्हें मैं प्राप्त करने के लिये तत्पर बनता हूँ। किन्तु यह भी मैं देखता हूँ कि मेरे जैसे अन्य मनुष्यों तथा प्राणियों को भी अपने-अपने शारीरिक निर्वाह के लिये वैसे ही पदार्थों की आवश्यकता होती है। और जब उन पदार्थों को प्राप्त करने के लिये मनुष्य-मनुष्य के बीच में विचित्र अवस्थाओं को मैं देखता हूं तो कई प्रकार के दृश्य सामने आते हैं। कई बार और कई स्थानों पर मनुष्य समूह के पारस्परिक सहयोग के दर्शन होते हैं कि एक दूसरे को आवश्यक पदार्थों की पूर्ति में वह सहायता कर रहा है तो अनेक बार और अनेक स्थानों पर इस सम्बन्ध में हृदयहीन दृश्य भी दिखाई देते हैं। शक्तिशाली मनुष्य अपने से दुर्वल लोगों का दमन करते हैं तथा उनसे आवश्यक पदार्थ छीन कर

अपने पास जमा कर लेते हैं अथवा उन्हें आवश्यक पदार्थ प्राप्त ही नहीं करने देते हैं। इस तरह सामाजिक अन्याय का उदय होता है।

मैं जब एक सामाजिक प्राणी के नाते अन्याय तथा अत्याचार की इन बनती बिगड़ती झलकियों को देखता हूं तो उस तथ्यात्मकता के साथ-साथ अपने भीतर में एक प्रकार की भावात्मकता की अनुभूति भी महसूस करता हूँ। विचार उठता है कि ऐसी टकराहट और ऐसा संघर्ष क्यों? क्यों कोई जरूरत से भी बहुत ज्यादा पा जाता है और क्यों किसी को उसकी जरूरत का अल्पांश भी नहीं मिलता? भावनाओं के ऐसे बिन्दु पर कभी-कभी मेरा मन कांप उठता है, सहज कारुणिकता जाग जाती है और मैं अपना सब कुछ उन अभावग्रस्त लोगों को दे देने के लिये तत्पर हो जाता हूँ। मेरी चेतना शक्ति तब अपनी जागृति का एक नया ही क्षण अनुभव करती है।

मेरी चेतना शक्ति की ऐसी अभिव्यक्ति उन क्षणों में मुझे अपना एक अमूल्य धन लगने लगता है। मेरी अभिलाषा जागती है कि मैं अपने पास-पड़ौस का रोना-हंसना सुनूं, उन लोगों के दुःख-सुख को जानूं और उनके रोने के दुःख को कम, किंवा समाप्त कर सकूं, ऐसे प्रयास प्रारंभ करूं। यह अभिलाषा जितनी बलवती होती है, मेरा आन्तरिक आनन्द बढ़ता है और ऐसा महसूस होता है कि जैसे मेरे अपने भीतर में प्रकाश की चमचमाती रेखाएँ खिंच रही हों। तब मुझे समझ में आता है कि मेरी चेतना जाग रही है, आगे से आगे प्रवाहित हो रही है और उसके उस जागरण तथा प्रवाह में मुझे प्रतीत होता है कि 'मैं' जाग रहा हूँ और बढ़ रहा हूँ। मेरी चेतना का आह्वान तब अग्रगामिता के नये आयाम ग्रहण करता है।

'मैं' की आनन्ददायी अनुभूति

तथ्यों और भावनाओं के परिप्रेक्ष्य में मेरा यह 'मैं' जो जागता है, वह मुझे आनन्ददायी अनुभूति प्रदान करता है। वह आनन्द बाहर का सुखाभ्यास नहीं होता, बल्कि आन्तरिकता की गहराई से फूटने वाला सहज आत्मिक आह्लाद होता है। आनन्दानुभूति की उस वेला में मेरा 'मैं' उद्दंड या उद्धत नहीं होता, अपितु अपने मूल स्वरूप को पा लेने की अभिलाषा में अथक रूप से गतिशील होना चाहता है। लगता है कि उस समय मैं अपनी चेतना का सार्थक रीति से आह्वान कर रहा हूँ और मेरी वह चेतना 'मैं' के आदेश का अनुसरण करती हुई ऊर्ध्वगामी बनती जा रही है। तब मुझे अपनी आध्यात्मिक प्रगति का सुख अनुभव होने लगता है।

मुझे अपनी आत्मिक विगति का कटु अनुभव भी है। मैंने अपनी बढ़ती हुई जानकारी से संसार के विविध पदार्थों का ज्ञान किया तब मेरा विवेक अपनी इन्द्रियों तथा अपने मन पर नियंत्रण न रख सका। उस समय सुखदायी पदार्थों को पा लेने की अनन्त इच्छाएँ भीतर ही भीतर घुमड़ उठी कि मैं ही उनका उपयोग करूं। फिर उन इच्छाओं की पूर्ति की मृगतृष्णा ने मुझे कष्टों के मरुस्थलों में भटका दिया। मैं भ्रमजाल में बंधा भटकता रहा, तनाव को बढ़ाता रहा और अपने चेतना के प्रवाह को मन्द बनाता रहा। आकाश के समान अनन्त इच्छाओं का भार ढोते हुए कई बार बाह्य आघातों ने मेरे भीतर को आहत किया है और मेरे 'मैं' को बाहर के सारे खोखलेपन पर पैनी नजर डालने को मजबूर भी किया है। तब वे क्षण भी मेरी चेतना की जागृति के सार्थक क्षण सिद्ध हुए हैं क्योंकि उन्हीं क्षणों में मरुस्थल में भटकती हुई मेरी आत्मा को दो बूंद अमृत मिला है जिसका रसास्वादन कर मेरे 'मैं' की अनुभूति परिपुष्ट हुई है।

उसी परिपुष्ट अनुभूति एवं नवागत आनन्द को लेकर मेरे मन में तब महत्त्वाकांक्षाओं का ज्वार भी जागा है। अपने ही स्वार्थों को पूरा करने हेतु दूसरों को कुचल डालने की दुष्कल्पनाएँ भी मैंने की थी तथा सांसारिक 'ऊँचापन' पाने की घृणित लालसाओं ने मेरे मन, वचन एवं कर्म को भी भटकाव की राह पर धकेला था, किन्तु यह मेरी चेतना के आह्वान तथा 'मैं' पन की आनन्दानुभूति का ही सुफल था कि मैं उन अंधेरी गलियों से कुछ बाहर निकल सका, जहाँ से मुझे थोड़ा खुला आकाश और खुली रोशनी दिखाई देने लगी। तब मैं अंधकार से ज्योति की ओर बढ़ने लगा।

इस प्रकार मैं अपने वर्तमान जीवन में ही सोया हूँ, गिरा हूँ, भटका हूँ। तब मेरी चेतना का प्रवाह अदृश्य भले हो गया हो किन्तु विलुप्त कभी नहीं हुआ। तभी तो वह पुनः पुनः प्रकट होता रहा है। मेरी चेतना पुनः पुनः जागती रही है और अपनी निरन्तरता का आभास देती रही है। सतत रूप से सतर्क रखने वाली ऐसी निरन्तर जागृति ही मुझे अपने सांसारिक स्वार्थों में फंसने से दूर खींचती रही है और सबके हितों को संवारने की नवानन्दमय प्रेरणा देती रही है। इसी जागृति ने मेरे अन्तःकरण को सद्विवेक के ऐसे सांचे में ढाला है कि वह सबके हित में ही अपने हित को जांचने-परखने लगा है।

यह सच है कि यदि ऐसी सर्वप्राणहिताकांक्षा मेरे मन में बलवती बन जाय एवं क्रियाशील हो जाय तो मेरा अटल विश्वास है कि मेरी आत्म विकास की लम्बी यात्रा भाव-सरणियों में ऊपर से ऊपर उत्थान पाती हुई अल्प समय में भी सम्पन्नता एवं पूर्णता को प्राप्त हो सकती है।

यह भटकाव अनादिकालीन है

वर्तमान जीवन में मेरी आत्मा जो सांसारिकता में इधर उधर भटकती रहती है, वह भटकाव मात्र इसी जीवन का नहीं है, अपितु अनादिकालीन है।

यह 'मैं' वह मात्र ही नहीं हूँ, जो अभी बाहर से दिखाई दे रहा हूँ। बाह्य दृष्टि से वह तो मेरा वर्तमान शरीर मात्र है। अनादिकाल से मेरी आत्मा इस संसार में अनेकानेक शरीर धारण करती रही है एवं भव-भवान्तर में भ्रमण करती रही है। यह मानव शरीर मेरी आत्मा का वर्तमान निवास है। यह शरीर-निवास ही मेरी आत्मा की वास्तविकता का प्रतीक है।

आत्म-विकास का चरम स्थल मोक्ष होता है अतः जब तक मेरी आत्मा अपने चरम को नहीं पा लेती है तब तक आगे भी संसार में परिभ्रमण करती रहेगी। संसार का यह परिभ्रमण ही मेरी आत्मा का भटकाव है जो अनादिकाल से चल रहा है और मोक्ष प्राप्ति तक चलता रहेगा। जिस दिन मेरी आत्मा अपने समस्त कर्म बंधनों को सम्पूर्णतः विनष्ट कर लेगी और अपनी चेतना के प्रवाह को महासागर में एकीभूति करने की दिशा में तीव्र गति से मोड़ देगी, तब वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन जायगी। फिर न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी। न भटकाव रहेगा, न जन्म-जन्मान्तर और न संसार-परिभ्रमण। मेरी आत्मा तब अनन्त ज्योतिर्मय रूप से अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य एवं सुख में अजर-अमर हो जायगी।

इस चरम लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में अग्रगामी बनने के लिये मुझे इस सांसारिक भटकाव को गहराई से समझना होगा ताकि कारणों के सम्यक् ज्ञान के द्वारा उनका निदान कर मैं अपना समाधान पा सकूं।

अनादिकाल से अन्य सभी सांसारिक आत्माओं की तरह मेरी आत्मा भी संसार की चार गतियों एवं चौरासी लाख योनियों में चक्कर लगाती हुई भटक रही है। मैंने इन सब गतियों तथा योनियों में बारम्बार जन्म लिये हैं, वहाँ की यातनाएँ तथा मूर्छाएं भोगी हैं तथा कई बार चेतना जागृति के फलस्वरूप आत्म विकास की ऊँचाइयाँ भी साधी हैं।

'मैं' ने यानि कि मेरी आत्मा ने वर्तमान जीवन से पहले नारकीय जीवन की लोमहर्षक यातनाएँ झेली हैं, तिर्यंच जीवन के क्रूर कष्टों को सहा है तो देवलोकों के ऐश्वर्यमय जीवन के आनन्द भी उठाये हैं। किन्तु मैं अपने लिये सन्तोष का विषय यही मानता हूँ कि इस ऊँचे-नीचे परिभ्रमण के दौरान मेरी चेतना का दीपक बराबर जलता रहा जो घटाटोप अंधकार के समय में भी मुझे रोशनी की राह दिखाता रहा।

मैं अपनी स्मृति को पीछे लौटाता हूं तो देखता हूं कि मैंने बहतु प्राणियों की हिंसा हो इस प्रकार तीव्र परिणामों से कषायपूर्वक महारंभ की प्रवृत्ति की, वस्तुओं पर अत्यन्त मूर्छा रखकर महापरिग्रह सेवन किया, पंचेन्द्रिय प्राणियों की हिंसा करते हुए पंचेन्द्रिय वध किया तथा मांसाहार करने में रस लिया, जिसके कुफल में मुझे नरकायु का बंध हुआ। ऐसा बंध कई बार हुआ और मैंने धम्मा, बंशा, सीला, अंजना, रिट्ठा मघा और माघवई—इन सातों नरकों की भीषण यातनाएँ सहन की।

मेरा रोम रोम आज भी खड़ा हो जाता है जब मुझे अपने अज्ञानतायुक्त नारकीय जीवन में मिले अपार कष्ट याद आते हैं। हम नारकीयों का वैक्रिय शरीर होता था जो भीषण प्रहारों का दुःख तो महसूस करता था किन्तु फिर से यथावत् हो जाता था। अधिकांशतः हम नारकी के जीव ही भयंकर रूप बना कर एक दूसरे को त्रास देते थे—गदा, मुद्गर वगैरह शस्त्र बना कर एक दूसरे पर आक्रमण करते थे। बिच्छू, सांप आदि बन कर एक दूसरे को काटते थे और नुकीले कीड़े बनकर एक दूसरे के शरीर में घुस कर उसे क्षत-विक्षत कर डालते थे। अत्यन्त ऊष्ण अथवा अत्यन्त शीत होने के कारण क्षेत्रजन्य वेदना अलग होती थी तो पहली तीन नरकों में परमाधार्मिक देवता भी कठिन यातनाएँ देते थे।

नारकीय यातनाओं का वर्णन करते हुए मेरी वाचा में प्रकम्पन पैदा होता है। क्षेत्रजन्य ऊष्णता एवं शीतलता की वेदना क्रमशः एक से आगे की नरकों में तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम होती जाती थी। मध्य लोक में ग्रीष्म ऋतु में मध्याह्न के समय जब आकाश में कोई बादल न हो, वायु बिल्कुल बन्द हो और सूर्य प्रचंड रूप से तप रहा हो, उस समय पित्त प्रकृति वाला व्यक्ति जैसी ऊष्ण वेदना का अनुभव करता है, ऊष्ण वेदना वाले नरकों में उससे भी अनन्तगुणी वेदना होती थी उस वेदना की महसूसगिरी यह है कि अगर मुझे नरक से निकाल कर मर्त्यलोक में बड़ी तेजी से जलते हुए खैर की लकड़ी के अंगारों में डाल दिया जाता तो मैं शीतल जल से स्नान करने के समान अत्यन्त ही सुख का अनुभव करता और उन अंगारों पर मुझे नींद भी आ जाती। इसी प्रकार शीत के प्रकोप की महसूसगिरी भी ऐसी थी कि जैसे मध्य लोक में पौष या माघ की मध्यरात्रि में आकाश के मेघशून्य होने पर जिस समय शरीर को बुरी तरह से कम्पायमान करने वाली शीत वायु चल रही हो, हिमालय गिरि के बर्फीले शिखर पर बैठा हुआ अग्नि, मकान और वस्त्रादि शीत निवारण के सभी साधनों से हीन व्यक्ति जैसी भीषण शीत वेदना का अनुभव करता है उससे भी

अनन्तगुणी वेदना शीतप्रधान नरकों में होती थी। उस वेदना का घनत्व यह है कि यदि वैसी नरक के जीव को उपरोक्त परिस्थितियों में हिमालय के बर्फीले शिखर पर खड़ा कर दिया जाय तो उसे सुख मिले तथा वहाँ उसे चैन की नींद भी आ जाय। मैंने इनके अलावा भूख, प्यास, खुजली, ज्वर, दाह, भय, शोक आदि के ऐसे दारुण दुःख भोगे हैं कि जिनकी याद मात्र से सिहरन फैल जाती है। मुझे याद है कि क्षुधा इतनी सताती जो जैसे संसार के सारे पदार्थ खा लेने के बाद भी शान्त न हो। प्यास के मारे कंठ, ओष्ठ, तालु और जीभ वगैरह हर वक्त सूखे ही रहते और मन करता कि सभी समुद्रों का सारा पानी भी पी जाऊं। खुजली छुरी से खुजलाने पर भी नहीं मिटती। उस समय मुझे प्राप्त ज्ञान भी मेरे घोर दुःख का ही कारण बनता क्योंकि सभी दिशाओं से आते हुए दुःखों के कारण अग्रिम रूप से ही जान लेने से मारे भय के कंपकंपी छूटती रहती थी।

परमाधार्मिक देवों द्वारा दी गई यातनाएँ भी बड़ी विचित्र होती थीं। कभी वे तपा हुआ शीशा पिलाते थे तो कभी अंगारों से लाल बनी लौहमय स्त्री से आलिंगन करवाते थे। कभी कूट शाल्मली वृक्ष के नीचे बिठा देते जिससे गिरने वाले तलवार जैसे पत्ते मेरे अंग-अंग को छेद डालते। हमारे शरीर लोहे के हथौड़ों से इस तरह कूटे जाते थे कि उस की एक बार तो लुगदी-सी बन जाती थी। वसोले से शरीर छीले जाते थे। वे देव हम नारकीयों को भाले में उछाल-उछाल कर पिरोते थे, भाड़ में भूनते थे, कोल्हू में पेलते थे, करौती से चीरते थे, घोर तपी हुई बालू पर फैंक देते थे, वैतरणी नदी में डुबो देते थे और इसी तरह की अनेकानेक यातनाएँ देते थे।

मैं अपने नारकीय जीवन का एक अनुभव और बताना चाहता हूँ। नरक के जीवों में भी दोनों प्रकार के जीव होते हैं—सम्यक् दृष्टि एवं मिथ्या दृष्टि। सम्यक् दृष्टि जीव दूसरों द्वारा दी जाने वाली वेदना का अनुभव करते हुए सोचते थे कि हमने पिछले जन्मों में घोर पाप कर्म किये थे जिनका कुफल हम भोग रहे हैं, अतः वे उन यातनाओं को सम्यक् प्रकार से सहन करते थे तथा अपनी तरफ से दूसरे जीवों को कष्ट पहुँचाने का प्रयत्न नहीं करते थे। इस रूप में शान्ति से पूर्व कर्म-योग के साथ वे नये कर्मबंध से बचना चाहते थे। दूसरी ओर मिथ्या-दृष्टि जीव क्रोधादि कषायों से अभिभूत होकर अपने पूर्व कर्मबंधन को न समझते हुए शिकारी कुत्तों की तरह आपस में उग्र हिंसक रूप से लड़ते रहते थे तथा तरह-तरह की घातक विक्रियाएँ करते रहते थे। इस तरह नारकी का जीवन अत्यन्त दुःखप्रद अवस्थाओं से गुजरा! जन्म जन्मान्तरों के इसी क्रम में तिर्यंच गति के क्रूर कष्टों का लेखा-जोखा भी मुझे भुगतना पड़ा है। तिर्यंचगति के आयुबंध के कारण थे कि मैंने अज्ञानता से द्विमुखी मायावी आचरण रखा, ढोंग रचकर दूसरों को ठगने की चेष्टाएँ कीं, झूठ बोलने में सिद्धहस्तता पाई और झूठे तोल व माप से सबको धोखा दिया। तिर्यंच गति में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति की स्थावर जीव योनियों से लेकर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय की जलचर, स्थलचर, नभचर व उरपरिसर्य तथा भुजपरिसर्य योनियों में भी मैंने जन्म लिये तथा विचित्र परिस्थितियों के अनुभव किये। इन जन्मों में भी मैंने अतीव क्रूर कष्ट सहे एवं अचिंत्य वेदनाएँ भोगीं।

संसार परिभ्रमण के चक्र में ही 'मैं' जब-जब पाप पंक से न्यूनाधिक अंशों में उबरता और सत्कृत्यों से पुण्यार्जन करता, तब मनुष्य गति में भी मेरा परिभ्रमण कई बार हुआ तो कई बार देवलोकों के विलासमय आनन्द-साधनों का भी उपभोग किया। यह स्वर्ग-सुख मुझे प्राप्त हुए क्योंकि

मैंने सराग संयम का पालन किया, देश-विरति श्रावक धर्म की साधना की, अनिच्छापूर्वक कर्मों की निर्जरा की और अविवेकपूर्ण बालभाव से कायाक्लेश आदि का तप आराधा। मैंने जब देव-जन्म पाया तो मेरा रूप स्वरूप सुदर्शनीय था। मेरी पुष्पमाला कभी नहीं कुम्हलाती थी, नेत्रों के पलक नहीं गिरते थे, देह सदा निर्मल रहती थी और वह भूमि से चार अंगुल ऊपर उठी हुई चलती थी। ये लक्षण मेरे देवत्व के पहचान रूप थे।

देवलोकों का समूचा दिव्य वातावरण मेरे लिये काम भोगों का इतना उद्दीपक था कि मैं इच्छा करते हुए भी मनुष्य लोक में नहीं जा पाता था। मर्त्यलोक की अमनोज्ञता भी मुझे जाने से रोकती थी। उत्पत्ति के तत्काल बाद दिव्य काम भोगों में आसक्ति न करते हुए अपने आचार्य, उपाध्याय आदि को वन्दन करने, ज्ञानियों व तपस्वियों के दर्शन करने अथवा अपने निकट सम्बन्धियों को अपनी नव प्राप्त ऋद्धि-सिद्धि दिखाने के निमित्त से मैं कई बार देवलोक से मनुष्य लोक में पहुँचा भी हूं किन्तु अधिक बार देवलोकों के दिव्य काम भोगों में ही रमता रहा। इस प्रकार देवलोकों के सुखोपभोगों का मैंने कई बार रसास्वादन किया।

किन्तु देव रूप में एक तथ्य मेरे लिये सदैव विचारणीय रहा कि उस जीवन में आत्मविकास की व्रतनिष्ठ कोई भी क्रिया आचरित नहीं की जा सकती थी। केवल शुभ भावनाएँ भायी जा सकती थी पर त्याग-प्रत्याख्यान के नाम पर शून्य ही रहता था। मैं भी इस शून्य का अनुभव करते हुए मनुष्य लोक में उत्पन्न होने की कामना किया करता था।

आज मुझे जो यह मनुष्य जीवन प्राप्त हुआ है उसके लिये मैंने पहले अपनी प्रकृति को भद्र बनाई थी, स्वभाव को विनय से भरा था, दया और अनुकम्पा के परिणामों को उच्चता दी थी एवं मत्सर, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों से मुक्त रहा था। फलस्वरूप यह मनुष्य जन्म मिला —ऐसा दुर्लभ मनुष्य जन्म जो आत्म विकास की उच्चतम साधना का एक मात्र क्षेत्र है। संसार परिभ्रमण को घटाने और समाप्त करने का सफल पुरुषार्थ मैं जानता हूँ कि मेरे इसी जन्म में संभव है।

मुझे अपने गुरुजनों तथा आगमों से ज्ञान मिला है कि मनुष्य जन्म को शास्त्र श्रवण, सुश्रद्धा तथा शुभ पराक्रम के साथ आत्म विकास का अवलम्बन बनाया जाना चाहिये। आज मनुष्य तन में निवास करती हुई मेरी आत्मा दुर्लभ प्राप्तियों के सदुपयोग में प्रयत्नरत बने एवं बनी रहे इस ओर मैं पूर्ण रूप से सचेष्ट बन जाना चाहता हूँ ताकि मेरे 'मैं' का स्वरूप विकास पाकर निरन्तर उज्ज्वलता की दिशा में गतिशील बन सके।

यह जन्म-जन्मान्तर का क्रम जैसे संसार परिभ्रमण की न टूटने वाली शृंखला है, जिसे तोड़ देने के पक्के उपाय करने की क्षमता मुझे इस मनुष्य जीवन में प्राप्त है और जो कठिन लक्ष्य शक्य होता है उसे पाने के लिये कठोर साधना तो आवश्यक होगी ही।

आखिर यह संसार है क्या ?

अनादिकाल से जहाँ मेरी आत्मा निरन्तर परिभ्रमण करती हुई आ रही है, इस मनुष्य जन्म में प्राप्त अपने इन्द्रिय तथा मन के विकास के परिप्रेक्ष्य में मेरे लिये यह जानना नितान्त आवश्यक होगा कि आखिर यह संसार है क्या ? इसका क्या स्वरूप है ? इसके प्रांगण में कौन-कौन से तत्त्व संचरण करते हैं और वे अपना क्या प्रभाव छोड़ते हैं ? तभी यह जाना जा सकेगा कि संसार में

जारी अपनी आत्मा के इस परिभ्रमण को समाप्त कर देने के लक्ष्य को सामने रख कर मैं इस जीवन में क्या-क्या करूं ?

अनेकानेक भव-भवान्तरों के प्रत्यक्ष अनुभव से मेरी चैतन्य शक्ति ने संसार के वास्तविक स्वरूप को जाना है तथा अनेक ज्ञानी आत्माओं के कथन से उसे पहिचाना भी है। किन्तु यह ज्ञान और पहिचान कभी सजग भी रही तो कभी विस्मृति के गर्त में डूबती भी रही। अपने विकास की पूर्णता पर न पहुँच पाने तक चेतना के साथ ऐसा ही परिवर्तन होता रहता है और यही वस्तुतः सांसारिकता है।

द्रव्य संसार (लोक) का स्वरूप क्या ? छोटी-सी परिभाषा है द्रव्यों का समूह रूप है। फिर प्रश्न होगा कि द्रव्य क्या ? जो गुण और पर्याय पर आधारित हो वह द्रव्य। गुणपर्यायवद् द्रव्यम्—तत्त्वार्थ सूत्र ५/३७। गुण जो सदा एक सा रहे तथा पर्याय वह जो सदा बदलती रहे। यों द्रव्य छः होते हैं कितु मुख्य हैं जीव और अजीव। अजीव में शेष पांच द्रव्यों का समावेश हो जाता है। जीव का दूसरा नाम आत्मा है और आत्मा के सिवाय सभी अजीव हैं।

जैसे मैं हूँ। यह मैं जो हूँ, वह आत्मा है किन्तु मेरी आत्मा मुक्त नहीं है, शरीरधारी है। अतः यह शरीर जो है, वह जड़ पुद्‌गलों से निर्मित है। इस प्रकार मेरे वर्तमान जीवन का अस्तित्व है मेरी आत्मा एवं मेरे शरीर के संयोग से है। यह आत्मा एवं शरीर का संयोग ही संसार है। इसके सिवाय भी जितनी दृश्यावलियाँ हैं, वे सब जड़ रूप हैं। यों कह सकते हैं कि इन चर्मचक्षुओं से जो कुछ भी दिखाई देता है, वे सब जड़ पदार्थ हैं। मुख्यतः आत्माओं एवं शरीरों का संयोग ही संसार की सारी हलचलों का मूल है। इन सारी हलचलों से संसरित होता हुआ ही यह संसार है।

अतः मेरी आत्मा और मेरी देह का संयोग ही मेरा संसार है। दोनों के संयुक्त होने से सम्पूर्ण क्रियाएं संचालित होती हैं, इन्हीं क्रियाओं की शुभता एवं अशुभता के आधार पर पुण्य एवं पाप कर्मों का बंधन होता है तथा इसी कर्मबंधन के फलस्वरूप जन्म-मरण का क्रम चलता है। मैं इसी सांसारिकता के चक्र में भव-भवान्तर में भ्रमण कर रहा हूँ तथा इसी प्रकार समस्त संसारी जीव भी संसार-परिभ्रमण कर रहे हैं। जब समग्र कर्म-बंधनों को समाप्त कर लेने पर मेरी आत्मा सूक्ष्म स्थूल देह के बंधन से मुक्त हो जायगी तब वह सिद्ध हो जायेगी और सदा-सदा के लिये सिद्ध ही रहेगी। वह पुनः कभी भी संसार में अवतरित नहीं होगी। आत्मा का अपने मुक्त एवं शुद्ध स्वरूप में पहुँच जाना ही उसका मोक्ष होता है। आत्मा एवं शरीर संयुक्त हैं तब तक ही संसार है।

संसार में रहते हुए मेरी आत्मा एवं मेरी देह के संयोग को गति, स्थिति, अवकाश एवं व्यतीति के सम्बल की आवश्यकता होती है। जीव एवं अजीव पुद्‌गल द्रव्यों के सिवाय शेष चार द्रव्य-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं काल ये चारों उपरोक्त सम्बल उपलब्ध कराते हैं। मैं गति करता हूँ तो उसमें धर्मास्तिकाय का सम्बल मिलता है, अधर्मास्ति काय के योग से ठहरने की स्थिति बनती है। इस अवकाश में समस्त क्रियाएँ आकाशास्तिकाय की सहायता से चलती हैं एवं काल द्रव्य व्यतीत करने का कार्य करता है। यों सभी द्रव्यों में जीव प्रमुख है जो जड़ कर्मों से संलग्न बनकर संसार में विविध प्रकार की रचनाओं का निर्माता बनता है। कर्मों की संलग्नता से जीव विभिन्न प्रकार के शरीरों को धारण करने वाला बनाता है और शरीर दस प्रकार के प्राणों के वल पर टिके रहते हैं। इसलिये जीव को प्राणधारी या प्राणी भी कहते हैं।

मैं प्राणधारी हूँ इसलिये अपने दस प्राणों की सहायता से अनुभव कर सकता हूँ कि मैं प्राणधारी क्यों कहलाता हूँ? सीधी सी बात है कि प्राणों को धारण करने से मैं प्राणधारी हूँ। तो प्रश्न उठता है कि ये प्राण कितने हैं और कौनसे हैं? मुझ द्वारा धारण किये गये द्रव्य प्राणों की संख्या दस है। और भाव प्राण मेरी आन्तरिक शक्ति रूप ज्ञान, दर्शन, सुख और सत्ता रूप होते हैं। मैं सुनता हूँ, यह मेरा श्रोतेन्द्रिय प्राण है। इसी प्रकार मैं देखता हूँ, मैं सूंघता हूँ, मैं चखता हूँ और मैं स्पर्शानुभव करता हूं जो क्रमशः चक्षुरीन्द्रिय प्राण, घ्राणेन्द्रिय प्राण, रसनेन्द्रिय प्राण तथा स्पर्शेन्द्रिय प्राण कहलाते हैं। फिर मेरे मन, वचन एवं काया रूप तीन प्राण श्वासोश्वास एवं आयुष्य बल रूप दो प्राण और होते हैं। चैतन्य लक्षण से युक्त जीव तथा नाशवान स्वभावी अजीव के संसारी संयोग की ये प्राण ही कड़ियाँ हैं, जिनसे ऐसा चेतन, इस संसार में चित्र-विचित्र दृश्यों का चितेरा, विविध प्रकार के निर्माणों का निर्माता तथा ज्ञान-विज्ञान के गहन अनुसंधानों का अध्येता बनता है।

यह संसार एक रंगमंच है और मैं तथा मेरे जैसे अन्य जीव इस रंगमंच के कलाकार हैं। कर्म से प्रेरित होकर विविधजन्मों में नाना प्रकार के शरीर धारण करता हूँ। मैं ही कभी पिता होता हूँ, तो कभी भाई, पुत्र और पौत्र भी हो जाता हूँ। कभी माता बनकर स्त्री और पुत्री भी हो जाता हूँ। यह संसार की विचित्रता है कि स्वामी दास बन जाता है और दास स्वामी। एक ही जन्म में राजा से रंक और रंक से राजा बन जाता हूँ। मैं संसार के सभी क्षेत्रों में रहा हूँ, सभी जातियों, कुलों व योनियों में मैंने जन्म लिया है और प्रत्येक जीव के साथ किसी न किसी रूप में एवं कभी न कभी नाता जोड़ा है किन्तु अनन्त काल व्यतीत हो जाने पर भी मुझे इस संसार में विश्राम नहीं मिला है।

मैंने इस संसार में कर्मवश परिभ्रमण करते हुए लोकाकाश के एक-एक प्रदेश को अनन्ती बार व्याप्त किया किन्तु उसका अन्त नहीं आया। नरक गति में जाकर मैंने वहाँ होने वाली शीत, ऊष्ण एवं अन्य प्रकार की वेदनाएँ सहन कीं, तिर्यञ्चगति में भूख, प्यास, रोग, वध, बंधन, ताड़न, भारारोपण आदि दुःख प्रत्यक्ष देखे तथा विविध सुखों की सामग्री होते हुए भी देव जन्म में मैं शोक, भय, ईर्ष्या आदि दुःखों से दुखित रहा। मनुष्य गति में तो मैं वर्तमान में हूँ ही। गर्भ से लेकर वृद्धावस्था एवं मृत्यु तक कितने दुःख भोगने पड़ते हैं—यह मैं स्वयं अनुभव करता हूँ, समझता हूँ और देखता हूँ। चारों ओर दृष्टि फैलाता हूँ तो मुझे दिखाई देता है कि कोई रोग पीड़ित है, कोई धन, जन के अभाव में चिन्तित है, कोई स्त्री पुत्र के विरह से संतप्त है और कोई दारिद्र्य दुःख से दबा हुआ है। मैं चारों ओर दुःख ही दुःख देखता हूँ कि कहीं युद्ध चल रहा है तो कहीं साम्प्रदायिक या जातिवादी संघर्ष हो रहा है। कहीं अनावृष्टि से अकाल का हाहाकार है तो कहीं अतिवृष्टि से जल प्लावन की त्राहि-त्राहि मची हुई है। घर-घर कलह का अखाड़ा बना हुआ है, स्वार्थवश भाई अपने ही भाई का खून पी रहा है और माता-पिता व सन्तान के बीच में भी कटुता चल रही है। सारा संसार दुःख और द्वन्द्वों से भरा हुआ है, कहीं भी शान्ति के दर्शन नहीं होते।

संसार के इन्हीं दुःख द्वन्दों के बीच जब मैं गहराई से चिन्तन करता हूं तो मुझे लगता है कि सामाजिक प्राणी होने के नाते अभावों, पीड़ाओं और विषमताओं से त्रस्त अपने साथियों एवं समस्त प्राणियों के प्रति भी मेरे कुछ कर्त्तव्य हैं। मैं अपना आत्म योग देकर भी दूसरों के अभावों, पीड़ाओं, विषमताओं को कम कर सकूं तो उस दिशा में मुझे निःस्वार्थ भाव से कार्य करना चाहिये। यह परोपकार की निष्ठा और क्रिया ही मुझे मेरे आत्म-विकास से जोड़ने वाली बनती है क्योंकि

स्वार्थ छूटता है तभी परोपकार हो सकता है और परोपकार की वृत्ति बनती है तो अपनी आन्तरिकता में एक अनूठे जागरण का आनन्द फूटता है। यही आनन्द जब बढ़ता जाता है तो मुझे परमानन्द से साक्षात्कार करने की ओर आगे बढ़ा सकता है।

संसार के संसरण में 'मैं'

यों देखें तो इस संसार को बनाने वाला 'मैं' हूँ और मेरे जैसी आत्माएँ हैं। किन्तु मेरे तथा सभी संसारी आत्माओं के कर्मों की विडम्बना यह है कि हम इस संसार से बंध गये हैं। ये आत्माएँ ही कर्मों से लिप्त होकर संसारी बनी हुई हैं जिनके विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं। समस्त संसारी आत्माओं को इन दो-दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं—त्रस और स्थावर, सूक्ष्म और बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, संज्ञी और असंज्ञी, अल्प संसारी और अनन्त संसारी, सुलभ बोधि और दुर्लभ बोधि, कृष्ण पक्षी और शुक्लपक्षी, भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक एवं आहारक और अनाहारक। वैसे संसारी जीवों की चार श्रेणियाँ मानी गई है —(१) प्राणी—विकलेन्द्रिय याने दो, तीन व चार इन्द्रियों वाले जीव (२) भूत—वनस्पति काया के जीव (३) जीव—पंचेन्द्रिय प्राणी तथा (४) सत्त्व—पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु के स्थावर जीव। इस ज्ञान के कारण जीव को विज्ञ, तो सुख दुःख की संवेदना के कारण उसे वेद भी कहते हैं। ये संसारी आत्माएँ विभिन्न श्रेणियों के रूपों में ढलती, बनती, बिगड़ती, उठती, गिरती नित नूतन रचनाएँ करती रहती हैं और इस संसार को अपने संसरण से संसार बनाती रहती हैं।

मैं आज संसारी जीव हूँ और सांसारिकता से जुड़ा हुआ हूँ। किन्तु जब अपनी साधना के बल पर मैं इस संसार से मुक्त हो जाऊँगा तब सिद्ध बन जाऊंगा। तो समस्त जीवों के मोटे तौर पर दो वर्ग मान लीजिये—संसारी और सिद्ध। सिद्ध होने का अर्थ है संसार से मुक्त हो जाना—संसार की संसरण प्रक्रिया से सर्वथा सदा के लिये विलग हो जाना। आत्मा मुक्त होती है संसार से, इस संसार से—जो चेतन-जड़ संयोग पर टिका हुआ है। अतः मुक्ति का मतलब है—चेतन का जड़ से सभी प्रकार के सम्बन्धों को सदा-सदा के लिये तोड़ देना। जब तक चेतन जड़ के साथ सम्बन्धित रहता है तब तक ही उसके लिये यह संसार है और उस दिशा में किये जाने वाले कर्मों के फलाफल के अनुसार उसे इस संसार में भ्रमण करना ही होता है।

मैं चैतन्य देव हूँ। मेरी आत्मा अनन्त चेतना शक्ति की धारक है किन्तु जड़ तत्त्वों के साथ बंधी हुई है—शरीर में स्थित है। जड़-चेतन संगम स्वरूप यह शरीर अपने मन, वचन, काया के जिस प्रकार के यौगिक व्यापार में विचरता है तथा जिस प्रकार तज्जन्य विचार और आचार से सक्रिय होता है, उसी सक्रियता के परिणामस्वरूप शुभ अथवा अशुभ कर्मों से यह आत्मा बद्ध होती है। आत्मा का शरीर मृत्यु के उपरान्त बदल जाता है किन्तु बिना अपना फलभोग दिये निकाचित कर्म नहीं बदलते। वे कर्म आत्मा से जुड़े रहकर इसके शरीर की अवस्था में भी याने कि भावी जीवन में भी अपना शुभ अथवा अशुभ फल देते हैं। कर्म और फल का चक्र चलता रहता है जब तक कि कार्य-कारण रूप इन दोनों को पूर्णतः समाप्त नहीं कर दिया जाता। अतः कर्म के चक्र में मैं संसार बनाता हूँ। कर्म चक्र की समाप्ति के साथ ही जड़ चेतन संयोग टूट जायगा तथा 'मैं' संसार से भी नाता तोड़ दूंगा। तब 'मैं' शुद्ध स्वरूपी सिद्ध बन जाऊंगा।

इसलिये 'मैं' ही संसार हूँ और जब मैं ही अपने आत्म पुरुषार्थ की उच्चतम सफलता साध लूंगा तो समझिये कि 'मैं' ही सिद्ध हो जाऊँगा।

इस प्रकार इस संसार के संसरण में सारी लीला फैली हुई है मेरी बद्ध आत्मा की तथा उन अनन्त बद्ध आत्माओं की जो जब तक मुक्त नहीं हो जाती, इस संसार में भटकती रहने को विवश हैं। संसार के संसरण का इस रूप में अनन्त-अनन्त आत्माओं के साथ 'मैं' भी एक कारण भूत हूं। क्योंकि 'मैं' अपने मूल स्वरूप की विकृति के साथ सांसारिक जड़ता से ग्रस्त हूँ एक मैल-पुते आईने की तरह निष्प्रभ होकर। मेरी स्व-चेतना की प्रभा कभी किन्हीं गुरु की कृपा से उभरी भी तो मूल पर चढ़ी विकृति की परतों को जानकर भी स्वच्छ कर लेने में मैं विफल रहा। यह अवश्य है कि इस विफलता ने मेरी आत्मा को कौंचा है और प्रेरणा दी है कि वह और अधिक पराक्रम दिखावे, अधिक पुरुषार्थ करे और अधिक तीव्र गति से मुक्ति की ओर आगे बढ़े।

इसी प्रेरणा ने मेरे 'मैं' को जमाया है यह जानने के लिए कि वास्तव में वह है कौन? उसका मूल स्वरूप क्या है और उसका वर्तमान धूलि-धूसरित अपरूप क्यों बन गया है? संसार के संसरण में यह 'मैं' कितना विवश बन गया है और क्यों? किन्तु यदि यह 'मैं' सचेतन होकर जाग उठे तो वह किस प्रकार अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एवं अनन्त शक्ति का वाहक बन सकता है? तब उसका मूल स्वरूप कितना परमोज्ज्वल भव्य एवं जाज्वल्यमान हो उठेगा?

मेरा 'मैं' ही अपना वास्तविक परिचय अपने को दूं और उसे पूर्ण गहनता से हृदयंगम करूं —यह परमावश्यक है। मैं अभी संसारी हूँ, कर्मों से लिप्त हूँ, वरन् मैं भी 'सिद्धों जैसा जीव' हूँ—यह जानता हूँ तथा अपनी क्षमता को पहिचानता हूँ कि 'जीव सोई सिद्ध होय।' मूल में मेरा आत्म स्वरूप परम विशुद्ध है किन्तु मेरा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य एवं अनन्त सुख कर्म रूपी काले बादलों से ढका हुआ है। अभी मेरी ये आत्म शक्तियाँ भले ढकी हुई हैं किन्तु यह सुनिश्चित है कि इनके अस्तित्व का लोप नहीं है। जब भी मेरा सत्पुरुषार्थ पूर्णतः प्रतिफलित हो जायगा। ये सम्पूर्ण शक्तियाँ अपनी पूरी प्रभा के साथ मेरे आत्म-स्वरूप में प्रकाशमान हो उठेंगी। वैसे वर्तमान में 'मैं' द्रव्य रूप हूँ क्योंकि गुण और पर्याय का धारक हूँ, कषाय रूप हूँ क्योंकि काषायिक वृत्तियों से ग्रस्त होता रहता हूँ। योग रूप हूँ क्योंकि मन, वचन तथा काया के योगों का व्यापार मेरे साथ निरन्तर चलता रहता है। 'मैं' उपयोग रूप हूँ, क्योंकि उपयोग में मेरा मूल लक्षण है। 'मैं' ज्ञान रूप हूँ, दर्शन रूप हूँ, चारित्र्य रूप हूँ एवं वीर्य रूप हूँ क्योंकि अपने ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की उच्च कोटि की साधना को सफल बनाकर मैं अनन्त वीर्य का धारक हो सकता हूँ। मेरी आत्मा के ये आठों प्रकार उसके मूल एवं वर्तमान स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। सभी संसारी आत्माओं की तरह द्रव्य, वीर्य, ज्ञान, दर्शन और उपयोग प्रत्येक समय में मेरे भीतर विद्यमान रहते हैं। कषाय तब विद्यमान रहती है, जब मेरी आत्मा सकषायी होती है और योग भी तब जब वह सयोगी होती है। आत्मा को सम्यक्-दृष्टि प्राप्त होने पर ज्ञान की सुलभता होती है तो सर्वविरति मुनियों को चारित्र्य की प्राप्ति। समुच्चय में कहा जा सकता है कि मेरी ही तरह सभी संसारी आत्माओं में ये आठ प्रकार देखे जा सकते हैं।

संसार के संसरण एवं संचरण में अपनी इतनी सारी प्रछन्न शक्तियों के बावजूद मेरा 'मैं' अत्यन्त विचित्र है क्योंकि वह अपने आप से उतना ही विस्मृत भी है। 'मैं' जब स्व-तत्त्व को

भूलकर आत्म विस्मृत बन जाता है, तब उसका यही अर्थ लगाया जा सकता है कि पर तत्त्वों की गहरी उलझन मेरे आत्म स्वरूप पर छाई हुई है जो उसके गुण-विकास को अवरुद्ध कर देती है। मैं अपने चारों ओर दृश्य पदार्थों को देखता हूँ और उनमें अपने सुख को खोजता हूँ तो मुझे भ्रमपूर्ण यही विश्वास होता है कि उन पदार्थों में ही मेरा सर्व सुख समाया हुआ है। मैं तब अपने साथियों की व्यथा तथा सर्वहित को विसार कर अपने ही स्वार्थों के तंग घेरों में बंद हो जाता हूं। राग और द्वेष के उतार चढ़ाव मेरे भीतर की शुभता को ढक देते हैं। उन वृत्तियों और प्रवृत्तियों से घिर कर मैं राक्षस बन जाता हूं, समस्त सुखदायी पदार्थों को अपने और अपनों ही के लिये संचित करना चाहता हूँ। उन पदार्थों को दूसरों से छीनता हूँ और सबको अपने नियंत्रण में बंद करके दूसरों के कष्टदायक अभावों पर अट्टहास करता हूं। किन्तु मैं देखता हूँ कि मैं ही नहीं, अन्य कई मनुष्य भी मेरी ही तरह ऐसी राक्षसी वृत्ति में उलझ रहे हैं। और इस तरह कटु संघर्ष चलता रहता है —पारस्परिक सम्बन्धों में घोर तनाव फैलता रहता है। पदार्थों की प्राप्ति के लिये उभरती और बढ़ती हुई यह आपाधापी आपसी अन्याय और अत्याचार में जब बदल जाती है तब परिस्थितियाँ असह्य हो उठती हैं। दमन और शोषण के तले चारों ओर हाहाकार मच जाता है।

इस तरह होता है एक ओर कुछ संसारी आत्माओं के क्रूर पक्ष का फैलाव तो दूसरी ओर अनेकानेक आत्माओं के शोषण, दमन तथा उत्पीड़न का कारुणिक दृश्य। किन्तु यही क्रूर व्यवहार, यही शोषण और दमन प्रुवद्ध आत्माओं में नया विचार जगाता है। तब मनुष्य और मनुष्य के बीच में समानता, स्वतन्त्रता एवं भ्रातृत्व का नारा खड़ा होता है और मनुष्य जाति की वैचारिकता का एक नया आयाम सामने आता है, नया चिन्तन उभरता है और विकास की नई मंजिलें कायम की जाती हैं। वाद, प्रतिवाद तथा समन्वय के इस चक्र में चैतन्य तत्त्व का ही जागना, सोना, बगावत करना तथा बुराइयों को फेंक कर अच्छाइयों से अपनी झोली को भर लेना दिखाई देता है। 'मैं' ही इस वाद, प्रतिवाद तथा समन्वय के चक्र का प्रवर्तक होता हूँ किन्तु विडम्बना यही घटती है कि हर बार मैं विकास को अधूरा ही छोड़ देता हूँ, उसे उन्नति की सर्वोच्च ऊँचाई तक ले जाने में असमर्थ ही रह जाता हूँ।

मैं सफलता और विफलता के हिंडोले में ही झूलता रहता हूँ —सफलता में सर्वोच्च शिखर तक पहुँच नहीं पाता—इसी कारण संसार का संसरण निरन्तर चलता रहता है क्योंकि अनेकानेक संसारी आत्माओं के साथ 'मैं' उसमें संसरण करता रहता हूँ —उससे ऊपर उठकर संसार-मुक्त हो जाने में हर बार विफल हो जाता हूँ।

मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति

'मैं' जब सामाजिक अन्याय का प्रतिरोध करता हूं, विकृति के विरुद्ध विद्रोह जगाता हूँ अथवा प्रतिवाद को हटा कर पुनः वाद को प्रतिष्ठित करना चाहता हूँ तो मेरा यह संघर्ष मूल्यों के लिये लड़ा जाने वाला संघर्ष हो जाता है। मेरी चेतना में मानवीयता के जो मूल्य संस्थापित होते हैं, उनकी प्रतिष्ठा मेरा कर्त्तव्य हो जाता है क्योंकि उन मूल्यों की पुनः पुनः प्रतिष्ठा में ही मुझे सदाशयता का प्रसार दिखाई देता है—वह सदाशयता जो एक से दूसरे की बांह थमवाकर सबको आत्म विकास की महायात्रा में अग्रसर हो जाने की उत्प्रेरणा देती है। यही मेरी मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति होती है।

अपने 'मैं' का यह विकास मुझे भीतर ही भीतर बहुत भाता है। मेरे मूल्य जब उपजते हैं और समाज में साकार रूप लेते हैं तो मेरा अन्तर्हृदय खिल उठता है। इससे मेरा मस्तिष्क तनावमुक्त हो जाता है और आन्तरिकता की अतल गहराइयों में एक असाधारण अनुभूति जन्म लेती है। यही अनुभूति मेरे भीतर तथा भीतर से बाहर संसार में एक नव क्रान्ति जगाने में समर्थ हो जाती है।

मैं कहता हूँ कि पदार्थों के मोह से ऊपर उठकर मानवीय मूल्यों की समाज में सर्वत्र स्थापना करना इस संसार की सबसे बड़ी क्रान्ति है। इसी कारण सभी मानते हैं कि 'मनुष्य खाने के लिये नहीं जीता, बल्कि जीने के लिये खाता है' और उसका यह जीना सोद्देश्य होना चाहिये। मेरे और मेरे साथियों के ऐसे उद्देश्यपूर्ण तथा सार्थक जीवन से मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति सर्वतोमुखी बनती है। मेरा 'मैं' तब पदार्थों के ममत्व से हटकर मूल्यों के संसार में जीने लगता है और भावनाओं की भूमिका का सूत्रधार बन जाता है। मूल्यों के संसार में जिया जाने वाला जीवन ज्यों-ज्यों गहराई में उतरता जाता है, त्यों-त्यों नये मानव-मूल्यों की खोज आरंभ हो जाती है। वह खोज ऐसे दिव्य मोती निकाल लाने में सफल होती जाती है जो मानवों से भी आगे देवत्व के मूल्यों के मोती होते हैं। ऐसे मूल्यों के आधार पर आत्म-विसर्जन का धरातल तैयार होता है। उसे ही नवक्रान्ति की सफलता का नाम दे सकते हैं।

नव क्रान्ति किसे कहें? नव क्रान्ति वही जो अपने 'मैं' को गहराई में भीतर तक झकझोर दे, मूल्यात्मक चेतना को उभार दे और आत्मा को विसर्जन के द्वार पर खड़ी कर दे। विसर्जन होगा, अपने स्वार्थों का अपने राग और द्वेष के संकुचित परिणामों का और यह विसर्जन होगा अपने मूल स्वरूप के परिमार्जन के लिये—समाज में मानव-मूल्यों पर आधारित आचरण के प्रसार के लिये। एक 'मैं' ऐसा करेगा तो उसके साथ कई 'मैं' उसी आस्था और निष्ठा से उस के साथ चल देंगे। तब वे सब 'मैं' मिलकर आत्मीयता के भावों से ओत-प्रोत हो एक नये समाज का निर्माण करेंगे—एक ऐसे समाज का जो अपने समग्र जीवन में अहिंसा को साधन बना कर सत्य रूपी साध्य को प्राप्त करने की सबकी तत्परता को सम्पूर्णतः सहयोग देगा। काश, मूल्यात्मक पृष्ठभूमि पर खड़ा किया गया ऐसा समाज सम्पूर्ण संसार के संसरण में एक नया ही मोड़ ला दे।

मैं मानता हूँ कि मूल्यात्मक चेतना के अस्तित्व में मनुष्य अपनी पशुता का त्याग कर मनुष्यता के सुघड़ शृंगार से सज्जित होता है। केवल पदार्थों के संसार में ही जीने वाला मनुष्य एक पशु से अधिक कुछ नहीं होता। उस दशा में वह अंधा जड़ग्रस्त हो जाता है। जड़ता जितनी छूटती है —चेतना जितनी जागती है, आत्म-विकास की यात्रा उतनी ही प्रखर बनती है। बारीक नजर से देखें तो जड़ग्रस्तता से सम्पूर्ण मुक्ति ही आत्मा का मोक्ष होता है।

इसलिये मैं देखता हूँ कि जड़-चेतन संयोग ही जब जड़-चेतन संघर्ष का रूप ले लेता है, तब मेरी चेतना जागरण की अंगड़ाइयाँ लेती है—वह चेतना जो अब तक पदार्थों के मोह में, उनसे सुख पाने की आशाओं व लालसाओं में संज्ञाहीन, मूर्छाग्रस्त तथा किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनी हुई थी। इस जड़-चेतन संघर्ष में मेरी चेतना ज्यों-ज्यों जड़ तत्त्व की निरर्थकता, बंधन एवं पतनकारकता को समझती जाती है, त्यों-त्यों वह जड़ को अपने इच्छा क्षेत्र से दूर धकेल देने के लिये उद्यत होती जाती है अथवा यों कहें कि मेरी चेतना तब वास्तविक अर्थों में जड़ को बंधन मानकर तथा महसूस कर उससे मुक्त हो जाने का प्रयास प्रारंभ कर देती है। इसे ही मैं मूल्यात्मक चेतना का विकास मानता हूँ।

इस विकास का तब यह लक्षण स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि मेरी आत्म-चेतना का केन्द्रीकरण पदार्थों के केन्द्र से हट कर मूल्यों के केन्द्र पर टिकने लगता है। मूल्यों को केन्द्र में रखकर जब सद्‌भावना और सन्निष्ठा से गति की जाती है तब 'मैं' का मूल स्वरूप निखरने लगता है। तब 'मैं' के उस निखार पर मैं सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य रूप तीन रत्नों का प्रकाश फेंकता हूँ तो देखता हूँ कि मेरा 'मैं' निरन्तर प्रकाशमान होता हुआ चला जाता है।

'मैं' के ऐसे प्रकाशमान जीवन की सार्थकता इस तथ्य में प्रस्फुटित होनी चाहिये कि उसके व्यक्तित्व से निकलता हुआ प्रकाश सारे पथ पर इस तरह बिखरे कि पथ भी पूरी तरह से प्रकाशित हो तथा उस पथ पर चलने वाले भी प्रकाश को अपना सहचर व मार्गदर्शक बना सकें। वे आत्माएँ जो अरिहंतता या वीतरागता की उच्चता का अपनी आन्तरिकता में श्रेष्ठ विकास कर लेती हैं, वे ऐसा ही प्रकाश पाती और फैलाती हैं। मेरी आत्मा भी ऐसे ही प्रकाश की पुजारिन है। मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति से आरंभ होकर सिद्धात्मा के साध्य तक पहुँच जाने को मेरी आत्मा अतीव आतुर है किन्तु उसकी आतुरता की सफलता इस तथ्य पर भी बहुत कुछ निर्भर है कि मेरे अपने चारों ओर के समाज में अहिंसा, समानता तथा सहयोग का वातावरण कितना पुष्ट और सशक्त है। मेरा 'मैं' इस समाज सेवा के साथ साध्य तक पहुँच जाने की अपनी आतुरता को कहाँ तक फलीभूत कर पायगा—यह उसके सत्पुरुषार्थ की प्रबलता पर आधारित होगा।

मूल्यात्मक चेतना, सिद्धावस्था का साध्य तथा मेरी आत्मा का सत्पुरुषार्थ तीनों मिलकर यहां और वहाँ श्रेष्ठ परिवर्तन का बीजारोपण अवश्य करेंगे।

समता के समरस में

मैं मेरे 'मैं' के विकास को समग्र-समाज के विकास में बदलना चाहता हूँ और समाज का विकास तभी चारितार्थ होगा जब उसका समता के आधार पर नव निर्माण हो। समता के समरस में डूबने पर ही विकास के मोती हाथ लगते हैं।

जब मेरी चेतना शुद्ध मानवीय मूल्यों को प्रकट करेगी और उन्हें समाज में सुप्रतिष्ठित करना चाहेगी तब उसके साथ मूल्यों के जगत् में मेरी भी गहरी पैठ होने लगेगी। मैं किसी एक मूल्य को मान्यता दूंगा तो मेरा दुहरा प्रयास प्रारंभ हो जायगा। एक ओर तो मैं चाहूंगा कि उस मूल्य को सामाजिक मान्यता मिले तथा सभी लोग उसे अपने-अपने जीवन में उतारने की चेष्टा करें तो दूसरी ओर उस मूल्य पर मैं और अधिक गहरी खोज भी करना चाहूंगा ताकि उसका सृजनात्मक पक्ष अधिकतम रूप से उजागर हो सके। मेरा ऐसा प्रयास जब सामूहिक रूप लेने लगेगा तो सच मानिये कि समता-समाज की नींव भी पड़ जायेगी। ऐसे समाज का प्रमुख उद्देश्य ही यह होगा कि सभी प्राणी सच्ची सुख शान्ति तथा आत्मिक स्मृद्धि की दिशा में साथ-साथ आगे बढ़ सकें।

ऐसे समाज के पारस्परिक आचरण के केन्द्र में होगी—अहिंसा। अहिंसा के मूलाधार पर ही व्यक्ति एवं समूह का आचरण केन्द्रित होगा। साध्य के साथ साधन का श्रेष्ठ होना भी अनिवार्य है। मेरा अनुभव बताता है कि अधिकांशतः हिंसा का आचरण अज्ञान दशा में ही होता है। एक अज्ञानी व्यक्ति यह नहीं देख पाता है कि वह हिंसात्मक प्रवृत्तियों में संलग्न बनकर अपने व अपने साथ सारे समाज के जीवन को कैसे-कैसे निकृष्ट विकारों से रंग देता है। समता समाज के निर्माण की भूमिका में मैं दृढ़तापूर्वक मानता हूँ कि इस समाज के जीवन-व्यवहार में स्थूल हिंसा का कोई स्थान नहीं

होगा। हिंसा को मैं सर्वांशतः हेय मानता हूँ —उसका किसी भी अंश में आचरण करना पड़े तो वह उस आचरणकर्ता की दुर्बलता होगी किन्तु किसी भी रूप में हिंसा को कभी भी उपादेय नहीं मान सकते हैं। मूल्यात्मक चेतना की अभिव्यक्ति के पश्चात् उन मूल्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा का अर्थ ही यह होगा कि उन मानवीय मूल्यों पर ही सबका आचरण अधिकाधिक निर्भर करे।

इस बीच मेरे मन में एक प्रश्न उठता है कि क्या मैं यह जाने बिना भी समाज निर्माण के कार्य में संलग्न रह सकता हूँ कि मेरा स्वयं का कोई स्थायी आस्तित्व भी है या नहीं ?

जीवनों की क्रमिकता

कोई कहे कि मैं वर्तमान में जो हूँ, मात्र वही हूँ—न मेरा कोई अतीत है और न कोई भविष्य—तो उस कथन में कितना महत्त्व है—यह गहराई से सोचा जाना चाहिये। जैसी कि एक मान्यता है कि पंचभूतों से ही यह शरीर उपजता है तथा मृत्यु के साथ पुनः पंचभूतों में मिल जाता है। यदि इस जीवन का पहले के जीवन से और आगे आने वाले जीवन से शृंखला रूप सम्बन्ध न हो तो क्या किसी की इस जीवन की कार्य सम्पूर्ति में सच्ची अभिरुचि पैदा हो सकती है अथवा बनी रह सकती है ? ऐसी विचारणा के साथ क्यों कोई स्थायी प्रभाव वाला कार्य करना चाहेगा जिसका सीधा लाभ उसे न मिलता हो ? मेरा जन्म-जन्मान्तरों का अनुभव है कि वर्तमान केवल वर्तमान ही नहीं है—वर्तमान का अतीत भी है तो उसका भविष्य भी है। और यही काल की क्रमिकता है। उसी प्रकार जीवनों की क्रमिकता अटूट रहती है जब तक कि आत्मा संसार से मुक्ति न प्राप्त कर ले।

जीवनों की क्रमिकता याने कि जो जीवन आज है, वह इससे पहले भी था तथा आगे भी नये जीवन में प्रादुर्भूत होगा—इस संसार का आधार स्तंभ है। जीवनों की क्रमिकता का तात्पर्य है पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म की विद्यमानता। जीवनों की क्रमिकता की धारणा के साथ ही दीर्घकालीन महत्त्व के कार्य हाथ में लिये जा सकते हैं तथा उनकी सम्पूर्ति में ठोस सहयोग दिया जा सकता है। जीवनों की क्रमिकता मात्र एक धारणा ही नहीं है, अपितु वास्तविकता है। इस जीवन से भी पहले जीवन था और उसमें किये गये कृत्यों का फल आज हमें मिलता है। हमारे वर्तमान जीवन में ऐसी कई घटनाएँ घटित होती हैं जिनके कारणों के सूत्र हमें इस जीवन में खोजने से भी नहीं मिलते हैं। इससे निर्णय निकलता है कि उन घटनाओं के कारण पूर्व जन्म में ही होने चाहिये। इसी प्रकार यह मानना भी उतना ही तर्कसंगत होगा कि इस जीवन के बाद आगे भी और जीवन है याने कि पुनर्जन्म हैं जिसमें इस जीवन में किये जा रहे हमारे कृत्यों का फल मिलेगा। इतना ही नहीं, जीवनों की शृंखला अनन्तकाल से चलती आई है और तब तक चलती रहेगी जब तक कि यह आत्मा जड़ के साथ अपने सम्पूर्ण सम्बन्धों को विच्छेदित नहीं कर लेगी। अपने अस्तित्व की निरन्तरता की धारणा जब स्पष्ट होती है, तभी स्थायी प्रभाव वाले कार्यों में सतत अभिरुचि बनी रह सकती है क्योंकि यह विश्वास होता है कि इन कार्यों का फल भावी जीवन में प्राप्त हो सकेगा।

मेरा अटल विश्वास है कि 'मैं' सदा काल रहने वाला हूँ। मेरा अस्तित्व स्थायी है। मैं अजर अमर हूँ। मैं अविनाशी हूँ। मेरा यह विश्वास सत्य है क्योंकि आत्म तत्त्व के रूप में मैं एक द्रव्य हूँ जो गुण रूप से शाश्वत होता है—मात्र उसकी पर्यायें परिवर्तित होती रहती हैं। अतः गुण की दृष्टि से 'मैं' शाश्वत हूँ, नित्य हूँ और पर्याय की दृष्टि से 'मैं' परिवर्तनशील भी हूं—अनित्य भी

हूँ। इसका आशय यह है कि 'मैं' आत्म रूप से शाश्वत हूँ तो शरीर रूप से विनश्वर। शरीर परिवर्तित होते रहते हैं, आत्मा वही रहती है अपने पूर्वकृत कर्मों से बंधी हुई।

आज मुझे यह मानव तन मिला है—पहले भी मेरी आत्मा का कोई शरीर रहा होगा और इस तन के बाद में भी कर्म फल स्वरूप इसे कोई शरीर अवश्य प्राप्त होगा। आत्म तत्त्व की दृष्टि से मैं किसी भी शरीर में गुणात्मक रूप से वही रहूंगा बल्कि सिद्धशिला पर पहुँच कर भी वही रहूंगा—जो तब नहीं रहेगा, वह है शरीर और उससे संलग्न कर्म समूह। जब तक मेरी आत्मा इस संसार में विचरण करती रहेगी, पर्यायों की दृष्टि से उसके रूप परिवर्तित होते रहेंगे। आज यह आत्मा मानव तन में स्थित है —पहले किसी अन्य शरीर में थी या आगे किसी अन्य शरीर में निवास करेगी—परिवर्तन का यह एक पहलू है। दूसरा यह कि कभी आत्मा घनघाती कर्मों से लिप्त हो जाती है तो कभी निर्जरा करती हुई हलुकर्मी बन जाती है। इसी प्रकार के कई परिवर्तन भिन्न-भिन्न समयों में परिलक्षित होते हैं। संसारी आत्मा कर्मावृत्त होती है तो सिद्ध की आत्मा कर्म मुक्त। यह आत्म-स्वरूप का पर्याय भेद है। लेकिन गुण रूप से दोनों प्रकार की आत्माओं में मूल की दृष्टि से समानता भी होती है। अतः जीवनों की क्रमिकता में यही 'मैं' का स्थायी और निरन्तर अस्तित्व बना रहता है। इस वस्तुस्थिति के कारण ऐसी मनःस्थिति का निर्माण होता है जिसमें मैं अपने व अपने साथियों याने कि समाज एवं विश्व के दीर्घकालीन विकास के सम्बन्ध में स्थिर मन से विचार कर सकता हूँ तथा निष्ठापूर्वक उस पवित्र कार्य में अपने आपको सफलतापूर्वक नियोजित कर सकता हूँ।

उपरोक्त विचार के आधार पर निश्चित रूप से मेरी जिज्ञासा यह तथ्य जानने के लिये जागृत होगी कि मैं पहले क्या था, कहाँ था, क्या करता था और उन सब बातों का प्रभाव इस जीवन में किस रूप में दिखाई देता है? कारण, इस जिज्ञासा की पूर्ति होने पर ही मैं कर्म सिद्धान्त के स्वरूप एवं उसकी प्रक्रिया को भली-भांति समझ सकूंगा।

मैं कहाँ से आया हूँ?

इस विषयक विश्लेषण के साथ मेरे मन में सबसे पहले यह प्रश्न खड़ा हुआ है कि मैं कहाँ से आया हूँ?

यह प्रश्न मेरे ही मन में आया हो—ऐसी बात नहीं है? संभवतः यह प्रश्न प्रत्येक विचारवान् मानव के मन में उठता होगा, तभी तो शास्त्रों और सूत्रों में भी इस प्रश्न को उठाया गया है तथा उसका समुचित उत्तर भी दिया गया है।

कहा है—'यहाँ इस संसार में कई मनुष्यों को होश नहीं होता जो कहते हैं कि मैं पूर्व दिशा से आया हूँ, दक्षिण दिशा से आया हूँ, पश्चिम दिशा से आया हूँ अथवा उत्तर दिशा से आया हूँ। मैं ऊपर की दिशा से आया हूँ, नीचे की दिशा से आया हूँ या अन्य दिशाओं से आया हूँ। क्योंकि ऐसा कहने वाले यह नहीं समझते कि उनकी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली है। इसलिये विचारणीय यह है कि पिछले जन्म में मैं कौन था, अथवा इस जन्म से आगे जाने पर भावी जन्म में मैं क्या होऊँगा? इसका ज्ञान मैं (अ) स्वकीय स्मृति द्वारा, (ब) अतीन्द्रिय ज्ञानियों के कथन के द्वारा अथवा (स) अतीन्द्रिय ज्ञानियों के सम्पर्क से समझे हुए व्यक्तियों के समीप से सुन कर ही प्राप्त कर सकता हूँ। मैं यदि यह जान लेता हूँ, कि मेरी आत्मा पूर्व जन्म में किस शरीर में स्थित होकर किस रूप में थी अथवा पुनर्जन्म

में किस शरीर में स्थित होकर क्या रूप ग्रहण करेगी तो ऐसे ज्ञान से मैं अपने आत्म तत्त्व में पूर्ण मान्यता एवं आस्था रखने वाला बन जाता हूँ और मैं जब अपनी आत्मा को मानने वाला बन जाता हूँ याने कि जीव तत्त्व के अस्तित्व को मान लेता हूँ तब स्वाभाविक रूप से अजीव तत्त्व याने कि पुद्गल के अस्तित्व को भी मान लेता हूँ और कर्म बंधन के सिद्धान्त तथा प्रक्रिया को भी मानता हुआ मन, वचन एवं काया के योग—व्यापार को भी मानने वाला बन जाता हूँ।

सचमुच ही ऐसा मनुष्य जो मन, वचन, काया के योग व्यापार तथा उनकी क्रियाओं को नहीं समझ पाता है, वह सभी दिशाओं अथवा अनुदिशाओं से आकर संसार की विभिन्न गतियों तथा योनियों में परिभ्रमण करता रहता है। वह सभी दिशाओं से दुःखों को भोगता है, अनेक प्रकार की योनियों से जुड़ता है एवं अनेक रूपों में वेदनाओं तथा पीड़ाओं का अनुभव करता है। उस मनुष्य के लिये ही आप्त पुरुषों ने ज्ञान दिया है। उसी ज्ञान के प्रकाश में कोई भी मनुष्य अपने मन, वचन, काया की विविध क्रियाओं को भली-भांति समझ सकता है।

मैं आप्त पुरुषों द्वारा प्रदत्त इस ज्ञान से अथवा स्वकीय स्मृति से जब जुड़ता हूँ तब मुझे समझ में आने लगता है कि मैं कहाँ से आया हूँ। वर्तमान जीवन में मैं सुख एवं दुःख का जो अनुभव ले रहा हूँ, उससे मुझे मेरे पूर्व जन्म का अनुमान लग जाता है और अब जो कुछ मैं कर रहा हूँ उसके आधार पर ही मैं यह भी समझ सकता हूँ कि मेरा पुनर्जन्म कैसा होगा।

पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म में अपने अस्तित्व की निरन्तरता को पहचान कर मैं आश्वस्त होता हूँ कि मैं जो कुछ भी कृत्य इस जीवन में करूं, उसे स्थिर मन से करूं क्योंकि उसका शुभाशुभ प्रभाव जहाँ दूसरों पर पड़ेगा, वहाँ उसका शुभाशुभ फल मुझे भी अभी या बाद में अवश्यमेव मिलेगा। मेरे मन में इस धारणा की सम्यक् पुष्टि हो जाने के बाद मेरे कार्यकलापों में स्थायित्व की भावना आ जाती है। इसके साथ ही स्वहित एवं परहित के कार्यों की भी मुझे भली प्रकार से पहिचान हो जाती है। तब मैं पक्के तौर पर समझ जाता हूँ कि परहित में स्वहित भी समाया हुआ रहता है क्योंकि परहित तभी सम्पादित किया जा सकता है जब अधिकांश रूप से स्वहित सम्पादित कर लिया होता है। और स्वहित का सम्पादन स्व की श्रेष्ठता को साध लेने के बाद ही संभव बनता है।

यह सब समझ लेने के बाद मैं स्व के स्वरूप को उत्कृष्ट बनाता हुआ परहित के कार्यों में संलग्न होता हूँ। तब परहित की मेरी निष्ठा का इतना विकास होने लग जाता है कि परहित के पवित्र कार्य में यदि मुझे अपने जीवन का भोग देने का अवसर भी उपस्थित हो तो मैं उससे पीछे नहीं हटूंगा। मैं अपना पूरा जीवन भी समर्पित कर देने के लिये तब तत्पर हो जाता हूँ, क्योंकि वह समर्पित जीवन मेरी भवभवान्तरों से निरन्तर चल रही अपनी आत्म विकास की महायात्रा को अग्रगामी बनायेगा—इस सत्य से मैं आश्वस्त हो जाता हूँ। यही आश्वस्ति मुझे मुक्ति के मार्ग पर अविचल गति से आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा प्रदान करती रहेगी।

यह दुर्लभ मानव-तन

ऐसी प्रेरणा के साथ मेरे मन-मस्तिष्क में यह बात समा जाती है कि वर्तमान जीवन सम्पूर्ण आत्म विकास की महायात्रा का एक पड़ाव मात्र है। पड़ाव वह बिन्दु होता है जहाँ ठहर कर यह सोचा जा सके कि मैं कहाँ से आया हूँ और किसलिये आया हूँ? आगे के लिये मुझे इस पड़ाव पर किस प्रकार के कार्य करने हैं ताकि महायात्रा अबाध रूप से चलती रहे?

ऐसा सोचना इस कारण से भी आवश्यक है कि मैं इस पड़ाव का महत्त्व जान सकूं और यह समझ सकूं कि यहाँ के अपने कार्य-कलापों के माध्यम से पकड़ी गई मेरी अपनी गति मुझे साध्य की ओर ले जायेगी या नहीं और ले जायेगी तो उसके बीच की दूरी कितनी जल्दी कम की जा सकेगी? इस समझ से मेरे भीतर यह सतर्कता भी पैदा होगी कि कहीं मैं आत्म-विस्मृत बनकर उद्देश्यहीनता के जंगल में तो नहीं भटक जाऊंगा?

जब मैं इस पड़ाव पर याने कि अपने वर्तमान जीवन में पूरी तरह से सतर्क रहूंगा तो मैं साध्य प्राप्ति की पटरी से नीचे नहीं उतरूंगा, बल्कि उस पटरी पर अपनी चाल को तेज बनाने का भी कठिन प्रयत्न करूंगा। मैं अपने कार्य कलापों का निरन्तर लेखा-जोखा लेते हुए अपने साध्य को सदैव समक्ष रखूंगा ताकि उहें साध्य प्राप्ति के अनुकूल बनाये रख सकूं। फिर पड़ाव मात्र पड़ाव ही नहीं होता, बल्कि एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव तक पहुँचने का गतिक्रम भी होता है। अतः आज मैं यह सोचना चाहता हूँ कि मुझे जो यह मानव-तन मिला है— पहली बात तो यह कि वह महायात्रा को सफल बनाने के उद्देश्य से दुर्लभ क्यों है और दूसरे, यदि वह दुर्लभ है तो उसका मैं अधिकतम रूप से सदुपयोग कैसे कर सकता हूँ?

मैं जानता हूँ कि मेरी आत्मा अनादिकाल से इस संसार में परिभ्रमण कर रही है जहाँ उसने चार गतियों, चौरासी लाख योनियों तथा असंख्य उप जातियों में बार-बार जन्म लेकर भांति-भांति के अनुभव लिये हैं। मेरी आत्मा आज मानव तन में आई है और वह चिन्तन मनन की धनी बनी है। इस जीवन में मैं जो कुछ देखता हूँ, सुनता हूँ और जानता हूँ, उस पर चिन्तन-मनन करके उसके मूल एवं विस्तार को पकड़ पाने की मुझ में क्षमता विद्यमान है। मैं विभिन्न योनियों में उत्पन्न जीवों की स्थिति को देखता हूँ—उनके हलन-चलन को समझता हूं तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि कोई भी अन्य योनि इतनी शक्तियों से सम्पन्न नहीं है जितनी कि मुझे प्राप्त यह मानव गति और योनि है। स्वयं मनुष्य जाति के कष्टों का भी जब मैं आकलन करता हूँ तो लगता है कि उनमें भी मेरी स्थिति श्रेष्ठतर है।

इस समीक्षण से मुझे यह विश्वास हो जाता है कि वास्तव में यह मानव-तन दुर्लभ है, क्योंकि अन्य कोई ऐसा तन नहीं, जिसमें महायात्रा को सफल बनाने हेतु इस तन से अधिक सामर्थ्य रहा हुआ हो। सामर्थ्य का अर्थ शारीरिक शक्ति से भी ऊपर वह आध्यात्मिक शक्ति है जिसकी साधना किसी भी अन्य आत्मा को ऊर्ध्वगामी बना सकती है। मुझे देव-योनि का खयाल आता है, जिसमें उत्पन्न देवताओं का वैक्रिय शरीर, भौतिक ऐश्वर्य, दिव्य ऐन्द्रिक सुखों का अनुभव अथवा रोग एवं वृद्धावस्था के कष्टों के अभाव में सदाबहार यौवन मुझे प्राप्त मनुष्य-तन के लिये ईर्ष्या के विषय हो सकते हैं किन्तु देव-तन से मुझे कोई ईर्ष्या नहीं है क्योंकि मुझे इस तथ्य का सुनिश्चित ज्ञान है कि आत्म-विकास के साधक कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पादित करने का देव योनि में भी कोई सामर्थ्य नहीं होता है और इसी कारण देवलोक के देव भी मनुष्य तन को प्राप्त करने की वांछा करते हैं।

जब ऐसा मनुष्य तन मुझे प्राप्त हुआ है तो निश्चय ही वह दुर्लभ है। यदि यह मनुष्य-तन इतना दुर्लभ है तो निश्चय ही ऐसी दुर्लभ समुपलब्धि के सदुपयोग के विषय में मुझे अत्यधिक सतर्क भी हो जाना चाहिये। ऐसा मनुष्य जन्म व्यर्थ में ही व्यतीत न हो जाय या कि संसार की मायावी

उलझनों में उलझाकर मैं इसे निरर्थक न कर दूं—इसकी पूरी सावधानी प्रतिपल मेरे मन-मानस में उभरी हुई रहनी चाहिये।

संसार की रीति को मैं देखता हूँ कि सुन्दर से काँच के टुकड़े को भी एक सामान्य जन सहेज कर रखना चाहता है और यदि उसे बहुमूल्य रत्न मिल जाय तो वह उसे बहुत ही सार-सम्हाल के साथ रखता है। फिर क्या यह नादानी नहीं होगी कि श्रेष्ठतम रत्नों से भी अनन्त गुना श्रेष्ठ इस मानव-जीवन के प्रति सम्पूर्ण सावधानी न रखी जाय? एक अज्ञानी ही इस दुर्लभ जीवन की उपेक्षा कर सकता है, वरन् इस जीवन का एक-एक पल इतना अमूल्य माना जाना चाहिये कि उसका आत्म विकास के अलावा किसी भी दूसरी बात में अपव्यय न हो। ऐसा सोचकर एक कठिन सावधानी मेरे मन में जाग उठती है। और यही मनुष्यता कहलाती है।

अन्य दुर्लभ प्राप्तियाँ

यह कठिन सावधानी ही मुझे और आगे देखने तथा सोचने को प्रेरित करती है। मुझे मनुष्य तन मिला है और निश्चय ही यह दुर्लभ तन मुझे मेरे असीम पुण्योदय से ही प्राप्त हुआ है। मैं सोच रहा हूँ कि पहले मैंने ऐसा क्या पुण्य कर्म उपार्जित किया था जिससे यह तन तो मिला किन्तु अन्य दुर्लभ प्राप्तियाँ भी मुझे इसके साथ प्राप्त हुई है जो यदि नहीं मिलती तो इस मनुष्य तन की विशिष्ट सार्थकता को प्रकट करने में मैं सक्षम नहीं बन पाता। अब इन दुर्लभ प्राप्तियों सहित यदि मैं इस मानव तन का पूर्ण सदुपयोग करूं तो अवश्य ही मैं आत्म विकास की इस महायात्रा में नये-नये आयाम सम्पादित कर सकता हूँ।

क्या हैं वे अन्य दुर्लभ प्राप्तियाँ, जिन्हें सहज संवार कर मुझे अपनी सफलता के चरण आगे बढ़ाने हैं?

आत्म विकास की कठिन साधना करने का मानव तन के रूप में पहला सामर्थ्य मुझे अवश्य ही प्राप्त हुआ है किन्तु अन्य दुर्लभ प्राप्तियों के अभाव में यह पहला सामर्थ्य पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता है। मानव तन के सामर्थ्य को क्रियाशील बनाने के लिये सबसे पहली आवश्यकता होती है ज्ञान के प्रकाश की। अगर अंधेरा ही छाया रहे तो यह समर्थ मानव तन भी सांसारिक प्रलोभनों में भटक जायगा तथा अपने को क्षत-विक्षत बनाकर शक्तिहीन कर लेगा। अतः मुझे ऐसा प्रकाश चाहिये जो अज्ञान के अंधकार को दूर करके तथा मेरे प्रगति पथ को आलोकित बना दे। मैं अपनी आंखें खोलूं ही नहीं या बन्द कर दूं यह दूसरी बात है, लेकिन ज्ञान का ऐसा प्रकाश भी मुझे मिला है और वह प्रकाश-मार्ग है वीतराग धर्म का श्रवण। इस दुर्लभ प्राप्ति को हम श्रुति कहते हैं।

यहाँ यह समझ लेने की जरूरत है कि वीतराग धर्म क्या होता है? यह धर्म कोई मत मतान्तर वाली बात नहीं है। यह तो शाश्वतता, सार्वभौमिकता तथा सार्वकालिकता का प्रतीक होता है क्योंकि यह किसी एक विशिष्ट पुरुष द्वारा उपदेशित विधि-विधान नहीं होता है। राग और द्वेष - सांसारिकता के ये दो ही मुख्य बंधन होते हैं। द्वेष को त्याग देना अपेक्षा से फिर भी सरल होता है किन्तु राग-भाव छोड़ कर तटस्थ हो जाना अति कठिन है। अतः द्वेष के बाद राग को भी व्यतीत कर देने वाले महापुरुष वीतराग कहलाते हैं जो समभावी एवं समदर्शी हो जाने के कारण उनकी दृष्टि में संसार के समस्त प्राणी समान होते हैं और वे अपनी साधना के समुच्चय अनुभवों को समस्त प्राणी हित में ढालकर जो उपदेश देते हैं, वे ही वीतराग-धर्म के रूप में संकलित माने जाते हैं। इस

प्रकार वीतराग धर्म सर्व प्राणी हितकारी अर्थात् सम्पूर्ण जग हितकारी होता है। ऐसी वीतरागी आत्माओं ने जो धर्म बताया है, वही सच्चा ज्ञान है। और मुझे इस धर्म को सुनने तथा तदनुसार आचरण करने का सुअवसर प्राप्त है—यह श्रुति नाम की मेरी दुर्लभ प्राप्ति है।

सामर्थ्य हो, ज्ञान हो किन्तु दोनों पर यदि अपने अन्तःकरण की गूढ़ श्रद्धा न हो तो क्या वैसा सामर्थ्य सक्रिय बन सकेगा और ज्ञान मार्गदर्शक? श्रद्धा के अभाव में दोनों दुर्लभ प्राप्तियाँ भी आत्म-विकास हेतु उपयोगी नहीं बन सकेगी। वह श्रद्धा भी सम्यक् होनी चाहिये। यह मेरे लिये शुभ संयोग है कि मुझे मेरा अन्तस्तल टटोलने पर वहाँ श्रद्धा की —आस्था की झलक दिखाई देती है।

मानव तन, श्रुति एवं श्रद्धा के साथ आचरण की सुदृढ़ पृष्ठभूमि का स्वतः ही निर्माण हो जाता है क्योंकि उन अनुकूल परिस्थितियों में स्वाभाविक हो जाता है कि आचार धर्म सक्रिय बन जाय। सामर्थ्य, ज्ञान और आस्था के सम्बल के साथ यह मेरा विश्वास है कि आचरण की उत्कृष्टता सहज ही में बन सकती है। आचरण की कर्मठता ही संयम साधना में नये-नये पराक्रमों का उद्घाटन करती है। यह अन्तिम और ऐसी दुर्लभ प्राप्ति है जिसके लिये मैं सोचता हूँ कि यदि मैं दृढ़ निश्चय बनाऊं तो यह दुर्लभ प्राप्ति भी मेरी पहुँच से बाहर नहीं है। मानव तन का सदुपयोग वीतराग धर्म की आराधना में सम्यक् श्रद्धा एवं संयमीय पराक्रम के साथ किया जाता है तो निश्चय मानिये कि साध्य की समीपता बढ़ती ही चली जायेगी। इन चारों दुर्लभ प्राप्तियों का शुभ संयोग एवं श्रेष्ठ नियोजन सोने में सुहागा बन जाता है।

इन दुर्लभ प्राप्तियों के संदर्भ में मुझे अपने भीतर में झांकना है और कड़ाई से परखना है कि क्या मैंने अपनी इन सभी प्राप्तियों की दुर्लभता की पहिचान कर ली है और इनकी दुर्लभता का अपने आत्म-विकास के परिप्रेक्ष्य में वास्तविक आकलन करके इन प्राप्तियों को पूरी सावधानी से सहेजने का संकल्प कर लिया है? क्या यह भी मैंने सोचा है कि मेरे किस पुण्योदय के प्रतिफल-स्वरूप ये दुर्लभ प्राप्तियाँ मुझे सुलभ हुई हैं? कारण, इन प्रश्नों का सही विश्लेषण कर लेने के बाद ही मैं अपना भावी कार्यक्रम निर्धारित कर पाऊंगा कि अब मुझे कितनी अधिक लगन और जीवट से शुभ कार्यों में लगना चाहिये ताकि ये दुर्लभ प्राप्तियाँ अपने आत्म विकास को उच्चतर श्रेणियों में ले जाने की दृष्टि से अधिकाधिक सहायक बनें।

मैं कल्पना कर रहा हूँ कि मेरा कोई स्नेही एक अमूल्य हीरा मेरे हाथ पर रखकर चुपचाप वहाँ से चला जाय और उस हीरे को मैं आश्चर्य से निरखता ही रहूं तो उस समय मेरी क्रियाशीलता क्या होगी? यह क्रियाशीलता मेरे अपने स्वभाव तथा उस समय मेरी जानकारी के अनुसार ही प्रकट होगी। अगर मुझे हीरे के मूल्य या महत्त्व के बारे में सामान्य जानकारी भी नहीं होगी तो मैं झुंझला कर उसे फेंक दूंगा यह समझकर कि मेरे स्नेही ने फालतू की चीज पकड़ा कर व्यर्थ ही में मेरा उपहास किया है। यदि मुझे सामान्य जानकारी भी होगी तो मैं उसे निरख कर अपने हिसाब से ही सही—परखने की चेष्टा करूंगा। परखने में मन के विश्वास ने मदद की तो मैं उस हीरे की बहुमूल्यता समझ जाऊंगा और अपने उस स्नेही के प्रति अपना आभार प्रकट करूंगा। उसके बाद अवश्य ही मैं उस हीरे की सहायता से अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बना लूंगा।

इसी क्रमिकता को मैं जब मनुष्य तन के साथ जोड़कर देखता हूँ तो अनुभूति जागती है कि जो लोग अमूल्य हीरे जैसे इस मनुष्य जीवन को कांच के टुकड़े जैसा मान कर संसार की

भौतिक सुख सुविधाओं की प्राप्ति में ही उसका दुरुपयोग करते रहते हैं, उन पर मुझे बड़ी दया आती है। क्योंकि वे अपने अज्ञान अथवा अपने अपौरुष की स्थिति में इस अमोल मनुष्य जीवन की महत्ता को आंक ही नहीं पाते हैं। वे मानव जीवन का ऐसा दुरुपयोग करके इस जीवन को तो विनष्ट करते ही हैं, किन्तु आत्म-विकास की दृष्टि से भविष्य को भी कंटकाकीर्ण बना लेते हैं। 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' जैसे अनैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके वे लोग मात्र इस तन का पोषण करने में ही लग जाते हैं—उसके पहले लगे विशेषण 'मानव' के महत्त्व को विसार देते हैं।

मेरा चिन्तन यह है कि इस तन का उतना ही पोषण करना चाहिये जितने से इसे आत्मा के पोषण एवं विकास में सार्थक दृष्टि से नियोजित किया जा सके। मानव जीवन का सही मूल्यांकन करना एवं उसके मूल्यानुसार उसे वैसे कार्य में नियोजित करना—यह विवेकशील पुरुष का कर्त्तव्य है। मैं सोचता हूँ कि जब ज्ञान के प्रकाश में मेरा विवेक जागृत हो तो मैं वास्तविकता को समझने में उसका पूरा उपयोग क्यों न करूं? क्यों समझते-बूझते हुए इस अमूल्य जीवन का अपव्यय करूं एवं मूढ़ कहलाऊं?

मैं मूढ़ नहीं बनना चाहता हूँ तो भला दूसरा कोई भी क्यों मूढ़ बनाना चाहेगा? इसलिये आवश्यकता इस बात की भी है कि इस मानव तन एवं अन्य प्राप्तियों की दुर्लभता नासमझ लोगों को भी समझाई जाय तथा उन्हें इनका सदुपयोग करने की सत्प्रेरणा दी जाय। मैं स्वयं अपनी समझ को पक्की बनाकर यह कार्य भी करना चाहता हूँ। कारण, जो एक बार इस मानव तन के वास्तविक महत्त्व को आंकना व समझना शुरू कर देगा, वह इसके सदुपयोग के विषय में भी अवश्यमेव चिन्तन करेगा। चिन्तन की तब यही परिणति होगी कि वह अपने आचरण को इस रूप में ढाले कि जिससे आत्म विकास एवं सर्व सेवा का कार्य सहज हो जाय। स्पष्ट चिन्तन के बाद ही उसका मंतव्य बन जायगा कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।' यह मंतव्य ही उसे समग्र क्रियाशीलता की दिशा में मोड़ देगा। फिर तो वह आगे ही सोचेगा और आगे से आगे ही बढ़ता रहेगा। उसकी प्रगति को कोई भी अवरुद्ध नहीं कर सकता जब तक कि उसकी सम्यक्त्व निष्ठा, अटल आस्था एवं संयम साधना सुदृढ़ वनी रहेगी।

मैं यही सोच रहा हूँ कि कैसे मैं अपने इस दुर्लभ मनुष्य तन तथा अन्य दुर्लभ प्राप्तियों के पूर्ण सदुपयोग का दृढ़ संकल्प लूं एवं धर्म साधना में निरत बनूं?

मानवीय चिन्तन के मोड़

आत्म-विकास की इस महायात्रा में भी कई दोराहे, तिराहे और चौराहे आते हैं जिन पर कुछ देर ठहर कर गहराई से सोचकर अपने जाने का सही रास्ता निश्चित करना होता है। यदि एक बार भी भूल हो जाती है और गलत रास्ते पर आगे बढ़ जाते हैं तो उस भूल को सुधारना कठिन कार्य बन जाता है। दोराहे, तिराहे या चौराहे पर शान्तिपूर्वक यदि अपना सही मार्ग नहीं खोज पाये तो समझिये कि कई बार जितना चले हैं, वह सब भी व्यर्थ हो जाता है बल्कि पांव नये-नये बीहड़ों में उतर कर बेकाम हो जाते हैं।

मैं इन दोराहों, तिराहों या चौराहों को मानवीय चिन्तन के मोड़ मानता हूँ। इन बहुमार्गीय केन्द्रों पर ही साधक की परीक्षा होती है कि वह सही मार्ग खोज पाता है अथवा नहीं। इस खोज के

आधार पर ही उसके चिन्तन का मूल्यांकन किया जायगा। प्रगति का सही मार्ग खोज लेने पर ये केन्द्र मानवीय नव-चिन्तन के मोड़ बन जाते हैं।

सामाजिकता के प्रारंभ से देखें अथवा अपने स्वयं के जीवनारंभ से देखें और सभी तरह के विचारों के द्वन्द्वों का विश्लेषण करें तो सरलता से समझ में आ जायेगा कि जब-जब आसक्ति और ममत्व की मूर्च्छा हमारे मन-मस्तिष्क को घेरती है, तब-तब हम अपने निजत्व को भूलकर जड़ तत्त्वों एवं सांसारिक उपलब्धियों को पा लेने में तथा व्यक्ति-मोह को पुष्ट बनाने में अपनी समस्त शक्तियों को नियोजित कर देते हैं। तब हमारी क्रियाएँ आत्म-विकास के विपरीत बन जाती हैं और हमारी आन्तरिकता राग-द्वेष तथा प्रमाद के कलुष से कालिमामय हो उठती है। तब हम स्वार्थ के ममत्त्व पक्ष में गिरकर पर के प्रति अन्याय एवं अत्याचार की भावना से आक्रान्त हो जाते हैं। ऐसी दशा हमारी आत्म विस्मृति होती है। यह दशा हमें चिन्तनहीन जड़ग्रस्तता की ओर ले जाती है। इस दशा में चिन्तन की विपरीतता अथवा विगति उभर कर ऊपर आ जाती है और विपरीतता या विगति में मानवीय मूल्य दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। ऐसी मनःस्थिति में दोराहे, तिराहे या चौराहे पर सही मार्ग की खोज प्रायः असफल ही रहती है।

किन्तु मेरा चिन्तन चलता है कि यदि मैं मानव जीवन के दुर्लभ महत्त्व को भली-भांति आंक लूं एवं अन्य दुर्लभ प्राप्तियों की भी पूरी सहायता ले लूं तो निश्चय ही मेरी दृष्टि सम्यक् बन जायगी और सही मार्ग की खोज भी सफल होगी क्योंकि मेरी दृष्टि एवं विचारणा पर आसक्ति या ममत्व की धुंध जमी हुई नहीं होगी। उस उन्नत मन-मानस के साथ मैं अपनी प्रत्येक समस्या का समाधान बाहर से भीतर प्रवेश करके खोजूंगा और आन्तरिकता की गहराइयों में उतर कर सुन्दर समाधान के मोती बाहर निकाल लाऊंगा। वह चिन्तन और खोज मेरे लिये आनन्द के विषय बन जायेंगे। मेरी आस्था है कि तब मेरा चिन्तन भी विकास की ऊँची से ऊँची सीढ़ियों पर चढ़ता जायेगा और समग्र जीवन को समर्पित दृष्टिकोण वाला बना देगा। फिर मैं अपने प्रत्येक कार्य के माध्यम से मानवता की कसौटी पर खरा उतरना चाहूंगा और सबको एक में तथा एक को सबमें देखने का अभ्यास करूंगा। मुझे इसी चिन्तन के नये-नये मोड़ों से विश्व-कल्याण के नये-नये आयाम दृष्टिगत होंगे।

इस दृष्टि से मैं अपना अन्तरावलोकन करता हूँ तो देखता हूँ कि अनुकूलताओं तथा प्रतिकूलताओं के हिंडोले में मैंने बहुत चक्कर काटे हैं, तृप्ति तथा अतृप्ति की काफी कुंठाएँ सहन की हैं और अपनी क्रियाओं की विपरीतता के कारण मैं बाह्य जगत् की अंधेरी गलियों में बेहद भटका भी हूँ। परिणामस्वरूप मैं अज्ञान, आसक्ति एवं मूर्छा के घेरों में पड़ा छटपटाता रहा हूँ। वह छटपटाहट कब मिटी, कैसे मिटी, किसने मिटाई, यह सब कुछ मैं नहीं जानता, किन्तु सत्संयोगों ने मेरी भावनाओं की दबी हुई चिनगारी को उघाड़ा है और उसे वीतराग धर्म की हवा दी है। तब वही चिनगारी तेजोमय बन कर मुझे सम्यक् श्रद्धा का मार्ग दिखाती है तो संयमाभिमुख भी बनाती है।

मैंने अनुभव किया है कि चिन्तन के भिन्न-भिन्न मोड़ ही आत्म-जागरण की ओर ले जाते हैं और उनका अभाव ही आत्म-विस्मृति के गर्त्त में पटक कर मुझे शून्य सा बनाता आया है। परन्तु मानवीय चिन्तन के ये स्वाभाविक मोड़ माने गये हैं कि मनुष्य पहले अपने जीवन-निर्वाह हेतु पदार्थों को प्राप्त करने का प्रयास करता है और उस प्रयास में जब पारस्परिक टकराव गहरे और घातक

होते हैं तब उस दोराहे पर एक मार्ग पर वह आगे बढ़ जाता है। या तो वह परम स्वार्थी तथा क्रूर बनकर मानवता के प्रति अन्याय में लिप्त हो जाता है अथवा उस टकराव से वह करुणा सीखता है, त्याग भाव से आप्लावित होता है एवं 'सर्वभूतेषु आत्मवत्' बनना शुरू हो जाता है। किन्तु होता है यह सब चिन्तन के ही बल पर।

मैंने चिन्तन का अभिप्राय यह समझा है कि सामने उपस्थित परिस्थितियों को विवेक के साथ समझना, साध्यगत आदर्शों के संदर्भ में उन पर गहराई से विचार करना तथा ऐसे सोद्देश्य बन कर अपने उस समय के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण करना। इस प्रक्रिया में जितने सर्वजन हितकारी मोड़ आते हैं, उतना ही व्यक्ति समाज में महान् होता जाता है। एक अवस्था यह भी आती है जब व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को घनीभूत सामाजिकता में तिरोहित कर देता है —वह व्यक्ति और समाज की श्रेष्ठता की अवस्था होती है।

मेरा चिन्तन चलता है कि मैं भी मानवीयता के उच्चस्थ मोड़ों से गुजरूं और आत्म विकास की नई मंजिलें तय करूं। इस यात्रा में मैं दुःख और सुख का वास्तविक स्वरूप समझ सकूंगा तथा समीक्षण कर सकूंगा कि सब लोग जिसे सुख की संज्ञा देते हैं, वह भला वास्तव में सुख है भी या नहीं और जिसे दुःख मानकर चलते हैं, क्या वही दुःख सही चिन्तनधारा में आत्म-जागृति का प्रेरक नहीं बन जाता है ? सुख-दुःखानुभव का समीक्षण अवश्य ही मुझे नया ज्ञान प्रदान करेगा।

सुख-दुःखानुभव का समीक्षण

मुझे वीतराग देवों के इस वचन में अपार आस्था है कि सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता अतः किसी को दुःख मत दो। इसका अभिप्राय यह है कि ऐसे समाज का निर्माण करो जिसमें हिंसा का चलन एकदम बन्द हो जाय और अहिंसा ही सर्व प्रकार के आचरण का मूलाधार बन जाय। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच मूल्यात्मक चेतना की प्रबल अभिव्यक्ति के साथ ऐसा समतापूर्ण व्यवहार हो कि सारे समाज में सुख, शान्ति एवं समृद्धि का वातावरण प्रसारित हो जाय। सभी इस उक्ति में विश्वास करने लगें कि दुःख न दो, दुःख नहीं होंगे एवं सबको अपने आचरण से सुख दो ताकि स्वयं भी सदा सुख का रसास्वदन करते रहो। सुख और दुःख के अनुभव के संदर्भ में अज्ञान होने के कारण ही व्यक्ति सिर्फ अपने ही लिये सुख का वातावरण बनाना चाहने लगता है तथा उसकी उसी स्वार्थी वृत्ति का दुष्परिणाम प्रकट होता है कि वह हिंसा का आचरण करना आरंभ करता है। कई बार वह सामूहिक हित के लिये भी मात्र अज्ञान के कारण हिंसा का आचरण करना चाहता है। हिंसा का मूल ही अज्ञान होता है। इसी कारण वह यह तथ्य नहीं समझ पाता है कि तात्कालिकता को छोड़ कर हिंसा का दूरगामी प्रभाव सारे समाज को तथा स्वयं उसको भी दुःखों के महासागर में पटक देता है।

मेरा यह अनुभव है कि श्रेष्ठ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये भी अपनाये गये हिंसात्मक कृत्य में हिंसा, हिंसा ही रहेगी।

मेरा मानना है कि सुख एवं दुःख के अनुभवों का समीक्षण करते समय हिंसा के स्वरूप को भलीभांति समझ लेना चाहिये। हिंसा का अर्थ केवल किसी भी अन्य प्राणी को प्राणविहीन करना ही नहीं है, किन्तु किसी भी प्राणी की उसकी अपनी स्वतन्त्रता का किसी भी रूप में हनन करना भी हिंसा की ही व्याख्या में सम्मिलित माना गया है। अतः आप्त पुरुषों का उपदेश है कि किसी भी

प्राणी को मत मारो—उसके प्राणों को चोट मत पहुँचाओ। इसका भी बड़ा गूढ़ आशय है। इस प्राणों—पांचों इन्द्रियों, मन, वचन, काया, श्वासोश्वास तथा आयुष्य में से किसी भी प्राण पर आघात मत करो। किसी का जीवन समाप्त कर देना तो हिंसा है ही, लेकिन किसी की किसी भी इन्द्रिय, मन, वचन या काया अथवा उसके श्वासोश्वास तक को चोट पहुंचाना भी हिंसा के अंग माने गये हैं।

मुझे पूरी एकाग्रता से प्रत्येक समय में अपना यह कर्त्तव्य ध्यान में रखना है कि मैं किसी भी अन्य प्राणी के प्राणों में से किसी एक प्राण को भी किसी भी रूप में किसी भी प्रकार का आघात नहीं पहुँचाऊं। दूसरे, इन प्राणों से सम्बन्धित किसी भी प्राणी की उसकी अपनी स्वतन्त्रता को भी किसी भी कारण प्रतिबाधित न करूं। मैं सभी प्राणियों की सभी प्रकार की स्वतन्त्रताओं का पूरी तरह सम्मान करूं, बल्कि खोई हुई उनकी स्वतन्त्रताओं को उन्हें प्राप्त कराऊं। अन्य प्राणियों की स्वतन्त्रताओं को स्थायी बनाने का मैं यह अर्थ मानूं कि किसी भी प्राणी पर मैं अपना शासन करने की चेष्टा न करूं—किसी भी रूप में उसे अपना गुलाम न बनाऊं क्योंकि किसी भी प्राणी को सताने से उसके मन में अशान्ति का ज्वार उठता है तथा अशान्त मन ही हिंसा की राह पर मुड़कर सारे समाज में हिंसा के चलन को बढ़ाता है। एक व्यक्ति की हिंसा सामाजिक हिंसा का रूप लेती हुई सर्वत्र फैलने लगती है तब सारा समाज अशान्त हो उठता है। सामाजिक अशान्ति का परिणाम होता है, सामाजिक दुःख याने कि सबका दुःख। जब हिंसा के वातावरण में सभी दुःखी होंगे तो किसी को भी सुख कहाँ से मिलेगा ?

इसलिये मैं यह मानकर चलता हूँ कि अपने या पूरे समाज के दुःख के लिये हम ही जिम्मेदार हैं या यों कहें कि इस दुःख और सुख के नियन्ता हम हैं। कर्मोपार्जित दुःख भी शान्तिपूर्वक सहन कर लिया जाय तो वह भी भावी सुख का कारण बन जाता है। इस दृष्टि से चाहे व्यक्ति के लिये हो या व्यक्ति-व्यक्ति के माध्यम से सम्पूर्ण समाज के लिये हो, समतामय व्यवहार ही सुखानुभव की पहली और अनिवार्य शर्त है। अपने स्वयं के मानसिक सन्तुलन के लिये अथवा अन्य सभी प्राणियों के प्रति आचरित किये जाने वाले समता-भाव में ही धर्म का स्वरूप माना गया है।

इस आधार पर मेरा संकल्प बनता है कि सभी प्राणियों के बीच सभी स्तरों पर विकास का विशिष्ट अन्तर होते हुए भी मैं सभी प्राणियों के अस्तित्व को स्वीकार करूं क्योंकि यदि ऐसा मैं नहीं करूंगा तो मैं अपने अस्तित्व को भी नकारूंगा। आस्तित्व को स्वीकार करने का सीधा-सा अर्थ है कि उसको किसी भी रूप में मैं नहीं सताऊं तथा उसको जैसी भी स्वतन्त्रता की अपेक्षा है उसे मैं बरकरार रखूं या बहाल करूं। वैसी अवस्था में अपने लिये किसी भी प्राणी का हनन कभी भी संभव नहीं होगा। सभी प्राणियों को उस रूप में दुःख नहीं दूंगा और सुख देने का यत्न करूंगा जिस रूप में मैं दुःख नहीं चाहता हूँ और अपने लिये सुख प्राप्त करना चाहता हूँ।

सुख जो मैं चाहता हूँ और जो सभी प्राणी चाहते हैं, उसका विश्लेषण दस भेद के रूप में है—(१) आरोग्य (पहला सुख निरोगी काया) (२) दीर्घायु—जो शुभ रूप हो, (३) आढ्यत्व —विपुल धन सम्पत्ति का होना, (४) काम —इन्द्रियों के शुभ विषयों की प्राप्ति, (५) भोग —शुभ गंध, शुभ रस तथा शुभ स्पर्श का ग्रहण, (६) सन्तोष—अल्प इच्छाओं के साथ चित्त की शान्ति, (७) आस्ति सुख—आवश्यकता के समय पदार्थ की प्राप्ति, (८) शुभ भोग—अनिन्दित (प्रशान्त) भोग, (९) निष्क्रमण —सांसारिक झंझटों की फंसावट से निकल कर सदा सुखकारी संयम स्वीकार

करना तथा (१०) अनाबाध सुख—जन्म, जरा, मरण, भूख-प्यास आदि बाधाओं से मुक्त मोक्ष का सुख।

उपरोक्त दस सुखों को दो भागों में वर्गीकृत कर सकते हैं—(१) भौतिक तथा (२) आध्यात्मिक। यहाँ यह समझ लें कि इन दोनों वर्गों के सुखों में पारस्परिक विरोध नहीं, अपितु सामंजस्य है। आत्म धर्म का माध्यम शरीर है और शरीर भौतिक पिंड होता है। इस भौतिक पिंड को भी उस सीमा तक सुखी रखना होगा, जिस सीमा तक वह आध्यात्मिक साधना की सफलता का सबल सहयोगी बना रहे। सुख के पहले के पांच भेद भौतिक वर्ग के माने जा सकते हैं तो अन्तिम पांच भेद आध्यात्मिक वर्ग के। यों देखें तो पहले के पांचों सुखों की उपलब्धि के बाद ही अन्तिम पांचों सुखों की खोज और प्राप्ति अधिक सरल, स्वाभाविक तथा स्थायी होगी।

मैं कल्पना करता हूँ कि मुझे ये सुख प्रिय थे और हैं, इनकी मैं अभिलाषा रखता था और रखता हूँ तो उसके साथ ही मैं यह भी कामना करता हूँ कि ये सुख सभी प्राणियों को भी प्राप्त हो तथा इस उद्देश्य से मैं अपने समग्र आचरण को इस रूप में सन्तुलित तथा संयमित बनाऊं कि सबको ये सभी सुख उपलब्ध कराने में मैं किसी भी प्रकार से बाधक न बनूं बल्कि सहायक और सहयोगी बनूं। सबको सुख देने की मैं कामना करूंगा और चेष्टा रखूंगा और सभी इस प्रकार की कामना तथा चेष्टा से प्रेरित होंगे तो भला किसी को भी दुःख क्यों होगा ?

मैं एक और स्थूल तथ्य की ओर सभी प्राणियों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि सुख या दुःख का उद्भव अपने ही मन से होता है—पदार्थ या परिस्थितियाँ तो निमित्त मात्र बनती हैं और मन की एकाग्रता तथा संयमितता सधी हुई हो तो दुःखपरक निमित्तों को भी सुख के कारण रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। विचार ही में सुख होता है तथा विचार ही में दुःख।

संवेदनशीलता का अनुभाव

दूसरे प्राणियों के मन की इच्छाओं को जानना, समझना तथा महसूस करना संवेदनशीलता कहलाती है। जो दूसरा प्राणी वेदता है, वह मैं भी वेदूं—यह है संवेदन। संवेदनशीलता के अनुभाव से आप्लावित होने पर चाहे मैं होऊं या अन्य कोई भी प्राणी हो, एक दूसरे के लिए कुछ ऐसा ठोस कार्य करने की प्रवृत्ति सजग हो उठती है जिससे मन में रही हुई इच्छा की सम्यक् पूर्ति हो या कि मन में रहा हुआ दुःख दूर होकर वहाँ सुखानुभव सुलभ हो। सच मानें तो संवेदनशीलता से ही समता-भाव का स्रोत उद्भूत होता है।

मेरी यह निश्चित मान्यता है कि मेरे हृदय के भीतर तथा इसी प्रकार सभी मनुष्यों के हृदयों के भीतर संवेदनशीलता का अनुभाव जितना अधिक गहरा, स्वभावगत और स्थायी बनेगा, उतना ही एक अहिंसक समाज का निर्माण सरल बन सकेगा। सच्चा समतामय एवं सुखी समाज वही हो सकता है जिसका एक-एक सदस्य एक दूसरे के प्रति पूर्णतया संवेदनशील बने तथा अपने समस्त व्यवहार में सतत रूप से संवेदनशील बना रहे।

मैं कल्पना करता हूँ एक ऐसे समाज की कि जिसमें न शोषण हो और न अराजकता, न अनुशासनहीनता हो और न अशान्ति तथा न पारस्परिक तनाव हो और न कटुता एवं संघर्ष। हो सकता है ऐसे समाज का निर्माण ?

इस परिप्रेक्ष्य में मैं वर्तमान मानव समाज की कुछ चर्चा करना चाहूँगा। कैसी परिस्थितियाँ हैं आज के इस समाज में और किन दुरावस्थाओं में छटपटा रहा है आज का मानव? आज जिधर देखें उधर शोषण, दमन और अशान्ति का साम्राज्य दिखाई देता है जो निश्चय ही हिंसामय आचरण से उभरा हुआ है। एक ओर बहुसंख्य समुदाय बुनियादी भौतिक आवश्यकताओं तक से विहीन होकर अभावों के नित के प्रहारों से दम तोड़ रहा है तो दूसरी ओर निहित स्वार्थियों का छोटा समुदाय आम लोगों की मेहनत का शोषण करके अपने लिये धन और ऐश्वर्य के अम्बार खड़े कर रहा है। यही नहीं, वह वर्ग अपने स्वार्थों की रक्षा में राजनैतिक सत्ता पर भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कब्जा किये हुए है जिस सत्ता से शोषण की रखवाली में दमन का दौरदौरा भी चलाया जाता है। इन्हीं आधारों पर राष्ट्र आपस में टकराते रहते हैं जिससे सबके सामने विश्व युद्ध का खतरा मंडरा रहा है। कुल मिलाकर सब जगह और सबके मन में हिंसा का तांडव मचा हुआ है। हिंसा के बल पर ही अपने स्वार्थ पूरे किये जाते हैं, विषमता फैलाई जाती है और अन्याय व अत्याचार का कुचक्र रचा जाता है। सम्पन्न वर्ग शक्ति के मद में चूर होकर हिंसा का आचरण करता है तो अभावग्रस्त वर्ग भी विवशता के विक्षोभ में अपनी असफल हिंसा से पीड़ित रहता है। आश्चर्य तो यह है कि श्रेष्ठ उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भी हिंसा का ही आश्रय लिया जा रहा है और सम्पूर्ण विश्व में हिंसा का नग्न रूप आतंकवाद रक्तपिपासु के रूप में अट्टहास कर रहा है।

और आज का सामान्य जन इस महाहिंसा के कुचक्र में बुरी तरह से पिसा जा रहा है। वह छटपटाता है कि उसका चहुंमुखी दुःख असह्य हो उठा है और उसकी अपने सुख की आशा मृगतृष्णा बन गई है। छोटे से शक्तिशाली वर्ग की अथाह तृष्णाओं के बीच में उसका अस्तित्व तक शून्य बनता जा रहा है। उसकी दुरावस्था पशुओं से भी बदतर हो गई है।

मैं देखता हूँ कि इस सर्वव्यापी हिंसा के कारण ही आज के मानव की यह घोर दुर्दशा है। भयंकर हिंसा से भयावह अशान्ति फैली हुई है और जितनी अधिक अशान्ति फैलती है उतनी ही अधिक भयत्रस्तता एवं अभावग्रस्तता से हिंसक आचरण में बढ़ोत्तरी होती है। हिंसा से अशान्ति और अशान्ति से हिंसा का दुष्चक्र अविरल गति से घूमता ही जा रहा है। इस समूचे वातावरण का जो सर्वाधिक घातक परिणाम सामने है, वह है संवेदनशीलता के अनुभाव का अधिकांश अभाव।

संवेदनशीलता की डोर टूटती है तो मनुष्य मनुष्य से टूटता जाता है —सहृदयता एवं सद्‌भाव से हीन होता जाता है। सच कहें तो वह मनुष्यता एवं मानवीय गुणों से ही हीन हो जाता है। जब मनुष्यता का ही अभाव होने लगे तो मनुष्य में फूटने वाले 'पशु' के कदाचार को कौन रोक सकता है? इस दृष्टि से एक हिंसक मनुष्य या समाज को परिवर्तित करने के लिये भी पुनः संवेदनशीलता के अनुभाव को उभारने का सद्‌प्रयत्न ही करना पड़ेगा। समझिये कि मैं आज के मानव और मानव समाज की दुरावस्था को महसूस करता हूँ तो मुझे ही आगे बढ़कर संवेदनशील बनना होगा, मेरी संवेदनशीलता को दूसरों पर प्रकट करनी होगी तथा अपनी संवेदनशीलता की सहायता से दूसरों की मनोव्यथा एवं पीड़ा मिटानी होगी। इसी प्रक्रिया द्वारा एक-एक व्यक्ति के आश्रय से संवेदनशीलता के अनुभाव का विस्तार करना होगा। इस सहृदय विस्तार को कुछ हृदयहीन निहित स्वार्थी भले ही रोकने की कुचेष्टाएँ करें लेकिन यह निश्चय है कि भावनाभिभूत होकर बहुसंख्यक वर्ग संवेदनशील बनने लगेगा क्योंकि वह समझ जायगा कि उनके व्यथित हृदयों को मिलाने तथा सुख से सुख उपजाने की डोर संवेदनशीलता का अनुभाव ही है।

आज मैं इस तथ्य को देख रहा हूँ कि मनुष्य अपने निज के दुःखों को तो अनुभव कर लेता है किन्तु दूसरों के दुःखों के प्रति वह संवेदनशील नहीं बन पाता है। उसकी यह वृत्ति धीरे-धीरे उसे क्रूरता की तरफ धकेलती रहती है जिसके कारण वह दूसरों के सुखों के प्रति आक्रामक भी हो जाता है। तब उसमें राक्षसी वृत्ति खुल कर खेलने लग जाती है। यही वातावरण हिंसा को सर्वत्र उमाड़ता है। संवेदनशीलता का अभाव ही हिंसा का मूल है तो संवेदनशीलता का सद्भाव मनुष्य या समाज को अहिंसा की ओर मोड़ता है। जब दूसरों के दुःख भी हमें अपने जैसे लगने लगें, जब दूसरों का रोना चिल्लाना भी हमें अपने रोने और चिल्लाने के समान महसूस हो तो उस समय समस्त वृत्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ अवश्य ही अहिंसामय आचरण की दिशा में अग्रसर बनेंगी। यह मान्य सिद्धान्त है कि अहिंसा को जीवन के समग्र विचार एवं आचार में उतार लेने के बाद स्वतः ही समतामय समाज की आधारशिला पड़ जायेगी क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपने साथियों एवं समस्त प्राणियों के सुख-दुःख के प्रति पूर्णतः संवेदनशील होगा।

मैंने कई बार इस वातावरण में सुखानुभूति ली है कि चाहे परिवार में हो, समाज में हो या राष्ट्र में—यह विचार और व्यवहार सुख उपजाता है कि वहाँ प्रत्येक सदस्य अपने से भी ज्यादा दूसरे सदस्य के सुख-दुःख का ख्याल रख रहा है। ऐसी निष्ठा के बावजूद भी यदि दुःख नहीं मिटाया जा सकता है तब भी वह दुःख दुःख की भांति नहीं अनुभव किया जाता क्योंकि संवेदनशीलता का सुख उसमें समाया हुआ होता है। सबकी मान्यता यही रहती है कि कर्मफल के उदय से जो दुःख भोगना होता है वह तो उस मनुष्य को भोगना ही पड़ेगा किन्तु उस समय में उसके साथियों की जो संवेदनशीलता और सहानुभूति उसे प्राप्त हो जाय या होती रहे तो वह उस दुःख को धैर्य और शान्तिपूर्वक सहन कर सकेगा और ऐसा करके वह भावी दुःखों के मूल को ही समाप्त कर सकेगा। इस प्रकार यह संवेदनशीलता का अनुभाव मनुष्य के और समाज के दुःखों को कम करने तथा भावनात्मक दृष्टि से दुःखों का मूल ही समाप्त कर देने के लिये एक रामबाण औषधि है।

मनुष्य की क्रियाओं के प्रयोजन

यह सही है कि संवेदनशीलता का अनुभाव सर्व जन दुःख निवारण के लिये एक रामबाण औषधि है। किन्तु मात्र किसी औषधि के पास में होने से रोग का निवारण नहीं हो जाता है। रोग के निवारण के लिये विधिपूर्वक उस औषधि को ग्रहण करने की क्रिया करनी होती है। उसी प्रकार संवेदनशीलता स्वतः ही प्रसारित और विस्तारित नहीं हो जाती है। इस अनुभाव के प्रसार और विस्तार के लिये मनुष्यों को अपनी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों से विधिपूर्वक विभिन्न क्रियाएँ करनी होगी और सम्पूर्ण हार्दिकता से उन्हें सफलता के शिखर पर पहुँचानी होगी। समुच्चय में मानें तो मनुष्य की क्रियाओं का केन्द्रीकृत प्रयोजन यही होना चाहिये कि वह अपने हृदय में तथा अपने साथियों के हृदयों में संवेदनशीलता के अनुभाव का संचार करे।

मनुष्य की क्रियाओं के प्रयोजन क्या होने चाहिये—यह दूसरी बात है। मैं पहले यह बताना चाहता हूँ कि प्राकृतिक ढंग से ऐसे प्रयोजन कौन से होते हैं। मैं ही अपने लिये सोचूं कि प्रारंभ में ही मनुष्य को ज्ञान का प्रकाश प्राप्त नहीं हो जाता है अतः मैं भी अपने मन, वचन तथा काया की क्रियाओं की सही दिशा नहीं समझता था। इस जन्म में ही नहीं, पहले के कई जन्मों में भी ऐसा ही होता रहा है कि मुझे अपनी क्रियाओं की न तो सही दिशा का ज्ञान था और न ही मैं उनके

प्रयोजनों को भलीभांति समझता था। इस अवस्था का मेरी आत्मा की कर्मबद्धता पर दूरगामी प्रभाव पड़ता रहा और मेरा अनेक योनियों में जन्म-मरण चलता रहा।

मैं इस जन्म के प्रारंभ में भी अपने मन, वचन एवं काया की क्रियाओं को इन प्रयोजनों के लिये संचालित करता रहा कि (१) मैं अपने वर्तमान जीवन की रक्षा कर लूं, (२) मैं दूसरों से प्रशंसा, आदर तथा पूजा पाऊं एवं (३) मैं भावी जीवन की उधेड़बुन और वर्तमान में मरण-भय से त्रस्त होकर परम शान्ति प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील बनूं व दुःखों को दूर करदूं। इन प्रयोजनों के कारण ही मुझे क्रियाओं का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त हुआ। किन्तु खेदपूर्वक मैं यह स्थिति स्पष्ट करना चाहता हूँ कि मैंने और मेरी तरह अन्य प्राणियों ने क्रियाओं के प्रयोजनों का ज्ञान होने के बाद अज्ञानवश उन प्रयोजनों की पूर्ति के लिये हिंसा को ही साधन के रूप में ग्रहण किया। हिंसा के तीनों रूप काम में लिये गये—हिंसा की गई, हिंसा करवाई गई तथा हिंसा का अनुमोदन किया गया।

जो प्रयोजन ऊपर अंकित किये गये हैं, इस संसार में मनुष्यों की क्रियाएँ इनकी पूर्ति हेतु ही अधिकांशतः संचालित होती हैं तथा इन प्रयोजनों की अपेक्षा से ही मनुष्यों की क्रियाओं का मूल्यांकन किया जा सकता है। जैसे हम प्रयोजन सं. १ को ले लें। मैं जब यह सोचता हूँ कि मैं अपने वर्तमान जीवन की रक्षा करूं तो यह प्रयोजन कोई अनुचित नहीं है, कारण वर्तमान जीवन की रक्षा पर ही मेरा भावी आत्म-विकास आधारित रहेगा। यह एक प्रकार से ऐहिक जीवन की कामना है। प्रयोजन सं. २ भी ऐहिक कामना का ही रूपक है कि मुझे प्रशंसा, आदर और पूजा चाहिये। वांछनीय तो यह है कि मैं अपने सत्कार्यों तथा सत्प्रयासों को प्राथमिकता दूं और प्रशंसा, आदर आदि के बारे में न सोचूं। किन्तु यह कामना वहाँ तक भी क्षम्य मानी जा सकती है कि मैं अपनी इस कामना की पूर्ति वस्तुतः अपने सत्कार्यों व सत्प्रयासों के आधार पर ही करता हूँ। प्रयोजन सं. ३ के अनुसार मैं परम शान्ति प्राप्त करूं तथा दुःखों को दूर करूं —यह सर्वथा उचित है किन्तु मात्र उधेड़बुन और भयत्रस्तता से उस दिशा में मुड़ूं उसकी अपेक्षा सम्यक् ज्ञान तथा उन्नत विवेक से उस दिशा में अग्रसर बनूं —यह अधिक समीचीन रहेगा।

मेरी इन प्रयोजनों की पूर्ति हेतु संचालित की जाने वाली क्रियाओं के मूल्यांकन में एक विशेष बात का भी मुझे ध्यान रखना होगा कि उस समय मैं येन केन प्रकारेण वह प्रयोजन पूरा कर लेने का ही यत्न करता हूँ अथवा इसकी पूरी सतर्कता रखता हूँ कि उस प्रयोजन की पूर्ति में संचालित की जाने वाली प्रत्येक क्रिया का रूप तथा अपनाया जाने वाला प्रत्येक साधन शुद्ध और अहिंसक भी होना चाहिये। जब-जब भी इस ओर से मैंने आँखें मूंदी है तो मेरे पैर बराबर बहके हैं और वे मेरी गति को पीछे मोड़ ले गये हैं। कई बार ठोकरें खाकर ही मैं सही चेतावनी ले सका हूँ कि इन प्रयोजनों की पूर्ति हेतु विधियुक्त क्रिया एवं अहिंसक साधन ही काम में लिये जाने चाहिए, इनकी पूर्ति ऐहिक कामनाओं के वशीभूत होकर नहीं करनी चाहिये तथा बिना अन्य प्राणियों के हितों को किसी भी प्रकार का आघात पहुँचाये बिना इनकी पूर्ति हेतु एक सीमा तक ही आगे बढ़ना चाहिये।

क्रियाओं की विपरीतता

इन विभिन्न प्रयोजनों की प्राप्ति के लिये क्रियाएँ करने वाले मनुष्यों के सामने एक बड़ा खतरा भी मंडराता रहता है। खतरा यह कि वह इन प्रयोजनों को अपने ही स्वार्थों के घेरे में कैद कर लेता है याने कि वह कामना करता है कि कुछ भी करके वह 'अपने ही' जीवन की रक्षा करे

जोड़-तोड़ मिला कर झूठी ही सही लेकिन अपने लिये प्रशंसा, आदर और पूजा प्राप्त करें अथवा अन्य प्राणियों के हितों को कुचल कर अपने लिये शान्ति या सुख हथियाने की कुचेष्टा करें। जब प्रयोजन ही समझे जायेंगे किन्तु उनके सदाशय को एवं प्राप्ति की क्रिया की शुभता को ध्यान में नहीं लिया जायेगा तो वैसे मनुष्य के कदम निश्चय ही हिंसा की ओर बढ़ेंगे। फिर वह विभिन्न प्रयोजनों की प्राप्ति के लिये विभिन्न जीवों की बेहिचक हिंसा करेगा, हिंसा करवायेगा और हिंसा का अनुमोदन करेगा। सम्यक् ज्ञान के अभाव में यह जो गलत मोड़ पकड़ लिया जाता है तब क्रियाओं का स्वरूप भी बदल जाता है। वे हिंसक क्रियाएँ बन जाती हैं। इस स्वरूप विकृति को ही क्रियाओं की विपरीतता का नाम दिया गया है।

मेरा अपनी ही क्रियाओं की आलोचना से तथा अन्य प्राणियों की क्रियाओं के विश्लेषण से यह मत बनता है कि हिंसा के रूप में प्रकट होने वाली इस प्रकार की क्रियाओं की विपरीतता सदैव मनुष्य के अपने आत्मविकास तथा मनुष्य समाज के स्वास्थ्य के लिये अहितकारी होती है। हिंसा वृत्ति एवं प्रवृत्ति को अपनाने से मनुष्य एवं समाज की आध्यात्मिकता को भी गहरा आघात लगता है। मैंने महसूस किया है कि हिंसा के महाद्वार से ही मोहजन्य वृत्तियाँ प्रवेश करती हैं और तब आत्मा बंधनग्रस्त होकर अमंगल के अरण्य में भटक जाती है। यह मैं जानता हूँ कि हिंसा का यह एक ही रूप नहीं होता कि किसी जीव का वध कर दिया किन्तु ये सभी हिंसक कार्य कहलायेंगे कि प्राणी के दस में से किसी भी प्राण को चोट पहुँचाई, उसे अपना गुलाम बनाने की चेष्टा की अथवा उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करके उसे अपना सेवक बना लिया। ये सारे हिंसक कार्य क्रियाओं की विपरीतता के ही लक्षण होते हैं। *कारण, हिंसा ही क्रियाओं की विपरीतता का मापदंड है।*

मैं उपरोक्त प्रयोजनों को क्रिया की विपरीतता के साथ जोडूं तो उनका यह रूप बनेगा कि मैं जिस भी कदर जितनी हिंसा होगी करूंगा और अपने वर्तमान जीवन की रक्षा करूंगा। जैसे कि एक तानाशाह अपनी जीवन रक्षा में अनगिनत मनुष्यों का खून बहा देने से भी नहीं हिचकता है। मैं अपने मायावी कुचक्र चलाऊंगा, सत्य का कंठ दबाऊंगा और झूठे आधारों पर जोर जबरदस्ती से ही सही पर अपनी पूजा करवाऊंगा। मैं अपनी क्रियाओं की विपरीतता के कारण परम शान्ति पाने तथा दुःख दूर करने के प्रयोजन के लिये भी सही उपाय काम में नहीं लूंगा बल्कि लालसाएँ और संग्रह बढ़ाकर या हिंसा से शासन चला कर शान्ति और सुख प्राप्त करने का गलत यत्न करूंगा। निश्चय है कि हिंसा से मैं किसी भी प्रयोजन की वास्तविकता तक नहीं पहुँच पाऊंगा।

अतः क्रियाओं की इस विपरीतता से मुझे सबक लेना होगा और अन्य प्राणियों को भी समझाना होगा कि विपरीत क्रियाओं से सही प्रयोजन कभी पूरे नहीं होंगे। इनसे मात्र अशान्ति ही बढ़ेगी। मुझे चिन्तन करने से बोध हुआ है कि जहाँ क्रियाओं की विपरीतता का मापदंड हिंसा है, वहीं क्रियाओं के औचित्य का मापदंड अहिंसा है। मैं अपनी हिंसात्मक क्रियाओं को दृष्टा-भाव से देखने के बाद ही जान सका हूँ और यही भाव अपनाने के लिये मैं अन्य प्राणियों से भी निवेदन करता हूँ क्योंकि दृष्टा-भाव से हिंसा उसके हिंसा रूप में समझ में आ जाती है तथा एक बार हिंसा को हिंसा रूप में समझ लेने के बाद उसे त्याग देने की इच्छा बलवती हो जाती है।

इस प्रकार जीवन के इस दोराहे को यों समझें कि एक राह है हिंसा की और दूसरी राह है अहिंसा की। जो अहिंसा की राह पर बढ़ चलते हैं तो जीवन में अहिंसा का विकास हो जाता है

और प्रयोजनों की सम्यक् पूर्ति की वस्तुस्थिति बन जाती है। किन्तु क्रियाओं की विपरीतता से जिसके कदम हिंसा की राह पर बढ़ गये और बाद में वह अपने कदम इस राह से नहीं हटा सका तो समझिये कि उस का भीषण दुष्प्रभाव उसके स्वयं के जीवन पर ही नहीं पड़ता बल्कि उस दुष्प्रभाव से उसके निकट का सामाजिक क्षेत्र भी कलुषित हुए बिना नहीं रहता।

वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रभाव

मैंने देखा है कि क्रियाओं की समुचितता अथवा क्रियाओं की विपरीतता का अपना-अपना प्रभाव दूरगामी होता है जो उन क्रियाओं के कर्त्ता के अलावा सारे समाज पर भी न्यूनाधिक रूप में अवश्य पड़ता है। यह तो निश्चित ही है कि उन क्रियाओं का कर्त्ता उनसे पूर्णतया प्रभावित होता ही है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति द्वारा की जाने वाली क्रियाएँ व्यापक रूप से वैयक्तिक तथा सामाजिक प्रभाव छोड़ती हैं।

एक बात और कि संसारी मनुष्य का मूल बुराई में रहा हुआ होता है जिस कारण अच्छाई की अपेक्षा बुराई जल्दी और ज्यादा फैलती है। इस दृष्टि से क्रियाओं की विपरीतता का दुष्प्रभाव स्वयं पर और लोगों पर तेजी से फैलता है। एक व्यक्ति जब अपनी क्रियाओं की विपरीतता के कारण हिंसापूर्ण कार्यों में प्रवृत्त होता है तो वह उस हिंसा के द्वारा अपने ही स्वार्थों की पूर्ति करना चाहता है। उसकी इस चेष्टा में वह अन्य प्राणियों के हितों को कुचलता है। तब वह अपने दया भाव को छोड़ता रहता है तथा क्रूर बनता जाता है। अपने क्रूर व्यवहार से वह अपने लिये अधिकाधिक सम्पत्ति एवं सुख सुविधाओं की सामग्री का संग्रह करता है। उस संग्रह के प्रति तथा उस संग्रह के सहायकों के प्रति उसका राग भाव प्रबल होता है तो उसमें बाधा डालने वालों के प्रति द्वेष भाव से वह ग्रस्त हो जाता है। राग और द्वेष की प्रबलता से वह मोह, ममत्त्व तथा स्वार्थपोषण के घेरों में बंद हो जाता है। यही उसका जटिल मूर्च्छा भाव बन जाता है। उस समय वह मानवीय गुणों को भुला देता है, बल्कि आत्मविस्मृत भी बन जाता है। उसकी वह आत्मविस्मृति उसके निकट सम्पर्क में रहने वाले व्यक्तियों में पहले और उन व्यक्तियों के माध्यम से सारे समाज में अपना कुप्रभाव फैलाती रहती है याने कि अधिकाधिक व्यक्ति हिंसा का आचरण करने लगते है और मोह-ममत्व के वशीभूत होते हुए मूर्च्छा को प्राप्त होते रहते हैं। इस प्रकार फैलता हुआ राग-द्वेष का दावानल समाज के स्वस्थ विकास को भस्म करता रहता है।

मैं अनुभव करता हूँ कि मैं भी ऐसे दावानल में जला हूँ क्योंकि उस समय क्रियाओं की विपरीतता मेरे व्यक्तित्व की अंग रूप बन गई थी। हिंसा से मेरा व्यक्तित्व विकृत हो गया था तथा मेरे जीवन का दुःखात्मक आधार बन गया था। मेरे जीवन की ऊर्जा ऊर्ध्वगामी होने की बजाय अधोगामी बन गई थी। मुझे प्रतीत हुआ कि हिंसापूर्ण आचरण से ऐसी पतनकारक दशा बनती ही है, फलस्वरूप मेरी चेतना सिकुड़कर अनुभूतिशून्य ही बनने लगी थी।

स्व-स्वरूप का विस्मरण ही मूर्च्छा

अपनी चेतना की अनुभूति-शून्यता से मैं भूल गया कि मेरी आत्मा का मूल स्वरूप क्या है, उसके निज गुणों की शुभता कैसी होती है तथा आत्मा के वर्तमान स्वरूप को क्रियाओं की समुचितता, अहिंसा की कार्यान्वितता एवं मानवीय पुरुषार्थ की सक्रियता से किस प्रकार परमोज्वल

बना सकते हैं ? मैं तो तब मनुष्य से भी पशु और पशु से भी राक्षस बनता जा रहा था, क्योंकि मेरी अधिकांश वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ सांसारिक पदार्थों के आसक्ति भाव में डूबकर मूर्च्छाग्रस्त हो रही थी। मुझे ज्ञान ही नहीं रह गया था, यह ज्ञान करने का कि जिस राह पर मैं चलने लगा हूँ, वह मुझे कौनसे महाविनाश के गर्त्त में पहुँचा कर जन्म-जन्मान्तरों के चक्र में तिरोहित कर देगी ?

मेरी यह ज्ञान चेतना विलुप्त सी हो गई थी कि स्व-स्वरूप का विस्मरण ही मूर्च्छा है। मूर्च्छितावस्था में मैं यह नहीं जान सका कि मुझे संसार में अपनी आत्म विकास की महायात्रा चलाते हुए मात्र जल पीना चाहिये, किन्तु मैं तो मोह मदिरा पीकर मतवाला हो गया था। उस मतवालेपन में मैंने कितने प्राणियों के हितों को कुचला, कितनों का अनिष्ट किया, कितनों के प्राणों का हनन किया, मुझ को कुछ भी याद नहीं है। मैं स्व-स्वरूप को ही विस्मृत कर गया तो भला मुझे अपना वह राक्षसी रूप याद भी कैसे रहता ?

मैंने अपनी विपरीत क्रियाओं से अपने स्व-स्वरूप पर कर्मबंधनों के काले लेप चढ़ाये, सम्पूर्ण सामाजिक वातावरण में विषमता का विष घोला और नारकीय परिस्थितियों का निर्माण कर दिया। मैं अपनी अशुभता के ऐसे दलदल में फंस गया था कि इस गंदे कीचड़ के छींटे सब ओर फैल रहे थे। मेरी निकृष्ट व्यक्तिगत अवस्था ने सामाजिक परिस्थितियों में भी दुःखों के द्वन्द्व खड़े कर दिये थे। मैं परिग्रह के संग्रह में अंधा बना हुआ था तो परिग्रह के मोह को मैं चारों ओर भी फैला रहा था। मैं अपने आत्मिक अस्तित्व तक को भी भुला चुका था और समझ बैठा था कि यह संसार ही मेरे लिये सब कुछ है, अतः अपने शरीर का ही पोषण करूं, अपना ही आधिपत्य बढ़ाऊं और अपने को ही सम्पत्ति तथा सत्ता के शिखर पर चढ़ा दूं।

वास्तविक रूप में स्व-स्वरूप तथा स्व-अस्तित्व का विस्मरण ही मूर्च्छा है —यह सत्य मैं बहुत बाद में जान पाया, जब उस मूर्च्छा के कुप्रभाव से प्राप्त दुःखों के अपार बीहड़ को ठोकरें खाते, लहूलुहान होते और सांघातिक आघातों से खोई हुई चेतना के कुछ-कुछ जागते हुए पार कर पाया। तब मैंने महसूस की थी अशान्ति की घोर पीड़ा, जागरूकता की अस्तित्वहीनता और समता भाव की दरिद्रता, क्योंकि तब मेरी चेतना जागृति की करवट लेने लगी थी।

जागृति की उस धीमी सी करवट में ही मुझे अनुभूति हुई थी तथा मैं अपने विकृत अतीत पर एक नजर फेंक सका था। मुझे तब प्रतीत हुआ था कि मैं अपने आप से छिटक कर कितना दूर मूर्च्छितावस्था में गिरा हुआ था। मैं स्व-स्वरूप के विस्मरण के साथ ही अहिंसा पर आधारित मूल्यों तथा अध्यात्म के ज्ञान को भूल चुका था और इन्द्रियों व मन के घृणित विषयों में ग्रस्त हो गया था। काम भोगों की लालसाओं में मेरी आसक्ति बहुत गहरी थी और मैं अपनी लालसाओं को पूरी करने के लिये कुटिल आचरण में रत रहता था।

तब मैं यह सोच-सोच कर ग्लानि से भर उठता था कि मैं वीतराग देवों की आज्ञा के विरुद्ध चला तथा स्व-अस्तित्व को विसार गया। अपनी विपरीत वृत्ति के कारण मैं दुःख देने वाले तत्त्वों को सुख देने वाले तथा सुख देने वाले तत्त्वों को दुःख देने वाले समझने लगा था और अज्ञानवश शुभ को अशुभ तथा अशुभ को शुभ मानने लगा था। मेरी विषयों में लोलुपता तथा पदार्थों में आसक्ति इस कदर बढ़ गई थी कि मैं हिंसामय आचरण, राग-द्वेष, वैर-विरोध और मोह-ममत्व की अंधी गलियों में बुरी तरह भटक गया। मूर्च्छा से अंधा बनकर मैं अपनी वासनामय

इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्राणियों को मारने वाला, छेदने वाला, उनकी स्वतन्त्रता को कुचलने वाला तथा उनको हर तरह से आघात पहुँचाने वाला बन गया था।

मैं अपनी उस मूर्च्छाभरी दुरावस्था को याद कर-कर के पश्चात्ताप करता हूँ कि जब मेरी इच्छाएँ तृप्त नहीं होती थी तो मैं और अधिक निर्दयी हो जाता था। मैं अधिक शोक सन्तप्त होता था, अधिक क्रोध करता था, अधिक प्रतिशोध लेता था और अन्य प्राणियों को अधिक सताता था। सतत हिंसा के क्षेत्र में कुकार्यरत रहने के कारण मैं अधिक भयभीत भी रहता था। प्रमाद की गहराई में डूबकर मैं मानसिक तनावों से त्रस्त रहता था, किन्तु दोगला व्यवहार करता था। बाहर से मैं अपने आपको बहादुर और निर्भीक जाहिर करता था जबकि हर समय मैं चारों ओर के भय से डरा हुआ रहता था। बाहर से अपने को शान्त दिखाने का ढोंग करता था जबकि भीतर के तनाव मुझे प्रतिपल अशान्त बनाये रखते थे। दुनिया के सामने मेरे द्वारा दिखाया जाने वाला ढोंग ऐसा ही था जैसे कोई रस्सी से बंधी चालनी को कुए में डाल कर वहाँ से पानी निकालते रहने का ढोंग करे। वस्तुतः मैं संसार रूपी प्रवाह में तैरने के लिये कतई असमर्थ हो गया था। इसका कारण साफ था कि मैं सदा और सर्वत्र जघन्य कामभोगों का ही अनुमोदन करता रहता था जिसके परिणाम स्वरूप मैं दुःखों के भंवर में ही गोते लगाता रहता था। मेरी चेतना की निरन्तर विकसित होती हुई उस जागृति ने मुझे आत्मालोचना की शिक्षा दी और मूर्च्छित मनुष्यों के संसर्ग से बाहर निकल जाने की मुझे प्रेरणा दी और इसी प्रेरणा ने मेरी गति को नया बल दिया कि वह आध्यात्मिकता के मार्ग पर आगे बढ़े।

मैं आज स्वानुभव के आत्मविश्वास के साथ कह सकता हूँ कि मनुष्य जब अपने ही मूल स्वरूप तथा अपने ही अस्तित्व को भूल जाता है तब वह वे सब अनर्थ करने पर उतारू हो जाता है जो उसे सांसारिकता की विकृत परतों में समेट लेते हैं। वह स्वयं भी मोह-ममत्त्व से लिप्त होकर तथा राग-द्वेष व प्रमाद के बंधनों से बंधकर इतना मूर्च्छा-ग्रस्त हो जाता है कि कालिमामय उन परतों को छेद कर उसका पुनः बाहर आना असाध्य नहीं तो दुसाध्य अवश्य हो जाता है।

मैंने इस सत्य को भी जाना है कि इस संसार की दलदल में फंसे हुए लोगों में से कुछ मनुष्य ऐसे संवेदनशील होते हैं जो किसी भी निमित्त से जागृत होने वाली अपनी चेतना के बल पर अपनी मूर्च्छा को अन्ततोगत्वा तोड़ ही देते हैं। एक बार मूर्च्छा टूटती है और आदमी अपने आपे में आता है तो उसके ज्ञान और विवेक के द्वार भी खुल जाते हैं। फिर यह उसकी जागती हुई चेतना के बलाबल पर ही निर्भर करता है कि आत्म विकास की महायात्रा में उसकी गति का क्या स्वरूप बनता है।

अज्ञान, आसक्ति और ममत्व

मैं आज जब अपनी आत्मालोचना के क्षेत्र में खड़ा हूँ तो मैं चाहता हूँ कि अज्ञान, आसक्ति एवं ममत्व की अपनी कुंठाओं को याद करूं, उनकी पतनकारी पकड़ से चेतूं तथा इन आत्मघाती वृत्तियों से अपने साथियों को भी सावधान बनाऊं।

मुझे याद है कि अज्ञान का अंधेरा कितना विकट होता है। उसमें आंखें खुली हुई हों तब भी देख पाना संभव नहीं होता। हाथ पैरों के मजबूत होते हुए भी वे गड्ढे में गिरा कर हड्डियाँ तुड़वा देते हैं। न जानना इतना बड़ा खतरा होता है जो मौजूद सामर्थ्य को भी समाप्त कर देता है।

अज्ञान सामर्थ्य घातक होता है। अज्ञानवश हम भूल जाते हैं कि आयु बीत रही है, यौवन समाप्त हो रहा है, फिर भी कामभोगों की आसक्ति में और सांसारिक सम्बन्धों व पदार्थों के ममत्व में फंसे रहते हैं। बुढ़ापे के असह्य कष्ट हमें चारों ओर से घेर लेते हैं, मौत आ जाती है तब हम हतप्रभ से रह जाते हैं कि हमने यह क्या कर दिया? महान् पुण्योदय से जो दुर्लभ मानव जीवन एवं अन्य दुर्लभ प्राप्तियाँ मिली थी, उन्हें हमने निरर्थक ही खो दी हैं। मृत्यु के मुख में किये हुए उस पश्चात्ताप से मानव जीवन पुनः नहीं लौट पाता और हम एक महान् अवसर को खो देते हैं।

मेरी धारणा बन गई है कि स्व-स्वरूप एवं स्व-अस्तित्व के प्रति उपजा हुआ अज्ञान ही मनुष्य को आसक्ति के विकार की ओर धकेलता है। संसार के कामभोगों में लिप्त हो जाने का नाम ही आसक्ति है। यह आसक्ति आत्मगुणों का विनाश करने वाली होती है। रूप में तीव्र आसक्ति रखने वाला मनुष्य उसी प्रकार असमय में ही विनाश को प्राप्त होता है जिस प्रकार रागातुर पतंगा दीपक की लौ में मूर्च्छित होकर अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है। संगीत में मुग्ध होकर अतृप्ति के साथ मारे गये हिरण के समान शब्दों में अत्यन्त आसक्त बना मनुष्य अकाल में ही विनष्ट हो जाता है। गंध में रखी जाने वाली तीव्र आसक्ति मनुष्य को नागदमनी की सुगंध में गृद्ध होकर बिल से बाहर निकल आने पर मारे गये सर्प के समान मृत्यु का मुख देखना पड़ता है। रागवश मांस के स्वाद में मूर्च्छित हुई मछली जैसे कांटे में फंसकर मारी जाती है उसी प्रकार रसों के आस्वादन में गहरी आसक्ति रखने वाला मनुष्य अपनी मौत खुद बुलाता है। मनोहर स्पर्शों में तीव्र आसक्ति रखने वाला मनुष्य रागवश शीतल जल में सुख से बैठे हुए भैंसे का मगर द्वारा मारे जाने के समान अपने प्राणों को खो देता है। काम-वासना में गृध्र बन कर हथिनी का पीछा करने वाला रागाकुल हाथी जिस दयनीय दशा से रणस्थल पर मारा जाता है, उससे भी अधिक दयनीय दशा में विषयातुर मनुष्य अपनी जीवन लीला समाप्त करता है। इस प्रकार इस लोक में जो मनुष्य सांसारिक सुखों के पीछे पड़े रहते हैं, परिग्रह, संग्रह, रसास्वादन एवं स्पर्श सुखों में तीव्र आसक्ति रखते हैं तथा काम-भोगों में मूर्च्छित बन जाते हैं, वे कायर और धृष्ट कहलाते हैं। ऐसे मनुष्य धर्म ध्यान रूपी समाधि को नहीं समझते, श्रेष्ठ अनुष्ठानों का सेवन नहीं करते और गहरी आसक्ति की तेज मदिरा से मूर्च्छित बने रहते हैं।

मैं श्रद्धापूर्वक आप्त वचनों का स्मरण करता हूँ जहाँ कहा गया है कि यह मूर्च्छा ही संसार है। यहाँ पर जो मूर्च्छित मनुष्य है, वह दुष्चरित्रता का स्वाद लेने वाला तथा कुटिल आचरण करने वाला है। साथ ही यह भी कहा गया है कि मूर्च्छा ही परिग्रह है अर्थात् धन सम्पदा के प्रति जो ममत्व भाव होता है—भाव परिग्रह वही है पदार्थ परिग्रह गौण होता है। इन दोनों ही परिग्रह से मुक्त होना आवश्यक है।

मैंने अज्ञान से आसक्ति तथा आसक्ति से ममत्व की प्रक्रिया देखी है। सम्यक् ज्ञान के अभाव में मनुष्य की क्रियाएँ समुचित रूप ग्रहण न करके विपरीत हो जाती है और वह विपरीतता ही आसक्ति को पनपाती है। मन और इन्द्रियों द्वारा भोगी जाने वाली विषयवस्तुओं में वृद्धि को ही आसक्ति कहते हैं अतः आसक्तिवश उपजने वाली लालसाओं की पूर्ति के लिये सम्पत्ति और सत्ता की आवश्यकता होती है। इसकी पूर्ति के लिये मनुष्य धन सम्पत्ति प्राप्त करने की दौड़ भाग करता है। उसके मन में ममत्त्व भाव बड़ा गहरा हो जाता है। आसक्ति की मूर्च्छा ममत्व की मूर्च्छा के साथ

मिल कर बेहोशी को दस गुनी बढ़ा देती है। वैसी दशा में मनुष्य इस संसार में सम्पत्ति और सत्ता पाने की होड़ में वेतहाशा भागने लगता है। वह ममत्व ही उसके मन में बसा हुआ जटिल परिग्रह वन जाता है। वह बावरा हो उठता है कि चाहे क्रूर से क्रूर साधन हो, वह सम्पत्ति और सत्ता अर्जित करे, लोगों पर अपनी हकूमत चलावे और अपनी पूजा व प्रतिष्ठा करावे। अज्ञान, आसक्ति और ममत्व की त्रिपुटी मनुष्य की चेतना को शिथिल और म्लान बना देती है, समाज में तृष्णा का ज्वर फैलाती है और उस आत्मा को कर्मबंधन में जकड़ लेती है।

सांसारिकता के बीज : राग-द्वेष

अज्ञान, आसक्ति और ममत्व का विषवृक्ष जो दिखाई देता है उसका ही दूसरा नाम संसार कहा गया है। इसके बीज माने गये हैं—राग और द्वेष। राग और द्वेष की मौजूदगी का साफ मतलब माना जाना चाहिये कि वहाँ समता भावना का सामान्यतया अभाव है।

किसी भी सांसारिक सम्बन्ध को अथवा पदार्थ को मैं अपने लिये प्रियकारी व सुखकारी मानता हूँ याने कि मैं चाहता हूँ तो उसके प्रति मेरी चाहना का भाव राग कहलाएगा। मेरे राग भाव को जो भी समर्थन देगा अथवा उसका अनुमोदन करेगा उसके प्रति भी मेरा राग भाव पैदा हो जायगा। इसके विपरीत जो मेरे द्वारा वांछित सम्बन्ध या पदार्थ की प्राप्ति में बाधा डालता है अथवा मेरे क्रियाकलापों का विरोध करता है, उसका भी मैं विरोधी हो जाऊंगा याने कि उसके प्रति मेरा द्वेष भाव जाग जायेगा। संसार के किसी भी प्राणी के प्रति उपजने वाले भावों में अधिकांशतः मनुष्य के मन में या तो राग रहता है अथवा द्वेष। सम्पर्क और संसर्ग से दोनों प्रकार के काषायिक भाव पैदा होते हैं और परिस्थितियों के बदलने के साथ बदलते रहते हैं।

मैंने महसूस किया है कि राग और द्वेष के भावों में मनुष्य का मन इतनी बुरी तरह से डोलायमान होता रहता है कि वह राग-द्वेष की दुर्भावनाओं से ग्रस्त रहकर अनर्थकारी कृत्य करता रहता है। राग और द्वेष सांसारिकता के बीज रूप होने से कर्मबंध के मूल कारण होते हैं। कर्म जन्म-मृत्यु का मूल हेतु है और जन्म-मृत्यु को ही दुःख कहा जाता है अतः राग और द्वेष दुःख के भी मूल कारण हैं। जैसे जंगल में दावाग्नि से प्राणियों के जलने पर राग-द्वेष के वश होकर दूसरे प्राणी प्रसन्न होते हैं किन्तु वे यह नहीं जानते कि आगे बढ़ती हुई दावाग्नि उन्हें भी भस्म करके छोड़ेगी। उसी प्रकार काम-भोगों की आसक्ति में डूबे अज्ञानी प्राणी यह नहीं जानते कि संसार में राग-द्वेष की भावनाओं का जो दावानल जल रहा है, हम असावधान रहे तो हमें भी भस्म कर देगा। इस विचारशून्यता के कारण ऐसे मनुष्य उस दावानल से बचने का कोई यत्न नहीं करते हैं। अनियंत्रित राग और द्वेष आत्म गुणों का इतना संहार करते हैं जितना कि एक समर्थ शत्रु भी किसी मनुष्य का सुरक्षा सम्बन्धी अहित नहीं कर सकता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि काम भोग अपने आप किसी मनुष्य में विकृति पैदा नहीं करते—ये तो मनुष्य के राग-द्वेष रूप मोह भाव होते हैं जिनमें जकड़ कर वह अपने आपको विकारों का पुतला बना लेता है।

आत्म स्वरूप पर राग-द्वेष के ऐसे घातक प्रभाव का उल्लेख करते हुए वीतराग देवों की वाणी मेरे हृदय में उतरी है कि जो मनुष्य राग-द्वेष से रहित होता है, वही कसौटी पर कसे हुए और अग्नि में डालकर शुद्ध किये हुए सोने के समान निर्मल माना जाता है। जो राग-द्वेष को त्याग कर समभाव अपनाता है, वही निजात्मा द्वारा अपने आत्मस्वरूप को जानने वाला होता है। जो साधु राग

और द्वेष का सबल विरोध करता है, वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता। यदि राग द्वेष न हो तो इस संसार में न कोई दुःखी होगा और न कोई सुख पाकर ही विस्मित ही होगा बल्कि सभी मुक्त हो जायेंगे। वस्तुतः सुखमय मोक्ष प्राप्त करने का एकान्त रूप से मार्ग बताया गया है कि अज्ञान और आसक्ति को त्यागें, राग और द्वेष को क्षय करें तथा सत्य ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कर लें।

मैंने सांसारिकता में रच-पच कर कई बार कटु अनुभव लिये हैं कि द्वेष और राग का क्रमिक रूप से आत्मस्वरूप पर कितना भारी दबाव पड़ता है। जब मैं देखता था कि मेरी इच्छाओं की पूर्ति में कोई बाधा दे रहा है तो उसके प्रति मेरा द्वेष भाव जटिल बन जाता था। वह द्वेष मुझे हिंसा और प्रतिहिंसा के चक्र में ऐसा घुमाता था कि अन्त सर्वविनाश के सिवाय कुछ नहीं होता। इस द्वेष से भी राग भाव मेरे मन में बड़े गाढ़ेपन से समाया हुआ रहता था। मेरी पत्नी, मेरा पुत्र, मेरा भवन, मेरी ऋद्धि-सिद्धि और मेरे मनोज्ञ पदार्थ—उनके प्रति सदैव मैं राग भाव से प्रभावित और प्रलुब्ध बना रहता था। राग भाव क्रिया थी और द्वेष भाव उसकी प्रतिक्रिया। मैंने महसूस किया कि द्वेष से भी राग बहुत जटिल होता है। द्वेष छोड़ भी दें मगर राग भाव छोड़े नहीं छूटता और जब तक द्वेष और राग न छूटें अथवा कम भी न हों तब तक समता भाव का अन्तर्हृदय में प्रसार कठिन ही रहता है। पूर्णतया राग भाव को छोड़ देना आत्म विकास की महायात्रा की एक महान् उपलब्धि मानी गई है, तभी द्वेष के बाद राग का सर्वांशतः त्याग कर देने वाले महात्मा को वीतराग कहा गया है।

यह वीतरागता प्राप्त होती है जब राग और द्वेष के बीजों को पूरी तरह नष्ट कर दें याने कि तब वीतराग देव अपनी सासांरिकता को ही समाप्त कर देने के किनारे पर पहुँच जाते हैं। अतः अपने संसार को समाप्त करना है, अज्ञान, आसक्ति एवं ममत्व के विष-वृक्ष का मूलोच्छेदन करना है और आत्मा का उच्चतम विकास साधना है तो सबसे पहले राग और द्वेष रूपी भावनाओं के द्वन्द्व के बीजों को समाप्त कर दें। बीज नहीं रहेगा तो कैसे टिकेगा वृक्ष ?

आकाश के समान अनन्त इच्छाएँ

मैंने अनुभव किया है कि मेरा अनियंत्रित मन बेलगाम घोड़े की तरह कितनी उद्दंडता से चारों ओर उद्देश्यहीन बनकर भागता रहता था और साथ में मेरी चेतना को घसीटता रहकर उसे मर्माहत बनाता था? पांचों इन्द्रियों की उद्दाम कामनाओं का बोझ मन अपने ऊपर ले लेता था और अपनी झूठी-मीठी कल्पनाओं में अनन्तानन्त इच्छाओं को जगा लेता था। तब वह मेरा मन इतना भी विचार नहीं कर पाता था कि क्या इन सारी इच्छाओं की पूर्ति संभव भी हो सकेगी ?

मैंने जब अपने मन और अपनी इन्द्रियों की इस उच्छृंखलता का विश्लेषण किया तो मैं उसके कारणों की खोज भी कर सका। मैं देखता था कि तुरन्त जन्मे शिशु का मन सामान्यतया निर्दोष होता है। इससे अधिक वह कुछ नहीं जानता जो कि उसने गर्भकाल में सीखा हो। बालक को इसी कारण पवित्रता की मूर्ति मानते हैं। किन्तु बालक जब इस संसार के वातावरण में बड़ा होने लगता है तब वह प्रपंच प्रचलित वातावरण को अपने मन और अपनी इन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण करने लगता है। और यहीं से उसके अपवित्र होने का काम भी शुरू हो जाता है? उसके शुद्ध मन और साफ इन्द्रियों पर राग और द्वेष की मैली परतें चढ़ने लगती हैं। इस रूप में यह माना जायगा कि बाह्य जगत् से सम्पर्क जितना बढ़ता जाता है और गाढ़ा होता जाता है, वह बड़ा होता सांसारिकता की कलुषपूर्ण रीति-नीति में ढलता जाता है। अपने परिवार, समाज और

रंगों को फैलते हुए देखता है, अपने मन-मस्तिष्क को भी उन्हीं रंगों से रंग लेता है। वे रंग होते हैं राग और द्वेष के रंग जो अज्ञान, आसक्ति एवं ममत्व की तरफ खींचते हैं, क्योंकि इन्हीं रंगों से जन्म लेता है इच्छाओं का वह इन्द्रधनुष—जो मायावी होता है तथा जिसके भ्रमभरे रंगों को पकड़ने के लिये मनुष्य बचपन से लेकर मृत्यु तक का अपना सारा अमूल्य समय बरबाद कर देता है।

मैंने देखा है कि इन्द्रधनुष के इन्हीं मायावी रंगों के लिये मनुष्य के मन में राग जागता है। तब वह उसके गाढ़ेपन के साथ उन रंगों को याने कि नश्वर जड़ पदार्थों को प्राप्त कर लेने के लिये अपनी दुर्लभ प्राप्तियों को दाव पर लगा देता है। इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त होती हैं और मनुष्य अपनी प्राप्त शक्तियों ता दुरुपयोग करके भी जब किसी इच्छा की ज्योंही पूर्ति कर लेता है, त्योंही दूसरी इच्छा उसके सामने आ खड़ी होती है और वह इच्छा एक नहीं, अनेक रूपिणी होती है। एक इच्छा पूरी की जाय और कई अपूर्ण इच्छाएँ सामने आकर खड़ी हो जांय—फिर उनकी पूर्ति के लिये मनुष्य संघर्ष करता रहे और संघर्ष करते हुए पूरा जीवन भी खपा दे तब भी क्या वह अपनी समस्त इच्छाओं की पूर्ति कर सकेगा? फिर भी राग-द्वेष की प्रबलता ऐसी होती है कि कई मनुष्य पूरा जीवन खपा कर भी शिक्षा नहीं लेते।

राग और द्वेष के वशीभूत होकर जब मूर्च्छाग्रस्त मनुष्य वस्तुओं के संग्रह में प्रवृत्त होते हैं तो उनकी वितृष्णा एक समभावी को देखते नहीं बनती। वे वीतराग देव के उपदेशों को सर्वथा भुला देते हैं कि किसी वस्तु पर मूर्च्छा-ममत्व और आसक्ति का होना ही वास्तव में परिग्रह है। ऐसे भाव परिग्रह के परिणाम स्वरूप द्रव्य परिग्रह की तनिक सी प्राप्ति उस मनुष्य की आसक्ति को मदिरा की तरह बहुत बढ़ा देती है। जैसे शराब पीना शुरू करने वाला आदमी नित प्रति शराब की मात्रा बढ़ाते रहने पर भी कभी तृप्त नहीं होता, उसी तरह भाव परिग्रह से ग्रस्त मनुष्य आकाश के समान अनन्त इच्छाओं के दौरादौर में वस्तुओं का महा-संग्रह कर लेने के बाद भी तृप्त नहीं होता। 'और चाहिये' की उसकी धुन खत्म ही नहीं होती है। इसी कारण उपदेश की धारा प्रवाहित हुई है कि जो व्यक्ति थोड़ी या अधिक वस्तु परिग्रह की बुद्धि से रखता है अथवा दूसरे को परिग्रह रखने की अनुज्ञा देता है, वह दुःखों से छुटकारा नहीं पाता है। अनासक्ति भाव से वस्त्र-पात्रादि रखने में परिग्रह नहीं बतलाया गया है किन्तु यदि इन वस्त्र-पात्रादि में भी साधु का आसक्ति भाव हो जाता है, तो वे उस साधु के लिये परिग्रह रूप हो जाते हैं। चाहे साधु हो या गृहस्थ—जब परिग्रह आता है तो अन्य अवगुण भी उसके साथ आने लगते हैं। सम्पूर्ण संसार में सभी जीवों के लिये परिग्रह जैसा दूसरा बंधन नहीं है। परिग्रह-बुद्धि से ही अनन्त इच्छाएँ और वासनाएँ भड़कती रहती हैं और मनुष्य को राग-द्वेष पूर्ण दावानल में भस्म होने के लिये मजबूर करती रहती हैं।

तृप्ति व अतृप्ति की कुंठाएँ

कामभोगों की अनन्त इच्छाओं की पूर्ति मनुष्य के एक जन्म में तो क्या अनन्त जन्मों में भी संभव नहीं है— ऐसा मेरा स्वानुभव का विश्वास है। इस कारण इस जन्म में कोई कितना भी बड़ा वस्तु-संग्रह कर ले तब भी अतृप्ति तो उसके मन-मानस में छाई हुई रहेगी ही। जो इच्छाएँ पूरी हो गई हैं अथवा जिन इच्छाओं के अनुसार वस्तुओं का संयोग मिल गया है—आश्चर्य की वस्तुस्थिति यही है कि उन प्राप्तियों से तृप्ति नहीं मिलती, कारण प्राप्त तृप्ति से अतृप्ति की काली छाया इतनी बड़ी होती है कि उसमें तृप्ति का अस्तित्व ही विलुप्त हो जाता है। फिर भी इन तृप्तियों और

अतृप्तियों से भयंकर एवं असह्य कुंठाएं जन्म ले लेती हैं जिनके कारण समझने बूझने के उपरान्त भी मनुष्य का ज्ञान और विवेक सामान्यतया पुनः जागृत नहीं हो पाता।

मुझे याद है कि ऐसी ही अज्ञान एवं अविवेक की मनःस्थिति में विभ्रमित करने वाले कैसे-कैसे परिग्रह के प्रलोभनों को मैंने झेला है तथा इच्छाओं के दबाव को बर्दाश्त किया है। फिर भी हाथ और कुछ तो नहीं लगा—हाथ लगी मात्र कुंठाएँ, जिन्होंने मेरे व्यक्तित्व को इस तरह मथ कर रख दिया कि दीर्घकाल तक मैं कोई सदाशयी विचार ग्रहण कर सकने तक में समर्थ नहीं रहा। धीरे-धीरे कुंठाओं का जोर जब कम होने लगा तो मैंने अतीत की ग्लानि के साथ भविष्य पर चिन्तन आरंभ किया। मिथ्या विचारों का मैंने त्याग किया। व्रतों की गहराई में जब मैं आगे बढ़ा तो मैंने अपनी इच्छाओं को बांधने का प्रयास किया क्योंकि अनियंत्रित इच्छाओं से उपजी कुंठाओं की यंत्रणा को मैं भोग चुका था। वीतराग देव द्वारा उपदेशित व्रत ने ही मेरी चेतना की रक्षा की और वह व्रत था इच्छा परिमाण व्रत अर्थात् खान-पान, वस्त्र, वाहन, आदि की छोटी से छोटी इच्छा को भी सीमा के बंधन में बांध लो। जो सीमा सोच कर निर्धारित कर ली है —वस्तुओं की कितनी ही विपुलता हो जाय तब भी उस सीमा का उल्लंघन मत करो—यह है इच्छा परिमाण व्रत। परिग्रह परिमाण याने कि क्षेत्र, वस्तु, धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, द्विपद, चतुष्पद, कांसा, पीतल, तांबा आदि धातु और घर की समस्त सामग्री तथा खान-पान, उबटन, स्नान, वस्त्र, वाहन आदि सभी की एक मर्यादा ग्रहण कर लेना इस व्रत का उद्देश्य है। एक शब्द में कहें तो मनुष्य की मूर्च्छा और तृष्णा को घटाने और सन्तोष को ग्रहण करने तथा आवश्यक पदार्थों व परिग्रह का सारे समाज में विकेन्द्रीकरण होते रहने में इस व्रत की अपार उपयोगिता है।

मैंने देखा है कि इच्छाओं के अनियंत्रित रहने की अवस्था में अतृप्ति की कुंठाएँ बहुत तीखी होती हैं। इन्हीं कुंठाओं से तृष्णा बढ़ती जाती है और मोह गाढ़ा होता जाता है। तृष्णा से मोह तथा मोह से तृष्णा का ऐसा चक्र चल पड़ता है जिसकी मार से दीर्घकाल तक आहत होना पड़ता है तथा जन्म-जन्मान्तर का दुःख भोगना पड़ता है। कहा गया है कि जिसके मोह नहीं रहता, उसके दुःख नष्ट हो जाते हैं और जिसके तृष्णा नहीं रहती, उसका मोह नष्ट हो जाता है। कुंठाजन्य तृष्णा की ऐसी दशा होती है कि धन, धान्य, स्वर्ण, रजत आदि समस्त पदार्थों से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि एक मनुष्य के अधिकार में दे दिया जाय तब भी वह तृप्त और सन्तुष्ट नहीं होगा, यह एक शाश्वत सत्य है। कारण, ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है, त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता जाता है। लाभ ही लोभ वृद्धि का कारण होता है। कथा है कि दो मासे सोने से होने वाला कपिल का कार्य लोभवश करोड़ों से भी पूरा नहीं हो सका। यदि सारा संसार और सम्पूर्ण सम्पत्ति व सत्ता भी मेरी हो जाय, तब भी वह मेरे लिये अपर्याप्त ही रहेगी क्योंकि मेरी तृष्णा का अन्त नहीं होता। दूसरे, इतनी सम्पत्ति और सत्ता भी अन्ततः मेरी रक्षा करने में अयोग्य ही सिद्ध होगी। जब तक मेरे मन में तृष्णा और लोभ समाया हुआ रहेगा तब तक कैलाश पर्वत के समान सोने-चांदी के असंख्यात पर्वत भी मेरे मन को तृप्त नहीं कर सकेंगे।

सांसारिक पदार्थों में तृप्ति की जब ऐसी दशा है तो समझ में नहीं आता कि यह सब समझ कर भी अनेकानेक कुंठाओं की पीड़ा हम क्यों भुगतते हैं और अपने लिये दीर्घकालिक दुःखों की रचना क्यों करते हैं? यह वास्तव में दयनीय और चिन्तनीय दशा है हमारे मन की, हमारी चेतना की तथा हमारे ज्ञान और विवेक की।

मुझे यह तथ्य ज्ञात है कि जब काम-भोगों की इच्छाएँ मन-मानस को आच्छादित कर देती हैं और जीवन की वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में एक उन्माद सा छा जाता है तब वह मनुष्य की विशेष प्रमादपूर्ण अवस्था होती है। प्रमाद की प्रमत्तता उसे आत्मीय चेतना की शुभ संज्ञा से शून्य बनाये रखती है। इसी कारण वीतराग देव की चेतावनी प्रकट हुई कि तू समय मात्र के लिये भी प्रमाद मत करो समय कालखंड का सबसे छोटा घटक माना गया है अतः प्रमाद के अस्तित्व को एक समय के लिये भी आत्म-घातक बताया है। मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा रूप प्रमाद पांच प्रकार का कहा गया है तथा प्रमाद को ही कर्म माना गया है। इन पांच प्रकार के प्रमाद के अभाव को पांच प्रकार का अप्रमाद बताया है। प्रमादी व्यक्ति को चारों ओर से भय ही भय सताता है किन्तु अप्रमत्त पुरुष को कहीं से भी भय नहीं होता है। विषय-कषाय सेवन से उत्पन्न प्रमाद को धर्म के क्षेत्र से बाहर समझा गया है। अप्रमादी होकर ही मनुष्य धर्म के क्षेत्र में आत्मिक उद्यम विशेष रूप से कर सकता है।

मैंने जाना है कि प्रमाद की प्रमत्तता के वशीभूत होकर मैं आत्म विकास की महायात्रा के तथ्य को ही भूल गया था और उसे ही क्या—अपने स्वरूप व अस्तित्व तक को भी भूल गया था। मैं यह भी भूल गया था कि मुझे मनुष्यत्व, वीतराग धर्म श्रवण, सम्यक् श्रद्धा एवं संयम में पराक्रम की जो दुर्लभ प्राप्तियाँ प्राप्त हुई हैं, उन्हें अपने व संसार के दुःखों को घटाने व मिटाने में नियोजित करनी चाहिये। यह प्रमाद की प्रबलता ही थी कि मैंने इस समर्थ मानव जीवन को भी एक बार तो प्रमाद के भेंट चढ़ा दिया और अपने आपको विषय-कषाय के दलपल में आकंठ डुबो दिया।

फिर मेरे अन्तःकरण में ये ध्वनियाँ गूंजने लगी कि अति दुर्लभ एवं विद्युत के समान चंचल इस मनुष्य भव को पाकर जो प्रमाद का आचरण करता है, वह कापुरुष होता है —सत्पुरुष नहीं हो सकता। यह जानकर धीर पुरुष समय मात्र के लिये भी प्रमाद नहीं करते हैं क्योंकि यह जीवन, यह यौवन प्रति पल व्यतीत होता जाता है। अतः जब तक इस शरीर की शक्तियाँ क्षीण नहीं हो जाती, उसमें पहले ही धीर पुरुष प्रमाद को त्याग कर धर्माराधन में प्रवृत्त हो जाता है। वीतराग देव ने यह भी फरमाया कि जो लोग प्रमादवश सोये हुए रहते हैं, वे अमुनि कहलाते हैं और मुनि वे ही हैं जो सदा जागते रहते हैं। अप्रमादी सोते हुए भी जागता रहता है—मोह निद्रा से सोये हुए प्राणियों के बीच रहकर भी उसकी जागरूकता कभी शिथिल नहीं होती। वह यह जानता है कि मृत्यु किसी भी समय सामने आ सकती है क्योंकि काल बड़ा निर्दयी होता है एवं शरीर बड़ा निर्बल होता है अतः प्रमादाचरण में कभी भी रत नहीं होना चाहिये। पहले प्रमादवश जो कुछ भी किया हो, उसके लिये भी संकल्प लिया जाना चाहिये कि वह भविष्य में वैसा पुनः नहीं करेगा। कारण, प्रमादयुक्त प्रवृत्तियाँ कर्मबंधन कराने वाली होती हैं तथा जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद से रहित होती हैं, वे कर्मबंधन नहीं कराती हैं। प्रमाद के होने और न होने से ही मनुष्य क्रमशः मूर्ख और पंडित कहलाता है।

इन प्रेरणादायी ध्वनियों ने मेरे अन्तःकरण को जगाया, तब मैंने प्रमाद के उन्मादकारी स्वरूप को समझा और उस उन्माद को दूर करने का पुरुषार्थ प्रारंभ किया। प्रमाद का यह उन्माद पांच प्रकार से हमारी चेतना को आवृत्त कर लेता है—(१) मद्य—शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवन मद्य प्रमाद है, जिससे शुभ परिणाम नष्ट होते हैं। शराब में जीवों की उत्पत्ति होने से जीवहिंसा का भी महापाप लगता है। लज्जा, लक्ष्मी, बुद्धि, विवेक आदि का नाश तथा जीव हिंसा आदि के मद्यपान के दोष तो

प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, परन्तु परलोक में भी यह प्रमाद दुर्गति में ले जाने वाला है। मद्यपान के तो अनगिन दोष होते हैं—स्वस्थ एवं सुन्दर शरीर का नाश, भांति-भांति के रोगों का आगमन, ज्ञान, स्मृति एवं बुद्धि का नाश, लोगों द्वारा तिरस्कार की प्राप्ति, सज्जनों से अलगाव, द्वेष की प्रगाढ़ता, वाणी में कठोरता, नीच संगति, कुल-हीनता, शक्ति का ह्रास, धर्म, काम एवं अर्थ की हानि आदि। (२) विषय प्रमाद—पांच इन्द्रियों के विषय, शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श से पैदा होने वाला प्रमाद। इन पांचों विषयों में आसक्ति से विषाद उत्पन्न होता है। ये विषय-भोग भोगते समय मधुर लगते हैं लेकिन परिणाम में बहुत ही कटु होते हैं। विष-सम होने के कारण ही इन्हें विषय का नाम दिया गया है। इस विषय-प्रमाद से मनुष्य व्याकुल चित्त वाला होकर जीव के हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है। वह अपनी झोली दुष्कृत्यों से भर लेता है और चिरकाल तक संसार के दुःखों की अटवी में भटकता रहता है। शब्द में आसक्त हिरण व्याध का शिकार बनता है। रूप मोहित पतंगा दीपक की लौ पर जल मरता है। गंध में गृद्ध भंवरा सूर्यास्त के समय कमल में ही बंद होकर नष्ट हो जाता है। रस में अनुरक्त हुई मछली कांटे में फंसकर मृत्यु का शिकार हो जाती है। स्पर्श सुख में आसक्त हाथी स्वतन्त्रता सुख से वंचित होकर बंधन को प्राप्त होता है। एक-एक विषय के वशीभूत होकर जीव जब इस रीति से विनष्ट हो जाते हैं तो उन मनुष्यों का क्या कहना, जो पांचों प्रकार के विषयों में प्रमत्त होकर बेभान बने रहते हैं? विषयासक्त जीव निरन्तर विषयों का उपभोग करते हुए भी कभी तृप्त नहीं होता, बल्कि अग्नि में घी डालने के समान उसकी अतृप्ति बढ़ती ही चली जाती है। उसे आज का सुख तो दिखाई देता है, किन्तु वह भूल जाता है कि भावी जीवनों में नरक एवं तिर्यंच गति के महादुःखों को भोगते समय उसकी कैसी दुर्दशा बनेगी। अतः विषय प्रमाद से निवृत्ति ही श्रेयकारी है। (३) कषाय प्रमाद—क्रोध, मान, माया, लोभ, रूप कषाय का सेवन करना कषाय-प्रमाद कहलाता है। शुभ परिणामों का नाश करने वाला क्रोध पहले स्वयं क्रोधी को जलाता है और बाद में दूसरों को। क्रोधी विवेक और सदाचार खो देता है तथा सदा अकार्यों में प्रवृत्ति करता है। क्रोध वह अग्नि है जो चिरकाल से अभ्यस्त यम, नियम, तप आदि को भी क्षण भर में भस्म कर देती है। क्रोध को जो क्षमा से शान्त नहीं करता, वह लोक-परलोक बिगाड़ने वाला एवं स्व-पर का अपकार करने वाला बनता है। इसी प्रकार मान भी विवेक, विनय और ज्ञान का नाश कर देता है एवं मनुष्य को कुशील एवं कदाचार में गिरा देता है। कारण, कुल, जाति, बल, रूप, तप, विद्या, लाभ व ऐश्वर्य का भी मान करना नीच गौत्र के बंध का कारण होता है। मान के बल पर मनुष्य ऊँचा बनना चाहता है किन्तु यहीं वह भूल जाता है कि मान नीचा बनाने वाली वृत्ति होती है। मान का परिहार विनय वृत्ति से ही किया जा सकता है। माया रूप कषाय भी ऐसा शल्य है जो आत्मा को व्रतधारी नहीं बनने देता। अविद्या की जननी और अपकीर्ति की प्रसारिणी यह माया इस लोक में अपयश तथा परलोक में दुर्गति देती है। मायापूर्वक यदि संयम और तप के अनुष्ठान भी किये जांय तो वे भी नकली सिक्कों की तरह व्यर्थ ही होंगे। माया का त्याग करके सर्वत्र सरलता अपनाई जानी चाहिये। सबसे ऊपर लोभ रूप कषाय सभी प्रकार के पापों का आश्रयस्थल होता है। लोभी मायावी भी होता है तो मानी और क्रोधी भी।। लोभी मृत्यु के खतरे से तो सदा भयभीत रहता ही है किन्तु वह अपने ही आत्मीय जनों से भी भयभीत रहता है कि कहीं वे उसकी हत्या न कर दें। लोभी परम हिंसक भी होता है। लोभ का निराकरण सन्तोष वृत्ति को धारण करके ही किया जा सकता है।

निद्रा दो प्रकार की होती है, एक द्रव्य निद्रा और दूसरी भाव निद्रा! द्रव्य निद्रा में सोया हुआ व्यक्ति चेतना के स्थूल क्रिया-कलापों से मुक्त सा हो जाता है तथा भाव निद्रा अज्ञान और

मोहजन्य होती है। उभय प्रकार की निद्राओं का सेवन करना निद्रा प्रमाद है। द्रव्य निद्रा प्रमाद की अपेक्षा भाव निद्रा प्रमाद अत्यधिक भयंकर एवं आत्मा को अधोगामी बनाने वाला होता है। अतः भाव निद्रा प्रमाद से व्यक्ति जितना बचता है उतना ही उसका आत्म-विकास होता है।

विकथा प्रमाद

राग-द्वेषवश होकर जो वचन कहे जाते हैं, उन्हें विकथा कहते हैं याने कि विकृत कथन। ये कथन कई प्रकार के होते हैं जिनका निरोध, वाणी पर संयम रखकर किया जा सकता है।

मेरा विश्वास बन गया है कि यदि मैं सर्वप्रकारेण प्रमादाचरण को समाप्त करने लगूं तो अवश्य ही विषय-कषायों की मन्दता के साथ अज्ञान, आसक्ति एवं ममत्व के परिणाम भी क्षीण होने लगेंगे। चाहिये भीतर का जागरण, चेतना का समीकरण एवं मन का केन्द्रीकरण।

आध्यात्मिक उत्प्रेरणाएँ

अन्तःकरण चेतना एवं मन की साधना में जब समरसता जमती है तो अपनी विदशा के प्रति ग्लानि भी उत्पन्न होती है और एक नया उत्साह भी जागता है कि चरण सन्मार्ग पर गमन करें। ऐसी मानसिकता में आध्यात्मिक उत्प्रेरणाएँ उस उत्साह को सम्पुष्ट बनाती हैं—ऐसी मेरी सुदृढ़ धारणा है। ये आध्यात्मिक उत्प्रेरणाएँ उन वीतराग देवों के परम ज्ञान से उद्‌भूत हुई हैं जिन्होंने अपने आत्मस्वरूप की श्रेष्ठ समुज्ज्वलता एवं परमोच्चता प्राप्त की।

इस पहले सूत्र से सम्बन्धित ऐसी ही कुछ आध्यात्मिक उत्प्रेरणाएँ मैं यहाँ देना चाहता हूँ जो मेरी आत्म विकास की महायात्रा का मार्गदर्शन करती हैं और मेरी मान्यता है कि वे सम्पूर्ण जगत् के समस्त प्राणियों के आत्म विकास को भी अनुप्रेरित करती हैं—

'हिंसा कार्यों के परिणामों को समझ कर बुद्धिमान मनुष्य स्वयं छः काय के जीव अर्थात् किसी भी प्राणी समूह की कभी भी हिंसा नहीं करे, दूसरों के द्वारा कभी भी हिंसा नहीं करवाए तथा हिंसा करते हुए दूसरों का कभी अनुमोदन भी नहीं करे। जिसके द्वारा छः काया के जीवों के हिंसा कार्य समझे हुए होते हैं, वह ज्ञानी होता है जो हिंसा कार्य को दृष्टाभाव से जानता है।

'छः काया के प्राणी समूह को वीतराग देव की आज्ञा से अच्छी तरह जानकर उसको निर्भय बना दे—अभयदान दे।'

'जो अध्यात्म रूप समता को जानता है, वह बाह्य जगत् में चल रही सांसारिक विषमताओं को समझता है, जो इन बाह्य विषमताओं को समझता है, वह अध्यात्म को जानता है। जीवन-सार को खोजने वाले मनुष्य को यह श्रेष्ठ सन्तुलन वाली आध्यात्मिक तुला सदैव अपने सामने रखनी चाहिये।

'इस जीवन में जो व्यक्ति प्रमादयुक्त होते हैं, वे मनुष्य जीवन एवं इसकी दुर्लभ प्राप्तियों के व्यतीत होते जाने को नहीं समझ पाते हैं। इस कारण प्रमादी व्यक्ति प्राणियों को मारने वाले, छेदने वाले, भेदने वाले, उनकी हानि करने वाले, उनका अपहरण करने वाले, उन पर उपद्रव करने वाले तथा उनको हैरान करने वाले होते हैं। कभी नहीं किया गया है —ऐसा हम करेंगे, यह विचारते हुए प्रमादी व्यक्ति हिंसा पर उतारू हो जाते हैं। अतः प्रत्येक जीव के सुख-दुःख को समझ कर और अपनी आयु को ही सचमुच न बीती हुई देखकर तू उपयुक्त अवसर को जान। जब तक तेरी पांचों

इन्द्रियों की ज्ञान शक्ति कम नहीं होती है, तब तक अनेक भेद वाली अक्षीण ज्ञान शक्तियों द्वारा तू उचित प्रकार से आत्महित को सिद्ध कर ले।

'समतादर्शी के लिये कोई उपदेश शेष नहीं है। आसक्तियुक्त विषमतादर्शी अज्ञानी लोगों के अनुमोदन से अपरिमित रूप से दुःखी होता है, अतः हे धीर, तू मनुष्यों के प्रति आशा को और वस्तुओं के प्रति इच्छा को छोड़। यदि लाभ है तो मद न कर, हानि है तो शोक मत कर और बहुत भी प्राप्त करके आसक्तियुक्त मत बन। अपने को परिग्रह से दूर रख।

'इच्छाएँ अनंत होती हैं और जीवन बढ़ाया नहीं जा सकता है। फिर इच्छाओं के तृप्त न होने पर मनुष्य शोक सन्तप्त होता है, क्रोध करता है तथा दूसरों को सताता है। जो आसक्त है, वह कपटी है, अज्ञानी है, विषय-लोलुप है और सबके प्रति शत्रुता बढ़ाने वाला होता है। जो ममतावाली वस्तु बुद्धि को छोड़ता है और समतामयी आत्मा के दर्शन करता है, वह सब ओर से पूर्ण जागरूकता पूर्वक चलने वाला होता है।

'पीड़ित प्राणियों को देखकर तू अप्रमादी होकर गमन कर। यहाँ प्राणी पीड़ा में चीखते हुए दिखाई देते हैं। हे बुद्धिमान्, उनको तू देख। यह पीड़ा हिंसा से उत्पन्न होने वाली है। और हिंसा से विषमता उत्पन्न होती है अतः हे धीर, तू विषमता के प्रतिफल और आधार का निर्णय कर एवं उसका छेदन करके समता का दृष्टा बन।

'हे ज्ञानी, संसार को निस्सार देखकर तू समझ। हे अहिंसक, दुःखों से परिपूर्ण जन्म-मरण चक्र को जानकर समता का आचरण कर।'

जीवन की एक नई व्याख्या

मैं गहराई से चिन्तन करता हूँ तो एक प्रश्न उठता है कि यह जीवन क्या है? —किं जीवनम्? जहाँ तक जीवन की व्याख्या का सम्बन्ध है, जितने मुंह, उतनी व्याख्याएँ सुनने को मिल सकती हैं। किन्तु क्या कोई व्याख्या ऐसी है जो सूत्र रूप भी हो तथा सर्वार्थ सूचक भी हो।

मेरे मन में आता है कि जीवन की पूर्णता किसमें मानी जानी चाहिये? जीवन की पूर्णता वही है जो वीतराग देव प्राप्त कर चुके तथा सम्पूर्ण संसार को बता चुके। वह पूर्णता प्रकट होती है समता की पूर्णता में। जब विषय-कषाय एवं राग-द्वेष प्रमाद रूपी ममता जीवन के विचार एवं व्यवहार में से समाप्त होने लगती है और उसके स्थान पर समता का प्रवेश होने लगता है, तभी यह समझा जा सकता है कि उस जीवन ने सही दिशा पकड़ ली है। इस रूप में जब ममता सम्पूर्णतः समाप्त हो जाय एवं समता सम्पूर्णतः विस्तार पा जाय तब कह सकते हैं कि समता की पूर्णता में जीवन की पूर्णता प्रकट हुई है।

इस दृष्टि से जीवन की जो भी नई व्याख्या मैं बनाऊं, उसमें समता-भाव का तो प्रमुख स्थान होगा ही। फिर यह सोचा जाय कि समता के उच्चस्थ शिखर पर पहुँचने के लिये कौनसे एक बिन्दु को खोजा जाय, जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो। वैसे तो समता की साधना करने तथा उस साधना को सफल बनाने की दृष्टि से कई महत्त्व के बिन्दु हो सकते हैं जैसे समता के सिद्धान्त को समझना, उसके कार्यान्वयन के विषय में सही निर्णय लेना और इसकी सामाजिक एवं व्यक्तिगत क्षेत्र में उपयोगिता का निर्धारण करना।

सर्वाधिक महत्त्व का बिन्दु मुझे यह महसूस होता है कि जीवन को समतामय बनाने के लिये यथा समय यथोचित रीति से सही और सम्यूक निर्णय लिया जाय। ज्ञान हम प्राप्त कर लें, सिद्धान्त को भी समझ लें, किन्तु उसको विधिपूर्वक जीवन के आचरण में उतारने का यदि हम समय पर निर्णय नहीं ले सकें तो उस ज्ञान और सिद्धान्त का हमें विशेष लाभ नहीं मिल सकता है। अतः सही निर्णय के बिन्दु को ही हमें सर्वाधिक महत्त्व देना होगा।

जीवन क्या है ? इसके उत्तर में इस रूप से सूत्र रूप व्याख्या तैयार की जा सकती है कि—

'सम्यक् निर्णायकं समतामयंच यत् तत् तज्जीवनम्' अर्थात् जीवन वही जो सम्यक् निर्णायक हो तथा समतामय हो। इस रूप में जीवन के दोनों छोर पकड़ लिये गये हैं। जीवन का अन्तिम लक्ष्य है कि उसकी सभी वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ सभी प्रकार से समतामय बन जाय। यह जीवन का अन्तिम छोर है तो प्रारम्भ का छोर समुचित विधि से पकड़ में आ जाय, उसके लिये हमारा 'सम्यक् निर्णायक' होना आवश्यक है। प्रत्येक परिस्थिति में एवं प्रत्येक स्तर पर यदि सही निर्णय लेकर धर्माराधन या गुणाचरण किया जाता है तो कोई आशंका नहीं माननी चाहिये कि आत्म विकास की महायात्रा में कही भी पथ से पग डगमगा जाय या भटक जाय। सम्यूक निर्णय-शक्ति से प्रारंभ हुआ जीवन अपना पुरुषार्थ प्रक्रिया में रागद्वेष, प्रमाद, अज्ञान, आसक्ति आदि दोषों से परिपूर्ण ममता का समूल निवारण कर सकेगा—ऐसी आशा रखी जानी चाहिये। समता साधना का श्रेष्ठतम विकास भी सम्यक् निर्णायक जीवन द्वारा संभव हो सकेगा।

मेरा मानना है कि अपने मन की ममता मिटे तो समता के सहज विस्तार को कोई नहीं रोक पायेगा। मन की समता मिटेगी तो फिर वस्तु में परिग्रह नहीं रहेगा। वस्तु में परिग्रह की मूर्च्छा नहीं होगी तो वस्तुओं को प्राप्त करने की हिंसक होड़ समाप्त हो जायेगी। तब वस्तुओं के पूरे समाज में सम-वितरण होने में कोई कठिनाई शेष नहीं रह जायेगी। ममता मिटेगी तो पदार्थों की संग्रह वृत्ति मिट जायेगी। मैं सोचता हूँ कि 'पर द्रव्यं लोष्ठवत्' जो कहा गया है वह तभी हो सकता है जब द्रव्य के प्रति ही आसक्ति ममत्व भाव न रहे। ऐसा हो जाता है तो परद्रव्य क्या स्वद्रव्य भी लोष्ठवत् हो जायेगा, सिर्फ उसका उपयोग जीवन की मूल आवश्यकताओं को पूरी करने मात्र में ही किया जाय।

मेरी आत्मा कहती है कि वर्तमान युग में जीवन के मूल्य जिस गलत आधार पर ढल गये हैं, उन्हें परिवर्तित किये जाने की नितान्त आवश्यकता है। सारे वातावरण को आज जो अर्थप्रधान बना दिया गया है तथा सामाजिक प्रतिष्ठा का मापदंड भी अर्थ को बना दिया गया है—यही सबसे बड़ी भूल है। यही कारण है कि आज का अर्थ-परक समाज जड़ मूल्यों वाला बन गया है जिसमें अर्थ को ही पहली महत्ता मिल रही है। इस कारण सारी धार्मिकता और नैतिकता को ताक में रखकर अधिकांश व्यक्ति अर्थोपार्जन की दौड़ में ही बुरी तरह से भाग रहे हैं। सामाजिक क्षेत्र में मानवीय मूल्यों का निरादर करके आर्थिक मूल्यों को जिस कदर बढ़ावा मिला है और मिलता जा रहा है—प्रबुद्ध जनों के लिये यह गंभीर चिन्ता का विषय है। चिन्ता का सबसे बड़ा कारण यह है कि नित प्रति समाज में विषमता की खाई ज्यादा से ज्यादा चौड़ी होती जा रही है। आर्थिक सम्पन्नता और विपन्नता के भेद की दृष्टि से जितनी विषमता बढ़ती जाती है, उतनी ही सामाजिक क्षेत्र में अर्थ की महत्ता और उसकी प्राप्ति के लिये आपाधापी बढ़ती जाती है। फलस्वरूप धार्मिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक दुरावस्था भी जटिल होती जाती है। इस सारी स्थिति का सबसे बढ़कर

कुफल यही होता है कि समता का रूप धूमिल होने लगता है। ममता का नग्न नृत्य कुटिल होता जाता है जिससे व्यक्ति के विकास एवं समाज के सुधार का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

मेरी सम्मति में आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि मूल्यों में परिवर्तन हो। अर्थ पर आधारित मूल्यों को समाप्त करना होगा और उन्हें मनुष्यता पर आधारित बनाना होगा। तभी समता का व्यक्ति की साधना में तथा समाज के नवनिर्माण में व्यापक रूप से सच्चा विकास सम्पादित किया जा सकेगा।

मैं इस दृष्टि से साध्य और साधन का समीकरण करते हुए जीवन की सूत्र रूप एवं सारपूर्ण इस व्याख्या को कि—

सम्यक् निर्णायकं समतामयञ्च यत् तज्जीवनम् को विशेष महत्त्व देना चाहूंगा कि यह नई व्याख्या जीवन के मानवीय मूल्यों को प्राथमिकता देती है। समता जिस जीवन का साध्य होगी, उसका सच्चा साधन सम्यक् निर्णय ही हो सकेगा जो एक समता साधक के ज्ञान, विवेक एवं ध्यान की कसौटी रूप होगा। सम्यक् निर्णय का सम्बन्ध भी सदा भावनात्मक ही होगा तथा विकसित भावना के अनुसार ही उस निर्णय की श्रेष्ठता एवं प्रभावकता सिद्ध होगी। इस प्रकार जीवन की पूर्णता इस छोटी-सी व्याख्या के दो शब्द समूहों में समाविष्ट कर ली गई है। ये दो शब्द समूह आत्मविकास की महायात्रा के पथ पर प्रकाशित होने वाले एक प्रकार से दो दीप-स्तंभ हैं।

पहला सूत्र और मेरा संकल्प

आत्म समीक्षण के इस पहले सूत्र के अनुसार मैं संकल्प करता हूँ कि मैं मूर्च्छा और ममत्व को हटाऊंगा, राग-द्वेष और प्रमाद को मिटाऊँगा तथा अपने जीवन को सम्यक् निर्णायक, समतामय व मंगलमय बनाऊंगा।

मेरा यह संकल्प मेरे लिये भी है और मेरे साथियों व अन्य प्राणियों के लिये भी है जिनको भी मैं आत्म-स्वरूप घातक दुर्गुणों से सावधानी दिलाना चाहता हूँ तथा जीवन के नवनिर्माण एवं समाज के स्वस्थ विकास के प्रति अपने कर्त्तव्य का भी निर्वाह करना चाहता हूँ।

मेरा संकल्प है कि मैं अपनी स्वयं की तथा अधिकाधिक मनुष्यों की संवेदनशीलता को गहरी करूंगा जिससे हम सब मिलकर ऐसे समाज का निर्माण कर सकें जिसमें शोषण, दमन, अनुशासनहीनता, पारस्परिक कटुता अथवा हृदयहीनता व अशान्ति की भावना न हो। मैं अपनी चेतना को जगाऊंगा तो अन्य प्राणियों को भी उनकी चेतना जागृति में योग दूंगा कि जीवन को दुःखी बनाने वाले मूर्च्छा, प्रमाद और ममत्व घटे तथा वस्तु त्याग से पहले ममत्व त्याग की मानसिकता बने। हमारे बीच आध्यात्मिक जागृति का इस रूप में विकास हो कि हम मान-अपमान, या लाभ-हानि आदि के द्वन्द्वों की निरर्थकता को हृदयंगम कर लें। इससे अहिंसा, सत्य तथा समता को अपनाने की अभिलाषा एवं उमंग बलवती हो जायेगी। हमारे विचार एवं व्यवहार में जितने अधिक अंशों में अहिंसा, सत्य तथा समता का समावेश होगा, उतनी ही अधिक गति से अनासक्ति की मूल्यात्मक भावना का प्रसार हो सकेगा। यही मार्ग है कि व्यक्ति के अन्तःकरण में तथा समाज की अन्तरंगता में नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की चेतना सघन बन जाय।

सामान्यतया मैं जानता हूँ कि यह मूर्च्छित मनुष्यों का जगत् है फिर भी आध्यात्मिक उत्थान की प्रेरणा का स्रोत यदि निरन्तर बहता रहे तो मनुष्य कितना ही मूर्च्छित क्यों न हो, उसमें

आत्म-विकास का जोश जगाया जा सकता है। यदि मनुष्य एक बार वृद्धावस्था, मृत्यु और धन वैभव की अस्थिरता को दिल से समझ जाय तो उसकी संवेदनशीलता उभर सकती है और वह अपनी मूर्च्छा को तोड़ सकता है।

मैं संकल्प लेता हूं कि मैं बाह्य जगत् के अपने सम्पर्क को कभी प्राथमिकता नहीं दूंगा। बल्कि अन्तरात्मा की आवाज को ही प्रमुखता दूंगा। इस कारण जन्म लेती हुई अपनी आशाओं और इच्छाओं का वहीं निरोध कर दूंगा ताकि उन की पूर्ति सम्बन्धी विषय-कषायपूर्ण प्रमाद से बच जाऊं। मैं इन्द्रियों के विषयों में आसक्त बनूंगा तो बहिर्मुखी हो जाऊंगा और विभाव-सद्भाव में रत रहकर कर्मबंधनों को काट नहीं सकूंगा अतः अन्तर्मुखी बनना मेरा लक्ष्य होगा जिसके लिये मुझे अनासक्ति भाव का अभ्यास करना होगा। मैं मानता हूँ कि मेरी संयम साधना वहीं से प्रारंभ होगी। कषायों का राजा मोह होता है अतः मोह को नष्ट करूंगा तो कषायों को भी नष्ट कर दूंगा। आप्त पुरुषों ने कषायों से मुक्ति को ही वस्तुतः मुक्ति कहा है।

मैं इस सत्य को सदा मानता हूँ कि इस मानव समाज में न कोई नीच है, न कोई उच्च—इस कारण सबके साथ समतापूर्ण व्यवहार ही किया जाना चाहिये। समता से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है। समता धर्म का मूलाधार यह है कि जगत् में सब प्राणियों के लिए पीड़ा अशान्तिकारक और दुःखयुक्तहोती है एवं सभी प्राणियों के लिये सुख अनुकूल होते हैं व दुःख प्रतिकूल होते हैं। वध आदि की हिंसक प्रवृत्तियाँ अप्रिय होती हैं, जीवित रह पाने की अवस्थाएँ प्रिय लगती हैं। सब प्राणियों के लिये जीवन प्यारा होता है अतः सबके जीवन की रक्षा की जानी चाहिये। जीवन रक्षा के बाद जीवन-साम्यता उससे ऊपर की सीढ़ी है।

मैं अनुभव करता हूँ कि अहिंसा और समता की साधना ही सत्य की साधना है। आवश्यक यह है कि हम सत्य का निर्णय कर सकें, सत्य को धारण कर सकें तथा सत्य की आज्ञा में स्थिर रह सकें। सत्य की जो आज्ञा है, वही समतादर्शी वीतराग देव की आज्ञा होती है, जिसका पालन मैं अपना प्रथम कर्त्तव्य मानता हूँ। इस पालन में भी मैं तत्परता को अनिवार्यता मानता हूँ क्योंकि कुछ लोग उनकी आज्ञा में भी आलसी होते हैं तो कुछ लोग उनकी अनाज्ञा में तत्पर होते हैं जबकि ये दोनों ही दशाएँ नहीं रहनी चाहिये। मैं इस आज्ञापालन को अपनी स्वतंत्रता का हनन नहीं मानता क्योंकि उनकी आज्ञाओं तक अपनी बुद्धि तथा अपने तर्क से नहीं पहुँचा जा सकता है। आध्यात्मिक रहस्यों का वीतराग देवों का आत्मानुभव—उनकी समदर्शिता की आज्ञा का पालन नतमस्तक होकर ही करना चाहिये। संसार को जानने के लिए संशय (जिज्ञासा) अनिवार्य है किन्तु समाधि के लिए श्रद्धा अनिवार्य होती है।

मैं संकल्प लेता हूँ कि मैं स्वयं समभाव में स्थित होने का प्रयास करूंगा, समदृष्टि में रहूँगा तथा अपने आचरण का समता के धरातल पर नव सृजन करूंगा। इस दृष्टि से सबसे पहले मैं अपने ही जीवन को सम्यक् निर्णायक बनाऊंगा ताकि समाज के व्यापक वातावरण में सम्यक् निर्णायक शक्ति का सामान्य विकास संभव बनाया जा सके। समाज में समतामय परिस्थितियाँ रचना ही मेरा पवित्र कर्त्तव्य होगा ही इस परिप्रेक्ष्य में पदार्थ-संग्रह को समाज में आर्थिक विषमता पैदा करने वाला समझूंगा तथा मूर्च्छा रूप परिग्रह से सबको दूर रहने की प्रेरणा के लिए अथक रूप से कार्य करूंगा।

मेरी हार्दिक अभिलाषा रहेगी कि स्व-स्वरूप, स्व-अस्तित्व एवं स्व-स्वातंत्र्य पर मेरी अमिट आस्था हो और इसी त्रिपुटी को मैं सभी प्राणियों के साथ सम्बद्ध मानूंगा। मैं अपने आत्म स्वातंत्र्य

को सर्व प्राणी स्वातंत्र्य से जोड़कर देखूंगा। मैं अपने आत्म पुरुषार्थ को स्व-पर हित में इस संलग्नता से नियोजित कर दूंगा कि स्व-हित भी पर-हित में समाहित हो जाय। क्योंकि पर-हित में अपने सर्वस्व के विसर्जन से स्व-हित की उच्च पराकाष्ठा की प्राप्ति होती है। मैं अविचल भाव से संसार के बीज रूप राग-द्वेष को समाप्त करूंगा, मोह पर विजय पाऊंगा तथा कामना करूंगा कि मैं भी एक दिन वीतराग पद प्राप्त कर लूं।

किन्तु वीतराग पद प्राप्त करने की दिशा में अग्रगामी होने के लिए मनोरथों का निरन्तर चिन्तन करता रहूंगा ताकि उनकी पूर्ति हेतु निष्ठा बनी रहे और अवसर मिलता जाय त्यों-त्यों उन मनोरथों को अपने संयमी जीवन में मैं कार्यान्वित करता रहूं। श्रावकत्व की दृष्टि से मेरे मनोरथ होंगे कि (१) कब वह शुभ समय आवे जब मैं अल्प या अधिक परिग्रह का त्याग करूंगा, (२) कब मैं ग्रहस्थावस्था को छोड़कर मुंडित होकर प्रव्रज्या अंगीकार करूंगा एवं (३) कब मैं अन्तिम समय में संलेखना स्वीकार कर आहार पानी का त्याग कर एवं पादोपगमन मरण अंगीकार कर जीवन-मरण की वांछा न करता हुआ रहूंगा। इसी प्रकार सर्वविरति साधुत्व की दृष्टि से मैं मनोरथों का चिन्तन करूंगा कि (१) कब वह शुभ समय आयेगा जब मैं थोड़ा या अधिक शास्त्र ज्ञान सीखूंगा, (२) कब मैं एकल विहार की भिक्षु प्रतिभा अंगीकार कर विचरूंगा, एवं (३) कब मैं अन्तिम समय में संलेखना स्वीकार कर, आहार पानी का त्याग कर तथा पादोपगमन मरण अंगीकार कर जीवन मरण की वांछा न करता हुआ विचरूंगा।

मेरी गूढ़ हृदयेच्छा है कि इस संसार में सभी प्राणियों का मंगल हो और मेरा भी मंगल हो। मेरे मंगल में सबका मंगल तथा सबके मंगल में मेरा मंगल भी निहित रहता है। मैं दृढ़ संकल्प लेता हूँ कि मैं अपने जीवन को तथा अधिकाधिक रूप में अन्य प्राणियों के जीवन को सम्यक् निर्णायक, समतामय एवं मंगलमय बनाऊंगा।

अध्याय तीन

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : २ :

मैं प्रबुद्ध हूँ, सदा जागृत हूँ।

मुझे सोचना है कि—

मेरा अपना क्या है और क्या मेरा नहीं है।

प्रबुद्धता की वेला में मुझे विदित होगा कि मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान एवं मिथ्या आचरण मेरे नहीं हैं, परन्तु पर-पदार्थों के प्रगाढ़ मोह ने मुझे पाप कार्यों में फंसा रखा है। मैं मिथ्यात्व को त्यागूंगा, नवतत्त्व की आधारशिला पर सम्यक्त्व की अवधारणा लूंगा एवं आत्म नियंत्रण, आत्मालोचना व आत्म-समीक्षण से अपने मूल गुणों को ग्रहण करता हुआ संसार की समस्त आत्माओं में एकरूपता के दर्शन करूंगा।

दूसरा सूत्र

मैं बुद्ध ही नहीं, प्रबुद्ध हूँ, बुद्धि के सर्वोच्च विकास को साध लेने में सक्षम हूं। मेरी बुद्धि मेरा ज्ञान दीपक की लौ के समान सदैव प्रदीप्त रहता है। अपनी लौ ही के कारण दीपक सभी लोगों के मुंह से दीपक कहलाता है। लौ न हो तो वह सिर्फ मिट्टी का दीवट हो जाता है।

वैसे ही जो लौ है, वह मैं हूं क्योंकि मैं चैतन्य देव हूं, आत्मा हूं। और जो मिट्टी का दीवट है, वह मेरा शरीर है। शरीर में जब तक आत्मा है तभी तक जीवन है। आत्माविहीन शरीर त्याज्य हो जाता है। जब तक दीपक की लौ जलती रहती है, लोग उसे सहेज कर रखते हैं, कारण, वह सबको प्रकाश देता है, अंधकार में मार्ग दिखाता है। इस मानव जीवन का भी यही उद्देश्य है कि वह स्वयं प्रकाशयुक्त बने तो अपना प्रकाश सब ओर भी फैलावे। जैसे दीपक की लौ कभी तेजोमय रहती है तो कभी तेल की कमी से मद्धिम भी हो जाती है, किन्तु वह जलती रहती है। जलते रहना—यही जीवन का लक्षण है। अपने पुरुषार्थ की तीव्रता अथवा मंदता से जीवन की ज्योति तेजोमय अथवा मद्धिम होती रहती है किन्तु उसका अस्तित्व निरन्तर बना रहता है। लौ जलती रहती है, जीवन प्रकाशित होता रहता है अपने ज्ञान के अमित प्रसार को अभिवृद्ध बनाते हुए। यह जलना है अपने लिये भी एवं औरों के लिये भी, क्योंकि प्रकाश पर किसी का एकाधिकार नहीं होता। प्रकाश अंधकारग्रस्त सभी लोगों के लिये होता है। उसी प्रकार यह मानव जीवन भी संसार की समस्त आत्माओं में एकरूपता लाने के लक्ष्य के प्रति प्रतिबद्ध है। मुझे इस प्रकाश के मर्म का पूरा ज्ञान है, बोध है। तभी तो मैं प्रबुद्ध हूं।

क्योंकि मैं प्रबुद्ध हूँ, इसी कारण सदा जागृत हूँ। सम्यक् ज्ञान मिथ्यात्व की नींद में कभी सोता नहीं, सदा जागता रहता है। प्रतिपल प्रकाश में नहाता रहता है। ज्ञान के प्रकाश में मेरा 'मैं' सदा जागृत रहता है, मेरा लक्ष्य हर समय मेरे सामने होता है और मैं सजगतापूर्वक अपने लक्ष्य तक पहुँच जाने के लिये प्रयासरत रहता हूं। मुझे प्रबोध भी प्राप्त है और जागरण भी क्योंकि एक प्रबुद्ध कभी भी सुशुप्त नहीं रह सकता है। जो जानता है, वह जागता है और जो जागता है, वह उठ खड़ा होता है। जो उठ खड़ा होता है, वह चल पड़ता है और वह चलता है वीतराग देवों द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर। अपने प्रबोध के कारण वह भटकता नहीं है—उसके पांव डगमगाते नहीं है। वह निश्चल गति से अपने मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है—अपनी बढ़ंती हुई उमंग और अपने बढ़ते हुए उत्साह के साथ।

मैं प्रबुद्ध हूँ, सदा जागृत हूँ—इसीलिये मैं अपने स्वरूप को पहिचानता हूं, अपने लक्ष्य को जानता हूँ और तदनुसार अपनी गति को आंकता हूँ। मेरी चेतना की प्रबुद्धता तथा उसकी सतत जागृति ही आत्म-विकास की मेरी महायात्रा की सम्पूर्ति —सूचिकाएं बन जाती हैं।

चेतना की प्रबुद्धता व जागृति

मैं जानता हूँ कि संसार के अनादिकालीन भटकाव में मेरी चेतना अज्ञान के अंधकार में ठोकरें खाती रही है, पदार्थ मोह की मदिरा से उन्मत्त बनी निद्राग्रस्त हुई है तो अपना आपा खोकर मिथ्याचरण की गन्दगी में मुंह लगाती फिरी है। मेरी प्रबुद्धता इतनी मद्धिम हो गई थी कि जैसे लौ जल ही नहीं रही हो क्योंकि मैं अपने निजत्व को ही विसार गया था। मेरी चेतना पर-पदार्थों के प्रगाढ़ मोह में फंसी तरह-तरह के पाप कार्यों में ही लगी रही। जब मेरी प्रबुद्धता ही मन्दतम थी तो भला जागृति कहां से उभरती ?

यह तो लगातार अंधकार में ठोकरें खा-खा कर मेरा क्षत-विक्षत हो जाना हुआ, मदिरा की तीक्ष्णता में खुमारी उतरने के बाद होश का आना हुआ और गंदगी की भ्रष्टता से हद पर निकलना हुआ कि मैं चौंका, जागा और अपनी विदशा को देखने लगा। अपने अपरूप को देखता रहा-देखता रहा। समझ नहीं सका कि यह मैंने क्या कर दिया था ? क्यों कर दिया था, और अब क्या करूँ ? किंकर्त्तव्यविमूढ़ता मुझे देर तक घेरे रही। मैं सोचता रहा—मैं सोचता रहा।

इस सोच से मेरी चेतना ने बोध पाया तो जागरण भी पाया। और अपनी उसी प्रबुद्धता एवं जागृति में उसने अपना कठिन कार्य भी सम्हाल लिया क्योंकि, वह कड़ी थी—अपनी स्वामिनी एवं अपने सेवक के मन वचन काया के बीच की। इन सेवकों ने उसे भी पथभ्रष्ट कर दिया था और उनकी पथभ्रष्टता की कालिख के छींटे तो अपनी स्वामिनी पर लगने ही थे। स्वामिनी भी मलग्रस्त हो गई। अब उसी का कठिन कार्य था कि एक ओर वह अपने सेवकों की उद्दंडता को रोके और उन्हें अपनी स्वामिनी की सत्सेवा में नियोजित करे तथा स्वयं स्वामिनी को भी उसके प्रबुद्ध एवं सदा जागृत स्वरूप का भान दिलावे। मेरी चेतना ने तब कमर कस ली और मन, वाणी तथा कर्म की लगाम अपने हाथ में पकड़ ली। यों कहिये—मेरी चेतना चाबुक बन गई, अपने को अपनी स्वामिनी के हाथों में सौंप कर। यह चाबुक था मेरे मन, वाणी और कर्म को मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान एवं मिथ्याचरण से दूर हटाने का और उन्हें सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् आचरण की दिशा में ले जाने का—उनको पाप पंक से निकाल कर आध्यात्मिकता के खुले मैदान और खुले वातावरण में गमन कराने का। यह चाबुक चोट करके ही रह जाने वाला नहीं था, बल्कि चोट पर मरहम लगाते हुए इच्छापूर्वक आगे बढ़ने की जागृति देने वाला था। मेरे मन, वाणी और कर्म ने चेतना के चाबुक की चोट खाई तो उन्होंने ऊपर निहारा —अपनी कर्तृशक्ति के मुख पर उभरते हुए तेज को देखा तो वे भी स्तब्ध रहे, पश्चाताप में डूबे और संकल्प के साथ सन्मार्ग पर चलने को उद्धत हो गये।

यह है मेरे 'मैं' के जागरण की कथा। मेरे 'मैं' का हाथ तब कस गया। चाबुक को उसने मजबूती से पकड़ा और एक नजर अपने मन, वचन और कर्म पर घुमाई 'मैं' ने एक नजर उस स्थान पर भी घुमाई जहाँ से उसे तीव्र गति से निकल जाना चाहिये था क्योंकि निकलने में तब तनिक भी विलम्ब करना पुनः सुशुप्ति में गिरने का कारण हो सकता था। अभी-अभी उस विकारों से भरे स्थान के प्रति जुगुप्सा जागी थी और वहाँ से तुरन्त निकल जाने की तत्परता बनी थी, वह कहीं निरर्थक विलम्ब के कारण समाप्त न हो जाय। कहीं ऐसा न हो कि संसार के ऐन्द्रजालिक दृश्य उसे फिर से व्यामोहित बनादे और उसका चाबुक उसके हाथ से फिर छूटकर उसके मन, वचन और कर्म

को फिर से भटकादे। उस स्थान पर जरा-सी देर के लिये भी ठहरे रहना घातक सिद्ध हो सकता था।

फिर क्या था? मैंने अपने हाथ को एक जोर का झटका दिया और चाबुक को उन तीनों घोड़ों की पीठ पर बरसा दिया। मेरा रथ दौड़ने लगा। गंदगी के उस कीचड़ भरे दलदल से निकल कर जल्दी से जल्दी खुले मैदान में पहुँच जाने की मेरी आतुरता प्रबल हो उठी, जहाँ पहुँच कर मैं शान्ति से अपना स्वरूप-दर्शन कर सकूं, आत्म नियंत्रण, आत्मालोचना एवं आत्म-समीक्षण की सहायता से अपने विकास का मार्ग खोज सकूं तथा अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को जगाकर अपनें मूल गुणों को अवाप्त कर सकूं।

मूल स्वरूप की संस्मृति

वह खुला मैदान ही तो यह मानव जीवन है, जहाँ मैं पहुँच गया हूँ। मनुष्यता, वीतराग, धर्म-श्रवण, सम्यक् श्रद्धा एवं संयम में पराक्रम की क्षमता-रूप दुर्लभ प्राप्तियाँ यहाँ मुझे मिली हैं, यह मेरी अपने मूल स्वरूप की संस्मृति का ही सुपरिणाम है।

मैं अपने मूल स्वरूप की मनोज्ञ झलक पाकर ही तो इस खुले मैदान में पहुँच सका हूँ, जहां मुझे सुअवसर मिला है कि मैं अपने सम्पूर्ण स्वरूप की वास्तविकता को परखूं तथा स्वरूप पर छाई मैल की परतों को हटाऊँ। यह मैल पूरी तरह निकलेगा, तभी मूल स्वरूप की उज्वलता प्रकट होगी। मूल स्वरूप की मेरी संस्मृति एक ओर मुझे अपने पूर्ण स्वरूप के दर्शन करने की प्रेरणा दे रही है तो दूसरी ओर उस पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करने हेतु कठिन पुरुषार्थ को भी जगा रही है।

मैं जान गया हूँ—मैं जाग गया हूँ। फिर भी जितना जाना है वह ज्ञान के महासागर की एक बूंद भी नहीं है—अभी तक बहुत जानना है मुझे—ज्ञान की साधना में अपनी सर्व शक्तियाँ जुटा देनी है मुझे। मैं जाग गया हूँ लेकिन यह तो जागृति का पहला ही क्षण है। जागृति की निरन्तरता को बनाये रखने के लिये मेरे 'मैं' को बहुत सावधानी संचित करनी पड़ेगी। ज्ञान का यह प्रकाश अधिकाधिक तेजोमय होता जायगा और जागृति की सावधानी स्वाभाविक एवं स्थायी बनती जायगी, तभी पुरुषार्थ की प्रक्रिया अधिकाधिक त्वरितता ग्रहण करती हुई पुष्ट, प्रबल एवं प्रखर हो सकेगी।

मेरे पुरुषार्थ के फावड़े चलते ही रहेंगे तथा पराक्रम का पसीना बहता ही रहेगा —तब उसे कोई रोक नहीं सकेगा। मेरे 'मैं' को उस की तेज चाल से तब कोई डिगा नहीं सकेगा। और इसका सबसे बड़ा कारण यह होगा कि मेरा 'मैं' अपने मैं—पन की अनुभूति ले चुका है, अपनी सुज्ञता, स्वस्थता एवं सुघड़ता को पहिचान चुका है। क्या अब वह पुनः उस अंधकार में—उन्माद में और भ्रष्टाचार में लौटना चाहेगा? जब तक उसे स्व-स्वरूप की संस्मृति रहेगी तथा स्व-अस्तित्व की आस्था रहेगी तब तक वह ऐसा कभी नहीं करेगा। क्या एक कुंए में गिरकर चोट खाया हुआ मनुष्य जानते बूझते हुए फिर से उसी कुए में गिरना चाहेगा? कहावत तो यह है कि दूध का जला हुआ छाछ को भी फूंक-फूंक कर पीता है। यह दूसरी बात है कि वह फिर शराब पी ले—फिर मदमाता हो जाय और फिर उसी कुंए में गिर जाय। यह नहीं है कि ऐसा नहीं होता, किन्तु ऐसा न होने देने के लिये ही प्रबुद्धता एवं जागृति की निरन्तर आवश्यकता रहती है।

मैं मानता हूँ कि यह आवश्यकता निरन्तर पूरी भी होती रह सकती है, यदि मैं प्रतिपल, प्रतिक्षण आत्म-दर्शन करता रहूँ, आत्मानुभूति लेता रहूं और आत्मसमीक्षण में लगा रहूँ। सम-भाव और समदृष्टि से संसार के सारे प्राणियों को तो देखूं ही, किन्तु सबसे पहले स्वयं को देखूं अपने ही आत्म-स्वरूप को देखूं कि उसका गति-चक्र किस तरह चल रहा है। इसे दृष्टा भाव कहते हैं। आत्मा ही कर्त्ता है किन्तु आत्मा ही अपने आपकी दृष्टा भी हो सकती है। मैं ही मुझको देख रहा हूं कि मैं क्या कर रहा हूं। जो कर रहा है, वह भी मैं हूँ तो मैं सतत देखने वाला भी बन जाऊं कि मैं क्या कर रहा हूं। ये दोनों क्षमताएँ एक साथ कार्यान्वित की जा सकती हैं। मैं एक ही हूँ किन्तु कर्त्ता और दृष्टा की दोनों क्रियाएं मैं एक साथ कर सकता हूँ। कर्त्ता होना मेरी प्रबुद्धता है तो दृष्टा होना मेरी जागृति। मैं प्रबुद्धता और जागृति की इस वेला में स्वयं पुरुषार्थ रत रहूँगा, अपने पुरुषार्थ के खरे-खोटेपन की आलोचना भी मैं ही करूँगा तो आत्म-समीक्षण के बल पर अपने प्रछना मूल गुणों को प्रकाशित का पराक्रम भी मैं ही साधूंगा, क्योंकि मेरी मूल-स्वरूप की संस्मृति सुदृढ़ बनती हुई चली जा रही है। मेरी क्षमता और मेरी सामर्थ्य-शक्ति जाग उठी है कि मैं अपनी विदशा को जांचूं, अपनी प्राप्त शक्तियों को तौलूं तथा आध्यात्मिकता के नन्दन वन की ओर आगे बढ़ूं।

सत्य का विपर्यय है मिथ्या

मुझे अपने गति क्रम को निर्धारित करने के पूर्व ही सोचना है कि मेरा अपना क्या है और क्या मेरा नहीं है। क्योंकि इस सांसारिक परिभ्रमण में अधिकांशतः मेरे साथ यही घटता रहा है कि जो तत्त्व मेरे नहीं थे, उन्हें ही मैं समेटता गया और अपने गले लगाता रहा। और जो वास्तव में मेरे अपने तत्त्व थे, उन्हें मैं भूल ही नहीं गया बल्कि उन्हें छोड़ता रहा। अगर कोई अपने शरीर की लज्ञा ढकने वाले वस्त्रों को ही छोड़ता रहे तो उसे नंगा होने से कौन बचा सकेगा? मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ। मैं गुणविहीन आत्मा बनने लग गया—मेरे मानवीय मूल्य अज्ञान और अविवेक के अंधेरों में खो गये।

मुझे इसका प्रत्यक्ष कुफल मिला कि मैं सत्य को भूल गया—अपनी उन्मतता में सत्य को भूला ही नहीं, मैं उसका शत्रु भी बन गया। जब मैने सत्य का दामन छोड़ा तो निश्चित था कि मैं मिथ्या की गोद में गिर जाता। यही हुआ और मैं मिथ्यात्व के बियावान बीहड़ में भटकने लगा। मेरी श्रद्धा मिथ्या बन गई, मेरा ज्ञान और आचरण मिथ्या हो गया। सच पूछें तो मैं स्वयं—मेरा आत्मस्वरूप इस मिथ्यात्व का प्रतीक बन गया।

पिछली स्मृतियों को अपने चित्त में उभारते हुए मुझे समझना है कि मिथ्यात्व आखिर क्या होता है?

सत्य का विपर्यय होता है मिथ्या, जैसे कि प्रकाश का विपर्यय अंधकार होता है। वस्तुतः मिथ्यात्व वह अंधकार होता है जो सत्य से साक्षात्कार तो करने देता ही नहीं है, किन्तु सत्य का दर्शन तक भी नहीं होने देता। पश्चिम दिशा में ले जाने वाला मिथ्यात्व आखिर पूर्व दिशा में उदय होते सूर्य को दिखा ही कैसे सकता है? आध्यात्मिक दृष्टि से मिथ्यात्व का अर्थ होता है, आत्मिक विपरीतता। जब आत्मा वास्तव में जो जानना चाहिये, वह नहीं जानती बल्कि उससे विपरीत जानती है, जिन तत्त्वों के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिये, उन के प्रति श्रद्धा नहीं रखती बल्कि उनसे विपरीत तत्त्वों के प्रति श्रद्धा रखती है अथवा वस्तुतः जिस प्रकार का आचरण किया जाना चाहिये वह

आचरण नहीं करती बल्कि उससे विपरीत आचरण करती है, तब यह कहा जाता है कि वह आत्मा मिथ्यात्व के गहरे अंधेरे में भ्रमित हो रही है।

आत्म विकास की महामात्रा के मूल तत्त्वों की मान्यता में जब विपरीतता आती हो तो उस दशा में विकास की बात तो दूर रही विकास के प्रति अभिरुचि तक नहीं जागती है—यह मैंने प्रत्यक्ष देखा है, क्योंकि सम्पूर्ण श्रद्धान् ही विपरीत बना हुआ होता है। इस विपरीत श्रद्धान् को सरल भाषा में इस प्रकार कहा गया है—(१) जीव तत्त्व को अजीव तत्त्व श्रद्धे तो मिथ्यात्व (२) अजीव को जीव श्रद्धे तो मिथ्यात्व (३) धर्म को अधर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व (४) अधर्म को धर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व (५) साधु को असाधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व (६) असाधु को साधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व (७) संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व (८) मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व (९) आठ कर्मों से मुक्त को अमुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व एवं (१०) आठ कर्मों से अमुक्त को मुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व।

मैं सोचता हूं कि सरल भाषा में बताई गई मिथ्यात्व की पहिचान आत्म-विकास की बुनियादी बातों से सम्बन्ध रखती है और यदि उन्हीं में विपरीत धारणा होती है तो उससे बढ़कर आत्मा के लिये और क्या घातक स्थिति हो सकती है? जीव और अजीव इन दोनों तत्त्वों से यह संसार बना है किन्तु वस्तुतः अपने स्वभाव से दोनों तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं। वैसी स्थिति में कोई आत्मा को ही न माने और शरीर की मृत्यु के साथ जीवन समाप्ति की धारणा बनाले या गति से चालित अजीव वाहनों को जीव मान ले तो इससे आध्यात्मिक समझ की बुनियाद ही बिगड़ जाती है। धर्म के स्वरूप को सही तरीके से समझने की दृष्टि से तो विपरीत धारणा का असर एकदम उल्टी दिशा में ही ले जाता है। इसी प्रकार सच्चे साधुत्व की कसौटी को न समझे और साधु नामधारी की भी भक्ति में ही कोई लग जाय तो असाधु गुरु से सच्चा ज्ञान कैसे मिलेगा? आत्म विकास के मार्ग एवं उसके लक्ष्य के प्रति भी भ्रान्त धारणा व्यक्ति को न सही मार्ग पर चलने देती है, न सही गंतव्य का लक्ष्य निर्धारित करने देती है। इस प्रकार मिथ्यात्व का सेवन करना आत्मा को डुबोने वाला ही बनता है क्योंकि एक मिथ्यात्वी आत्मा कुदेव, कुगुरु, कुधर्म व कुशास्त्र के प्रति श्रद्धा रखती है और सुदेव, सुगुरु, सुधर्म तथा सुशास्त्रों के प्रति श्रद्धा नहीं रखती है। मिथ्यात्व की अवस्था वैचारिक दृष्टि से आत्मा के लिये महापतन की दशा होती है क्योंकि विचार ही वाणी और कर्म का जनक होता है।

मिथ्यात्व के सूक्ष्म दुष्प्रभावों को भली भांति समझने के लिये मैं उसका और अधिक बारीक विश्लेषण कर रहा हूँ, उसके पांच भेदों के रूप में—(१) आभिग्रहिक मिथ्यात्व तत्त्व की परीक्षा किये बिना ही पक्षपातपूर्वक मिथ्या सिद्धान्त का आग्रह करना तथा सम्यक् पक्ष का खंडन करना, (२) अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व गुण दोष की परीक्षा किये बिना ही सब पक्षों को बराबर समझना, (३) आभिनिवेशिक मिथ्यात्व अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी उसकी स्थापना के लिये दुराग्रहपूर्ण हठ करना, (४) सांशयिक मिथ्यात्व— इस स्वरूप वाला देव होगा या अन्य स्वरूप वाला— इस तरह देव गुरु व धर्म के विषय में संशयशील बने रहना, तथा (५) अनाभौगिक मिथ्यात्व —विचारशून्य एकेन्द्रिय आदि तथा विशेष ज्ञान विकल्प जीवों को जो मिथ्यात्व होता है उसे अनाभौगिक मिथ्यात्व कहते हैं।

मेरा दृष्टिकोण इस विश्लेषण से साफ हो जाता है कि मिथ्यात्व आत्मा की विचारणा की उस विदशा को कहेंगे जब उसके सिद्धान्त-निरूपण में परीक्षा की बजाय पक्षपात होता है, सत्य के

आग्रह के स्थान पर दुराग्रह होता है या कि बुद्धि—विवेक शून्यता होती है अथवा संदेहशीलता होती है। विचार के सम्बन्ध में जब ऐसी दुर्दशा एवं सत्य की विपरीतता बन जाय तो उसके भावी विकास की बात करना ही व्यर्थ होगा।

मेरा मानना है कि जहां मिथ्यात्व होता है, वहाँ सत्य नहीं होता—सम्यक्त्व नहीं होता। जहाँ सम्यक्त्व तक नही होता, वहाँ आत्म-विकास का एक चरण भी आगे नहीं बढ़ता। इसके विपरीत कर्म बंधन के कारणों में मिथ्यात्व को एक मुख्य कारण माना गया है कि मोहवश तत्त्वार्थ में श्रद्धा न रखने या विपरीत श्रद्धा रखने से एक मिथ्यात्वी आत्मा में आठों प्रकार के कर्मों का प्रवेश एवं उनकी संलग्नता चालू रहती है। यही नहीं, मिथ्यात्व की जड़ें कभी इतनी जम जाती है कि बार-बार उखाड़ लेने पर भी फिर-फिर हरी हो जाती है तथा साधे गये उच्च विकास को पुनः धूलिधूसरित कर देती है। इस कारण मिथ्यात्व का पूर्णतः मूलोच्छेदन अनिवार्य माना गया है।

मैं अपनी ही आत्मालोचना करूं कि सावधानी रखते हुए भी मिथ्यात्व का मन-मानस पर ऐसा आक्रमण होता है कि श्रेष्ठ तत्वों के प्रति मेरी श्रद्धा डगमगा जाती है, ज्ञान विभंग हो जाता है तथा आचरण की धारा उल्टी बहने लगती है या यों कहूं कि दुनिया की बहती हवा में मैं संज्ञाशून्य-सा होकर बहने लग जाता हूं। किसी झटके से ही मेरी सावधानी वापस लौटती है तब जाकर मुझे अपने मिथ्यात्व का ख्याल होता है। बहुरूपी मिथ्यात्व का दैत्य ऐसा ही होता है जो एक साधक को बार-बार सताता है और डोलायमान करना चाहता है अतः मैं मानता हूं कि मिथ्यात्व के प्रति पूर्ण सावधानी रखनी एक साधक की कड़ी कसौटी होती है। यह सावधानी किस रूप में रखी जाय? मिथ्यात्व को हटाकर सम्यक्त्व का वरण करें तथा सम्यक्त्व के प्रति अपनी निष्ठा को अमिट बनावे।

मोह ही मिथ्यात्व का मूल कारण

यह तथ्य मेरा अनुभव जन्य है कि यह मिथ्यात्व सांसारिक पदार्थों में उपजे व गाढ़े बने मोह के कारण ही पैदा होता और पसरता है। तभी तो मैं जीव को अजीव मान लेता था और अजीव मेरे लिये जीव से भी ज्यादा प्रिय हो जाता था। मन को मनोज्ञ लगने वाले अथवा पांचों इन्द्रियों को सुहावने प्रतीत होने वाले जड़ पदार्थ मुझे अपने महसूस होते थे जबकि मैं निज गुणों को भुला देता था। तो मिथ्यात्व की यह विपरीत वृत्ति एवं प्रवृत्ति पदार्थों के प्रति प्रगाढ़ मोह के गर्भ से ही जन्म लेती है।

और मोह मदिरारूप होता है जो मेरा भान भुला देता था। उन्मत्तता की दशा में मेरे कदम उल्टे ही पड़ते थे—क्या तो जानने के मामलों में और क्या मानने एवं करने के मामलों में। इस सम्बन्ध में एक शराबी की दुर्दशा हम अपनी आंखों के सामने प्रत्यक्ष रूप से देख सकते हैं। शराब का नशा ही नहीं, उस नशे की खुमारी भी जब तक नहीं उतरती है, तब तक उसके साथ कोई अक्ल की बात करना आसान नहीं होता है। इसी प्रकार मोहग्रस्तता की याद भी मैं कैसे रख सकता हूं? मोह के गाढ़े नशे में मैं क्या सोचता था, क्या मानता था और क्या करता था यह मैं कुछ नहीं जानता। ज्ञानी जन ही जानते होंगे अपितु ज्ञानी जन तो बता चुके है कि प्रगाढ़ मोह दशा में मन मानस पर मिथ्यात्व हावी रहता है, इस कारण उस दशा में सम्यक्त्व का वरण कठिन ही होता है। जब विचारों की दिशा सर्वथा बदलती है तब जाकर सम्यक्त्व का श्रीगणेश होता है।

मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर गति करने अथवा अपनी मिथ्या श्रद्धा एवं अपने मिथ्या आचरण को सम्यक्त्वपूर्ण बनाने के पहले इस व्यापक चक्र को मैं समझ लूं कि संसार से मोक्ष तक पहुँचने के लिये इस आत्मा को किस प्रक्रिया से होकर गुजरना पड़ता है तो उस ज्ञान के कारण सम्यक्त्व के क्षेत्र में सक्रियता हेतु विशिष्ट दृढ़ता मुझे प्राप्त हो सकेगी। यही ज्ञान मुझे पदार्थ मोह से पृथक करेगा तो मेरी निष्ठा को मूल्यों के केन्द्र में संस्थापित कर देगा। मुझे श्रद्धा, ज्ञान और आचरण की एक बार शुभता प्राप्त हो—यह एक बात, किन्तु पदार्थों के प्रति प्रगाढ़ मोह के थपेड़ों से मैं अपने सम्यक्त्व की सुरक्षा करने में समर्थ बन सकूं तथा उस शुभता को बनाये रखूं व बढ़ाता रहूँ यह दूसरी बात है। एक के बाद दूसरी स्थिति आवश्यक है, वरना मोह और मिथ्यात्व का दैत्य कभी भी मेरी शुभता का सहज ही में अपहरण कर सकता है।

एक दृष्टि संसार से मोक्ष तक

मेरी भव्य आत्मा इन दोनों प्रक्रियाओं की कर्त्ता है कि वह इस संसार में कर्मों के भार से दबी हुई रहे अथवा हलुकर्मी बनकर ऊर्ध्वमुखी हो जाय। इस प्रक्रिया के ही अंग हैं कि आत्मा कर्मों का भार कैसे बढ़ाती है और अपने मन, वचन, कर्म को क्या अपरूप देती है अथवा इसके विपरीत वह अपने कर्म भार से हल्की कैसे हो सकती है और कैसे अपने मन, वचन, कर्म की शुभता साधकर सदा-सदा के लिये अपने मूल स्वरूप में स्थित हो जाने हेतु मोक्ष के पावन प्रांगण में प्रवेश कर सकती है?

पहले इस प्रक्रिया के प्रधान तत्त्वों को समझलें। तत्त्व होता है वस्तु का सद्भाव एवं उसका यथार्थ स्वरूप। ये तत्त्व संख्या में नौ माने गये हैं (१) जीव - जिसे सुख-दुःख का ज्ञान होता है तथा जिसका उपयोग लक्षण है, (२) अजीव - जड़ पदार्थ अथवा सुख-दुःख के ज्ञान एवं उपयोग से रहित पदार्थ, (३) पुण्य - कर्मों की शुभ प्रकृतियाँ, (४) पाप - कर्मों की अशुभ प्रकृतियाँ, (५) आश्रव - शुभ तथा अशुभ कर्मों के आने का कारण, (६) संवर - समिति गुप्ति वगेरा से कर्मों के आगमन को रोकना, (७) निर्जरा—फल-भोग या तपस्या के द्वारा कर्मों को एक देश से क्षय करना, (८) बंध—आश्रव के द्वारा आये हुए कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्धित होना तथा (९) मोक्ष—सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा का निज स्वरूप में लीन हो जाना।

इन नौ तत्त्वों के स्वरूप को कुछ विस्तार से समझें।

जीव तत्त्व ही संसार के रंगमंच का कलाकार होता है और रंगमंच होता है अजीव तत्त्व का। रंगमंच का निर्माण, कला की विधाएँ और कला का प्रदर्शन—यह सब कुछ जीव तत्त्व करता है। क्योंकि जीव ही चेतना, एवं उपयोग लक्षण वाला, सुख-दुःख का वेदक, पर्याप्ति एवं प्राण का धर्ता, आठ कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता, सदा काल शाश्वत रहने वाला तथा कभी भी नष्ट नहीं होने वाला असंख्य प्रदेशी तत्त्व होता है। जीव ही ज्ञान, दर्शन, सुख और आत्म-वीर्य इन चार भाव प्राणों से भूतकाल में जिया, वर्तमान काल में जीता है तथा आगामी काल में इन्हीं चार भाव प्राणों के साथ जियेगा और इसीलिये इसका जीव नाम है। जीव मुख्यतः दो तरह के माने गये हैं—संसारी जो कर्म सहित हैं और सिद्ध जो कर्म खपा कर मुक्त हो गये हैं। संसारी जीव चौदह प्रकार के होते हैं —सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादक एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय— इन सात की पर्याप्त एवं अपर्याप्त दशा की दृष्टि से कुल चौदह प्रकार हो गये। विस्तार की अपेक्षा से जीव तत्त्व के पांच सौ त्रेसठ भेद किये गये हैं।

अजीव तत्त्व चेतना रहित व सुख-दुःख पर्याप्ति, प्राण, योग, उपयोग आदि से भी सर्वथा रहित होता है। वह जड़ स्वरूप होकर विनाशी स्वभाव का होता है। इस संसार के सभी दृश्यों में जीव तत्त्व के हाथों घड़ा जाकर यह अजीव तत्त्व ही दिखाई देता है तथा यही जीव—तत्त्व एवं संसार के संसरण का सम्बल बना हुआ रहता है। अजीव तत्त्व के चौदह प्रकार इस रूप में माने गये हैं—धर्मास्तिकाय (गति) के तीन भेद स्कंध, देश और प्रदेश, अधर्मास्तिकाय (स्थिति) व आकाशास्तिकाय (अवकाश) के भी ये ही तीन-तीन भेद—इस प्रकार नौ तथा दसवां काल (समय-व्यतीति) — ये अरूपी अजीव के दस भेद तथा रूपी अजीव के चार भेद स्कंध, देश, प्रदेश, एवं परमाणु पुद्‌गल मिलाकर कुल चौदह भेद हुए।

पुण्य कर्म का बंध कठिनता पूर्वक साधे गये सत्कार्यों से होता है किन्तु इसका उपभोग करना बड़ा ही सुखकारी रहता है क्योंकि पुण्य का उदय होने पर अनुकूल परिस्थितियां तथा मनोज्ञ वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। पुण्य—धर्म का सहायक भी होता है तो पक्ष्य रूप भी होता है। पुण्य नौ प्रकार का कहा गया है। जो निस्वार्थ भाव के आचरण से संपादित होता है। जैसे भोजन के लिये अन्न देने से होने वाला अन्न पुण्य, पीने के लिये पानी देने से होने वाला पान-पुण्य, स्थान और आश्रय देने से होने वाला लयन पुण्य, शय्या, पाटपाटला आदि साधन देने से होने वाला शयन पुण्य, वस्त्र देने से होने वाला वस्त्र पुण्य, दान, शील, तप, भाव, विनय और दया आदि की शुभता से होने वाला मन पुण्य, मुख से शुभ वचन बोलने से होने वाला वचन पुण्य, सेवा सुश्रूषा, विनय वैयावृत्य के शुभाचरण से होने वाला काय पुण्य तथा अधिक गुणवान को नमस्कार करने से होने वाला नमस्कार पुण्य।

पाप तत्त्व कर्म के रूप में आत्मा को मलीन बनाने वाला, अशुभ योग से बांधने वाला एवं दुःखों में पटकने वाला होता है। इस कर्म को आत्मा सांसारिकता में डूबी रह कर सुखपूर्वक बांधती है लेकिन इसे भोगना कठिन दुःख के साथ पड़ता है क्योंकि यह अशुभ प्रकृति रूप होता है तथा इसका फल भोग होता है अत्यन्त कटुक, कठोर और अप्रिय। आत्म स्वरूप को मलिन करने वाला यह पाप तत्त्व अट्ठारह प्रकार का बताया गया है—(१) प्राणातिपात —प्राणों को आघात पहुंचाकर जीवों की हिंसा करना, (२) मृषावाद—असत्य भाषण करना, (३) अदत्तादान— बिना दी हुई वस्तु लेना, चोरी करना, (४) मैथुन—कुशील का सेवन करना, (५) परिग्रह —ममत्व भाव से द्रव्य आदि रखना, (६) क्रोध —खुद तपना, दूसरों को तपाना तथा कोपायमान होना, (७) मान —घमंड करना, (८) माया— कपटाई और ठगाई करना, (९) लोभ—तृष्णा बढ़ाना और मूर्छा भाव रखना, (१०) राग—प्रिय व्यक्ति या वस्तु पर मोह व आसक्ति रखना, (११) द्वेष—अप्रिय व्यक्ति या अमनोज्ञ वस्तु पर विरोध का भाव रखना, (१२) कलह—क्लेश करना, (१३) अभ्याख्यान —झूठा कलंक लगाना, (१४) पैशून्य —दूसरे की चुगली करना, (१५) पर-परिवाद—दूसरे का अवर्णवाद बोलना, और निन्दा करना, (१६) रति-अरति—पांच इन्द्रियों के तेवीस विषयों में से मनोज्ञ वस्तु पर प्रसन्न होना और अमनोज्ञ वस्तु पर क्रोधित होना तथा धर्म में अरुचि रखना, (१७) माया मृषावाद —कपट सहित झूठ बोलना एवं (१८) मिथ्यादर्शन शल्य—कुदेव, कुगुरु और कुधर्म पर श्रद्धा रखना।

आश्रव तत्त्व वह है जिसके द्वारा आत्मा में कर्म आते हैं उसी प्रकार जिस प्रकार एक तालाब में उसके नालों द्वारा पानी आकर भरता है। आश्रव को नालों की संज्ञा दी जा सकती है जो बीस प्रकार के बताये गये हैं—(१) मिथ्यात्व—मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान एवं मिथ्या आचरण का

सेवन करना, (२) अव्रत—व्रत नहीं लेना और किसी तरह का प्रत्याख्यान नहीं करना, (३) प्रमाद—पांच प्रकार के प्रमाद का सेवन करना, (४) पच्चीस प्रकार की कषाय का आचरण करना, (५) अशुभ योग—अशुभ योग में प्रवर्तित होना, (६) प्राणातिपात—जीवों की हिंसा करना, (७) मृषावाद—झूठ बोलना, (८) अदत्तादान—चोरी करना, (६) मैथुन—कुशील का सेवन करना, (१०) परिग्रह—द्रव्यादि रखना, (११) श्रोतेन्द्रिय—श्रवण विषयों को वश में नहीं रखना, (१२) चक्षुरिन्द्रिय—दृश्य विषयों को वश में नहीं रखना, (१३) घ्राणेन्द्रिय—सूंघने के विषयों को वश में नहीं रखना, (१४) रसनेन्द्रिय—रसास्वादन के विषयों को वश में नहीं रखना, (१५) स्पर्शेन्द्रिय—स्पर्श के विषयों को वश में नहीं रखना, (१६) मन—विचार के विषयों को वश में नहीं रखना, (१७) वचन—भाषण के विषयों को वश में नहीं रखना, (१८) काया—शरीर के विषयों को वश में नहीं रखना—अर्थात् इनसे उत्पन्न राग द्वेषादि भावों से अपनी आत्मा को वश में नहीं रखना। (१६) भंड-उपकरण—पात्रादि को अयतना से लेना व अयतना से रखना एवं (२०) सुई—कुशाग्र वस्तु मात्र को अयतना से लेना तथा अयतना से रखना।

संवर तत्त्व आश्रव याने कि कर्मों के आने का निरोध करता है। जीव रूपी तालाब में आश्रव रूपी नालों के द्वारा कर्म रूपी आते हुए पानी को रोकने हेतु संवर रूपी पाल बांधकर पानी उसे आने से पहले ही रोक दे, उसे संवर तत्त्व कहा गया है। उस के बीस बोल होते हैं —(१) सम्यक्त्व-सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् आचरण, (२) व्रत-प्रत्याख्यान—विभिन्न व्रत ग्रहण करना तथा त्याग करना, (३) अप्रमाद—प्रमाद का सेवन नहीं करना, (४) अकषाय—कषायपूर्ण आचरण नहीं करना, (५) शुभयोग—शुभ योगों में प्रवर्तित होना, (६) प्राणातिपात—विरमण जीवों की हिंसा नहीं करना, (७) मृषावाद—विरमण सत्य भाषण करना, (८) अदत्तादान-त्याग—चोरी नहीं करना, (६) अमैथुन—कुशील का सेवन नहीं करना, (१०) परिग्रह— परिमाण द्रव्यादि पर ममत्व भाव नहीं रखना (११) श्रोतेन्द्रिय—श्रवण विषयों पर अनाशक्ति (१२) चक्षुरिन्द्रिय —दृश्य विषयों पर आशक्त नहीं होना (१३) घ्राणेन्द्रिय—सूंघने के विषयों में अनाशक्ति (१४) रसनेन्द्रिय—रसास्वादन के विषयों में अनाशक्ति भाव (१५) स्पर्शेन्द्रिय—स्पर्श विषयों पर आशक्त नहीं होना, (१६) मन—विचारों को वश में रखना (१७) वचन को वश में रखना, (१८) काया—शरीर को वश में रखना, (१६) भंड-उपकरण—पात्रादि को यतना से लेना व यतना से रखना, एवं (२०) सुई कुशाग्र-वस्तु मात्र को यतना से लेना तथा यतना से रखना।

आत्मा से कर्म वर्गणा का देशतः दूर होना निर्जरा तत्त्व कहलाता है। जीव रूपी वस्त्र के कर्म रूपी मैल, ज्ञान रूपी पानी, तप तथा संयम रूपी साबुन से धोकर मैल को दूर करे—उसे निर्जरा तत्त्व कहते हैं। संवर से आते हुए पानी को रोककर तालाब में भरे हुए पानी को बाहर निकालने का काम निर्जरा तत्त्व करता है। कर्मों की निर्जरा बारह प्रकार के सम्यक् तपाराधन से की जाती है — (१) अनशन—उपवास आदि, (२) ऊणोदरी—भूख से कम भोजन करना, (३) भिक्षा चर्या (वृति संक्षेप) अनेक घरों से ऐषणीय भिक्षा लाना व आहार करना, (४) रस परित्याग—रस (विगय) पूर्ण भोजन का त्याग करना, (५) कायाक्लेश—वीर आसन आदि शरीर की कष्टकर क्रियाएं करना, (६) प्रतिसंलीनता—इन्द्रियों, कषायों व योगों को वश में रखना, (७) प्रायश्चित —लगे हुए दोषों की आलोचना करना तथा प्रायश्चित लेकर आत्म स्वरूप को शुद्ध बनाना, (८) विनय—गुरु आदि का भक्ति पूर्वक अभ्युत्थानादि से आदर सत्कार करना, (६) वैयावृत्य—आचार्य आदि की सेवा सुश्रूषा

करना, (१०) स्वाध्याय —शास्त्रों की वाचना पृच्छना आदि करना, (११) ध्यान—मन को एकाग्र करके शुभ विचारों में लगाना एवं (१२) व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)—शरीर के योग व्यापार का त्याग करना।

जीव जब कषाय आदि के वशीभूत होकर कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है और आत्मा के प्रदेश तथा कर्मों के पुद्गल एक साथ दूध पानी की तरह मिल जाते है तथा लौह पिंड व अग्नि के समान एकमेक हो जाते है तो इस प्रक्रिया को बंध तत्त्व कहते हैं। इस प्रक्रिया का एक दृष्टान्त दिया गया है कि जीव आठ कर्मों से बंधा हुआ होता है और जीव तथा कर्म एकमेक हो जाते हैं व दूध-पानी की तरह लोलीभूत हो जाते हैं। तब हंस पक्षी अपनी खट्टी चोंच से दूध और पानी को एकदम अलग-अलग कर देता है, उसी प्रकार जीव रूपी हंस सम्यक् ज्ञान रूपी चोंच से जीव और कर्म के प्रदेशों को पूर्णतया पृथक-पृथक कर देता है। बंध तत्त्व के चार भेद माने गये हैं—(१) प्रकृति बंध—जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में भिन्न-भिन्न स्वभावों वा शक्तियों का उत्पन्न होना, (२) स्थिति बंध—जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में अपने स्वभाव का त्याग नहीं करते हुए जीव के साथ बंधे रहने की काल मर्यादा को स्थिति बंध कहते हैं, (३) अनुभाग बंध —जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गलों में तर-तम भाव याने कि फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का होना। इसे रसबंध भी कहते हैं, (४) प्रदेश बंध —जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म-स्कंधों का सम्बन्धित होना। इन चार प्रकार के बंध का स्वरूप लड्डू के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है कि कोई लड्डू बहुत प्रकार के द्रव्यों के संयोग से बनाया गया, जो वात, पित्त या कफ को नष्ट करता हो, उसे प्रकृति बंध माने। वही लड्डू पक्ष, मास या दो मास तक उसी स्वरूप में ताजा बना रहे—यह स्थिति बंध हुआ। वही लड्डू तीखे, कड़वे, कसैले, खट्टे और मीठे रस युक्त हो, उसे अनुभाग बंध या रस बंध कहिये। वही लड्डू थोड़ी मात्रा का बंधा हुआ छोटा होता है तो अधिक मात्रा का बंधा हुआ बड़ा होता है तो वह प्रदेश बंध है। प्रकृति बंध और प्रदेश बंध योग से होता है तो स्थिति बंध और अनुभाग बंध कषाय से होता है।

मोक्ष तत्त्व है—आत्मा का कर्म रूपी बंधन से पूर्णतया मुक्त हो जाना तथा सम्पूर्ण आत्म-प्रदेशों से सभी कर्म पुद्गलों का क्षय हो जाना। आत्मा अमूर्त होने से इन्द्रियों की शक्तियों द्वारा नहीं जानी जा सकती है। आत्मा में पैदा होने वाले अज्ञान, मिथ्यात्व आदि के दोषों से ही कर्मों का बंध होता है तथा उसी कारण उसका संसार परिभ्रमण होता है। अतः कर्म बंध का सम्पूर्णतः समाप्त हो जाना ही आत्मा का मोक्ष है। यह मोक्ष चार साधनों से प्राप्त हो सकता है—(१) सम्यक् ज्ञान—सत्य जानकारी, (२) सम्यक् दर्शन—सत्य श्रद्धा, (३) सम्यक् चरित्र—सत्य आचरण एवं (४) सम्यक् तप—सत्य तपस्या।

यह है एक दृष्टि में संसार से लेकर मोक्ष तक की प्रक्रिया का विहंगावलोकन। मैंने इस विवरण से सामान्य ज्ञान प्राप्त किया है कि संसार में जीव-अजीव संयोग के क्या-क्या परिणाम प्रकट होते हैं और उन परिणामों को ध्यान में लेते हुए किस प्रकार संसार-परिभ्रमण के कारणों को मन्द एवं समाप्त कर सकते हैं?

सांसारिकता घटाई जा सकती है आत्म संयम से, तो मोक्ष की दिशा में प्रयाण किया जा सकता है तपाराधन से! आइये, अब इन नौ तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्धों व प्रक्रियाओं को आत्म विकास की महायात्रा के संदर्भ में समझें।

जीव और अजीव की प्रमुखता

मैं जीव तत्त्व हूँ, इस कारण मैं देखता हूँ, सुनता हूं तथा अन्य क्रियाएँ करता हूँ और देखकर, सुनकर तथा अनुभव लेकर जानने, उसका विश्लेषण करने तथा निरूपित सिद्धान्तों को समझने अथवा अपनी अनुभूतियों के बल पर नये सिद्धान्तों का निरूपण करने की क्षमता रखता हूँ।

मैं जीव हूँ इसीलिये अजीव नहीं हूँ और कभी अजीव बनूंगा भी नहीं। जीव कभी अजीव नहीं बनता और अजीव कभी भी जीव नहीं बन सकता है। किन्तु मैंने अजीव के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ा है और यह सम्बन्ध ऐसा दिखाई देता है कि जैसे मैं अजीव के साथ एकमेक हो गया होऊं। संसार के अन्यान्य अजीव द्रव्यों से तो अहर्निश का सम्पर्क होता ही है किन्तु अजीव पुद्‌गलों से बने हुए शरीरों को भी मैं धारण किये हुए रहता हूँ। अनादिकाल से मैं संसार में परिभ्रमण कर रहा हूँ और अनादिकाल से ही शरीरों को धारण करता हुआ आ रहा हूँ अतः जब तक मैं पूर्णतया अजीव पुद्‌गलों से अपने सभी सम्बन्ध समाप्त नहीं कर लूंगा तब तक विभिन्न शरीर धारण करता रहूंगा।

मैं एक नहीं पुद्‌गल-निर्मित सभी प्रकार के शरीर धारण करता रहा हूँ। आज मैं मनुष्य जन्म में हूँ तो मैंने मनुष्य जाति को प्राप्त होने वाले औदारिक शरीर को धारण कर रखा है। औदारिक नाम इस कारण कि इस शरीर के पुद्‌गल उदार प्रधान होते हैं। इस शरीर के अलावा दो अदृश्य शरीर—तैजस एवं कार्माण शरीर भी मैंने धारण कर रखे हैं। ये दोनों शरीर आपस में सम्बद्ध होते हैं जिनका निर्माण तैजस एवं कार्माण पुद्‌गलों से होता है। कार्माण पुद्‌गल जो विभिन्न क्रियाओं के माध्यम से आत्म प्रदेशों के साथ जुड़ते हैं, उन्हें ही कर्म कहा जाता है। औदारिक शरीर तिर्यंच और मनुष्य जाति के जीवों को प्राप्त होता है तो देवों व नारकीयों को प्राप्त शरीर वैक्रिय कहलाता है। आहारक पुदगूलों से निर्मित शरीर को आहारक कहते हैं। औदारिक वैक्रिय तथा आहारिक शरीरों की नई उत्पत्ति होती है। जैसे मनुष्य जाति में औदारिक शरीर मिला हुआ है और यहाँ से मृत्यु पाकर आत्मा देव गति में पहुँचती है तो उसे वैक्रिय शरीर प्राप्त होता है—यह उस शरीर की नई उत्पत्ति हुई। किन्तु दो शरीर—तैजस और कार्माण सदा इन तीनों शरीरों के साथ में भी रहते हैं तो एक शरीर छोड़ कर प्रयाण कर रही आत्मा दूसरे शरीर को ग्रहण करे उस बीच के समय में भी आत्म प्रदेशों के साथ जुड़े हुए रहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि इस समय में भी मैं तीन शरीर—औदारिक, तैजस एवं कार्माण धारण किये हुए हूँ। मेरे इस वर्णन का आशय यह है कि जीव और अजीव का सम्बन्ध इस संसार में प्रगाढ़ रूप से बना हुआ है।

इस बंधन से मैं जब कभी मुक्त होऊंगा तब अपने शुद्ध स्वरूप में मैं सिद्ध शिला से ऊपर सिद्धात्माओं की ज्योति में ज्योति रूप एकाकार होकर सदा काल के लिये अवस्थित हो जाऊँगा।

मेरे जीव तथा अन्य जीवों के विशिष्ट हेतुओं, स्वभावों तथा भावों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न वर्गीकरण किये जाते हैं। एक वर्गीकरण के अनुसार जीव दो तरह के संसारी और सिद्ध होते हैं तो संसारी जीव अपने आत्म विकास के विभिन्न स्तरों के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं —(१) संयत जो सर्व प्रकार के सावध-हिंसापूर्ण व्यापार से निवृत्त हो गये हैं एवं संयम धारण किये हुए होते हैं, (२) असंयत—जो अविरति भाव धारण किये होते हैं तथा संयम-विहीन रहते हैं एवं (३) संयतासंयत—जो देश से व्रती होता है ऐसे व्यक्ति के अव्रत की क्रिया नहीं आती। एक दूसरे

वर्गीकरण के अनुसार जीव पांच प्रकार के कहे गये हैं—(१) औपशमिक—प्रदेश और विपाक, दोनों प्रकार से कर्मों के उदय को रोक देने से सम्यक्त्व और चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम भाव से जो सहित होते हैं, (२) क्षायिक—घनघाती-कर्मों का सर्वथा क्षय कर लेने पर क्षायिक भाव प्रकटाने वाले जीव। (३) क्षायोपशमिक —जो उदय में आये हुए कर्म का क्षय करते हैं तथा अनुदीर्ण अंश का उपशम करते हैं। (४) औदयिक भाव—जो यथायोग्य समय पर उदय में प्राप्त आठ कर्मों का अपने-अपने स्वरूप से फल भोगते हैं तथा (५) पारिणामिक भाव, जो कर्मों के उदय, उपशम आदि से निरपेक्ष भाव स्वाभाविक तौर पर धारण किये रहते हैं। यह परिणमन जीवत्व भव्यत्व तथा अभव्यत्व के रूप में स्था।ई होता है। अर्थात —जिसके कारण मूल स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो, किन्तु स्वभाव में ही परिणत होते रहना पारिणामिक भाव है।

मुझ जीव एवं मेरे से विपरीत अजीव में पर्यायों का परिवर्तन अर्थात् परिणमन एक महत्त्वपूर्ण क्रिया होती है। इस परिणमन क्रिया के कारण एक पर्याय छोड़ कर नवीन पर्याय धारण की जाती है। जीव में यह पर्याय-नवीनता, गति, इन्द्रिय, कषाय, लेश्य, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और वेद के अन्तर से आती है तो अजीव तत्त्व में बन्धन, गति, संस्थान, भेद, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु एवं शब्द के अन्तर से आती है।

इसी संदर्भ में मैं सोचूं तो जीव रूप से मैं भी द्रव्य हूं तो अजीव धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुदगल के विभेद से भी द्रव्य ही है। गुण की अपेक्षा से द्रव्य तथा परिणमन की अपेक्षा से द्रव्य पर्याययुक्त होता है।

मैं जीव द्रव्य हूँ जो गुण रूप से सदा शाश्वत रहने वाला हूँ किन्तु पर्याय रूप से मैंने भिन्न-भिन्न जीवनों में भिन्न-भिन्न शरीर प्राप्त किये तथा अलग-अलग रूप में सम्बोधित किया गया, उस कारण तथा एक ही जीवन में भी अपने ज्ञान, उपयोग आदि भावों की दृष्टि से परिणमन एवं परिवर्तन होते रहते हैं जो पर्याय रूप होते हैं।

'मैं' हूं—यह अनुभूति ही मेरे जीव होने का प्रमाण है और यदि मैं अपने आत्मतत्त्व में संशय करता हूं तो वह संशय भी संशयित तत्त्व के अस्तित्व को ही प्रमाणित करता है। फिर जीवित शरीर और मृत शरीर के बीच किस शक्ति का अन्तर रहता है ? वह शक्ति ही आत्मा है। इसलिये मैं आत्म रूप हूँ—सरीर रूप नहीं। शरीर अजीव है—उसका जीवन मेरी आत्मा के संयोग से है —स्वतंत्र रूप से नहीं। मैं जब तक वर्तमान शरीर में हूँ तब तक ही शरीर सक्रिय है। मैं अपना आयुष्य समाप्त होने पर जब उसको छोड़ दूंगा तो यह निर्जीव हो जायगा और नष्ट कर दिया जायगा। आशय यह कि मेरे और अजीव शरीर के बीच में या सशरीर मेरे और संसार के अन्य पदार्थों के बीच में जो सम्बन्ध और सम्पर्क है, उसका संचालक मैं हूं —अजीव नहीं। जीव और अजीव के संचलन में कर्त्ता की स्थिति जीव की ही होती है।

जीव के नाते मैं ही संसार में दिखाई देने वाली रचनाओं का रचयिता तथा विभिन्न निर्माणों का निर्माता हूँ। किन्तु मेरे द्वारा सब प्रकार की रचनाएँ तथा निर्माण तभी संभव होता है, जब मैं सशरीर होता हूँ। इस शरीर के साथ बंधे होने की मेरी विवशताएँ भी अनेक हैं। मैं मोह की नींद में सोता रहूं। तो यह जड़ तत्त्व ही अपने मोहक रूपों में मुझे मेरे मन और मेरी इन्द्रियों को भरमा देते हैं। मैं अपने निजत्व में तभी आ सकता हूँ जब मैं जाग जाता हूँ और अपने शरीर, अपने वचन तथा अपने मन व अपनी इन्द्रियों को अपने नियंत्रण में ले लेता हूँ।

अतः वास्तविकता यह है कि असली संचालक और कर्त्ता मैं हूँ और अजीव तत्त्व को मैं अपनी सेवा में धर्माराधना के निमित्त से लगाता हूँ। यदि मैं स्वस्थ रहकर अपने नियंत्रण को प्रभावी बनाये रखता हूँ तब तो सारी व्यवस्थायें सुचारू रूप से चलती है। उस अवस्था में वर्तमान में प्राप्त इस मानव तन का भी आत्म विकास की महायात्रा में भलीभांति सदुपयोग कर सकता हूँ। किन्तु यदि मैं ही मोह की मदिरा पीकर उन्मत्त बन जाता हूँ और अपने मन व अपनी इन्द्रियों को बाहर बहक जाने से काबू में नहीं कर पाता हूँ तो मैं हकीकत में दोष अपना ही मानता हूँ, अपने इन सेवकों का नहीं। स्वामी ही सावधान नहीं रहेगा तो सेवक भला क्योंकर सावधानी रखेंगे?

संसार के समस्त गति चक्र एवं कार्य-कलापों में जीव तत्त्व ही प्रधान होता है किन्तु इस जीव (संसारी) तत्त्व की गति, स्थिति आदि सब अजीव से सम्बन्धित होती है अतः जीव और अजीव दोनों तत्त्वों की प्रधानता स्वीकार करनी होगी। जीव (संसारी) है किन्तु उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति का प्रकटीकरण अजीव के माध्यम से ही होता है। अतः सम्पूर्ण दृश्य जगत् न किसी एक ईश्वर की अथवा अन्य किसी विशिष्ट शक्ति की रचना है बल्कि जीव एवं अजीव तत्त्वों के संयोग का ही प्रतिफल है।

मैं इस संसार का केन्द्र हूँ अजीव तत्त्व के संयोग से किन्तु यह संयोग मेरे लिये एक बंधन है जो मुझे दुःख भरे इस संसार में ही रोक रखना चाहता हैं जबकि मेरा यह पुनीत कर्त्तव्य है कि मैं इस बंधन को तोड़कर अपने आत्मस्वरूप को परम निर्मलता की ओर ले जाऊँ। इसका अर्थ यह हुआ कि मैं अपने जीव-अजीव संयोग को कमजोर बनाऊँ और अपने संयम व तप से सम्पूर्ण संयोग विच्छेद का पुरुषार्थ करूं। मैं जब अपना सम्पूर्ण अजीव-संयोग समाप्त कर दूंगा तो मैं अपना चरम लक्ष्य प्राप्त कर लूंगा। मेरी आत्म-विकास की महायात्रा तब सम्पन्न हो जायेगी।

कर्म-बंध का विश्लेषण

किन्तु जब तक मैं संसार में ही परिभ्रमण करता रहता हूँ एवं विभिन्न जीवनों में विविध शरीरों में स्थित होता रहता हूँ तब तक सम्पूर्ण पर्यायों का निर्माता यह कर्म बन्ध ही बनता है अतः कर्म बंध की प्रक्रिया को अच्छी तरह समझना आत्म स्वरूप को समझने की पहली सीढ़ी होगी।

मैं जीव होता हूँ और मेरा शरीर अजीव, किन्तु दोनों के संयोग से नाना प्रकार की वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ जन्म लेती हैं तथा उनसे विविध क्रियाएँ फूटती हैं। ये समस्त क्रियाएँ शुभता अथवा अशुभता या मिश्रित रूप में अपना प्रभाव आत्मा पर अवश्य छोड़ती हैं। जब एक ईश्वर जैसी कोई शक्ति संसार की रचना करने वाली अथवा सांसारिक जीवों को सुख-दुःख का भोग देने वाली नहीं होती है तो निश्चय ही कोई दूसरी व्यवस्था होगी जो जीव को उसके शुभ अथवा अशुभ कार्यों का प्रतिफल देती होगी। यह जिज्ञासा सही है और मेरा कहना है कि वह व्यवस्था ही कर्म सिद्धान्त की व्यवस्था है। फिर पूछा जा सकता हैं कि इस व्यवस्था का संचालन कौन करता है? इसके उत्तर में मैं कहना चाहूंगा कि यह व्यवस्था इस प्रकार स्वयं संचालित है कि उस के मर्म को समझने पर सब कुछ स्पष्ट हो जाता है।

मैं जीव हूँ सो मैं ही कर्मों का कर्त्ता तथा मैं ही उनके फलाफल का भोक्ता भी हूँ। यह करने और भोगने का क्रम इतना व्यवस्थित है कि करने पर उसका फल भोगना ही पड़ता है, चाहकर भी कोई जीव उससे छूट नहीं सकता। एक दृष्टान्त लेलें। कोई व्यक्ति अपने बदन पर अच्छी

तैल मालिश करके रेत में लेट जाय तो उसके बदन पर रेत के कण चिपक जायेंगे अथवा नहीं। वैसे ही रेत के कण चिपकेंगे जैसी रेत में वह लेटेगा। कण भूरे होंगे, लाल होंगे या काले होंगे तो उसी रंग के कण उसके बदन पर चिपकेंगे। फिर वे कण गरम होंगे तो उसे ऊष्णता का अनुभव देंगे। ठंडे होंगे तो शीत का और तीक्ष्ण होंगे तो चुभन का। एक बार वे कण शरीर के चिपक जायेंगे तो उन्हें जल आदि से धोने पर ही शरीर से अलग कर सकेंगे। तो यह सारी चिपकने की और ऊष्णता, शीत या चुभन का अनुभव देने की क्रिया किसने की? साफ है कि रेत के कणों ने। तो क्या रेत के कण जीव होते हैं? यह भी साफ है कि जीव नहीं होते अजीव होते हैं किन्तु तैल के संसर्ग से अजीव रेत के कण सक्रिय हुए। तो बताइये कि इस सारी क्रिया का संचालन किसने किया? क्या इसमें किसी परमात्मा का कार्य है? नहीं।

ऐसी ही व्यवस्था कर्म सिद्धान्त की है। मैं इसका संक्षिप्त विश्लेषण अपने ही उदाहरण से करता हूँ। मैं सशरीरी हूँ अतः जीव-अजीव संयोग रूप हूँ और उसी कारण नाना प्रकार की क्रियाएँ करने में समर्थ हूँ। समझिये कि मैंने अपनी एक क्रिया से किसी जीव को सताया तो इसमें जो तत्फलस्वरूप मुझे पाप कर्म का बंध होगा। यह बंध कैसे होगा? मैं बता चुका हूँ कि मेरे औदारिक शरीर के साथ तैजस और कार्माण शरीर भी जुड़े हुए हैं। यह कार्माण शरीर ही मेरे आत्म प्रदेशों से सम्बद्ध कर्म समूह का पिंड है। कर्म परमाणु स्कंध स्वयं अजीव होते हैं जो आकाश में फैले हुए होते हैं। जिस तरह का मैंने कार्य किया है, वैसे ही कर्म पुद्गल क्रिया होने के साथ ही मेरे आत्म प्रदेशों के साथ बंध जाते हैं। कर्मयोग्य पुद्गल, मेरी आत्मा के साथ संबद्ध होकर कर्म रूपता की संज्ञा पा जाते है। मैंने हिंसा रूप पाप कार्य किया है तो पाप कर्म बंधेंगे और यदि दयापूर्वक किसी प्राणी की रक्षा का शुभ कार्य किया है तो सम्यक् दृष्टि के सकाम निर्जरा एवं पुण्य बन्ध प्रसंग भी उपस्थित हो सकेगा जिस प्रकार तैल मालिश किये हुए बदन पर उपलब्ध रेत के कण स्वयमेव ही चिपक जाते हैं। ये कर्म समूह कार्य की सघनता-जन्य भावों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकृति, स्थिति, रस अथवा प्रदेश की तारतम्यता से बंधते हैं। गाढ़ा तैल लगा हुआ होगा तो ज्यादा रेत के कण मजबूती से चिपकेंगे और मामूली तैल होगा तो चिप कर जल्दी छूट भी जायेंगे। ऐसी ही तारतम्यता इन कर्मों की होती है, जितनी कालावधि के लिये इनका बंध होता है, उसके पूर्ण होने पर ये बंधे हुए कर्म उदय में आते हैं और अपना शुभ अथवा अशुभ फल जीवात्मा को देते हैं। कर्मों की यह व्यवस्था इतनी सुघड़ है कि ये महान् से महान् आत्मा को भी नहीं बख्शते। वीतरागता और उसके बाद आत्मा जब क्रिया करना ही छोड़ देती है, तभी ये कर्म पिंड छोड़ते हैं। किन्तु जब तक संसार में भटकाव है, जीव की प्रत्येक क्रिया तदनुरूप कर्म से आत्मा को आबद्ध करती ही है। कर्म बंध से कोई भी संसारी जीव बच नहीं सकता है, बल्कि अपने कर्मानुसार वह भिन्न-भिन्न गतियों में भ्रमण करता है तथा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों का अनुभव लेता है। यद्यपि जीव ही अपने कर्मों का कर्त्ता होता है फिर भी अपने कर्म योग पर उसका कोई वश नहीं होता। अपने कर्मों के फल उसे अपने बांधे हुए कर्मों के अनुसार ही भोगना होगा। निकाचित कर्मों में तो तनिक भी परिवर्तन नहीं कर सकता है। किन्तु कर्मों का कर्ता होने से जीव ही स्वयं अपने भाग्य का निर्माता भी है।

मैं कर्मों का कर्ता हूं क्योंकि मेरे द्वारा की जाने वाली क्रियाओं पर मेरा वश होता है। जैसी मेरी विचारणा होती है, वैसी ही क्रिया होती है अथवा मैं अपनी विचारणा को शुभ रूप भी दे सकता हूँ तो अशुभ रूप भी। यदि मैं चाहूँ तो शुभ क्रियाएं करूं और पुण्य कर्म बांधू जो मुझे शुभ

फल देवें। इसके विपरीत यदि मैं अशुभ क्रियाएँ करूँ तो उनसे पाप कर्मों का बंध अवश्य होगा। तो जहाँ तक विचारणा बनाने और क्रियाएँ करने का सम्बन्ध है, मैं ही अपने भाग्य का निर्माता होता हूँ। जैसी क्रियाएँ मैं करूँगा, वैसे की कर्म बंधेंगे। जैसे कर्मों का बंधन होगा, वैसा ही फल आगे मुझे भोगना पड़ेगा। फल भोग में मैं स्वतंत्र नहीं हूँ किन्तु क्रियाएँ करने में स्वतंत्र हूँ। इस कारण आज जब मुझे सुख के साधन और धर्माराधन की अनुकूलताएँ प्राप्त होती हैं तो मुझे यही अनुभव होना चाहिये कि पहले शुभ कार्य करके मैंने अपने भाग्य का शुभ निर्माण किया जिसका शुभ फल आज मुझे मिल रहा है। इसके स्थान पर आज यदि मुझे दुःखों का सामना करना पड़ रहा है तो उसके पीछे का तथ्य भी अपने पहले बांधे हुए कर्म ही होंगे, अतः ये दुःख भी मेरे अपने ही बनाये हुए हैं। सभी स्थितियाँ पूर्व कर्म फल के परिणाम स्वरूप ही हो—ऐसी भी बात नहीं है। हम अपनी नवीन क्रियाओं से भी नये कर्मों की बंध करते रहते हैं।

कर्म बंध की प्रक्रिया के इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि जीव व अजीव के संयोग से जीव की जो क्रियाएँ होती हैं वे क्रियाएँ ही कर्म बंध का कारण बनती हैं। कर्म बंध के अनुरूप ही जीव को उसका फल भोगना होता है। क्रियाएँ करने तक जीव की अपनी स्वतंत्रता होने के कारण वह चाहे जैसा अपना भाग्य बना सकता है। बाद में फल भोग के समय उसको चौंकना नहीं चाहिये, बल्कि उसे धैर्य और शान्ति से सहन करना चाहिये ताकि इस शुभ क्रिया से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होने के साथ नवीन कर्मों का बंधन हो और अगर बन्ध हो भी तो शुभ योग कारण के रहने से पुण्य कर्म का ही बन्धन होवे।

कर्मों की यह सारी व्यवस्था इतनी सुघड़, सम्प्रभावी तथा वैज्ञानिक है कि इसका गहराई से अनुभव करते हुए आत्मा-विकास की महायात्रा को सफल बनाया जा सकता है। बशर्ते कि हम इस सिद्धान्त के मर्म को हृदयंगम करें।

कर्मों का आगमन, अवरोध एवं क्षय

जीव अजीव संयोग से कर्म बंध की प्रक्रिया का कुछ विश्लेषण मैंने किया तो मैं इस तथ्य को भी स्पष्ट करूं कि कर्म बंध को हटाने में भी जीव का पुरुषार्थ सफल हो सकता है। मैं कर्मों का कर्त्ता हूँ और कर्त्ता बनने तक मेरी स्वतंत्रता है, पर भोक्ता होना लगभग कर्मानुसार होगा ही। मैं कर्म भार से दबा हुआ हूँ किन्तु यह नहीं है कि मैं एकदम परवश ही हो गया हूँ। उस भार को अपने पुरुषार्थ से मैं हटाने में भी समर्थ हूँ। या यों कहूँ कि अगर मेरा संकल्प, साहस और पुरुषार्थ सक्रिय है तो मैं किसी भी स्तर पर पराधीन याने कि कर्मों के अधीन नहीं हूँ। मैं अपने कर्म बंध को उनके उदय होने से पहले भी क्षय भी कर सकता हूँ। पुरुषार्थ की कुछ कमी रहे तो उसे दबा सकता हूँ—उपशायित कर सकता हूँ। और यह तो है ही कि मैं आने वाले कर्मों को पहले ही अवरुद्ध भी कर सकता हूँ।

अतः वस्तुतः मैं सजग आत्म स्वरूप के नाते हर समय स्वतंत्र हूँ —परतंत्र कभी भी नहीं, कहीं भी नहीं। मैं प्रबुद्ध हूँ सदा जागृत हूँ तो सदा स्वतंत्र हूँ परन्तु यदि मैं प्रबुद्ध भी नहीं हूँ और सदा जागृत भी नही हूं तो प्रति क्षण कर्मों की मार से पराधीन एवं पीड़ित भी रहूंगा ही। कारण पाप कर्मों को बेमानी में हंसते-हंसते बांध लूंगा लेकिन जब उनका अशुभ फल भोगूंगा तव फिर बेमानी में दुःख सहते हुए हाय-विलाप करूंगा जिससे फिर नये अशुभ कर्मों का बंध कर लूंगा। मेरा

अज्ञान और मेरा मोह मुझे कर्म बंध की ऐसी जटिल शृंखला से बांध देगा कि मेरा उससे छुटकारा बहुत ही कठिन हो जायगा। यही कारण है कि सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा तथा सम्यक् आचरण किसी भी विकासशील आत्मा के लिये अनिवार्य है। सम्यक्त्व है तो यही समझ है और सही समझ है तो मानिये कि उन्मुक्त विकास है।

इसीलिये मैं कहता हूँ कि मैं प्रबुद्ध हूँ—सदा जागृत हूँ। यह बुद्धि और जागृति मुझे हर समय कर्म बंध के प्रति सावधान बनाये रखती है। मैं अपनी प्रत्येक क्रिया की शुभता और अशुभता के विषय में बहुत सतर्क रहता हूँ। यही सतर्कता मुझे अपनी मन, वचन तथा कर्म पर अपना नियंत्रण बनाये रखने में सक्षमता प्रदान करती है। इस सक्षमता के बल पर ही मैं अपनी स्वतंत्रता को बनाये रखता हूँ, तभी हकीकत में मैं अपने 'मैं' पन की सच्ची अनुभूति लेता हूँ।

जब मेरा 'मैं' सावधान, सतर्क और स्वतंत्र होता है तो वह कर्मों के आगमन का अवरोध, उपशम एवं क्षय करने के लिये भी अपना सामर्थ्य संचित करता है।

मैं जान चुका हूं कि जब भी मैं किसी प्रकार की क्रिया करता हूं तो तदनुकूल कर्मों का मेरे आत्म प्रदेशों के साथ बंध होता है। और यह क्रियाओं का कर्म अविराम गति से मेरा चलता रहता है —कभी भी एक पल के लिये भी यह क्रम रुकता नहीं है। मैं एक क्षण के लिये भी निष्क्रिय नहीं होता हूँ। यदि मैं कोई शुभ क्रिया करता हूँ तो पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा भी होती है तो कभी पुण्य रूप शुभ कर्म का बंध होता है और यदि मैं कोई अशुभ क्रिया करता हूँ तो पाप कर्म का बंध होता है। शुभ कर्म का बंध मुझे शुभ फल देने वाला बनता है तो अशुभ कर्म के बंध से मुझे अशुभ फल मिलता है। और एक बार कर्म बंध होने के बाद उसका शुभाशुभ फल मुझे भोगना ही पड़ता है। शुभ फल में मुझे सुविचारणा, शुभ वचन तथा शुभ साधनों का संयोग मिलता है जिनकी सहायता से मैं अपने आत्म-विकास के महत्कार्यों में अधिक सक्षम तथा सामर्थ्यवान बनता हूँ।

किन्तु मेरा अशुभ फल मुझे अधिक अशुभता में घसीटता है। यदि मेरी सावधानी नहीं जगे तो अशुभता का घनत्व निरन्तर बढ़ता जाता है जिसके कुफल स्वरूप मेरी अशुभ कर्म-बद्धता अधिकाधिक घनीभूत होती जाती है और मैं अधिकाधिक दुःखों से घिरता हुआ चार गति, चौरासी लाख जीवयोनियों में परिभ्रमण करता रहता हूँ। अतः मेरी सावधानी के साथ मेरा यह निश्चय बनता है कि मैं बंधते हुए कर्मों का अवरोध करूं। यह बात मुख्य रूप में अशुभ कर्मों के सम्बन्ध में है। मैं संकल्पबद्ध होकर प्रत्येक क्षण अपनी क्रियाशीलता के विषय में यह ध्यान रखता हूँ कि वह अशुभता से दूर रहे। मैं सत्कार्यों में ही संलग्न रहूं, सत्वचन ही अपने मुंह से निकालूं तथा शुभ ध्यानों में ही अपनी चेतना को केन्द्रित करूं—इसका पक्का खयाल रखता हूँ। यह खयाल ही मुझे अशुभ कर्मों के बंध से बचाता है। इससे अशुभ कर्मों का अवरोध होता है। यह मेरी अवरोध शक्ति जितनी अधिक बढ़ती है, मैं अपने आत्म प्रदेशों को अशुभ कर्म संलग्नता से रक्षित बनाता जाता हूं।

अशुभ कर्मों के अवरोध में जब मुझे सफलता मिलने लग जाती है तब मेरी अभिलाषा जागती है कि मैं अपने आत्म प्रदेशों के साथ पहले से संलग्न कर्मों को भी समाप्त करना आरंभ करूँ ताकि मेरी आत्मा हलुकर्मा बनने लगे। यह शुभ कार्य मैं संयम की साधना एवं विविध प्रकार के तपों की आराधना के माध्यम से करना चाहता हूँ। मेरा संयम जितना सशक्त बनता है और तपाराधन जितना कठोर होता है, मेरे बंधे हुए कर्म या तो दबने लगते हैं या धीरे-धीरे क्षय को प्राप्त

होने लगते हैं। इस प्रक्रिया को उपशम या क्षम कहते हैं। कर्मों के उपशम की क्रिया भी अधूरी कहलाती हैं क्योंकि पूर्ण क्षय के बिना पूर्ण आत्म-विकास संभव नहीं होता है। राख के ढेर के नीचे दबे हुए अंगारे कभी भी उघड़ जाने पर तथा हवा का बहाव पाने पर फिर से भड़क सकते हैं और फिर से जल व जला सकते हैं अतः उन अंगारों को पूरी तरह बुझाये बिना निश्चिन्तता नहीं ली जा सकती है। उसी प्रकार उपशमित कर्मों की अवसर पाकर पुनः सक्रियता ग्रहण करने की आशंका बनी रहती है, इस कारण लक्ष्य को कर्म-क्षय के हेतु केन्द्रित कर लेना ही मैं श्रेयस्कर मानता हूँ।

इस श्रेष्ठ लक्ष्य से अनुप्राणित होकर मैं अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म की साधना को अधिक सशक्त बना लेता हूं। सांसारिकता के स्पर्श मात्र से तब मैं चौंकने लग जाता हूँ और मुनि धर्म की सजगता को आत्मसात कर लेता हूँ। तब मेरी सुखद कामना बनती है कि मैं अशुभ कर्मों की तरह शुभ कर्मों का भी क्षय करने लगूँ। सम्पूर्ण कर्म-क्षय मेरा, अटल और अन्तिम ध्येय बन जाता है क्योंकि मैं जानता हूँ कि सम्पूर्ण कर्म क्षय के पश्चात् ही चेतन-जड़ संयोग से सम्पूर्ण मुक्ति हो सकती है। इस सम्पूर्ण मुक्ति को ही मैं मेरा मोक्ष मानता हूँ जब मेरी आत्मा सदा सर्वदा के लिये सिद्ध अवस्था में अवस्थित हो जायगी तथा ज्योति-रूप बन जायगी।

पाप-पुण्य मीमांसा

अपने मोक्ष के संदर्भ में मुझे पाप पुण्य की सम्यक् मीमांसा कर लेनी चाहिये ताकि आत्म विकास का मेरा ध्येय अटल बन सके।

पाप-पुण्य के सम्बन्ध में एक तथ्य को मैं पहले जान लूँ। मैं समझूं कि यह संसार एक महासागर के समान है जिसको पार करके मुझे दूसरे किनारे पर रहे हुए सिद्ध स्थल पर पहुँचना है। वर्तमान में मेरे आत्म-प्रदेश आठों कर्मों के जटिल बंधनों से बंधे हुए हैं। ये बंधन इतने जटिल हैं कि मैं महासागर के अतल जल में डूबता उतरता हूँ किन्तु अपनी तैरने की शक्ति का उपयोग भी नहीं कर पाता हूँ। तब मेरे विचारों में यह सत्य उभर कर ऊपर आता है कि मैं तैरने की तनिक कोशिश भी तभी कर सकता हूं जब मेरे ये बंधन कम से कम कुछ तो ढीले हो। उस समय का मेरा अनुभव इतना कटुक और दुःखदायक होता है कि मैं इस महासागर में गुलांचे खाने के साथ मगरमच्छों और भयानक जन्तुओं अथवा तूफानों के रूप में आते हुए भीषण खतरों को निरीह दृष्टि से देखता हूं , उन खतरों में बुरी तरह क्षतविक्षत होता रहता हूँ किन्तु जटिल बंधनों के कारण अपने को बचा नहीं पाता हूं।

मेरी ऐसी दुरवस्था ही मेरी जागृति का कारण बनती है। तब मैं सोचता हूं कि अब भी मैं अपनी अज्ञान एवं मोह ग्रस्त क्रियाओं के सम्बन्ध में सतर्कता बरतूं और उन क्रियाओं की पुनरावृति को जितनी रोक सकूं, रोकने का सत्प्रयास करूं। मेरा यह सत्प्रयास पाप कार्यों को समझ कर उनमें प्रवृति रोकने से प्रारंभ होता है। पाप कार्यों का अठारह प्रकार का जो वर्गीकरण मैंने ऊपर बताया है, उसी पर मैं क्रमिक रूप से चिन्तन करना चाहता हूं कि कैसे अपने दैनिक जीवन में उनसे जितना अधिक हो सके बचता हुआ चलूं।

पापों और महापापो में पहला पाप स्थान माना गया है हिंसा को, इसी कारण अहिंसा को परम धर्म का नाम दिया गया है। महापाप की सम्पूर्ण निवृत्ति से ही परम धर्म की प्राप्ति हो सकती है। हिंसा की व्याख्या की गई है—प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। मैं जब सांसारिक जड़ पदार्थों

की प्राप्ति की दिशा में अत्यन्त मोह-ग्रस्त बनकर प्रवृति करता हूँ तब मेरे मन-मानस पर प्रमाद की प्रमत्ता छा जाती है। मैं बेभान हो जाता हूं और इतना तक नहीं देख पाता हूँ कि मैं अपनी किस क्रिया से कितने अन्य प्राणियों का वध कर रहा हूँ—उनका छेदन-भेदन कर रहा हूँ —उनके प्राणों (दस प्राण) को कष्ट पहुँचा रहा हूँ—उन पर शासन करके उनको अपने अधिकार में ले रहा हूं अथवा उनको हैरान और परेशान कर रहा हूँ। प्रमाद का ऐसा ही घातक प्रभाव होता है जिसमें मेरी चेतना शून्य सी बन कर इन्द्रियों के विषय-विकारों में रत बन जाती है। ऐसी मन-स्थिति में मैं जीव कर्म बंध का मादक भार एकत्रित कर लेता हूँ।

मैं जानता हूँ कि हिंसा का जन्म और विस्तार मेरे प्रमाद-योग से होता है। हिंसा के जितने निकृष्ट रूपों को मैं समझता हूँ तभी मेरे जागरूक ध्यान में अहिंसा के उत्कृष्ट रूप भी तैरने लगते हैं। मैं जब किसी प्राणी की किसी भी इन्द्रिय ,मन, वचन, काया, श्वासोश्वास या आयुष्य पर आघात करता हूँ और उसकी उससे पैदा होने वाली तड़पन को देखता हूँ तो मेरे अन्तःकरण में करुणा की लहरें भी उठने लगती हैं। किन्तु जब तक प्रमाद योग का मेरे मन मानस में प्रचंड रूप बना हुआ रहता है तब तक मैं उन प्राणियों की तड़पन में सुखानुभव भी करता हूँ और अट्टहास करता हुआ यह घमंड करता हूँ कि मैं कितना महाबली हूँ। यह मेरा सुखाभास घृणित ग्लानि में बदलने लगता है जब मैं कुछ सचेतन होकर करुणा-भाव की प्रतीति लेता हूँ। किन्तु मेरी ऐसी परिणति तभी उभर सकती है जब मैं मिथ्यात्व के अंधकार से निकल कर सम्यक्त्व के आलोक में गमन करने का संकल्प लेता हूँ।

सामान्यतया जब मैं अठारहों पापों में रचापचा रहता हूं तब हिंसा के क्रूर कार्य मुझे दूसरे पापों के पंक में घसीटते रहते हैं। मैं हिंसक होता हूं तो असत्यभाषी भी बन जाता हूँ। निःशंक होकर झूठ बोलता हूँ और झूठा आचरण करता हूँ जैसे कि मुझे अपनी इन दुष्प्रवृत्तियों का कोई कुफल भोगना ही नहीं पड़ेगा। हिंसा और झूठ से लैस होकर तब मैं चौर्य कर्म में प्रवृत्ति करता हूं। दूसरों द्वारा न दी हुई वस्तु को लेने की बात तो छोड़िये, मैं जोर-जबरदस्ती से दूसरे प्राणियों को प्राप्त वस्तुओं को छीन लेता हूँ और उनको वस्तुओं के अभाव में पटक कर दुःखित व पीड़ित बना देता हूँ। आज की जटिल आर्थिक व्यवस्था में तो मैं अपना वैभव और ऐश्वर्य अशक्त प्राणियों का शोषण करके प्राप्त करता हूँ क्योंकि यह प्रकृति का नियम है कि यदि सबको अपने निर्वाह के लिये नीतिपूर्ण श्रम करना हो तो उससे निर्वाह तो हो सकता है लेकिन संचय संभव नहीं। आज कुछ हाथों में अपार परिग्रह सत्ता और सम्पदा का जो संचय दिखाई दे रहा है, वह अधिकांश रूप शोषण के क्रूर कर्म से - अपने लाखों करोड़ों साथियों के उत्पीड़न से किया जाता है। यह सब अदत्तादान अथवा चौर्य कर्म का पाप है। मेरा दुष्टतापूर्ण अनुभव है कि जब-जब मैं हिंसक, झूठा और चोर बना हूं और मोह-प्रमत्त बनकर परिग्रह का संचय जुटा सका हूँ तब-तब मैं सांसारिक सुखों के पीछे पागल होकर भागा हूँ और सबसे पहले इन्द्रियों के तेतीस विषयों में लिप्त हुआ हूँ, जिसका मोहित कर देने वाला सबसे बड़ा रूप रहा है मैथुन। तब मैने ब्रह्मचर्य को कुछ भी नहीं समझा तथा अपनी प्राप्त शक्तियों को कुशील सेवन में लगाने लगा। काम भोगों को ही मैंने सुख माना और बार-बार दुःखी होते हुए भी इसी सुख के लिये दौड़धूप की। मैथुन के साथ परिग्रह के संचय में मैंने अपार आसक्ति भी अपने मन में जमा करली। इस प्रकार इन पांच महापापों का मैं पुतला बन गया।

महापापी बनकर मैं पाप पंक में गहरे से गहरा धंसता ही चला गया। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह के विकार मुझे क्रोध, मान, माया और लोभ के विकार-क्षेत्र

में ले गये। मैं हर बात पर क्रोध करने लगा क्योंकि मुझमें अपने वर्चस्व व अधिकारों का मान समा गया था। इसके साथ ही अपने उस झूठे मान को बनाये रखने के लिये मैं कपट पूर्ण चेष्टाएं करके माया का आचरण करने लगा। सांसारिक उपलब्धियों में इन दुष्टतापूर्ण वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों के सहारे मुझे ज्यों-ज्यों लाभ होने लगा, त्यों-त्यों मेरा लोभ भी बढ़ता गया। लोभ बढ़ता और मैं अधिकाधिक लाभ पाने की लालसा से पापपूर्ण कार्यों में अधिकाधिक दुष्टता से जुट पड़ता। मेरी संज्ञा-शून्यता लालसाओं की भड़कती हुई उस आग में घी का काम करती।

तब मन के गहरे कोनों में उभरती थी इस संसार में मुझे डुबोये रखने वाली मूल कुवृत्तियाँ— राग और द्वेष। जो मेरे मनोज्ञ सम्बन्ध और पदार्थ होते, उनसे मैं गाढ़े राग-भाव से जुड़ जाता। तभी प्रकट होती उसकी प्रतिक्रिया रूप द्वेष की दुर्भावना। जो सम्बन्ध और पदार्थ मेरे लिये अमनोज्ञ अनचाहे होते उनके प्रति मैं द्वेष से भर उठता और उन लोगों के प्रति भी जो मेरी मनोज्ञता-लालसा याने कि चाहत का विरोध करते, उसमें बाधा डालते अथवा मेरे वर्चस्व के विरुद्ध सामने खड़े होते। राग और द्वेष के भावों में मैं इतना आन्दोलित और कम्पायमान हो जाता कि एक पल भी मैं इन वृत्तियों से विलग नही हो पाता। हर समय मुझे यही सोच लगा रहता कि किस प्रकार मैं अपने चहेतों (व्यक्ति सम्बन्ध या पदार्थ) की रखवाली करूँ और कैसे अपने विरोधियों का सर्वनाश कर डालूं। यही घात-प्रतिघात अहर्निश मेरे मन-मस्तिष्क में चलता रहता और उसके मारक तनावों को भोगते हुए भी मैं राग-द्वेष की वृत्तियों को छोड़ नहीं पाता तथा उनसे संचालित होने वाली प्रवृत्तियों के दबाव को मिटा नहीं पाता।

मैं अपनी ऐसी कलंकित मनःस्थिति में कलह के अलावा और क्या करता? रातदिन अपनी अशुभ वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में फंसा रह कर सब ओर कलह और क्लेश में लगा रहता। अपने स्वार्थों पर पड़ने वाली जरा सी चोट से भी मैं बिलबिला उठता और दूर के ही लोगों से नहीं बल्कि अपने खून के रिश्तों से भी भयंकर कलह करता। मेरे स्वार्थों की घृणित पूर्ति में आड़े आने वाले लोगों पर झूठे कलंक (अभ्याख्यान) लगाता, दूसरों की चुगली (पैशुन्य) करता, उनकी छल छद्म से भरी निन्दा (पर परिवाद) करता और अपनी पांचों इन्द्रियों के तेवीसों विषयों की मनोज्ञता से खुश होता रहता तो उनकी अमनोज्ञता से कुपित बना रति और अरति के पाप में डूबा रहता। मुझे सुरीला संगीत सुनने को मिलता तो खुशी से चहक उठता लेकिन कड़वी आवाज सुनकर अप्रसन्न हो जाता। आंखों से काम-भोगों को उकसाने वाले सुन्दर दृश्य दिखाई पड़ते तो मैं मुदित हो जाता लेकिन कुरूपता को देखकर भड़क जाता। सुगंधियों की साँसें लेकर मैं आनन्द मानता तो दुर्गंध से नाक-भौं सिकोड़ लेता। रस भरे पदार्थों को मैं चटखारे ले लेकर खाता तो अस्वाद पदार्थों को सामने पाकर क्रोध से भर उठता। इसी प्रकार स्पर्श सुख के हिंडोले में झूलते हुए मैं स्वर्गीय सुखों की मस्ती मानता तो वैसी सुख सामग्री न मिलने अथवा छिन जाने पर मैं सन्ताप और विक्षोभ से भर उठता। रति-अरति के इस पाप से मैं भ्रमित बना रहता और धर्म में कोई रुचि नहीं लेता। अपनी रति-अरति के स्वार्थों में कपट सहित झूठ (माया मृषावाद) बोलने की जैसे मेरी आदत ही बन गई थी। और मेरी इस निकृष्टता का मूल कारण था मिथ्या-दर्शन शल्य याने मन, वचन एवं कर्म का मिथ्यात्व जो मुझे कुदेव, कुगुरु तथा कुधर्म के कुचक्रों में उलझाये रखता था।

आज मुझे मेरी उन कुवृत्तियों पर कठोर पश्चात्ताप होता है कि इन कुचक्रों के कुफल-स्वरूप मैं उस तरह के व्यवसाय करता था जो व्यक्ति-हित एवं समाज व्यवस्था के नाते

निषिद्ध माने गये हैं। मैं व्यक्ति-हित और समाज व्यवस्था की तरफ आंखें मूंदे रहता था और सिर्फ अपने ही स्वार्थी लाभ के लिये लालायित बनता था। वे व्यवसाय, जो मैंने इन लालसाओं में भटक कर किये, इस प्रकार के थे (१) अंगार कर्म—सर्व प्राणियों के लिए सुखकर वनों के वृक्ष काट कर उनके कोयले बनाना तथा उसका व्यापार करना, (२) वन कर्म —वन खरीद कर या ठेके पर लेकर वृक्षों को काट कर या कटवा कर बेचना, (३) शाकट कर्म—गाड़ी, इक्का, बग्घी आदि पशु-वाहन बनाना तथा बेचना, (४) भाटक कर्म—भाड़ा कमाने के लिए पशु-चालित गाड़ी आदि से दूसरों के सामान को ढोना, ऊँट-घोड़ा-बैल आदि पशुओं को किराये पर देकर आजीविका चलाना, (५) स्फोटन कर्म—भूमि (खान) आदि फोड़ना और उसमें से निकले हुए खनिज पदार्थों को बेचना, (६) दन्त वाणिज्य—हाथी-दांत, शंख आदि का व्यापार करना तथा ऐसे दांत आदि निकलवाने की व्यवस्था करना, (७) लाक्ष-वाणिज्य—भारी जीव-हिंसा के कारण रूप लाख, चपड़ी रेशम आदि पदार्थ निकलवाना व उनका व्यापार करना, (८) रस वाणिज्य—मदिरा आदि बनाने व बेचने का कार्य करना (९) केश वाणिज्य—दास, दासी, पशु आदि के बाल निकलवाना व उनका व्यापार करना, (१०) विष वाणिज्य—संखिया आदि तरह-तरह के विष जन्तु-हत्या से निकलवाने तथा उनका व्यापार करना, (११) यंत्र पीड़न कर्म —तिल, ईख आदि पेरने के यंत्र चलाना व चलवाना तथा उसका धंधा करना, (१२) निर्लांछन कर्म—बैल, घोड़े आदि को नपुंसक बनाने का धंधा करना, (१३) दवाग्निदायक कर्म—जंगल आदि में आग लगाने या लगवाने का धंधा करना, (१४) सरोद्रह तड़ाग शोषण कर्म —झील, कुंड, तालाब आदि को सुखाने का धंधा करना एवं (१५) असतीजन पोषण कर्म—अपनी आजीविका चलाने के लिए दुष्चरित्र स्त्रियों, शिकारी प्राणियों आदि का पोषण करना। तब मैं नहीं समझता था कि अहिंसा में विश्वास रखने वाले एक साधक को ऐसे हिंसापूर्ण व्यवसाय नहीं अपनानी चाहिये। अपनी आजीविका मुझे अहिंसक उपायों तथा नैतिकता के साथ ही चलानी चाहिये— यह भान मुझे बाद में उपजा। हिंसा-भरे व्यवसाय चलाते हुए भला कोई भी अहिंसा पालन की दिशा में आगे कैसे बढ़ सकता है ?

मैं अब जान गया हूँ कि ये सब कर्मादान पापों के द्वार हैं जिन्हें बन्द करके ही मैं अपनी अशुभता को घटा सकता हूँ तथा अपने मन, वचन एवं कर्म की शुभता को बढ़ा सकता हूँ। यह शुभता जब बढ़ती है तो मेरे आत्म प्रदेशों से अशुभ कर्मों का बंध ढीला होता है तथा शुभ कार्यों के बंध से पुण्य कर्मों का उपार्जन होता है। शुभता की निर्जरा के साथ कभी उस मनोदशा में लोकोपकारी कार्य करने की मेरी शक्ति भी संगठित बनती है एवं सत्कार्य करते रहने का मेरा संकल्प भी सुदृढ़ होता है। मन, वचन एवं काया के शुभ योगों के प्रवर्तन काल में मैं पुण्य कार्य करने का अभिलाषी एवं समर्थ बनता हूँ। पुण्य रूप शुभ कर्मों का बंध नौ प्रकार से हो सकता है। मैं जरूरतमन्द और योग्य पात्र को भोजन के लिये अन्न दूं, दूध पानी वगेरा पीने की वस्तुएँ सुलभ करूँ, आवश्यक वस्त्र प्रदान करूं, ठहरने के लिए स्थान उपलब्ध कराऊं तथा बिछाने व सोने के लिए पाटला बिस्तर आदि दूं तो क्रमशः अन्न पुण्य, पान पुण्य, वस्त्र पुण्य, लयन पुण्य व शयन पुण्य रूप शुभ कर्म का मेरे बंध होगा। इसके सिवाय गुणियों को देखकर मन में प्रसन्नता का अनुभव वाणी के द्वारा योग्यों की प्रशंसा एवं शरीर से गुरुजनों की सेवा सुश्रूषा करने से मन, वचन एवं काया पुण्य का अर्जन होता है। अन्तिम नौवां पुण्य-कार्य माना गया है नमस्कार को कि मैं भाव भक्ति पूर्वक अपने पूज्य एवं गुरुजनों को नम्रता से वन्दन आदि करूं। ये पुण्योपार्जन के कारणभूत पवित्र कार्य

कहे गये हैं जिनके लिये यदि मैं यथास्थान यथासमय एवं यथाशक्ति अपनी कर्मण्यता का अर्पण करूँ तो मेरे पुण्य कर्मों का बंध संभव बनता है।

मैं यह भी जान गया हूँ कि यदि मेरे शुभ पुण्य कर्मों का बंध हो जाता है तो उनकी तारतम्यता के अनुसार इस प्रकार से उनका शुभ फल भी मुझे प्राप्त हो सकता है कि मैं साता वेदनीय का अनुभव करूँ याने कि मुझे सुख प्रदायक साधन सामग्री मिले। मुझे गति अनुपूर्वी तथा आयु में मनुष्य या देव जन्म मिल सकता है तथा उच्च गौत्र भी। पांचों प्रकार के शरीर पंचेन्द्रिय जाति के साथ श्रेष्ठ अंगोपांग, संहनन व संस्थान युक्त भी मुझे मिल सकते हैं। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श शुभ रूप तो अगुरू-लघु, पराघात, श्वासोश्वास, आतप और उद्योत भी पूर्ण शुभता से मुझे प्राप्त हो सकते हैं। नाम की दृष्टि से त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुखद, आदेय और यशः कीर्ति नाम भी सुलभ हो सकते हैं। और तो और पुण्य कर्म के बंध की उच्च स्थिति बने तो तीर्थंकरत्व भी प्राप्त हो सकता है।

मैं ऊपर यह बताने का प्रयास कर रहा था कि संसार रूपी इस महासागर में जटिल कर्म बंध से बंधी हुई मेरी आत्मा अपने बचाव का कोई उपाय नहीं कर सकती है जब तक कि वह पहले जटिल बंधनों को ढीले करने की कोशिशें न करे। कर्म बंधनों को ढीला करने का, धीरे-धीरे काटने का और अन्त में उनका सम्पूर्ण रूप से क्षय कर देने का यही उपाय है कि पाप कार्यों में निरन्तर होती हुई अपनी प्रवृति का निरोध किया जाय एवं उनके स्थान पर शुभ कार्यों का ऐसा क्रम चलाया जाय कि शुभ पुण्य कर्मों का बंध हो। इसके फलस्वरूप मेरे कर्मों के वे जटिल बंधन ढीले पड़ने लगेंगे। जब बंधन ढीले पड़ने लगेंगे तो हाथ-पांव अपनी ताकत दिखाने के लिये कुछ-कुछ आजादी पाने लगेंगे। हाथ पांवों को योग्य रीति से चला-चलाकर मैं एक ओर अपने को डूबने से बचाने की कोशिश करने लगूंगा तो दूसरी ओर अपने अंगों के लिये अधिक आजादी पाते रहने की चेष्टा में लगूंगा। इस बीच मेरे पुण्योदय से मुझे ऐसे अनुकूल साधनों की प्राप्ति भी हो सकेगी कि जिनकी सहायता से मैं इस महासागर के पार जा सकूं। अर्थात् मैं पानी में न डूबूं और अपना तैरना जारी रख सकूं-ऐसा उपकरण मिल जाय या मजबूत नौका ही प्राप्त हो जाय—ताकि मैं महासागर में मुझे डुबोने की चेष्टा करने वाली लहरों और आँधियों का कामयाब मुकाबला कर सकूं। अधिक पुण्योदय हो तो मुझे सुविधा सम्पन्न बड़ा जहाज भी मिल सकता है जिसके कारण महासागर में मेरे डूबने का खतरा ही न रहे और उसे पार कर लेने की सुनिश्चितता पैदा हो जाय। ये सब उपलब्धियाँ पूर्व कृत पुण्य कार्यों के फलोदय में मिल सकती है। पाप कर्मों के बंध समय-समय पर प्रतिकूलताएं पैदा करते हैं। जिनके कारण धर्माराधना में नित नई बाधाएँ खड़ी होती हैं तो आत्म विकास में स्वस्थ अभिरुचि का ही अभाव बन जाता है। दूसरी ओर पुण्य कर्मों के बंध से फलोदय के समय ऐसी अनुकूलताएँ और उत्साहवर्धक परिस्थितियाँ पैदा होती रहती है कि आत्म-विकास की महायात्रा में आगे बढ़ते हुए हर तरह के शुभ संयोग सुलभ होते हैं। धर्म में रुचि, धर्म में आस्था तथा धर्म में पराक्रम दिखाने की प्रवृत्ति इसी पुण्य कर्म तथा उसके फल से प्राप्त अनुकूलताओं के आधार पर सफलता के सूत्र प्रकट करती है। पाप कर्मों का फलोदय मुझे सांसारिक दुःखों के इस महासागर में गहरे डुबोता है तो पुण्य कर्मों का फलोदय इस महासागर को तैर कर पार करने की अच्छी से अच्छी क्षमताएँ मुझे प्रदान करता है। पाप पुण्य की मीमांसा में मैं इस सत्य को भी ध्यान में ले लेना चाहता हूं कि चरम लक्ष्य के रूप में पाप कर्मों के साथ पुण्य कर्मों का भी क्षय करना पड़ता है

क्योंकि कैसे भी कर्मों का बंध हो वह चेतन-जड़ संयोग की नींव को नहीं तोड़ता है जबकि इस संयोग की बुनियाद को पूरी तरह से नेस्तनाबूद करने के बाद ही मेरी आत्मा को पूर्ण स्वतंत्रता मिल सकेगी। सभी कर्मों का बंध समाप्त हो जायगा तभी उनका फल भोग भी समाप्त होगा। पाप कार्यों से निवृत्ति इसलिये अनिवार्य होती है कि संसार रूपी महासागर में गहरे डूब जाने से अपनी आत्मा की रक्षा करूं तो पुण्य कार्यों की प्रवृत्ति से मुझे वे साधन सुलभ हो सकेंगे जिनकी सहायता से मैं कुशलता एवं सफलता पूर्वक उस महासागर के पार पहुँच सकूं।

किन्तु यह भी मैं जानता हूँ कि इस महासागर के उस पार पहुँच जाने के बाद वहाँ की भूमि पर मैं अपना पांव तभी रख सकूंगा जब मैं पार पहुँचाने वाली नाव या जहाज को भी छोड़ दूं। एक कर्म डूबोता है तो दूसरा कर्म तैराता है, लेकिन महासागर से पार पा लेने के बाद दोनों कर्मों को त्यागना आवश्यक हो जाता है। पाप कर्मों का क्षय कर दिया जाय परन्तु जब तक पुण्य कर्मों को भी मैं नहीं खपाऊंगा, तब तक मेरा मोक्ष नहीं हो सकेगा। जड़-चेतन संयोग रूप सांसारिकता की पूर्ण समाप्ति तभी प्रकट होगी जब सम्पूर्ण क्रियाएँ एवं सम्पूर्ण कर्म बंधन भी समाप्त हो जायेंगे।

मैं सोचता हूं कि जब तक पाप कार्यों से सम्पूर्णतया निवृत्ति संभव नहीं बनती है, तब तक मुझे पुण्य कर्म के बंध के शुभ प्रयास करते रहने चाहिये। पुण्य के प्रतिफल रूप जो अनुकूल संसाधन उपलब्ध होते रहेंगे, उनकी सहायता से मुझे मेरी साधना में अधिकाधिक शक्ति प्राप्त होती रहेगी।

मोक्ष का चरम चरण

यह मेरी आत्मा के पराक्रम और पुरुषार्थ का चरम चरण होगा कि मैं अपनी सर्व कर्म बंधन समाप्ति के साथ ही मोक्ष की प्राप्ति करलूं। इस दृष्टि से विभिन्न स्तरों पर पुण्य कर्म के उपार्जन की विभिन्न स्थितियाँ रहती हैं। पहले स्तर पर जब तक कि मनुष्य जन्म आर्य क्षेत्र आदि की धर्माचरण की अनुकूलताएँ न मिलें—पुण्य को उपादेय मानना होगा, कारण इन पुण्य प्रकृतियों की प्राप्ति के बिना मुझे चारित्र की प्राप्ति ही संभव नहीं हो सकेगी। परन्तु जब मुझे चारित्र की प्राप्ति हो जायगी तथा एक साधक की अवस्था में जब मैं अवस्थित हो जाऊँगा तब पुण्य मेरे लिये उपादेय न रहकर मात्र ज्ञेय हो जायगा। और आत्मा को चौदहवें सर्वोच्च गुण स्थान में चारित्र की पूर्णता मिल जाने पर यही पुण्य भी हेय हो जाता है क्योंकि उसको त्यागे बगेर मोक्ष के महिमामय क्षेत्र में प्रवेश नहीं मिल सकता है। सभी कर्म प्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने पर ही मेरी आत्मा का चरम चरण मोक्ष के महात्म्य का वरण करेगा। मुझे समझना चाहिये कि यह मोक्ष क्या होता है, किस मार्ग से मोक्ष की तरफ आगे बढ़ा जा सकता है और किन द्वारों से मोक्ष के महल में प्रवेश मिलता है ?

अनादिकाल से संसार में जड़ के साथ आबद्ध इस आत्मा को जड़ के बंधन से पूर्णतया मुक्त कर लेने का नाम ही मोक्ष है। जैसे एक दर्पण पर मैल और कालिख जम जाती है तो उसमें स्वरूप दर्शन नहीं हो सकता है। यदि मैल और कालिख की परत हल्की हुई तो उसमें हल्की ही सही—प्रतिच्छाया दिखाई दे सकती है। किन्तु मैल और कालिख की परतें यदि एक पर एक करके कई चढ़ी हुई हो तो उसमें प्रतिबिम्ब की तनिक झलक भी नहीं देख सकेंगे। तो क्या उस समय यह माना जा सकता है कि दर्पण की दर्शन क्षमता ही नष्ट हो गई है ? कोई यह नहीं मानेगा बल्कि यही कहेगा कि दर्पण पर जमे मैल को मल मलकर धो-पौंछ लीजिये और फिर देखिये कि उसकी मूलरूप में रही हुई दर्शन क्षमता पुनः प्रकट हो जाती है या नहीं।

मेरी धारणा है कि यही स्थिति मेरी आत्मा की भी है। चेतना का प्रवाह या आत्मा की शक्तियाँ कभी भी अस्तित्वहीन नहीं होती है, मात्र उनकी प्रभा निष्तेज हो जाती है। उसका भी दर्पण वाला ही कारण होता है। कर्मों का चढ़ा हुआ मैल अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की कठिन साधना से धो-पौंछ डालूं तो मेरा अटल विश्वास है कि मेरा भी आत्म स्वरूप सिद्ध स्वरूप की परम उज्ज्वलता का वरण कर लेगा। महत्त्वपूर्ण यही पुरुषार्थ हैं कि कर्म मैल को पूरी तरह से साफ कर लिया जाय तो इन चार मार्गों से संभव है—(१) सम्यक् ज्ञान, (२) सम्यक् दर्शन, (३) सम्यक् चारित्र एवं (४) तपाराधन। सत्पर प्ररूपणा-मोक्ष सत्स्वरूप है क्योंकि मोक्ष शुद्ध एवं एक पद है। संसार में जितने भी एकपद वाले पदार्थ हैं, वे सब सत्स्वरूप हैं—जैसे घट पट आदि। दो पद वाले पदार्थ सत् और असत् दोनों हो सकते हैं—जैसे खरश्रृंग या बंध्यापुत्र असत् है तो गौ-शृंग, राजपुत्र सत् स्वरूप हैं। अतः मोक्ष का एक पद वाच्य होने से सत्स्वरूप है। जिन मार्गणाओं (उपलब्धियों) से युक्त जीव मोक्ष जा सकते हैं, वे मार्गणाएँ मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रसकाम, भावसिद्धिक, संज्ञी, यथाख्यात चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व, अनाहारक, केवल ज्ञान और केवल दर्शन हैं। इनके अतिरिक्त चार मार्गणाओं— कषाय, वेद, योग एवं लेश्या से युक्त जीव मोक्ष नहीं जा सकते हैं।

मोक्ष के विभिन्न द्वारों का वर्णन इस प्रकार हैं—(१) द्रव्य द्वार—सिद्ध जीव अनन्त हैं, (२) क्षेत्र द्वार—लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में सब सिद्ध अवस्थित हैं (३) स्पर्शन द्वार—लोक के अग्रभाग में सिद्ध रहे हुए हैं, (४) काल द्वार—एक सिद्ध की अपेक्षा से सिद्ध जीव सादि अनन्त हैं और सब सिद्धों की अपेक्षा से सिद्ध जीव अनादि अनन्त हैं। (५) अन्तर द्वार—सिद्ध जीवों में अन्तर नहीं हैं क्योंकि कोई पुनः संसार में आकर जन्म नहीं लेता तो सब सिद्ध केवल ज्ञान व केवल दर्शन की अपेक्षा से एक समान होते हैं, (६) भाग द्वार—सिद्ध जीव संसारी जीवों के अनन्तवें भाग हैं। (७) भावद्वार—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक रूप पांच भावों में से सिद्ध जीवों में केवल ज्ञान व केवल दर्शन रूप क्षायिक भाव और जीवत्व रूप पारिणामिक भाव ही होते हैं, (८) अल्प बहुत्व द्वार—लिंग की अपेक्षा से सबसे थोड़े नपुंसक सिद्ध, स्त्रीसिद्ध उनसे संख्यातगुणे अधिक और पुरुषसिद्ध उनसे संख्यातगुणे अधिक होते हैं। इस प्रकार आत्मा का कर्म रूपी बंधन से सर्वथा छूट जाना तथा सम्पूर्ण आत्मा के प्रदेशों से सभी कर्मों का क्षय होना 'मोक्ष' कहलाता है।

कभी मेरे मन में शंका उठती है कि मोक्ष है भी या नहीं। तभी मुझे आप्त वचनों का ध्यान आता है कि जिनमें संशय के प्रकार भी बताये हैं तो उनका समाधान भी किया गया है। संशय के बिन्दु ये हैं—(१) यदि मोक्ष नहीं है तो क्या आत्मा दीपक के समान है जो जैसे दीपक बुझ जाता है तो उसका अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है? (२) क्या कर्म और जीव का सम्बन्ध जैसे अनादि है वैसे अनन्त भी है? अथवा (३) क्या राग, द्वेष, मद, मोह, जन्म, जरा, रोग, आदि दुःखों के क्षय हो जाने पर आत्मा का मोक्ष हो जाता है और फिर भी उसका अस्तित्व बना रहता है? इन सन्देहों को दूर करके सही समाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि दीपक की तरह आत्मा का सर्वनाश मानना उचित नहीं है क्योंकि किसी भी वस्तु का सर्वनाश नहीं होता है। दूध की पर्याय दही में तो घड़े की पर्याय ठीकरों में बदल जाती है। उसी प्रकार दीपक बुझ जाने के बाद वह अंधकार की पर्याय में बदल जाता है। दीपक भी पहले चक्षुरिन्द्रिय से जाना जाता है और बुझने पर घ्राणेन्द्रिय से जाना जाता है जिससे प्रमाणित है कि उसका सर्वथा समुच्छेद नहीं होता है। इसी प्रकार आत्मा का भी मोक्ष हो जाने पर उसका सिद्ध स्वरूप बन जाता है। इस कारण कर्म जीव का सम्बन्ध अनादि

अवश्य है किन्तु अनन्त नहीं है, क्योंकि सभी प्रकार के दुःखों के नष्ट हो जाने पर आत्मा परम सुख को प्राप्त होती है—यही उसका मोक्ष है जहाँ पर भी वह अपने अस्तित्व को बनाये रखती है। सभी प्रकार की बाधाओं व आवरणों का नष्ट हो जाना ही परम सुख का हेतु बनता है। कभी यह भी शंका हो कि पाप से दुःख होता है तो पुण्य से सुख—फिर पुण्य कर्म भी नष्ट हो जाने से मोक्ष में सुख कैसे मिलेगा? उसका समाधान है कि पुण्य से होने वाला सुख वास्तविक नहीं होता है क्योंकि वह कर्मों के उदय से होता है। वास्तविक सुख कर्मों के सभी आवरणों के समाप्त हो जाने से ही मिलता है। यही कारण है कि इस संसार में बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट भी सुखी नहीं रहे। संसार का सुख मात्र सुखाभास होता है। जैसे कि प्यास लगने पर पानी पिया तो सुख अनुभव हुआ किन्तु थोड़ी देर बाद फिर प्यास का दुःख सताने लग जाता है। संसार का सुख विकारों का सुख होता है जो क्षणिक होता है किन्तु सर्व विकार समाप्ति के पश्चात् मोक्ष का जो सुख मिलता है, वह शाश्वत और अव्याबाध होता है एवं सर्व इच्छाओं से परे परम समाधियुक्त होता है।

मैं मोक्ष के संदर्भ में इस आप्त वचन का पुनः पुनः स्मरण करता हूँ कि सम्यक् ज्ञान द्वारा आत्मा नव तत्त्वों के स्वरूप को जानती है, सम्यक् दर्शन द्वारा उस पर श्रद्धा करती है तथा सम्यक् चारित्र एवं तप की आराधना द्वारा नवीन कर्मों के आगमन को रोकती एवं पुराने कर्मों को नष्ट करके अपने परम शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करती है। यह सत्य मेरे अन्तर्हृदय में गहरे पैठा हुआ है और मैं मानता हूँ कि मोक्ष ही आत्म-विकास की महायात्रा का गंतव्य है।

सम्यक्त्व की प्रकाशकिरणें

संसार की प्रगाढ़ मोहग्रस्तता से मेरी आन्तरिकता जब पूरी तरह से व्यामोहित रहती थी, तब मैं अज्ञान के अंधकार में ही गोते लगाता था और इस मिथ्याज्ञान को ही सत्य मानता था कि जो कुछ इस संसार के सुख हैं, वे ही सच्चे सुख हैं तथा उन्हें येन केन प्रकारेण प्राप्त कर लेने में ही मुझे अपना सम्पूर्ण श्रम लगा देना चाहिये। इस मिथ्या ज्ञान पर ही मेरी श्रद्धा आधारित रहती थी अतः यह श्रद्धा भी मिथ्या थी। मिथ्या ज्ञान एवं मिथ्या श्रद्धा के आधार पर मेरे सभी कार्य कलाप भी तदनुसार चलते थे जिसके कारण मेरा आचरण भी मिथ्या था। यह सब मेरे आत्म स्वरूप पर छाया हुआ मिथ्यात्व का कलंक था।

किन्तु जब मैंने नव तत्त्वों की जानकारी ली एवं जीव-अजीव के सम्बन्धों की पहिचान की तो मुझे मिथ्यात्व का यथावत् रूप कुछ कुछ समझ में आने लगा। क्या मिथ्यात्व है और क्या सम्यक्त्व है—इसका हल्का-सा आभास होने लगा। जब यह जाना कि जीव किस प्रकार की अपनी क्रियाओं से पाप और पुण्य-दोनों प्रकार के कर्मों का क्षय कर सकता है तथा परम सुख रूप मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है तब अंधकार की परतें मेरे मन-मानस पर से हटने लगी। अंधकार को चीरती हुई तब कुछ प्रकाश-किरणें वस्तु-स्वरूप का यथावत् दर्शन कराने लगी। मैं तब समझ पाया कि ये ही सम्यक्त्व की प्रकाश किरणें थी।

ज्यों-ज्यों मिथ्यात्व के काले बादल छंटने लगे, त्यों-त्यों प्रकाश का घनत्व बढ़ने लगा। मिथ्यात्वपूर्ण धारणाओं, श्रद्धानों तथा क्रियाकलापों में जब शुद्धता एवं वास्तविकता का प्रवेश होने लगा तब मुझे आन्तरिक आनन्द मिला और मेरे अन्तर्मन ने कहा कि यह सम्यक्त्व का प्रवेश है—धारणाओं, श्रद्धानों एवं क्रिया कलापों को विशुद्ध बनाते रहने की प्रक्रिया का प्रारंभ है।

मुझे याद है कि तभी मेरे अन्तःकरण में मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का द्वन्द्व छिड़ गया था। प्रकाश के प्रकट होते ही अंधकार में हड़कम्प मच गया था। मेरी शनैः शनैः जागती हुई चेतना ने अंधकार में फैले भय को महसूस किया था—मिथ्यात्व का खोखलापन जाहिर होने लगा था। अपनी चेतना की जागृति के बाद मिथ्यात्व का हौंसला भी ढीला पड़ने लगा था। उसकी आक्रामक शक्ति कमजोर होने लगी थी। सम्यक्त्व की प्रकाश किरणों की उपस्थिति में मेरी चेतना को विश्वास होने लगा कि अब तक मिथ्यात्व को पकड़ कर वह जो अपने को निश्चिंत और सुखी मान रही थी, भ्रमपूर्ण था। और इस प्रकार उसका भ्रम टूटने लगा था।

मैं धीरे-धीरे सम्यक्त्व का स्वरूप समझने लगा। जैसे कमजोर नजर वाला चश्मा लगा कर स्पष्ट देखने लग जाता है, वैसे ही उस अंधकार में सम्यक्त्व का जो चश्मा मेरी दृष्टि पर चढ़ा तो उससे मिथ्यात्व का मारक स्वरूप भी मुझे दिखाई देने लगा और सम्यक्त्व का तारक स्वरूप भी। विशुद्ध किये हुए मिथ्यात्व के पुद्‌गलों से मुझे द्रव्य सम्यक्त्व मिला और केवली प्ररूपित तत्त्वों में जो रुचि और श्रद्धा जमी, उससे मुझे भाव-सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। द्रव्य एवं भाव सम्यक्त्व की उपस्थिति से मेरे आत्म स्वरूप को विशुद्ध से विशुद्धतर बनाने का एक सुव्यवस्थित क्रम भी तब चल पड़ा। इसी क्रम से मेरी आशा बंधी कि अब मेरी आत्मा गुणस्थानों के उत्कृष्ट सोपानों पर चढ़ने लगेगी और एक दिन मोक्ष रूप परम सुख को प्राप्त कर लेने का सामर्थ्य भी जुटा सकेगी।

तब मुझे सम्यक्त्व के विविध रूपों की भी अनुभूति होने लगी। मैंने जाना कि सम्यक्त्व द्रव्य रूप भी होता है और भाव रूप भी। पौद्‌गलिक परिणमन उसका द्रव्य रूप है तो सम्यक्त्व तत्त्वों में सम्यक् अभिरुचि के विकास से उसका भाव रूप बनता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व को निश्चय एवं व्यवहार के दो रूपों में भी देख सकते हैं। आत्मा का वह परिणाम जिसके होने से ज्ञान शुद्ध होता है, वह निश्चय सम्यक्त्व कहलाता है। सुदेव, सुगुरु तथा सुधर्म में विश्वास करने का नाम व्यवहार सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के कारणों को भी व्यवहार सम्यक्त्व का ही नाम दिया जाता है। सम्यक्त्व का एक अन्य स्वरूप नैसर्गिक एवं आधिगमिक संज्ञाओं से भी जाना जाता है। पूर्व क्षयोपशम के कारण बिना गुरु-उपदेश के स्वभाव से ही वीतराग-दृष्ट भावों को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और नाम आदि निक्षेपों से जान लेना तथा श्रद्धा करना नैसर्गिक सम्यक्त्व है जैसा कि मरूदेवी माता को हुआ था। इसका आधिगमिक सम्यक्त्व गुरु आदि के उपदेश से अथवा अंग उपांग आदि के अध्ययन से जीवादि तत्त्वों पर रुचि एवं श्रद्धा होना कहलाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व का स्वरूप पौद्‌गलिक तथा अपौद्‌गलिक माना गया है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को पौद्‌गलिक सम्यक्त्व कहते हैं क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में समकित मोहनीय के पुद्‌गलों का वेदन होता है। किन्तु अपौद्‌गलिक सम्यक्त्व में समकित मोहनीय का सर्वथा नाश अथवा उपशम हो जाता है, उसका वेदन नहीं होता है। यह क्षायिक और औपशमिक रूप सम्यक्त्व होता है।

एक अन्य दृष्टि से सम्यक्त्व को कारक, रोचक एवं दीपक रूप में भी परिभाषित किया गया है। जिस सम्यक्त्व के प्रकट होने पर चारित्र में परिणति हो, अथवा जिस आचरण से सम्यक्त्व का आविर्भाव हो, जो स्वयं में चारित्र का पालन करता हो व दूसरों को प्रेरित करता हो उस समय उसका कारक रूप दिखाई देता है। रोचक सम्यक्त्व वह है जिसमें आत्मा सदनुष्ठान (चारित्र) में रुचि तो लेती है लेकिन स्वयं सदनुष्ठान (चारित्र) का आचरण नहीं कर पाती है। यह रोचक रूप चौथे

गुणस्थानवर्ती आत्मा को होता है। तीसरे, जो मिथ्या दृष्टि आत्मा स्वयं तत्त्व श्रद्धान से शून्य होते हुए दूसरों में उपदेशादि द्वारा तत्त्व के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करवाती है उस आत्मा के सम्यक्त्व का स्वरूप दीपक रूप होता है। दीपक सम्यक्त्वधारी स्वयं तो मिथ्यात्वी होता है किन्तु उपदेश आदि रूप परिणाम द्वारा दूसरों में सम्यक्त्व उत्पन्न करने में वह कारण रूप बनता है, इसी दृष्टि से उसे भी सम्यक्त्वी कहा है। इसी प्रकार सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक रूप भी होते हैं। अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्टय दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों के उपशम से होने वाला आत्मा का परिणाम औपशमिक सम्यक्त्व होता है। अनन्तानुबन्धी चार कषायों के तथा दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों के क्षय होने पर जो परिणाम-विशेष प्रकट होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। उदय प्राप्त मिथ्यात्व के क्षय से और अनुदय प्राप्त मिथ्यात्व के उपशम से एवं समकित मोहनीय के उदय से होने वाला आत्मा का परिणाम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है।

मैंने सम्यक्त्व के तीन लिंगों (चिह्नों) की पहिचान की है जो इस प्रकार हैं—(१) श्रुत धर्म में राग—जितना तरुण पुरुष रंग-राग में अनुरक्त रहता है, उससे भी अधिक शास्त्र-श्रवण में अनुरक्त रहना, (२) चारित्र धर्म में राग—जिस प्रकार तीन दिन का भूखा मनुष्य खीर आदि का आहार रुचिपूर्वक करना चाहता है, उससे भी अधिक चारित्र धर्म पालने की इच्छा रखना, तथा (३) देव गुरु की वैयावृत्य का नियम—देव और गुरु में पूज्य भाव रखना और उनका मान-सम्मान रूप वैयावृत्य का नियम करना। सम्यक्त्व की तीन शुद्धियाँ भी इस दृष्टि से बताई गई है कि वीतराग देव, वीतराग देव द्वारा प्रतिपादित धर्म एवं वीतराग देव की आज्ञानुसार विचरने वाले साधु ही विश्व में सारभूत है ऐसा विचार करना।

मैंने सम्यक्त्व के पाँच भेदों पर भी विचार किया है जो सम्यक्त्व के सभी पहलुओं पर रौशनी डालते हैं—(१) उपशम सम्यक्त्व अनन्तानुबन्धी चार कषाय और दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों—कुल सात प्रकृतियों के उपशम से प्रकट होने वाला तत्त्व-रुचि रूप आत्म परिणाम उपशम सम्यक्त्व कहलाता है जिसकी स्थिति अन्तर्मुहुर्त की होती है। (२) सास्वादान सम्यक्त्व—उपशम सम्यक्त्व से गिर कर मिथ्यात्व की ओर आते हुए जीव के, मिथ्यात्व में पहुँचने से पहले जो परिणाम रहते हैं, वही सास्वादान सम्यक्त्व है। इस समय कषायों का उदय रहने से परिणाम निर्मल नहीं रहते (३) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—कषायों के उदय से प्राप्त मिथ्यात्व को क्षय करके अनुदय प्राप्त मिथ्यात्व का उपशम करते हुए जीव के परिणाम-विशेष को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। (४) वेदक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव सम्यक्त्व मोहनीय के पुंज का अधिकांश क्षय करने वाला जीव जब समकित मोहनीय के आखिरी पुद्‌गलों को वेदता है, तब होने वाले आत्म-परिणाम को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। तथा (५) क्षायिक सम्यक्त्व—कषाय व दर्शन मोहनीय की सातों प्रकृतियों के क्षय होने से होने वाला जीव का तत्त्व रुचि रूप परिणाम क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। यह सम्यक्त्व सादि किन्तु अनन्त होता है।

मुझे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है या नहीं—इसकी पहिचान सम्यक्त्व के लक्षणों के आधार पर ही की जा सकती है, अतः सम्यक्त्व के लक्षणों को भलीभांति हृदयंगम कर लेना मैं अपना कर्त्तव्य मानता हूँ जो इस प्रकार हैं (१) सम—तीव्रतम कषाय के उदय में नहीं आने से जो शान्ति भाव उत्पन्न होता है उसे सम कहते हैं, (२) संवेग—मनुष्य एवं देवता जातियों के सुखों का परिहार करके

मोक्ष के सुखों की अभिलाषा रखने का नाम संवेग है, (३) निर्वेद—संसार से उदासीनता रूप वैराग्य-भाव का होना निर्वेद कहलाता है, (४) अनुकम्पा—निष्पक्ष होकर दुःखी प्राणियों के दुःखों को मिटाने की भावप्रवणता का नाम अनुकम्पा है। यह द्रव्य और भाव रूप होती है। शक्ति होने पर दुःखी जीवों के दुःख दूर करना द्रव्य अनुकम्पा है तो दुःखी जीवों के दुःख देखकर दया से हृदय का कोमल हो जाना भाव अनुकम्पा है (५) आस्तिक्य—वीतराग देवों द्वारा उपदेशित तत्त्वों पर श्रद्धा रखने का नाम आस्तिक्य है।

सम्यक्त्व से सम्बन्धित इस शास्त्रीय विवेचन से यह मुझे स्पष्ट हो गया है कि नवतत्त्व एवं षड् द्रव्यों के स्वरूप में अर्थात् संसारी जीव को सिद्ध स्वरूप बनाने की प्रक्रिया में दृढ़ आस्था हो जाने का नाम सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के मूलाधार रूपी आस्था के ये छः स्थान कहे गये हैं (१) चेतना लक्षण जीव का अस्तित्व है, (२) जीव शाश्वत अर्थात् उत्पत्ति और विनाश रहित है, (३) जीव कर्मों का कर्त्ता है, (४) अपने किये हुए कर्मों का जीव स्वयं भोक्ता है, (५) राग, द्वेष, मद, मोह, जन्म, जरा, रोगादि का अत्यन्त क्षय हो जाना मोक्ष है तथा (६) सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों मिल कर मोक्ष का मार्ग है।

मेरा विचार है कि सम्यक्त्व के उल्लिखित सड़सठ बोलों के माध्यम से सम्यक्त्व का चहुंमुखी स्वरूप सुबोध हो जाता है, वे भेद इस प्रकार हैं—श्रद्धा ४ (परम अर्थ परिचय, परम अर्थ सेवा, मिथ्या की संगत नहीं, पाखंडी की संगत नहीं), लिंग ३ (तरुण की रागरंग रुचि से अधिक धर्म रुचि, भूखे को खीर की इच्छा से भी अधिक धर्माभिलाषा, वैयावृत्य), विनय १० (अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, स्वधर्मी, क्रियावन्त का यथायोग्य सभान), शुद्धि ३ (वीतराग देव, वीतराग धर्म तथा वीतराग आज्ञा में चलने वाले साधु को ही लोक में सारभूत मानना), लक्षण ५ (सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्था), दूषण ५ (शंका, कांक्षा, वितिगिच्छा, पर पाखंडी प्रशंसा, पर पाखंडी परिचय), भूषण-५ (धीरजवन्त, दिपावनहार, भक्ति-भावी, चतुर, संघ सेवक), प्रभावक ८ (सूत्र ज्ञान, प्रबोध, यथार्थ वाद-विवाद, त्रिकाल ज्ञान, तपश्चर्या, विधा ज्ञान, प्रसिद्ध व्रत, शास्त्र प्रयोग), आगार ६ (देवता, राजा, माता-पिता, पंच, बलवन्त, अटवी में भय) जयणा ६ (आलाप, संलाप, दान, प्रदान, वन्दना, गुणग्राम), स्थानक ६ (नगर में द्वार समान, वृक्ष में बीज समान, दुकान में वस्तु समान, मंजूषा में रत्न समान, थाल में भोजन समान, किले में कोट समान), भावना ६ (चेतना लक्षण, द्रव्य शाश्वत, आत्मा कर्त्ता, भोक्ता, भवि को मोक्ष, मोक्ष मार्ग) सार रूप में सम्पत्त्व की संक्षिप्त परिभाषा यह है कि वीतराग देवों द्वारा प्ररूपित पारमार्थिक जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना।

सम्यक्त्व की ईंट पर मोक्ष का महल

मिथ्यात्व का स्वरूप एवं नौ तत्त्वों का विश्लेषण समझ लेने के बाद मेरे सामने समत्त्व का स्वरूप स्पष्टतर हो गया है। एक महल बनाया जाता है किन्तु उसके अनुसार ही उसकी नींव भी होनी चाहिये। नींव अगर कमजोर हो और महल बड़ा व सुन्दर भी बना लिया जाय तब भी क्या वह टिका रहेगा ? उसकी मजबूती नहीं मान सकते हैं। नींव की ईंटें जितनी पुख्ता होगी, महल की मजबूती भी उतनी ही पक्की बनेगी। इस दृष्टि से यह मानने में मुझे कोई संकोच नहीं है कि सम्यक्त्व रूपी नींव की ईंटों के आधार पर ही मोक्ष का महल बनता है।

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व दोनों दो प्रकार की नींव की ईंटे हैं। मिथ्यात्व संसार के नश्वर सुखाभासों का महल खड़ा करता है तो सम्यक्त्व की नींव पर मोक्ष का महल खड़ा होता है जो एक भव्य एवं विकासशील आत्मा का चरम लक्ष्य माना गया है। सम्यक्+त्व का अर्थ होगा सत्यपना याने कि सत्य पर आत्म विकास की महायात्रा को प्रतिष्ठित करना। सत्य में मन, वाणी और कर्म का समावेश होना चाहिये। सम्यक्त्व इन तीनों प्रकारों में जब फैल जाता है तभी आत्म विकास की बुनियाद बनती है। यह बुनियाद है सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म पर पूर्ण श्रद्धा—जिसके कारण सम्यक्त्व का उद्‌भव होता है तथा मन, वाणी एवं कर्म की समस्त वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों में सम्यक्त्वरूप शुभता का प्रसार तथा विस्तार।

मैं इसे एक श्रेष्ठ विशिष्टता मानता हूं कि इस समयक्त्व में कहीं भी साम्प्रदायिकता अथवा व्यक्ति-पूजा को कोई स्थान नहीं है। इस मान्यता में न तो किसी देव विशेष के प्रति हठाग्रह है एवं न किसी गुरु विशेष या धर्म विशेष के प्रति पक्षपातपूर्ण भाव। सत्य की कसौटी पर जो देव सुदेव सिद्ध होते हैं अथवा कि जो गुरु या धर्म 'सु' के विशेषण से विभूषित होते हैं, वे ही एक सम्यक्त्वी के लिये आराध्य हैं। इसी कसौटी पर कसकर देवस्थान पर वीतराग देव को मान्यता मिली है, क्योंकि वीतराग देवों की महान् आत्माओं ने सांसारिकता के बीज रूप राग एवं द्वेष को व्यतीत करके परम विशुद्ध स्वरूप ग्रहण कर लिया। चाहे वे वीतराग महावीर हुए हों या अन्य कोई देव सभी सुदेव हैं तथा उनका दिव्य स्वरूप ही श्रद्धा का विषय है। उन्होंने जो कुछ उपदेश आत्म विकास के सम्बन्ध में अपने स्वानुभव से दिया है, वही धर्म रूप में प्रतिष्ठित माना जाना चाहिये। इस प्रतिष्ठा से ही वह सुधर्म कहलाता है। ऐसे वीतराग देवों की आज्ञा में जो चलते हैं तथा ऐसे सुधर्म का जो प्रचार करते हैं, वे ही सुगुरु रूप में सम्मान पाते हैं। यहाँ कोई हठाग्रह, भेदभाव अथवा पक्षपात नहीं है कि किसी देव, गुरु या धर्म विशेष को ही मानें। यह तो सम्यक्त्वधारी की सद्‌बुद्धि एवं परीक्षा-बुद्धि का विषय है कि वह सत्य को समझे तथा देव, गुरु एवं धर्म के 'सु' स्वरूप को अपनी श्रद्धा का केन्द्र बनावे।

सम्यक्त्व की इसे ही मैं बुनियाद समझता हूँ जिसके आधार पर सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा एवं सम्यक् आचरण से परिपूर्ण जीवन का निर्माण किया जा सकता है। यही वह ईंट है जिस पर मोक्ष का महल खड़ा किया जा सकता है। नींव की ईंट अगर मजबूती से जम गई है तो आगे के निर्माण के प्रति निश्चित बना जा सकता है। एक सम्यक्त्वधारी सदा सावधान रहता है कि वह अपने सत्पथ से भटके नहीं। यदि कभी किसी कारण से कुछ भटकाव आ भी जाता है तो वह अपने आत्म नियंत्रण के बल पर उस भटकाव को समझ जाता है और जल्दी से जल्दी उसे दूर कर देता है। फिर वैसा भटकाव न आ सके—इस हेतु से वह निरन्तर अपनी आत्मालोचना करता रहता है। इस प्रकार आत्म चिन्तन एवं आत्म दमन के उपायों से वह अपने सम्यक्त्व के विस्तार एवं विकास के लिये अथक पुरुषार्थ करता रहता है। मैं मानता हूं कि आत्मा को एक बार सम्यक्त्व का आलोक प्राप्त हो जाय—यह उसकी एक बहुत बड़ी उपलब्धि होती है।

आत्म-नियंत्रण का धरातल

मैंने एक बार जब सम्यक्त्व का आलोक पा लिया तो उससे मिथ्यात्व का अंधकार मिटने लगा और मुझे एक ओर जीवादि नवतत्त्वों का ज्ञान मिल गया तो दूसरी ओर सुदेव सुगुरु तथा

सुधर्म की सही पहिचान हो गई। इस कारण मेरे सामने आत्म विकास का महान् क्षेत्र दृष्टिगोचर होने लगा। इस दशा में मुझे अनुभव हुआ कि मैं अपनी श्रद्धा को सुदृढ़ बनाऊं तथा प्राप्त सम्यक् ज्ञान के प्रकाश में अपने समग्र आचरण को सम्यक् बनाता चलूं।

इस प्रक्रिया की सफलता के लिये मैं अपने लिये आत्म-नियंत्रण का धरातल तैयार करना आवश्यक समझता हूँ। यह आत्म-नियंत्रण क्या है तथा कैसे बनेगा इसे मैं समझ लूं।

आत्म-नियंत्रण का अर्थ है अपने आपको काबू में रखना। मैं सोचता हूँ कि यह 'आप' कौन है और इसको काबू में कौन रखेगा? तब मुझे मेरे 'मैं' की अनुभूति होती है और जिसको जिसकी यह अनुभूति होती है—दोनों मेरा 'मैं' ही होता है। इससे स्पष्ट होता है कि 'मैं' ही 'मैं' को नियंत्रण में रखेगा अर्थात् सम्यक्त्वधारी और सजग आत्मा ही अपने आप को नियंत्रण में रखेगी तथा यही आत्म-नियंत्रण का अनुभाव है।

अब यह स्थिति और समस्या मेरे सामने आती है कि मैं आत्म-नियंत्रण कैसे रखूं? जैसे कोई सत्ता के किसी पद पर बैठा हुआ हो वह हर समय अपनी सत्ता का ध्यान रखता है कि उसके प्रत्येक कार्य में उसकी सत्ता झलकती हो तो उसके सभी अधीनस्थ उसकी सत्ता का मान और पालन करते हों। यह ध्यान वह एक पल के लिये भी नहीं भूलता है। यदि कोई अपनी बाहरी सत्ता के शासन के प्रति भी इतना जागरूक रह सकता है तो एक बार सम्यक्त्व का प्रकाश पाकर भला वह अपनी भीतरी सत्ता का उससे भी अधिक ध्यान रखना क्यों नहीं सीख जायगा?

मैं जब अपनी भीतरी सत्ता का ध्यान करता हूं तो भीतरी शासन का नक्शा मेरे ज्ञान-चक्षुओं के समक्ष खिंच जाता है। 'मैं' शासक हूं और मेरा शासन है अपने आप के ऊपर तथा अपनी इन्द्रियों और अपने मन के ऊपर। यह शासन मुझे इस तरह चलाना है कि मेरा बाहरी जीवन भीतर में उपजे प्रकाश को पकड़े और बाहर के क्रिया-कलाप शुद्धता का स्वरूप ग्रहण करें। प्रतिक्षण मेरी सावधानी रहे—सबसे पहले मेरे अपने में लगने वाले विषय-कषाय के झौंके, राग-द्वेष के थपेड़े और प्रमाद के हिंडोले कहीं मुझे मोहाविष्ट बनाकर बेभान न करदे, क्योंकि मैं स्वयं बेभान हो गया तो मेरी नियंत्रण की डोर भी ढीली पड़ जायगी। फिर मन और इन्द्रियों के बहकने को कौन रोकेगा तथा वे बहकते रहे तो मेरा भान वापस लौटना कठिन हो जायगा।

इस कारण मैं आत्म-नियंत्रण को सर्वाधिक महत्त्व देना चाहता हूं। मेरे 'मैं' को मैं नियंत्रण में रख लेता हूं तो फिर मेरा मन और मेरी इन्द्रियाँ अनुशासन नहीं तोड़ सकेगी। मेरे नियंत्रण से इनका नियंत्रण होगा तो वह संयुक्त नियंत्रण मेरे सम्पूर्ण आत्मा स्वरूप की सांसारिकता के विकारों की कालिख से बराबर रक्षा करता रहेगा।

आत्मालोचना का क्रम

मैं सोचता हूं कि आत्म-नियंत्रण एक अंकुश का काम करेगा तो आत्मालोचना निर्मल जल का। एक हाथी को अंकुश से नियंत्रित किया जाता है। सामान्यतया यह नियंत्रण चलता है। किन्तु कभी ऐसा भी हो जाता है कि महावत के नियंत्रण के बावजूद मस्ती में वह धूल अपने शरीर पर उछाल कर उसे मैला बना देता है। तब महावत साफ पानी से उसके शरीर को धोकर साफ करता है। इसी प्रकार मैं अपने मन, वचन एवं कर्म पर अपना नियंत्रण स्थापित करता हूं किन्तु सांसारिक

परिस्थितियाँ बड़ी जटिल होती हैं और कई बार मैं उनसे प्रभावित हो जाता हूं। और परिस्थितियों के दबाव से मैं कभी-कभी आत्म-नियंत्रण से फिसल जाता हूँ। ऐसे समय पर यदि मैं निष्क्रिय रहूं तो वह फिसलन और उससे मेरा पतन बढ़ता रह सकता है, किन्तु मैं अपनी सम्यक्त्वी सक्रियता कभी नहीं त्यागता। तब मैं आत्मालोचना की पद्धति अपनाता हूँ। वह यह कि दिन भर के अपने अच्छे-बुरे क्रियाकलापों का लेखा-जोखा मैं सायंकाल और रात भर का लेखाजोखा प्रातःकाल लेता हूँ। और अवधि की दृष्टि से प्रति पक्ष और आगे प्रति संवत्सर भी व्यापक रूप से लेखा-जोखा लेता हूं। इसका परिणाम यह होता है कि मैं अपनाई गई तथा अपनाई जाने वाली वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों को परीक्षा बुद्धि से जांचता-परखता हूँ कि उनमें कितना खरापन रहा और कितनी खोट रही? फिर आगे के लिये संकल्प लेता हूँ कि जितना खरापन है उसे बढ़ाऊं तथा जितनी खोट है उसे घटाऊं और खत्म करूं।

आत्मालोचना का यह क्रम मैं नियमित रूप से चलाता हूं जिससे मेरी अपनी भीतरी झांकी मुझे दीखती रहती है। उस झांकी के सामने रहने से वास्तव में होता यह है कि प्रायश्चित से पूर्व कृत पाप-कार्यों के सम्बन्ध में मेरा अन्तःकरण धुल कर स्वच्छ बनता है तो उसमें नित नवीन जागृति भी पैदा होती है कि किये हुए पाप कार्यों की पुनरावृत्ति न हो तथा जो अशुभता वर्तमान है उसे भी शुभता में बदलते जावें। इस तरह आत्मालोचना निर्मल जल का काम करती है जिससे मन का मैल धुलता रहता है। इस क्रम का यह प्रभाव होता है कि धुलते-धुलते मैल की जमावट कम होती जाती है तो चेतना के अत्युच्च विकास के साथ दर्पणवत् प्रतिबिम्बन विशुद्ध होते जा रहे आत्मस्वरूप में भी होने लग जाता है।

मैं आत्मालोचना के मनोवैज्ञानिक महत्त्व को बड़ा उपयोगी मानता हूँ। मैं जान-बूझकर एक अकार्य करता हूं अथवा अनजाने में भी मेरे से गंभीर भूल हो जाती है तब भी मैं इसे पसन्द नहीं करता कि कोई मेरी निन्दा तो दूर, सच्ची आलोचना भी करे। मैं उसे अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न मानकर संघर्षरत हो जाता हूं। किन्तु जब मैं अपनी मानसिकता को ही इस तरह मोड़ूं कि मैं ही अपनी प्रवृत्तियों तथा भूलों की स्वयं ही आलोचना करूं तथा अपने गुरुजनों के समक्ष उनकी निन्दा करके प्रायश्चित करना चाहूं तब मेरी प्रकृति में नम्रता का समावेश होगा और उस व्यक्ति के प्रति भी मैं सरलता धारण किये रहूंगा जिसके प्रति मैंने द्वेष-भाव उभारा होगा। इस प्रकार महसूस करने का मन का स्वभाव ही बदलता चला जायगा। मैं अपनी अकृति या भूल को वैसी ही मानकर उसका परिहार करने की तत्परता भी दिखाना चाहूंगा।

मैं अपनी क्रियाओं पर जब पीछे नजर डालूंगा और गुरु के समीप अपने दुष्कृत्यों की आलोचना-निन्दा करूंगा तो मुझे भी भीतर में वैसा ही हल्कापन महसूस होगा जैसा कि एक भारवाही को अपना भार उतार देने पर महसूस होता है। मेरे मन में आता है कि जैसे एक बालक बोलते हुए सरल भाव से अपना कार्य-अकार्य सब बता देता है, उसी प्रकार मैं भी आत्मार्थी बन कर माया और मान को छोड़ दूं तथा सरल भाव से अपने दोषों की आलोचना कर लूं। योग्य व्यक्ति के समक्ष की जाने वाली ऐसी आलोचना मुझे शास्त्र-श्रवण में भी कुशल बनायगी तो सच्ची आराधना का बल भी प्रदान करेगी। इसलिये पहले के दोषों की पहले तथा बाद के दोषों की बाद में आलोचना नियमित क्रम से करते रहना चाहिये। साधु भी यदि कोई अकृत्य करले और बिना आलोचना किये यदि वह

काल धर्म को प्राप्त हो जाय तो वह उसकी आराधना नहीं होगी, फिर मेरे जैसी सामान्य आत्मा की आराधना के लिये तो अधिक पुष्टि की जरूरत पड़ेगी। एक बात अवश्य है कि यदि शुद्ध भावपूर्वक आलोचना करते हुए स्मरण शक्ति की दुर्बलता से अथवा किसी तरह की जल्दबाजी से किसी दोष की आलोचना भूल से रह जाय तो वह क्षम्य मानी जायगी क्योंकि आलोचना की शुद्ध भावना के साथ ही माया, मद और गारव को गालने से उसका आराधक पद बना रहता है। आत्मालोचना करने वाले की आठ प्रकार से गुण सम्पन्नता मानी गई है—जाति सम्पन्न, कुल सम्पन्न, विनय सम्पन्न, ज्ञान सम्पन्न, दर्शन-सम्पन्न, चारित्र-सम्पन्न, क्षान्त-क्षमाशील रहने वाला तथा दान्त-इन्द्रियों का दमन करने वाला।

मेरी मान्यता है कि आत्मालोचना और माया का कभी गठजोड़ नही रह सकता है। यदि मैं मायापूर्वक आत्मालोचना करता हूं तो वह वास्तविकता नहीं होगी। आत्मालोचना में माया का कोई स्थान नहीं है। यश कीर्ति की परवाह किये बिना आत्मालोचना सदा निष्कपट, सरल एवं शुद्ध भाव से ही होनी चाहिये। ऐसा भी मैं नहीं सोचूं। मुझे यह भय रखना भी अनुपयुक्त होगा कि आत्मालोचना से मेरी कीर्ति और मेरा यश मिट जायगा। किन्तु जो मायापूर्वक आलोचना करता है अथवा आलोचना नहीं करता, वह हर समय सशंकित रहता है कि उसका दोष दूसरों पर जाहिर तो नहीं हो गया है। इस सशंक भय के साथ वह मन ही मन पश्चाताप की आग में भी जलता रहता है।

प्रतिक्रमण के माध्यम से भी आत्मालोचना का कुछ रूप अपनाया जाता है। प्रतिक्रमण का अर्थ है—पापों से पीछे हटना। आत्मा के दर्पण पर लगे धब्बों को आत्मा ही देखेगी और संकल्पपूर्वक उन्हें हटायगी—यह उस आत्मा का प्रतिक्रमण होगा। आत्मालोचना याने अपनी ही निन्दा, तो प्रतिक्रमण का अर्थ होगा इन निन्दित कार्यों से पीछे हटने का संकल्प अर्थात् उनकी पुनरावृत्ति नहीं करना। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग से अपनी आत्मा को हटाकर फिर से सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र में लगाना प्रतिक्रमण कहलाता है, शुभ योग से भटक कर अशुभ योग में गई हुई आत्मा को फिर से शुभ योग में अवस्थित करने का नाम ही प्रतिक्रमण है। जो आत्मा, अपने ज्ञान, दर्शन आदि रूप स्थान से प्रमाद के कारण मिथ्यात्व आदि के स्थानों पर चली जाती है, प्रतिक्रमण करके फिर से मुड़कर अपने स्थान पर आ जाती है।

मैं आत्म विकास की प्रक्रिया में प्रतिक्रमण के व्यापक महत्त्व पर विचार करूं तो वह बड़ा उपयोगी होगा। प्रतिक्रमण के आठ भेद किये गये हैं—(१) प्रतिक्रमण—सीधा सा अर्थ है, उल्टे पैरों वापस मुड़ना। यह दो प्रकार का होता है—प्रशस्त एवं अप्रशस्त। मिथ्यात्व आदि का प्रतिक्रमण प्रशस्त तो सम्यक्त्व आदि का प्रतिक्रमण अप्रशस्त कहलाता है। इसका भाव रूप यह है कि वीतराग देव रूपी राजा ने संयम रूपी महल की रक्षा करने की आज्ञा दी। उस संयम की किसी साधक ने विराधना की और ढिठाई भी की तो रागद्वेष रूपी रक्षकों ने उसे मार डाला याने कि वह जन्म-मरण के चक्र में फँस गया। कोई साधक प्रमादवश असंयम अवस्था को प्राप्त हो जाय, किन्तु उस अवस्था से पुनःसंयम में लौट आवे और असंयम में फिर से प्रवृत्ति न करने की प्रतिज्ञा कर ले तो वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। (२) प्रतिचारणा—संयम के सभी अंगों में भली प्रकार चलना और सावधानतापूर्वक संयम को निर्दोष पालना। इसका भाव रूप यह है कि आचार्य रूपी सेठ ने संयम रूपी महल की साल-सम्हाल करने की आज्ञा दी। एक साधु ने प्रमाद और शरीर के सुख में पड़कर

उसकी बेपरवाही की। वह संसार में दुःख पाने लगा। दूसरे साधु ने संयम रूपी महल की अच्छी तरह साल-सम्हाल की—रोज उसे बार-बार देखता रहता और जरा-सी भी तरेड़ वगेरा दीखती तो तुरन्त मरम्मत कर लेता। वह मोक्ष रूपी सुख का भागी हो गया। (३) परिहरणा—सब प्रकार से छोड़ना अर्थात् वीतराग रूपी कुलपुत्र मनुष्य भव रूपी गोकुल से निर्दोष चारित्र रूपी दूध लाने की आज्ञा देते है। उस के दो मार्ग है—जिनकल्प और स्थविर कल्प। जिनकल्प का मार्ग सीधा पर अति कठिन होता है जिस पर उत्तम संहनन वाले महापुरुष ही चल सकते हैं। स्थविरकल्प का मार्ग उपसर्ग, अपवाद आदि के कारण लम्बा होता है। जो जिनकल्प के मार्ग का सामर्थ्य नहीं रखता फिर भी उस पर चलता है, वह संयम रूपी दूध के घड़े को रास्ते में ही फोड़ देता है —चारित्र्यपतित हो जाता है। लेकिन जो समझदारी से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को जानकर अपनी शक्ति के अनुसार संयम की रक्षा करते हुए धीरे-धीरे चलता है और स्थविरकल्प के मार्ग को अपनाता है, वह अन्त में सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। (४) वारणा —इसका अर्थ होता है निषेध। जिसका भाव रूप है कि वीतराग रूपी राजा विषय भोगों को विष मिले पानी और अन्न को समान बताकर लोगों को उनसे दूर रहने की शिक्षा देते हैं। जो उनकी शिक्षा नहीं मानते, वे भवचक्र में भटकते रहते हैं किन्तु जो उस निषेध को मान लेते हैं, वे भव चक्र से छूट जाते हैं। (५) निवृत्ति— किसी काम से हट जाना। इसका भाव रूप है कि संयम भी एक प्रकार का युद्ध है। यदि उससे कोई भाग खड़ा होता है तो उसे लोगों की अवहेलना मिलती है किन्तु वह युद्ध में लौट आता है और आलोचना व प्रतिक्रमण करके गुरु की आज्ञानुसार चलने लगता है तो वह संयम में स्थित हो जाता है। (६) निन्दा—आत्मा की साक्षी से पूर्वकृत अशुभ कर्मों को बुरा समझना निन्दा है। आत्म-निन्दा द्वारा एक साधक प्रतिदिन अपने से कहे— हे आत्मन्, नरक तिर्यंच आदि गतियों में घूमते हुए अब तूने मनुष्य भव प्राप्त किया है। सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र भी तुझे मिला है। इन्हीं के कारण तू माननीय भी हुआ है। अब घमंड मत करो कि मैं बहुश्रुत या उत्तम चारित्र वाला हूं। (७) गर्हा—गुरु की साक्षी से अपने किये हुए पापों की निन्दा करना गर्हा है। अपने दुष्चरित्र की निन्दा करने से पापकर्म ढीले पड़ जाते हैं और पाप हल्का हो जाता है। पाप के हल्के होने से साधना की सुदृढ़ता बढ़ जाती है। (८) शुद्धि—तपस्या आदि से पाप कर्मों को धो डालना शुद्धि है। साधक को भी काल का उल्लंघन किये बिना आचार्य के पास अपने पापों की आलोचना कर लेनी चाहिये। यही भाव शुद्धि है। आत्मनिन्दा रूपी औषधि से अतिचार रूपी विष दूर हो जाता है।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि प्रतिक्रमण रूप आत्मालोचना का क्रम निरन्तर नियमित रूप से चलता रहे तो मेरी आत्मा पाप-कार्यों में उलझ-उलझ कर भी सुलझती जायगी और शनैः शनैः पाप के बोझे को हल्का बनाती जायगी।

आत्म समीक्षण से स्वरूप दर्शन

नियमित रूप से निरन्तर की जाने वाली आत्मालोचना से मुझे यह सुफल प्राप्त होगा कि मैं प्रतिक्षण अपने आत्म-स्वरूप के प्रति सावधान हो जाऊंगा। इससे मेरी आत्म-समीक्षण की प्रवृत्ति वन जायगी। मैं प्रतिक्षण सावधानी पूर्वक जब अपनी आत्मा की समस्त वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों को देखता रहूंगा, जांचता एवं परखता रहूंगा तो प्रतिक्षण अपने आत्मस्वरूप को देखता भी रहूंगा और यह देखना ही मेरा आत्म-समीक्षण का रूप ले लेगा। सम्यक् प्रकार से अर्थात् समतापूर्वक देखना

समीक्षण कहलाता है और यह प्रक्रिया जब अपनी ही आत्मा के साथ चलेगी तब वह आत्म-समीक्षण की प्रक्रिया होगी।

मैं आत्म-समीक्षण की अपनी इस प्रक्रिया में देखने के साथ जो 'सम' शब्द लगा हुआ है उसको विशेष महत्त्व देना चाहता हूं। मेरा देखना समतापूर्वक होगा—पक्षपातपूर्वक अथवा हठाग्रहपूर्वक नहीं। अपनी ही वृत्तियों को समभावपूर्वक देखना यद्यपि बड़ा कठिन कार्य होगा, फिर भी अभ्यासपूर्वक जब मैं ऐसा करने लगूंगा तब अपनी चित्तवृत्तियों को सम्यक् रीति से देखना मेरी साधना का एक अनिवार्य अंग बन जायगा। जैसे किसी वस्त्र को धोने से पहले यह जान लेना आवश्यक होता है कि उस पर कितने और किस प्रकार के दाग लगे हुए हैं। और उनको धोने के लिये किस साधन से किस प्रकार का प्रयास करना पड़ेगा, उसी प्रकार आत्म-स्वरूप की परिशुद्धि की दृष्टि से यह आत्मसमीक्षण अनिवार्य रूप से मुझे करना ही होगा। इसके बिना मेरा उसे शुद्ध बनाने का प्रयास अधूरा ही रहेगा तथा अविचारणा के साथ उसके विफल हो जाने की भी पूरी आशंका बनी रहेगी।

मैं आत्म-समीक्षण के माध्यम से अपनी आत्म-वृत्तियों का सम्यक् एवं सूक्ष्म अवलोकन करता रहूंगा और यह जानते रहने की चेष्टा करूंगा कि मेरे मन पर किस प्रकार की अप्रशस्त वृत्तियों ने आक्रमण कर रखा है? मन के स्वच्छ पटल पर कितने-कितने और कैसे-कैसे चिकने दाग लगे हुए हैं? वह कलुषितता कितनी गहरी है तथा उसे धोने के लिये मुझे साधना किस रूप में ढालनी होगी? इन सब प्रश्नों पर मुझे गहरा चिन्तन करना होगा और आत्मदमन के उपायों से मन की चादर को धोनी होगी।

आत्म—समीक्षण इस प्रकार मेरे आत्म-विकास के लिये एक अमूल्य साधन सिद्ध होगा क्योंकि समीक्षण से स्वरूप दर्शन की निरन्तरता मेरे सामने बनी रहेगी। किन्तु आत्म-समीक्षण की उपयोगिता इस स्तर तक ही हो—ऐसी बात नही है। आत्म-समीक्षण की उपयोगिता मेरी आत्म-विकास की महायात्रा में अन्त तक बनी रहेगी। स्वरूप दर्शन की अत्युच्च पराकाष्ठा तक यह प्रक्रिया मुझे असीमता में रूपान्तरित करती रहेगी। अभी प्रारंभ में तो यह मेरे लिये मात्र निर्देशक का ही काम करेगी किन्तु बाद में तो समीक्षण वृत्ति मेरे मन-वचन एवं कर्म की समस्त योग क्रिया का केन्द्र ही बन जायगी।

मैं मानता हूं कि आत्म-समीक्षण कोई सामान्य प्रक्रिया नहीं होती है। यह मेरी अन्तर्प्रज्ञा के चक्षुओं को उघाड़ देगी। ज्ञान-चक्षुओं से आन्तरिकता के निरीक्षण-परीक्षण की कोई सीमा नहीं होती है जबकि बाहर के चक्षुओं की अपनी दृष्टि-सीमा होती है। स्वरूप दर्शन की उत्कृष्टता के साथ निरीक्षण-परीक्षण की यह सीमा निरन्तर फैलती ही जाती है और ज्ञान चक्षुओं का प्रकाश वढ़ता ही जाता है। यह प्रकाश ही तब मेरा आत्म-प्रकाश बन जायगा। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि मेरी यह आत्म-समीक्षण की प्रक्रिया समत्वपूर्वक ही प्रारंभ होनी चाहिये तथा समत्वपूर्वक ही चलती भी रहनी चाहिये। सम्यक्त्व और समताभाव इस प्रक्रिया के आधारगत बिन्दु होने चाहिये। जैसे कि किसी मधुर खाद्य पदार्थ की तरफ मेरे मन की अत्यधिक आसक्ति बढ़ी तो मैं उस आसक्ति से दूर हटने के लिये उस खाद्य पदार्थ का इच्छापूर्वक त्याग ही कर दूंगा। इसके साथ ही अपने मन को ऐसा कठोर निर्देश भी दूंगा कि वह फिर से ऐसे आकर्षण के प्रति आसक्त और लिप्त न हो। यह निश्चित है कि

मेरे ऐसे निर्देशों को दीर्घ काल के अभ्यास के बाद ही सफलता प्राप्त हो सकेगी। समय अवश्य लगेगा किन्तु इस अभ्यास से उन निर्देशों की प्राभाविकता भी स्थायी स्वरूप ग्रहण करती जायगी।

मैं मेरे मन को ऐसे कठोर निर्देश देते समय इस बात का ध्यान रखूंगा कि विवशतावश अथवा प्रमादवश होने वाली भूलों को मैं उसी क्रम से तथा उतनी ही सक्रिय सशक्तता से परिमार्जित करने का कार्य करूंगा जिस क्रम से वे उत्पन्न हुई थी। इस पद्धति को अपनाने से मेरा आत्म-समीक्षण एक वैज्ञानिक रूप ले लेगा। यह सही है कि सभी भूलों का समीक्षण, निरीक्षण अथवा परिमार्जन एक ही साथ होना संभव नहीं होगा, किन्तु स्थूल प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करते हुए मेरा नियंत्रण तदनन्तर सूक्ष्म वृत्तियों के परिष्कार तक भी पहुंचता हुआ चला जायगा।

आत्म-समीक्षण से मेरी आत्म-चिन्तन तथा आत्मदमन की क्रिया वलवती बनेगी और जब तक मैं इसमें साधन रूप से संलग्न रहूंगा तब तक मेरा अन्तःकरण उत्साह और उमंग से परिपूरित रहेगा और भीतर की जिज्ञासा जागती रहेगी कि मैं अपनी साधना के आगामी चरणों को सुनिश्चित करता रहूं। तब मेरी साधना का क्रमिक विकास होता चला जायगा। समीक्षण पूर्वक आत्म-चिन्तन एवं आत्म-संशोधन ही उसका आधार बनेगा।

मैं प्रति रात्रि के प्रथम एवं अन्तिम प्रहर में स्वयं अपनी आत्मा का निरीक्षण करूंगा और विचार करूंगा कि मैंने कौनसे अपने कर्त्तव्य पूरे किये हैं तथा कौनसे कर्त्तव्य पूरे करना शेष है और किन-किन शक्य अनुष्ठानों का मैं आचरण नहीं कर रहा हूं? मैं चिन्तन करूंगा कि दूसरे लोग मुझ में क्या दोष देख रहे हैं और मुझे अपने-आपमें क्या-क्या दोष दिखाई दे रहे हैं। इन दोषों के बारे में मैं अपने-आपसे ही प्रश्न करूंगा कि क्या मैं इन दोषों को नहीं छोड़ रहा हूं? तब मैं संकल्प लूंगा कि सम्यक् रीति से अपने दोषों को देखते हुए भविष्य में मैं ऐसा कोई दोषपूर्ण कार्य नहीं करूंगा जिससे कि मेरी साधना में बाधा पहुंचे। मैं जब भी अपनी आत्मा को मन, वचन एवं काया सम्बन्धी दुष्ट व्यापारों में लगी हुई रखूंगा, उसी समय उसे शास्त्रोक्त विधि से दुष्ट व्यापार से हटाकर संयम व्यापार में लगा दूंगा। जैसे आकीर्णक जाति का घोड़ा लगाम के नियंत्रण में रहकर सही रास्ते पर चलता जाता है, उसी प्रकार मैं अपनी आत्मा के विधिपूर्वक एवं नियंत्रणपूर्वक संयम के राजपथ पर चलता रहूंगा। मैं जानता हूँ कि जो आत्मा पवित्र भावनाओं से शुद्ध हो जाती है, वह जल पर चलने वाली सुघड़ नौका के समान बन जाती है। वैसी आत्मा ही सुघड़ नौका की तरह संसार रूपी महासागर के उस पार पहुँच कर अपने को सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त कर लेती है।

आत्म-चिन्तन की पावन धारा में प्रवाहित होते हुए मुझे अनुभूति होती है कि आत्मा को वश में करना अति कठिन कार्य है, फिर भी उसका संशोधन करते रहना चाहिये क्योंकि जो अपनी आत्मा को विषयों की दृष्टि से वश में कर लेता है, वह इहलोक और परलोक दोनों जगह सुखी बनता है। दूसरे लोग वध, बन्धन आदि साधनों से मेरा दमन करें—इसकी अपेक्षा यही अच्छा है कि मैं ही संयम और तप का आचरण कर अपने आप ही अपना दमन करूं। यह दमन अपनी आत्मा को विषयों की ओर जाने से रोकने के रूप में होगा। समस्त इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों की ओर जाने से रोककर मैं पापों से अपनी आत्मा की रक्षा करूंगा क्योंकि पापों से अरक्षित आत्मा ही संसार-परिभ्रमण करती है और सुरक्षित आत्मा संसार के सभी दुःखों से मुक्त हो जाती है। मैं सोचता हूं कि श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से मैं मनोज्ञ शब्दों में राग नहीं करूंगा और अमनोज्ञ शब्दों से द्वेष

भी नहीं करूंगा। इसी प्रकार अन्य सभी इन्द्रियों के निग्रह से मैं राग-द्वेष के कारणक कर्मों का बंध नहीं करूंगा और पुराने बांधे हुए कर्मों की निर्जरा भी करूंगा। जब-जब भी मुझे मेरी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की तरफ दौड़ाकर मुझे पीड़ित बनायगी, तब-तब मैं नीरस भोजन करने लगूंगा, अल्प भोजन करूंगा, खड़ा रह कर कायोत्सर्ग करूंगा और आवश्यकता समझूंगा तो आहार का कतई त्याग कर दूंगा किन्तु काम भोगों की ओर मन को नहीं जाने दूंगा तथा अपनी साधना को विकृत नहीं होने दूंगा। मेरा जब ऐसा निश्चय बन जायगा कि चाहे शरीर छूट जाय परन्तु वीतराग देव की आज्ञा का उल्लंघन न करूं, तब मुझे मेरी इन्द्रियाँ संयम-पथ से विचलित नहीं कर सकेंगी। मैं समझता हूँ कि मेरा यह मन रूपी घोड़ा बड़ा उद्दंड, भयंकर और दुष्ट है तथा उन्मार्ग की ओर दौड़ता रहता है, मैं यह भी समझता हूं कि मैं इसे धर्म शिक्षा के द्वारा ही अपने वश में करके सम्यक् मार्ग पर दौड़ा सकता हूं। इन्द्रियों और मन के सारे विषय रागी-मनुष्य के लिये दुःखदायी होते हैं किन्तु वीतराग पुरुष को ये विषय कभी तनिक-सा भी दुःख नहीं दे सकतेहैं—ऐसा सोचकर मैं राग और द्वेष को जीतने तथा मोक्ष की ओर आगे बढ़ाने वाली कठिन साधना में निरत बना रहूंगा। यही मेरा आत्म-समीक्षण से आत्मचिन्तन तथा आत्म-दमन का क्रम होगा जिससे मैं भलीभांति अपने स्वरूप-दर्शन करूंगा तथा निरन्तर करता रहूंगा।

परिमार्जन, संशोधन व संशुद्धि

आत्म-स्वरूप के निरन्तर निरीक्षण-परीक्षण की प्रक्रिया से मैं जब अपने दोषों को पहिचान लूंगा, उनके कारणों को जान लूंगा तथा उनके घनत्व को भी समझ लूंगा तब उन्हें परिमार्जित कर लेने की मेरी अभिलाषा प्रबल बन जायगी, क्योंकि मैं यह भी सुनिश्चित कर सकूंगा कि किस प्रकार की साधना के बल पर उन दोषों का सफलतापूर्वक परिमार्जन हो सकेगा?

मेरी प्रक्रिया तब त्रिरूपवती हो जायगी—परिमार्जन, संशोधन एवं संशुद्धि की प्रक्रिया। परिमार्जन याने मैल को मिटाना, संशोधन याने स्वरूप को सुधारना तथा संशुद्धि याने मैल को पूरी तरह धोकर स्वरूप को शुद्ध बना लेना। जैसे किसी धब्बों वाले कपड़े को उजला बनाना हो तो पहले उसके चिकने धब्बों पर किसी ऐसे रसायन का प्रयोग करना पड़ेगा जिसके असर से उन धब्बों का मैल गलकर मिटने लगे। फिर पूरे कपड़े पर साबुन आदि का प्रयोग करना पड़ेगा जिससे कि उसका समूचा स्वरूप सुधरने लगे। उसके बाद साफ पानी से धोकर उसे पूरी तरह उजला बना सकेंगे। यही क्रिया मैली आत्मा को उजली बनाने के लिये भी करनी होगी। यदि निष्ठापूर्वक मैं इस त्रिरूपवती क्रिया पर आचरण करूं तो कोई कारण नहीं कि मैं अपने आत्म-स्वरूप को परम विशुद्ध न बना सकूं।

मैं मानता हूं कि परिमार्जन, संशोधन एवं संशुद्धि की प्रक्रिया निरंतर क्रियाशील प्रक्रिया बन जाती है क्योंकि मेरा 'मैं' एक पल के लिये भी निष्क्रिय नहीं होता है। मैं निरन्तर कोई न कोई क्रिया करता रहता हूं और उस क्रिया से सम्बन्धित कर्म बंध मेरे होता रहता है। अशुभ क्रिया होगी तो अशुभ कर्मों का बंध होगा और उसके कारण मेरे आत्म-स्वरूप पर मैल की एक और परत चढ़ेगी। उस मैल को मांजने, सुधारने व धोने की प्रक्रिया भी तब मैं साथ-साथ में चलाऊंगा। किन्तु शुभ क्रिया होगी और शुभ कर्मों का बंध होगा तब भी मुझे उनके शुभ फल का उपभोग करना होगा। शुभ फल का उपभोग करते समय सच पूछें तो मेरी सावधानी और अधिक बढ़ जानी

चाहिये। प्रतिकूलताएँ सामने आती हैं और दुःखदायी होती हैं—इस कारण उनसे सफल संघर्ष करना फिर भी सरल होता है। परन्तु अनुकूलताओं के सुख के समय उनमें रहे हुए आकर्षण को समझना, अपने क्रियाकलापों को संयमित रखना और सबसे ऊपर सम्यक्त्व एवं समभाव को प्रखर बनाये रखना अपेक्षाकृत बहुत कठिन होता है। यदि उस समय में मुग्धता, प्रलुब्धता तथा मोहाविष्टता का भाव समा जाय तो वे अनुकूलताएँ आत्मा के किये कराये परिश्रम को तो नष्ट कर ही देती है अपितु असंज्ञा के ऐसे दलदल में पुनः फंसा देती है और आत्मस्वरूप को मिथ्यात्व के काले रंग में इस तरह रंग देती है कि उस दलदल से बाहर आना और काले रंग को मिटाना एक भगीरथ कार्य हो जाता है।

अतः मैं अनुकूलताओं की उपस्थिति में अपने-आपको अधिक जागरूक बना लेता हूं और वह भी दो प्रकार से। एक तो उस प्राप्त अनुकूल सुख सुविधा में अपने को कतई असंयमित नहीं बनाऊं तो दूसरे, उन अनुकूलताओं को अपने आत्म-विकास की सहयोगी सामग्री बनालूं। समझिये कि यह मनुष्य जीवन जो मुझे मिला है। वह एक सुखदायी अनुकूलता है क्योंकि इसके कारण मेरी इन्द्रियाँ और मेरा मन कैसा भी अनुभव लेने में सक्षम है। एक प्रकार तो यह हो सकता है कि मैं काम भोगों की तरफ आकृष्ट हो जाऊं तथा इन्द्रियों व मन के विषयों में रम जाऊं। जिनेश्वर के सिद्धान्तों के प्रतिकूल श्रद्धा वाला बन जाऊंगा। यह दशा मिथ्यात्व की हो जाती है। दूसरा प्रकार होगा कि मैं प्राप्त इस मनुष्य जीवन का आत्म-साधना के हित में पूर्ण सदुपयोग करूं। यह मेरी आत्मा की जागृत अवस्था होगी तथा ऐसे समय में सम्यक्त्व का मेरे भीतर सद्भाव होगा।

अतः परिमार्जन, संशोधन एवं संशुद्धि की प्रक्रिया के प्रति मेरी जितनी अधिक सावधानी होगी, उतना ही मैं प्रतिकूलताओं में तथा अनुकूलताओं में भी अपने-आपको संयम में स्थिर रख सकूंगा। मिथ्यात्व के अंधेरे को ऐसी मनःस्थिति के साथ मैं दूर हटाते रहने में और अपनी आन्तरिकता में सम्यक्त्व का प्रकाश फैलाते रहने में भी सफल हो सकूंगा।

मिथ्यात्व-सम्यक्त्व संघर्ष

मैं जब आत्म-नियंत्रण, आत्मालोचना, आत्म-समीक्षण, आत्म-चिन्तन, आत्म-दमन तथा परिमार्जन- संशोधन एवं संशुद्धि की प्रक्रिया में से प्रतिदिन गुजरता रहूंगा, तब मेरे भीतर मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व का तुमुल संघर्ष आरंभ हो जायगा। एक ओर विषय, कषाय, काम भोग, मोह, प्रमाद आदि के रूप में विकृत वृत्तियाँ मेरी इन्द्रियों को, मेरे मन को तथा मेरे 'मैं' को भी मिथ्यात्व की अंधकारपूर्ण मोहदशा की ओर खींचेगी तो दूसरी ओर मेरी जितनी साधी हुई, जागृति होगी उसके अनुसार मेरा 'मैं' अपने आपको स्थिर रखेगा एवं अपनी इन्द्रियों तथा मन को विदशा में जाने से रोकेगा। जब तक मैं विकारों का पूरी तरह से विनाश नहीं कर लूंगा तब तक अपने भीतर में यह कठिन संघर्ष चलता ही रहेगा। कभी दो पग इधर तो कभी दो पग उधर का दृश्य पैदा होता रहेगा। कभी पांव जमेगा तो कभी उखड़ भी जायगा। कभी पांव जमाकर सम्यक्त्व की दिशा में कदम बढ़ेंगे तो कभी पांव फिसल कर मिथ्यात्व की ओर झुक जायेंगे। कभी-कभी तो सम्यक्त्व की दिशा में बहुत आगे तक बढ़ जाने याने कि व्रती आदि हो जाने के बाद भी ऐसी फिसलन आ सकती है कि मैं लुढ़कता हुआ फिर से मिथ्यात्व के गढ्ढे में गिर पड़ूं। यह भीतर का द्वन्द्व बहुविध बहुरूपी बनकर चलता रहता है, किन्तु यह द्वन्द्व अवश्य ही इस तथ्य का प्रमाण होता है कि मेरे अन्तःकरण में आत्म-विकास की जागृति का सूत्रपात हो चुका है।

मिथ्यात्व—सम्यक्त्व संघर्ष की वेला में मेरा 'मैं' द्विरूपी हो जाता है अथवा यों कहें कि वह दो भागों में बंट जाता है। एक 'मैं' दूसरे से कहता है—ऐ मूर्ख, क्या संयम और साधना की बात करता है? देख, यह मनुष्य तन मिला है—सशक्त इन्द्रियाँ और मस्त मन मिला है। इनको पूरी तरह काम में ले और संसार के काम भोगों का आनन्द उठा। ऐसा तन और जीवन बार-बार नहीं मिलेगा। जवानी दो दिन में बीत जायगी और फिर दूसरे लोगों को ये आनन्द उठाते हुए देखकर पछतायगा। तेरे तन की आज जवानी है, सुगठित स्वास्थ्य है, धन और सारी सुख सामग्री सामने है देखता क्या है—मस्त बन और मौज उड़ा। जिनेश्वरों के सिद्धांन्तों का आज कोई औचित्य नहीं है। दूसरा 'मैं' इसे सुनता है और एकदम कोई उत्तर नहीं दे पाता है, बल्कि विचार में पड़ जाता है। तब पहला 'मैं' अधिक जोश से कहने लगता है—अरे, सोच में क्या पड़ गया है? यह आयु सोच करने की नहीं है—बैठने और चलने की भी नहीं है। यह आयु तो हजार-हजार उमंगों के साथ उड़ने की है। सुन, कितना कर्णप्रिय संगीत आ रहा है? सुनकर तबियत बाग-बाग हो उठती है। देख, कितनी रूपवती कन्याएँ तुझे रिझाने के लिये सामने खड़ी हैं? क्या इनकी अनुपम सुन्दरता तुझे मुग्ध नहीं बना रही है? सूंध, कितनी मस्त बना देने वाली इत्रों और सेंटों की सुगन्ध है? सूंघकर ही तन-मन में मस्ती छा जाती है। तेरे सामने कितने प्रकार के सुमधुर तथा सुस्वादु व्यंजन रखे हुए हैं, एक कौर चखकर तो देख—फिर कहीं उंगलियाँ ही न काट खावे? और इस शयनगृह में प्रवेश तो कर—इसकी हर सजावट का स्पर्शसुख तो महसूस कर, तेरा रोम-रोम सुख के हिंडोल में झूलने लगेगा। कुछ भी सोच मत—रंग, तरंग और उमंग के इस सरोवर में आंखें बन्द करके कूद जा —सुखों का पार नहीं है। इसका 'मैं' और अधिक चिन्ताग्रस्त हो गया—तब तक वह चिन्तनमग्न नहीं हो पाया था। वह किंकर्त्तव्यमूढ़ता में पड़ा हुआ था। यह देखकर तो पहले 'मैं' का हौंसला बहुत ज्यादा बढ़ गया। उसने अपनी दासियों और दास को आदेश दिया कि वे इस दूसरे 'मैं' को पकड़ कर मेरे पास ले आवें, ताकि हम दोनों आलिंगनबद्ध होकर एक हो जावें और संसार के भोग-परिभोग मस्त होकर भोगें।

तब दूसरा 'मैं' कुछ जागा क्योंकि उसे अपने स्थान से डिगाये जाने का खतरा पैदा हो गया था। जागा तो उसकी चिन्तन-धारा भी सक्रिय हुई। अपने भीतर ही उसने विचार शुरू किया पहले कि क्या उस 'मैं' के कहने में कोई सच्चाई है? क्या मनुष्य तन संसार के काम भोग भोगने के लिये ही मिला है अथवा चार गति चौरासी लाख योनियों की यह दुर्लभ प्राप्ति, धर्म का साधन बनने के लिये बड़े पुण्योदय से मिली है? यह पुकारने वाला 'मैं ' क्या अलग है और क्या 'मैं' अलग हूँ? यदि हम दोनों एक हैं तो वह मेरे से बहक कर अलग क्यों रह गया है? क्या मेरा यह कर्त्तव्य नहीं है कि पहले तो मैं ही स्थिर बना रहूं और फिर उस 'मैं' को भी अपने में मिला लूं? हम दोनों एक ही तो हैं—वह बहका हुआ भाग और मैं सधा हुआ भाग। ज्यों-ज्यों ये प्रश्न दूसरे 'मैं' को मथने लगे, उसका चिन्तन पुष्ट होता गया। तब उसने अपनी चुप्पी तोड़ी। वह स्नेह भाव से मधुर स्वर में बोला-भाई, तुम मुझे पुकार रहे हो—यह दोहरी भूल कर रहे हो। एक तो तुम खुद पदार्थ-मोह और काम भोगों में पागल बन गये हो तो मुझे भी पतित बनने का आह्वान कर रहे हो। तुम सोचो कि क्या तुम सही जगह पर खड़े हो? क्या तुम्हें अपनी जगह से कुछ भी दिखाई दे रहा है? जब घटाटोप अंधकार में खड़े हो तो भला तुम्हें कुछ भी दिखाई थोड़े ही दे रहा होगा? देखते नहीं, मैं प्रकाश में खड़ा हूं —मेरी सम्यक्त्व की पवित्र जगह है और तुम मिथ्यात्व के अंधेरे में अपने आपसे विस्मृत हो। यों मानो कि तुम अंधे हो और मैं दृष्टिवान्। इसलिये अच्छा होगा कि तुम ही

मेरे पास चले आओ। तुम को और कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा होगा किन्तु मैं अवश्य दिखाई दे रहा होऊंगा क्योंकि मैं सम्यक्त्व के प्रकाश से आवृत्त हूँ। नजर उठाओ मेरी तरफ और चलना शुरू कर दो। उस जिनवाणी से विपरीत होने से अन्धकार में है। और मैं जिनवाणी के अनुकूल श्रद्धा आदि वाला होने से प्रकाश में हूँ।

अब पहले 'मैं' के चुप हो जाने की बारी आ गई थी। वह सोच में पड़ गया कि क्या वह सही है या दूसरा 'मैं' सही कह रहा है? उसने महसूस किया कि वह अंधेरे में खड़ा है। हकीकत में उसको कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा है, लेकिन वह इस दूसरे 'मैं' को देख पा रहा है—ऐसा क्यों है? क्या प्रकाश उसके पास है और वह सिर्फ अंधेरा भोग रहा है? उसने महसूस किया कि उसके पांव लड़खड़ाने लगे हैं और उसका सारा शरीर कांपने लगा है। वह लज्जा के मारे जमीन में गड़ने लगा लेकिन यह सोचकर कुछ राहत पाने लगा कि अंधेरे के कारण उसकी लज्जा दूसरे 'मैं' से छिपी हुई है। उसका मुंह खुल नहीं पाया और वह चुपचाप ही खड़ा रहा।

तब दूसरे 'मैं' ने उत्साहित होकर—कहा इसमें लज्जा की कोई बात नहीं है, यदि तुम अंधकारपूर्ण मिथ्याव को पहिचान लो। देखो, मेरी आवाज सुनो और जागृति की अंगड़ाई लो। तुम अपने चेतन स्वरूप को भूल गये हो और जड़ तत्त्व को अपना मान बैठे हो, इसी कारण संसार के झूठे सुखों की खोखली पैरवी कर रहे हो। तुम नहीं देख रहे हो कि पदार्थ-मोह से जड़ग्रस्त होकर पापों के पंक में गहराई तक डूब जाने की तुम तैयारी कर रहे हो। सुनो, मैं तुम्हें तुम्हारी विकृति का भान कराता हूँ जिससे तुम अपने निज के सुख तथा जड़ पदार्थों के सुख में भेद कर सको और पापों के क्षेत्र से बाहर निकल कर बहुमुखी शुभता से अपने स्वरूप को उज्ज्वल बना सको।

पहला 'मैं' स्तब्ध था और था हतप्रभ। वह बोला कुछ नहीं, मगर उसने आंखों ही आंखों संकेत दिया कि वह पापों को त्याग कर मिथ्यात्व के अंधेरे से वाकई बाहर निकल जाना चाहता है और सम्यक्त्व का प्रकाश आत्मसात् कर लेने को उत्सुक है। दूसरे 'मैं' ने तब घोर गंभीर वाणी में उद्बोधन दिया—मेरे भाई, ये पापपूर्ण क्रियाएँ पाप-कर्मों का बंध कराती हैं और फल, बंध व उदय के चक्र में पाप से पाप बढ़ता जाता है। इस कारण पापों के क्षेत्र को छोड़ो, अठारह पापों से क्रमशः कठिन संघर्ष करो और अपने मूल गुणों को अपनाकर अपना वास्तविक विकास साधो।

दूसरे 'मैं' का उद्बोधन प्रेरणा के प्रवाह में बहने लगा—अपने झूठे सांसारिक सुखों के लोभ में अथवा उनकी प्राप्ति या रखवाली में जब भी तुम्हारी वृत्ति हिंसा की तरफ आगे बढ़े तो तुम अपने आपको रोको, प्रमादवश किसी भी प्राणी के प्राणों को कष्टित बनाने के लिये आगे मत बढ़ो और हिंसा का सामना अपनी अहिंसा वृत्ति से करो। अहिंसा का अस्त्र तब हिंसा को दूर भगा देगा और तुम अन्य प्राणियों के प्रति करुणा, सहानुभूति एवं सहयोगिता से भर उठोगे। जब झूठ किसी भी स्वार्थ या कारण से तुम्हारे मन में उतरने लगे और जीवन पर चढ़ने लगे तो उसको दूर धक्का दे दो। उस समय सत्य का स्मरण करो और सत्य को अपनी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में रमा लो। मृषावाद दूर भाग जायगा। जब तुम अपनी अनन्त इच्छाओं के कुप्रभाव से दूसरों की प्राप्तियों को चुराना या छीनना चाहो तो अचौर्य की भावना से अभिभूत बन जाओ और विचारो कि मुझे किसी भी दूसरे प्राणी को गुलाम नहीं बनाना है, किसी के भव्य हितों को आघात नहीं पहुंचाना है बल्कि दूसरों की पीड़ाओं को दूर करने के लिये मुझे कार्यरत होना है। तब तुम शोषण या अकार्य नहीं करोगे। जब तुम्हारे सामने सुन्दर कामातुर रमणियां आवे और काम भोगों का न्यौता देने लगे तब तुम फिसलो मत, ब्रह्मचर्य का

ध्यान करो और अपने को कुशील सेवन से बचालो। सब रमणियाँ तुम्हें अपनी माता और बहिनों के समान दिखाई देगी। जब तुम्हें परिग्रह की मूर्छा सताने लगे और सोने-चांदी या सत्ता-सम्पत्ति की विपुलता ललचाने लगे तो तुम मूर्छा को त्याग दो, अपनी आवश्यकताओं की न्यूनतम मर्यादाएं बांध लो और परिग्रह को मिट्टी के ढेले की तरह मान लो, तब मूर्छा और मोह तुम्हारा साथ छोड़ देंगे, तुम निस्पृह बन जाओगे।

दूसरा 'मैं' कहता जा रहा था और पहला 'मैं' भावाभिभूत बना उस प्रबोधन को तन्मयतापूर्वक सुन रहा था—जब तुम्हें क्रोध आवे, शान्त हो जाओ और उसे बाहर प्रकट मत होने दो, क्षमा के शीतल जल से क्रोध की अग्नि को तत्क्षण बुझा दो। जब मान तुम्हारी गर्दन और तुम्हारे तन को तनाव दे दे तो तुम विनम्र बन जाओ और नम्रता से मान को जीत लो। माया जब तुम्हें प्रपंच रचने की कुटिल सलाह दे तब तुम उसे ठुकरा दो और अपने हितों को सरलता से सुलझा लो। लोभ के तो तुम पास में भी मत फटको और लाभ के जंजाल में मत पड़ो अपनी सन्तोष वृत्ति से इस जंजाल का एक-एक ताना बाना तोड़ दो। अपने सम्बन्धो या पदार्थों पर जब राग वृत्ति उमड़ने लगे तो वैराग्य भाव लाकर सोचो कि यह राग मेरा नहीं है, मेरा तो वैराग्य और वीतराग भाव है जिसकी आराधना से ही मेरे विकास का मार्ग निष्कंटक बन सकेगा। द्वेष को भी तुरन्त दबा दो क्योंकि द्वेष प्रतिशोध के लिये उतारू बनाता है। द्वेष की जगह सब पर अपने स्नेह की छाया तान दो। किसी भी कारण से किसी के भी साथ कलह मत करो—उसके स्थान पर सम्प और एकता बनाओ। तब सबके स्नेह से तुम आप्लावित हो जाओगे। किसी पर झूठा कलंक मत लगाओ, किसी की चुगली मत खाओ और किसी की निन्दा मत करो। अन्दर-बाहर को दोगला मत रखो। एक वृत्ति बना लो ताकि कपट सहित झूठ बोलना भी छोड़ दो। और सबसे बड़ी बात है कि कुदेव पर श्रद्धा मत करो, कुगुरु के कहने पर मत चलो एवं कुधर्म की प्रवृत्तियाँ मत अपनाओ। देव के गुणों को समझो, परीक्षा करो और सुदेव को अपनी श्रद्धा का केन्द्र बनाओ। गुरु के आत्म-विकास को परखो और सुगुरु की आज्ञा में चलो। धर्म के लक्षणों का अध्ययन करो, सुधर्म के सिद्धान्तों के मर्म को हृदयंगम करो तथा उसके निर्देशों का पालन करो। इस प्रकार सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म पर श्रद्धा करते हुए मिथ्यात्व के अंधकार से बाहर निकलो तथा सम्यक्त्व के प्रकाश में पग धरो मेरे भाई!

इतना कहकर दूसरा 'मैं' चुप हो गया और पहले 'मैं' पर अपने कहने की प्रतिक्रिया देखने लगा। तब तक पहले 'मैं' का कदम आगे उठ चुका था और उसने दूसरे 'मैं' की तरफ चलना शुरू कर दिया था। थोड़ी ही देर में दोनों 'मैं' गले मिल गये और सम्यक्त्व के प्रकाश में एकमेक बन गये।

यह 'मैं' एकीभूत हो गया था, विचारों के द्वन्द्व से उबर कर समझ गया था कि मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान तथा मिथ्या आचरण मेरा नहीं है। ये तो पर पदार्थों के प्रति मोह के कारण और पाप कार्यों के आचरण के कारण मेरे स्वरूप के साथ लिपट गये थे। अब मैंने अलग हो जाने के लिये कदम बढ़ा लिया है तो मैं मिथ्यात्व को पूरी तरह त्याग कर सम्यक्त्व के आलोक में आगे बढ़ूंगा।

मेरे मन का एक तथ्य और बता दूं कि एक ही संघर्ष में मैं मिथ्यात्व पर पूर्ण विजय नहीं पा सका था। बार-बार यह द्वन्द्व मेरे भीतर उठता है किन्तु मेरा दूसरा 'मैं' बल पकड़ता जा रहा है, इस कारण पहले 'मैं' के बहक जाने पर वह पुनः पुनः उसे समझाता है और अपने में मिलाकर साधना के पथ पर प्रगति करता रहता है।

मिथ्यात्व-सम्यक्त्व का ऐसा संघर्ष मेरे भीतर निरन्तर चल रहा है —प्रत्येक क्रिया पर चलता है, कभी उग्र होता है तो कभी मन्द, किन्तु सन्तोष का विषय यही है कि मैं प्रबुद्ध हूँ, सदा जागृत हूँ।

समग्र आत्माओं की एकरूपता

मैंने इस सम्पूर्ण विश्लेषण से ज्ञान किया है कि संसार में परिभ्रमण करने वाली समग्र आत्माओं में अपने मूल गुणों की दृष्टि से एकरूपता विद्यमान हैं जैसी कि सिद्धात्माओं की एकरूपता है। यह एकरूपता है—यह एक सत्य है।

सत्य तो है किन्तु आवश्यकता इस बात की भी है कि मैं समग्र आत्माओं की इस एकरूपता को मानूं। होने के साथ अगर मानना नहीं हो तो अभिवांछित व्यवहार का निर्माण नहीं हो सकता है। जब मैं हृदय से इस एकरूपता को स्वीकार करता हूं तो मेरा आचरण इसी स्वीकृति पर आधारित होगा।

मैं तभी यह सोच पाऊंगा कि मैं दुःख नहीं चाहता और सुख चाहता हूं, उसी प्रकार सभी प्राणी दुःख नहीं चाहते, सुख चाहते हैं तो मैं अपने प्रत्येक क्रिया-कलाप में इस बात का ध्यान रखूंगा कि मैं अपनी तरफ से किसी भी प्राणी को दुःख नहीं दूं और अपनी शक्ति के अनुसार उनके दुःख दूर करूं एवं उन्हें सुख देने का प्रयास करूं। मेरी यह मान्यता मेरे आचरण में उतर कर सामाजिक व्यवहार में एक मूल्य की स्थापना करेगी। तब यह स्पष्ट होगा कि सबके साथ समतापूर्ण व्यवहार एक सामाजिक मूल्य है और इसको ही आधार मान कर सभी प्राणियों को अपना पारस्परिक व्यवहार सुनिश्चित करना चाहिये। तभी सामाजिक जीवन में अहिंसा प्रवेश पा सकेगी, क्योंकि सभी इस वस्तुस्थिति को मान लेंगे कि किसी भी प्राणी के प्राणों को दुःखित करना हिंसा है तथा प्रत्येक प्राणी के प्राणों की रक्षा करना अहिंसा है। अहिंसा-पूर्ण व्यवहार के साथ ही इस आत्मीय भावना का विकास होगा कि जीओ और जीने दो।

यहाँ पर मैं इस तथ्य को हृदयंगम करना चाहूंगा कि यद्यपि व्यक्ति-व्यक्ति के संगठन से ही समाज का निर्माण होता है फिर भी व्यक्ति की शक्ति से भी ऊपर एक सामाजिक शक्ति का भी निर्माण हो जाता है। अहिंसापूर्ण आचरण से प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रत्येक साथी तथा अन्य प्राणी के प्रति अपने हार्दिक सहयोग से सम्बन्धित होगा तो सम्पूर्ण सामाजिक आचरण को भी इस रूप में ढालेगा कि वह सामाजिक शक्ति सबको आगे बढ़ाने में सहायक बने। व्यक्ति अपने स्तर पर कार्य करता है तो इस सामाजिक शक्ति का कार्य सभी प्राणियों को आधार मान कर सामूहिक हित के रूप में संचालित होता है।

मैं यों मानता हूं कि तब समाज और व्यक्ति एक सामूहिक शक्ति के ऐसे दो छोर बन जाते हैं जो दोनों ओर से प्राणियों को अपने व्यवहार में विकास लाने की प्रेरणा देते हैं। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत प्रयासों में संलग्न होता है तो सामाजिक शक्ति के द्वारा सर्वत्र ऐसे वातावरण का विकास किया जाता है जिसमें व्यक्ति के अपने विकास के प्रयत्न अधिक सुविधा से सफल बन सकते हैं। इसे इस तरह समझें कि व्यक्ति अपने प्रयासों में अपने पांवों की शक्ति को सुदृढ बनाता है ताकि यह सुस्थिर गति से चल सके तो सामाजिक प्रयासों का यह लक्ष्य होना चाहिये कि उनके द्वारा ऊबड़-खाबड़ व कांटों भरे धरातल को समतल और साफ बनाया जाय। यदि धरातल कठिनाइयों से भरा हुआ ही रहे तो व्यक्तियों को अपनी गति बनाने में बहुत ज्यादा शक्ति का व्यय करना पड़ेगा और हो सकता है कि उस परिस्थिति में कई कम शक्ति वाले व्यक्ति अपनी चाल को ठीक नहीं कर पावें और उनके विकास

का क्रम टूट जाय। किन्तु जब सामाजिक शक्ति के प्रयोग से सुन्दर धरातल का निर्माण हो जाय तो शक्ति के ऊंचे-नीचे स्तरों पर रहे हुए व्यक्तियों को भी चलना आसान हो जायगा। वर्तमान वातावरण की दृष्टि से मैं इसको इस रूप में भी समझ सकता हूं कि अपने नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रयासों से व्यक्ति समाज में फैली हुई आर्थिक विषमता को दूर करने की दिशा में कार्यरत होता है, उस समय सामाजिक प्रयासों के रूप में समाजवाद, साम्यवाद या ऐसी ही किसी विचारधारा का प्रयोग किया जाता है तो वह विषमता अधिक आसानी से दूर की जा सकती है। अतः इस दृष्टि से समग्र आत्माओं में एकरूपता की मान्यता समाज और व्यक्ति में अधिक समरसता उत्पन्न कर सकती है।

दूसरा सूत्र और मेरा संकल्प

मैंने इस दूसरे सूत्र के संदर्भ में यह जान लिया है कि मैं प्रबुद्ध और सदा जागृत हूँ। मेरा 'मैं' स्वयं अपना ज्ञाता है और इसी कारण वह सदा जागृत रह सकता है। जो अपने को जान लेता है, वह सबको जान लेता है तथा जो सबको जान लेता है, वह अपने को भी जान लेता है। स्वरूप ज्ञान ही वास्तव में विश्व-ज्ञान होता है। स्वरूप दर्शन ही जगत्-दर्शन है। इस कारण मैं सोच लेता हूं कि इस संसार में मेरा अपना क्या है तथा क्या मेरा नहीं है। जीव और अजीव की युति में अपने निज के स्वरूप को मैं समझ लेता हूँ और जड़ तत्त्व को समझ कर उससे सम्बन्ध त्यागने के सारे यत्न आरंभ कर देता हूँ। इस दृष्टि से एक ओर मैं पदार्थ-मोह को छोड़ता हूँ और अपने शरीर पर से भी ममता हटाता हूं तो दूसरी ओर पदार्थ-मोह के कारण पैदा होने वाली अपनी विकार वृत्तियों को भी मैं परिमार्जित, संशोधित एवं संशुद्ध बनाता हूँ। ये ही वे यत्न हैं जिनके कारण मैं मानता हूं कि मेरा आत्म-स्वरूप उज्ज्वल बनेगा तथा मेरी आत्मा मुक्ति के गंतव्य की दिशा में आगे बढ़ेगी।

अतः मैं संकल्प लेता हूँ कि संसार के जड़ पदार्थों को मैं कभी अपने नहीं मानूंगा। अपने ही शरीर को भी अपना नहीं मानूंगा। नहीं मानने के साथ ही मैं इन पर से अपना ममत्व भी घटाते हुए नष्ट कर दूंगा। मोहग्रस्तता से उत्पन्न मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या ज्ञान तथा मिथ्या आचरण को भी मैं अपना नहीं मानूंगा तथा सम्पूर्ण मिथ्यात्व के अंधकार से बाहर निकलूंगा एवं अपने मन, वचन एवं कर्म की क्रियाओं के कारण पुनः उस अंधकार में नहीं जाऊंगा।

मैं संकल्प लेता हूं कि पर-पदार्थों के प्रति उपजे अपने प्रगाढ़ मोह को अपनी साधना के अभ्यास से समाप्त करके एवं पाप कार्यों से शनैः शनैः ही सही पीछे हटकर मैं सम्यक्त्व के आलोक में पग धरूंगा तथा सदा सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् आचरण से अनुप्राणित रहूंगा। मैं अपने सम्यक्त्व की अवधारणा को नवतत्त्व के ज्ञान पर आधारित रखूंगा ताकि वह कभी डगमगायगी नहीं। सम्यक्त्व को परिपुष्ट बनाने की प्रक्रिया में मैं सदैव आत्म-नियंत्रण आत्मालोचना तथा आत्म-समीक्षण की पद्धति को अपनाऊंगा ताकि मेरी आत्मा के मूल गुण प्रकट होते रहें और वह अपने विशुद्ध स्वरूप के प्रति निष्ठा धारण कर ले।

मेरा यह संकल्प होगा कि मैं स्वयं के आत्म-विकास को साधता हुआ संसार की समग्र आत्माओं के विकास में कार्यरत बनूंगा जिसके कारण मेरा आत्म-विकास भी संपुष्ट बन सकेगा। मैं आत्म विसर्जन की उस भूमिका तक बढ़ चलूंगा जहां संसार की समस्त आत्माओं में एकरूपता के दर्शन होते हैं।

अध्याय चार

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : ३ :

मैं विज्ञाता हूँ, द्रष्टा हूँ!

मुझे सोचना है कि मुझे किन पर श्रद्धा रखनी है

और कौनसे सिद्धान्त अपनाने हैं?

मेरी दृष्टि लक्ष्याभिमुखी होते ही जान लेगी कि मैं सत्य श्रद्धा एवं श्रेष्ठ सिद्धान्तों से कितना दूर हूँ? मैं सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म पर अविचल श्रद्धा रखूंगा, श्रावकत्व एवं साधुत्व के पालन में सत्सिद्धान्तों के आधार पर अपना समस्त आचरण ढालूँगा और ज्ञान व क्रिया के संयोग से निर्विकारी बनने में यत्नरत हो जाऊंगा।

सूत्र तीसरा

मैं विज्ञाता हूँ, क्योंकि ज्ञान और विज्ञान का महासागर मेरे भीतर तरंगित हो रहा है। ऐसा महासागर जिसमें अनन्त सीपियाँ अपने मुंह बंद किये विश्राम कर रही हैं। उनमें अनन्त मोती हैं परन्तु बन्द हैं। ये ज्ञान विज्ञान के मोती-अमूल्य मोती हैं।

परन्तु प्रश्न यह है कि क्या मैं इस रहस्य को जानता हूँ या इस रहस्य से मैं अभी तक अनभिज्ञ ही हूँ? इस अवसर पर मुझे एक कथा याद आ रही है। एक हीरों की खान थी बिना खोदी हुई। कोई नहीं जानता था कि इस छोटी सी टेकरी के नीचे बहुमूल्य हीरे दबे पड़े हैं। एक महात्मा ही उसे जानता था जो टेकरी पर बैठा हुआ था। उस ओर से एक आदमी गुजर रहा था, महात्मा ने उसे बुलाया और कहा—भद्र, यहाँ आओ और यहाँ से भूमि को खोदो —नीचे हीरों की खान है। एक ही प्रयत्न में तुम्हारा जन्म-जन्मों का दारिद्र्य समाप्त हो जायेगा। उस आदमी ने जैसे सुना ही नहीं और यह कहते हुए आगे चला गया कि क्यों राह से गुजरने वालों को पागल बनाते हो? यदि तुम कहते हो, वैसा ही है तो तुम ही क्यों नहीं खोद लेते हो?

थोड़ी देर बाद एक दूसरा आदमी वहाँ से निकला। उसे भी महात्मा ने वही बात कही। उसने महात्मा की बात ध्यान से सुनी और अपना उत्साह भी प्रकट किया। महात्मा ने उसे एक कुदाली भी दे दी। वह उस टेकरी को खोदने लगा। कुछ मिट्टी खोदकर वह खड़ा हो गया। तब महात्मा ने कहा—भद्र, अभी तो बहुत खोदना होगा। हीरे बहुत गहराई में पड़े हुए हैं। उसने अपने माथे से पसीना पोंछा और आलस्य से बोला —मैं तो बुरी तरह से थक गया हूँ। कौन जाने, आप सच कह रहे हैं? फिर एक अविश्वास भरी नजर महात्मा पर फेंकी और धीरे धीरे वहाँ से चला गया।

फिर आया तीसरा आदमी। उसके चेहरे पर ओज झलक रहा था। महात्मा ने उससे भी वही बात कही। वह रुक गया और महात्मा को उसने नमस्कार किया, फिर बोला—आपने मुझे अपूर्व जानकारी दी है इसके लिए मैं आपका कृतज्ञ हूँ। तब उसने महात्मा के पैर छुए और कुदाली हाथ में पकड़ ली। वह खोदता गया, खोदता चला गया बिना रुके, बिना अश्रद्धा बताये और बिना थकान दिखाये। महात्मा मुस्कराते जा रहे थे और वह जैसे उस मुस्कराहट से अधिकाधिक ऊर्जा ग्रहण करते हुए अथक परिश्रम करता चला जा रहा था। परिश्रम पुरुषार्थ में और पुरुषार्थ पराक्रम में बदलता गया। जब पराक्रम परम ओजस्वी बन जाय तो कौनसा ऐसा लक्ष्य होगा जो लक्षी के चरणों में न आ गिरे? उसका पराक्रम सफल हो गया। बहुमूल्य हीरे चरणों पर लोट गये।

महात्मा ने तीनों को एक सा ज्ञान दिया। एक ने विश्वास ही नहीं किया। दूसरे ने विश्वास किया पर छिछला और क्षुद्र कि वह जल्दी ही उखड़ गया। प्रमाद ने उसे आ घेरा और वह क्लान्त हो उठा। लेकिन तीसरे ने उस ज्ञान के प्रति गहरा विश्वास किया और परिश्रम में जुट गया। यदि वह भी हीरों की बात जान कर उसे मानता नहीं और मानकर उन्हें निकाल लेने का पुरुषार्थ नहीं करता तो क्या वह हीरों को प्राप्त कर सकता था?

मैं भी विज्ञाता हूँ क्योंकि वीतराग देवों का ज्ञान मुझे आचार्य परम्परा से मिला है किन्तु मुझे देखना है कि विज्ञाता होकर भी मैं क्या कर रहा हूँ?

मैं दृष्टा भी हूँ क्योंकि मुझे अपने आप को देखने की अभिलाषा है। यह जानना और देखना ही मुझे प्रेरित कर सकेगा कि मुझे जो ज्ञान लाभ मिला है उसे मैं अपने सम्पूर्ण हृदय से मानता हूँ या नहीं? क्योंकि मेरा उसे मानना ही मुझे उसके लिए करने की अनुप्रेरणा दे सकेगा।

मैं विज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ। मैं जान गया हूँ कि मेरे भीतर ज्ञान और विज्ञान का महासागर तरंगित हो रहा है, उसमें अनन्त सीपियाँ अपना मुंह बन्द किये पड़ी हैं तथा उनमें अनन्त अमूल्य मोती भरे हुए हैं। और मैं यह सब देख भी रहा हूँ और यह भी देख रहा हूँ कि मैं उन अमूल्य मोतियों को पाने के लिए क्या कुछ पुरुषार्थ कर रहा हूँ। मैं यह भी देख रहा हूँ कि क्या मेरा पुरुषार्थ उन अमूल्य मोतियों को निकाल लाने के कठिन लक्ष्य के अनुकूल भी है या नहीं? इस ओर मुझे अभी बहुत गहराई से देखना है ताकि मैं अपने पुरुषार्थ को सक्रिय बना सकूं। उस कठिन लक्ष्य के अनुकूल अधिक सक्रिय बन सकूं।

आत्मा का ज्ञाता व दृष्टाभाव

मैं विज्ञाता हूँ, द्रष्टा हूँ, इस कारण मैं ज्ञान का स्मरण करता हूँ, विशेष ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करता हूँ और उस ज्ञान के प्रकाश में अपने आचरण की सक्षमता का मूल्यांकन करना चाहता हूँ। क्योंकि मूल्यांकन की इस कसौटी पर कसा जाकर ही मेरे ज्ञान-विज्ञान का मापदंड स्थापित होगा कि वह हीरों की खान खोदने के लक्ष्य के प्रति चलने वाले तीसरे आदमी जैसा है जिसने ज्ञान लेने के साथ ही अपना अटल विश्वास दिखाया, विश्वास के सम्बल से अथक पुरुषार्थ किया और सफलता को अपनी बाहों में भर ली।

मेरे भीतर में सवाल उठता है कि यह मूल्यांकन करेगा कौन? मेरा 'मैं' जान गया है कि साध्य क्या है और उसे किन साधनों से प्राप्त किया जा सकेगा और समझिये कि वह उन साध्य-साधनों को मान भी गया है तथा कुदाली उसने अपने हाथ में पकड़ भी ली है, लेकिन वह कुदाली चलायेगा। इसे कौन देखेगा कि 'मैं' स्वयं उस कुदाली को कितने वेग से चला रहा हूँ और जमीन किस कदर खुद रही है? कौन करेगा उसके पुरुषार्थ का मूल्यांकन?

मेरे 'मैं' के भीतर तब एक जिज्ञासा जागती है। उसकी अन्दर की आंख जैसे अन्दर ही खुल पड़ती है। वह अपने को ही अपनी आंख से देखता है और उसके अन्दर एक बिजली सी कौंध जाती है। अरे, यह तो मैं ही मैं को देख रहा हूँ—फिर समस्या कहाँ रह जाती है? मेरी करनी को मैं ही देखूंगा—मेरे पुरुषार्थ का मैं ही मूल्यांकन करूंगा। क्योंकि मैं ही मेरा दृष्टा भी हूँ।

तब मेरी आन्तरिकता के कपाट खुलते है कि मैं विज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ। मेरा विज्ञान अपनी किरणें फैंकने लगा है और मेरे भीतर की आंख चारों ओर देखने लगी है। यह 'चारों ओर' बाहर का चारों ओर नहीं, भीतर का चारों ओर है, जिसे चर्म चक्षु नहीं, भीतर के 'ज्ञान चक्षु ही देख सकते हैं। ये ज्ञान चक्षु भीतर ही भीतर देखते हैं, किन्तु भीतर का विश्व इतना विराट् है कि वे देखते चले जाते हैं—देखते चले जाते हैं फिर भी क्षितिज के समीप नहीं पहुँच पाते हैं। क्षितिज विस्तीर्ण से विस्तीर्ण होता हुआ दिखाई देता है। यह विराट् विश्व ही मेरे 'मैं' का अन्तर्जगत् है — आत्मा का अन्तर्जगत है।

मुझे इस अन्तर्जगत् को थोड़ा-थोड़ा करते हुए भी सम्पूर्ण रूप से देखना है, तभी मेरा दृष्टा-भाव सिद्ध हो सकेगा। जब मैं को ही मैं पूरी तरह से जानूंगा—मैं को ही मैं पूरी तरह देखूंगा, तभी मैं पूरी तरह से विज्ञाता बनूंगा दृष्टा बनूंगा। अभी तो मेरे विज्ञाता और दृष्टा-भाव का पहला ही चरण उठा है, अभी मुझे अपने विज्ञान और अपनी दृष्टि की कई मंजिलें पार करनी हैं।

इस दृष्टि से मैं अपना अभ्यास बना रहा हूँ कि मैं जानूं, जितना जान सकूं उससे और अधिक जानने की पिपासा जागृत करता रहूं। मैं जानूं जो वीतराग देवों ने अपने स्वानुभव के बाद कहा है और मैं उसे जानूं अपने ही जीवन के क्रिया-कलापों तथा उनके परिणामों से। चेष्टा यह हो कि मैं जानता रहूं, अपने बाहर के और भीतर के नैत्र हमेशा खुले रखूं। और जो जानता जाऊं उसे अपने देखने की कसौटी पर कसता जाऊं। जानूं भीतर बाहर से लेकिन देखूं भीतर से अपने ज्ञान चक्षु से, क्योंकि मूल्यांकन वहीं होगा और वहीं से उसके परिणाम का पता चलेगा तो वहीं से आगे के लिए यथोचित निर्देश भी मिलेगा। मेरा यह अभ्यास चलता रहे जिसके चलते रहने से ही मेरा आचरण ढलता रहेगा, सुधरता रहेगा और निखरता रहेगा। जानने और देखने की प्रक्रियाएँ क्रमानुसार चलती रहेगी और मेरे भीतर के प्रकाश एवं सामर्थ्य को बढ़ाती रहेगी।

मैं जानूंगा तो देखूंगा और देखूंगा तो करूंगा, लेकिन करने को भी देखता रहूंगा और जानता रहूंगा कि मैं क्या कर रहा हूँ, कैसा कर रहा हूँ तथा जो कर रहा हूँ —सही कर रहा हूँ या नहीं और सही नहीं कर रहा हूं तो उस करने को सही कैसे बनाऊं? इसके लिए सही क्या है—यह मुझे अपने देखने से भी जानना पड़ेगा तो वीतराग देवों ने जो देखा और किया है उसको जान कर भी जानना पड़ेगा। मैं जिसे सही जानूंगा उसको मन से भी सही मानूंगा। इस तरह जान और मान लेने के बाद करने का काम मुख्य बन जायेगा, फिर भी उस करने को भी मुझे हमेशा देखते और जानते रहना होगा। और इसी रूप में मेरा यानी कि मेरी आत्मा का विज्ञाता भाव और द्रष्टा भाव सतत जागृत बना रहेगा।

मैं अपने ही ज्ञान और विज्ञान के असीम कोष के कपाट कितने खोल पाता हूँ—यह मेरे अपने ही पुरुषार्थ पर निर्भर है परन्तु यह सत्य तो मेरे गले उतर ही जाना चाहिये कि मेरा ज्ञान कोष अपार है और मेरी दृष्टि अनन्त है। अभी मैं जितना जानता हूँ या जितना देख पाता हूँ, वह उस महासागर की एक बूंद भी नहीं है। तो मुझे समझना होगा कि मेरे आत्म-विकास की महायात्रा कितनी दीर्घ, कितनी कठिन और कितनी श्रमसाध्य हो सकती है? किन्तु मुझे सत्संकल्प करना होगा कि मैं अपनी इस महायात्रा का उत्साहजनक श्रीगणेश भी करूं तो तीव्रगति के साथ उसे सम्पूर्ण करने के लिए निरन्तर आगे से आगे भी बढ़ता चलूं।

तर्क और आस्था का अन्तर

मैं जानता हूँ कि मैं विज्ञाता हूँ और मेरा यह जानना भी मेरे विज्ञाता होने का ही प्रमाण है। किन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि मुझे विज्ञाता बनने के लिये अभी बहुत-बहुत जानना है। अगर मैं मात्र अपने ही प्रयासों से इस जानने के पूरे क्षेत्र की यात्रा करना चाहूंगा तो हो सकता है कि मुझे कई वर्ष ही नहीं, अपने कई जन्म भी पूरे कर देने पड़ें।

क्या कोई ऐसा उपाय नहीं कि मैं कम से कम समय में अधिक से अधिक जान सकूं? मैं अपनी आत्मा के विकास की महायात्रा पर हूँ यह सही है, किन्तु अनन्त आत्माओं ने अब तक

अपना आत्म-विकास सिद्ध भी किया है और वे अपने चरण चिह्न छोड़ गये हैं—ऐसे चरण चिह्न जो ज्ञान-विज्ञान और दृष्टि की उनकी परिपूर्णता सिद्ध हो जाने के बाद अंकित हुए हैं। वे चरण चिह्न ही हमें उनका वह अपार ज्ञान कोष और उनकी असीम दृष्टि बताते हैं जिन्हें हम अपने ज्ञान व दृष्टि के वर्तमान विकास के स्तर से ग्रहण कर सकते हैं। जितना नवनीत हम वहाँ से ले लें, उतना दूध हमें कम जमाना पड़ेगा—बिलौना कम करना पड़ेगा। सच तो यह है कि हमें दूध से मक्खन निकालने का श्रम ही न करना पड़े, यदि हम आत्मविकास के सम्पूर्ण विज्ञान का उन चरण चिह्नों से सम्यक् अनुसरण कर लें।

लम्बे रास्ते को छोटा करने का यही श्रेष्ठ उपाय है, क्योंकि हम भी दूध जमायेंगे और खूब मथनी घुमायेंगे तो वही मक्खन निकलेगा जो हमें वीतराग देवों की आज्ञा के रूप में सीधा ही मिल रहा है। वह सिद्धान्त-सार हमारे सामने हैं, हम स्वतंत्र हैं कि उसकी विशेषताओं को हृदयंगम करें और उनको अपने आचरण में उतारें। लेकिन क्या हम उस सिद्धान्त-सार को यों ही अपने आचरण में उतार पायेंगे ?

यहीं आकर आस्था का प्रश्न खड़ा होता है। आस्था का प्रश्न सामने आते ही तर्क तन कर पूछता है —क्या आस्था आंख मींच कर की जाय ? आस्था आंख मींचकर करने का प्रश्न ही नहीं है—वह तो अन्धश्रद्धा कहलायेगी और अन्धश्रद्धा से कभी किसी का भला नहीं हो सकता है। आस्था आंखें खोलकर ही की जायगी, बल्कि हमारे सम्यक् ज्ञान और विवेक का जो भी स्तर हो, उस पर आस्था के विषय को खरा मानकर ही आस्था से ओतप्रोत होंगे।

तर्क एक प्रश्न और प्रस्तुत करता है और वह यह कि जब वीतराग देवों की आज्ञापालन करने की बात कही जाती है और उसके प्रति पूरी आस्था रखने की भी बात कही जाती है तो क्या यह चिन्तक आत्मा की विचार-स्वतंत्रता का हनन नहीं है ? और इसी प्रश्न का उत्तर खोजने में हमें आस्था और तर्क के अन्तर को भलीभांति समझ लेना चाहिए।

मैं बिना लागलपेट सोचता हूँ कि मेरा मन कब किसी की बात को मानना चाहता है ? यह सही है कि मैं किसी की बिना हाथ-पैर की बात कभी भी नहीं मानना चाहता हूँ। बात के हाथ-पैर होने चाहिए। क्या मतलब है इसका ? समझिये कि किसी ने आकर मुझे एक बात कही तो पहले मैं उस बात की संभावना पर सोचता हूं, फिर कहने वाले व्यक्ति की विश्वसनीयता पर। यदि दोनों बातें अनुकूल हैं तो मैं कहने वाले से तर्क करता हूँ—सीधा भी और उल्टा भी ताकि कहने वाले का जितना असत्य हो बाहर फूट जाय। इतना करने के बाद जब मेरा मन आश्वस्त हो जाता है, तब ही कहने वाले की बात को मैं मानता हूँ। मानने के बाद भी उस बात की सत्यता की अपने आचरण के माध्यम से बराबर जांच करता रहता हूँ।

इस सामान्य प्रक्रिया के माध्यम से मैं कहना यह चाहता हूँ कि मानव मात्र का स्वभाव अपने ज्ञान और विवेक के अनुसार किसी भी बात को मानने का ही होता है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य किसी भी तथ्य की पुष्टि के लिए पहला आश्रय तर्क का ही लेता है। तर्क का अर्थ होता है कि जैसी भी और जितनी भी बुद्धि उसके पास है, उसकी सहायता से सामने आई हुई बात की जांच-पड़ताल करना। तार्किकता मनुष्य का स्वभाव होता है और हठवाद से दूर एक सीमा तक यह स्वभाव सही काम करता है। किसी भी बात को आंख मींच कर मान लेने को बुद्धिमानी नहीं कहा जाता है। बुद्धि का माप तर्क से ही निकलता है।

किन्तु मेरा मानना है कि तर्क का उपयोग एक सीमा तक ही किया जा सकता है और इसके परिप्रेक्ष्य में इस प्रश्न का उत्तर खोजा जाना चाहिये कि क्या मनुष्य के द्वारा आज्ञापालन किये जाने को महत्त्व देना उसकी स्वतंत्रता का हनन नहीं है? यह साफ है कि तर्क का वाहन बुद्धि ही होता है और प्रत्येक की अपनी-अपनी बुद्धि के विकास के स्तर भिन्न-भिन्न होते हैं और यह भी सही है कि अपूर्ण व्यक्तियों की बुद्धि भी पूर्ण नहीं होती है। अपूर्ण बुद्धि वाले को तर्क के आधार पर पूर्ण समाधान मिल जाय—यह भी संभव नहीं है। तर्क की गति बुद्धि तक और बुद्धि की गति उस व्यक्ति के आत्म-विकास तक, फिर वह व्यक्ति उससे आगे किस आधार पर निर्णय ले—यह एक ज्वलंत प्रश्न उठ खड़ा होगा। या तो वह उस बिन्दु तक पहुँच कर अपनी गति को विराम दे दे या अनसोचे वातावरण में और अविचारित योजना के साथ अंधे जंगल में वह अपनी गति को मोड़ दे दे? क्या दोनों बातें सही होगी? गति का विराम भी गलत और विगति भी गलत। तब क्या किया जाय?

आगे भी प्रारंभिक आश्रय तो तर्क का ही लिया जायेगा। यह होगा व्यक्ति की विश्वसनीयता जांचने का तर्क। कल्पना करें कि एक व्यक्ति के साथ आपका बीसों बार काम पड़ा और हर बार उसकी बात पूरी सच निकली। उसके बाद उसकी बात की विश्वसनीयता आप कैसी मानेंगे? कहेंगे—तर्क की जरूरत नहीं है, हम उसे सही ही मानते हैं। यदि उसकी विश्वसनीयता की गहराई और अधिक हुई तो भले ही आप तार्किक हों पर इतना तक कह देंगे—आप क्यों टोकते हैं? मैं तो उसकी बात आंख मींच कर मानता हूँ।

इस बिन्दु पर मैं यह कहना चाहूंगा कि तर्क से जब हम सन्तुष्ट हो जाते हैं तब आस्थावान बन जाते हैं। फिर तर्क छोटा पड़ जाता है और आस्था बहुत बड़ी हो जाती है। उस वृहदाकार आस्था में कोई तर्क उठावे तो आप उसे बचकानापन ही मानेंगे।

तो प्रारंभिक तर्क से हम यह जानने का यत्न करते हैं कि उस व्यक्ति का भव्य स्वरूप कैसा हो सकता है जिसने अपनी आत्मा का पूर्ण विकास सिद्ध कर लिया हो। यह अध्ययन और तर्क का विषय होगा। ये कसौटियाँ वीतराग देव के स्वरूप पर कसकर जब आप सन्तुष्ट हो जायेंगे तब आप उनकी आज्ञा की वास्तविकता एवं सार्थकता के प्रति भी सन्तुष्ट हो जायेंगे। जिस विधि विधान पर उन्होंने अपनी सफल आत्मसाधना की और स्वानुभव से जो आनन्द उन्होंने प्राप्त किया, उसे ही उन्होंने सर्व जगत् कल्याण हित प्रकट कर दिया। यह प्रकटीकरण बिना किसी पक्षपात या भेदभाव के समान रूप से उन्होंने किया। उनकी आज्ञाएं ऐसी ही हैं जैसी कि सूरज की धूप होती है या चंदा की चांदनी। इन सब पर किसी का एकाधिकार नहीं होता यानी कि वे सबकी होती हैं और सबको सम्यक् ज्ञान, दर्शन व चारित्र की प्रेरणा देती है। अब प्रश्न है इन आज्ञाओं के प्रति आस्था का।

मैं विचारता हूँ कि तर्क और आस्था का अन्तर स्पष्ट हो गया है। तर्क निरूपयोगी नहीं होता और आस्था कभी अंधी नहीं होनी चाहिये। जहाँ तक मेरी बुद्धि और मेरा विवेक दौड़ सकता है, वहां तक मेरा विचार है कि मेरा तर्क भी दौड़ना चाहिए किन्तु अन्तर यही है कि तर्क के दौड़ने की सही सीमा मेरी अपनी बुद्धि और मेरे अपने विवेक से आगे बहुत कम रहती है। बस इतनी ही कि वह मोटे तौर पर विश्वसनीयता की समस्या को भली प्रकार से समझ ले और उसका सही समाधान निकाल ले। मैंने अनुभव किया है कि आस्था के आगे तर्क सदा ही झुकता आया है

क्योंकि आस्था की कोई सीमा नहीं होती—वह असीम बन सकती है। अतः आस्था की अनिवार्यता यह मानकर स्वीकार करनी होगी कि जहाँ तर्क की गति समाप्त हो जाती है, वहीं से आस्था की गति आरंभ होती है।

आस्था की अनिवार्यता

मैं इस विश्लेषण के साथ आज्ञापालन के महत्त्व तथा आस्था की अनिवार्यता के प्रश्न को सुलझाना चाहता हूँ। आज्ञापालन में मनुष्य की स्वतंत्रता का हनन होना तब माना जायगा, जब बुद्धि या तर्क से सुलझाई जा सकने वाली समस्याओं में भी आज्ञापालन को ही प्रथम और अन्तिम महत्त्व दिया जाय। किन्तु जहाँ बुद्धि की पहुँच न हो और जहाँ पहुँच कर तर्क भी थम जाय, ऐसे आध्यात्मिक रहस्यों के क्षेत्र में आत्मानुभवी एवं समतादर्शी महापुरुषों की आज्ञाओं का पालन एक साधक के लिये अपने आत्म-विकास का सबल माध्यम हो सकता है। कहा गया है कि संसार को जानने के लिये संशय अनिवार्य है और संशय तर्क को जन्म देता है किन्तु समाधि (आत्म-सुख) के लिये आस्था अनिवार्य है।

मैं अपने व्यावहारिक अनुभव का भी चिन्तन करता हूं तो लगता है कि वहाँ पर भी व्यक्ति की विश्वसनीयता का महत्त्व कम नहीं है। पूरा विश्वास उपज जाने पर अंधेपन से भी उस व्यक्ति का आश्रय ले लिया जाता है अपने गहरे विश्वास के कारण। फिर उन महापुरुषों की आज्ञाओं पर भला आस्था बलवती क्यों नहीं बनेगी, जिनकी आज्ञाएँ मूलतः और पूर्णतः मेरे ही व्यापक हित के लिये हैं। यह नहीं कि मैं उन आज्ञाओं को समझूं ही नहीं। नहीं समझूंगा तो उनका पालन ही कैसे करूंगा? लेकिन समझने के साथ अपनी गहरी आस्था को उनके साथ जोड़ूं, क्योंकि उनका वस्तुविषय कम से कम अभी मेरे लिये अगम्य है। किन्तु आस्था मजबूती से जुड़ेगी तो वह अगम्यता मेरे लिये बाधक नही बनेगी। बाधक क्या, मैं उस अगम्यता में भी साहस के साथ प्रवेश कर जाऊँगा, क्योंकि आस्था मेरा सुदृढ़ संबल हो जायगी।

कल्पना करें कि मैं बम्बई कभी नहीं गया, लेकिन मेरा एक विश्वसनीय मित्र कई बार वम्वई जा चुका था तो क्या मैं अपने उस मित्र का निर्देशन लेकर पहली बार ही सही मगर भरोसे से वम्वई नहीं जा सकता हूँ? निर्देशन हो या आज्ञा—अधिक अनुभवी पर विश्वास किया ही जाता है। यह सामान्य बात है। किन्तु गहन आध्यात्मिकता के क्षेत्र में तो आस्था ही मुख्य बात होगी। किसी स्थूल उपलब्धि की बात हो या सांसारिकता का विषय हो तो तर्क से ही काम चला सकते हैं। संसार की बातों में तो तर्क उचित भी रहता है क्योंकि तर्क के आधार पर नई-नई जानकारियां होती हैं। संसार के क्षेत्र में संशय हो या असन्तोष—उससे भौतिक विषयों का ज्ञान-विज्ञान बढ़ता है। यह स्थूल उपलब्धियों की बात है। किन्तु जहाँ अपने ही आत्मस्वरूप का ज्ञान करना है अथवा अपने भीतर अक्षय सुख की खोज करनी है तो इन सूक्ष्म विषयों में तर्क का कोई काम नहीं रहता। केवल आस्था का काम रहता है कि उन महापुरुषों की आज्ञा मानी जाय जिन्होंने स्वयं ने अपने आत्मस्वरूप को हस्तामलकवत् जाना है और अक्षय सुख से स्वयं को परमानन्द स्वरूप बना लिया है। आत्मानुभूति के क्षेत्र में आस्था की अनिवार्यता है।

मैं आत्मानुभूति के क्षेत्र को सुखानुभूति का क्षेत्र मानता हूँ। सांसारिक सुखों में सच्चाई नही होती—वे सुखाभास मात्र होते हैं। आत्मा का सुख ही सच्चा सुख होता है—ऐसा सुख जिससे

आन्तरिक समाधि प्राप्त होती है। आत्म समाधि के इस मार्ग पर चलने तथा लक्ष्य तक पहुँच जाने के लिये आत्मानुभवियों तथा समदर्शियों की आज्ञा का पालन अनिवार्य ही नहीं साधक का एक पावन कर्त्तव्य भी है। वीतराग देवों की आज्ञाओं का पालन करके ही आध्यात्मिक रहस्यों को जानने का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है और इन आज्ञाओं के साथ साधक की आस्था एकात्म रूप से जुड़ी हुई होनी ही चाहिये।

वीतराग देवों द्वारा दर्शित आध्यात्मिक साधना कोई सामान्य साधना नहीं, मूल्यों की साधना होती है और मूल्यों की साधना में मूल्यों के प्रति अमिट आस्था होनी चाहिये। मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि संसार के व्यवहार में मनुष्य कोई सत्कार्य भी प्रशंसा या यश प्राप्त करने के लिये अधिकांशतः करता है परन्तु उसकी इस भावना का दुष्परिणाम यह होता है कि यदि उसे वांछित प्रशंसा या कीर्ति नहीं मिलती है तो वह निराश होकर अपने सत्कार्यों को ही छोड़ देता है अथवा उसके सत्कार्य अपने 'सत्' गुण को त्याग देते हैं क्योंकि वह कैसा भी जोड़ तोड़ करके प्रशंसा या कीर्ति प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहता है। इस कारण मूल्यों के साधक के लिये प्रशंसा या कीर्ति की चाह करना निषिद्ध है। एक तो उसके इस असाधारण कार्य को सामान्य जन समझ नहीं पायेंगे तो दूसरे, प्रशंसा या कीर्ति की लालसा उसके कार्य की शुद्धता को बनाये नहीं रखेगी। इस कारण मूल्यों के साधक के लिये आस्था ही नौका हो और आस्था ही खिवैया। एक आस्थावान् साधक अपनी आस्था के सम्बल के साथ अपने को सर्वाधिक सुरक्षित मानता है। वैसा साधक तो अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में भी मूल्यों की साधना से अमिट आस्था के साथ जुड़ा हुआ रहता है।

मैं जान गया हूं कि मुझे भी यदि आत्मविकास की इस महायात्रा में विज्ञाता और दृष्टा बनना है तो आस्था का सम्बल लेना ही होगा। वह आस्था सम्यक् हो याने कि सम्यक् प्रतिमानों के प्रति हो। सम्यक् श्रद्धा होगी, तभी ज्ञान भी सम्यक् बनेगा और आचरण भी सम्यक्त्व स्वरूपी होगा।

मैं यह भी जान गया हूँ कि आत्मा के ज्ञाता और द्रष्टा-भाव का सम्यक् विकास भी वीतराग देवों की आज्ञाओं का सम्यक् श्रद्धा के साथ पालन करने से ही होगा। जो आत्मस्वरूप का ज्ञाता होता है, वही दृष्टा बनता है तथा जो आत्म-दृष्टा हो जाता है, वह अप्रमादी, जागृत, अनासक्त और कुशल वीर भी हो जाता है क्योंकि आत्म-दृष्टा के लिये फिर किसी उपदेश की आवश्यकता शेष नहीं रह जाती है। आत्म-दृष्टा के ज्ञान चक्षु इतने विस्तृत हो जाते हैं कि वे सम्पूर्ण लोक को प्रत्यक्ष देख लेते हैं। आत्म-दृष्टा बंधन और मुक्ति के विकल्पों से परे होने लग जाता है तो शुभ और अशुभ के द्वन्द्व से दूर होकर द्वन्द्वातीत भी बन जाता है। आत्म-दृष्टा आध्यात्मिकता में ही जागता है और सदा अनुपम प्रसन्नता में रहता है। मैं इस दृष्टा-भाव को आस्था के आधार पर ही जागृत बना सकूंगा —यह मैं जान गया हूँ।

विश्वसनीयता के प्रतिमान

मैं मान चुका हूं कि आत्मविकास की मेरी महायात्रा में आस्था का अवलम्बन अपरिहार्य है। वहाँ तर्क की उपयोगिता समाप्त हो जाती है यह जानने के बाद कि इस महायात्रा में हमारी विश्वसनीयता के सच्चे प्रतिमान कौन सिद्ध हो सकते हैं?

विश्वसनीयता के सच्चे प्रतिमानों का निर्धारण करने के लिये अवश्य ही मैं अपनी तार्किक बुद्धि का उपयोग करता हूँ। मुझे मेरी इस महायात्रा में वे प्रतिमान चाहिये जो इस महायात्रा का

सार्थक अनुभव रखते हों या स्वयं इस महायात्रा में अग्रगामिता के साथ गतिशील हों अथवा जिसके माध्यम से इस महायात्रा के गूढ़ रहस्यों तथा विधि-विधानों का सम्यक् ज्ञान होता हो।

मेरी विश्वसनीयता के पहले प्रतिमान होंगे वीतराग के रूप में सुदेव जिन्हें अरिहंत नाम से जानते हैं। मेरे तर्क ने कई देव नामधारी व्यक्तित्वों की जांच परख की है तो अधिकांश को यह निर्देश देते हुए पाया है कि मुझे ही पूजो, मेरी ही स्तुति करो तब मैं ही तुम्हें तारूँगा। 'मैं ही सच्चा हूँ और बाकी सब झूठे हैं'—यह कथन मेरे तर्क को भाया नहीं। जो खुद खुद को ही सच्चा कहता है, वह हकीकत में कितना सच्चा होगा? लोग कहने चाहिये कि वह सच्चा है तो उसकी सच्चाई की तरफ नजर डाल सकते हैं। फिर 'व्यक्ति' कब तक सच्चा रहेगा और कब बदल जायगा—इसकी क्या गारंटी है? इस वस्तुस्थिति को समझ कर मेरे तर्क ने निश्चय किया कि गुणमूलक व्यक्तित्व को ही अपनी आस्था का केन्द्र बनाया जाय, किसी व्यक्ति को नहीं, क्योंकि मेरा तर्क व्यक्ति-पूजा को कतई महत्त्व नहीं देता।

यही कारण है कि मेरे तर्क ने वीतराग या अरिहंत को सुदेव के रूप में प्रतिष्ठित कर मुझे आस्था को सौंप दिया है। वीतराग वे महापुरुष कहलाते हैं जो राग-द्वेषातीत हो जाते हैं —समभावी और समदर्शी बन जाते हैं। कौन समभावी या समदर्शी हैं इसका निर्णय मेरे तर्क ने कर दिया और यह भी बता दिया कि किसी व्यक्ति विशेष के प्रति ही निष्ठा बनाने या बनाये रखने का सवाल नहीं है। जो भी समभावी और समदर्शी व्यक्तित्व हुए हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे—वे सब सुदेव हैं इसलिये वे ही मेरी विश्वसनीयता के प्रतिमान हैं—मेरी श्रद्धा के केन्द्र हैं।

तो पहला प्रतिमान मैंने निर्धारित कर लिया है देव अरिहंत को। अरिहंत का भी वही अर्थ है जो वीतराग का अर्थात् जिन महान् आत्माओं ने अपने समस्त घातीकर्म शत्रुओं (कर्मों) को परास्त कर दिया और जो समग्र ज्ञानादि चतुष्टय रूप आत्म-गुणों से विभूषित बन गये। ऐसे अरिहंत का आदर्श ही मेरे लिये सच्चा आदर्श हो सकता है और उन्होंने आत्म विकास का जो मार्ग बताया है, वही मेरे लेये ग्राह्य हो सकता है। इसलिये मैं उनकी आज्ञापालन को ही सबसे बड़ा धर्म मानता हूं। इस मान्यता के साथ ही मेरे तर्क का कार्य समाप्त हो जाता है और मेरा समूचा जीवन अमित आस्था से आप्लावित बन जाता है।

जब मैंने सुदेव के रूप में अरिहंत जैसी महान् आत्माओं को अपनी विश्वसनीयता का पहला प्रतिमान निर्धारित कर लिया है तो शेष दो प्रतिमान—सुगुरु तथा सुधर्म भी वे ही हो सकते हैं जो अरिहंत देव की महानता की कसौटी पर खरे उतरते हों। मैंने अरिहंत देव की आज्ञा को ही प्रधानता दी है तो मेरे लिये सुगुरु वे ही हो सकते हैं जो उनकी आज्ञा में विचरण करते हों और स्वयं के निर्माण के साथ धर्म का प्रचार करते हों। ऐसे सुगुरु निर्ग्रंथ होने चाहिये। निर्ग्रंथ का अर्थ है ग्रंथिरहित। उन साधु-महात्माओं के जीवन में संसार के काम-भोगों या पदार्थों की अथवा सांसारिक वृत्तियों या प्रवृत्तियों की कोई ग्रंथि नहीं होनी चाहिये। इसीलिये मेरे तर्क ने सुगुरु पद के लिये मुझे समाधान दिया है कि सुगुरु वे, जो निर्ग्रंथ हों। चूंकि अरिहंत देव प्रत्यक्ष में आज हमारे सामने विराजमान नहीं है अतः उनके ज्ञान-विज्ञान की ज्योति लिये निर्ग्रंथ साधु ही कल्याण कार्य में लगे हुए हैं। 'गुरु-गोविन्द दोनों खड़े, काके लागू पांय' —की उक्ति के अनुसार आज का सीधा समाधान होगा—गुरु पद की प्रमुखता। मैंने सुगुरु पद के लिये निर्ग्रंथ का चयन कर लिया है जिनके प्रति मेरी अमिट आस्था ढल रही है।

किन्तु निर्ग्रंथत्त्व की कसौटी के लिये मैं अपने तर्क को भी सक्रिय बनाये रखता हूँ। मैं हर किसी साधु को निर्ग्रंथ नहीं मान लेता हूँ। किसी साधु के दर्शन होते हैं तो मेरा तर्क सतर्क हो उठता है। मैं जांचता हूँ—परखता हूँ कि वह साधु निर्ग्रंथ है या नहीं और अरिहन्त देव की आज्ञा में चलता है या नहीं। जब मेरा तर्क सन्तुष्ट हो जाता है तभी मेरी आस्था मुड़ती है क्योंकि मेरी आस्था अंधी नहीं है।

तीसरा प्रतिमान मुझे चाहिये सुधर्म का। यों तो हर अच्छी बुरी बात धर्म के नाम में लपेट कर ही की जाती है ताकि आस्थावान् लोगों को भ्रमित किया जा सके, लेकिन वे सब धर्म वास्तविकता से परे ही होते हैं। कुछ व्यक्तिपरक धर्म होते हैं जो श्रद्धा का केन्द्र व्यक्ति विशेष को बनाने की बात कहते हैं। वे धर्म भी उतने वास्तविक नहीं होते। सच्चा धर्म वही कहलायगा जो संसार की सभी आत्माओं में 'एगे आया' (एक ही आत्मा) के दर्शन कराता हो, जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जो संसार के समस्त प्राणियों के प्रति अपने हृदय की दया को बिखेर देने की प्रेरणा देता हो। जो धर्म दयामय हो, वही सच्चा धर्म होगा—ऐसा मैं मानता हूँ और ऐसे धर्म का मार्ग प्रशस्त किया है अरिहंत देवों ने और ऐसे ही धर्म का प्रचार करते हैं निर्ग्रंथ मुनिगण।

इस प्रकार मैंने अपनी आत्म-विकास की महायात्रा में अपने विश्वसनीय तीनों प्रतिमान सुनिश्चित कर लिये हैं जो हैं—१. देव अरिहंत —सुदेव, २. गुरु निर्ग्रंथ—सुगुरु तथा ३. धर्म दयामय—सुधर्म और इन्हीं प्रतिमानों को मैंने अपनी समग्र आस्था अर्पित कर दी है। इस समर्पण के पश्चात् मेरा आत्म-विश्वास सुदृढ़ बन गया है कि मैं अपने आत्मस्वरूप को भी अरिहंत देवों की आत्माओं के समान ही परमोज्ज्वल स्वरूप प्रदान करने में अवश्य सफल बनूंगा।

सिद्धान्त व गुणमूलक संस्कृति

किसी व्यक्ति विशेष के प्रति अपनी आस्था को समर्पित करने की अपेक्षा मैं सदा ही सत्य सिद्धान्तों तथा गुणमूलक संस्कृति के प्रति आस्थावान् बनने को श्रेष्ठतर मानता हूं। मेरी इस मान्यता के कई समुचित तथा पुष्ट कारण हैं।

मैं मानता हूं कि व्यक्ति-पूजा सामान्यतः किसी भी साधक को तटस्थ अथवा पक्षहीन नहीं रहने देती। वह उसे एक तरफ झुकाती है तो निश्चय है कि वह दूसरी तरफ से उपेक्षित वनता है। इससे वह भेद, हठ और पक्ष के भंवर में गिर जाता है। इसी भंवर से राग और द्वेष की ज्वालाएँ उठती हैं। जो इन ज्वालाओं में खुद भी सुलगने लग जाता है, वह फिर भला साधक ही कहाँ रहता है? वह पथभ्रष्ट हो जाता है। ऐसी व्यक्ति-पूजा का मैं अनुसरण कैसे कर सकता हूँ? मैं जानता हूँ कि कोई भी व्यक्ति पूजा जाता है तो अपने श्रेष्ठ सिद्धान्तों तथा उत्तम आचरण के आधार पर ही—तो मैं व्यक्ति को क्यों अग्रिम स्थान दूं? मैं उन सिद्धान्तों और उस आचरण को ही प्रथम महत्त्व क्यों न दूं, जिन्होंने व्यक्ति की श्रेष्ठता का निर्माण किया है। अतः मैं सत्सिद्धान्तों को मानता हूँ, उत्तम आचरण को मानता हूँ और आत्मीय गुणों के विकास को मानता हूँ—ये जिनमें पाये जाये वह व्यक्ति भी आस्था का केन्द्र बन सकता है।

मैं सत्सिद्धान्तों में अपनी आस्था का नियोजन इस दृष्टि से करता हूँ कि एक सिद्धान्त सदा एक समान रहता है और सिद्धान्त जिसे भी अपनी ओर प्रभावित करता है, वह प्रभावित व्यक्ति को परिवर्तित करता है। सिद्धान्त गुणमूलक होता है जो गुणी को उसके गुण में ढालता है और किसी

अन्य के साथ भेद नहीं करता। सिद्धान्तों पर आधारित सभ्यता अथवा संस्कृति ही दीर्घजीवी होती है। इसका कारण है कि सद्‌गुण और सत्सिद्धान्त व्यक्ति की विकासशीलता के सामने सदैव ज्योतिस्तंभों के रूप में चमकते रहते हैं। और सन्मार्ग दर्शाते रहते हैं।

सिद्धान्त व गुणमूलक संस्कृति ही अपने यथार्थ अर्थ में मूल्यों की संस्कृति होती है —ऐसा मै मानता हूँ। वस्तुतः गुणों का नाम ही मूल्य हैं। गुण वे हैं जो गुणी को गुणवान् बनाते हैं या यों कहें कि एक मनुष्य को मनुष्यता के गुणों से विभूषित करते हैं। मनुष्य मात्र होना उतना सार्थक नहीं है, बल्कि यदि उसमें मनुष्यता के गुणों का सम्यक् विकास नहीं हुआ है तो वह निरर्थक भी कहला सकता है। मनुष्य होने के साथ मनुष्यता का होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि ऐसा जल हो जिससे प्यास ही नहीं बुझती हो तो फिर उसे जल मानेगा ही कौन? जल का गुण है प्यास बुझाना और यदि गुणी में उसके गुण का ही अभाव है तो गुणी निर्गुणी ही कहलायगा। इसी प्रकार मनुष्यता के अस्तित्व से ही मनुष्य का बोध होता है अतः मनुष्यता उसका मूल गुण है—उसका मुख्य मूल्य है। मनुष्य के लिये यही मूल्यात्मक जीवन है कि वह सर्वप्रथम मनुष्यता को धारण करे। यदि एक मनुष्य में मनुष्यता ही नहीं है तो वह गुणहीन होगा—मूल्यहीन कहलायगा।

मनुष्यता होती है मानवोचित सिद्धान्तों तथा गुणों का पुंज। यही मनुष्य के मूल्यों का समूह भी होगा। मानवोचित विशेषण का क्या अर्थ लें? मानवोचित का अर्थ होता है जो मनुष्य के लिये उचित हो। मनुष्य के लिये उचित क्या? इस विषय पर वीतराग देवों ने सम्पूर्ण प्रकाश डाला है जिसे हम आत्मसात् करके अपने आप को भी मनुष्यता पहिचानने की कसौटी बना सकते हैं। इस पहिचान में मेरी मान्यता है कि मेरी आस्था भी उपयोगी होगी तो मेरा तर्क भी कार्य करेगा। व्यावहारिक वातावरण के प्रत्येक क्रिया-कलाप के साथ जब मैं अपने हृदय को जोड़ूंगा तो स्वाभाविक रूप से मुझे समझ में आता रहेगा कि मानवोचितता क्या होती है? उसे बताने की जरूरत नहीं पड़ेगी। वह स्वयंमेव मेरी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में समाहित होती जायगी जिसका सभी अनुभव कर लेंगे। एक हृदय से दूसरे, तीसरे और इस तरह कई हृदयों को स्पन्दित करती हुई मानवोचितता एक स्पष्ट मूल्य का रूप ले लेगी। अतः सब सिद्धान्त व गुणमूलक संस्कृति को ही मैं अपने और सभी प्राणियों के आत्मविकास के अबाध मार्ग के रूप में देखता हूं।

सत्सिद्धान्त कौनसा? सद्‌गुण क्या? अथवा श्रेष्ठ मूल्य किसे कहें? यह जांच-परख मुझे करनी होगी। मेरी आस्था मुझे बता देगी कि जो सिद्धान्त-निरूपण, गुण-प्रतिपादन एवं मूल्य-समर्थन वीतराग जैसे सुदेवों ने किया है तथा निर्ग्रंथ जैसे सुगुरु जिसे परिभाषित कर रहे हैं तथा जिसका समस्त ज्ञान दयामय धर्म में समाविष्ट है, वह मेरे लिये माननीय है। मेरा तर्क भी मुझे बतायेगा कि जो सिद्धान्त, गुण और मूल्य नाना प्रकार के नाम से अथवा भांति-भांति के रूपों में मेरे सामने आते हैं, इसकी परीक्षा कैसे की जाय? जो सत्यांश है उसे कैसे धारण कर लें और जो असत्य है उसे कहाँ और कब छोड़ दें? तर्क और आस्था से मंडित मेरा मन कसौटी का पत्थर बन जायगा जो प्रत्येक सिद्धान्त, गुण या मूल्य की रगड़ देख कर बता देगा कि कौन-सा सोना है और कौनसा पीतल? यह भी बता देगा कि जो सोना है, वह कितना खरा है और कितना खोटा? वीतराग देवों की आज्ञा यही बताती है कि सत्यांशों को संचित करते रहो ताकि एक दिन पूर्ण सत्य से साक्षात्कार हो सके।

सिद्धान्तों की इस रूप में परीक्षा के क्रम में मैं सर्वथा ऐसे गुणमूलक सिद्धान्तों की चर्चा करना चाहता हूँ जिनका यदि सम्यक् रूप से आचरण किया जाय तो वे मनुष्य को मनुष्यतामय ही नहीं, मनुष्य को देव भी बनाने की क्षमता रखते हैं।

आचरणदर्शिका अहिंसा

अहिंसा का मूल स्वरूप आचरण-दर्शक है। संसार के समस्त प्राणियों के साथ रहते हुए एक सामान्य मनुष्य को अपना व्यवहार किस रूप में ढालना चाहिये कि वह सबके साथ हिलमिल कर प्रेमपूर्वक रह सके—यह विधि अहिंसा का सिद्धान्त बताती है। इस सिद्धान्त के विशिष्ट महत्त्व का अंकन करते हुए ही अहिंसा को परम धर्म कहा गया है।

अहिंसा नकारात्मक याने निषेध रूप शब्द है जिसका विपर्यय है हिंसा। हिंसा की व्याख्या इस तरह की गई है कि किसी भी प्राणी के सभी या किन्हीं प्राणों को अथवा किसी भी एक प्राण को प्रमाद के योग से छेदना-भेदना, कष्ट देना अथवा किसी भी रीति से संत्रस्त बनाना हिंसा है। इतना ही नहीं, किसी भी प्राणी पर निरर्थक हकूमत चलाना या अपने वर्चस्व को थोपना भी हिंसा में ही लिया गया है। मात्र किसी का वध करना ही हिंसा नहीं है। यह तो स्थूल हिंसा है। इसके अनेक सूक्ष्म रूप हैं जो दस प्राणों से सम्बन्धित हैं। किसी प्राणी की किसी भी इन्द्रिय को भी कष्ट पहुंचाओ या हैरान करो तो वह भी हिंसा है। कोई तेज आवाज सह नहीं सकता और किसी ने जाकर वहाँ ढोल बजाना शुरू कर दिया तो उसके श्रोतेन्द्रिय प्राण को कष्ट पहुंचाने के कारण ढोल बजाने वाला हिंसा का आचरण कर रहा है—ऐसा माना जायगा। मैं मानता हूं कि किसी भी प्राणी की किसी भी इन्द्रिय, उसके मन, वचन या काया अथवा उसके श्वासोश्वास तथा आयुष्य पर आघात करने वाला भी हिंसा का ही आचरण है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रकार की हिंसा को सर्वत्र रोकना अहिंसा है और यह अहिंसा का निषेध रूप है। जबकि अहिंसा का विधि रूप होगा—प्राणियों के कष्ट दूर करना, उनके प्राणों की रक्षा करना, षड्काया के सभी जीवों पर दया—अनुकम्पा रखना आदि।

यह एक प्राकृतिक तथ्य है कि हिंसा का आचरण क्रूरता, निर्दयता और राक्षसी वृत्ति को पैदा करता है जिसके कारण मनुष्य अपनी मनुष्यता खोकर पशुता की तरफ जाता है। इस के विपरीत मनुष्य अपने आचरण में जितना अधिक अहिंसा का समावेश करता है, उतने ही अधिक मानवीय गुण उसके जीवन में फूलते फलते हैं। इतना ही नहीं, यदि मन, वाणी और कर्म में पूर्णतः अहिंसा की वृत्ति अपना ली जाय तो वैसा मनुष्य स्वाभाविक रूप से देवत्व की सीढ़ियाँ चढ़ने लगेगा।

मैं आज जब अपने देश और सारे संसार की परिस्थितियों पर सरसरी नजर दौड़ाता हूं तो मुझे साफ महसूस होता है कि समूचा वातावरण हिंसा के आवरण में लिपटता जा रहा है। जहाँ देखें, वहीं हिंसा का तांडव दिखाई दे रहा है। चाहे सामूहिक समस्याएँ हों अथवा व्यक्तिगत उलझनें, सबको हिंसा से निपटाने की ही चेष्टाएँ की जाती है। परिणामस्वरूप अपराध वृत्ति बढ़ गई है, काले धंधे धड़ल्ले से चल रहे हैं और हिंसापूर्ण दंगों, आन्दोलनों या युद्धों की आशंकाएं मुंह बाए खड़ी होती जा रही हैं। मेरा मानना है कि वर्तमान वातावरण में अहिंसामय आचरण की अधिक आवश्यकता है।

मैं इसे विचारणीय मानता हूं कि अहिंसा के सिद्धान्त के पीछे कितने व्यापक लक्ष्य अन्तर्निहित उन्हें समझने की आवश्यकता है। इस संसार में छोटे हो या बड़े, सूक्ष्म हों या स्थूल सभी

जीव शरीरधारी होते हैं। इन शरीरों में अधिकांश अक्षम शरीर होते हैं और जिनके शरीर कार्यक्षम होते हैं उनमें भी कई दुर्वल होते हैं तो कुछ सबल? कइयों के पास अपनी रक्षा के साधन नहीं होते तो कुछ के पास रक्षा के साधन और सामर्थ्य दोनों इतनी मात्रा में होते हैं कि वे सिर्फ अपनी रक्षा ही नहीं कर सकते हैं बल्कि दुर्बलों के अधिकार व पदार्थ छीन कर उनको संत्रास भी दे सकते हैं। शरीर होने से निर्वाह की आवश्यकता होती है तथा निर्वाह के साधन अपार नहीं होते, सीमित होते हैं। निर्वाह के वे साधन, समानता से वितरित नहीं होते अथवा विकेन्द्रित नहीं होते। सशक्त शरीरधारी अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें केन्द्रित कर लेते हैं, संचित बना लेते हैं। इस संचय वृत्ति से प्राणियों के बीच निर्वाह के साधनों के लिये संघर्ष और टकराव पैदा होते हैं। यही संघर्ष सत्ता और सम्पत्ति के शोषण व संचय की अंधी गलियों से गुजरता हुआ महायुद्धों के विध्वंस तक पहुंच जाता है।

मैं अनुभव करता हूँ कि इस दृष्टि से अहिंसा व्यक्ति के आचरण को और उसके माध्यम से सम्पूर्ण सामाजिक व्यवहार को सदाशयमय बनाना चाहती है। कोई भी प्राणी किसी भी दूसरे प्राणी के किसी भी प्राण को कष्टित नहीं करे—इसका आशय यही होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थों या हितों अथवा अपनी निर्वाह योग्य आवश्यकताओं को इतनी सीमित बनादे कि उसको किसी भी स्तर पर टकराव न करना पड़े अथवा टकराव न झेलना पड़े। इस वृत्ति से संचय की कोई गुंजाइश नहीं रह जायगी। यदि संचय नहीं होगा तो संघर्ष भी नहीं होगा और संघर्ष के अभाव में प्राप्त पदार्थों के सम-वितरण की ओर सबके प्रयास प्रारंभ होंगे। सहृदयता ऐसे सम-वितरण की आत्मा बन जायगी।

मैं अहिंसा के सिद्धान्त की पृष्टभूमि में थ्योरी क्या है, उसका भी जिक्र करदूं। यह शाश्वत सत्य है कि सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता। सभी जीवों को अपनी आयु प्रिय है। वे सुख चाहते हैं और दुख नहीं चाहते। उन्हें वध अप्रिय लगता है और जीवन प्रिय। इसी संदर्भ में भगवान् महावीर ने भी कहा है—मैं कहता हूं कि भूतकाल में जो तीर्थंकर हुए हैं, वर्तमान काल में जो तीर्थंकर हैं और भविष्य में जो तीर्थंकर होंगे, उन सभी ने यही कहा है, कहते हैं और कहेंगे कि सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व का हनन नहीं करना चाहिये, उन पर शासन नहीं चलाना चाहिये, उन्हें अधीन नहीं बनाना चाहिये, उन्हें परिताप नहीं देना चाहिये तथा उन्हें प्राणों से वियुक्त नहीं करना चाहिये। यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है।

मैं सबसे पहले अपने लिये सोचना चाहता हूं कि क्या मैं जीना नहीं चाहता? क्या मुझे सुख प्रिय नहीं है? क्या मुझे दुःख या वध प्रिय हैं? मेरा यही उत्तर होगा कि मुझे जीवन और सुख प्रिय है, दुःख और वध अप्रिय हैं। तो मुझे यही सोचना है कि जो मुझे प्रिय है वहीं सभी जीवों को प्रिय है तथा जो मुझे अप्रिय है, वह सभी जीवों को अप्रिय है। इसके साथ ही मैं निश्चय करना चाहता हूं कि मैं अन्य प्राणियों के साथ वैसा ही व्यवहार करूंगा, जो मुझे और उन्हें प्रिय लगता है। अप्रिय व्यवहार मैं नहीं करूंगा। इसी भावना की भूमिका पर अहिंसामय आचरण का श्री गणेश किया जा सकता है।

तदनन्तर मेरे मन, वाणी तथा कर्म में निरन्तर अहिंसा का सुप्रभाव अभिवृद्ध होता जायगा। विश्व के सभी जीवों की रक्षा रूप दया को मैं हृदय में बसा लूंगा। मैं जानता हूं कि दया की आराधना से जीवों के दुःख और पापों का शमन होता है तथा सभी का कल्याण सधता है। मैं इस सत्य की

गांठ बांध लूंगा कि जिस प्रकार दुःख मुझे अप्रिय लगता है, उसी प्रकार से संसार के सभी जीवों को भी दुःख अप्रिय लगता है अतः सभी प्राणियों पर मैं आदर एवं उपयोग के साथ दया करूंगा। मैं जब किसी भी प्राणी को हनन, आज्ञापन, परिताप, परिग्रह या विनाश के योग्य समझूंगा तो सबसे पहले यह विचार करूंगा कि जिसके साथ तुम हिंसा का आचरण करना चाह रहे हो, वह कोई अन्य प्राणी नहीं, तुम स्वयं हो, क्योंकि मेरी और उसकी आत्मा एक समान होती है। मैं मानता हूं कि यह जीव हिंसा ही ग्रंथि (आठ कर्मों का बंध) है, यही मोह है, यही मृत्यु है और यही नरक है। मुझे अनुभव है कि जो पुरुष स्वयं प्राणियों की हिंसा करता है, दूसरे से हिंसा करवाता है और हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है, वह अपने लिये वैर ही वैर बढ़ाता है।

मैं अहिंसा के इस मूलमंत्र को हृदयंगम करना चाहता हूं कि जीवन पर्यन्त संसार के सभी प्राणियों पर—फिर भले ही वे शत्रु हो या मित्र—समभाव रखूं और सभी प्रकार की हिंसा का त्याग करूं जो अपने आप में एक अति दुष्कर कार्य है। जीव की हिंसा करना अपनी आत्मा की हिंसा करना है और जीवों की रक्षा करना अपनी आत्मा की रक्षा करना है। मैं यह भी जानता हूं कि संसार में जो कुछ भी उदार सुख, प्रभुत्व, प्रकृति की सुन्दरता, आरोग्य एवं सौभाग्य दिखाई देता है, वह सब अहिंसा का ही फल है। जगत् में सुमेरू पर्वत से ऊंचा तथा आकाश से विशाल कोई नहीं है, उससे भी अधिक निश्चय पूर्वक मैं समझता हूं कि अखिल विश्व में अहिंसा जैसा दूसरा धर्म नहीं है।

मैंने किन्हीं अज्ञानियों के आरोप सुने हैं कि अहिंसा कायरता सिखाती है। यह एकदम गलत है। अहिंसा का सिद्धान्त सम्पूर्ण वीरता का परिचायक है। कायरता अथवा दुर्बलता के लिये उसमें कोई स्थान नहीं है। एक हिंसक से अहिंसक बनने की आशा की जा सकती है। किन्तु कायर कभी अहिंसक नहीं बन सकता है। यह अहिंसा आत्म-बल पर आधारित होती है। इसी तरह इस आरोप को भी मैं सही नहीं मानता कि अहिंसा जीवन में अव्यावहारिक है। अहिंसा का व्यवहार तो एक नागरिक या सामाजिक सदस्य के लिये व्यावहारिक ही नहीं, अनिवार्य भी है। अहिंसा को अपनाने से एक ओर काम क्रोध आदि विकारों को हटा कर क्षमा, शान्ति आदि सद्‌गुणों को ग्रहण कर सकते हैं तो दूसरी ओर आवश्यकताओं को निरन्तर कम करते हुए और सादगी को बढ़ाते हुए श्रेष्ठ व्यावहारिक जीवन का निर्माण भी कर सकते हैं।

मैं इन आप्तवचनों का स्मरण करके सावधान हो जाता हूं कि कुछ लोग प्रयोजन से हिंसा करते हैं, कुछ लोग बिना प्रयोजन भी हिंसा करते हैं। कुछ लोग क्रोध से हिंसा करते हैं, कुछ लोग लोभ से हिंसा करते हैं और कुछ लोग अज्ञान से हिंसा करते हैं। किन्तु हिंसा के कटुफल को भोगे बिना छुटकारा नहीं है। प्राणवध चंड है, रौद्र है, क्षुद्र है, अनार्य है, करुणा रहित है, क्रूर है और महा भयंकर है। इसलिये मैं निष्प्रयोजन या क्रोध, लोभ व अज्ञान से हिंसा नहीं करने का निश्चय करूंगा बल्कि प्रयोजन पूर्ण हिंसा को भी विवशता व दुर्बलता मानूंगा तथा उससे छूटते रहने का यत्न करूंगा। प्राणवध को मैं सर्वथा हेय समझूंगा और अपनी क्रियाओं में हिंसा के प्रति पूरी सावधानी रखूंगा। इस प्रकार का चिन्तन प्रत्येक पुरुष के लिए आवश्यक है।

सत्य भगवान् होता है

यह आप्तवचन मेरे हृदय में जमा हुआ है कि सत्य वास्तव में भगवान् होता है। यह जो आत्म-साक्षात्कार है, वहीं तो सत्य का साक्षात्कार होता है। इस दृष्टि से सत्य ही साध्य है और उसकी साधिका है अहिंसा। अहिंसामय आचरण ही मुझे सत्य की ओर ले जायगा। सत्य ही शिव

(कल्याण) को प्राप्त कराता है तो सर्व कल्याण ही सुन्दरता का प्रतिरूप होता है। सत्य ही आत्मा को कल्याणकारी स्वरूप प्रदान करके उसे भव्य सौन्दर्य से विभूषित बनाता है।

अतः सत्य की उपलब्धि की शोध ही मेरा परम साध्य है और जब मेरे मन, वचन तथा कर्म में सत्य रम जायगा तब मेरे जीवन में सत्य का क्या, ईश्वरत्त्व का ही स्वरूप निखरने लगेगा। सत्य तेजोमय भी होता है तो अमिट शान्ति का प्रदाता भी। मैं हमेशा सत्य को ही हृदय में स्थान दूं, सत्य ही बोलूं और अपने प्रत्येक आचरण को सत्यमय ही बनाऊं यह मेरा जीवन मंत्र होना चाहिये। सत्य बोलूं लेकिन सावद्य नहीं बोलूं अर्थात् सत्य बोलूं और प्रियकारी सत्य बोलूं, अप्रियकारी नहीं।

मैं जानता हूं कि सत्य-भाषण से आत्मा की ओजस्विता बढ़ती है क्योंकि सत्य और निर्भीकता सदा जुड़े हुए रहते हैं। सत्य और भय का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता है। चारों ओर से दुःखों से घिरे हुए रहने पर भी एक सत्यवादी कभी झूठ नहीं बोलता क्योंकि वह सत्य के सहयोग से निर्भय होता है। वह अपने उद्देश्य से कभी डिगता नही है। इसलिये मैं अवधारणा लेता हूं कि मैं अपने लिये भी झूठ नहीं बोलूं, दूसरों से भी झूठ नहीं बुलवाऊं तथा झूठ का कभी भी अनुमोदन भी नहीं करूं। सत्य को जानते हुए मैं कभी अपनी आत्म-प्रशंसा भी नहीं करूं तो पर निन्दा के पाप में भी नहीं पडूं। मैं न तो किसी स्वार्थ के बहकावे में आकर झूठ बोलूं और न कभी क्रोध के आक्रोश में भी झूठ बोलूं। मैं जानता हूं कि एक झूठ के कारण हजारों दोष मुझे घेर लेंगे। सत्य मुझे गंभीर बनायगा, शान्त और प्रशान्त करेगा तो मेरी आस्था को अडिग रखेगा।

मैं यह भी जानता हूं कि सत्य असह्य होता है, फिर भी सत्य को मैं एक पल के लिये भी अपने से दूर नहीं करूंगा। सत्य और शुद्ध सत्य का मैं पुजारी बनूंगा। सत्य को मैं इस दुर्भावना से तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत नहीं करूंगा कि वह ऊपर से तो सत्य दिखाई दे परन्तु भीतर से मैं उसकी आड़ में अपने स्वार्थों को साधूं। सत्य को मैं किसी पर प्रहार का साधन नहीं बनाऊंगा याने कि सत्य होते हुए भी मैं न किसी का मर्म उघाडूंगा और न मर्मभेदक वचन कहूंगा। सत्य को मैं मर्यादा-पालन का सबल सहायक बनाऊंगा। सत्य को मैं मूर्खता का चिह्न भी नहीं बनाऊंगा—एक एक शब्द को तोलकर—उसके परिणाम को आंककर ही बोलूंगा। यथायोग्य स्थान पर यथायोग्य रीति से इस प्रकार बोलूंगा कि मेरे भाषा के सुसंस्कार सबको दिखाई दें और उनका सब पर सुप्रभाव पड़े। मेरे वचन सत्य होते हुए भी न तो हिंसक रूप लें और न मैं अप्रियकारी सत्य बोलूं। कपटपूर्वक सत्य बोलने को भी मैं झूठ का ही रूप मानूं। सत्य भाषी के साथ मैं मित भाषी भी बनूं। जिससे हित साधन होता हो, वही प्रखर सत्य होता है अतः ऐसे सत्य का दमन मैं अपना सर्वस्व न्यौछावर करके भी न छोडूं। मेरा सत्य पूर्वापर-अविरुद्ध हो तथा मन, वाणी एवं कर्म के तीनों योगों से अकुटिल हो। मैं स्पष्ट सत्य का पक्षधर रहूंगा। मैं असत्य पक्ष का कभी साथ नहीं दूंगा और सत्य का अन्वेषण निरन्तर करता रहूंगा। मैं सत्य वचन का न तो कभी स्वयं अपमान करूंगा और न दूसरों से उसका अपमान सहूंगा।

मैं जीवन भर सत्यान्वेषी बना रहूंगा, क्योंकि मैं जानता हूं कि सत्यान्वेषण ही विचार समन्वय का प्रतीक होता है। मैं कहता हूं वहीं सत्य है और जो दूसरे कहते हैं वह सर्वथा असत्य है छद्मस्थ के ऐसे हठाग्रह से ही मिथ्या का जन्म होता है। जहाँ भी मैं एकान्तवाद ले आया वहां सत्य असत्यमय बन जायगा। इस संसार में जितने मस्तिष्क होते हैं, उतने ही भांति-भांति के विचार होते

हैं और चूंकि अधिकांश अपूर्ण लोगों के मन में जो यह हठाग्रह जम जाता है कि उनका विचार ही सत्य है, उससे बढ़कर सत्य का अहित दूसरा नहीं होता है। पूर्ण सत्य के निकट पहुंच जाना मैं बहुत दूर की बात मानता हूं, अतः मैं यह विचार रखता हूं कि प्रत्येक व्यक्ति के विचारों में कुछ न कुछ सत्यांश सामान्यतया रहता है अतः मुझ जैसे सत्यान्वेषी की यह चेष्टा रहनी चाहिये कि मैं किसी भी अन्य के विचार में स्थित सत्यांश समादर करूं और उस सत्यांश को उद्घाटित करूं। असत्य को छोड़ता रहूं और सत्य को ग्रहण करता रहूं। इस प्रकार सत्यांशों का चयन ही एक दिन मुझे पूर्णं सत्य का साक्षात्कार करा सकेगा।

मैं सर्वत्र फैले सत्यांशों का चयन कैसे करूंगा—इस पर मुझे गहरा विचार करना होगा। सत्य के कई पहलू होते हैं। यदि उन सभी पहलुओं को मैं नहीं समझूं तथा एक पहलू पकड़ कर ही सत्य का हठ करलूं तो वह हठ मुझे सत्य से दूर फैंक देगा। उदाहरण के तौर पर सोचूं कि एक व्यक्ति पुत्र भी है, पिता भी है, पति भी है और इस प्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न प्रकार से सम्बन्ध रखता है। ये सभी पहलू सही हैं। किन्तु यदि मैं हठ करलूं कि मैं तो पिता ही हूं तो क्या यह सच होते हुए भी झूठ नहीं हो जायगा? यह सच है कि वह अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता भी है। तो अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र भी है। जहाँ तक विभिन्न अपेक्षाओं को नजर में रखते हुए वह 'भी' का प्रयोग करता है तो वे सब पहलू सच है लेकिन जहां उसने एक पहलू पद 'ही' लगा लिया तो वह एकान्तवाद होकर झूठ हो गया। सात अंधों और हाथी की कहानी सभी जानते हैं। जब दृष्टिहीन वे लोग हाथी के एक एक अंग को पकड़ कर उसको 'ही' हाथी बता रहे थे तब वे आंशिक रूप से सच कहने के बावजूद झूठे कहलाये। और जब किसी नैत्रधारी ने उनको यह रहस्य बताया कि तुम सभी अंगों को मिला लो तो पूरा हाथी बन जायगा, तब वे सभी सच हो गये।

इस तरह मैं देखता हूं कि इस संसार में अधिकांश लोग अपने सत्यांश को ही पूर्ण सत्य बताकर विवाद और संघर्ष करते रहते हैं। वे लोग अपने हठ को छोड़ते नहीं और दूसरे के सत्यांश को समझना चाहते नहीं, जिससे विचार संघर्ष चलता रहता है। विचार संघर्ष जितना बढ़ता है, उतना मनभेद और कर्मद्वन्द्व भी बढ़ता जाता है। कहते हैं कि मतभेद हो लेकिन मनभेद नहीं होना चाहिये—उसका आशय मैं यही समझता हूं कि मतभेद स्वाभाविक है किन्तु यदि उस मतभेद को अनेकान्त, स्यात् अथवा सापेक्षता की रीति से समझलें तो मनभेद की स्थिति तो पैदा ही नहीं होती है बल्कि मतभेद भी मिट जाते हैं। वहां विचार समन्वय की सदाशयता फैल जाती है। अनेकान्त, स्यात् या सापेक्षता का यही मर्म है कि सत्य को उसके अनेक पहलुओं से परखो, स्यात् अस्ति और स्यात्-नास्ति के तराजू में तोलो तथा सभी अपेक्षाओं से सत्य के विराट स्वरूप को जानो।

मैं अनुभव करता हूं कि इस संसार में मुख्य रूप से दो ही प्रकार के संघर्ष होते हैं। एक तो होता है स्वार्थों का संघर्ष और दूसरा विचारों का संघर्ष। स्वार्थों का संघर्ष इस कारण फैलता है कि मनुष्य अहिंसा का आचरण नहीं करता। अपने ही उचित-अनुचित सभी स्वार्थ पूरे कर लेना चाहता है किन्तु दूसरों के उचित हित को भी काटता रहता है। ऐसा जीवन के आचरण में अहिंसा के अभाव से होता है क्योंकि एक अहिंसावादी एक ओर अपने स्वार्थों को उचित आवश्यकता से अधिक फैलाता नहीं तो दूसरी ओर अपने स्वार्थों से भी ऊपर दूसरों के हितों को पहले स्थान देता है। हृदय का ऐसा उदारवाद ही टकराव समाप्त कर सकता है। उसी प्रकार हृदय का ऐसा उदारवाद

विचारों के टकराव को भी समाप्त कर सकता है। और उसका मार्ग है अनेकान्तवाद, स्याद्वाद या सापेक्षवाद का।

मेरा विचार है कि सभी प्रकार के संघर्षों से विचारों का संघर्ष अधिक जटिल और अधिक घातक होता है। उद्देश्यों में असमानता कम होती है लेकिन उन्हें प्राप्त करने के उपायों के बारे में ही मतभेद अधिक होता है। यह मतभेद बहुत करके व्यक्तिगत हठ से अधिक बढ़ता है। विचारों के टकराव का निवारण सत्य के विभिन्न पहलुओं को ध्यान में लेने तथा सभी विचारों का समादर करने से ही हो सकता है। सभी के विचारों के सत्यांश का समादर होगा तो व्यर्थ का असन्तोष नहीं भड़केगा। प्रत्येक विचार में रहे सत्यांश को खोजा जायगा तो विभिन्न विचारों का विश्लेषण भी सम्यक् रीति से किया जा सकेगा तथा समस्याओं के समाधान भी आसानी से निकाले जा सकेंगे। यही विचार समन्वय की सही विधि हो सकती है। समन्वय के लिये सत्य का सुदृढ़ आश्रय भी आवश्यक है तो हृदय का उदारवाद भी। यही सत्यान्वेषण का मार्ग भी है।

मैं जानता हूं कि संसार में सत्य ही सार भूत है जो महासमुद्र से भी अधिक गंभीर होता है। सत्य चन्द्रमंडल से भी अधिक सौम्य तो सूर्यमंडल से भी अधिक तेजस्वी होता है। मैं ऐसा सत्य वचन बोलूं जो हित, मित और ग्राह्य हो, लेकिन सत्य से संयम की घात होती हो तो वैसा सत्य भी नहीं बोलूं। मैं न क्रोधवश असत्य बोलूं, न लोभवश। सत्य वचन के दस प्रकारों का मैं पूरी तरह से ध्यान रखूं। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही बताऊं फिर भी एक जगह एक शब्द किसी अर्थ को वताता है तो दूसरी जगह दूसरे अर्थ को, किन्तु मेरी विवक्षा ठीक रहे तो दोनों जगहों पर प्रयुक्त शब्द सत्य ही रहेगा। इस प्रकार विवक्षाओं के भेद से सत्य के ये दस प्रकार बताये गये हैं (१) जनपद—सत्य-जिस देश वा क्षेत्र में जिस वस्तु का जो नाम हो, वह नाम वहां सत्य है। दूसरे देश वा क्षेत्र में उस शब्द का दूसरा अर्थ होने पर भी क्षेत्रीय दृष्टि को ध्यान में रखते हुए वह असत्य नहीं है। (२) सम्मत सत्य—आचार्यों या विद्वानों ने जिस शब्द का जो अर्थ मान लिया है, उस अर्थ में वह शब्द सम्मत सत्य है। जैसे पंकज का अर्थ कमल ही होता है। मेंढक नहीं यद्यपि मेंढक भी कीचड़ से उत्पन्न होता है फिर भी उसको पंकज नहीं कहा जाता (३) स्थापना-सत्य के दो भेद हैं—सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना! सद्भाव स्थापना है सद्भूत पदार्थों को सद्भूत के रूप में कहना और लिखना और असद्भाव स्थापना है असत् भूत को असत् भूत कहना और लिखना। (४) नाम सत्य—गुण न होने पर भी व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष का वैसा नाम रखकर उस नाम से पुकारना। जैसे अंधे को नयनसुख कहना। (५) रूप सत्य—वास्तविकता न होने पर भी रूप विशेष को धारण करने से किसी व्यक्ति या वस्तु को उस नाम से पुकारना। जैसे नाटक के पात्र को राजा कहना। (६) प्रतीत सत्य (अपेक्षा सत्य)—किसी अपेक्षा से दूसरी वस्तु को छोटी वड़ी कहना। (७) व्यवहार सत्य—जो वात व्यवहार में वोली जाती है, जैसे पर्वत पर लकड़ियां जलती है लेकिन कहा जाता है कि पर्वत जल रहा है। (८) भाव सत्य—निश्चय की अपेक्षा कई वातें होंने पर भी किसी एक की अपेक्षा से उसे वही बताना जैसे तोते में कई रंग होते हैं फिर भी उसको केवल हरा वताते हैं। (९) योग सत्य—किसी चीज के सम्वन्ध में व्यक्ति विशेष को उस नाम से पुकारना, जैसे लकड़ी ढोने वाले को लकड़हारा कहना। (१०) उपमा सत्य —किसी वात के समान होने पर एक वस्तु की दूसरी से तुलना करना और उसे उस नाम से पुकारना।

सत्य से विपरीत मृषावाद होता है तथा मृषा वचन भी दस प्रकार से निकलते हैं —(१) क्रोध से निकलने वाला (२) मान से निकलने वाला (३) माया से निकलने वाला, (४) लोभ से निकलने वाला, (५) प्रेम से निकलने वाला, (६) द्वेष से निकलने वाला, (७) हास्य (हंसी) से निकलने वाला, (८) भय से निकलने वाला, (९) आख्यायिका (कहानी) के बहाने निकलने वाला तथा (१०) उपघात —प्राणियों की हिंसा से निकलने वाला वचन। इस प्रकार सत्यामृषा याने मिश्र भाषा के भी दस प्रकार होते हैं—(१) उत्पन्नमिश्रिता, (२) विगतामिश्रिता, (३) उत्पन्न-विगत मिश्रिता, (४) जीवमिश्रिता, (५) अजीव मिश्रिता, (६) जीवाजीव मिश्रिता, (७) अनन्त मिश्रिता, (८) प्रत्येक मिश्रिता, (९) अद्धामिश्रिता व (१०) अद्धद्धामिश्रिता।

सत्य—निर्णय की दृष्टि से भाषा के चार भेद किये गये हैं —(१) सत्य भाषा—विद्यमान जीवादि तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप कहना। (२) असत्य भाषा—जो पदार्थ जिस स्वरूप में नहीं है, उन्हें उस स्वरूप में कहना। (३) सत्यामृषा (मिश्र) भाषा —जो भाषा सत्य भी हो और मृषा भी। (४) असत्यमृषा (व्यवहार) भाषा—जो भाषा न सत्य है और न असत्य है।

असत्य भाषा भी चार प्रकार की बताई गई है—(१) सद्भाव प्रतिषेध—विद्यमान वस्तु का निषेध करना, (२) असद्भावोद्भावन—अविद्यमान वस्तु का अस्तित्व बताना, (३) अर्थान्तर—एक पदार्थ को दूसरा पदार्थ बताना एवं (४) गर्हा—दोष प्रकट कर किसी को पीड़ाकारी वचन कहना।

सत्य के विश्लेषण एवं अन्वेषण के महत्त्व को आत्मसात् कर मैं सदा सत्य की आराधना करूंगा, सत्य से सम्पन्न होकर जगत् के सभी प्राणियों के साथ मैत्री भाव रखूंगा तथा सत्य पर दृढ़ रहूंगा क्योंकि लोक में जो भी मंत्र, योग, जप, विद्या, जृम्भक, अस्त्र,शस्त्र, शिक्षा और आगम हैं, वे सभी सत्य पर स्थित हैं तथा सत्यवादी पुरुष माता की तरह लोगों का विश्वासपात्र होता है, गुरु की तरह पूज्य होता है और स्वजन की तरह सभी को प्रिय लगता है।

अस्तेय की ओजस्विता

अस्तेय शब्द भी अहिंसा की तरह निषेध रूप है। चौर्य कर्म करना स्तेय या चौर्य कहलाता है तो इसका प्रतिपक्ष अस्तेय या अचौर्य होता है। इसे अदत्तादान-विरमण भी कहते हैं। इसका सामान्य अर्थ यह होता है कि जो दी नहीं गई है या बिना आज्ञा ली गई है, वह चोरी कहलाती है। चोरी नहीं करना अस्तेय है याने कि दूसरे की कोई भी चीज आज्ञा लेकर ही ग्रहण करनी चाहिये।

अस्तेय व्रत के संदर्भ में मैं जब आप्त वचनों का स्मरण करता हूं तो मुझे प्रतीति होती है कि ज्ञानियों ने इस व्रत का लक्ष्य बहुत ही गहरा और व्यापक रखा है। कहा गया है कि जो असंविभागी है—प्राप्त सामग्री का ठीक तरह से वितरण नहीं करता है और असंग्रह रुचि है याने कि साथियों के लिये समय पर उचित सामग्री का संग्रह कर रखने में रुचि नहीं रखता है तथा अप्रमाण भोजी है अर्थात् मर्यादा से अधिक भोजन करने वाला है, वह अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना नहीं कर सकता है। इसके विपरीत जो संविभागशील है—प्राप्त सामग्री का ठीक तरह से वितरण करता है और संग्रह व उपग्रह में कुशल है याने कि साथियों के लिये यथावसर भोजनादि सामग्री जुटाने में दक्ष है, वही अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना कर सकता है।

मैं गंभीरतापूर्वक सोचता हूं कि आप्त-पुरुषों ने अस्तेय व्रत के संदर्भ में संविभाग को इतना महत्त्व क्यों दिया है? संविभाग का अर्थ होता है समान रूप से विभाजन। संविभागी है वह अचौर्य

व्रत का पालक है, वरना असंविभागी को चोर कहा गया है। इस मंतव्य को हमें समाज के विस्तृत क्षेत्र के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। सोचें कि एक व्यक्ति अर्थोपार्जन करता है जो अपनी कुशलता अथवा सुसाधन संयुक्तता से अच्छा अर्जन कर लेता है या यों कहिये कि दूसरों से अधिक अर्जन कर लेता है। जहाँ तक उसने अधिक अर्थोपार्जन किया है किन्तु साथ ही संविभाग की वृत्ति रखता है व प्रवृत्ति करता है, तब तक वह उपार्जन चोरी नहीं है। परन्तु यदि वह उस उपार्जन को अपने पास अपने ही लिये रख लेता है और उसका संविभाग नहीं करता है तो उसका उपार्जन अनुचित है। इसका सीधा सा तात्पर्य है कि अर्थोपार्जन की विधि में अन्य प्राणियों के हित की भावना रहती हो और उपार्जित-संचित पदार्थों के यथास्थान सवितरण की आस्था हो वह अचौर्य है तथा उपार्जन की विधि में परहित का किंचित भी ख्याल न रखा जाता हो एवं उपार्जित-संचित पदार्थों के यथा स्थान संवितरण की आत्था न हो वह चौर्य कर्म परिधी में समाविष्ट हो जाता है।

मेरा चिन्तन चलता है कि अर्जन वह अपनी कुशलता या साधन सामग्री (पूंजी आदि) से करता है, फिर उस अर्जन को निन्दनीय क्यों माना गया है ? मैं अर्जन को निन्दनीय इसलिये कह रहा हूं कि यदि वह उसका संविभाग कर देता है तो यह कह सकते हैं कि उसने उसका प्रायश्चित कर लिया और संविभाग नहीं करता तो यह माना गया है कि वह अस्तेय व्रत की आराधना नहीं करता। संविभाग कैसे करें—उसका भी कुछ स्पष्टीकरण आप्त पुरुषों ने दिया है। अधिक अर्थोपार्जन करने वाले के पास अपने निर्वाह से अधिक सामग्री है तो संविभाग की दृष्टि से उसे अपनी प्राप्त सामग्री का सम्यक् रीति से वितरण कर देना चाहिये। वितरण की सम्यक् रीति क्या होगी ? जिसको जिस सामग्री की आवश्यकता हो, उसे वह सामग्री देने में संकोच न हो। सामाजिक आवश्यकता-पूर्ति को इस रूप में व्यक्ति का आवश्यक कर्त्तव्य कहा गया है। यथायोग्य अवसर पर यथायोग्य लोगों को यथायोग्य रीति से अपनी प्राप्त सामग्री का यथोचित वितरण कर देना अस्तेय या अचौर्य है। संविभाग की दूसरी बात यह कि वह अपने पास सामग्री का संग्रह भी करे तो अपने लिये नहीं, जरूरत मंद आवश्यक मंद अन्य प्राणियों के लिये करें, ताकि आवश्यकता होने पर यथावसर उन्हें वह सामग्री सहायता रूप दी जा सके। संविभाग की तीसरी बात और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि अधिक अर्थोपार्जन भले किया है, लेकिन स्वयं अप्रमाण भोजी (भोगी) न हो, भोजन भी वह संयत करे और अन्य सामग्रियों का भोग-उपभोग भी वह मर्यादित बनावे। यदि अधिक अर्थोपार्जन करने वाला सामाजिक आवश्यकता-पूर्ति की ओर ध्यान नहीं देता, संग्रह या संचय का उपयोग अपने साथियों के लिये नहीं करता अथवा अपने ही सुख भोग के लिये प्राप्त सामग्री बेमाप और बेहिसाब खर्च करता है तो वह असंविभागी है और अस्तेय व्रत का आराधक नहीं है। जो अस्तेय व्रत का आराधक नहीं माना जायगा, वह निश्चय ही उस प्रकार स्तेय या चौर्य कर्म कर रहा है।

मैं अपनी दृष्टि को व्यापक बनाता हूं और सोचता हूं कि आप्त पुरुषों ने आज के अर्थ युग की जटिलताओं और समस्याओं को ज्ञान में देख लिया था और उन्होंने इन जटिलताओं के समाधान रूप में ही संविभाग का मंत्र प्रदान किया। जो आज की अर्थोपार्जन प्रणाली से परिचित हैं, वे जानते हैं कि आवश्यकता से अधिक अर्थ का उपार्जन करना नैतिकता से संभव नहीं है। अधिकांशतया समाज में अधिक होशियार लोग कम-समझ लोगों की मेहनत का फल चुराते हैं तभी अधिक अर्थोपार्जन संभव होता है। अनैतिक अर्थ संचय का तो आधार ही चौर्य अथवा शोषण होता है वर्तमान युग मशीनी युग है और इसमें एक साथ हजारों लोग श्रम करते हैं। श्रमिक का श्रम ही

प्रमुख साधन होता है जबकि (श्रमिकों की तरह) श्रम न करने वाला कारखाने का मालिक पूंजी, बुद्धि आदि के साधनों से सशक्त होता है। इस आर्थिक प्रणाली में आसानी से ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि प्रत्येक को उसके श्रम का पूरा लाभ न दिया जाय या दूसरे शब्दों में यह कहें कि उसके श्रम के लाभ का काफी अंश मालिक अपने पास रखले। तो नैतिक धर्म इसे चौर्य कहता है और आज का अर्थ जगत् उसे शोषण का नाम देता है। यह चौर्य अथवा शोषण ही आज कुछ हाथों में हो रहे धन संचय का मूल है।

मुझे आश्चर्य होता है कि इस प्रकार का मह संचय तो चौर्यपूर्ण होगा लेकिन चौर्य कर्म समाप्त कहां होता है? यदि प्राप्त सामग्री का ठीक से वितरण कर दिया जाय और संविभागी हो जाय, तब तो उस चौर्य कर्म का प्रायश्चित हो जायगा। लेकिन आज के भौतिक वैभव सम्पन्न क्या ऐसा करते हैं? वे तो चौर्य से प्राप्त सामग्री को अपने ही लिये संचित करते हैं व संचित धन का अधिक शोषण के लिये अधिक नियोजन करते हैं। फलस्वरूप चौर्य या शोषण का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है तो संचय का परिमाण भी बढ़ता जाता है। संचय वृद्धि और संविभाग का अभाव जो निरन्तर चलता रहे तो क्या वह उसे एक मानव से मानवेतर तो नहीं बना देगा? चोरी के धन से आदमी देव तो बन ही नहीं सकता, लेकिन क्या वह अपनी मनुष्यता को भी बचा सकता है? धन-सामग्री मिल जाने के बावजूद मनुष्य की मनुष्यता को बचाने के लक्ष्य से ही वीतराग देवों ने संविभाग की आज्ञा दी है।

मैं इस अर्थ विन्यास को स्पष्ट करता हूं तो लगता है कि दूसरे के द्वारा न दी गई वस्तु को लेना तो चोरी है ही, किन्तु यह चोरी का उससे भी अधिक घृणित रूप होगा कि किसी का लाभांश इस तरह छीन लिया जाय जिससे छीनने वाला तो बिना श्रम अधिक अर्थोपार्जन करे और जिनका लाभांश छीना जाय वे अपने निर्वाह के आवश्यक साधनों से भी वंचित हो जाय। संविभाग वृत्ति का अर्थ-विन्यास सामाजिक संदर्भ में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथा व्यापक प्रभाव वाला है। जब व्यक्ति समाज में एक साथ रहते हैं तो उनके बीच में अधिकाधिक समता-भरा वातावरण भी होना चाहिये। आर्थिक समता मूल में दूसरी प्रकार की समताओं का विकास करती है। इसी से अहिंसामय आचरण का विस्तार हो सकता है। इसके विपरीत विषमताएँ हिंसा और कटुता को जन्म देती हैं। आर्थिक हो या अन्य प्रकार की—विषमता सामाजिकता के पृष्ठ बल के ही तोड़ती है। इसी विषमता को समाज में न आने देने के लिये तथा अधिक अर्थोपार्जन करने वाले सदस्यों के मन में व कर्म में समता को जागृत बनाये रखने के लिये ही संविभाग का निर्देश दिया गया है। संविभागी को ही अस्तेय व्रत का सम्यक् आराधक इसीलिये कहा गया है कि अधिक अर्थोपार्जन करने वाला केवल अपने लिये धन सामग्री का संचय करने से डरे और अपने माथे पर चोरी का कलंक न लगने दे। व्रती साधक के लिये चौर्य कर्म त्याज्य माना गया है और इसी त्याग के प्रेरक रूप संविभाग का प्रावधान किया गया है। अतः संविभाग का अर्थ-विन्यास सामाजिक समता की दृष्टि से बहुत व्यापक भी है।

मैं इस परिप्रेक्ष्य में जब अस्तेय की ओजास्विता पर चिन्तन करता हूं तो मैं स्तब्ध रह जाता हूं क्योंकि अस्तेय व्रत आर्थिक संविभाग के माध्यम से सामाजिक समता का धरातल तैयार करता है तथा व्यक्ति को समाज के हित में त्याग करने की प्रेरणा देता है। चौर्य कर्म को उकसाने वाला होता है लोभ और लोभ व्यक्ति को पतित बनाता है तो व्यक्ति की लोभ वृत्ति के दुष्परिणाम

रूप समाज भी विषम, कदाग्रही और कलुषित बनता है। यदि अस्तेय व्रत का यथार्थ अर्थ में पालन किया जाय तो व्यक्ति सन्तुष्ट रहेगा और सन्तोषी व्यक्तियों का समाज सदा ही सुखी होगा। अधिक लोभ से अधिक लाभ कमाने की लालसा ही व्यक्ति को चौर्य कर्मों में प्रवृत्त बनाती है। छोटे स्तर पर वह देते वक्त माल कम तोलता है या कपड़ा कम नापता है तो लेते वक्त तराजू के टल्ला मारकर अधिक तोलकर कम का मूल्य देता है। यह दुष्कर्म जितना फैलता जाता है, व्यक्ति अपने आपको शोषण, काले धंधों और तस्करी आदि में लगाकर अधिक से अधिक मुफ्त का लाभ कमाना चाहता है। व्यक्ति ऐसे उद्यमों पर स्वयं भावनापूर्वक अंकुश लगाने और अस्तेय व्रत की महत्ता को महसूस करे, परन्तु उसके साथ ही उस लोभ पर अंकुश लगाने का कोई सामाजिक प्रयास किया जाय तो उसके कारण भी लोभी व्यक्तियों की वृत्ति संविभाग की दिशा में मोड़ी जा सकेगी।

यह सब समझ कर मैं सोचता हूं कि मैं संविभागी बनूंगा, लोभ को खत्म करूंगा तथा अपनी आवश्यकताओं को भी मर्यादित बनाऊंगा। चाहे किसी का तिनका ही क्यों न लेना हो मैं उसकी बिना आज्ञा नहीं लूंगा। मैं औरों के धन पर कभी भी अपना अधिकार नहीं करूंगा। प्राप्त वस्तुओं का सम्यक् विभाग करके धन पर अपना राग-भाव मिटाने का प्रयत्न करूंगा। और अस्तेय व्रत में कहीं भी गांठ नहीं रखूंगा। मैं अपनी भावना बनाऊंगा कि जब मैं परिपूर्ण अस्तेय व्रत को अपनाऊंगा तब मैं भिक्षा तक को भी बांट कर खाऊंगा और अप्रमाण योगी कभी नहीं बनूंगा। चौर्य कर्म करके मुझे कितना भी मान-सम्मान मिलता हो तब भी मैं उसे ठुकरा दूंगा।

मैं जानता हूं कि मनोज्ञ रूप आदि इन्द्रिय विषयों से जो सन्तुष्ट नहीं रहता है, वह उनके परिग्रह में आसक्ति एवं लालसा वाला बना रहता है और अन्त में असन्तोष से दुःखी एवं लोभ से कलुषित वह आत्मा अपनी इष्ट वस्तु पाने के लिये चोरी करता है। इस कारण मैं चौर्य कर्म को समूल नष्ट करने के उद्देश्य से इन्द्रिय-संयम को धारण करूंगा। इन्द्रियों और मन की गतिविधियों पर नियंत्रण करके मैं अपनी आवश्यकताओं को सीमित व मर्यादित कर सकूंगा जिसके कारण लोभ रूप कषाय मेरे अन्तर्मन को कलुषित नहीं कर पायगी और लोभ को मैं रोक लूंगा तो अदत्तादान विरमण भी साध लूंगा। अस्तेय व्रत की ओजस्विता में अपने चरित्र को निर्भीक व निर्मल बना लूंगा।

प्रभावकतापूर्ण ब्रह्मचर्य

मिथुन या कुशील सेवन को एक अनाचार माना गया है तो ब्रह्मचर्य या इन्द्रिय संयम को एक महानतम तप, क्योंकि ब्रह्मचर्य से विवेक जागृत होता है और जीवन की प्राभाविकता सिद्ध होती है। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की सम्यक् साधना का मूल ब्रह्मचर्य माना गया है। ब्रह्मचर्य के बिना मुक्ति की संभावना ही नहीं मानी जा सकती है। ब्रह्मचारी एक कछुए की तरह अपनी इन्द्रियों को सिकोड़ कर काम भोगों से दूर हो जाता है तथा भय से मुक्त हो जाता है। ब्रह्मचर्य का नाश तो यों मानिये कि सभी आत्मगुणों का नाश और ब्रह्मचर्य की साधना तो एक लाठी से सभी भैंसों को हांकने की तरह सभी आत्म गुणों का आधिपत्य है। यह सही है कि ब्रह्मचर्य अति दुष्कर व्रत है किन्तु जो काम की मार को मार देता है, वह आत्म-शत्रुओं को भी मार देता है।

मैं देखता हूं कि इस संसार में काम वासना का तांडव बड़ा भीषण होता है। कहीं पर भी वासना जन्य दुःखों को देखकर ब्रह्मव्रत के महात्म्य का अनुभव किया जा सकता है। गंध, शब्द, रूप, रस, एवं स्पर्श रूपी काम भोग पांच प्रकार के होते हैं और इनके प्रति रही हुई वासना दुर्जेय

बन जाती है। पुरुष के लिये स्त्री संसर्ग और स्त्री के लिये पुरुष संसर्ग वासना के बांध को तोड़ देता है, बल्कि यहां तक कहा गया है कि वैतरणी दुःस्तर नहीं, नर-नारी का परस्पर संग दुःस्तर है समस्त विषय भोग अस्थिर होते हैं तथा विषयग्रस्त व्यक्ति अस्वस्थ और संत्रस्त रहता है। वासना तो तालपुट विष रूप मानी गई हैं। ये तीन बातें जिसमें पहली देहविभूषा, दूसरा स्त्री संसर्ग और तीसरा सरसप्रणीत भोजन है। इन तीनों से आत्मगवेषी ब्रह्मचारी बच कर चलता है। उसके चित्त में से कामेच्छा निकल जाती है, नैनों में से राग निकल जाता है और स्त्री के प्रति हृदय में वैराग्य जाग जाता है। उसे स्त्रियों के रूप की चर्चा करने का अवकाश ही नहीं मिलता है क्योंकि वह अपना सारा समय निर्मल ज्ञानाभ्यास में लगा देता है। वह पूर्वकृत काम क्रीड़ाओं को भी यदि नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि उस याद से भी उन्माद पैदा हो सकता है। एक ब्रह्मव्रती को कंप, स्वेद या मूर्छा की आशंका नहीं रहती तो शक्ति क्षय की ग्लानि भी नहीं। वह तो आत्म-रमणमय बन जाता है क्योंकि वह देह तृप्ति से दूर हट कर आत्म-सन्तुष्टि में लीन हो जाता है। जिसके मन पर काम की सूक्ष्म छाप भी नहीं रह जाती, वह मुक्तात्मा बनने लगता है। वह आत्मानन्द का रसास्वादन करने लग जाता है।

'स्व' स्थ जीवन के लिये ब्रह्मव्रत की आराधना अपरिहार्य है—ऐसा मेरा अनुभव है। जैसे ब्रह्मचर्य को मुक्ति का प्रतीक माना है, वैसे ही काम-भोग संसार के प्रतीक माने गये हैं। आत्मा का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति है अतः ब्रह्मचर्य की साधना की दिशा में आगे बढ़ते रहना अनिवार्य है। सर्वांशतः ब्रह्मचारी नहीं बन सकते हैं तब तक भी इन्द्रिय संयम में आचरण का अभ्यास चलता रहना चाहिये। जब जब किसी भी वर्ग में ऐसा अभ्यास टूटा है और मुक्त मैथुन का समर्थन किया गया है, तब तब उस वर्ग में विषय वासना की ऐसी आंधियाँ चली हैं, जिनमें क्षत-विक्षत होने से कोई नहीं बचा होगा। यह ठीक है कि संसार में कामेच्छा अपनी जगह पर होती है तथा प्रजनन भी संसार के संसरण का एक प्रमुख साधन है, तब भी विकसित संस्कृतियों ने काम को सदा ही सुसंस्कारित तथा नियमित बनाने का प्रयास किया है। विवाह संस्था की स्थापना ऐसे ही प्रयासों का परिणाम है। छुट्टे सांड की तरह आदमी भोग लिप्त बन कर अपनी ही रचनाओं को उजाड़ने न लग जाय—इस उद्देश्य से विवाह प्रथा प्रारंभ हुई कि कामेच्छा—पूर्ति की दृष्टि से एक पुरुष और एक स्त्री परस्पर प्रतिबंधित हो जायं। इसे दुष्चरित्र माना गया कि ऐसे प्रतिबंधित स्त्री-पुरुष अपने प्रतिबंध को तोड़कर अन्य स्त्री अथवा पुरुष के साथ गमन करें। गुप्त रूप से भी ऐसा करना पाप माना गया। ऐसी संस्कृति के फलस्वरूप काम भोगों के विकराल दुष्परिणामों से भारतीय समाज बचा हुआ रहा है।

वर्तमान विश्व में काम भोगों की लिप्सा के जघन्य रूप को जब मैं देखता हूं, तो पश्चिम के देशों का ध्यान आता है, जहां काम-पूर्ति के लिये मुक्त वातावरण चुना गया, किन्तु आज उन देशों में सामाजिक व्यवस्था यौन अपराधों के अंधेरे में छिन्न-भिन्न हो गई है तो काम भोगों में सम्पूर्ण सुख मानने वाले उन देशो के नागरिक आज अपनी ही मानसिकता से अत्यधिक अशान्त एवं विक्षुब्ध हैं। अभी भी वे लोग अपनी अशान्ति को घोर नशीले पदार्थों में डुबो देने की कुचेष्टा ही कर रहे हैं। इसके विपरीत जब वे इन्द्रिय संयम तथा ब्रह्मचर्य को सर्वाधिक महत्त्व देंगे, तभी वे अपनी वर्तमान दुरावस्था को सुधार सकेंगे।

मेरा अनुभव है कि भारत में भी जब से ब्रह्मचर्य—साधना का महत्त्व किन्हीं वर्गों ने कम करके देखा है तो वे वर्ग यौन अपराधों से संत्रस्त बने हैं तथा उनकी सामाजिकता अति अस्त-व्यस्त

हुई है। ऐसे वर्गों की काम लिप्सा एक प्रकार से सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन पर भी बुरा असर डाल रही है। ऐसे विकृत होते वातावरण में संसार के व्यवहार को संशोधित करने की दृष्टि से विवाह-व्यवस्था को व्यवस्थित करना तथा मूल रूप से ब्रह्मचर्य साधना की दिशा में गति करना आवश्यक हो गया है।

मैं मानता हूं कि ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है। एक ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर सहसा अन्य सब गुण नष्ट हो जाते हैं। किन्तु एक ब्रह्मचर्य की आराधना कर लेने पर अन्य सब गुण-शील, तप, विनय आदि व्रत आराधित हो जाते हैं। एक ब्रह्मचर्य की साधना करने से अनेक गुण स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं। जो शुद्ध भाव से पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वही सच्चा भिक्षु कहलाता है। ऐसा हित-मित भोजन करना चाहिये जो जीवन यात्रा एवं संयम यात्रा के लिये उपयोगी हो सके और जिससे न किसी प्रकार का विभ्रम हो और न धर्म की भ्रंशना। साधक को कमल पत्र के समान निर्लेप और आकाश के समान निरवलम्ब होना चाहिये।

मैं ब्रह्मचर्य की अवधारणा मूलरूप में यह मानता हूं कि मैं अपने मन, वचन एवं काया के समस्त योगों को सांसारिक वासनाओं से हटाकर आत्म चिन्तन में लगा दूं। न तो वैक्रिय शरीर के देव सम्बन्धी भोगों का मन वचन काया से स्वयं सेवन करूं, न दूसरे से कराऊं और न उनकी अनुमोदना करूं और इसी प्रकार मैं औदारिक शरीर के मनुष्य, तिर्यंच सम्बन्धी काम भोगों का भी त्याग करूं ताकि मैं अट्ठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन कर सकूं। ब्रह्मचर्य के दस समाधि स्थानों का भी मैं ध्यान रखूं तथा अपने-आपकी काम वासनाओं से रक्षा करूं। दस समाधि स्थान इस प्रकार हैं—(१) जिस स्थान में स्त्री, पशु और नपुंसक रहते हों, वहां ब्रह्मचारी न रहें, (२) वह स्त्री सम्बन्धी कथा न करे तथा जिस स्थान पर स्त्री बैठी हो उस स्थान पर अन्तःमुहुर्त पहले न बैठे, (३) स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे (४) स्त्री के मनोहर व सुन्दर अंग-प्रत्यंगों को न देखे, (५) पर्दे, दीवाल आदि के अन्दर होने वाले स्त्रियों के विषयोत्पादक शब्द, गीत, हास्य या विलाप को न सुने, (६) पहले भोगे हुए काम भोगों का स्मरण न करे, (७) सरस और कामोत्तेजक आहार न करे, (८) शास्त्रोक्त परिमाण से अधिक आहार न करे, (९) स्नान, मंजन आदि करके शरीर को अलंकृत न करे तथा (१०) सुन्दर शब्द, रूप रस, गंध और स्पर्श में आसक्त न बने।

ब्रह्मचर्य-शील की आराधना करते हुए मैं स्त्रियों के रूप लावण्य, विलास, हास्य, मधुर वचन, काम चेष्टा एवं कटाक्ष आदि को अपने मन में तनिक भी स्थान नहीं दूंगा और रागपूर्वक देखने का प्रयत्न भी नहीं करूंगा। मैं स्त्रियों का चिन्तन एवं कीर्तन भी नहीं करूंगा। क्योंकि मैं जानता हूं कि ब्रह्मचर्य के शुद्ध आचरण से ही उत्तम श्रमण होता है। ब्रह्मचर्य पालने वाला ही ऋषि है, वही मुनि है, वही साधु है और वही भिक्षु है। मन, वचन, काया का गोपन करने वाले मुनियों को चाहे वस्त्राभूषणों से अलंकृत अप्सराएं भी संयम से विचलित नहीं कर सके तब भी उन्हें एकान्तवास का ही आश्रय लेना चाहिये—यही अत्यन्त हितकारी और प्रशस्त है। टूटे हुए हाथ पैर वाली और कटे हुए कान नाक वाली सौ वर्ष की बुढ़िया का संग भी ब्रह्मचारी के लिये वर्जनीय है। साधु स्वयं स्थिर चित्त हो फिर भी पुरुष व महिला की साक्षी के बिना आर्या के साथ पठन-पाठन आदि आर्या का सम्पर्क भी ठीक नहीं है। जैसे आग के पास रहा हुआ घी पिघल जाता है, उसी प्रकार साधु संसर्ग से आर्या का चित्त विकृत होकर विचलित हो सकता है।

मैं जान चुका हूं कि अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है और महादोषों का पुंज रूप है। दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्रह्मचारी पुरुष को देव, दानव गंधर्व, यक्ष, राक्षस, और किन्नर आदि

सभी नमस्कार करते हैं। यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव धर्म है, नित्य है, शाश्वत है, और जिनोपदिष्ट है। इसका आचरण कर पूर्वकाल में कितने ही जीव सिद्ध हुए हैं, वर्तमान में हो रहे हैं तथा भविष्य में होंगे। जो पुरुष स्त्रियों का त्रिक त्रियोग से सेवन नहीं करते, उनका सर्व प्रथम मोक्ष होता है। ब्रह्मचर्य सभी तपों में प्रधान है। यह तो ब्रह्मचर्य की प्रचलित व्याख्या हुई किंतु व्युत्पत्ति की दृष्टि से ब्रह्म+चर्य=अर्थात् ब्रह्म याने आत्मा-परमात्मा वीतराग देव उस वीतराग स्वरूप में सदा चित्त की चर्या रहे वह ब्रह्मचर्य है! यह लक्षण जिसमें पाया जाय उसे ब्रह्मचारी कहते है।

अपरिग्रहवादी साम्यता

मैं देखता हूं कि सारे संसार में परिग्रह के लिये जो दौड़धूप हो रही है, जो कृत्य-अकृत्य किये जा रहे हैं तथा जो तृष्णा व वितृष्णा की लालसा भड़क रही है —वह सब परिग्रहवाद है। जिसके पास परिग्रह नहीं हो वह भी परिग्रहवादी हो सकता है क्योंकि वह परिग्रहवाद की मूर्च्छा (मोह) से पीड़ित होता है। मुख्यतः यह मूर्च्छा या मोह ही परिग्रह है। यदि यह नहीं है और संयम निर्वाहार्थ पदार्थ हुए भी तो वह परिग्रह नहीं पदार्थ मूर्च्छारहित बनकर पदार्थ को धारण करने वाला भी अपरिग्रहवादी हो सकता हैं क्योंकि मूलतः मूर्च्छा को ही परिग्रह माना गया है।

इसलिये मैं मानता हूं कि समाज में परिग्रह की सुव्यवस्था करके परिग्रहवादी मूर्च्छा मनोवृत्ति की समाप्ति की जा सकती है। वह सुव्यवस्था परिपूर्ण अपरिग्रहवादी साम्यता की होगी, जिसमें व्यक्ति की समानता की इच्छा भी काम करेगी तो ऐसे यथास्थान सामाजिक सुव्यवस्था के उपाय भी कार्यान्वित किये जा सकेंगे जिनके कारण पदार्थ रूप सम्पत्ति के प्रति व्यक्तियों का मोह-जाल कट जाय। इनमें से एक सामाजिक उपाय स्वामित्व समाप्ति का हो सकता है। भगवान् ऋषभदेव से पूर्व में युगलिया (आदिम) काल था। तब सम्पत्ति पर किसी का स्वामित्व नहीं था। वृक्ष सभी के थे, सभी इच्छानुसार फल खाते थे। सरोवर सभी के थे, सभी अपनी तृषा शान्त करते थे। किन्तु जब मनुष्य का निर्वाह स्वाभाविक रूप से प्राकृतिक साधनों द्वारा नहीं होने लगा तो मनुष्य अपने श्रम से उत्पादन की ओर बढ़ा। फिर खेती, व्यापार, उद्योग आदि बढ़ते गये, त्यों-त्यों व्यक्तिगत स्वामित्व की परिपाटी मजबूत बनती गई। व्यक्तिगत स्वामित्व होता है इसीलिये अधिकाधिक संचय करने की उद्दाम लालसा बनी रहती है। इस व्यवस्था में जितना संचय नहीं होता उससे हजार गुनी मूर्च्छा बनी रहती है। चौबीसों घंटे मनुष्य इस मूर्च्छा में मूर्च्छित ही बना रहता है। व्यक्तिगत के विरुद्ध यदि सामाजिक स्वामित्व की कोई विधि अपनाई जाती है तो संभव है कि व्यक्ति की इस घनघोर मूर्च्छा में कमी आवे। जैसे एक छात्रावास में मेज कुर्सी आदि पर किसी एक छात्र का स्वामित्व नहीं होता, वे मात्र उनका उपयोग ही कर सकते हैं तो उस सम्पत्ति पर किसी भी छात्र की मोह भावना नहीं होती है। वह उनका निरपेक्ष भाव से उपयोग करता है। ऐसी ही निरपेक्ष भावना पदार्थ-परिग्रह के प्रति यदि सारे समाज में ढल जाय तो निश्चित मानिये कि वैसा समाज आत्म विकास की महायात्रा में लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ बहुत आगे निकल जायगा।

मेरा अनुभव है कि वस्तुतः यह परिग्रहमोह ही मनुष्य को सांसारिकता के वंधनों में मजबूती से बाँधे रखता है। इसीलिये देखा जाता है कि सत्ता या सम्पत्ति के अपने मोह के पीछे मनुष्य अपने आत्मीयजनों तक के प्रति कटु और कुटिल बन जाता है। यही मोह मनुष्य को हिंसा और प्रतिहिंसा की आग में जलने-जलाने के लिये छोड़ देता है। मैंने परिग्रह के लिये मूर्च्छाग्रस्त

मनुष्यों की दुर्दशा देखी है जिसे देखकर मैं स्तब्ध रह गया हूं। यह मूर्च्छा शराब के नशे से भी ज्यादा गहरी और घातक होती है। इसलिये मैं इस मूर्च्छा से दूर रहना चाहूंगा जिसका एक मात्र उपाय यह है कि किसी भी वस्तु कें संग्रह करने की इच्छा तक न की जाय। मैं थोड़े से लोभ के कारण पहले थोड़ा सा संग्रह करूंगा तो संग्रह से लोभ और लोभ से संग्रह का परिमाण निरन्तर बढ़ता हुआ चला जायगा, जिस को रोक पाना मेरे लिये कठिन हो जायगा। यह मैं जानता हूं कि परिग्रह रहित मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि वस्तुएँ रखते हैं, वे एकमात्र संयम की रक्षा के लिये हैं और अनासक्त भाव से वे उनका उपयोग करते हैं। इस अनासक्त भाव के कारण, वे परिग्रही नहीं होते क्योंकि उसमें आसक्ति का होना ही वास्तव में परिग्रह है। यदि मैं भी परिग्रह के प्रति मूर्च्छा-मोह छोड़ दूं, आसक्ति त्याग दूं तथा अपने निर्वाह की मूल आवश्यकता रूप पदार्थ ही अपने पास रखूं तो मैं पूर्ण परिग्रही या परिग्रहवादी नहीं कहलाऊंगा। किन्तु यदि एक साधु अपने वस्त्र-पात्र के साथ भी आसक्ति के बंधन में बंध जाय तो वह साधु भी परिग्रही या परिग्रहवादी बन जायगा। इसलिये ज्ञानी पुरुष संयम के सहायभूत वस्त्र-पात्रादि उपकरणों को केवल संयम की रक्षा के खयाल से ही रखते हैं, मूर्च्छाभाव से नहीं। वस्त्र-पात्रादि पर ही क्या, वे महात्मा पुरुष तो अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखते हैं।

मैं भी इस ममत्व को घटाने का अभ्यास करूंगा। मैं सचित या अचित्त थोड़ी या अधिक वस्तु परिग्रह की बुद्धि से नहीं रखूंगा अथवा दूसरे को परिग्रह रखने की अनुज्ञा नहीं दूंगा क्योंकि यदि ऐसा करूंगा तो मेरा कभी दुःख से छुटकारा नहीं हो सकेगा। मैं जानता हूं कि ज्यों ही मैं परिग्रह-मोह में गिरा नहीं कि मायादि शल्य, दंड, गारव, कषाय, संज्ञा, शब्दादि गुण रूप आश्रव, असंवृत्त इन्द्रियाँ तथा लेश्याएं सभी मेरे आत्मस्वरूप को घेर लेंगे। सारे लोक में सभी जीवों के लिये परिग्रह जैसा कोई दूसरा पाश या प्रतिबंध नहीं है। यह सत्य है कि जो ममत्व बुद्धि का त्याग करता है, वह स्वीकृत परिग्रह का भी त्याग करता है। जिसके ममत्व और परिग्रह नहीं है, वही मुनि ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र रूप मोक्ष मार्ग को जानता है। जो साधु वस्त्र-पात्रादि संयम के उपकरणों में मूर्च्छा एवं शुद्धि भाव का त्याग करता है शास्त्र-विहित कुलों से थोड़ी भिक्षा लेता है, संयम को असार बनाने वाले दोषों से तथा क्रय, विक्रय, और संचय से दूर रहता है और सभी द्रव्य भाव संयोग से निर्लिप्त रहता है वही सच्चा भिक्षु है।

मैं मानता हूं कि इस रूप में परिग्रह दो प्रकार का हो गया— मूर्च्छा-मोह रूप आभ्यन्तर परिग्रह तथा धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह। इस परिग्रह मोह को जानकर भी जो उसका त्याग प्रत्याख्यान नहीं करता, वह इन ग्यारह उपलब्धियों को प्राप्त करने में असमर्थ रहता है—(१) केवली—पुरुपित धर्म सुनना, (२) बोधिप्राप्त करना, (३) गृहस्थावास छोड़कर साधु बनना, (४) ब्रह्मचर्य पालन करना, (५) विशुद्ध संयम प्राप्त करना, (६) संवर साधना का सफल होना, (७) निर्मल मतिज्ञान प्राप्ति, (८) श्रुति-प्राप्ति (९) अवधि ज्ञान की प्राप्ति, (१०) मनःपर्यय ज्ञान की प्राप्ति तथा (११) केवल ज्ञान की प्राप्ति। किन्तु जो इस परिग्रह मोह को जान कर उसका त्याग करता है, वही ये ग्यारह उपलब्धियाँ प्राप्त करने में समर्थ बनता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से परिग्रह संज्ञा उसे कहते हैं जो लोभ मोहनीय के उदय से सचित्त आदि द्रव्यों को ग्रहण रूप आत्मा की अभिलाषा या तृष्णा के रूप में उत्पन्न होती है। यह परिग्रह

संज्ञा चार कारणों से उत्पन्न होती है—(१) परिग्रह की वृत्ति होने से, (२) लोभ मोहनीय कर्म के उदय होने से, (३) सचित्त, अचित्त और मिश्र परिग्रह की बात सुनने और देखने से तथा (४) सदा परिग्रह का विचार करते रहने से। ऐसी संज्ञा, मूर्च्छा या आसक्ति ही परिग्रह रूप है। किसी भी वस्तु में चाहे वह छोटी, बड़ी, जड़, चेतन, बाह्य, आभ्यन्तर या किसी प्रकार की हो—अपनी हो या पराई हो, उसमें आसक्ति रखना, उसमें बंध जाना या उसके पीछे पड़कर अपने विवेक को खो बैठना परिग्रह हैं। धन सम्पति आदि वस्तुएँ परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा की कारणभूत होने से परिग्रह कह दी जाती हैं किन्तु वास्तविक परिग्रह उन पर होने वाली मूर्च्छा है। मूर्च्छा न होने पर चक्रवर्ती सम्राट भी अपेक्षा से अपरिग्रही कहा जा सकता है और मूर्च्छा होने पर एक भिखारी भी परिग्रही कहलाता है।

बाह्य परिग्रह नौ प्रकार का कहा गया है—(१) क्षेत्र —धान्य आदि उत्पन्न करने के खेत भूमि आदि, (२) वास्तु —घर, भूमिगृह, महल आदि, (३) हिरण्य —चांदी घड़ी या बिना घड़ी हुई, (४) सुवर्ण —सोना घड़ा या बिना घड़ा हुआ तथा हीरा, माणक, मोती आदि जवाहरात, (५) धन—गुड़ शक्कर आदि पदार्थ व मुद्रा, (६) धान्य —चावल, गेहूं, बाजरा, मूंग, चना आदि (७) द्विपद —दास, दासी, पक्षी आदि (८) चतुष्पद—हाथी, घोड़े, गाय, भैंस, वगैरह एवं (६) कुप्य —सोने, बैठने, खाने, पीने आदि के काम में आने वाली धातु की बनी या दूसरी वस्तुएँ (घर-बिखरी)।

आभ्यन्तर परिग्रह के भी ग्रंथि-रूप चौदह भेद कहे गये हैं—(१) हास्य—जिसके उदय से जीव को हंसी आवे, (२) रति —सांसारिक पदार्थों में रुचि हो, (३) अरति—धर्म कार्यों में अरुचि हो, (४) भय—सात प्रकार के भयों की उत्पत्ति हो, (५) शोक—शोक, चिन्ता, रुदन आदि पैदा हो, (६) जुगुप्सा—घृणा उत्पन्न हो, (७) क्रोध—गुस्सा पैदा हो, (८) मान—अहंकार पैदा हो, (६) माया—कपट वृत्ति पैदा हो, (१०) लोभ—लालच, तृष्णागृहित उत्पन्न हो, (११) स्त्रीवेद—स्त्री को पुरुष की इच्छा हो, (१२) पुरुषवेद—पुरुष को स्त्री की इच्छा हो, (१३) नपुंसकवेद—नपुंसक को स्त्री व पुरुष की इच्छा हो तथा (१४) मिथ्यात्व—मोहवश तत्त्वार्थ में श्रद्धा न हो अथवा विपरीत श्रद्धा हो।

अपने लक्षणों की दृष्टि से मोह रूप इस परिग्रह के तीस नामों का उल्लेख आया है—(१) परिग्रह (२) संचय (३) चय (४) उपचय (५) निधान (६) संभार (७) संकर (८) आदर (६) पिंड (१०) द्रव्य सार (११) महेच्छा (१२) प्रतिबंध (१३) लोभात्म (१४) महर्षि (१५) उपकरण (१६) संरक्षणा (१७) भार (१८) सम्पातोत्पादक (१६) कलह भाजन (२०) प्रविस्तार (२१) अनर्थ (२२) संस्तव (२३) अगुप्ति (२४) आयास-खेद (२५) अवियोग (२६) अमुक्ति (२७) तृष्णा (२८) अनर्थक (२६) आसक्ति व (३०) असन्तोष।

मैं इसे सत्य मानता हूं कि जो अपरिग्रही (अकिंचन) हो जाता है, उसका लोभ नष्ट हो जाता है। जब लोभ नष्ट हो जाता है तो उसकी तृष्णा नष्ट हो जाती है। जब तृष्णा नष्ट हो जाती है तो उसका मोह नष्ट हो जाता है। जब मोह नष्ट हो जाता है तो उसका दुःख नष्ट हो जाता है। भौतिक उपलब्धियों की इच्छाएं आकाश के समान अनन्त होती हैं और इनकी पूर्ति में ज्यों ज्यों लाभ होता है त्यों-त्यों लोभ बढ़ता है। इस प्रकार लाभ से लोभ निरन्तर बढ़ता ही जाता है। दो माशा सोने से सन्तुष्ट होने वाला करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं से भी सन्तुष्ट नहीं हो पाया। मैं इन शाश्वत-प्रभावी बातों

पर विचार करता हूं तो वर्तमान युग से सम्बन्धित एक कठिन समस्या मेरे सामने आ खड़ी होती है। वह यह कि एक व्यक्ति तो उच्चतम सीमा तक अपरिग्रही तथा अपरिग्रहवादी बन सकता हैं किन्तु क्या पूरे समाज को भी एक सीमा तक परिग्रही या अपरिग्रहवादी बना सकते हैं ?

मैं इसमें संदेह नहीं करता कि परिग्रह अधिकांशतः आभ्यन्तर वृत्तियों से जुड़ा हुआ रहता है और अल्पांशतः बाह्य परिग्रह के साधनों के साथ। एक व्यक्ति प्राप्त तो बाह्य परिग्रह के साधन ही करना चाहता है जिसके प्राप्त होने पर वह अपना ऐश्वर्य, वैभव व वर्चस्व को बढ़ा सके लेकिन उस बाह्य परिग्रह के साधनों को प्राप्त करने के लिये तथा प्राप्त हो जाने पर उन पर अपना अधिकार बनाये रखने के लिये वह अपनी वृत्तियों को इतनी मोह-मूर्च्छा तथा आसक्तिमय बना लेता है कि जिनके कारण वह भयंकर से भयंकर दुष्कृत्य तथा अनर्थ कर बैठता है, करता रहता है। इनका उसके व्यक्तिगत जीवन पर ही नहीं, पूरे सामाजिक जीवन पर भी बुरा असर पड़े बिना नहीं रहता है। यह मान लें कि व्यक्तिगत बुराइयों से तो व्यक्ति ही छुटकारा पाने का यत्न करे किन्तु उन बुराइयों का जो सामूहिक असर हो जाता है, उसे कैसे मिटाया जायगा ? निश्चय है कि उसके लिये यत्न भी सामूहिक ही करना पड़ेगा। वैसे भी वर्तमान युग में सामाजिकता अति घनिष्ट भी हो गई है तो अति जटिल भी बन गई है। इस स्थिति में सामूहिक या सामाजिक प्रयत्न भी अति आवश्यक हो गये हैं कि जिनके माध्यम से ऐसा सुधरा हुआ सामाजिक वातावरण तैयार किया जाय जिसमें व्यक्ति को अपना सुधार करना आसान बन जाय। परिग्रह वृत्ति एवं परिग्रह संग्रह के सम्बन्ध में भी ऐसे सामाजिक प्रयास अच्छे परिणाम दिखा सकते हैं जो व्यक्ति की सत्ता या सम्पत्ति की लिप्साओं पर सामूहिक प्रतिबंध लगाते हों।

मेरी मूल भावना यह है कि व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के प्रयासों से परिग्रह मूर्च्छा घटानी चाहिये तथा परिग्रह संग्रह पर भी रोक लगानी चाहिये। समाज की व्यवस्था समता पर आधारित होनी चाहिये। वहाँ की आर्थिक परिस्थितियों में भी विषमता मिट जानी चाहिये। लाभ और लोभ के व्यक्तिगत प्रयत्न इस तरह प्रतिबंधित किये जायं कि सबको अपनी मूल आवश्यकता की सुलभ उपलब्धि के साथ लाभ-लोभ की दिशा में बढ़ने की लालसा या गुंजाइश ही न रहे। अपरिग्रहवादी साम्यता का यही लक्ष्य माना जा सकता है कि भौतिक सत्ता और सम्पत्ति के स्थान पर चैतन्य एवं कर्त्तव्य परायणता का लक्ष्य बने जिससे कि समाज में पदार्थों का कुछ व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रीकरण न हो और वे सर्व-जन में विकेन्द्रित बनें। यदि कहीं किसी व्यवस्था-दोष से अन्यथा कुछ केन्द्रीकरण भी हो जाता है तो उसे संविभाग द्वारा मिटाया जाये। निर्वाह के साधन सबको सुलभ हों तथा आसक्तिमूलक संग्रह व संचय को स्थान न रहे। आर्थिक साम्यवाद का ही आदर्श रूप होगी अपरिग्रहवादी साम्यता, जिसके परिणामस्वरूप बाह्य परिग्रह तो समवितरित तथा सन्तुलित होगा ही, परन्तु आभ्यन्तर परिग्रह की कलुषित एवं विकृत वृत्तियाँ समाप्तप्रायः होती चलेगी।

मैं ऐसे अपरिग्रही आदर्श समाज की कल्पना करता हूं जो अपने स्वस्थ वातावरण से सिद्धान्तनिष्ठ संयम वृत्ति को अधिकाधिक प्रोत्साहिक बनायेगा। यह अपरिग्रहवाद के मर्मज्ञों पर निर्भर है कि वे वर्तमान अर्थलिप्सु समाज का कायाकल्प कैसे करें तथा कैसे इन विकृतियों को सत्वृत्तियों में ढाल दें ?

सर्वांशतः सिद्धान्तनिष्ठ जीवन

मैं चिन्तवन करता हूं कि मैं इसी जीवन में सर्वांशतः सिद्धान्तनिष्ठ जीवन जीऊँ तथा आत्मविकास की महायात्रा को सार्थक बनाऊँ। मूल में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के पांचों सिद्धान्त संयमी जीवन के आधारभूत हैं। सबसे पहले मैं मिथ्यात्व के अंधकार से बाहर निकलता हूं तो सम्यक्त्व का प्रकाश मिलता है। इसी प्रकाश से त्याग करने और व्रत लेने की निष्ठा उत्पन्न होती है। तब इन्हीं आधारभूत सिद्धान्तों का अंशतः पालन शुरू करता हूं जो देशविरति होता है। वहाँ से इन्हीं सिद्धान्तों के सर्वांशतः पालन का मार्ग आरंभ होता है। यह संयमी जीवन दुधारी तलवार पर चलने जैसा कठिन जीवन होता है। इस जीवन में सिद्धान्त-निष्ठा जितनी प्रबल होती जाती है, आत्म-स्वरूप की अनुभूति भी प्रखर बनती जाती है।

मुझे यह ज्ञात है कि मेरी आत्मा का याने मेरा सर्वोच्च लक्ष्य इस जड़ संसार से सभी सम्बन्ध समाप्त कर देना है अर्थात् मेरा मार्ग संसार से निवृत्ति का मार्ग है— प्रवृत्ति का नहीं। जो निवृत्ति व्रत प्रत्याख्यान की धारणा के साथ शुरू होती है, त्याग-तप की कठिन आराधना के साथ ज्यों-ज्यों वह निवृत्ति गहरी होती चली जाती है, त्यों-त्यों सम्पूर्ण सांसारिकता के प्रति मेरी अरुचि भी बढ़ती जाती है। मैं पदार्थ-मोह को त्यागता हूं किन्तु उसके बाद अपने शरीर के प्रति भी अपने ममत्व को घटा देता हूं। इस शरीर को मात्र धर्माराधना का साधन मान कर चलाता हूँ—इसके सुख के सारे ख्याल मिटा देता हूं। इतना ही नहीं, इच्छापूर्वक इसको सविवेक ऐसे कष्ट भी देता हूं कि इसकी कष्ट-सहिष्णुता सुदृढ़ बन जाय। मैं रत्न त्रय की साधना में निमग्न हो जाता हूँ क्योंकि प्रतिपल मुझे अपने सर्वोच्च लक्ष्य का ध्यान रहता है।

मैं सर्वांशतः सिद्धान्तनिष्ठ साधु जीवन या अणगार चारित्र धर्म में अपनी समस्त आत्म शक्तियों को नियोजित कर देता हूं। मैं जानता हूं कि सर्व विरति रूप यह धर्म मुझे तीन करण तीन योग अर्थात् मन, वचन व काया से न करने, न करवाने तथा न अनुमोदना करने के त्याग की प्रेरणा देता है। मेरी सर्वांशतः सिद्धान्त-निष्ठा महाव्रतों का रूप लेती है जो सर्वविरति रूप होते हैं। उपरोक्त सिद्धान्तों के अनुसार ही मेरे महाव्रत पांच होते हैं—

(१) प्राणातिपात विरमण महाव्रत—प्रमादपूर्वक सूक्ष्म और बादर (स्थूल), त्रस और स्थावर रूप समस्त जीवों के पांच इन्द्रिय, मन, वचन, काया, श्वासोश्वास और आयु रूप दस प्राणों में से किसी का अतिपात (नाश) करना प्राणातिपात है। सम्यक् ज्ञान एवं श्रद्धापूर्वक जीवनपर्यन्त प्राणातिपात से तीन करण तीन योग से निवृत्त होना प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रत है। यह महाव्रत सर्वप्राणातिपात से निवृत्ति रूप है। अर्थात् सर्व जीव को अभय दान देने रूप विधायक रूप भी है।

प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रत की पांच भावनाएं इस रूप में हैं —(१) साधु ईर्या समिति में उपयोग रखने वाला हो, क्योंकि ईर्या समिति रहित साधु प्राण, भूत, जीव, सत्त्व की हिंसा करने वाला होता है। यतना पूर्वक गमनागमन करने को ईर्या समिति कहते हैं। (२) साधु सदा उपयोगपूर्वक देखकर चौड़े मुख वाले पात्र में आहार, पानी ग्रहण करे एवं प्रकाश वाले स्थान में देखकर भोजन करे। अनुपयोग पूर्वक बिना देखे आहारादि ग्रहण करने वाले एवं भोगने वाले साधु के प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की हिंसा की संभावना रहती है। (३) अयतना से पात्रादि

भंडोपकरण लेने और रखने का आगम में निषेध है। इस लिये साधु आगमानुसार देखकर और पूंज कर यतनापूर्वक भंडोपकरण लेवे और रखे, अन्यथा प्राणियों की हिंसा संभव है। (४) संयम में सावधान साधु मन को शुभ प्रवृत्तियों में लगावे। मन को दुष्ट रूप से प्रवर्तने वाला साधु प्राणियों की हिंसा करता है। काया का गोपन होते हुए भी मन की दुष्ट प्रवृत्ति कर्मबंध का कारण होती है। (५) संयम में सावधान साधु अदुष्ट अर्थात् शुभ वचन में प्रवृत्ति करे। दुष्ट वचन में प्रवृत्ति करने वाले के प्राणियों की हिंसा संभव है।

(२) मृषावाद विरमण महाव्रत—प्रियकारी, पथ्यकारी एवं सत्य वचनों को छोड़कर कषाय, भय, हास्य आदि के वश असत्य, अप्रिय, अहितकारी वचन कहना मृषावाद है। सूक्ष्म व बादर के भेद से असत्य वचन दो प्रकार का है। सद्भाव प्रतिषेध, असद्भावोद्भावन, अर्थान्तर और गर्हा के भेद से असत्य वचन चार प्रकार का भी है। अप्रिय वचन क्या? चोर को चोर कहना, कोढ़ी को कोढ़ी कहना या काने को काना कहना आदि अप्रिय वचन है। अहित वचन क्या? शिकारियों के पूछने पर मृग देखने वाले पुरुष का उन्हें विधि रूप में उत्तर देना अहित वचन है। ये अप्रिय एवं अहित वचन व्यवहार में सत्य होने पर भी पर-पीड़ाकारी होने से एवं प्राणियों की हिंसा के पाप-हेतु होने से सावध है। अतः हिंसायुक्त होने से वास्तव में असत्य ही हैं। ऐसे मृषावाद से सर्वथा जीवन पर्यन्त तीन करण योग से निवृत्त होना मृषावाद विरमण रूप द्वितीय महाव्रत है।

मृषावाद विरमण रूप द्वितीय महाव्रत की पांच भावनाएं इस प्रकार हैं —(१) सत्यवादी साधु को हास्य का त्याग करना चाहिये, क्योंकि हास्यवश मृषा-भाषण हो सकता है। (२) साधु को सम्यक् ज्ञानपूर्वक विचार करके बोलना चाहिये, क्योंकि बिना विचारे बोलने वाला कभी झूठ भी कह सकता है। (३) क्रोध के कुफल को जानकर साधु को उसे त्यागना चाहिये। एक क्रोधान्ध व्यक्ति का अशान्त हो जाता है, वह स्व-पर का भान भूल जाता है और जो मन में आता है, वही कह देता है। इस कारण उसके झूठ बोलने की बहुत संभावना रहती है। (४) साधु को लोभ का त्याग करना चाहिये, क्योंकि लोभी व्यक्ति धनादि की इच्छा से झूठी साक्षी आदि से झूठ बोल सकता है। (५) साधु को भय का भी परिहार करना चाहिये। भयभीत व्यक्ति प्राणादि को बचाने की इच्छा से सत्य व्रत को दूषित कर असत्य में प्रवृत्ति कर सकता है।

(३) अदत्तादान विरमण महाव्रत—कहीं पर भी ग्राम, नगर, अरण्य आदि में सचित्त, अचित्त, अल्प, बहु, अणु, स्थूल आदि वस्तु को उसके स्वामी की बिना आज्ञा लेना अदत्तादान है। यह अदत्तादान स्वामी, जीव, तीर्थ एवं गुरु के भेद से चार प्रकार का होता है— स्वामी से बिना दी हुई तृण, काष्ठ आदि वस्तु लेना स्वामी अदत्तादान है, (ब) कोई सचित्त वस्तु स्वामी ने दे दी हो, परन्तु उस वस्तु के अधिष्ठाता जीव की आज्ञा बिना उसे लेना जीव अदत्तादान है। जैसे माता-पिता या संरक्षक द्वारा पुत्रादि को शिष्य भिक्षा रूप में दिये जाने पर भी उन्हें उनकी इच्छा पूर्वक दीक्षा लेने का परिणाम न होने पर भी उनकी सहमति के बिना उन्हें दीक्षा देना जीव अदत्तादान है। इसी प्रकार सचित्त पृथ्वी आदि पदार्थ स्वामी द्वारा दिये जाने पर भी पृथ्वी शरीर के स्वामी जीव की आज्ञा नहीं होने से उसे भोगना जीव अदत्तादान है। इस रूप में सचित्त वस्तु के भोगने से प्रथम महाव्रत के साथ साथ तृतीय महाव्रत भी भंग होता है। (स) वीतराग देवों व तीर्थंकर देवों द्वारा प्रतिषेध किये हुए आधा कर्मादि आहार ग्रहण करना तीर्थंकर अदत्तादान है। (द) स्वामी द्वारा निर्दोष

आहार दिये जाने पर भी गुरु की आज्ञा प्राप्त किये बिना उसे भोगना गुरु अदत्तादान है। किसी भी क्षेत्र एवं वस्तु विषयक उक्त चारों प्रकार के अदत्तादान से सदा के लिये जीवन पर्यन्त तीन करण तीन योग से निवृत्त होना अदत्तादान विरमण रूप तृतीय महाव्रत है।

अदत्तादान विरमण महाव्रत रूप तृतीय महाव्रत की भी पांच भावनाएं इस प्रकार हैं— (१) साधु को स्वयं (दूसरों के द्वारा नहीं) स्वामी अथवा स्वामी से अधिकार प्राप्त पुरुष को अच्छी तरह जानकर शुद्ध अवग्रह (रहने के स्थान) की याचना करनी चाहिये, अन्यथा साधु को अदत्त ग्रहण का दोष लगता है। (२) अवग्रह की आज्ञा लेकर भी वहाँ रहे हुए तृणादि का ग्रहण करने के लिये साधु को आज्ञा प्राप्त करनी चाहिये। शय्यातर का अनुमति वचन सुनकर ही साधु को उन्हें लेना चाहिये अन्यथा वह बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण करने एवं भोगने का दोषी बन जाता है। (३) साधु को उपाश्रय की सीमा खोलकर एवं आज्ञा प्राप्त कर उसका सेवन करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि एक बार स्वामी के उपाश्रय की आज्ञा दे देने पर भी बार-बार उपाश्रय का परिमाण खोल कर आज्ञा प्राप्त करनी चाहिये। ग्लानादि अवस्था में लघुनीत, बड़ीनीत परिठवने, अवग्रह (उपाश्रय) की आज्ञा होने पर भी, याचना करनी चाहिये ताकि दाता का दिल दुखित न हो, (४) गुरु अथवा रत्नाधिक की आज्ञा प्राप्त करके आहार करना चाहिये। आशय यह है कि सूत्रोक्त विधि से प्रासुक ऐषणीय प्राप्त आहार को उपाश्रय में लाकर गुरु के आगे आलोचना कर और आहार दिखलाकर फिर साधु मंडली में या अकेले उसे खाना चाहिये। धर्म के साधन रूप अन्य उपकरणों का ग्रहण एवं उपयोग भी गुरु की आज्ञा से ही करना चाहिये। (५) उपाश्रय में रहे हुए समान आचार वाले संभोगी साधुओं से नियत क्षेत्र और काल के लिये उपाश्रय की आज्ञा प्राप्त करके ही वहां रहना एवं भोजनादि करना चाहिये अन्यथा चोरी का दोष लगता है।

(४) मैथुन विरमण महाव्रत—देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी दिव्य एवं औदारिक काम-सेवन का तीन करण तीन योग से जीवन पर्यन्त का त्याग करना मैथुन विरमण रूप चतुर्थ महाव्रत है।

मैथुन विरमण रूप चतुर्थ महाव्रत की पांच भावनाएं इस प्रकार हैं —(१) ब्रह्मचारी साधु को आहार के विषय में संयत होना चाहिये। अति स्निग्ध, सरस आहार न करना चाहिये और न परिमाण से अधिक ठूंस-ठूंस कर ही आहार करना चाहिये। अन्यथा ब्रह्मचर्य की विराधना हो सकती है। मात्रा से अधिक आहार तो ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त शरीर के लिये भी पीड़ाकारी होता है। (२) ब्रह्मचारी को शरीर की विभूषा अर्थात् शोभा-सुश्रूषा नहीं करनी चाहिये। स्नान, विलेपन, केश सम्मार्जन आदि शरीर की सजावट में दत्त-चित्त साधु सदा चंचल-चित्त रहता है और उसे विकारोत्पत्ति होती है, जिससे चौथे महाव्रत की विराधना भी हो सकती है। (३) स्त्री एवं उसके मनोहर मुख, नेत्र आदि अंगों को काम वासना की दृष्टि से नहीं निरखना चाहिये। वासना भरी दृष्टि के साथ उन्हें देखने से ब्रह्मचर्य का खंडित होना संभव है। (४) स्त्रियों के साथ परिचय न रखे। स्त्री, पशु, नपुंसक से सम्बन्धित उपाश्रय, शयन, आसन आदि का सेवन न करे, अन्यथा ब्रह्मचर्य का महाव्रत भंग हो सकता है। (५) तत्त्वज्ञ मुनि स्त्री-विषयक काम कथा न करे। स्त्री-कथा में आसक्त साधु का चित्त विकृत हो जाता है। स्त्री-कथा को ब्रह्मचर्य के लिये घातक समझकर इससे ब्रह्मचारी को सदा दूर रहना चाहिये। पूर्व-क्रीड़ित अथवा गृहस्थावस्था में भोगे हुए काम- का

भी नहीं करना चाहिये क्योंकि पूर्व रति एवं क्रीड़ा का स्मरण करने से कामाग्नि दीप्त होती है जो ब्रह्मचर्य के लिये घातक है।

(५) परिग्रह विरमण महाव्रत—अल्प, बहु, अणु, स्थूल, सचित्त, अचित्त आदि समस्त द्रव्य विषयक परिग्रह का तीन करण तीन योग से त्याग करना परिग्रह विरमण रूप पंचम महाव्रत है। मूर्च्छा-ममत्व होना भाव परिग्रह है और वह त्याज्य है। मूर्च्छा भाव का कारण होने से बाह्य सकल वस्तुएँ द्रव्य परिग्रह है और वे भी त्याज्य हैं। भाव परिग्रह मुख्य है और द्रव्य परिग्रह गौण। इसलिये यह कहा गया है कि यदि धर्मोपकरण एवं शरीर पर साधु के मूर्च्छा ममता भाव जनित राग-भाव न हो तो वह उन्हें धारण करता हुआ भी अपरिग्रही ही है।

परिग्रह विरमण रूप पंचम महाव्रत की पांचों भावनाएं पांचों इन्द्रियों से सम्बन्धित हैं। पांचों इन्द्रियों के विषय—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श के इन्द्रिय गोचर होने पर मनोज्ञ विषयों पर साधु मूर्च्छा-गृहि भाव न लावे और अमनोज्ञ पर द्वेष न करे। यों तो विषयों के गोचर होने पर इन्द्रियां उसमें लगती ही हैं, परन्तु साधु को मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ विषयों पर राग द्वेष नहीं करना चाहिये। पंचम महाव्रत में मूर्च्छा रूप भाव परिग्रह का त्याग किया जाता है, इसलिये मूर्च्छा-ममत्व करने से यह महाव्रत खंडित हो जाता है।

साधु प्राणातिपात से निवृत होने के लिये यतनापूर्वक जो सम्यक् प्रवृति करता है, वह समिति कहलाती है। प्रशस्त एकाग्र परिणाम पूर्वक की जाने वाली समिति के पांच भेद बताये गये हैं (१) ईर्या समिति—ज्ञान, दर्शन और चारित्र के निमित्त युग परिमाण भूमि को एकाग्र चित्त से देखते हुए राजमार्ग आदि में यतनापूर्वक गमनागमन करना, (२) भाषा समिति—यतनापूर्वक भाषण में प्रवृति करना अर्थात् आवश्यकता होने पर भाषा के दोषों का परिहार करते हुए सत्य, हित, मित और असंदिग्ध वचन कहना, (३) ऐषणा समिति—गवैषणा, ग्रहण और ग्रास, सम्बन्धी ऐषणा के दोषों से अदूषित अतएव विशुद्ध आहार, पानी, रजोहरण, मुखवाधिका आदि औधिक उपधि और शय्या, पाट, पाटलादि औपग्रहिक उपधि का ग्रहण करना। (४) आदान, मंड मात्र निक्षेपणा समिति—आसन, संस्तारक, पाट, पाटला, वस्त्र, पात्र, दंडादि उपकरणों को उपयोगपूर्वक देखकर एवं रजोहरणादि से पूंजकर लेना एवं उपयोगपूर्वक देखी और पूंजी हुई भूमि पर रखना, तथा (५) उच्चार प्रस्रवण खेलसिंघाण जल्ल परिस्थापनिका समिति—स्थंडिल के दोषों का वर्जन करते हुए परिठवने योग्य लघुनीत, बड़ीनीत, थूक, कफ, नासिका मल, और मैल आदि को निर्जीव स्थंडिल में उपयोगपूर्वक वोसिराना।

मोक्ष के लिये किये जाने वाले ज्ञानादि आसेवन रूप अनुष्ठान विशेष आचार कहलाते हैं, जो पांच हैं (१) ज्ञानाचार—सम्यक् तत्त्व का ज्ञान कराने के कारण भूत श्रुतज्ञान की आराधना करना, (२) दर्शनाचार—दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व की निःशंकितादि रूप से शुद्ध आराधना करना, (३) चारित्राचार—ज्ञान एवं श्रद्धापूर्वक सर्व सावध योगों का त्याग करना चारित्र है और उसका सेवन करना चारित्राचार, (४) तपाचार—इच्छा निरोध रूप अनशनादि तप का सेवन करना एवं (५) वीर्याचार—अपनी शक्ति का गोपन न करते हुए धर्म कार्यों में यथा शक्ति मन, वचन, काया द्वारा प्रवृत्ति करना।

चारित्र दोष के कारण पांच प्रकार के साधुओं को अवन्दनीय माना गया है (१) पासत्थ जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और प्रवचन में सम्यक् उपयोग वाला नहीं है, (२) अवसन्न—जो समाचारी के विषय में प्रमाद करता है, (३) कुशील—जिसका कुत्सित याने निंद्य शील आचार हो, (४) संसक्त—जिसमें मूल व उत्तर गुणों के दोष पाये जाते हों, और (५) यथाच्छन्द— जो सूत्र विपरीत प्ररूपणा करने तथा आचरण रखने वाला हो।

इस प्रकार सर्वांशतः सिद्धान्तनिष्ठ जीवन स्वीकार करने वाले साधु मुनियों के लिये उपरोक्त आधारभूत पांच सिद्धान्त पांच महाव्रतों के रूप में मूल गुण कहलाते हैं। इन मूल गुणों की सुरक्षा के लिये आचार सम्बन्धी जो कई प्रकार के नियम, वाड़ वगैरह बताये गये हैं, वे साधु के उत्तर गुण कहलाते हैं।

आजकल कई लोगों द्वारा जो यह दलील दी जाती है कि जमाने को देखते हुए साधुओं को अपने आचार नियमों में आवश्यक संशोधन करने चाहिये। उस दलील के जवाब में मोटी बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि साधु के मूल गुण तो आधारभूत हैं जिनमें कोई परिवर्तन कतई नहीं किया जा सकता है, क्योंकि आधार को ही हटा लोगे या मूल में ही भूल करते जाओगे तो साध्वाचार का स्वरूप ही विकृत हो जायगा। उत्तर गुणों में संयम को आघात नहीं पहुंचाने वाला ऐसा कोई संशोधन हो तो उस पर साधु समाज विचार करके योग्य निर्णय ले सकता है।

साध्वाचार की भव्य गरिमा को भली भांति समझकर मैं जब सच्चे साधु या श्रमण की महिमा को हृदयंगम करता हूं तो मेरा मन आत्मानन्द से ओतप्रोत हो जाता है कि मैं भी उस महिमा को आत्मसात् करने में आदर्शसिद्ध होऊं। मैं समझता हूं कि एक भिक्षु के वास्तविक चिह्न —क्षमा, विनम्रता, सरलता, निर्लोभता, अदीनता, तितिक्षा और आवश्यक क्रियाओं की परिशुद्धि मेरे आत्मस्वरूप को भी प्रकाशमान बनावें। मेरा इन्द्रिय निग्रह भी इस रूप में प्रशस्त बने कि शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श में मेरा चित्त कतई अनुरक्त न हो और न ही मैं उनसे द्वेष करूं। मैं अपनी कुमार्गगामिनी इन्द्रियों के दुष्ट घोड़ों को कुशल सारथि की तरह नियंत्रण में रखूंगा और संयम पथ पर आगे बढ़ाता रहूंगा।

मैं जानता हूं कि सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, जंगल में रहने से कोई मुनि नहीं होता और वल्कल धारण करने से कोई तापस नहीं होता, इसलिये मैं समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस बनूंगा। श्रमण स्वरूप में मेरा कोई स्वजन नहीं तो कोई परजन नहीं होता। सर्वत्र समतामय रूप मुझे दिखाई देता है। मैं हवा के समान निरालंब और आकाश के समान निरूपलेप होऊंगा, मेरा श्रमणत्व इसी में सार्थक होता है कि सारी दुनिया के साथ अपनी देह पर से भी अपना ममत्व हटा लूं। मैं सदा ऋजुता तथा मृदुता से संयुक्त रहना चाहता हूं। जीव मात्र पर मेरी समदृष्टि रहती है और सुख दुःख, लाभ अलाभ, निन्दा स्तुति, मान-अपमान या जीवन-मरण में भी मेरी समता वृत्ति घटे नहीं यह मेरा सत्प्रयास रहता है। आधार मिल जाए तो मैं हर्ष नहीं मनाऊं और निराहार रह जाना पड़े तब भी विषाद नहीं, मैं तो सर्वदा आत्मस्थिति में ही लीन रहना चाहता हूं। लब्धियां भी मुझे मिल जाय तब भी किसी प्रकार का अभिमान मैं नहीं करूं, क्योंकि क्षुद्र अहंभाव का मेरे जीवन में कोई स्थान नहीं होता। अहर्निश धर्मध्यान में मैं निमग्न रहना चाहता हूं और कठिन तप की आराधना करते हुए

कर्मों से सम्पूर्ण मुक्ति की मैं कामना करता रहता हूं। इस कारण मेरी समग्र क्रियाएं संयमनिष्ठ रहती हैं। मेरे संयम को डिगाने वाली कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों नहीं आवे, मैं उनमें अविचलित रहना चाहता हूँ। जिस प्रकार धरती सारे कष्टों को सहते हुए भी महती सहनशील बनी रहती है, उसी प्रकार मैं भी परिषहों को सविवेक सहते हुए अपनी आत्म साधना को कष्ट-सहिष्णु बना लेता हूं। राग और द्वेष को लेश मात्र भी नहीं आने देकर मैं सांसारिकता के इन बीजों को समाप्त कर देना चाहता हूं। मेरी अभिलाषा है कि मैं समतामय बन जाऊं—मेरे भाव, मेरी दृष्टि तथा मेरा सम्पूर्ण आचरण समता से ओत-प्रोत बन जाय।

मैं वीतराग देवों की आज्ञा की आराधना करते हुए जिस श्रद्धा से मैंने संयम अंगीकार किया, उससे भी अधिक श्रद्धा से मैं संयम का सम्यक् पालन करता ही चला जाऊं—अपने सकल कर्मों का क्षय करता हुआ, रत्न त्रय की आराधना करता हुआ और जीवन को स्व-पर हित में नियोजित करता हुआ आत्म विकास की महायात्रा में अग्रगामी बन जाऊं।

सिद्धान्तों का आंशिक पालन

मैं भावना भाऊं कि जब तक उपरोक्त सिद्धान्तों का सर्वांशतः पालन करने में मैं समर्थ न बन जाऊं तब तक सिद्धान्तों का आंशिक पालन ही पूरी निष्ठा से करूं क्योंकि मैं जानता हूं कि देशविरति संयम ही सर्वविरती संयम में प्रतिफलित होता है—साधुत्व की आधारशिला श्रावकत्व की आराधना ही होती है। महासत्वसम्पन्न तीर्थंकरों के लिये साधुत्व को पाने के लिये श्रावक बनने की आवश्यकता नहीं रहती

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह के सिद्धान्तों पर आधारित मेरे श्रावकत्व के अणु (छोटे) व्रत होते हैं, महाव्रत की अपेक्षा छोटे एकदेशीय त्याग रूप। मेरे अणुव्रत पांच, गुणव्रत तीन, शिक्षाव्रत चार कुल बारह व्रत होते हैं। पांच अणुव्रत निम्नानुसार हैं—

(१) अहिंसा अणुव्रत (स्थूल प्राणातिपात का त्याग) : स्वशरीर में पीड़ाकारी, अपराधी तथा सापेक्ष निरपराधी के सिवाय शेष द्विन्द्रिय आदि त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा दो करण तीन योग याने मन, वचन, काया से न करना और न करवाना। इस अणुव्रत के पांच अतिचार हैं। वर्जित कार्य को करने का विचार करना अतिक्रम कहलाता है, व्रतभंग रूप कार्य पूर्ति के लिये साधन जुटाना व्यतिक्रम है तो व्रतभंग की पूरी तैयारी कर लेना अतिचार होता है। यह अतिचार भी तब तक है जब तक कि व्रतभंग नहीं किया है। अतः अतिचार उसको कहते हैं जहाँ व्रत की अपेक्षा रखते हुए कुछ अंश में व्रत का भंग किया जाय। व्रत की अपेक्षा न रखते हुए संकल्पपूर्वक व्रत भंग करना अनाचार होता है। अनाचार की आज्ञा नहीं है और अतिचार का प्रायश्चित्त किया जाता है। अहिंसा अणुव्रत के अतिचार पांच इस प्रकार कहे गये हैं (अ) बंध—द्विपद, चतुष्पद आदि को रस्सी आदि से अन्यायपूर्वक बांधना बंध है जो द्विपद-चतुष्पद के भेद से दो प्रकार का तो प्रत्येक अर्थ बंध व अनर्थ बंध के भेद से दो-दो प्रकार का होता है। अर्थ बंध भी दो प्रकार का है, सापेक्ष बंध तथा निरपेक्ष बंध। लापरवाही के साथ निर्दयतापूर्वक क्रोधवश गाढ़ा बधन बांध देना निरपेक्ष अर्थ बंध होता है। सापेक्ष अर्थ बंध श्रावक के लिये अतिचार नहीं है किन्तु अनर्थ बंध तथा निरपेक्ष अर्थ बंध उसके लिये अतिचार होते हैं अतः त्याज्य होते हैं। (ब) वध—कोड़े आदि से मारना वध है। इसके भी अर्थ-अनर्थ, सापेक्ष-निरपेक्ष भेद होते हैं। अनर्थ एवं निरपेक्ष भेद अतिचार में शामिल

हैं। शिक्षा के हेतु दास, दासी, पुत्र आदि को या नुकसान करते हुए चतुष्पद को आवश्यकता होने पर दयापूर्वक उनके मर्मस्थानों को चोट न लगाते हुए मारना सापेक्ष अर्थ बंध होता है जो श्रावक के लिये अतिचार नहीं है। (स) छविच्छेद—शस्त्रों से अंगोपांगों का छेदन करना छविच्छेद है। निष्प्रयोजन अथवा प्रयोजन होने पर भी निर्दयतापूर्वक हाथ, पैर, कान, नाक आदि का छेदन करना अतिचार रूप है। किन्तु प्रयोजन होने पर दयापूर्वक सामने वाले की भलाई के लिये चीर फाड़ (डॉक्टरी) आदि सापेक्ष छविच्छेद है जो अतिचार नहीं होता। (द) अतिभार—द्विपद, चतुष्पद पर उसकी शक्ति से अधिक भार लादना आतिभार है। श्रावक को मनुष्य अथवा पशु पर क्रोध अथवा लोभवश निर्दयता के साथ अधिक भार नहीं धरना चाहिये। और न ऐसी वृत्ति (रोजगार) करनी चाहिये। सामान्यतया उठा सके उतना ही भार लादना चाहिये। श्रावक को चतुष्पदी सवारी पर चढ़ने का भी विवेक रखना चाहिये। (य) भक्तपान विच्छेद—निष्कारण निर्दयता के साथ किसी के आहार पानी का विच्छेद करना भक्त पान विच्छेद अतिचार है। श्रावक को इसका परिहार करना चाहिये। रोगादि निमित्त से, वैद्यादि के कहने पर या शिक्षा के हेतु खाना पीना न दिया जाय—वह अतिचार में शामिल नहीं है। बिना कारण किसी का रोजगार उजाड़ना या नियत समय पर वेतन आदि न देना इसी अतिचार में शामिल है।

(२) सत्याणुव्रत (स्थूल मृषावाद का त्याग) : दुष्ट अध्यवसायपूर्वक तथा स्थूल वस्तु विषयक बोला जाने वाला असत्य-झूठ स्थूल मृषावाद होता है। अविश्वास आदि के कारण स्वरूप इस स्थूल मृषावाद का श्रावक दो करण तीन योग से त्याग करता है। स्थूल मृषावाद पांच प्रकार का होता है—(अ) कन्या-वर सम्बन्धी झूठ, (ब) गाय, भैंस आदि पशु सम्बन्धी झूठ, (स) भूमि सम्बन्धी झूठ, (द) किसी की धरोहर दबाना या उसके सम्बन्ध में झूठ बोलना तथा (य) झूठी गवाही देना।

सत्याणुव्रत के भी पांच अतिचार होते हैं—(अ) सहसाभ्याख्यान —बिना विचारे किसी पर मिथ्या आरोप लगाना। अनुपयोग अथवा असावधानी से बिना विचारे आरोप लगाना अतिचार है। जानते हुए इरादे के साथ तीव्र संक्लेश से मिथ्या आरोप लगाना अनाचार होता है तथा उससे व्रत भंग हो जाता है। (ब) रहस्याख्यान—एकान्त में सलाह करते हुए व्यक्तियों पर आरोप लगाना। एकान्त विशेषण होने से यह अतिचार पहले अतिचार से भिन्न है। इस अतिचार में संभावित अर्थ कहा जाता है। (स) स्व-दार मंत्र भेद —स्व-स्त्री के साथ एकान्त में हुई विश्वस्त मंत्रणा को दूसरे से कहना अथवा विश्वास करने वाली स्त्री, मित्र आदि की गुप्त मंत्रणा को प्रकाश में लाना। सत्य होते हुए भी यह बात लज्जा और संकोच पर प्रहार करती है अतः अतिचार है। इससे घात या आत्म-घात की आशंका रहती है। यह अनर्थ परम्परा भी है सो त्याज्य है। श्रावक इसका ध्यान रखे। (द) मृषोपदेश—बिना विचारे अनुपयोग से या किसी बहाने से दूसरों को असत्य उपदेश देना। पीड़ाकारी वचन कहना या दूसरों को असत्य वचन बोलने को प्रेरित करना भी इसी अतिचार में शामिल है। कोई अपना संदेह निवारण करने आवे, उसे उत्तर में अयथार्थ स्वरूप कहना या सम्बन्ध जोड़ने आदि का उपदेश देना मृषोपदेश ही है। (य) कूट लेखकरण—झूठा लेख या लिखत लिखना, जाली दस्तावेज मोहर या हस्ताक्षर बनाना और प्रमाद तथा अविवेक से ऐसा करना अतिचार है। व्रत की अपेक्षा हो पर विवेक का अभाव रहे तो अतिचार होता है, वरना जानवूझ कर कूट लेख लिखना अनाचार है।

(३) अचौर्याणुव्रत (स्थूल अदत्तादान का त्याग)—क्षेत्रादि में सावधानी से रखी हुई या असावधानी से पड़ी हुई या भूली हुई किसी सचित्त, अचित्त स्थूल वस्तु को, जिसे लेने से चोरी का अपराध लग सकता हो अथवा दुष्ट अध्यवसायपूर्वक साधारण वस्तु को स्वामी की आज्ञा बिना लेना स्थूल अदत्तादान है। खात खनना, गांठ खोलकर चीज निकालना, जेब काटना, दूसरे के ताले को विना आज्ञा चाबी लगाकर खोलना, मार्ग में चलते हुए को लूटना, स्वामी का पता होते हुए भी किसी पड़ी वस्तु को ले लेना आदि स्थूल अदत्तादान में शामिल हैं। श्रावक ऐसे स्थूल अदत्तादान का दो करण तीन योग से त्याग करता है।

स्थूल अदत्तादान विरमण रूप तीसरे अणुव्रत के पांच अतिचार हैं—(अ) स्तेनाहृत चोर की चुराई हुई वस्तु को खरीदना या यों ही छिपा कर ले लेना। (ब) स्तेन प्रयोग—चोरों को चोरी की प्रेरणा देना, चोरी के उपकरण देना या बेचना अथवा चोर की सहायता करके उसको चोरी के लिये उकसाना। (स) विरुद्ध राज्यातिक्रम —शत्रु राज्यों के राज्य में जाना आना। (द) कूट तुला कूट मान—झूठा याने हीनाधिक तोल या माप रखना। परिमाण से बड़े तोल व माप से वस्तु लेना और छोटे तोल-माप से वस्तु बेचना। (य) तत्प्रतिरूपक व्यवहार बहुमूल्य बढ़िया वस्तु में समान दीखने वाली घटिया वस्तु की मिलावट करना तथा नकली वस्तु को असली बताकर बेचना।

(४) स्व-दार सन्तोष—स्व-स्त्री अर्थात् अपने साथ ब्याही हुई स्त्री में सन्तोष करना। अपनी विवाहित पत्नी के सिवाय शेष औदारिक शरीरधारी मनुष्य-तिर्यंच के शरीर को धारण करने वालों के साथ एक करण एक योग से (काया से सेवन नहीं करूंगा इस प्रकार) तथा वैक्रिय शरीरधारी तथा देव देवी के साथ दो करण तीन योग से मैथुन सेवन का त्याग करना स्वदार सन्तोष नामक चौथा अणुव्रत है।

इस अणुव्रत के पांच अतिचार इस प्रकार हैं (अ) इत्वरिका परिगृहीतागमन—भाड़ा देकर कुछ काल के लिये अपने अधीन की हुई स्त्री से गमन करना। (ब) अपरिगृहीता गमन—विवाहित पत्नी के सिवाय वेश्या, अनाथ, कन्या, विधवा, कुलवधू आदि से गमन करना। इन दोनों प्रकार से गमन करने का संकल्प एवं तत्सम्बन्धी उपाय, आलाप, संलाप, आदि अतिक्रम, व्यतिक्रम की अपेक्षा ये दोनों अतिचार हैं और ऐसा करने पर व्रत एक देश से खंडित होता है। सुई डोरे के न्याय से इनका सेवन करने में सर्वथा व्रत भंग हो जाता है। (स) अनंगक्रीड़ा—काम सेवन के जो प्राकृतिक अंग हैं, उनके सिवाय अन्य अंगों से क्रीड़ा करना। वर्ज्य स्त्रियों (स्वस्त्री सिवाय) के साथ मैथुन क्रिया को छोड़ अनुराग से आलिंगन आदि करना भी अतिचार है। (द) पर विवाहकरण—अपना और अपनी सन्तान के सिवाय अन्य का विवाह करना अतिचार है। (य) काम भोग तीव्राभिलाष—पांच इन्द्रियों के विषय शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श में आसक्ति होना। श्रावक को पुरुषवेद जनित बाधा की शान्ति के उपरान्त स्व-स्त्री के साथ भी मैथुन सेवन नहीं करना चाहिये। कामशास्त्र अथवा बाजीकरण औषधियों से निरन्तर रति क्रीड़ा का सुख चाहने से भी यह व्रत मलिन होता है। खुद खाज पैदा कर उसे खुजलाने में सुख का अनुभव करना बुद्धिमत्ता नहीं है।

(५) इच्छा (परिग्रह) परिमाण—खेत, वास्तु, धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, द्विपद, चतुष्पद एवं कुप्य (धातु व घरबिखरी) रूप नव प्रकार के परिग्रह की मर्यादा करना तथा मर्यादा के उपरान्त परिग्रह का एक करण तीन योग से त्याग करना इच्छा परिमाण व्रत है। तृष्णा व मूर्च्छा को कम करके सन्तोष में रत रहना ही इस व्रत का प्रमुख उद्देश्य है।

परिग्रह-परिमाण व्रत के पांच अतिचार हैं—(अ) क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रम—खेती की जमीन दो प्रकार की सेतु (सिंचित) व केतु (वर्षा-सिंचित) होती है तथा वास्तु घर मकान को कहते हैं, इन सबकी जो मर्यादा ली है, उसका अतिक्रमण अतिचार है। (ब) हिरण्यसुवर्ण प्रमाणातिक्रम—घड़े, बिना घड़े सोने चांदी तथा जवाहरात की मर्यादा का अतिक्रमण करना। (स) धनधान्यातिक्रमण—गणिम, धरिम, गेय, परिच्छेद्य रूप चार प्रकार के धन तथा चौबीस प्रकार के धान्य की स्वीकृत मर्यादा का उल्लंघन करना। (द) द्विपद-चतुष्पद प्रमाणातिक्रम—द्विपद सन्तान, स्त्री, दास-दासी, पक्षी तथा चतुष्पद गाय घोड़ा आदि के परिमाण का उल्लंघन करना। (य) कुप्य प्रमाणातिक्रम—सोने चांदी के सिवाय अन्य धातु तथा घर बिखरी की स्वीकृत मर्यादा का अतिक्रमण करना।

श्रावक के पांच अणुव्रत के बाद तीन गुण व्रतों का क्रम आता है जो इस प्रकार है —

(६) दिशा परिमाण व्रत—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, अधो (नीची) व ऊर्ध्व (ऊंची) इन छः दिशाओं के क्षेत्रों की मर्यादा निर्धारित करना तथा मर्यादा के उपरान्त आगे के क्षेत्रों में जाने आने की क्रियाओं का त्याग करना। इस व्रत का यह व्यवहार अंश है तो चार गति को कर्म की परिणति समझ कर उनमें उदासीन भाव रखना तथा सिद्धावस्था को उपादेय मानना निश्चय दिशा परिमाण व्रत है। पांच अतिचार—(अ) ऊर्ध्व दिशा परिमाणातिक्रम—ऊर्ध्व दिशा की मर्यादा का उल्लंघन। (ब) अधोदिशापरिमाणातिक्रम—नीची दिशा की मर्यादा का उल्लंघन। (स) तिर्यग् दिशा परिमाणातिक्रम—तिरछी दिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन। इन उल्लंघनों में अनुपयोग या असावधानी रहे तो अतिचार और जान बूझकर उल्लंघन करे तो अनाचार होगा। (द) क्षेत्र वृद्धि—एक दिशा का परिमाण घटाकर दूसरी दिशा के परिमाण को बढ़ा देना। (य) स्मृत्यन्तर्धान—ग्रहण की हुई मर्यादा का स्मरण न रहना स्मृतिभ्रंश अतिचार है।

(७) उपभोग परिभोग परिमाण व्रत—उपभोग (एक बार भोगी जाने वाली वस्तुएं जैसे भोजनादि) तथा परिभोग (अनेक बार भोगी जाने वाली वस्तुएं जैसे वस्त्र, अलंकार आदि) की वस्तुओं की इच्छानुसार मर्यादा रखना और मर्यादा के उपरान्त सभी वस्तुओं के उपभोग-परिभोग का त्याग करना। निश्चय दृष्टि से आत्मा ही ज्ञानादि स्वगुणों का कर्त्ता और भोक्ता होता है अतः आत्मस्वरूपानुगामी परिणाम का निश्चय उपभोग—परिभोग परिमाण व्रत कहते हैं। पांच अतिचार (अ) सचित्ताहार—परिमाण से अधिक सचित्त वस्तु का आहार करना, (ब) सचित्त प्रतिबद्धाहार—सचित्त वृक्ष बीज आदि से सम्बद्ध पके फल आदि का आहार करना। मर्यादा उपरान्त सचित्त से सम्बन्ध (संघट्टा) रखने वाली अचित्त वस्तु को खाना भी अतिचार है। (स) अपक्व औषधि भक्षण—अग्नि में बिना पकी हुई शालि आदि औषधि का भक्षण करना। अनुपयोग से खाने में यह अतिचार है। (द) दुष्पक्व औषधि भक्षण—बुरी तरह से पकाई हुई अग्नि में अधपकी औषधि को पकी हुई जानकर भक्षण करना। (य) तुच्छौषधि भक्षण—असार औषधियों का भक्षण करना। अल्प तृप्ति के गुण वाली ऐसी चीजों को खाने से बड़ी विराधना होती है। इस व्रत में भोजन की अपेक्षा से ये पांच अतिचार हैं तथा वृत्ति की अपेक्षा पन्द्रह प्रकार के अकरणीय व्यवसाय (कर्मादान) बताये गये हैं।

(८) अनर्थदंड विरमण व्रत—निष्प्रयोजन, अपनी आत्मा को पाप, आरंभ आदि कार्यों में लगाना अनर्थदंड है। इसका त्याग करना व्यवहार अनर्थदंड विरमण व्रत है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग से जिन शुभाशुभ कर्मों का बंध होता है, उनमें अपनापन रखना निश्चय

अनर्थदंड है। इन्हें आत्मा से भिन्न समझकर इनसे व इनके कारणों से आत्मा को बचाना निश्चय अनर्थदंड विरमण व्रत है। पांच अतिचार (अ) कन्दर्य—काम उत्पन्न करने वाले वचन का प्रयोग करना, राग के आवेश में हास्य मिश्रित मोहोद्दीपक मजाक करना। (ब) कौत्कुच्य—भांडों की तरह अंगों को विकृत बनाकर दूसरों को हंसाने की चेष्टा करना। (स) मोखर्य —ढिठाई के साथ असत्य-ऊटपटांग वचन बोलना। (द) संयुक्ताधिकरण—कार्य करने के योग्य ऐसे ऊखल-मूसल, शिला-लोढा, धनुष-बाण आदि अधिकरणों को जो साथ साथ में काम आते हैं, एक साथ रखना। (य) उपभोग परिभोगतिरिक्त उबटन, तैल, वस्त्राभूषण आदि उपभोग-परिभोग की वस्तुओं को अपने व अपने आत्मीयजनों के उपयोग में अधिक रखना।

पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत—ये कुल मिलाकर बारह अणुव्रत श्रावक के होते हैं। चार शिक्षाव्रत निम्न हैं—

(९) सामायिक व्रत—मन, वचन, काया को पाप व आरंभ से हटाना और पापारंभ न हो इस प्रकार उनकी प्रवृत्ति करना व्यवहार सामायिक है। जीव के ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणों का विचार करना और आत्म गुणों की अपेक्षा सर्व जीवों को समान समझ कर समता भाव धारण करना निश्चय सामायिक है। पांच अतिचार—(अ) मनोदुष्प्रणिधान—मन का दुष्ट प्रयोग करना याने मन को बुरे योग-व्यापार में लगाना। जैसे सामायिक करके घर सम्बन्धी अच्छे-बुरे कार्यों का विचार करना। (ब) वाग्दुष्प्रणिधान—वचन का दुष्ट प्रयोग करना जैसे असभ्य, कठोर एवं सावध वचन बोलना। (स) काय दुष्प्रणिधान—बिना देखी, बिना पूंजी जमीन पर हाथ, पैर आदि अवयव रखना। (द) सामायिक का स्मृत्यकरण—सामायिक की स्मृति नहीं रखना अर्थात् उपयोग नहीं रखना। प्रमादवश भूल जाना। (य) अनवस्थित सामायिक करण—अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना जैसे अनियत अल्पकाल तक ही बैठना या अस्थिरता से अनादरपूर्वक करना। पहले तीन अतिचार अनुपयोग तो बाद के दो अतिचार प्रमाद से अधिक सम्बन्धित हैं।

(१०) देशावकाशिक व्रत—मन, वचन, काया के योगों को स्थिर करना और एक जगह बैठकर धर्मध्यान करना व मर्यादित दिशाओं से बाहर आश्रवों का सेवन नहीं करना। ज्ञान स्वरूप जीव द्रव्य का ध्यान करना एवं इसी में रमण करना। पांच अतिचार —(अ) आनयन प्रयोग—मर्यादा किये हुए क्षेत्र से बाहर स्वयं न जा सकने से दूसरे से संदेश आदि देकर सचित्तादि द्रव्य मंगाना। (ब) प्रेष्य प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से बाहर मर्यादा अतिक्रम के भय से स्वयं न जाकर नौकर-चाकर आदि को भेजकर द्रव्य मंगाना या कार्य कराना। (स) शब्दानुपात —मर्यादा अतिक्रम के भय से बाहर के निकटवर्ती लोगों को छींक, खांसी आदि शब्द द्वारा ज्ञान कराना। इसमें व्रत भंग का भय भी रहता है। (द) रूपानुपात—नियमित क्षेत्र से बाहर प्रयोजन होने पर दूसरों को अपने पास बुलाने के लिये अपना या पदार्थ विशेष का रूप दिखाना। (य) बहिर्पुद्‌गल प्रक्षेप—नियमित क्षेत्र से बाहर प्रयोजन होने पर दूसरों को जताने के लिये ढेला, कंकर आदि फैंकना।

(११) पौषध व्रत—चार प्रहर से लेकर आठ प्रहर तक सावद्य व्यापार का त्याग कर समता परिणाम को धारण करना और स्वाध्याय तथा ध्यान में प्रवृत्ति करना व्यवहार पौषध व्रत है। अपनी आत्मा को ज्ञान-ध्यान द्वारा पुष्ट करना निश्चय पौषध व्रत है। पांच अतिचार—(अ) अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित शय्या संस्तारक शय्या, संस्तारक का आंखों से निरीक्षण न करना या अन्यमनस्क होकर

असावधानी से निरीक्षण करना। (ब) अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित शय्या संस्तारक—शय्या, संस्तारक को न पूंजना अथवा अनुपयोगपूर्वक असावधानी से पूंजना। (स) अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित उच्चार प्रस्रवण भूमि—मल-मूत्र आदि परिठवने के स्थंडिल को न देखना या बिना उपयोग असावधानी से देखना। (द) अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवण भूमि स्थंडिल को न पूंजना या अनुपयोग पूर्वक असावधानी से पूंजना। (य) पौषधोपवास का सम्यक् अपालन —आगमोक्त विधि से स्थिर चित्त होकर पौषधोपवास का पालन न करना तथा पौषध में आहार, शरीर सुश्रूषा, अब्रह्म तथा सावध व्यापार की अभिलाषा करना।

(१२) अतिथि संविभाग व्रत—हमेशा और विशेष कर पौषध के पारणे के दिन पंचमहाव्रत धारी साधु एवं स्वधर्मी बंधु को यथाशक्ति भोजनादि देना व्यवहार अतिथि संविभाग व्रत है। अपनी आत्मा एवं शिष्य को ज्ञान दान देना या स्वयं पढ़ना, शिष्य को पढ़ाना तथा सिद्धान्तों का श्रवण करना और कराना निश्चय असंविभागव्रत है। पांच अतिचार—(अ) सचित्त निक्षेप—साधु को नहीं देने की बुद्धि से कपटपूर्वक सचित्त धान्य आदि पर अचित्त अन्नादि का रखना। (ब) सचित्त अपिधान —साधु को नहीं देने की बुद्धि से कपटपूर्वक अचित्त अन्नादि को सचित्त फलादि से ढंकना। (स) कालातिक्रम—उचित भिक्षा काल का अतिक्रमण करना। काल के अतिक्रम हो जाने पर यह सोचकर दान के लिये उद्यत होना कि अब साधुजी आहार तो लेंगे नहीं पर वे जान लेंगे कि यह श्रावक दातार है। (द) पर-व्यपदेश —आहारादि अपना होने पर भी न देने की बुद्धि से उसे दूसरे का बताना। (य) मत्सरिता—अमुक पुरुष ने दान दिया है तो क्या मैं कृपण या हीन हूं—ऐसे ईर्ष्या भाव से दान देने में प्रवृत्ति करना। मांगने पर कुपित होना या होते हुए भी नहीं देना। कषाय कलुषित चित्त से साधु को दान देना।

एक सुश्रावक में इक्कीस गुणों की अपेक्षा रखी गई है—(१) अक्षुद्र —गंभीर स्वभावी, (२) रूपवान् —सांगोपांग (३) सौम्य प्रकृति—स्वभाव से विश्वसनीय, (४) लोकप्रिय—गुणसम्पन्नता से, (५) अक्रूर —क्लेश रहित, (६) भीरू—पाप भय, (७) अशठ—निष्कपट, (८) सदाक्षिण्य —परोपकार उत्सुक (६) लज्जालु —पाप संकोच (१०) दयालु—पर दुःख द्रवित, (११) मध्यस्थ—तटस्थ विचारक (१२) सौम्यदृष्टि —स्नेहालु (१३) गुणानुरागी —सद्गुण समर्थन, (१४) सत्कथक सुपक्षयुक्त, कथोपदेशक व न्यायी, (१५) सुदीर्घदर्शी—दूरदर्शिता (१६) विशेषज्ञ —हिताहित ज्ञाता, (१७) वृद्धानुगत —अनुभवियों का अनुगामी, (१८) विनीत —नम्र, (१६) कृतज्ञ—उपकार मानने वाला, (२०) परहितार्थकारी—सदा दूसरों का हित साधने वाला, एवं (२१) लब्धलक्ष्य—विद्याभ्यासी।

श्रावकत्व के बारह व्रतों तथा इक्कीस गुणों का आदर्श आराधक बनने के लिए सतत यत्नशील रहना चाहिए। इस रूप में उसके चार विश्राम होंगे। (१) पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत तथा अन्य त्याग-प्रत्याख्यान को अंगीकार करें। (२) दूसरा विश्राम होगा सामायिक, देशावंशिक व्रतों का पालन करूं एवं अन्य ग्रहण किये हुए व्रतों में रखी हुई मर्यादाओं का प्रतिदिन संकोच करता रहूँ और उनका सम्यक् पालन करूं। (३) अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन प्रतिपूर्ण पौषध व्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करूं। (४) अन्त समय में संलेखना अंगीकार कर आहार पानी को त्याग निष्चेष्ट रहते हुए और मरण की इच्छा न करते हुए रहूं —यह चौथा विश्राम होगा।

श्रावकत्व की सफलता ही उसको ऊपर के साधुत्व के सोपान पर आरूढ़ करायेगी, जिस प्रकार सम्यक्त्व जागरण ने उसको श्रावकत्व के ऊपर के सोपान पर उठाया था। मेरी यही मनोकामना रहती है कि मेरे आत्मविकास की महायात्रा सतत रूप से चलती रहे तथा प्रगति के नये-नये आयाम खोजती और प्राप्त करती रहे।

ज्ञान बिन क्रिया, क्रिया बिन ज्ञान

मुझे यह सत्य सुविदित है कि ज्ञान एवं क्रिया के सार्थक संयोग से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। दोनों में से एक का अभाव दूसरे को भी निरर्थक बना देगा। मुझे लंगड़े और अंधे का रूपक याद है। ज्ञान को लंगड़ा समझिये तो क्रिया को अंधी। लंगड़ा चल नहीं सकेगा क्योंकि उसके पांव नहीं होते और क्रिया भी अच्छी तरह चल नहीं सकेगी क्योंकि उसके आंखें नहीं होती। लेकिन दोनों मिल जाय तो चले भी जाय। क्रिया के कंधों पर ज्ञान बैठ जाय और उसे रास्ता सुझाता रहे तो क्रिया भली-भांति चलती रहेगी तथा गंतव्य तक पहुंचा देगी।

मैं सोचता हूं कि ज्ञान बिना क्रिया का हो तो वह क्या होगा? कल्पना करें कि मैं रोगी हूं, अपने रोग की रामबाण औषधि जानता भी हूं परन्तु औषधि लेने की क्रिया नहीं करता तो मेरे रोग का क्या होगा? क्या मेरे मात्र औषधि ज्ञान से मेरा रोग चला जायगा? क्रिया बिना मेरा वह ज्ञान निरर्थक रहेगा। अतः मैं आध्यात्मिक विषयों को जानूं—यह पहली आवश्यकता है ही किन्तु जो मैं जानता जाऊं, उसे मैं मानता जाऊं और उसे क्रियान्वित करता जाऊं तभी कार्य सम्पादन का क्रम बना रह सकता है। बिना क्रिया भी ज्ञान तो रहेगा, लेकिन वह निष्प्रयोजन तथा निरूपयोगी होगा। फिर मैं सोचता हूं कि उस क्रिया की क्या दशा होगी जो ज्ञानपूर्ण न हो? कल्पना करें कि मैं रोगी हूं और औषधि लेने को आतुर व सक्रिय भी, लेकिन औषधि का ज्ञान नहीं है। यह अज्ञान मुझे विष भी खिला सकता है। इस कारण बिना ज्ञान की क्रिया तो भयावह परिणाम वाली हो सकती है।

मेरी मान्यता बन गई है कि चारित्र रहित पुरुष को बहुत से शास्त्रों का अध्ययन भी क्या लाभ दे सकता है? क्या लाखों दीपकों का जलाना भी कहीं अँधे को देखने में सहायक हो सकता है? जैसे चन्दन का भार ढोने वाला गधा केवल भार ही का भागी है। चन्दन की शीतलता उसे नहीं मिलती है। इस प्रकार चारित्र्य रहित ज्ञानी का ज्ञान केवल भार रूप है। वह सुगति का अधिकारी नहीं होता। क्रियाशून्य ज्ञान निष्फल है। अज्ञानपूर्वक की गई क्रिया भी फलवती नहीं होती है। आग लग जाने पर पंगु पुरुष का देखना उसे आग से नहीं बचा सकता और न अंधे पुरुष का पराक्रम ही उसे निरापद स्थान पर पहुंचा सकता है। किन्तु निरपेक्ष ज्ञान क्रिया वाले दोनों ही आग में जल जाते हैं।

मैं आप्त वचनों का पुण्य स्मरण करता हूं तो स्पष्ट हो जाता है कि पहले ज्ञान होना चाहिये और फिर तदनुसार दया अर्थात् क्रिया या आचरण। अज्ञानी आत्मा क्या करेगी? वह पुण्य और पाप को कैसे जान पायेगी? जो श्रेय हितकर हो उसी का आचरण करना चाहिये। जो न जीव (चेतन) को जानता है, न अजीव (जड़) को, वह संयम को कैसे जान पायेगा?

इस बिन्दु पर मैं चिन्तन करता हूं कि मैं संयम को कैसे जान, मान और धार पाऊंगा? उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर मेरा ध्यान केन्द्रित होता है कि ज्ञान और क्रिया के डग साथ-साथ

उठने चाहिये। साधारण सी विधि है कि जब एक पथिक अपने गंतव्य का मार्ग नहीं जानता तो ज्ञाताओं से मार्ग पूछता रहता है और आगे बढ़ता जाता है। बीच-बीच में सन्देह होने पर अपनी मार्ग सम्बन्धी धारणा की पुष्टि भी करवाता रहता है। यही विधि वीतराग देवों ने भी बताई है। पहले मिथ्यात्व के पतनकारक स्वरूप को समझो और उसके दलदल से बाहर निकलो। फिर सम्यक्त्व के प्रकाश को निहारो और अपने आत्म स्वरूप को परखो। उसे परखने पर आवरण दिखेंगे तब आवरणों का भी ज्ञान करो, मूल स्वरूप को भी जानो और संयम की शुभ क्रिया में सक्रिय बन जाओ। जानते रहो, करते रहो और बढ़ते रहो। सम्यक्त्व के प्रकाश में ही व्रत धारण करने की निष्ठा उत्पन्न होती है। छोटे-छोटे व्रत और त्याग प्रत्याख्यान लेते हुए एक एक करके या एक साथ श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये जा सकते हैं। उससे आगे का चरण सर्वांशतः सिद्धान्तनिष्ठ साधु जीवन अंगीकार करने का हो सकता है। संयम की अडिग साधना ही ऊंचे से ऊंचे गुणस्थानों में पहुंचाकर आत्मा को परम समाधि का अक्षय सुख प्रदान कर सकती है।

मैं सोचता हूं कि ज्ञान बिन क्रिया और क्रिया बिन ज्ञान की अवस्था को किसी भी स्तर पर अपने जीवनाचरण में न आने दूं और ज्ञान व क्रिया के दोनों पहियों पर संयम का रथ मोक्ष के राजमार्ग पर चलाता रहूं और रत्नत्रय की आराधना में तल्लीन बन कर प्रतिपल उस रथ को आगे और आगे बढ़ाता रहूं।

निर्विकारी स्वरूप की ओर

मैं सोचता हूं कि वास्तव में 'निर्विकारी स्वरूप की ओर'—यह शब्द समूह एक प्रकार से भ्रामक है क्योंकि मेरा अपना निर्विकारी स्वरूप कहीं बाहर नहीं है जिसकी ओर मैं जाऊं, वह स्वरूप तो मेरे भीतर में ही विराजमान है जिसे मुझे निरावृत्त करना है। निरावृत्त इसलिये कि उस पर आवरण छाये हुए हैं और वे आवरण हैं मेरे ही अपने विकारों के। ये विकार हैं मेरे अपने मोह-महत्त्व के विकार जो राग और द्वेष के बीजों पर अंकुरित होकर विषय और कषाय के रूप में वट वृक्ष की तरह फैलते हैं। फिर मैं प्रमादग्रस्त हो जाता हूं। जितना प्रमाद बढ़ता है, मिथ्यात्व का अँधकार बढ़ता है, मेरा अपना स्वरूप मैल और अंधेरे की हजारों हजार परतों से आवृत्त हो जाता है। मुझे इन्हीं विकारों को पूरी तरह से हटा लेना है, साफ कर लेना है। विकार हटे और मेरा अपना परम ज्ञान एवं अमिट सुखमय स्वरूप स्पष्ट हो जायगा। यही मेरा निर्विकारी स्वरूप होगा, ऐसा स्वरूप जो फिर विकारों में कभी भी किसी भी रूप में लिप्त नहीं बन सकेगा। मैं अपने उसी निर्विकारी रूप में अजरामर हो जाऊंगा—सदा सदा के लिये सिद्ध।

निर्विकारी स्वरूप में स्थित हो जाना यही मेरा परम और चरम लक्ष्य है। यही मेरे आत्म विकास की महायात्रा का गंतव्य है। इसी गंतव्य पर पहुंचने का मुझे पराक्रम दिखाना है जो सर्वश्रेष्ठ पराक्रम है। पराक्रम और ऐसा सर्वश्रेष्ठ पराक्रम सफलतापूर्वक दिखाना आसान नहीं है यह मैं जानता हूँ। इसके लिये मुझे परम पुरुषार्थ करना होगा—घटाटोप अंधकार से निकलकर सदा प्रकाशमान दिव्यालोक में अवस्थान बना लेने का पुरुषार्थ। यही पुरुषार्थ सम्यक्त्व, संयम और समता का पुरुषार्थ है। मेरा सम्यक्त्व अविचल बनेगा, सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर अडिग आस्था से जो तर्कसंगत भी होगी तो परम श्रद्धास्वरूप भी। तर्क एक सीमा तक मुझे अग्रगामी बनायगा, किन्तु जहां तर्क का क्षेत्र भी समाप्त हो जायगा, वहां मेरी अमित आस्था का क्षेत्र आरंभ होगा कि मैं पूरे

आत्म विश्वास के साथ संयम की कठिन साधना में प्रवृत्त हो जाऊं, अपने मन, वचन एवं कर्म के अशुभ योग व्यापार को समाप्त करता चलूं तथा सत्य श्रद्धा के साथ श्रेष्ठ सिद्धान्तों के पालन में एकनिष्ठ बन जाऊं।

मैं जानता हूं कि साधक की यह संयम साधना बहुआयामी होगी। सम्यक् श्रद्धा वाला बनेगा तभी सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् आचरण को वरण करने वाला भी बन सकेगा। तभी वह त्याग वृत्ति की ओर उन्मुख भी बन सकेगा। विविध प्रकार के त्याग-प्रत्याख्यानों के अनुसरण से इसी महत्कार्य में सचेष्ट बना रहता है कि धीरे-धीरे वह सांसारिकता ही त्याग करता रहे। पहले श्रेष्ठ पांच सिद्धान्तों के आंशिक पालन करने में प्रवृत्त हो। ताकि वह एक सद्गृहस्थ और एक सुश्रावक बन सके—ऐसा सद्गृहस्थ जो अपने घर-परिवार में रहता हुआ भी धर्माचरण में दत्त चित्त बन जाता है और जिसकी अर्थोपार्जन की नीति भी सम्पूर्णतया अहिंसा एवं नैतिकता पर आधारित हो जाती है। जो अपनी गृहस्थी का कार्य चलाने के लिये परिग्रह कमाता है और रखता है किन्तु स्वयं परिग्रहवादी नहीं होता। जो विविध प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों के माध्यम से अपने विकारों को समाप्त करता जाता है तथा अपने भीतर और बाहर चारों तरफ के वातावरण में समता का शान्तिदायक आलोक फैलाता रहता है। जो अपने स्वीकृत व्रतों के छिद्रों को रोकता है, प्रतिक्रमण द्वारा पापों से पीछे हटता है और श्रमणोपासना से स्वयं श्रमण बन जाने के मनोरथ पर निरन्तर चिन्तवन करता रहता है।

वह जब ऐसा सद्गृहस्थ बन जाएगा तो प्रगति के पथ पर उसके चरण रुकेंगे नहीं। तब सांसारिकता से विमुख बन कर वह इसी संसार में अपने तथा अन्य प्राणियों के कल्याण कार्य में सर्वतोभावेन संलग्न हो जाने के लिये साधु धर्म अंगीकार कर लेगा। वह साधु धर्म जो तलवार की धार पर चलने जैसा दुष्कर होता है और इतना दुष्कर कि मेरु पर्वत को अपने तराजू से तोलो। वह अपने संयम के तराजू से मेरु पर्वत को भी तोल लेने का सामर्थ्य और पुरुषार्थ दिखायेगा। अपने हृदय में क्रोध के स्थान पर सहिष्णुता, मान के स्थान पर विनम्रता, माया के स्थान पर सरलता और लोभ के स्थान पर सन्तोष को बसा लेने का प्रयास करेगा। यहां तक कि वह अपनी संयमोपलब्धियों को अहंभाव नहीं छू पाए इस ओर सावधान रह सकेगा और न ही उनके द्वारा अपनी कीर्ति की लालसा को कोई स्थान दे सकेगा। अपने सदाचरणमय जीवन को लोकोपकार हेतु विसर्जित कर गन्तव्य की ओर गतिशील होगा।

तीसरा सूत्र और मेरा संकल्प

तीसरे सूत्र के संदर्भ में मैं संकल्पबद्ध होता हूं कि मैं अपने चरम लक्ष्य को सम्यक् रीति से पहिचानूंगा, मानूंगा और अपनी समस्त वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों को लक्ष्याभिमुखी बनाऊंगा। लक्ष्य के उस उत्कृष्ट बिन्दु पर दृष्टि स्थिर करके ही मैं जान सकूंगा कि वहां से मैं कितनी दूरी पर खड़ा हुआ हूं और मुझे कितना चलना है ? मैं अडिग निश्चय के साथ चलूंगा सत्य श्रद्धा और श्रेष्ठ सिद्धान्तों का सम्बल लेकर। मैं सम्यक्त्व से लेकर श्रावकत्व एवं साधुत्व के सोपानों पर ऊपर से ऊपर चढ़ता जाऊंगा। मेरी उस ऊर्ध्वगामिता का आधार होगा ज्ञान एवं क्रिया का अद्भुत संयुक्तीकरण तथा अपने समस्त विकारों (कर्मों) का क्षयीकरण। मैं अपने उस परिमार्जित आचरण के साथ निर्विकारी बनने में यत्नरत हो जाऊंगा।

अध्याय पांच

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : ५ :

मैं सुज्ञ हूँ, संवेदनशील हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मानस, मेरी वाणी और कार्य तुच्छ भावों से ग्रस्त क्यों हैं?

अनुभूति के क्षणों में मुझे ज्ञात होगा कि अष्ट कर्मों की जड़ग्रस्तता ने मेरी मूल महत्ता किस रूप में ढक दी है, मेरे पुरुषार्थ को कितना दबा दिया है और मेरे स्वरूप को कैसा विकृत बना दिया है? यही मेरी तुच्छता व हीन भावना का कारण है, जिसे मैं धर्माराधना से दूर करूंगा। मन, वाणी व कार्यों में लोक कल्याण की महानता प्रकटाऊंगा और 'एगे आया' की दिव्य शोभा को साकार रूप दूंगा।

चौथा सूत्र

मैं सुज्ञ हूं, संवेदनशील हूं। मैं सब जानता हूं, इतना ही नहीं हैं। मैं सबका अच्छा जानता हूं—हित जानता हूं, शुभ जानता हूं—इसीलिये मैं सुज्ञ हूं। मैं सबका अच्छा, हित और शुभ जानता हूं तो क्या अपना स्वयं का अच्छा, हित और शुभ नहीं जानता? ऐसा कैसे हो सकता है? क्या सब में मेरा सम्मिलन नहीं है? सबमें मैं भी तो आ ही जाता हूं। अन्तर है तो यह कि मैं अपना ही अच्छा, हित और शुभ नहीं चाहता हूं—सबका चाहता हूं, अपना भी चाहता हूं। यही तो मेरी सुज्ञता है।

मैं सुज्ञ हूं सबका हित जानता हूं और चाहता हूं। मेरा हृदय ऐसे सरोवर के समान है जो मानो स्फटिक शिलाओं के मध्य निर्मल जल से भरा हुआ हो जिसमें—मैल का अंश तक नहीं। विशुद्ध निर्मलता सबके लिये हैं, मेरे लिये है। मेरी आन्तरिकता में ऐसा अनुपम सरोवर लहरा रहा है। जल की सतह शान्त और प्रशान्त है। ऊपर से ही भीतर की स्फटिक शिलाएं चमक रही है। तल से लेकर सतह तक निर्मलता की एकरूपता है। यह सरोवर मेरे अन्तःकरण में मूल रूप से विभूषित अनन्त दया और अनन्त करुणा का सरोवर है। मेरी यह दया और करुणा समता से आप्लावित है। वह कोई विषमता का भेद नहीं जानती। संसार के समस्त प्राणियों पर यथायोग्य रूप से बरसना चाहती है। मेरी करुणा मुझ पर ही बरसे—यह आश्चर्य की बात हो सकती है किन्तु मैं सुज्ञ हूं अतः जानता हूं कि मैं स्वयं करुणा का कितना बड़ा पात्र हूं? मेरी आज की विदशा क्या मुझ पर अपार करुणा नहीं उपजाती? क्या मैं ही मेरी दुर्दशा पर तरस नहीं खाता हूं? मेरी यह करुणा ही मुझे जगाती है कि उठो और अपने भीतर के सरोवर के चारों ओर फैली गंदगी को दूर करलो। तुम जैसे निर्मल के लिये यह मल का अस्तित्व कलंक की बात है। यह बद्ध कर्मों का मल है जिसे मेरी सुज्ञता स्वच्छ बना देने को आतुर है। वह सबको प्रेरणा देना चाहती है कि सभी प्राणी अपने हृदय में स्थित इस सरोवर के चारो तरफ के मल को स्वच्छ करलें, ताकि सरोवर की निर्मल शोभा सुप्रकट हो जाय।

मैं सुज्ञ हूं इसीलिये संवेदनशील हूं। मेरी करुणा के जल सतह पर लगने वाला सूक्ष्म आघात भी मुझमें तीव्र स्पन्दन उत्पन्न कर देता है—लहरों पर लहरें उठने लग जाती हैं। मैं करुणा से हिल उठता हूं। यह आघात दूसरे ही नहीं करते, मैं स्वयं भी करता हूं। मेरी एक अशुभ क्रिया भी मुझे संवेदित करती है कि मै उसकी अशुभता को समझूं और अशुभता के स्थान पर शुभता का संचार करूं। जब दूसरे की अशुभ क्रिया भी अपने ही किसी साथी को पीड़ा पहुँचाती है, तव वह पीड़ा भी मुझे संवेदित और स्पन्दित बना देती है। मैं अपार करुणा से ओतप्रोत हो जाता हूं। करुणा अपनी पीड़ा पर तो करुणा दूसरों की पीड़ा पर —यह करुणा मेरा धर्म बन जाती है।

कभी आपने किसी झील के शान्त जल को देखा है? उसमें गिरने वाला एक छोटा-सा कंकड़ भी उस शान्त जल को आन्दोलित बना देता है। कंकड़ के गिरने के स्थान से लहरें उठती ही

चली जाती हैं। उस जल में अगर शिलाखंड गिर जाय तो समझिये कि सारे सरोवर में हलचल मच जाती है। संवेदनशीलता भी ऐसी ही होती है।

मैं संवेदनशील हूं, इस कारण पीड़ा के मर्म को भलीभांति समझता हूं। मेरी अपनी पीड़ा भी कम नहीं होती है। सोचिये कि एक आदमी उड़ना चाहे और उड़ने के लिये तत्पर हो जाय, तभी उसे ज्ञात हो कि उसके पैरों में तो बेड़ियां पड़ी हुई है—वह उड़ तो क्या, चल भी नहीं सकता है। तो विचार कीजिये कि उसकी उड़ने की उग्र उमंग को बेड़ियों की विवशता किस कदर कुचल देती है? उसकी उस समय की पीड़ा का अनुभव कीजिये। वैसी ही मेरी अपनी पीड़ा है। मेरा जो मूल आत्मस्वरूप है, ऊर्ध्वगामिता उसका प्रधान गुण है। मैं ऊपर उठना चाहता हूं किन्तु अपने ही कृत कर्मों की मेरे पैरों में पड़ी भारी बेड़ियां जब मुझे अपनी जगह से हिलने तक नहीं देती है तो मैं अपने ही भीतर की भीषण पीड़ा से कराह उठता हूं। तब मेरी संवेदना पर चोट पड़ती है—मेरे सरोवर में हलचल मच जाती है, भावोर्मियां उठती है और मेरी ही करुणा मेरे ऊपर बरसने के लिए आतुर हो जाती है। मेरी करुणा मुझे जगाती है कि उठ और अपने पांवों की बेड़ियों को तोड़—बंधनों को तोड़, तू ऊपर उठ सकेगा।

मेरी सुज्ञता तब मेरी संवेदनशीलता में घुलमिल कर एकाकार बन जाती है —अत्यन्त प्रभावपूर्ण हो जाती है। मुझे जगाने के बाद ही वास्तव में मेरी संवेदनशील सुज्ञता का कार्य और प्रभावक्षेत्र प्रारंभ होता है जो सम्पूर्ण विश्व के विशाल क्षेत्र में प्रसरित हो जाना चाहता है।

सुज्ञता और संवेदनशीलता

सच पूछें तो जब सुज्ञता होती है, तब ही संवेदनशीलता आती है और संवेदनशीलता की गूढ़ता के साथ सुज्ञता की प्रखरता बढ़ती जाती है। मेरे अन्तःकरण में सुज्ञता और संवेदनशीलता की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है। सुज्ञता मुझे सबका हित जानने की प्रेरणा देती है तो संवेदनशीलता उस हित को साधने के लिये मुझे तत्पर बनाती है। ज्ञान और क्रिया का सजीव साम्मिश्रण हो जाता है जो मुझे स्व-पर कल्याण हेतु जागृत और सक्रिय बना देता है।

मैं जानता हूं कि मैं सुज्ञता और संवेदनशीलता का स्फटिक सरोवर हूं किन्तु मैं यह भी जानता हूं कि अभी मैंने उस सरोवर को आवृत्त कर रखा है—प्रभावहीन बना रखा है। इस कारण मुझे देखना है कि मेरी सुज्ञता कैसे जागे —मेरी संवेदनशीलता कैसे स्पन्दित हो?

यह सही है कि सुज्ञता और संवेदनशीलता का अपार कोष अन्तरात्मा में भरा पड़ा है, किन्तु वह अनेकानेक आवरणों से बंधा हुआ है। इस कारण सुज्ञता का मुक्त प्रसार नहीं दिखाई देता व संवेदनशीलता का मुक्त संचार भी दिखाई नहीं देता फिर भी कुछ कारण ऐसे रहते हैं जिनमें यदि मेरी चेतना की जागृति बनी रहे तो इन दोनों गुणों का सुप्रभाव बाहर प्रकट होता रहता है। मैं अकेला नहीं रहता हूं, समाज में रहता हूं, जहां अन्य लोगों के साथ तो मेरा संसर्ग होता ही है किन्तु छोटे बड़े प्राणी भी मेरे सम्पर्क में आते हैं। यह सामाजिक सम्पर्क ऐसा होता है जो किसी न किसी रूप में हर समय मौजूद रहता है। यह संसर्ग मेरे व्यवहारगत भी होता है तो अव्यवहारगत भी। जैसे मैं सड़क पर चला जा रहा हूं, मैंने देखा कि सड़क के किनारे एक आदमी बेहोश पड़ा हुआ है। उसके मुंह से झाग निकल रहे हैं। उसका जीवन खतरे में दिखाई देता है। मेरी सुज्ञता मुझे खड़ा कर देती है और स्थिति का अनुमान लगाने को कहती है। मेरी संवेदनशीलता मेरे हृदय को प्रवित

बना देती है और निर्देश देती है कि इस मृत्योन्मुख मनुष्य को तुरन्त शुभ भावों से उपयोगी सहायता दो। मेरी उस बेहोश पड़े आदमी से कोई जान-पहिचान नहीं, न मेरा उसके साथ कभी कैसा भी व्यवहार पड़ा है—सिर्फ मेरा संसर्ग हुआ उसकी पीड़ाभरी बेहोशी के साथ और इसी संसर्ग ने मेरी सुज्ञता को जगाया और मेरी संवेदनशीलता में कोमल स्पंदन पैदा कर दिये।

मैं कल्पना करता हूं कि यदि हृदय के साथ आंखें खुली हुई रहे तो ऐसे करुणाजनक दृश्य रात दिन दिखाई दे सकते हैं। एक सुज्ञ पुरुष ऐसा सुकोमल सहायक होता है जो स्वयं की पीड़ा को भी देखता है तो पर-पीड़ा का छोटा-सा दृश्य भी उसे द्रवित बना देता है क्योंकि उसकी संवेदनशीलता सदा प्रवहमान रहती है। मैं अनुभव करता हूं कि अपनी पीड़ा भी दो प्रकार की होती है। एक तो तब जब मुझे कोई अन्य कष्ट पहुंचाता है और दूसरी तब जब मैं किसी अन्य को कष्ट देता हूं। पहली प्रकार की पीड़ा के समय मेरी अज्ञता मुझे उत्तेजित और प्रतिशोध हेतु तत्पर बनाती है किन्तु मेरी सुज्ञतापूर्ण संवेदनशीलता मेरे क्रोध पर मरहम लगाती है और मैं सहनशीलता के साथ शान्त हो जाता हूं। फलस्वरूप मुझे कष्ट पहुंचाने वाला स्वयं पश्चाताप से ग्रस्त हो जाता है। दूसरी प्रकार की पीड़ा मेरे अपने कुकृत्य की पीड़ा होती है। मेरी सुज्ञता मुझे फटकारती हैं कि मैंने ऐसा कुकृत्य क्यों किया ? ग्लानि के उन क्षणों में मेरी संवेदनशीलता मेरी पीड़ा पर अपनी करुणा बरसाती है—मुझे प्रेरित करती है उस व्यक्ति से क्षमा चाहने के लिये, जिसको मैने दुखित किया था और इस प्रकार मेरे और उसके हृदयों में से कटुता निकल जाती है। ऐसे चमत्कार करती ही रहती है मेरी सुज्ञता और मेरी संवेदनशीलता —जो ऐसी करुणा को बारबार बरसाती हुई अधिकाधिक परिपुष्ट होती जाती है।

यों कहें कि बाह्य जगत् का संसर्ग ही मेरी सुज्ञता एवं मेरी संवेदनशीलता की कसौटी का काम करता है। इसी कसौटी से रगड़ खाकर इसका खरा-खोटापन सामने आता है और यह स्वरूप भी सामने आता है कि उनकी, परिपुष्टता कितने टंच की बन गई है। और मेरी आत्मा के साथ —मेरे जीवन के साथ बाह्य जगत् का संसर्ग प्रतिपल होता रहता है। प्रतिपल ऐसी परिस्थितियां सामने आती रहती हैं जो मेरी सुज्ञता और संवेदनशीलता का दामन खींचती हैं कि आगे बढ़ो, दुःख की पीड़ा को कम करो अपनी करुणा और सहायता से तथा आवश्यकता समझो तो अपना सब कुछ न्यौछावर कर दो इस सदुद्देश्य के लिये। मैं जानता हूं कि करुणा की कोई सीमा नहीं होती क्योंकि उसकी कोमलता अपार होती है। कई वक्त मैं ऐसी करुणा से द्रवित हो उठता हूं और यथाशक्ति दुःख दूर करने का सत्प्रयास करता हूं किन्तु कई बार ऐसा होता है कि प्रमाद, प्रतिशोध या ऐसी ही किसी विकारग्रस्तता के कारण मैं सामने आई हुई उस पीड़ा को नजरन्दाज कर जाता हूं—अपनी सुज्ञता और संवेदनशीलता को सोई हुई ही रहने देता हूं। यह मेरे हृदय का कठोर व्यवहार होता है, बल्कि यों कहूं कि वह मेरे हृदय की तुच्छता होती है। और हृदय जब तुच्छता को पकड़ता है तो मेरा विचार, मेरा वचन और मेरा कर्म भी तुच्छ बनता जाता है। यह तुच्छता पनपती है मेरी सुज्ञता और संवेदनशीलता की सुप्तावस्था में। जब मेरी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में इस प्रकार की तुच्छता का विस्तार होता चला जाता है तो मेरी आन्तरिकता भी निष्करुण हो जाती है, क्योंकि मेरी सुज्ञता का प्रकाश मिट जाता है और मेरी संवेदनशीलता के तार झंकृत नहीं होते।

तुच्छता जड़ग्रस्तता से

किन्तु ऐसा क्यों होता है ? यही स्थिति और समस्या मेरे मन-मस्तिष्क को मथती रहती है। तब मैं अपनी अन्तर्दृष्टि को जगाता हूं यह देखने के लिये कि मेरे भीतर ऐसा क्या हो रहा है, जिसने

मेरी करुणा मुझसे छीन ली है, मेरी वाणी की मधुरता हर ली है और मेरे कार्य को सहयोग-शून्य बना दिया है?

मैं बाहर की दुनिया पर भी एक नजर दौड़ाता हूं कि क्या मेरे जैसा मैं ही हूं या दूसरे भी हैं जो मुझसे ज्यादा अच्छे हों व ऐसे भी लोग हो सकते हैं जिनसे मैं ज्यादा अच्छा होऊं। इस संदर्भ में मुझे चार प्रकार के मनुष्य दिखाई देते हैं जिनके हृदय को घड़े की और उनके वचन को ढक्कन की उपमा दी गई है—(१) मधु का घड़ा और मधु का ढक्कन याने विचार भी मधुर और वचन भी मधुर, (२) मधु का घड़ा और विष का ढक्कन—वचन भले कड़ुए हो मगर हृदय निष्पाप और मधुर, (३) विष का घड़ा और मधु का ढक्कन—वे खतरनाक होते हैं जो ऊपर से मीठा बोलते हैं लेकिन भीतर में जहर भरा रखते हैं तथा (४) विष का घड़ा और विष का ढक्कन—विचार और वचन दोनों में जहर भरा हो।

मैं सोचता हूं कि मैं किस श्रेणी में हूं? ये श्रेणियां मानव-संसर्गजनित कसौटियां ही तो हैं जो अनुभव के आधार पर बनाई जाती हैं। यह श्रेणी निर्धारण मुझे बता सकता है कि मेरा मानस, मेरी वाणी और इनके द्वारा संचालित होने वाले मेरे कार्य कितने उच्च हैं अथवा कितने तुच्छ?

इसी प्रसंग में मैं अपने स्वरूप दर्शन को आप्त वचनों की गहराई में उतारना चाहता हूं जिनमें कहा गया है कि जिसका अन्तर्हृदय निष्पाप और निर्मल है, साथ ही वाणी भी मधुर है, उसकी सुज्ञता और संवेदनशीलता सदा जागृत रहती है। कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् संकल्प करते हैं और समुद्र तैरने जैसा महान् कार्य भी करते हैं। कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् संकल्प करते हैं किन्तु कुछ गोष्पद (गाय के खुर जितना पानी) तैरने जैसा क्षुद्र कार्य ही कर पाते हैं। कुछ व्यक्ति गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र संकल्प करके समुद्र तैरने जैसा महान् कार्य कर जाते हैं। कुछ गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र संकल्प करके गोष्पद तैरने जैसा ही क्षुद्र कार्य कर पाते हैं। फिर मैं सोचता हूं कि मैं किस प्रकार का व्यक्ति हूं, और मुझे किस प्रकार का व्यक्ति होना चाहिये?

मैं सोचता हूं, मैं देखता हूं और मेरी अपनी आलोचना का क्रम चल पड़ता है। मैं अनुभव करता हूं कि मेरा मानस, मेरी वाणी और मेरे कार्य तुच्छ भावों से ग्रस्त हो रहे हैं, मेरी मूल महत्ता आवृत्त हो रही है, मेरा पुरुषार्थ श्लथ हो रहा है और मेरा स्वरूप विकृत बनता जा रहा है। क्यों हो रहा है ऐसा? मैं यह जानने को अधीर हो जाता हूं। तब मेरा चिन्तन गहराई में उतरता जाता है कि मेरी ऐसी तुच्छता और हीन भावना का क्या कारण है?

मैं अपने ज्ञान की स्मृतियों को उलटता पलटता हूं तो मुझे लगता है कि मैं कभी ऐसा भी था जब मेरे मानस में सर्वहित-कारिणी सुज्ञता रहती थी, जब मेरी वाणी संवेदनशीलता के तारों को झंकृत करती हुई निकलती थी तथा जब मेरे कार्य दयाद्रवित और मानवीय होते थे। जब कभी मैं ऐसा था तो आज की तुच्छताओं और हीनताओं से उबर कर क्या मैं पुनः वैसा ही नहीं हो सकता हूं। किन्तु वैसा होने के लिये मुझे उस कारण पर दृष्टिपात करना होगा जिसने मेरा ऐसा रूपान्तरण कर दिया, क्योंकि कारण को समझकर ही उसका निदान और समाधान कर सकूंगा।

मेरी वर्तमान विदशा की पृष्ठभूमि में जब मैं पहुंचता हूं तो समझ में आता है कि ज्यों-ज्यों मैं अपने 'आप' को भूलता गया और सांसारिकता में रमता गया, त्यों-त्यों विषय एवं कषायों के तूफान मेरे भीतर उमड़ने-घुमड़ने लगे। मेरा आन्तरिक स्वरूप आन्दोलित हो उठा और उस तूफान से

उड़ी मिट्टी और उछले मैल से ढक गया। यह मैल और मिट्टी कर्मों की मलिनता थी। मुझसे भांति भांति के अकार्य होते गये और आठों कर्मों के बंधन कसते गये। पूरा आत्मस्वरूप कर्मपुद्गलों के विभिन्न आवरणों से आच्छादित हो गया। भीतर ही जब जड़ पुद्गलों का शासन स्थापित हो गया तो बाहर उन जड़ पुद्गलों के शासन का निरोध करने वाला बचा ही कौन था? बाह्य जगत् के लुभावने पदार्थों की प्राप्ति ही मेरी समूचा लक्ष्य बन गया। मैं अपने ही मन और अपनी ही इन्द्रियों का दास बन गया जो जड़ पदार्थों की मनोज्ञता में ही रमण करने लगे। सर्व प्रकार से मैं सत्ता और सम्पत्ति के मोह में ऐसा भान भूला कि भूल गया सब कुछ जिसे सुज्ञता और संवेदनशीलता कहते हैं।

वस्तुतः यह मेरी जड़ग्रस्तता का संकट है। जिस चेतना को सतत ज्ञान एवं जागृतिमय रहना चाहिये, वही चेतना जब स्वयं जड़ जैसी बन गई और जड़ग्रस्त हो गई। जड़ता भी ऐसी गहरी कि जिसके घनत्व को हटाने के लिये कठिन पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। यह जड़ता या जड़ग्रस्तता ही मेरी समस्त तुच्छता एवं हीन भावना की जड़ है। जब तक मैं उस जड़ को नहीं उखाड़ पाऊंगा—जड़ता को मिटा नहीं पाऊंगा, तब तक मैं मेरे मानस, मेरी वाणी तथा मेरे कार्यों की तुच्छता को भी हटा नहीं पाऊंगा।

तुच्छता से स्वरूप विकृति

जब मैं अपने सुख की खोज भीतर नहीं करके बाहर ही बाहर करता हूँ तो मुझे इन्द्रियों के विषय-सुख ही दिखाई देते हैं और उन सुखों की सामग्री अपने लिये अर्जित करने में मैं अपनी सारी शक्तियाँ लगा देता हूँ। तब मेरी दृष्टि उच्च वर्ग की तरफ लगी रहती हैं, जिनके पास ऐसी सुख सामग्री विपुलता में उपलब्ध रहती है। उसे मैं देखता हूँ और मेरी इच्छाएँ बढ़ती रहती हैं। एक इच्छा को पूरी करने के लिये श्रम करता हूँ तो दूसरी इच्छा अतृप्ति की प्यास लिये मेरे सामने आकर खड़ी हो जाती है—अकेली नहीं, उसके पीछे इच्छाओं की कतार लग जाती है। मैं तब भ्रम में पड़ जाता हूँ और सोचता हूँ कि किस प्रकार अपनी सारी इच्छाओं की पूर्ति जल्दी से जल्दी कर डालूं। तभी मुझे समझ में आता है कि ऐसा मैं नैतिकतापूर्वक किये गये अपने श्रम से कभी भी नहीं कर पाऊंगा और पदार्थों का मोह ऐसा प्रगाढ़ हो जाता है कि मैं सुखकारी और मनोज्ञ पदार्थों को पाने के लिये दूसरे अवांछित रास्तों पर बढ़ जाता हूँ। उन पदार्थों को येन-केन प्रकारेण प्राप्त कर लेने का ही मेरा ध्येय बन जाता है। मैं तब अनीति का कोई कार्य त्याज्य नहीं मानता, बल्कि वैसे कार्य करके भी सत्ता और सम्पत्ति जमा करने का निश्चय कर लेता हूँ।

यहीं से मेरे अधःपतन का मार्ग आरंभ होता है। समाज विरोधी प्रवृत्तियों में मैं बेभान बन कर जुट जाता हूँ—तब न हिंसा का ध्यान रहता है न झूठ का, न विचारों की हीनता और न वचनों की विद्रूपता तथा कार्यों की कुत्सितता का। सब पर कालिख पोतता हुआ मैं काले धंधों में व्यस्त हो जाता हूँ। यह जड़ग्रस्तता की मेरी अंधकारपूर्ण मनोदशा होती है। ऐसी ही मनोदशा में कभी-कभी सत्संसर्ग के कारण कुछ प्रकाश की रेखाएं प्रकट होती हैं।

तब मैं सोचता हूँ कि मन, वाणी और कर्म की मेरी उच्चता कैसी थी और अब उन्हीं की तुच्छता कितनी जघन्य और निकृष्ट हो गई है? मेरी सुज्ञता और संवेदनशीलता में हल्का-सा ज्वार आता है और मेरा चिन्तन चलता है—अहिंसा को परम धर्म मानते हुए मैं अपनी सुख सुविधा पर कम और अन्य प्राणियों की सुख-सुविधा पर अधिक ध्यान देता था, किन्तु अब मुझे यह क्या हो

गया है कि मैं अत्यन्त तुच्छ और हीन हो गया हूँ? दूसरों के दुःख नहीं देखता हूँ या दूसरों को सुख पहुँचाने की भावना नहीं रखता हूँ—इतनी ही तुच्छता मेरे में नहीं पनपी है, अपितु अब तो मैं दूसरे का सुख देख भी नहीं सकता हूँ। मुझे सिर्फ अपना ही सुख दीखता है। दूसरे का सुख नहीं देखूं—वह भी एक बात, लेकिन मैं इतना निर्दयी हो गया हूँ कि दूसरे का सुख कुचल कर अपनी सुख सामग्री जुटाने में उतारू बन जाता हूँ। मेरी तुच्छता और हीनता कितने नीचे स्तर तक पहुँच गई है?

चिन्तन के इस प्रवाह में मैं मेरे मन की हीन तुच्छता का आकलन करने लगता हूँ तो मुझे अनुभव होता है कि मेरा मन ऐसी-ऐसी नीच वृत्तियों में डूबा हुआ है—(१) गर्हित—सावद्य एवं निन्दित हिंसापूर्ण वृत्तियों से युक्त (२) सक्रिय —निन्दनीय वृत्तियों को कुत्सित प्रवृत्तियों में ढालने से युक्त, (३) सकर्कश—कठोर भावों से युक्त, (४) कटुक —अपनी आत्मा के लिये और दूसरे प्राणियों के लिये अनिष्टकारी वृत्तियों से युक्त, (५) निष्ठुर—कोमलताहीन भावों से युक्त, (६) परुष—स्नेह रहित मानसिक वृत्तियों से युक्त, (७) आश्रवकारी—अशुभ कर्मों के आगमन की तत्परता से युक्त, (८) छेदकारी—अमुक प्राणी के प्राणों को छेद डालने की दुष्ट प्रवृत्ति से युक्त (६) भेदकारी —अमुक प्राणी के प्राणों को भेद डालने की दुष्ट प्रवृत्ति से युक्त, (१०) परितापनाकारी—प्राणियों को सन्ताप आदि उपजाने की हीन वृत्तियों से युक्त (११) उपद्रवकारी—अमुक प्राणी को ऐसी वेदना हो कि उसका प्राणान्त हो जाय ऐसी घृणित दुश्चिन्ताओं से युक्त तथा (१२) भूतोपघातकारी—जीवों को विनष्ट कर देने के क्रूर भावों से युक्त। मेरी जड़ग्रस्तता से उत्पन्न ऐसी तुच्छ और हीन मेरी मनःस्थिति मेरे लिये चिन्तनीय बन गई है। मन की ऐसी अचिन्तनीय वृत्ति मुझे अब अखरने लगी है।

किन्तु मैं देखता हूँ कि मनोवृत्तियों की मेरी तुच्छता और हीनता के कारण मेरी वाणी की विद्रूपता भी असह्य होने लगी है। जिसके कारण, मुझे वक्तव्य-अवक्तव्य का भी भान नहीं रहा है। वचन से जो कहा जाना चाहिये वह वक्तव्य और जो नहीं कहा जाना चाहिये —वह अवक्तव्य होता है। छहों द्रव्यों में अनन्त गुण और अनन्त पर्याय वक्तव्य है। वीतराग देव सर्व द्रव्यों और उनकी सर्व पर्यायों को देखते हैं, परन्तु उनका अनन्तवाँ भाग ही कह सकते हैं। उस कथित ज्ञान को भी संपूर्ण रूप से गणधर आगम रूप में गूंथ नहीं पाते हैं तथा उन आगमों का भी यत्किंचित् भाग ही वर्तमान में उपलब्ध है—वह भी इतना कल्याणकारी है कि मेरी वाणी की विद्रूपता उसे सुनकर कहने नहीं देती—उसका रसास्वादन करने नहीं देती। मेरे वचनों की विपरीत प्रवृत्ति बन गई है। वे (१) असत्य, (२) तिरस्कार युक्त (३) दूसरों को झिड़कने वाले, (४) कठोर (५) अविचारपूर्ण तथा (६) शान्त हुए कलह को फिर से भड़काने वाले वचन बन गये हैं। मैं ऐसी भाषा बोलता हूँ। जिसमें यह भान नहीं रखता कि उससे चारित्र शुद्ध हो रहा है अथवा अशुद्ध बल्कि भाषा द्वारा प्रकट होने वाली भावना का भी ध्यान नहीं रखता हूँ। इसीलिये मेरे वचनों में भी ये दोष उत्पन्न हो गये हैं—(१) कुवचन—कुत्सित वचन बोलना, (२) सहसाकार—सहसा अविचारपूर्ण तथा अप्रतीतिकर वचन बोलना, (३) सच्छन्द—धर्मविरुद्ध राग-द्वेष बढ़ाने वाले वचन बोलना, (४) संक्षेप—सामायिक आदि के पाठ को छोटा करके बोलना, (५) कलह—क्लेश फैलाने वाले वचन बोलना, (६) विकथा —स्त्री कथा आदि चार विकथा करना, (७) हास्य—कौतूहल तथा कटाक्षपूर्ण वचन बोलना, (८) अशुद्ध—मलिनता फैलाने वाले वचन बोलना, (६) निरपेक्ष—असावधानी या अनुपयोग से बोलना, तथा (१०) मुण-मुण—अस्पष्ट उच्चारण करना। चाहे धार्मिक अनुष्ठान के समय में हो या अन्यथा, ऐसे वचन,

मेरी वाणी तुच्छता के चिह्न रूप होते हैं। मेरे वचनों का ऐसा विद्रूप भी कई बार प्रकट होता है—(१) आलाप—थोड़ा पर टेढ़ा बोलना (२) अनालाप—दुष्ट भाषण करना (३) उल्लाप—व्यंगपूर्वक बोलना, (४) अनुल्लाप—व्यंग के साथ दुष्टतापूर्वक बोलना, (५) संलाप—गुप्त वार्तालाप करना, (६) प्रलाप—निरर्थक बकवास करना, (७) विप्रलाप—निष्प्रयोजन भाषण करना। मुझे लगता है कि मेरी वाणी की तुच्छता इन सभी रूपों में सीमा पार कर रही है।

मेरे मन और मेरी वाणी की तुच्छता भला मेरे कार्यों की तुच्छता को क्यों नहीं भड़कायगी? मेरे कार्यों की तुच्छता भी दयनीय बनी हुई है। वह तुच्छता शरीर की असावधानी से अशुभ व्यापारपूर्ण इन कार्यों में प्रकट होती है—(१) असावधानी से जाना, (२) असावधानी से ठहरना, (३) असावधानी से बैठना (४) असावधानी से लेटना, (५) असावधानी से उल्लंघन करना, (६) असावधानी से इधर-उधर बार-बार उल्लंघन करना तथा (७) असावधानी से सभी इन्द्रियों व योगों की प्रवृत्ति करना। इस प्रकार मेरी शरीर की विषय, कषाय एवं प्रमादपूर्ण क्रियाओं से निरन्तर कर्म बंध होता रहता है। दुष्ट व्यापार विशेष रूप तथा कर्म बंध के कारण रूप मेरी ऐसी क्रियाएं पांच प्रकार की होती है—(१) कायिकी—काया के दुष्ट व्यापार से होने वाली क्रिया, (२) आधिकरणिकी—जिस दुष्वृत्ति विशेष अथवा बाह्य खड्ग आदि शस्त्र से आत्मा का पतन होना है, उसे अधिकरण कहते हैं, अतः ऐसे अधिकरण से होने वाली क्रिया, (३) प्राद्वेषिकी—जीव के मत्सर भाव रूप अकुशल परिणाम रूप प्रद्वेष से होने वाली क्रिया, (४) परितापनिकी—ताड़नादि से दुःखित करने वाली परिताप आदि की क्रिया, (५) प्राणातातिपातिकी क्रिया—इन्द्रियादि प्राणों को अतिपात पहुँचाने वाली क्रिया। अन्य प्रकार से इन्हीं क्रियाओं के पांच भेद इस रूप में भी होते हैं। (१) आरंभिकी छः काया रूप जीव की हिंसा से लगने वाली क्रिया, (२) पारिग्रहिकी—मूर्च्छा-ममत्त्व से लगने वाली क्रिया, (३) माया प्रत्यया—कपटपूर्वक दूसरों को ठगने से लगने वाली क्रिया, (४) अप्रत्याख्यानिकी—अव्रत याने थोड़ी-सी भी विरति के परिणाम न होने रूप क्रिया तथा (५) मिथ्यादर्शन प्रत्यया—मिथ्यात्व से लगने वाली क्रिया। अन्य अपेक्षा से क्रियाओं के पांच प्रकार इस रूप में भी होते हैं। —(१) प्रेम प्रत्यया—माया और लोभ से उपजे राग भाव के कारण लगने वाली क्रिया, (२) द्वेष प्रत्यया—क्रोध और मान से उपजे द्वेष भाव के कारण लगने वाली क्रिया, (३) प्रायोगिकी क्रिया—आर्तध्यान व रौद्रध्यान जनित पापजनक काय-व्यापार से लगने वाली क्रिया, (४) सामुदानिकी क्रिया—समग्र आठ कर्मों को ग्रहण करने से अथवा अनेक जीवों को एक साथ एक-सी पाप क्रिया से लगने वाली, तथा (५) ईर्यापथिकी क्रिया —उपशान्त मोह, क्षीण मोह और सयोगी केवली —इन तीन गुणस्थानों में रहे हुए अप्रमत्त साधु के केवल योग कारण से साता वेदनीय कर्म रूप बंधने वाली क्रिया।

मेरा मानस, मेरी वाणी और मेरे कार्य किस प्रकार के तुच्छ भावों से ग्रस्त हैं —यह मैंने जाना है और यह भी जाना है कि वे ऐसे हीन तुच्छ भावों से ग्रस्त क्यों है? इसका कारण है अष्ट कर्मों की जड़ग्रस्तता जिसके अनेकानेक आवरणों ने मेरे आत्म-स्वरूप को आवृत्त बनाकर उसके स्वरूप को अपरूप बना दिया है। यह स्वरूप विकृति मेरे लिये कलंक रूप बन गई है। मेरी मूल महत्ता तो छिपी ही है, किन्तु मेरा पुरुषार्थ भी सुशुप्त हो गया है। मैं यह जान गया हूँ कि मेरी यह स्वरूप विकृति मेरी ही तुच्छता और हीन भावना के कारण हुई है। पदार्थ मोह में पड़ा हुआ मैं कर्म पुद्‌गलों को ग्रहण करता हुआ अपने आत्म-स्वरूप को जड़ता से ढक रहा हूँ तो बाहर भी इन्हीं पदार्थों को प्राप्त करने की भाग-दौड़ में अपने मन, वचन एवं काया के योग व्यापार को जड़ता से

मलिन बना रहा हूँ। अब मैं इस जड़ग्रस्त तुच्छता से विलग तभी हो सकता हूँ जब मैं एक ओर अपने अशुभ योग व्यापार को शुभ्रता से ढालूं तथा दूसरी ओर अष्ट कर्मों के कठिन बंधनों को धर्माराधना से तोड़ूं व अपनी स्वरूप-विकृति को स्वरूप-शुद्धि में परिवर्तित करूं।

अष्ट कर्मों के बन्धन

सांसारिकता के कारणभूत इन कर्मों की प्रक्रियाओं को मुझे गहराई से समझना होगा, क्योंकि मेरी स्वरूप-विकृति इन्हीं के बंधनों की वजह से है। इस समझ के साथ ही एक दूसरा प्रश्न भी समाधान मांगता है कि इस संसार के संचालन का सूत्रधार कौन है?

मैं तथा अन्य प्राणी अपने-अपने अनुभव से यह तथ्य जानते हैं कि इस संसार की प्रकृति में जो कार्य हो रहे हैं, वे बहुत ही विधिवत हो रहे हैं। प्रकृति के इस सुव्यवस्थित क्रम को भंग करता है तो अधिकांशतः बुद्धिशाली मनुष्य ही। फिर भी ऐसी अनेक घटनाएं सबके ध्यान में आती हैं जिनके कारण खोजने से भी नहीं मिलते। अपनी कर्तृत्व शक्ति एवं गूढ़ वैचारिकता के कारण मनुष्य का महत्त्व कम नहीं है, फिर भी वह अनेक बार अपने को ऐसा असहाय महसूस करता है कि वह अपने से ऊपर एक शक्ति को मान लेने के लिये विवश हो जाता है। इस शक्ति के आगे वह अपने को अशक्त अनुभव करने लग जाता है।

मैं सोचता हूं कि शायद ऐसी ही विवशता की छाया में मनुष्य ने संसार के एक रचयिता की कल्पना की हो। अतः यह मान्यता उपजी और फैली कि इस संसार की रचना करने, इसका पालन करने तथा विनाश करने वाला स्वयं परमात्मा है। इतना ही नहीं, इस संसार में होने वाली किसी भी तत्त्व की क्रिया या प्रक्रिया का प्रेरक भी परमात्मा ही है —यह मान्यता मनुष्य के मन में बैठी जिसके आधार पर ही वह कहने लगा कि परमात्मा ही सारे संसार की समस्त हलचलों का संचालक है तथा उसकी मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता है। मैं देखना चाहता हूँ कि क्या यह मान्यता मनुष्य के वास्तविक शक्तिसम्पन्न ज्ञान से उत्पन्न हुई है अथवा मात्र अज्ञानजनक भय से?

इस मान्यता की थोड़ी-सी मीमांसा जरूरी है। पहले इस बात का निर्णय करना होगा कि यह मनुष्य मात्र परमात्मा जैसी किसी शक्ति के हाथ का खिलौना है अथवा स्वयं एक शक्तिशाली आत्मा? यदि उसे कठपुतली मान लेते हैं तो इस जीव तत्त्व को अजीव ही कहना पड़ेगा जिसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व न रहे। किन्तु सभी अपने-अपने अनुभव से जानते हैं कि ऐसा कुछ नहीं है। सब आत्माएं स्वतन्त्र शक्ति की धारिणी हैं तथा अपने-अपने शक्ति-विस्फोट के अनुसार अपने-अपने सामर्थ्य का प्रदर्शन भी करती रहती है जिसे सब देखते हैं। इसका अर्थ यह होगा कि मनुष्य की आत्मा भी अपना सर्वोच्च विकास साध ले तो वह स्वयं भी परमात्मा बन सकती है। आत्मा से परमात्मा —यह सबकी समझ में बैठी हुई उक्ति है। फिर एक बार जो आत्मा परमात्म पद को प्राप्त कर लेती है, वह अपने अनन्त सुख को त्याग कर भला संसार के पचड़ों में फिर क्यों पड़े? कल्पना करलें कि परमात्मा फिर से संसार का संचालन सूत्र पकड़ने के लिये यहाँ आवे भी याने अवतार ले भी तो क्या वह अपने पद की उज्ज्वलता और शुद्धता को भी तिलांजलि दे देंगे जो इस संसार की घोर विषमताओं का संचालन करें? और यदि वह अपने पद से पतित होकर ऐसा संचालन संभालते हैं तो वह भेदभावपूर्ण संचालन मान्य ही कैसे हो सकता है? अतः संसार के संचालन का सूत्रधार

परमात्मा या ईश्वर हो —यह न तो बोध गम्य है और न अनुभव गम्य। कारण, फलस्वरूप विशुद्ध स्वरूपी परमात्मा कभी भी पुनः संसार में आते नहीं और सांसारिकता से संपृक्त बनते नहीं।

तब प्रश्न पैदा होता है कि फिर संसार का इतना सुव्यवस्थित संचालन कैसे होता है? उसका उत्तर यह है कि यह संचालन स्वचालित है। जैसे कि ऑटोमेटिक घड़ी होती है तो वह बिना चाबी भरे ही चलती रहती है। हाथ इधर-उधर हिलते रहते हैं और घड़ी के पुर्जे चलते रहते हैं। ऐसा ही इस संसार में होता है। हाथ चलने की तरह जीव एवं अजीव तत्त्व का संयोग चलता रहता है और घड़ी से समय निकलने की तरह उस संयोग की हलचलों का फलाफल निकलता रहता है। इसे यों कहें कि मैंने एक क्रिया की तो उसके प्रभाव रूप उस तरह के कार्माण वर्गणा के पुद्‌गल मेरे आत्म स्वरूप से बंध जाते हैं। फिर स्थिति पकने पर ये पुद्‌गल अपना शुभ अथवा अशुभ फल देकर ही छूटते हैं या साधना के बल पर उनसे मुक्त हुआ जा सकता है। कर्मों के बंध, उदय और फल का जो यह क्रम चलता रहता है, वही शरीरधारी सभी प्राणियों की स्थिति परिस्थिति तथा वृत्तियों-प्रवृत्तियों का कारणभूत बनता है। कर्मों का यह क्रम काफी हद तक सुव्यवस्थित होता है जिसे आत्म-जागृति से खंडित किया जा सकता है। असल में कर्मों का यही क्रम सारे संसार का संचालन करता है जो एक प्रकार से स्वचालित होता है। यही कर्मवाद अथवा स्वनिर्मित भाग्यवाद का सिद्धान्त कहलाता है।

कर्मवाद के इस सिद्धान्त को कुछ गहराई से समझें। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से आत्म प्रदेशों में हलचल होती है तब जिस क्षेत्र में आत्म-प्रदेश हैं उसी क्षेत्र में रहे हुए अनन्तानन्त कर्मयोग्य पुद्‌गल जीव के साथ बंध को प्राप्त होते हैं। जीव और कर्म का यह मेल ठीक वैसा ही होता है, जैसा दूध या पानी का या अग्नि और लौह पिंड का। इस प्रकार आत्म-प्रदेशों के साथ बंध को प्राप्त कार्माण वर्गणा के पुद्‌गल ही कर्म कहलाते हैं। या यों कहें कि मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है। कर्म का यह लक्षण भावकर्म और द्रव्यकर्म दोनों में घटित होता है। आत्मा के राग द्वेषादि रूप वैभाविक परिणाम भावकर्म हैं और कर्म वर्गणा के पुद्‌गलों का समूह द्रव्य कर्म हैं। राग द्वेषादि के वैभाविक परिणामों में जीव उपादान कारण होता है, इसलिये भाव-कर्म, कर्त्ता उपादान रूप से जीव है। द्रव्य कर्म में जीव निमित्त कारण है। इसलिये निमित्त रूप से द्रव्य कर्म का कर्त्ता भी जीव ही है। भावकर्म के होने में द्रव्य कर्म निमित्त है और द्रव्य कर्म में भाव कर्म निमित्त है। आपेक्षिक दृष्टि से इस प्रकार द्रव्य कर्म और भाव कर्म इन दोनों का परस्पर बीज और अंकुर की तरह कार्यकारण भाव सम्बन्ध है।

संसार के सभी जीव आत्म स्वरूप की अपेक्षा से एक से हैं, फिर भी वे पृथक्-पृथक् योनियों में भिन्न-भिन्न शरीर धारण किये हुए हैं और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में विद्यमान हैं। एक ही माँ की कोंख से जन्म लेने पर भी तथा एक-सी परिस्थितियों में पले पोसे और शिक्षित हुए दो सगे-भाइयों में भी कई बातों का अन्तर दिखाई देता है। यह विचित्रता तथा विषमता विना किसी कारण के हो—ऐसा नहीं होता। इस सुख-दुःख, सम्पन्नता-विपन्नता अथवा सवलता-दुर्वलता का कोई कारण होना चाहिये जैसे कि अंकुर का कारण बीज होता है। अतः इस विषमता का कारण कर्म ही हो सकता है।

मैं देखता हूँ कि कई लोग इस तथ्य में पूरा विश्वास नहीं करते हैं और दलील देते हैं कि सुख-दुःख के कारण तो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, जैसे माला, शय्या, स्त्री आदि सुख के कारण हैं तो

कंटक, विष आदि दुःख के कारण, फिर दृश्यमान सुख-दुःख के कारणों को छोड़कर अदृष्ट कर्म की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है? सुख-दुःख के इन बाह्य साधनों से भी परे सुख-दुःख के कारण की खोज इसलिये करनी पड़ती है कि सुख की समान सामग्री प्राप्त पुरुषों के सुखानुभव में भी अन्तर दिखाई देता है। इस अन्तर का कारण कर्म के सिवाय क्या हो सकता है? एक व्यक्ति को सुख के कारण प्राप्त होते हैं तो दूसरे को नहीं। इसका भी नियामक कारण होना चाहिये और वह कर्म ही हो सकता है।

आत्मा के बाह्य शरीर औदारिक आदि रूप तो प्रत्येक जन्म में बदलते रहते हैं किन्तु कर्म बद्ध रूप उसका कार्माण शरीर जन्म जन्मान्तर में भी साथ चलता है। यह शरीर विग्रह गति में भी जीव के साथ रहता है और उसे उत्पत्ति क्षेत्र में ले जाता है। दानादि क्रियाएं भी फलवाली होती हैं क्योंकि वे सचेतन द्वारा की जाती हैं, अतः उनका फल भी कर्म के अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता। यह कर्म पुद्‌गल रूप माना गया है अतः मूर्त्त लक्षण वाला होता है। जो कार्य मूर्त्त होता है उसका कारण भी मूर्त्त ही होता है जैसे घट का कारण मिट्टी। कर्म कारण है तो उसका कार्य शरीर आदि मूर्त्त रूप में ही होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि जब कर्म मूर्त्त रूप है तो वह अमूर्त्त रूप जीव के साथ अपना सम्बन्ध कैसे जोड़ता है? संसारी जीव अनादिकाल से कर्म सन्तति से सम्बद्ध रहा है और वह कर्म के साथ क्षीर-नीर की तरह एक रूप हो रहा है। यह एकरूपता उसके अमूर्त्तत्व गुण को आवृत्त करके रहती है इसलिए अमूर्त्त जीव सकर्म अवस्था में मूर्त्त कहा जाता है इसी बात को भगवती सूत्र में 'रूपी आया' के रूप में कहा गया है? आत्मा को रूपी सकर्म की अपेक्षा से ही समझना चाहिए। ऐसी मूर्त्त आत्मा ही मूर्त्त कर्म से सम्बन्ध जोड़ती है।

अब यह विचार उठता है कि जड़ कर्म फल कैसे देते हैं? सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते हैं, पर बुरे कर्म का दुःख रूप फल कोई जीव नहीं चाहता। किन्तु ध्यान में रखने की बात यह है कि जीव-चेतन के संग से कर्मों में ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि जिससे वे अपने शुभाशुभ विपाक को नियत समय पर स्वयं ही फल मिल जाता है। नहीं चाहने से कर्म का फल न मिले—यह संभव नहीं है। आवश्यक सामग्री के एकत्रित होने पर कार्य स्वतः हो जाता है। कारण—सामग्री की पूर्ति हो जाने पर व्यक्ति विशेष की इच्छा से कार्य की उत्पत्ति न हो—ऐसी बात नहीं है। जीभ पर मिर्च रखने के बाद उसके तीखेपन का अनुभव स्वतः हो जाता है। व्यक्ति के न चाहने से मिर्च का स्वाद न आवे—यह नहीं होता, न उसके तीखेपन का अनुभव कराने के लिये अन्य आत्मा की ही आवश्यकता पड़ती है। यही बात कर्म फल भोग के विषय में भी है। काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ —इन पांच समवायों के मिलने से कर्म फल का भोग होता है। इस प्रकार चेतन का सम्बन्ध पाकर कर्म स्वयं फल दे देता है और आत्मा भी उसका फल-भोग ले लेता है। इसमें परमात्मा या किसी तीसरे व्यक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

कर्म करने के समय ही परिणामानुसार जीव में ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं कि जिनसे प्रेरित होकर कर्त्ता जीव कर्म का फल आप ही भोग लेता है और कर्म भी चेतन से सम्बद्ध होकर अपने फल को स्वतः प्रकट कर देता है। कर्मों की शुभाशुभता का प्रश्न भी विचारणीय है। लोक में सर्वत्र कर्म वर्गणा के पुद्‌गल भरे हुए हैं। उनमें शुभाशुभ का भेद नहीं है। जीव अपने शुभाशुभ परिणामों के अनुसार कर्मों को शुभाशुभ रूप में परिणत करते हुए ही ग्रहण करता है। इसी प्रकार जीव के

परिणाम कर्मों की शुभाशुभता के कारण है। दूसरा कारण है आश्रय का स्वभाव। कर्म के आश्रयभूत जीव का भी यह स्वभाव है कि वह कर्मों को शुभाशुभ रूप से परिणत करके ही ग्रहण करता है। प्रकृति, स्थिति तथा अनुभाग की विचित्रता व प्रदेशों के अल्पबहुत्त्व का भेद भी जीव कर्म-ग्रहण करने के समय ही करता है। इसे एक दृष्टान्त से समझें। सर्प और गाय को एक से दूध का आहार दिया जाय तब भी सर्प के शरीर में वह दूध विष रूप में परिणत हो जाता है तथा गाय के शरीर में दूध रूप में। इसका कारण है आहार और आहार करने वाले का स्वभाव। एक ही समय में पड़ी हुई वर्षा की बूंदों का आश्रय के भेद से भिन्न-भिन्न परिणाम देखा जाता है। जैसे स्वाति नक्षत्र में गिरी हुई बूंदें सीप के मुंह में जाकर मोती बन जाती है और सर्प के मुंह में जाकर विष। यह तो भिन्न-भिन्न शरीरों में आहार की विचित्रता होती है किन्तु एक शरीर में भी एक से आहार की विचित्रता देखी जाती है। शरीर द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार भी ग्रहण करते हुए सार-असार रूप में परिणत हो जाता है एवं आहार का सार भाग भी सात धातुओं में परिणत होता है। इसी प्रकार कर्म भी जीव से ग्रहण किये जाकर शुभाशुभ रूप में परिणत होते हैं।

कर्म का आत्मा के साथ सम्बन्ध अनादिकालीन है। वह सदा यथायोग्य मन, वचन, काया के व्यापारों में प्रवृत्त रहता है—इससे उसके प्रत्येक समय कर्म बंध होता रहता है। इस रूप में पुराने कर्म क्षय होते रहते हैं और नये कर्म बंधते रहते हैं। ऐसा होते हुए भी सामान्य रूप से तो कर्म सदा से जीव के साथ लगे हुए ही रहे हैं। देह युक्त आत्मा से कर्म होता है और कर्म युक्त आत्मा देह धारण करती है। इस प्रकार देह और कर्म एक दूसरे के हेतु हैं। दोनों में हेतु हेतु मद्भाव का सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध अनादि है।

कर्म बंध के मुख्यतः पांच कारण माने गये हैं—(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) योग। संक्षेप में योग और कषाय कर्म बंध के कारण हैं। कर्म बंध के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश—ये चार भेद किये हैं? इनमें प्रकृति और प्रदेश बंध योग-निमित्तक हैं और स्थिति और अनुभाग बंध कषाय-निमित्तक हैं। योग को भी गौण कर दें तो कषाय ही मुख्य कर्मबंध का कारण हो जाता है। कषाय के क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकार होते हैं जिनमें राग और द्वेष का भी समावेश हो जाता है। यों कोई भी मानसिक विकार हो, उसकी जड़ राग या द्वेष में ही होती है। ये राग द्वेषात्मक वृत्तियाँ ही मनुष्य को कर्म जाल में फंसाती तथा फंसाये रखती हैं। जैसे मकड़ी अपनी ही प्रवृत्ति से अपने ही बनाये हुए जाले में फंसती है, उसी प्रकार जीव भी स्वकीय राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति से अपने को कर्म पुद्गलों के जाल में फंसा लेता है। राग-द्वेष की वृद्धि के साथ ज्ञान भी विपरीत होकर मिथ्या ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है। जिस प्रकार शरीर में तैल लगाकर कोई धूल मे लेटे तो रेत कण उसके शरीर से चिपक जाते हैं। उसी प्रकार राग-द्वेषात्मक परिणामों से परिणत जीव भी आत्मा से घिरे हुए क्षेत्र में व्याप्त कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है। राग-द्वेष की चिकनाई ही मुख्य रूप से कर्मबंध का कारण बनती है। इस चिकनाई के तीव्र होने पर उत्कट कर्मों का बंध होता है। राग-द्वेष की कमी के साथ अज्ञान घटता है और ज्ञान विकसित होता है। ऐसी दशा में कर्म-बंध तीव्र नहीं होता।

कर्मबंध हमेशा आत्म प्रदेशों के साथ बंधे हुए ही रहें—यह स्थिति नहीं है। क्षीर-नीर की तरह एकमेक बने कर्म भी अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं, परन्तु राग-द्वेष की नई-नई

परिणतियों से नये-नये कर्मों का बंध भी होता जाता है। इस प्रकार संसार का क्रम चलता रहता है। किन्तु कर्मों से छुटकारा भी होता है। मुक्ति कर्मों से पूरे छुटकारे का ही दूसरा नाम है। जैसे सोना और मिट्टी जमीन के भीतर एकमेक बने हुए होते हैं किन्तु उन्हें बाहर निकाल कर तापादि प्रयोग द्वारा पूरी तरह से विलग कर दिया जाता है। सोना अपने पूर्ण शुद्ध रूप में पृथक् हो जाता है। उसी प्रकार धर्माराधना से आत्मा कर्म-मल को दूर कर देती है और अपने ज्ञानादि मय शुद्ध स्वरूप को सुप्रकट कर लेती है।

ये कर्म आठ प्रकार के बताये गये हैं—(१) ज्ञानावरणीय कर्म—ज्ञान पर आवरण डाल देने वाले, (२) दर्शनावरणीय कर्म—दर्शन (आस्था) पर आवरण डाल देने वाले (३) वेदनीय कर्म—सुख या दुःख पूर्ण वेदना का अनुभव देने वाले, (४) मोहनीय कर्म —परिग्रह रूप जड़ग्रस्तता से जकड़ देने वाले, (५) आयु कर्म—आयुबंध कराने वाले, (६) नाम कर्म—गति आदि पर्यायों का अनुभव देने वाले, (७) गौत्र कर्म—उच्च व नीच शब्दों से सम्बोधित कराने वाले तथा (८) अन्तराय कर्म—विभिन्न प्रकार की प्राप्तियों में बाधा डालने वाले।

ये अष्ट कर्म आत्म-गुणों पर अष्ट आवरण के समान है अतः इन आवरणों को जब तक हटाने का प्रयास प्रारंभ न करें, तब तक उन सम्बन्धित गुणों के प्रकट होने का अवसर नहीं आता है। जैसे ज्ञान का आवरण रूप कर्म जिस रूप में हटता जायगा, उसी रूप में आत्मा का ज्ञान गुण प्रकाशित होता जायगा। मेघाछन्न आकाश के समान मानिये कि बादलों का घनत्व जिस रूप में घटेगा, उसी रूप में सूर्य की आभा प्रकट होगी। सम्पूर्ण आवरण के हट जाने पर जिस प्रकार सूर्य अपनी सम्पूर्ण आभा से प्रकाशित हो जाता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण आवरणों को हटा देने के बाद संसार में बद्ध यह आत्मा मुक्त होकर बुद्ध तथा सिद्ध बन जाती हैं।

इन आठों कर्मों की प्रवृत्तियों, बंध कारणों तथा क्षय-उपायों पर विचार आवश्यक है। जिससे मेरी आत्मा कर्म सिद्धान्त की समूची प्रक्रिया को भली-भांति समझ सके तथा उन उपायों पर चल सकें जिनके द्वारा कर्मों का उपशय-क्षय करते हुए अनावृत्त स्वरूप प्राप्त किया जा सकता है।

ज्ञान शक्ति के आवरण

मेरी विकास की महायात्रा में अपनी आत्मा का जो मार्गदर्शक गुण है, वह है ज्ञान गुण। सम्यक् ज्ञान के प्रकाश में ही इस महायात्रा का समारंभ, संचालन तथा समापन संभव हो सकता है। मेरे भीतर ऐसे ज्ञान का प्रकाश अल्प क्यों हैं? इसलिये कि ज्ञान पर आवरण डालने वाले कर्मों को मैंने बांध रखा है जिन्हें ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। मैं ज्ञान शक्ति के इस आवरण को मन्द कैसे बनाऊं और धीरे-धीरे समाप्त कैसे करूं—इसके लिये मैं इस कर्म का पूरा स्वरूप जानना चाहता हूँ।

मेरा अध्ययन और अनुभव बताता है कि वस्तु के विशेष अवबोध को ज्ञान कहते हैं तथा ज्ञानावरणीय कर्म इस अवबोध-शक्ति को आच्छादित कर देता है। जिस प्रकार आंखों पर पट्टी बांध देने से वस्तुओं को देखने में बाधा पड़ती है, उसी तरह इस कर्म के दुष्प्रभाव से आत्मा को सम्यक् एवं यथार्थ पदार्थ ज्ञान में बाधा पड़ती है। मेरा यह पक्का अनुभव है कि ज्ञानावरणीय कर्म का कैसा भी गहरा आच्छादन हो जाय तब भी आत्मा सर्वथा ज्ञान शून्य कभी भी नहीं होती है क्योंकि ज्ञान और उपयोग उसका मूल लक्षण है। ज्ञान का यह शाश्वत सद्भाव ही उसे पुनः पुनः जागृत बनाता

रहता है। यदि ऐसा न हो तो आत्मा जड़ ही बन जाय किन्तु चेतन कभी जड़ बनता नहीं है तथा जड़ कभी भी चेतन बनता नहीं है। अतः आत्मा ज्ञानांश से रहित कभी नहीं होती है।

ज्ञान के पांच भेद है, उस दृष्टि से ज्ञानावरणीय कर्म के भी पांच भेद कहे गये हैं —

(१) मति ज्ञानावरणीय—मतिज्ञान एवं उसके सभी प्रकारों को आच्छादित करने वाले कर्म। इन्द्रिय और मन की सहायता से वस्तु को जानने वाला ज्ञान मति ज्ञान अथवा आभिनिबोधिक ज्ञान कहलाता है।

(२) श्रुत ज्ञानावरणीय—श्रुत ज्ञान एवं उसके सभी प्रकारों पर आवरण डालने वाले कर्म। वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध द्वारा शब्द से सम्बद्ध अर्थ को ग्रहण कराने वाला इन्द्रिय मन कारणक ज्ञान श्रुतज्ञान होता है। यह मतिज्ञान के अनन्तर मतिपूर्वक ही होता है तथा शब्द व अर्थ की पर्यालोचना में निहित रहता है। जैसे घर शब्द सुनते ही उसके आकार, रंग आदि भिन्न-भिन्न विषयों पर विचार करना श्रुत ज्ञान का विषय होता है। यही ज्ञान को कच्चे दूध की तरह और श्रुत ज्ञान को पक्के दूध की तरह भी कह सकते हैं।

(३) अवधि ज्ञानावरणीय—भव प्रत्यय एवं गुण प्रत्यय तथा अनुगामी, अननुगामी आदि भेद वाले अवधि ज्ञान के आवरक कर्म। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मर्यादा को लिये हुए रूपी द्रव्य का ज्ञान करना अवधि ज्ञान कहलाता है।

(४) मनःपर्यय ज्ञानावरणीय—ऋृजुमति और विपुलमति भेद वाले मनःपर्यय ज्ञान को अच्छादित करने वाला कर्म। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मर्यादा को लिये हुए संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानना मनःपर्यय ज्ञान है।

(५) केवल ज्ञानावरणीय—केवल ज्ञान पर आवरण डालने वाले कर्म। मति आदि ज्ञान की अपेक्षा बिना त्रिकाल एवं त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् हस्तामलकवत् जान लेने वाला केवलज्ञान होता है। इन पांच ज्ञानावरणीय कर्मों में मात्र केवल ज्ञानावरणीय कर्म ही सर्वघाती होता है और शेष चार कर्म देशघाती हैं। ज्ञानावरणीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहुर्त तो उत्कृष्ट तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम की है।

ज्ञानावरणीय का बंध जिन कारणों से होता है, वे छः हैं—(१) ज्ञानी से विरोध करना या उसके प्रतिकूल आचरण करना। (२) ज्ञान गुरु तथा ज्ञान का गोपन करना, (३) ज्ञानार्जन में अन्तराय-बाधा देना, (४) ज्ञानी से द्वेष करना, (५) ज्ञान एवं ज्ञानी की असातना-अवमानना करना तथा (६) ज्ञान एवं ज्ञानी के साथ निरर्थक विवाद करना व उनमें दोष दिखाने की चेष्टा करना। इन कारणों के सिवाय ज्ञानावरणीय कर्म का उदय भी विभिन्न रूपों में इस कर्मबंध का कारण भूत होता है। इस कर्म का अनुभाव दस प्रकार का बताया गया है—(१) श्रोत्रावरण—इस आवरण से श्रोत्रेन्द्रिय विषयक क्षयोपशम का आवरण समझना चाहिये जिसमें उपयोग का आवरण भी शामिल है। (२) श्रोत्रविज्ञानावरण—श्रवण सम्बन्धी शक्ति के साथ उसके विज्ञान पर भी आवरण आ जाता है। (३) नेत्रावरण—ज्ञान दृष्टि पर आवरण। (४) नेत्र विज्ञानावरण—दृष्टि विज्ञान पर आवरण। (५) घ्राणावरण—सूंघने की शक्ति पर आवरण। (६) घ्राण विज्ञानावरण—सूंघने के विज्ञान पर आवरण। (७) रसनावरण—स्वाद शक्ति पर आवरण। (८) रसना विज्ञानावरण—रस के विज्ञान पर आवरण। (९) स्पर्शावरण—स्पर्श शक्ति पर आवरण। तथा (१०) स्पर्श विज्ञानावरण—स्पर्श के विज्ञान पर

आवरण। प्रत्येक कर्म का अनुभाव स्व और पर की अपेक्षा से होता है। गति, स्थिति और भव पाकर कर्मोदय से जो फल-भोग होता है, वह स्वतः अनुभाव है। उदीरणा आदि शक्ति विशेष के माध्यम से पुदगल और पुदगल परिणाम की अपेक्षा जो फल-भोग होता है, उसे परतः अनुभाव समझना चाहिये। स्वतः अनुभाव में कोई कर्म, गति-विशेष को पाकर ही तीव्र फल देता है, जैसे कुछ असाता वेदनीय कर्म नरक गति में तीव्रतम फल देता है। तीव्र अनुभाग के उदय के साथ स्थिति से भी तीव्र फल मिलता है जैसा कि मिथ्यात्व की स्थिति में। भव विशेष पाकर भी कभी-कभी कर्म का तीव्र फल होता है। इस प्रकार परतः अनुभाव में कर्म किसी पुद्गल का निमित्त पाकर फल देता है जैसे किसी के लकड़ी या पत्थर फेंकने पर चोट पहुंचती है। इसी प्रकार मदिरा पान से ज्ञानावरणीय का भी उदय होता है। अतः इस अनुभाव को दस से संक्षिप्त करके केवल दो भेदों में भी देखा जा सकता है —स्वतः निरपेक्ष तथा परतः सापेक्ष। पहली स्थिति में बाह्य निमित्त की अपेक्षा किये बिना ही स्वाभाविक ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जीव ज्ञातव्य वस्तु को नहीं जानता है, जानने की इच्छा रखते हुए भी नहीं जान पाता है और एक बार जानकर भूल जाने से दूसरी बार नहीं जानता है। यहां तक कि वह आच्छादित ज्ञान शक्ति वाला हो जाता है, जबकि दूसरी स्थिति में पुद्गल, पुद्गल परिणाम की अपेक्षा ज्ञान शक्ति का आच्छादन होता है तथा जीव ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान नहीं कर पाता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी को चोट पहुंचाने के लिये पत्थर, ढेला या शस्त्र, फेंकता है तो उनकी चोट से उसके ज्ञान में लगने वाले उपयोग बाधा उत्पन्न होती है। क्योंकि उसका उपयोग ज्ञान में न लग कर चोट में लग जाता है। यह पुद्गल की अपेक्षा हुई। फिर पुद्गल परिणाम की अपेक्षा यह होगी कि एक व्यक्ति भोजन करता है, उसका परिणमन ठीक तरह से न होने के कारण वह अजीर्णवश दुःखानुभव करता है, और उस दुःख की अधिकता से वस्तु विशेष को जानने की ज्ञान शक्ति पर बुरा असर पड़ता है। स्वाभाविक पुद्गल परिणाम की अपेक्षा से शीत, ऊष्ण आदि के कारण जीव की इन्द्रियों में क्षति पहुंचने से इन्द्रियजन्य ज्ञान में बाधा पहुंचती है।

मैं ज्ञानावरणीय कर्म के इस स्वरूप विश्लेषण से यह शिक्षा लेना चाहता हूं कि ज्ञान पर आवरण डालने वाले कर्मों के जो कारण हैं, उनसे दूर रहूं और बचूं। दूसरे, जब मेरे पूर्व कृत ज्ञानावरणीय कर्म का उदय काल आवे तथा उस फल भोग के कारण मेरे ज्ञानार्जन में बाधाएं खड़ी हो, तब मैं उन बाधाओं को शान्तिपूर्वक सहूं और अपने प्रयासों की निरन्तरता को बनाये रखूं। साथ ही ज्ञान के प्रसाद एवं ज्ञानियों की सेवा में मैं अपने आपको निष्ठापूर्वक लगाऊं ताकि मेरे ज्ञान के आवरण कर्मो का क्षयोपशम और क्षय भी होता चले। इस कर्म के बंधनों को तोड़ने में मुझे सफलता इसी आधार पर मिल सकती है कि मैं हर समय समभाव पूर्वक सावधान, सतर्क और जागृत रहूं जिससे मेरी वृत्तियां और प्रवृतियां ज्ञान के क्षेत्र में बाधक न रह कर सहायक बन कर प्रवृत्ति करे।

आवृत्त दर्शन-शक्ति

वस्तु के सामान्य स्वरूप को जानने वाला ज्ञान, दर्शन कहलाता है। यह ज्ञान, दर्शनावरणीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से अभिव्यक्त होता है। और इस सामान्य ज्ञान को आवृत्त करने वाला कर्म दशानिवरणीय कर्म कहलाता है।

दर्शन चार प्रकार का बताया गया है—(१) चक्षु दर्शन, (२) अचक्षु दर्शन, (३) अवधि दर्शन तथा (४) केवल दर्शन। इन प्रकारों के साथ पांच प्रकार की जागरणहीन अवस्थाओं को मिलाने से दर्शनावरणीय कर्म के नव प्रकार कहे गये हैं: —

(१) चक्षुदर्शनावरणीय—चक्षु (आंखों) द्वारा जो पदार्थों के सामान्य धर्म का ग्रहण होता है, उस ग्रहण शक्ति पर आवरण डालने वाले कर्म।

(२) अचक्षुदर्शनावरणीय—चक्षु (आंखों) के सिवाय शेष स्पर्श, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियों तथा मन से जो पदार्थों के सामान्य धर्म का आभास होता है, उसे ढक देने वाले कर्म।

(३) अवधि दर्शनावरणीय—इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना आत्मा को रूपी द्रव्य के सामान्य धर्म का जो बोध होता है, उस बोध को आवृत्त बना देने वाला कर्म।

(४) केवल दर्शनावरणीय—आत्मा द्वारा संसार के सकल पदार्थों का जो सामान्य ज्ञान होता है, उस ज्ञान को आच्छादित बनाने व बनाये रखने वाले कर्म।

(५) निद्रा—जिस निद्रा में सोने वाला सुखपूर्वक धीमी-धीमी आवाज से जग जाता है, वह निद्रा है।

(६) निद्रा-निद्रा—जिस निद्रा में सोने वाला जीव बड़ी मुश्किल से जोर-जोर से चिलाने या हाथ से हिलाने पर जगता है, वह निद्रा-निद्रा है।

(७) प्रचला—खड़े-खड़े या बैठे-बैठे व्यक्ति को जो नींद आती है, वह प्रचला है।

(८) प्रचला-प्रचला—चलते-चलते व्यक्ति को जो नींद आती है, वह प्रचला-प्रचला है।

(९) स्त्यानगृद्धि—जिस निद्रा में जीव दिन या रात में सोचा हुआ काम निद्रितावस्था में कर डालता है वह स्त्यानगृद्धि है। वज्र ऋषभनाराच संहनन वाले जीव को ऐसी निद्रा आती है तव उसमें वासुदेव का आधा बल आ जाता है।

आत्मा की दर्शन शक्ति को ढकने वाले दर्शनावरणीय के ये नौ प्रकार वस्तु के सामान्य ज्ञान के दर्शन को बाधित करते हैं। दर्शनावरणीय कर्म को द्वारपाल के समान माना गया है। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन में बाधा डालता है, उसी प्रकार यह कर्म पदार्थों के स्वरूप को देख पाने में बाधा डालता है। यह आत्मा की दर्शन-शक्ति को प्रकट नहीं होने देता है। चक्षुदर्शनावरणीय आदि चार दर्शनावरण मूल से ही दर्शन लब्धि की घात करते हैं और पांच निद्राएँ प्राप्त दर्शन शक्ति की घात करती हैं। दर्शनावरणीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की होती है।

दर्शनावरणीय कर्म के बंध होने के भी छः कारण बताये गये हैं— (१) दर्शनवान् के साथ विरोध करना या उसके प्रतिकूल आचरण करना, (२) दर्शन का गोपन करना, (३) दर्शन में अन्तराय—बाधा देना, (४) दर्शन से द्वैष करना, (५) दर्शन अथवा दर्शनवान् की असातना या अवमानना करना, तथा (६) दर्शन या दर्शनवान् के साथ निरर्थक विवाद करना अथवा उनमें दोष दिखाने की चेष्टा करना। इनके सिवाय दर्शनावरण कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव दर्शनावरणीय कर्म बांधता है। दर्शनावरणीय कर्म का अनुभाव उसके नव भेदों की दृष्टि से नव प्रकार रूप है। यह अनुभाव स्वतः और परतः रूप से दो प्रकार का भी कहा गया है। स्वतः अनुभाव इस प्रकार है कि दर्शनावरणीय पुद्‌गलों के उदय से दर्शन शक्ति का उपघात होता है और जीव दर्शन योग्य वस्तु को देख नहीं पाता, देखने की इच्छा रखते हुए भी देख नहीं सकता तथा एक बार देखकर वापिस भूल जाता है। उसकी दर्शन शक्ति दव जाती है। परतः अनुभाव के रूप में

कोमल शय्या आदि के रूप में एक या अनेक पुद्गलों का निमित्त पाकर जीव को निद्रा आती है। पुद्गल परिणाम रूप भैंस के दूध का दही आदि भी निद्रा का कारण होता है तथा स्वाभाविक पुद्गल परिणाम रूप बरसात की झड़ी आदि निद्रा में सहायक होती है।

इस प्रकार मेरी आवृत्त दर्शन शक्ति ही मेरी दुर्बलता की प्रतीक बनी हुई है। किसी भी वस्तु स्वरूप को जानकर उसे देखने का जो प्रतिभास होता है, वह कम महत्त्व का नहीं होता। जैसे घड़ा एक बार देखा और जाना, फिर उसके बाद बिना घड़े की मौजूदगी के उसके आकार रंग आदि का जो प्रतिभास होता रहता है, वह वस्तु स्वरूप का सामान्य दर्शन है। इस आवृत्त दर्शन शक्ति के प्रकटीकरण के लिये दर्शनावरणीय कर्म बंध को धर्माराधन से क्षयोपशम और क्षय करते हुए चलना चाहिये। ज्ञान और दर्शन के बंधन जब मन्द हो जाते हैं तो ज्ञान और दर्शन की क्षमता अधिक बढ़ाई जा सकती है।

वेदना की शुभाशुभता

मुझे अनुकूल विषयों से जो सुख रूप तथा प्रतिकूल से जो दुःख रूप से वेदन अर्थात् अनुभव होता है, वह वेदनीय कर्म के प्रभाव से होता है। यों तो सभी प्रकार के कर्मों का वेदन होता है, परन्तु साता-असाता याने सुख-दुःख का अनुभव कराने वाले कर्मविशेष में ही वेदनीय रूढ़ है, इसलिये इस अनुभव से अन्य कर्मों का बोध नहीं लिया जाता है।

वेदना की शुभाशुभता की दृष्टि से इस वेदनीय कर्म के दो भेद होते हैं —

(१) साता वेदनीय—जिस कर्म के उदय से जीव को अनुकूल विषयों की प्राप्ति हो तथा शारीरिक एवं मानसिक सुख का अनुभव हो, वह साता वेदनीय कर्म होता है।

(२) असाता वेदनीय—जिस कर्म के उदय से जीव को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति से तथा प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति से दुःख का अनुभव होता है, उसे असाता वेदनीय कर्म कहते हैं।

इस वेदनीय कर्म को मधु-लिपटी तलवार की उपमा दी जाती है कि जैसे तलवार पर लगे शहद का स्वाद साता वेदनीय के समान और तलवार की धार से जीभ कटने का दुःख असाता वेदनीय के समान है। वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति वीतराग गुणस्थान को छोड़कर बारह अन्तर्मुहुर्त और उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है।

जीव को साता वेदनीय कर्म का बंध इन कारणों से होता है कि प्राण, भूत, जीव और सत्त्व पर अनुकम्पा—दया की जाय, उन्हें दुःख न पहुंचाया जाय, उन्हें शोक न कराया जाय जिससे कि वे दीनता दिखाने लगें, उनका शरीर कृश हो जाय और उनकी आंखों से आंसू व मुंह से लार गिरने लगे, उन्हें लकड़ी आदि से ताड़ना नहीं दी जाय तथा उनके शरीर को परिताप या क्लेश न पहुंचाया जाय। साता वेदनीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव साता वेदनीय कर्म बांधता है। इसके विपरीत यदि प्राण, भूत, जीव और सत्त्व पर अनुकम्पा भाव न रखे, उन्हें दुःख, परिताप, क्लेश आदि पहुंचावे तथा उपरोक्त कार्यो से विपरीत कार्य करे तो उससे जीव को असाता वेदनीय कर्म का बंध होता है। असाता वेदनीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव असाता वेदनीय कर्म बांधता है।

साता वेदनीय कर्म का अनुभाव आठ प्रकार का होता है—(१) मनोज्ञ शब्द, (२) मनोज्ञ रूप, (३) मनोज्ञ गंध, (४) मनोज्ञ रस, (५) मनोज्ञ स्पर्श (६) मन की स्वस्थता एवं सुख की

महसूसगिरी, (७) कानों को मधुर लगने वाली तथा मन में हर्ष उत्पन्न करने वाली वाणी रूप सुखी वचन तथा (८) स्वस्थ, निरोग व सुखी काया। यह अनुभाव परतः भी होता है और स्वतः भी। पुद्गलों के भोगोपभोग, देश, काल, वय और अवस्था के अनुरूप आहार परिणाम रूप पुद्गलों के परिणाम तथा शीतोष्ण रूप स्वाभाविक पुद्गल परिणाम रूप जीव जिस रूप में सुख का अनुभव करता है, वह जीव का परतः सापेक्ष अनुभाव होता है। मनोज्ञ शब्दादि विषयों के बिना भी साता वेदनीय कर्म के उदय से जीव जो सुख का अनुभाव करता है, वह निरपेक्ष स्वतः अनुभाव होता है। तीर्थंकर के जन्मादि के समय होने वाला नारकी जीव का सुख ऐसा ही होता है।

इसी प्रकार असाता वेदनीय कर्म का अनुभाव भी आठ प्रकार का है —(१) अमनोज्ञ शब्द, (२) अमनोज्ञ रूप (३) अमनोज्ञ गंध, (४) अमनोज्ञ रस, (५) अमनोज्ञ स्पर्श (६) अमनोज्ञ (अस्वस्थ) मन, (७) अमनोज्ञ वाणी तथा (८) दुःखी काया। यह अनुभाव भी परतः एवं स्वतः दोनों प्रकार का होता है। परतः अनुभाव पुद्गल, पुद्गल परिणाम, तथा स्वाभाविक पुद्गल परिणाम रूप तीन प्रकारों से जीव को दुःख भोग कराता है। स्वतः अनुभाव की दृष्टि से असाता वेदनीय कर्म के उदय से बाह्य निमित्तों के न होते हुए भी जीव को असाता या दुःख का भोग होता है।

महाबली कर्मराज मोहनीय

मैं जानता हूं कि अष्ट कर्मों में मोहनीय कर्म को कर्मराज माना गया है क्योंकि मेरे आत्मस्वरूप के साथ सम्बद्ध होने वाले कर्मों में सांसारिकता के प्रति मोहग्रस्तता के कर्म महाबली होते हैं। यदि मैं अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में मोह-ममत्त्व का शमन और दमन कर दूं तो फिर ऐसा कोई कर्म नहीं रहता जिसका सरलता से क्षय नहीं किया जा सके। मैं अष्टकर्मों को पाप का वट वृक्ष मानूं तो मोहनीय कर्म उसकी जड़ कहलायगा। वृक्ष कितना ही विशाल क्यों न हो— उसका फैलाव भी कितना ही व्यापक क्यों न हो, यदि उसकी जड़ों को उखाड़ फैकूं तो वह सारा वृक्ष धराशायी हो जांयगा और उसके बेशुमार, पत्ते फल-फूल देखते-देखते सूख कर नष्ट हो जायेंगे। जड़ों को उखाड़ फेंकने का ही श्रम कठिन और कष्ट साध्य होगा। इसके बाद वृक्ष का पूर्णतया विनाश करने के लिये कोई उल्लेखनीय श्रम नहीं करना पड़ेगा। यही स्थिति मोहनीय कर्म की होती है। मोह-ममत्व ही सम्पूर्ण कर्म बंधन की जड़ के समान होता है। मोह उखड़ जाय तो अन्य कर्म बंधन स्वतः ही टूट जायेंगे।

मैं इस दृष्टि से मोहनीय कर्म को आठों कर्म का राजा और महाबली मानता हूं। राजा को परास्त कर दिया जाय तो मान लिया जायगा कि उसके अन्य सभी योद्धा तथा सारी सेना परास्त कर दी गई है।

संसारी जीव के नाते इस संसार के बाह्य पदार्थों एवं सम्बन्धों के साथ मानव की घनिष्ठ मूर्च्छा भावना होती है। वह समझता है कि मेरी हस्तगत सम्पत्ति और सत्ता मेरी है, घर-मकान मेरा है, परिवार, पत्नी, पुत्र-पुत्रियां आदि मेरी हैं और सबसे बढ़कर यह शरीर मेरा है। सबके प्रति गहरा ममत्व ही मेरा मोह है। मैं जानता और देखता हूं कि वह मानव 'मेरे' समझे जाने वाले इन भौतिक पदार्थों एवं सम्बन्धों के लिये किस प्रकार अपना सारा समय, अपनी सारी शक्तियां और अपने सारे प्रयत्न नियोजित करता है? रात-दिन इन्हीं की प्राप्ति के लिये अथवा प्राप्त उपलब्धियों को बनाये रखने व बढ़ाते रहने के लिये गंभीर रूप से चिन्तित रहता है। इस गाढ़ी मोहग्रस्तता के कारण वह

किसी भी आत्मार्थी अथवा लोकोपकार के कार्य में अपना मन एकाग्र नहीं बना पाता है। उसे हर वक्त बाह्य संसार का मोह सताता रहता है और वह संसार के बाह्य वातावरण में ही अपना सुख खोजता रहता है। मोहजनित मूर्च्छा और प्रमाद अभेद्य आवरणों के रूप लेकर उसके आत्म स्वरूप पर छाये रहते हैं। ऐसी स्थिति को देखकर मैं अपने सम्यक् ज्ञान और अपनी ऊर्ध्वगामी दृष्टि को भी कई बार इन आवरणों को भेद कर अपनी आन्तरिकता की जांच-परख करने में अपने आपको नियोजित कर पाता हूं। मोहनीय कर्म को बांधते और भोगते समय मेरी आत्मदशा असहाय जैसी हो जाती है जो मेरे लोभी मन और कामना ग्रस्त इन्द्रियों के नियंत्रण पाश से बंध कर छटपटाती रहती है, लेकिन उस पाश को तोड़ने का पुरुषार्थ नहीं कर पाती है।

मैं मानता हूं कि मोहनीय कर्म उसे कहते हैं जो आत्मा को मोहित कर देता है —उसे भले बुरे के विवेक से शून्य बना देता है। जैसे एक शराबी शराब पीकर अपना हिताहित सर्वथा भूल-सा जाता है और परवश बन जाता है, वैसे ही मोहनीय कर्म के दुष्प्रभाव से मेरा जीव भी सत् और असत् का विवेक खोकर पर-पदार्थों तथा सम्बन्धों में उलझ कर परवश हो जाता है। मोहनीय कर्म के मुख्य रूप से दो भेद माने गये हैं —यथा दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय (१) दर्शन मोहनीय —दर्शन मोहनीय कर्म सम्यक् अवबोध में रुकावट डालता है जिससे आत्मा की दर्शन-शक्ति कुंठित बन जाती है। दर्शन के तीन भेद किये गये हैं— (अ) मिथ्यादर्शन—मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से अदेव में देव बुद्धि और अधर्म में धर्म बुद्धि आदि रूप आत्मा के विपरीत श्रद्धान को मिथ्या दर्शन कहते हैं। (ब) सम्यक् दर्शन—यह दर्शन तब होता है जब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम होता है और आत्मा में सम्यक् दर्शन के भाव उमड़ते हैं। सम्यक् दर्शन का उदय हो जाने पर मति, श्रुति आदि अज्ञान भी सम्यक् ज्ञान रूप में परिणत हो जाते हैं। (स) मिश्रदर्शन—मिश्र मोहनीय कर्म के उदय से यथार्थ तत्त्वों का प्रकाश भी फैलता है तो कुछ अयथार्थ तत्त्वों का भी आत्मा के श्रद्धान में अस्तित्व रहता है तब मिश्र दर्शन होता है। इस सम्बन्ध में एक शंका उठ सकती है कि सम्यत्त्म्र मोहनीय तो वीतराग देवों द्वारा प्रणीत तत्त्वों पर श्रद्धानात्मक सम्यत्त्म्र रूप से भोगा जाता है और वह दर्शन की घात नहीं करता तब उसे दर्शन मोहनीय के भेदों में क्यों गिना जाता है? इसका समाधान यह है कि जैसे चश्मा आंखों का आवरण करने वाला होने पर भी देखने में रुकावट नहीं डालता, उसी प्रकार शुद्ध दलिक रूप होने से सम्यत्त्म्र मोहनीय भी तत्त्वार्थ —श्रद्धान में रुकावट नहीं डालता है परन्तु चश्मे की तरह वह आवरण रूप तो होता ही है। इसके सिवाय सम्यक् मोहनीय में अतिचारों की भी संभावना रहती है। औपशमिक और शायिक सम्यत्त्म्र दर्शन के लिये यह स्वच्छ दर्शात्मक के रूप भी है। इसलिये यह दर्शन मोहनीय के भेदों में दिया गया है। इस प्रकार दर्शन मोहनीय की स्पष्ट व्याख्या यह होगी कि जो पदार्थ जैसा है उसे उसी रूप में समझना और विश्वास करना यह तो दर्शन और इसको विपरीत रूप से समझना यह दर्शन मोहनीय। तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप दर्शन आत्मा का गुण होता है। इस गुण को मोहित (घात) करने वाले कर्म को दर्शन मोहनीय कहते हैं। सामान्य उपयोग रूप दर्शन से दर्शन मोहनीय कर्म का दर्शन भिन्न हो जाता है।

(२) चारित्र मोहनीय—जिसके द्वारा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करती है उसे चारित्र कहते हैं। यह भी आत्मा का गुण होता है। इस गुण को मोहित (घात) करने वाले कर्म को चारित्र मोहनीय कर्म कहते हैं। इसके दो भेद कहे गये हैं —(अ) कषाय मोहनीय—कष अर्थात् जन्म

मरण रूप संसार की प्राप्ति जिसके कारण हो, वह कषाय है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जो मलिन बनाता है; उसे कषाय कहते है। यह कषाय ही 'कषाय मोहनीय' है। कषाय चार होती हैं—क्रोध, मान, माया, और लोभ।

अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन के भेद से प्रत्येक कषाय के चार-चार प्रकार हैं अतः कषाय के कुल सोलह प्रकार हैं। (ब) नोकषाय मोहनीय —कषायों के उदय के साथ जिनका उदय होता है, वे नोकषाय हैं। ये क्रोधादि कषायों को उभारते हैं। नौ भेद होने से क्रोधादि के सहचर होने से ये नोकषाय हैं—हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, तथा नपुंसक वेद। मोहनीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहुर्त तथा उत्कृष्ट सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। इस प्रकार मोहनीय कर्म कुल ३+१६+९=२८ प्रकार का होता है।

मोहनीय कर्म का बंध छः प्रकार से किया जाता है—(१) तीव्र क्रोध करके, (२) तीव्र मान करके, (३) तीव्र माया करके, (४) तीव्र लोभ करके (५) तीव्र दर्शन मोहनीय के द्वारा तथा (६) तीव्र चारित्र मोहनीय के द्वारा। यहां चारित्र मोहनीय का अर्थ नोकषायों से लिया जाना चाहिये। मोहनीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव मोहनीय कर्म का बंध करता है।

मोहनीय कर्म का अनुभाव पांच प्रकार का बताया गया है—(१) सम्यक्त्व मोहनीय (२) मिथ्यात्व मोहनीय (३) सम्यकृत्व मिथ्यात्व मोहनीय (४) कषाय मोहनीय तथा (५) नोकषाय मोहनीय। यह अनुभाव पुद्गल तथा पुद्गल परिणाम की अपेक्षा होता है तो स्वतः भी होता है। सम, संवेग आदि परिणाम के कारणभूत एक या अनेक पुद्गलों को पाकर जीव सम्यक्त्व मोहनीय आदि को वेदता है। देश काल के अनुकूल आहार परिणाम रूप पुद्गल परिणाम से भी जीव प्रंशमादि भाव का अनुभव करता है। आहार के परिणाम विशेष से भी कभी-कभी कर्म पुद्गलों में विशेषता आ जाती है, जैसे ब्राह्मी औषधि आदि आहार परिणाम से ज्ञानावरणीय का विशेष क्षयोपशम होना प्रसिद्ध है। कर्मों के उदय, क्षय और क्षयोपशम जो कहे गये हैं वे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, और भव पाकर होते हैं। बादलों के विकार आदि रूप स्वाभाविक पुद्गल परिणाम से भी वैराग्य हो जाता है। इस प्रकार सम, संवेग आदि परिणामों के कारणभूत जो भी पुद्गल आदि हैं, उनका निमित्त पाकर जीव सम्यक्त्व आदि रूप से मोहनीय कर्म को भोगता है। यह परतः अनुभाव हुआ। सम्यक्त्व मोहनीय आदि कार्मण पुद्गलों के उदय से जो प्रशम आदि भाव होते हैं, वह स्वतः अनुभाव है।

मोह का समीक्षण

मैं मनुष्य जीवन की गरिमा को पहचान गया हूं। मैं इस जीवन से ही ऊर्ध्वरेता वन सकता हूं, ऊर्ध्वारोहण कर सकता हूं वीतराग देव की पवित्र वाणी से मेरा अंतःकरण रूपान्तरित होकर सम्यक् दृष्टि भाव की सर्चलाइट श्रद्धा के रूप में अभिव्यक्त हो चुकी है, उसके आलोक में हेय, ज्ञेय और उपादेय को मैं जान चुका हूं। मेरा स्वरूप जागृत हो चुका है, मेरी वहिर्आत्मा सर्पकञ्चुकी की तरह अलग भाषित होती है उसको हेय मानने की अभिनव चेतना जागृत हो चुकी है। दर्शन मोह की जड़ों को मैं उखाड़ चुका हूं, मेरी प्रसन्नता क्षायिक भाव-सी लगने लगी है। अन्य संकल्प तीव्र बन चुका है। मेरी अन्तःध्वनि हेय अवस्था को त्यागने के लिए छटपटा रही है, ज्ञपरिज्ञा को प्रत्याख्यान परिज्ञा में परिणत करता हुआ ऊर्ध्वगमन आखिरी मंजिल को लक्ष्य रूप से निर्धारित कर

चुका हूं वही लक्ष्य त्रिकाल स्थायी एवं अबाधित है मैं उस ध्रुवयुक्त उत्पाद व्यय के साथ परिणामि चैतन्य देव के ज्ञानान्द में रमण करने के लिए अत्यंत उत्सुक हूं।

सभी विकारी उपाधियों से निर्लिप्त रहता हुआ अतीन्द्रिय ज्ञान को वरने के लिए छटपटा रहा हूं वह अतीन्द्रिय ज्ञान एवं अतीन्द्रिय गुण मय चिंतामणी रत्नों का अखूट खजाना मेरी अंतरात्मा श्रद्धा रूप से चमक उठा है! मैं निश्चय कर चुका हूं कि चारित्र मोह के अनादि कालीन योद्धाओं को परास्त करने में सक्षम बनूं। उस सक्षमता में मेरा सत्पुरुषार्थ निरंतर चालू रहे, साध्य एवं साधन की समन्वयात्मक उपादान आदि की अवस्था में साध्य को कार्य रूप में परिणत करके ही रहूंगा।

साध्य और साधन में जरा भी मोच नहीं आने दूंगा यह मेरा साधनागत आंतरिक सूत्र है। यह जीवन के गुणों के साथ संबद्ध रहा है, रह रहा है, और रहेगा। इसमें संशय को अवकाश ही नहीं है क्योंकि मेरा जीवन आर्य क्षेत्र कुल आदि के साथ आर्य गुणों के साथ सम्पन्न हो चुका है। इसीलिए मेरी चित परिणति को आंतरिक अध्यवसाथ को कर्म जनित सभी रंगों से रहित बनाकर रहूंगा। यह मेरी दृढ़ धारणा ही समर्थ सहकारी कारणों के साथ संयुक्त है। इस धारणा को तोड़ने का त्रिकाल में भी प्रसंग नहीं आ सकता। परिषह उपसर्ग इस धारणा को विमोचित करने के लिए उपस्थित हो सकते हैं किंतु उनको भी मैं यथा तथ्य रूप से समीक्षण चक्षु से ही अवलोकित करूंगा। पूर्व में बहिर् आत्मा से संबन्धित जो उपकरण, परिवार आदि की उपाधियां आमने-सामने तैर रही हैं। किंतु मैं उनको भी आसक्ति के रंग से अनुरंजित होकर नहीं देखूंगा।

उस आसक्ति के रंग को अनासक्ति में परिणत करने वाला समत्व गुण समीक्षण दृष्टि से उपलब्ध हो चुका है। अतएव ममत्व की जंजीरें समत्व की छेनी से ही परिछेदित की जा सकती है। यह परिछेदन की शक्ति मेरे में रही हुई है। मैं शारीरिक, मानसिक आदि साधनों की शक्ति के अनुपात से सत्पुरुषार्थ पराक्रम चालू करने के लिए कटि-बद्ध हो चुका हूं। उसमें कोई कसर नहीं रहने दूंगा। प्राप्त सांसारिक वैभव परित्यक्त करने का आंतरिक परिणाम परिपूर्ण रूप से नहीं जगेगा तब तक कमल वत रहता हुआ यथायोग्य कर्तव्यों का पालन करूंगा। लेकिन सभी कर्तव्यों में लक्ष्यानुरूप उपयोग धारा रखूंगा। समय आने पर उस परिवार आदि परिधि का भी अतिक्रमण कर वसुधैव कुटुम्बकं की वृत्ति का परिपूर्ण जागरण करूंगा। शुभ योग की सड़क पर लक्ष्य की ओर चरण बढ़ाता हुआ अप्रमतत्ता की जागृति में अपने आपको समर्पित करता हुआ मोह कर्म के यौद्धाओं का शमन, संक्षय आदि वृत्तियों में अपने आपको सक्षम बनाऊँगा, संक्षय की अंतिम रणभेरी के साथ ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अंतराय के सहयोगी यौद्धाओं को परास्त कर साधन और साध्य की परिधि को पार करूंगा।

रत्नत्रय रूप साधनों को चरम सीमा में पहुंचाता हुआ क्षायिक सम्यक्त्व केवल ज्ञान और क्षायिक चारित्र की स्व स्वभाव का त्रिपुटी को आपेक्षिक अभेद रूप में संलोकित करूंगा किंतु शरीर परिधि की सीमा को भी अतिक्रमण कर असंख्य प्रदेशों को सदा-सदा के लिए प्रौव्य, एवं अचलत्व को परिणति दूंगा। अंततोगत्वा साकार उपयोग के साथ सिद्धत्व स्वरूप को सदा सदा के लिए वरूंगा। यह सिद्धि इस जन्म में नहीं तो अन्य जन्म में अवश्य पाऊंगा।

आयुष्य के बन्धन

मैं जानता हूं कि मेरी तरह प्रत्येक शरीरधारी संसारी जीव का अपनी-अपनी गति में उसका निश्चित आयुष्य होता है, जो आयु कर्म के अनुसार प्राप्त होता है। आयु की इस निश्चित अवधि

को, किसी अपराधी को मिले कारागार के दंड की अवधि के समान माना गया है। जैसे दंडाज्ञा की नियत अवधि के पहले कारागार से छूटा नहीं जा सकता है वैसे ही आयु कर्म के कारण जीव नियत समय तक अपने प्राप्त शरीर में बंधा रहता है। अवधि पूरी होने पर ही वह उस शरीर को छोड़ता है परन्तु उसके पहिले नहीं। अतः जिस कर्म के रहते प्राणी जीता है तथा पूरा होने पर मरता है उसे आयु कर्म कहते हैं। आयु कर्म के प्रभाव से ही जीव एक गति से दूसरी गति में जाता है अथवा स्वीकृत कर्म से प्राप्त नरक आदि दुर्गति से निकलना चाहते हुए भी जीव को आयु कर्म उसी गति में रोके रखता है। यह आयु कर्म प्रति समय भोगा जाता है या जिसके उदय में आने पर भव (जन्म) विशेष में भोगने लायक सभी कर्म फल देने लगते हैं।

आयु कर्म के चार भेद कहे गये हैं—(१) नरकायु—इस आयु बंध के चार कारण हैं — (अ) महारंभ—बहुत प्राणियों की हिंसा हो—इस प्रकार के तीव्र परिणामों से कषायपूर्वक प्रवृत्ति करना, (ब) महा परिग्रह—वस्तुओं पर अत्यन्त मूर्च्छा रखना, (स) पंचेन्द्रिय वध—पंचेन्द्रिय (पांचों इन्द्रियों से सम्पन्न) जीवों की हिंसा-हत्या करना तथा (द) कुणिमाहार—मांस आदि का आहार करना। इन चार कारणों से जीव नरकायु का बंध करता है। नरकायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी जीव नरकायु का बंध करता है। नरकायु जघन्य दस हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट तैतीस सागरोपम की है।

(२) तिर्यंचायु—इस आयुबंध के भी चार कारण हैं— (अ) माया—(कुटिल परिणामों वाला) जिसके मन में कुछ और हो और बाहर कुछ और अर्थात् जो विषकुंभ —पयोमुख की तरह ऊपर से मीठा हो और भीतर से अनिष्ट चाहने वाला हो। (ब) विकृति वाला—ढोंग, आडम्बर आदि करके जो दूसरों को ठगने वाला हो। (स) जो झूठ बोलने वाला हो। (द) झूठे तोल झूठे माप वाला—खरीदने के लिये बड़े और बेचने के लिये छोटे बाट नाप रखने वाला। शोषण सम्बन्धी श्रम-चोरी का समावेश इसी में होता है। ऐसे जीव तिर्यंच (पशु) गति के योग्य कर्म का बंध करते हैं। तिर्यंचायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी जीव तिर्यंचायु का बंध करता है। तिर्यंच की आयु जघन्य अन्तर्मुहुर्त तथा उत्कृष्ट तीन पल्लोपम की है।

(३) मनुष्यायु—मनुष्य जन्म भी चार प्रकार के कारणों से प्राप्त होता है—(अ) जो भद्र—सरल प्रकृति (स्वभाव) वाला हो, (ब) जो स्वभाव से ही विनीत हो, (स) जो दया और अनुकम्पा के परिणामों (भावो) वाला हो तथा (द) जो मत्सर अर्थात ईर्ष्या-डाह न करने वाला हो। ऐसा जीव मनुष्यायु योग्य कर्म बांधता है। मनुष्यायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी जीव मनुष्य जन्म की आयु का बंध करता है। मनुष्य की आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट तीन पल्लोपम की है।

(४) देवायु—देवायु बंध के भी चार कारण बताये गये हैं— (अ) जो सराग संयम का धारक रहा हो, (ब) जिसने देश विरति श्रावक धर्म का पालन किया हो, (स) अकाम निर्जरा अर्थात् अनिच्छापूर्वक पराधीनता आदि कारणों से कर्मो की निर्जरा करने वाला, तथा (द) बाल भाव से विवेक के बिना अज्ञानपूर्वक कायाक्लेश आदि तप करने वाला। ऐसा जीव देवायु के योग्य कर्म बांधता है। देवायु कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव देव की आयु का बंध करता है। देवायु जघन्य दस हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट तैतीस सागरोपम की है।

आयु कर्म का अनुभाव चार प्रकार का है—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु तथा देवायु। यह अनुभाव स्वतः और परतः रूप दो प्रकार का होता है। एक या अनेक शस्त्रादि पुद्‌गलों के निमित्त से, विषमिश्रित अन्नादि रूप पुद्‌गल परिणाम से तथा शीतोष्णादि रूप स्वाभाविक पुद्‌गल परिणाम से जीव आयु का अनुभव करता है, यह परतः अनुभाव हुआ। नरकादि आयु कर्म के उदय से जो आयु का भोग होता है, वह स्वतः अनुभाव समझना चाहिये।

आयु दो प्रकार की होती है—अपवर्तनीय तथा अनपवर्तनीय। बाह्य शस्त्र आदि का निमित्त पाकर जों आयुस्थिति पूर्ण होने के पहिले ही शीघ्रता से भोग ली जाती है, वह अपवर्तनीय आयु है। जो आयु अपनी पूरी स्थिति भोग कर ही समाप्त होती है—बीच में नहीं टूटती, वह अनपवर्तनीय आयु है। अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयु का बंध स्वाभाविक नहीं है। यह परिणामों के तारतम्य पर अवलम्बित है। भावी जन्म की आयु वर्तमान जन्म में बंधती है। आयु बंध के समय यदि परिणाम मंद हो तो आयु का बंध शिथिल होता है। इससे निमित्त पाने पर बंध काल की काल मर्यादा घट जाती है। इसके विपरीत यदि आयु बंध के समय परिणाम, तीव्र हों तो आयु का बंध प्रगाढ़ होता है। बंध के प्रगाढ़ होने से निमित्त पाने पर भी बंध-काल की काल-मर्यादा कम नहीं होती। अपवर्तनीय आयु सोपक्रम होती है अर्थात् इसमें विष, शस्त्र आदि का निमित्त प्राप्त होता है और उस निमित्त को पाकर जीव नियत समय के पूर्व ही अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता है। किन्तु अनपवर्तनीय आयु सोपक्रम एवं निरूपक्रम दोनों प्रकार की होती है। सोपक्रम आयु वाले को अकाल मृत्यु योग्य विष, शस्त्र आदि का संयोग होता है और निरूपक्रम आयु वाले को नहीं होता। विष, शस्त्र आदि का निमित्त मिलना उपक्रम कहा जाता है। अपवर्तनीय आयु शीघ्र ही समय से पहले भोग ली जाती है अतः उसमें शस्त्र आदि की नियमतः आवश्यकता पड़ती है। अनपवर्तनीय आयु बीच में नहीं टूटती। उसके पूरी होते समय यदि शस्त्र आदि निमित्त प्राप्त हो जाय तो उसे सोपक्रम कहा जायगा, यदि निमित्त प्राप्त न हों तो निरूपक्रम। देवता, नारकी, असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंच और मनुष्य, उत्तम पुरुष (तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि) तथा चरम शरीरी (उसी भव में मोक्ष जाने वाले) जीव अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं और शेष जीव दोनों प्रकार की आयु वाले होते हैं।

नाम की विचित्रताएं

मुझे ज्ञात है कि नाम कर्म एक चित्रकार के समान होता है। जैसे चित्रकार विविध वर्णों से अनेक प्रकार के सुन्दर-असुन्दर रूपमय चित्र बनाता है, उसी प्रकार यह नाम कर्म जीव को सुन्दर-असुन्दर आदि अनेक रूप धारण करवाता है। नाम कर्म वह कर्म है जिसके उदय से जीव नारक, तिर्यंच आदि नामों से सम्बोधित होता है जैसे कि अमुक जीव देव है, अमुक नारकी है, अमुक तिर्यंच है, अमुक मनुष्य है आदि। यह कर्म जीव को विचित्र पर्यायों में परिणत करता है या गति आदि पर्यायों का अनुभव करने के लिये करता है।

नाम कर्म के मूल भेद बयालीस कहे गये हैं—चौदह पिंड प्रकृतियां, आठ प्रत्येक प्रकृतियां, दस त्रसदशक तथा दस स्थावरदशक। चौदह पिंड प्रकृतियां इस प्रकार हैं—

(१) गति—गति नामक नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली पर्याय। यह चार प्रकार की है—(अ) नरक गति, (ब) तिर्यंच गति, (स) मनुष्य गति तथा (द) देवगति।

(२) जाति—अनेक में एकता की प्रतीति कराने वाले समान धर्म को जाति कहते हैं। जैसे गोत्व (गाय पना) सभी भिन्न-भिन्न वर्णों की गोत्वों में एकता का बोध कराता है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय आदि जीवों में एक, दो या इसी प्रकार इन्द्रियों की प्राप्ति से समानता का बोध होता है, इसलिये एकेन्द्रिय आदि जाति कहलाती है। जाति के पांच भेद हैं—(अ) एकेन्द्रिय—केवल एक ही इन्द्रिय-स्पर्शेन्द्रिय के धारक जीवों की जाति, जैसे पृथ्वी, पानी आदि। (ब) द्विन्द्रिय —जिनके स्पर्श और रसना रूप दो इन्द्रियां होती हैं जैसे लट, सीप, अलसिया वगेरा। (स) त्रिन्द्रिय —जिन जीवों के स्पर्श, रसना और नासिका—ये तीन इन्द्रियां हों जैसे चींटी, मकोड़ा आदि। (द) चतुरिन्द्रिय—जिन जीवों को श्रोत्रेन्द्रिय के सिवाय अन्य चारों इन्द्रियां प्राप्त हो उन जीवों की जाति, जैसे मक्खी, मच्छर, भंवरा वगेरा तथा (य) पंचेन्द्रिय—जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, नासिका, चक्षु और श्रोत्र ये पांचों इन्द्रियां हों वे पंचेन्द्रिय हैं, जैसे गाय, भैंस, सर्प, मनुष्य आदि।

(३) शरीर—जो उत्पत्ति समय से लेकर प्रतिक्षण जीर्णशीर्ण होता रहता है तथा शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होता है, ये शरीर पांच प्रकार के होते हैं— (अ) औदारिक—उदार अर्थात् स्थूल पुद्गलों से बना हुआ शरीर। यह अन्य शरीरों की अपेक्षा अवस्थित रूप से बड़े परिमाण वाला होता है। इसके प्रदेश अल्प, पर परिमाण बड़ा होता है जो मांस, रुधिर, अस्थि से बना होता है। यह शरीर मनुष्य और तिर्यंचों के होता है। (ब) वैक्रिय—जिस शरीर से विविध व विशिष्ट क्रियाएं होती हैं अर्थात् जो एक रूप होकर अनेक रूप धारण कर सकता है, छोटे से बड़ा तथा बड़े से छोटा शरीर बना सकता है। इस शरीर से पृथ्वी या आकाश पर चला जा सकता है। दृश्य-अदृश्य रूप बनाये जा सकते हैं। यह शरीर दो प्रकार का होता है— औपपातिक एवं लब्धि प्रत्यय। जन्म से वैक्रिय शरीर मिले वह औपपातिक तथा तप आदि लब्धि से मिले वह लब्धि प्रत्यय। देवों व नारकीयों का वैक्रिय शरीर औपपातिक होता है तथा मनुष्य या तिर्यंच इसके लब्धि—प्रत्यय रूप को प्राप्त कर सकते हैं। (स) आहारक—प्राणी दया तीर्थंकर भगवान की ऋद्धि का दर्शन तथा संशय निवारण आदि प्रयोजनों से चौदह पूर्वधारी मुनिराज महाविदेह क्षेत्र आदि में विराजमान तीर्थंकर भगवान के समीप भेजने के लिये लब्धि विशेष से अतिविशुद्ध, स्फटिक के समान एक हाथ का जो पुतला निकालते हैं, वह आहारक शरीर कहलाता है। (द) तैजस—तेज पुद्गलों से बना हुआ शरीर जो प्राणियों के शरीर में ऊष्णता रूप होता है। यह शरीर आहार का पाचन करता है। इसी शरीर के कारण तपविशेष से तैजस लब्धि प्राप्त होती है। (य) कार्मण—कर्मो से बना हुआ शरीर जो जीव के प्रदेशों के साथ आठ प्रकार के कर्म पुद्गल रूप लगा हुआ होता है। यह शरीर ही सब शरीरों का बीज है। क्रम सं.१ से ३ के शरीर क्रमशः अधिक सूक्ष्मतर होते हैं तथा क्र. सं. ४ व ५ के शरीर सभी संसारी जीवों के होते हैं। इन दोनों शरीरों के साथ ही जीव मरण स्थान को छोड़ कर उत्पत्ति स्थान को जाता है। इन दोनों शरीरों से मुक्ति तो मोक्ष में जाने वाले की ही होती है।

(४) अंगोपांग—इस नाम कर्म के उदय से प्राप्त शरीर के विभिन्न अंग या उपांग प्राप्त होते हैं। ये तीन होते हैं—औदारिक, वैक्रिय तथा आहारक।

(५) बंधन—जिस प्रकार लाख, गोंद आदि चिकने पदार्थों से दो चीजें आपस में जोड़ दी जाती है, उसी प्रकार जिस नाम कर्म से प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर पुद्गलों के साथ वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाले शरीर पुद्गल परस्पर बंध को प्राप्त होते हैं। इस नाम कर्म के पांच भेद हैं—(अ) औदारिक शरीर बन्धन नाम कर्म, (ब) वैक्रिय शरीर बंधन, (स) आहारक शरीर बंधन (द) तैजस

शरीर बंधन तथा (य) कार्मण शरीर बंधन। पहले के तीन शरीरों में उत्पत्ति के समय सर्वबंध तथा बाद में देश बंध होता है। तैजस और कार्मण शरीर की नवीन उत्पत्ति न होने से उनमें सदा देशबंध ही होता है।

(६) संघात—जो नाम कर्म गृहीत और ग्रह्यमाण शरीर पुद्गलों को परस्पर सन्निहित कर व्यवस्था से स्थापित कर देता है, वह संघात नाम कर्म है। यह भी पांच शरीरों के रूप से पांच भेद वाला होता है।

(७) संहनन—शरीर की हड्डियों की रचना विशेष को संहनन कहते हैं। यह रचना छः प्रकार की होती है—(अ) वज्र ऋषभ नाराच संहनन—जिस संहनन में दोनों ओर से मर्कट बंध द्वारा जुड़ी हुई दो हड्डियों पर तीसरी पट्ट की आकृति वाली हड्डी का चारों ओर से वेष्टन हो ओर जिसमें इन तीनों हड्डियों को भेदने वाली वज्र नामक हड्डी की कील हो। (ब) ऋषभ नाराच संहनन—उपरोक्त प्रकार में जब वज्र नामक हड्डी की कील न हो। (स) नाराच संहनन—पहले प्रकार में जब कील और वेष्टन पट्ट भी न हो। (द) अर्ध नाराच संहनन—जब एक ओर मर्कट बंध हो और दूसरी ओर कील हो। (य) कीलिका संहनन—जिसमें हड्डियां केवल कील से जुड़ी हुई हो तथा (फ) सेवार्त्रक संहनन—जिसमें हड्डियां, पर्यन्त भाग में एक दूसरे को स्पर्श करती हुई रहती है और सदा चिकने पदार्थ की अपेक्षा रखती हैं।

(८) संस्थान—शरीर के आकार को संस्थान कहते हैं। इसके भी छः भेद हैं—(अ) समचतुरस्र संस्थान, पालथी मार कर बैठने पर आकार चार समकोण के समान हो। (ब) न्यग्रोध परिमंडल संस्थान —वट वृक्ष की तरह ऊपर से विस्तृत तथा नीचे से संकुचित आकार का हो। (स) सादि संस्थान—नाभि से नीचे का भाग पूर्ण तथा ऊपर का भाग हीन हो। (द) कुब्ज संस्थान-हाथ, पैर, गर्दन आदि ठीक हो लेकिन पेट-पीठ टेढ़े हों। (य) वामन संस्थान—पेट-पीठ के अवयव ठीक हो लेकिन हाथ पैर आदि छोटे हों। तथा (फ) हुंडक संस्थान—समस्त अव्यय बेढ़ब हों।

(९) वर्ण—मूल वर्ण पांच—काला, नीला, लाल, पीला, सफेद ही होते हैं, बाकी सब इनके संयोग से बनते हैं।

(१०) गंध—जिस कर्म के उदय से शरीर की अच्छी या बुरी गंध हो। यह दो प्रकार की होती है—सुरभिगंध तथा दुरभिगंध।

(११) रस—रस भी मूल रूप से पांच प्रकार के होते हैं—तीखा, कड़ुआ, कषैला, खट्टा तथा मीठा। शेष रस इन्हीं के संयोग से बनते हैं।

(१२) स्पर्श—जिस कर्म के उदय से शरीर में कोमल रूक्ष आदि स्पर्श प्राप्त हो। स्पर्श आठ प्रकार के हैं—गुरु, लघु, मृदु, कर्कश, शीत, ऊष्ण, स्निग्ध और रूक्ष।

(१३) आनुपूर्वी—जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति से अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुंचता है। यह नाम कर्म नाथ के समान होता है जिससे इधर उधर भटकते हुए बैल को इष्ट स्थान पर ले जाया जाता है। गति के नाम में ही इसके चार भेद होते हैं।

(१४) विहायोगति—जिस कर्म के उदय से जीव की गति (चाल) हाथी या बैल के समान शुभ अथवा ऊंट या गधे के समान अशुभ होती है। इसके दो भेद हैं —शुभ विहायोगति एवं अशुभ विहायोगति।

आठ प्रत्येक प्रकृतियां निम्नानुसार होती हैं—

(१) पराघात—जिसके उदय से जीव बलवानों के लिये भी अजेय हो।

(२) उच्छवास—जब श्वासोश्वास लब्धि से युक्त हो।

(३) आतप—जब जीव का शरीर स्वयं ऊष्ण न होकर ऊष्ण प्रकाश फैलाता हो।

(४) उद्योत—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शीत प्रकाश फैलाता है।

(५) अगुरुलघु—जब जीव का शरीर न भारी होता है और न हल्का अर्थात् सन्तुलित होता है।

(६) तीर्थंकर—जिस कर्म के उदय से जीव तीर्थंकर पद पाता है।

(७) निर्माण—जब जीव के शरीर के सभी अंग और उपांग यथास्थान व्यवस्थित हों।

(८) उपघात—जिस कर्म के उदय से जीव अपने ही अवयवों से क्लेश पाता है जैसे प्रति जिह्वा, चोर दांत, छठी अंगुली आदि।

त्रसदशक की दस प्रकृतियों का स्वरूप निम्न प्रकार है—

(१) त्रस—जो जीव सर्दी-गर्मी से अथवा अपना बचाव करने के लिये एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं वे त्रस कहलाते हैं। एकेन्द्रिय के सिवाय सभी त्रस जीव होते हैं।

(२) बादर—जिस कर्म के उदय से जीव बादर अर्थात् सूक्ष्म होते हैं।

(३) पर्याप्ति—आहार आदि के लिये पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उन्हें आहार, शरीर आदि रूप परिणमाने की आत्मा की शक्ति विशेष को पर्याप्ति कहते हैं। यह छः प्रकार की है—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोश्वास, भाषा और मन।

(४) प्रत्येक—जिस कर्म के उदय से जीव में पृथक-पृथक शरीर होता है।

(५) स्थिर—जब शरीर के अवयव स्थिर निश्चल होते हैं।

(६) शुत्र—नाभि से ऊपर के अवयव जब शुत्र होते हैं।

(७) सुभग—जब किसी उपकार या सम्बन्ध के बिना ही जीव सबका प्रीतिपात्र हो।

(८) सुस्वर—जब जीव का स्वर मधुर और प्रीतिकारी हो।

(९) आदेय—जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य हो।

(१०) यश कीर्ति—जिस कर्म के उदय से संसार में जीव की यश-कीर्ति का प्रसार हो।

स्थावरदशक प्रकृतियों का स्वरूप ठीक त्रसदशक की प्रकृतियों के विपरीत होता है, जो इस प्रकार हैं—(१) स्थावर (२) सूक्ष्म (३) अपर्याप्ति (४) साधारण (५) अस्थिर (६) अशुभ (७) दुर्भग (८) दुःस्वर (९) अनादेय तथा (१०) अयशकीर्ति।

नामकर्म की पिंड प्रकृतियों के उत्तर भेद गिनने पर तिरानवे प्रकृतियां होती हैं। यों नाम कर्म के संक्षिप्त दो भेद हैं—शुभ तथा अशुभ। शुभ नाम कर्म के बंध-कारण हैं—(१) काया की सरलता। (२) भाव की सरलता, (३) भाषा की सरलता तथा (४) अविसंवादन योग-कथनी करनी के भेद को विसंवादन कहते हैं और अविसंवादन का अर्थ है एकरूपता। शुभ नाम कर्म में तीर्थंकर

नाम कर्म भी सम्मिलित हैं जिसे बांधने के ये कारण हो सकते हैं—(१) अरिहंत, (२) सिद्ध, (३) प्रवचन, (४) गुरु, (५) स्थविर, (६) बहुश्रुत और (७) तपस्वी में भक्ति भाव रखना, इनके गुणों का कीर्तन करना तथा इनकी सेवा करना (८) निरन्तर ज्ञान में उपयोग रखना, (६) निरतिचार सम्यक्त्व धारण करना, (१०) निर्दोष रूप से ज्ञान आदि विनय का सेवन करना, (११) निर्दोष आवश्यक क्रिया करना, (१२) मूल गुणों व उत्तर गुणों में अतिचार नहीं लगाना, (१३) सदा-संवेग भाव और शुभ ध्यान में लगे रहना। (१४) तप करना (१५) सुपात्रदान देना (१६) दस प्रकार की वैयावृत्य करना (१७) गुरु आदि की समाधि हो वैसा काम करना (१८) नवीन ज्ञान सीखना (१६) श्रुत का बहुमान करना तथा (२०) प्रवचन की प्रभावना करना।

अशुभ नाम कर्म इन कारणों से बंधता है—(१) काया की वक्रता (२) भाषा की वक्रता (३) मन की वक्रता तथा (४) विसंवादन योग।

शुभ नाम कर्म का चौदह प्रकार का अनुभाव होता है—(१) इष्ट शब्द (२) इष्ट रूप (३) इष्ट गंध (४) इष्ट रस (५) इष्ट स्पर्श (६) इष्ट गति (७) इष्ट स्थिति (८) इष्ट लावण्य (६) इष्ट यशःकीर्ति (१०) इष्ट उत्थान बलवीर्य पुरुषाकार पराक्रम (११) इष्ट स्वरता (१२) कान्त स्वरता (१३) प्रिय स्वरता तथा (१४) मनोज्ञ स्वरता। अशुभ नाम कर्म के अनुभाव भी चौदह प्रकार के हैं किन्तु इनसे विपरीत होते हैं। दोनों प्रकार के नाम कर्म का अनुभाव स्वतः भी होता है तथा परतः भी होता है।

गौत्र की नीचोच्चता

मैं ऊंचा हूं या नीचा हूं—यह भेदस्थिति गौत्र कर्म के प्रभाव से होता है। इस कर्म के उदय से जीव ऊंच—नीच शब्दों से सम्बोधित किया जाता है तथा जाति, कुल आदि की अपेक्षा छोटा बड़ा कहा जाता है, गौत्र कर्म को एक कुंभकार के समान कहा गया है। जैसे कुम्हार कई घड़ों को इस तरह बनाता है कि लोग उनकी प्रशंसा करते हैं तथा कलश मान कर अक्षत चन्दन से पूजा करते हैं। किन्तु वह कई घड़े ऐसे भी बनाता है जिनमें मदिरा आदि भरी जाने के कारण वे निंध होते हैं। ऊंच-नीच के भेद इसी कुंभकार की तरह गौत्र कर्म बनाता है। उच्च गौत्र के उदय से जीव धन, रूप आदि से हीन होता हुआ भी ऊंचा माना जाता है और नीच गौत्र के उदय से धन, रूप आदि से सम्पन्न होते हुए भी वह नीच ही माना जाता है।

जीव उच्च गौत्र कर्म का बंध आठ प्रकार के मद (अभिमान) नहीं करने से करता है जो इस तरह हैं—(१) जाति का मद, (२) कुल का मद, (३) बल का मद (४) रूप का मद, (५) तप का मद, (६) श्रुत का मद, (७) लाभ का मद और (८) ऐश्वर्य का मद। इसके विपरीत जो इन आठों स्थितियों का अभिमान करने वाला होता है, वह नीच गौत्र कर्म का बंध करता है। उच्च या नीच गौत्र कार्मण शरीर नाम कर्म के उदय से भी उच्च या नीच गौत्र का बंध होता है।

उच्च गौत्र का अनुभाव आठ प्रकार से होता है—(१) जाति विशिष्टता (२) कुल विशिष्टता (३) बल विशिष्टता (४) रूप विशिष्टता (५) तप विशिष्टता (६) श्रुत विशिष्टता (७) लाभ विशिष्टता और (८) ऐश्वर्य विशिष्टता। यह अनुभाव स्वतः भी होता है तथा परतः भी। एक या अनेक बाह्य द्रव्य आदि रूप पुद्‌गलों का निमित्त पाकर जीव उच्च गौत्र कर्म भोगता है। राजा आदि विशिष्ट पुरुषों द्वारा अपनाये जाने से नीच जाति और कुल में उत्पन्न हुआ पुरुष भी जाति—कुल सम्पन्न की तरह

माना जाता है। दिव्य फलादि के आहार रूप पुद्गल परिणाम से भी जीव उच्च गौत्र कर्म का भोग करता है। इसी प्रकार स्वाभाविक पुद्गल परिणाम के निमित्त से भी जीव उच्च गौत्र कर्म का अनुभव करता है। जैसे किसी ने अकस्मात् बादलों के आने की बात कही और संयोगवश बादलों के आ जाने से बात मिल गई। यह परतः अनुभाव हुआ। उच्च गौत्र कर्म के उदय से विशिष्ट जाति कुल आदि का भोग करना—यह स्वतः अनुभाव है।

नीच गौत्र कर्म का वेदन जीव नीच कर्म का आचरण, नीच पुरुष की संगति इत्यादि रूप एक या अनेक पुद्गलों का सम्बन्ध पाकर करता है। जातिवन्त और कुलीन पुरुष भी अधम जीविका चला कर या दूसरा नीच कार्य करके निन्दनीय हो जाता है। पुदगल परिणाम तथा स्वाभाविक पुद्गल परिणाम से भी नीच गौत्र कर्म का परतः अनुभाव प्राप्त होता है। नीच गौत्र कर्म के उदय से जातिहीन कुलहीन आदि होना स्वतः अनुभाव है।

अवरोधी अन्तराय

मेरा अनुभव है कि अन्तराय कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य आदि शक्तियों को अवरुद्ध बनाकर उनकी घात करता है। मेरे दान, लाभ आदि कार्यों में जो बाधाएं तथा रुकावटें आती हैं, वे इसी कर्मोदय के कारण आती हैं। इस कर्म को भंडारी के समान माना गया है कि राजा कोई पुरस्कार देने की आज्ञा दे दे किन्तु भंडारी के विरुद्ध होने से वह आज्ञा कार्यान्वित न हो सके और याचक को खाली हाथ लौटना पड़े। राजा की इच्छा को भी भंडारी सफल नहीं होने देता। इसी प्रकार जीव राजा है, दान देने की उसकी इच्छा है, साधन भी उसके पास है किन्तु भंडारी के समान यह अन्तराय कर्म उसमें रुकावट डाल देता है। और जीव विवशतावश होकर कुछ भी नहीं कर पाता है।

अन्तराय कर्म के पांच भेद बताये गये हैं—

(१) दानान्तराय—दान की सामग्री तैयार है, गुणवान पात्र आया हुआ है, दाता दान का फल भी जानता है फिर भी इस कर्म के उदय से जीव को दान करने का उत्साह नहीं होता या दान के बीच में कोई अवरोध खड़ा हो जाता है। यह दानान्तराय का कुप्रभाव होता है।

(२) लाभान्तराय—योग्य सामग्री के रहते हुए भी जिस कर्म के उदय से अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, वह लाभान्तराय कर्म है। लाभ पाने के बीच में रुकावट आ जाती है और लाभ नहीं मिलता।

(३) भोगान्तराय—त्याग, प्रत्याख्यान के न होते हुए तथा भोगने की इच्छा रहते हुए भी जिस कर्म के उदय से जीव विद्यमान स्वाधीन भोग सामग्री का कृपणतावश या अन्य बाधा से भोग न कर सके, वह भोगान्तराय कर्म है।

(४) उपभोगान्तराय—जिस कर्म के उदय से जीव त्याग-प्रत्याख्यान न होते हुए तथा उपभोग की इच्छा रहते हुए भी विद्यमान स्वाधीन उपभोग सामग्री का कृपणतावश या अन्य वाधा से उपभोग न कर सके, वह उपभोगान्तराय कर्म है।

(५) वीर्यान्तराय—शरीर निरोग हो, तरुण अवस्था हो, वल का भी संयोग हो फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव प्राणशक्ति रहित होता है तथा सत्त्वहीन की तरह प्रवृत्ति करता है, वह

वीर्यान्तराय कर्म है। इसके तीन भेद बताये गये हैं— (अ) बाल वीर्यान्तराय—समर्थ होते हुए और चाहते हुए भी जिसके उदय से जीव सांसारिक कार्य नहीं कर सके, वह बाल वीर्यान्तराय कर्म है। (ब) पंडित वीर्यान्तराय—सम्यक् दृष्टि साधु मोक्ष की चाह रखता हुआ भी जिस कर्म के उदय से जीव मोक्ष-प्राप्ति के योग्य, क्रियाएं न कर सके, वह पंडित वीर्यान्तराय है। (स) बाल-पंडित वीर्यान्तराय-देशविरति रूप श्रावक धर्म की आराधना की चाह रखते हुए भी जिस कर्म के उदय से जीव श्रावक की क्रियाओं का पालन न कर सके, वह बाल—पंडित वीर्यान्तराय कर्म है। अन्तराय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहुर्त तथा उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है।

अन्तराय कर्म के बंध के भी पांच ही कारण हैं —(१) दान में अन्तराय या बाधा डालना (२) लाभ में बाधा डालना (३) भोग में बाधा डालना (४) उपभोग में बाधा डालना तथा (५) वीर्य-प्राण शक्ति में बाधा डालना। अन्तराय कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी जीव अन्तराय कर्म बांधता है।

अन्तराय कर्म का अनुभाव भी दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य में विघ्न बाधा होने रूप पांच प्रकार का है। यह अनुभाव स्वतः भी होता है तथा परतः भी। परतः अनुभाव पुद्गल निमित्त, पुद्गल परिणाम तथा स्वाभाविक पुद्गल परिणाम से होता है तो स्वतः अनुभाव अन्तराय कर्म के उदय से दान, भोग आदि में अन्तराय रूप फल के भोगने से होता है।

जो जैसा करता है, वैसा भरता है।

मैं अनुभव करता हूं कि संसार में अष्ट कर्मों का स्वचालित शासन इतना सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित है कि कहीं कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं होता है, बल्कि यह शासन समता-भाव का प्रतीक भी है जहां किसी के साथ पक्षपात या भेदभाव होने की कोई संभावना ही नहीं है। जो जैसा करता है, वैसा भरता है। करने के वक्त वह स्वतंत्र होता है किन्तु भरने (फल भोग के समय) के वक्त भरे बिना किसी हालत में छुटकारा नहीं होता यानि कि उस भरने में किसी की कोई मदद भी नहीं चलती। स्वयं करो—यह पुरुषार्थ का विषय है और स्वयं ही भोगो—इसे भाग्य भी मान सकते हैं क्योंकि कर्मवाद का यह सिद्धान्त भाग्य और पुरुषार्थ का सुन्दर समन्वय है तथा विकास के लिये इसमें विशाल क्षेत्र है।

कर्मों की सफलता के सम्बन्ध में मुझे वे आप्त वचन याद आते हैं जिनमें कहा गया है कि प्राणियों के सभी अनुष्ठान फल सहित होते हैं। फल भोग किये बिना उनसे छुटकारा नहीं होता क्योंकि वे कर्म अपना फल अवश्य देते हैं। जैसे संधिमुख पर चोरी करते हुए पकड़ा गया चोर अपने चौर्य कार्य से दुःख पाता है, वैसे ही यहां और परलोक में जीव स्वकृत कर्मों से ही दुःख भोगते हैं। फल भोगे बिना कृत कर्मों से मुक्ति नहीं हो सकती है। यह आत्मा अपने कर्मो के अनुसार कभी देवलोक में कभी नरक में और कभी असुरों में आदि विभिन्न योनियों में उत्पन्न होती रहती है। पापी जीव का दुःख न जाति वाले बंटा सकते हैं और न मित्र लोग ही। पुत्र एवं भाई बंधु भी उसके दुःख के भागीदार नहीं होते। केवल पाप करने वाला अकेला ही दुःख भोगता है क्योंकि कर्म कर्त्ता ही के साथ जाते हैं। द्विपद, चतुष्पद, क्षेत्र, घर, धन, धान्य—इन सभी को यहीं छोड़कर परवश हो यह आत्मा अपने कर्मों के साथ परलोक में जाती है और वहां अपने कर्मों के अनुसार अच्छा या बुरा भव प्राप्त करती है।

मैं समझ गया हूं कि आठों कर्मों के बंध के कौन-कौनसे कारण है और उन्हें जानकर यह भी समझ गया हूं कि किस प्रकार मैं इन कारणों को रोकने में समर्थ हूं? यही सामर्थ्य मुझे आठों कर्मों से विलग कर सकता है। यदि मैं कर्मों के बंध को ही रोकने लग जाऊं तो फिर ये कर्म मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेंगे। तब मैं अपनी संवर साधना के माध्यम से आते हुए कर्मों को रोक सकूंगा तो पहले के बंधे हुए कर्मों को क्षय करने की दिशा में भी अपने पुरुषार्थ को लगा सकूंगा। इस क्रमिक प्रक्रिया की सफलता के साथ मैं आशा कर सकता हूं कि एक दिन मैं अपनी बद्ध आत्मा को बुद्ध तथा सिद्ध भी बना सकूंगा।

मैं जान गया हूं कि सामान्य रूप से आयु कर्म के सिवाय सभी सातों कर्मों का बंध एक साथ होता है। इनके क्रम का कारण यह है—ज्ञान और दर्शन जीव के स्वतत्व रूप हैं क्योंकि इनके बिना जीवत्व की उत्पत्ति ही नहीं होती है। जीव का लक्षण चेतना-उपयोग है और उपयोग ज्ञान-दर्शन रूप होता है। ज्ञान और दर्शन में भी ज्ञान प्रधान है। ज्ञान से ही वैचारिकता जागती है तथा लब्धियां प्राप्त होती हैं और जिस समय जीव सकल कर्मों से मुक्त हो जाता है तब वह ज्ञानोपयोग वाला ही हो जाता है। इसी कारण ज्ञान के आवरक कर्म को पहले क्रम पर रखा गया है। ज्ञानोपयोग से गिरा हुआ जीव दर्शनोपयोग में स्थित होता है अतः दूसरा क्रम दर्शनावरणीय कर्म का है। ये दोनों कर्म अपना फल देते हुए यथायोग्य सुख-दुःख रूप वेदनीय कर्म में निमित्त होते हैं, इसलिये इसका तीसरा क्रम है। वेदनीय कर्म दृष्ट वस्तुओं के संयोग में सुख तथा अनिष्ट वस्तुओं के संयोग में दुःख उत्पन्न करता है जिसके कारण राग और द्वेष के भाव पैदा होते हैं। ये राग और द्वेष के भाव ही मोह के कारण हैं, अतः चौथे क्रम पर मोहनीय कर्म रखा गया है। मोहनीय कर्म से मूढ़ हुए प्राणी महारंभ, महापरिग्रह आदि में आसक्त होकर नरक आदि का आयुष्य बांधते हैं इसलिये बाद में आयु कर्म का क्रम है। आयु कर्म के बाद नाम व गौत्र की रचना होती है तथा अन्तराय की स्थिति पैदा होती है। अतः इस क्रमिकता के अनुसार ही आठों कर्मों का क्रम है।

मैं यह भी जान गया हूं कि मेरी आत्मा को जन्म-मरण के चक्र में घुमाने वाला कर्म ही है। यह कर्म मेरे ही अतीत के कार्यों का अवश्यंभावी परिणाम है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का कर्म ही प्रधान कारण है। मेरी वर्तमान अवस्थाएं किसी बाह्य शक्ति की बनाई हुई या दी हुई नहीं हैं। यह पूर्व जन्म या वर्तमान जन्म में मेरे ही किये हुए कर्मों का फल है। मैं जो कुछ भी अभी घटित होते हुए देखता हूं, वह मेरी ही किसी अन्तरंग अवस्था का परिणाम होता है। मैं जो कुछ पाता हूं, वह मेरी ही अपनी खेती का फल है! मैं जैसा बोता हूं, वही काटता हूं। या यों कहूं कि मैंने जैसा किया है, वैसा भरता हूं और जैसा अभी करता हूं, वैसा आगे भरूंगा। मैं ही अपने बनने वाले भाग्य का नियन्ता हूं। मैं जब अपने भाग्य को दोष देता हूं तो यह भी मुझे समझना चाहिये कि वह दोष मेरा ही है। इस समझ से मेरे भीतर यह ज्ञान जागेगा कि मुझे जैसा आगे अपना भाग्य चाहिये, वैसा ही पुरुषार्थ मैं आज करूं। मैं पूर्ण रूप से स्वतंत्र हूं कि मैं अपने भाग्य को आज किस रूप में ढालूं। अष्ट कर्मों के इस विश्लेषण ने मुझे जगा दिया है कि मैं अपनी अज्ञानता को समाप्त करूं, अपने पुरुषार्थ को क्रियाशील बनाऊं तथा अपनी स्वरूप-विकृति को परिमार्जित करने लगूं। मैं अपने मन, वचन तथा कर्म की तुच्छता-हीनता को समझूं, उससे अपने आपको लज्जित अनुभव करूं एवं तुच्छता के स्थान पर उदारता व उच्चता की प्रतिष्ठा करने के सत्प्रयास में संलग्न बन जाऊं। मैं जान गया हूं कि यह तुच्छता धर्माराधना में प्रवृत्ति करने से ही मिट सकेगी। संसार के सभी प्राणियों

के प्रति जो मेरी हीन-भावना है, वह स्वार्थवश है और जब धर्म की सच्ची आराधना से स्वार्थपूर्ण मेरा, ममत्व घटेगा, तो मेरी आन्तरिकता में सबके प्रति उदार भाव का संचार होगा। यह उदार-भाव एक ओर मेरी त्याग वृति को उभारेगा तो दूसरी ओर मेरे त्याग को दूसरे प्राणियों के प्रति सहानुभूति एवं सहयोग के रूप में नियोजित करने की प्रेरणा प्रदान करेगा। मेरा त्याग भाव जितने अंशों में प्रवलता ग्रहण करता जायगा, लोकोपकार एवं लोक कल्याण में मेरी वृत्ति और प्रवृत्ति गहरी होती जायगी।

मेरा अनुभव है कि जब मैं लोकोपकार के कार्यों में तल्लीन होता जाऊंगा तो मेरा 'मैं' विराट् स्वरूप लेता जायगा, तब 'मैं' मात्र 'मैं' में ही सीमित नहीं रह जाऊंगा बल्कि मेरा 'मैं; सम्पूर्ण विश्व में विस्तृत हो जायगा तथा सम्पूर्ण प्राणियों की आत्माओं के साथ मंत्री भाव में समा कर एकाकार-सा हो जायगा। वह मेरी हीन भावना के विसर्जन की अवस्था होगी।

आत्मीय समानता का संदेश

मेरी गूढ़ वैचारिकता जब कर्म सिद्धान्त के मर्म में गहरे पैठती है तो मेरा यह अनुभव होता है कि इस सिद्धान्त के साथ ही आत्माओं की समानता तथा महानता का सन्देश जुड़ा हुआ है। मेरी अनुभूति स्पष्ट होती है कि मेरी आत्मा किसी रहस्यपूर्ण शक्तिशाली व्यक्ति की शक्ति या इच्छा के अधीन नहीं है एवं अपने संकल्पों तथा अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिये मुझे किसी का भी दरवाजा खटखटाने की जरूरत नहीं है। अपने पापों का नाश करने के लिये और अपने उत्थान के लिये मुझे किसी भी शक्ति के आगे न तो दया की भीख मांगने की आवश्यकता है और न ही उसके आगे रोने या गिड़गिड़ाने की आवश्यकता है।

मेरे सामने कर्मवाद का यह मंतव्य साफ हो जाता है कि संसार की सभी आत्माएं एक समान हैं तथा सभी आत्माओं में एक समान ही शक्तियां रही हुई हैं। इस संसार में सभी आत्माओ के बीच में जो भेद-भाव दिखाई देता है, वह उनकी मूल शक्तियों के कारण नहीं अपितु उन शक्तियों के न्यूनाधिक विकास के कारण है। यह विकास अपने अपने पुरुषार्थ पर निर्भर होता है।

आत्मिक विकास की चरम सीमा का भी मुझे ज्ञान हो गया है कि मैं आत्मा हूं और मुझे परमात्मा बनना है। आत्मा और परमात्मा की स्थिति के बीच जो अन्तर है वही कर्मों के आवरण हैं। कर्मों के इन बादलों को अगर मैं छांटकर हटा दूं तो फिर मेरी आत्मा रूप सूर्य को प्रकट होने से कौन रोक सकता है? यह सूर्य रूप ही सिद्ध रूप का प्रतीक है। आज मेरी आत्म-शक्तियां विभिन्न कर्मों से आवृत्त बनी हुई हैं, अविकसित हैं एवं परिग्रह से मूर्च्छाग्रस्त हैं। मुझे अपने ही आत्मबल को विकसित बनाकर अपनी इन शक्तियों का विकास करना है। इसी विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुंच कर मैं परमात्म-स्वरूप को प्राप्त कर सकता हूँ। अपने इस पूर्ण विकास के लक्ष्य को स्थिर बनाने में मुझे कर्मवाद से ही अपूर्व प्रेरणा मिलती है।

मैं महसूस करता हूं कि अन्य प्राणियों के समान मेरा जीवन भी विघ्न-बाधाओं, दुःखों व आपत्तियों से भरा हुआ है। जब ये मुझे घेर लेती हैं तो मैं घबरा उठता हूं और मेरी बुद्धि अस्थिर बन जाती है। मैं दो पाटों के बीच में फंस जाता हूं क्योंकि एक ओर तो बाहर की प्रतिकूल परिस्थितियाँ मुंह बाए खड़ी होती हैं, तो दूसरी ओर चिन्तित व तनावग्रस्त बनकर मैं अपनी अन्तरंग अवस्था को

भी बिगाड़ लेता हूं। परिणामस्वरूप प्रतिकूल परिस्थितियों से सफल संघर्ष करने का मेरा सन्तुलन भी बिगड़ जाता है। ऐसी दुर्वल बनी मनोदशा में भूल पर भूल करते हुए चले जाना जैसे मेरा स्वभाव बन जाता है । ऐसी अवस्था में कभी-कभी हताशा मुझे इतनी बुरी तरह से झकझोर डालती है कि मैं अपने हाथों में लिये हुए सत्कार्य को छोड़ बैठता हूँ। जब दुःखों का क्रम चल पड़ता है तो मैं अपना धीरज भी छोड़ बैठता हूँ और रोने-चिल्लाने लग जाता हूँ। उस दबी हुई विचार स्थिति में मैं यही समझने लग जाता हूँ कि बाह्य निमित्त ही मुझे दुःख देने वाले हैं। इसीलिये मैं बाह्य परिस्थितियों तथा उनके निमित्त बनने वाले व्यक्तियों को कोसता और दोष देता हूँ। इस सम्बन्ध में मैं अब समझ गया हूँ कि यह व्यर्थ का दोषारोपण मुझे व्यर्थ के क्लेश में फंसा देता है और उस रूप में मैं अपने लिये व्यर्थ ही में एक नये दुःख को खड़ा कर लेता हूँ। इस प्रकार की विशृंखलित मनःस्थिति में यह कर्मवाद का सिद्धान्त मेरा सच्चा शिक्षक बन जाता है और मुझे पथभ्रष्टता से बचाता है कि हे आत्मन्, तू अपना भ्रम छोड़ दे और इस सत्य को समझले कि तू ही अपने भाग्य का प्रणेता है। सुख और दुःख तेरे अपने ही किये हुए हैं। कोई भी बाह्य शक्ति न तुझे सुखी बना सकती है और न दुःखी। जैसे वृक्ष के अस्तित्व का मूल कारण बीज होता है तथा पृथ्वी, पवन, पानी तो उसके निमित्त मात्र होते हैं। उसी प्रकार दुःख का बीज तेरे अपने पूर्वकृत कर्मों में रहा हुआ है और ये बाह्य व्यक्ति या साधन तो निमित्त मात्र हैं। न इनको क्लेशित कर और न स्वयं क्लेशित बन। अपनी आत्मशक्ति को ही जगा कि वह उस बीज को समाप्त कर दे—फिर कोई दुःख नहीं रह जायेगा।

यह शिक्षा और चेतावनी जब मुझे कर्मवाद के सिद्धान्त से मिलती है तब मैं सावधान हो जाता हूँ और अपने विश्वास को दृढ़ बना लेता हूं। तब दुःख और विपत्ति के समय मेरा आकुल व्याकुल होना घट जाता है और विवेक भी जागता रहता है। फिर मैं अपने दुःखों के लिये न दूसरों को दोष देता हूँ और न उन्हें क्लेशित करता हूँ। मैं तब अपने आपको निराशा के अंधकार में डूबने से भी बचा लेता हूँ। मुझे दुःखों को सहने की ऐसी शक्ति मिल जाती है कि दुःख के पहाड़ टूट पड़ें तव भी मैं अपने हृदय की शान्ति तथा बुद्धि की स्थिरता को बनाये रखता हूँ और प्रतिकूल परिस्थितियों का धैर्य के साथ सामना करने में कुशल बन जाता हूँ। पुराना कर्ज चुकाने वाले की तरह मैं शान्त भाव से कर्मों का ऋण चुकाता हूँ तथा कर्म-फल को उसी शान्त भाव से सह लेता हूँ। अपनी प्रत्यक्ष भूल से होने वाली बड़ी से बड़ी हानि को जिस प्रकार मैं शान्त भाव से सह लेता हूँ, वही सहनशीलता मैं कर्म फल भोगने में भी स्थिर रख लेता हूँ। फिर अपने भूतकाल के अनुभवों से मैं अपने भविष्य-निर्माण के प्रति सजग बन जाता हूँ। इस प्रकार सुख और सफलता में संयत रहने की मुझे ऐसी शिक्षा मिलती है कि मैं अपनी आत्मा को किसी भी परिस्थिति में अनियंत्रित, उच्छृंखल या उद्दंड बन जाने से बचा लेता हूँ।

आत्माओं की समानता के संदर्भ में मैं यह समझ गया हूँ कि मैं विकास की इस प्रक्रिया में स्वयं घनिष्ठता से जुडूं तथा अपने सम्पर्क में आने वाले सभी प्राणियों को भी इस प्रक्रिया से जुड़ने की अनुप्रेरणा दूं।

तुच्छता वनाम पुरुषार्थ

तुच्छता और हीनता उस मनःस्थिति का नाम है, जव मनुष्य में अमुक-अमुक कार्य करने की शक्ति तो नहीं होती, किन्तु वह वैसी शक्ति का अपने में सद्भाव मान कर अहंकार से भर जाता है। उसका अहंकार थोथा होता है और थोथा चणा, वाजे घणा की उक्ति के अनुसार उसकी वह

तुच्छता उसके मन, उसकी वाणी तथा उसके कर्म से बराबर फूटती रहती है। वह दूसरों को हीन इसलिये समझने लग जाता है कि वह स्वयं हीनमन्यता से ग्रस्त हो जाता है। ऐसी तुच्छता और हीनता उसकी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में प्रवेश पाकर स्वार्थ, ममत्व तथा प्रमाद को उकसाती है और उसे आत्म-विमुख बना देती है। उस समय उसका पुरुषार्थ भी शिथिल और मलिन बन जाता है। इस रूप में तुच्छता की वृत्ति तथा पुरुषार्थ वृत्ति परस्पर विरोधी होती है। तुच्छता बनी रहेगी तो आत्म पुरुषार्थ जागृत नहीं बनेगा और जब आत्म पुरुषार्थ जाग जायेगा तो फिर तुच्छता ठहर नहीं सकेगी। उसके स्थान पर उदारता और उच्चता का अवश्य ही विस्तार होने लगेगा। इस कारण मन, वाणी तथा कर्म की तुच्छता को मिटाना है तो अपने आत्म पुरुषार्थ को जगाना ही होगा। ऐसा जागृत बना आत्म पुरुषार्थ सबसे पहले आत्म स्वरूप के साथ बंधे हुए कर्मों के क्षयोपशम के सत्प्रयास में ही जुटेगा।

मैं तुच्छता एवं हीनता के ओछेपन में भटकता हुआ अपने मन, वचन तथा कर्म की नीच क्रियाओं को भुगत चुका हूं क्योंकि वे क्रियाएं अपने साथियों को छेदने, भेदने और परिताप उपजाने वाली ही अधिक होती थी। उस समय की अपनी मनोदशा को आज जब याद करता हूं तो महसूस होता है कि मैं अपनी सामान्य कार्य स्थिति से भी कितना नीचे गिर गया था और व्यर्थ में ही नये-नये कर्मों का बंध कर लेता था। अब उन्हीं कर्म-बंधों को तोड़ने के लिये मैं कठिन पुरुषार्थ करना चाहता हूं।

विचारों की इस अवस्था में मेरे मन में एक शंका पैदा होती है कि जब पूर्वकृत कर्मानुसार ही जीव को सुख-दुःख होते हैं तथा किये हुए कर्मों को भोगे बिना आत्मा का छुटकारा भी संभव नहीं है तो सुख प्राप्ति तथा दुःख निवृत्ति के लिये मेरे द्वारा प्रयत्न किया जाना क्या व्यर्थ नहीं होगा? भाग्य-फल को रोका नहीं जा सकता तो पुरुषार्थ की आवश्यकता ही कहां रह जाती है? क्या इस धारणा को लेकर कोई भी पुरुषार्थ विमुख नहीं होगा? इन प्रश्नो के साथ ही मेरा चिन्तन चलता है कि होना है सो होना है तथा होनी को टाल नहीं सकते हैं तो किसी भी प्रकार के प्रयत्न या पुरुषार्थ के लिये कहां स्थान रह जाता है? किन्तु आप्त वचन मेरी शंका का सम्यक् समाधान करते हैं और मैं पुरुषार्थ की प्रक्रिया को भली-भांति जान और मान लेता हूं। यह सही है कि अच्छा या बुरा कोई भी कर्म बिना फल भोग दिये नष्ट नहीं होता। जो पत्थर हाथ से छूट गया है उसको वापिस नहीं लौटाया जा सकता है। परन्तु जिस प्रकार सामने से वेग-पूर्वक आता हुआ पत्थर पहले वाले पत्थर से टकराकर उसके वेग को रोक देता है या उस की दिशा को बदल देता है, ठीक इसी प्रकार किये हुए शुभाशुभ कर्म आत्म परिणामों की तीव्रता या मन्दता के अनुपात से न्यून या अधिक शक्ति वाले हो जाते हैं, दूसरे रूप में बदल जाते हैं और कभी-कभी निष्फल भी हो जाते हैं। कर्म की एक निकाचित अवस्था ही ऐसी होती है, जिस में कर्मानुसार अवश्य फल भोगना पड़ता है। शेष अवस्थाएँ आत्म-परिणामानुसार परिवर्तनशील होती हैं। अभिप्राय यह है कि पुरुषार्थ परिवर्तन ला सकता है तथा कर्म की प्रकृति, स्थिति और अनुभाग को बदल सकता है। पुरुषार्थ के प्रभाव से कर्मों की सारी अवस्थाएं परिवर्तित हो सकती है—एक मात्र निकाचित अवस्था ही अप्रभावित रहती है। आत्म पुरुषार्थ के बल पर एक कर्म को दूसरे कर्म में बदला जा सकता है। लम्बी स्थिति वाले कर्म छोटी अवधि की स्थिति में तथा तीव्र रस वाले कर्म मन्दरस में परिणत किये जा सकते हैं। कई कर्मों का वेदन विपाक से न होकर प्रदेशों से ही हो जाता है। अतः कर्मवाद का सिद्धान्त इस आत्मा

को पुरुषार्थ से विमुख नहीं बनाता, बल्कि उसके पुरुषार्थ को जगाता है कि उस पुरुषार्थ की कठोरता के बल पर पूर्व कृत कर्मों के स्वरूप को परिवर्तित कर सकते हैं। नये कर्म बांधने की दृष्टि से पुरुषार्थ ही शत-प्रतिशत मूल कारण होता है। संवर की साधना को सुदृढ़ बना लें। प्रत्येक स्थिति में पुरुषार्थ तो करना ही चाहिये किन्तु यदि पुरुषार्थ सफल नहीं होता है तो धैर्य धारण कर सोचना चाहिये कि वहां कर्म की प्रबलता या निकाचितता है। किन्तु पुरुषार्थ उस स्थिति में भी व्यर्थ नहीं होता है, क्योंकि उसके प्रभाव से शेष कर्म तो छोटे और हल्के हो ही सकते हैं। इस सम्पूर्ण विषय को चिन्तन में लेकर मैं दृढ़तापूर्वक संकल्पित हो जाता हूं कि सत्पुरुषार्थ को मैं सर्वोपरि ही मानूंगा।

मेरी मान्यता दृढ़ हो गई है कि आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रिया एक ओर मेरी तुच्छता एवं हीनता की वृत्तियों को उदारता और उच्चता में परिवर्तित करेगी तो दूसरी ओर मेरे अधिकांश पूर्व कृत कर्मों को छोटे और हल्के रूप में भी परिवर्तित कर देगी। इस कारण सत्पुरुषार्थ का पथ ही मेरे लिये साध्य तक पहुंचाने वाला पथ है।

मुझे समझना हैं कि मेरा यह पुरुषार्थ क्या और कैसा होगा तथा वह मेरी आत्म विकास की महायात्रा के साथ कैसे जुड़ा हुआ रह सकेगा? यह सत्य है कि मेरे आत्म पुरुषार्थ का चरम साध्य अपनी आत्मा को सर्वथा कर्म बंधन से मुक्त एवं रहित बना देना है और कर्म बंधन को क्षय करने का मार्ग है श्रुतधर्म और चारित्रधर्म का पुरुषार्थ, यही मुक्ति का मार्ग है। किन्तु अपने चरम साध्य को दृष्टि में रखते हुए उस दिशा में अपने पुरुषार्थ का प्रारंभ तो अपनी नई ढली क्रियाओं के साथ ही करना होगा। जब मुझे कर्म बंध के कारणों का ज्ञान हो गया है तो मेरे पुरुषार्थ का पहला चरण यही होगा कि मैं उन कारणों का निरोध करूं याने कि अपनी क्रियाओं को इस नयेपन में ढालूं जो पाप-प्रभाव से मुक्त रहें। मेरी नई क्रियाएं स्व-पर कल्याण की प्रेरक क्रियाएं होनी चाहिये। क्योंकि स्व-कल्याण की प्रक्रिया में कुछ पुष्टता आने पर पर-कल्याण की ओर प्रवृत्ति होती है और उस प्रवृत्ति की प्रगाढ़ता के साथ स्व-कल्याण स्वयं सरल बनता जाता है। स्व-पर कल्याण तव अभिन्न हो जाते हैं।

लोकोपकार से महानता

एक अज्ञान या निष्क्रिय व्यक्ति तो लोकोपकार को समझेगा ही क्या? लोकोपकार की तरफ अभिरुचि उस व्यक्ति की होगी, जिसका ज्ञान इतना विकसित हो गया है कि अपने जीवन को अहिंसा के आचरण में ढालने का उपक्रम कर सके तथा जिसकी क्रियाशीलता इतनी सजग हो गई है जो परहित से ऊपर स्व-स्वार्थों को उठने नहीं दे। इसका अर्थ ही यह होगा कि अपने जीवन में सामान्य-सा विकास हो जाने के बाद सबसे पहले अन्य प्राणियों के लिये संवेदना प्राप्त हो जाती है। क्योंकि सुज्ञता के साथ संवेदनशीलता बढ़ती ही है और जब संवेदनशीलता बढ़ती है तो व्यक्ति शुभ क्रियाओं में अधिकाधिक प्रवृत्ति करना आरंभ कर देता है।

इस प्रक्रिया का मैं यह अभिप्राय समझता हूं कि मैं संसारी जीवों की स्थिति तथा अपनी आत्मा की अवस्था को जानकर सुज्ञ बनूं और निश्चित है कि मेरी सुज्ञता मेरी संवेदनशीलता को उभारेगी एवं वस्तुतः मेरे पुरुषार्थ को उभारेगी कि मैं दूसरे प्राणियों के दुःख दूर करने एवं उन्हें सुखी बनाने में प्रयत्नशील बनूं। जब मैं ऐसा करने लगूंगा। तो मैं अहिंसक बनूंगा। मैं दूसरों के हित में अपने परिग्रह का त्याग करूंगा, तव मैं पहले अपरिग्रहवादी, तटस्थ एवं निष्काम वनने लगूंगा। मैं

छः काया के समस्त जीवों की रक्षा में उदार बनूंगा तो पहले मेरी ही आचार-विचार सम्बन्धी विशृंखलताएं दूर होगी और मैं सत्य-दर्शन के समीप पहुंचने लगूंगा।

इसका यह स्पष्ट अर्थ है कि दूसरे प्राणियों को कम या ज्यादा लाभ पहुंचे परन्तु मुझे तो अत्यधिक लाभ मिलेगा। मेरा विश्वास है कि सुमर्यादित लोकोपकार की विशुद्ध भावना ही मुझे महान् वना सकती है। लोकोपकार का क्षेत्र इतना व्यापक और इतने प्रभाव वाला होता है कि बाहर के संसार में भी अच्छाई फैलती है और भीतर के आन्तरिक संसार में भी नित नये-नये आत्मीय गुणों का विकास होता हुआ चला जाता है।

लोकोपकार की महत्ता को समझने के लिये मैं श्रावक के पहले अणुव्रत अहिंसा का ही उदाहरण दूं। श्रावक स्थूल हिंसा का त्याग करता है और साधु सम्पूर्ण हिंसा का। श्रावक के हिंसा त्याग का स्वरूप क्या? अपराधी को छोड़ शेष द्विन्द्रिय आदि त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा का दो करण तीन योग से त्याग। इस अहिंसा अणुव्रत को ग्रहण कर श्रावक तो शुभता प्राप्त करेगा, किन्तु इस हिंसा-त्याग का सीधा लाभ किनको प्राप्त होगा? उन द्विन्द्रिय आदि त्रस जीवों को यदि श्रावक पहला अणुव्रत ग्रहण नहीं करता तो वे जीव उसके हाथों प्राणघात पाते। इसका अर्थ यह लीजिये कि पर कल्याण के साथ ही, बल्कि उसकी साधना से ही स्व-कल्याण की साधना संभव वनती है। अतः आत्म कल्याण के नाम पर लोकोपकार को अलग नहीं किया जा सकता है बल्कि लोकोपकार को गहरा बनाते जाने पर ही स्व-कल्याण का मार्ग सुगम बनता जाता है।

व्यक्ति समाज में रहता है और न केवल अन्य व्यक्तियों के बल्कि पशु पक्षियों आदि स्थूल एवं पृथ्वी, पानी आदि सूक्ष्म प्राणियों के भी सम्पर्क में वह रात-दिन आता है। इस दृष्टि से व्यक्ति का जीवन सामाजिक सुव्यवस्था को बल देने वाला हो—यह आवश्यक है। व्यक्ति के जीवन में सुधार का पहला दृष्टिकोण इसी आशय का रहता है। इसी तथ्य को इस भाषा में भी कह सकते हैं कि सम्यक् लोक कल्याण की उच्चतम साधना में ही आत्म-कल्याण की उत्कृष्टता भी समा जाती है और जो जितना बड़ा लोकोपकारी हो जाता है, वह उतना ही महान् भी कहलाता है। क्योंकि श्रावक स्थूल हिंसा का ही त्याग करता है उसका व्रत छोटा व्रत (अणुव्रत) कहलाता है किन्तु साधु सम्पूर्ण हिंसा का त्याग करके सभी स्थूल एवं सूक्ष्म प्राणियों (छः काया) का रक्षक भी बनता है, अतः उनका व्रत महाव्रत कहलाता है। तो यह 'अणु' और 'महा' इसी सत्य पर बने हैं कि आपका लोक कल्याण का क्षेत्र कहां तक विस्तार पा गया है? इस प्रकार मैं समझ गया हूं कि मेरी महानता का मार्ग लोक कल्याण के अहर्निश प्रयासों में सन्निहित है।

स्व-पर कल्याण की शुभ प्रवृत्ति मेरे आत्म स्वरूप के साथ शुभ कर्मों को संलग्न करेगी। शुभ कर्मों के फलोदय से शुभ संयोगों की प्राप्ति होगी; जिनकी सहायता से मेरी आत्मविकास की महायात्रा आसान बन जायगी। पाप की तरह पुण्य भी कर्म पुंज ही होता है, लेकिन पाप कर्मों के फल से दुर्योग मिलते हैं और पुण्य कर्मों के फल से शुभ संयोग। साध्य तक पहुंचने के लिये शुभ संयोगों की भी आवश्यकता होती है। जैसे मार्ग में आई हुई नदी को पार करनी है तो नाव की जरूरत होगी। यद्यपि उस किनारे पर पहुंच जाने के बाद नाव भी छोड़नी पड़ेगी, फिर भी किनारे तक पहुंचने के लिये नाव की सहायता अनिवार्य है। वैसे ही पुण्य कर्म मोक्ष तक पहुंचाने में नाव के समान सहायक होता है। इस रूप में कर्म बंध, कर्म क्षय एवं कर्म मुक्ति की प्रक्रिया को समझ लेना चाहिये।

कर्म बंध, क्षय एवं मुक्ति

वस्तुतः स्व-पर कल्याण का जो पुरुषार्थ होता है, वह प्रारंभ की स्थिति है तो उसी पुरुषार्थ की अन्तिम परिणति कर्म मुक्ति के रूप में ही प्रतिफलित होती है। जहां तक शुभ कर्मों के बंध का प्रश्न है, कर्म बंध में भी पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है तो कर्म क्षय में कठोर पुरुषार्थ की। कर्ममुक्ति तो आत्म-पराक्रम की परमोत्कृष्टता की प्रतीक होती है। अतः कर्म बंध, क्षय एवं मुक्ति की प्रक्रिया का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

जैसे कोई व्यक्ति अपने शरीर पर तेल की मालिश करके रेत पर लेटे तो रेत के कण उसके शरीर पर चिपक जायेंगे। उसी प्रकार मिथ्यात्व, कषाय, योग आदि से आत्म प्रदेशों में जब हलचल होती है तो जिस आकाश में आत्म प्रदेश होते हैं, वहीं के अनन्त-अनन्त कर्म योग्य पुद्गल परमाणु आत्मा के एक-एक प्रदेश के साथ बंध जाते हैं। कर्म तथा आत्म प्रदेश दूध पानी या लोहपिंड आग्नि की तरह एकमेक हो जाते हैं। आत्मा के साथ कर्मों का यह जो बंध होता है, उसे ही कर्म बंध कहते हैं।

कर्म बंध चार प्रकार का कहा गया है—(अ) प्रकृति बंध —कर्म पुद्गलों में भिन्न-भिन्न स्वभावों तथा शक्तियों का पैदा होना। (ब) स्थिति बंध—कर्म पुद्गलों में अमुक काल तक आत्मा के साथ बंधे रहने की कालावधि का होना। (स) अनुभाग बंध— कर्म पुद्गलों में अनुभव के तरतम भाव का अर्थात् फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का होना, तथा (द) प्रदेश बंध—कर्म पुद्गलों में न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म स्कंधों का सम्बन्ध होना। कर्म बंध का सम्पूर्ण ज्ञान इन चार प्रकारों से होता है कि बंधे हुए कर्म का स्वभाव कैसा है, वह बंध कितनी कालावधि का है, उसका अनुभव कैसा होगा तथा उसका घनत्व कितना है? जैसे सौंठ, पीपल, कालीमिर्च आदि कई वस्तुओं को मिला कर लड्डू बनाया जाता है तो उस वस्तु बंध रूप लड्डू से कर्म बंध का स्वरूप समझिये। कल्पना करें कि वह लड्डू वायुहरण के लिये बनाया गया है तो वायुनाशक उस लड्डू की प्रकृति हो गई। वह लड्डू एक सप्ताह, दो सप्ताह या अमुक अवधि तक अपना निजी स्वभाव याने ताजगी बनाये रखेगा —यह उसकी स्थिति हो गई। उस लड्डू का स्वाद अधिक मधुर है या अधिक कटु—यह उसका अनुभाग, अनुभव या रस हुआ। उसी प्रकार प्रदेश यह होगा कि वह लड्डू छोटे आकार का है या मध्यम या बड़े आकार का। इस प्रकार कर्म बंध के ये चार पहलू हैं।

कर्म बंध के प्रारंभ को उपक्रम कहते हैं, जो चार प्रकार का है— (१) वन्धनोपक्रम—कर्म पुद्गल एवं आत्म प्रदेशों के एकरूप सम्बन्ध होने को बंधन कहते हैं और इसी वन्धन के आरंभ को बन्धनोपक्रम। इसका अर्थ हुआ कि बिखरी हुई अवस्था में रहे हुए कर्मों को आत्मा से सम्वन्धित अवस्था वाले बना देना। (२) उदीरणोपक्रम—विपाक अर्थात् फल देने का समय नहीं होने पर भी कर्मों का फल भोगने के लिये प्रयत्न विशेष से उन्हें उदय—अवस्था में प्रवेश कराना उदीरणा है। उदीरणा के प्रारंभ का नाम है उदीरणोपक्रम। (३) उपशमनोपक्रम—कर्म उदय, उदीरणा, निधत्तकरण और निकाचना करण के आयोग्य हो जाएं इस प्रकार उनकी स्थापना करना उपशमना है और इसका आरंभ उपशमनोपक्रम है। इसमें आवर्तन, उदवर्तन और संक्रमण—ये तीन करण होते हैं। (४) विपरिणामनोपक्रम—सत्ता, उदय, क्षय, क्षयोपशम, उद्वर्तना, अपवर्तना आदि द्वारा कर्मों के परिणाम को बदल देना विपरिणामना है जिससे कर्म एक अवस्था से दूसरी अवस्था में वदल जाते हैं। इस

उपक्रम के प्रारंभ को विपरिणामनोपक्रम कहते हैं। इन उपक्रमों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा अपने योग्य पुरुषार्थ से कर्मों के मूल बंधानुसार नियत फल भोग, उदय उदीरणा तथा अवस्था तक में परिवर्तन कर सकती है। इस का अभिप्राय यही है कि यद्यपि एक बार बंध जाने पर कर्म अपना फल देते ही हैं, फिर भी आत्मा उनके फल देने के पहले ही धर्माराधना के बल पर उनके प्रभाव को मन्दतर बना सकती है। आत्म पुरुषार्थ कभी भी निरूपयोगी नहीं होता।

इसी आत्म पुरुषार्थ के बल पर कर्मों का संक्रमण (संक्रम) भी किया जा सकता है। आत्मा जिस प्रकृति का कर्म बंध कर रही है, उसी विपाक में पुरुषार्थ विशेष से दूसरी प्रकृति के कर्म पुद्गलों को परिणत करना संक्रमण कहलाता है। इससे बंधे हुए कर्म एक स्वरूप को छोड़कर दूसरी सजातीय कर्म प्रकृति रूप बन जाते हैं। यह चार प्रकार का होता है —प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश।

आत्म पुरुषार्थ से सभी श्रेणियों के कर्म बंध में परिवर्तन लाया जा सकता है किंतु इसकी एक ही श्रेणी अपवाद रूप है और वह है निकाचित कर्मों की श्रेणी। निकाचित कर्म उन्हें कहते हैं जिनका फल कर्म बंध के अनुसार ही निश्चय रूप से भोगा जाता है और जिन्हें बिना भोगे आत्मा का छुटकारा नहीं होता है। निकाचित कर्म में कोई भी कारण नहीं होता। ये आत्मा के साथ प्रगाढ़ता से सम्बन्धित हो जाते हैं।

बंध से लेकर कर्म की चार अवस्थाएं बताई गई है :—(१) बंध—मिथ्यात्व आदि के निमित्त से ज्ञानावरणीय आदि रूप में परिणत होकर कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ दूध पानी की तरह मिल जाना बंध कहलाता है। (२) उदय—उदय काल याने फल देने का समय आने पर कर्मों के शुभा-शुभ फल देने को उदय कहते हैं। (३) उदीरणा—आबाधा काल व्यतीत हो चुकने पर भी जो कर्म दलिक (समूह) पीछे से उदय में आने वाले हैं, उनको पुरुषार्थ विशेष से खींच कर उदय प्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना उदीरणा है। (४) सत्ता—बंधे हुए कर्मों का अपने स्वरूप को न छोड़कर आत्मा के साथ लगे रहना सत्ता कहलाता है।

कर्म अथवा कर्म के कारण होने वाले भव का अन्त करना अन्तक्रिया है। यों तो अन्तक्रिया एक ही स्वरूप वाली होती है किन्तु सामग्री के भेद से चार प्रकार की बताई गई है। (१) पहली अन्तक्रिया —अल्प कर्म वाली आत्मा की। मनुष्य भव में उत्पन्न ऐसी अल्प कर्म वाली आत्मा दीक्षित होती है, प्रचुर संयम, संवर और समाधि की साधना करती है तथा तपाराधन, शुभ ध्यान आदि से लम्बी दीक्षा पाल कर निर्वाण को प्राप्त हो जाती है। उसे उपसर्ग जनित घोर वेदना नहीं सहनी पड़ती हैं और घोर तप भी नहीं करना पड़ता है। (२) दूसरी अन्तक्रिया—महाकर्म वाली आत्मा की। मनुष्य भव में उत्पन्न ऐसी महाकर्म वाली आत्मा दीक्षित होती है, किन्तु महाकर्मों को क्षय करने के लिये वह घोर तप करती है और घोर वेदना भी सहती है। इस प्रकार की आत्मा थोड़ी ही दीक्षा पर्याय पाल कर सिद्ध हो जाती है। (३) तीसरी अन्तक्रिया —महाकर्म वाली तथा दीर्घ दीक्षा पर्याय पालने लावी आत्मा की। मनुष्य भव में उत्पन्न ऐसी महाकर्म वाली आत्मा दीक्षित होती है किन्तु महाकर्मों को क्षय करने के लिये वह घोर तप करती है और घोर वेदना सहती है। फिर वह दीर्घ दीक्षा पर्याय पाल कर सिद्ध होती है। (४) चौथी अन्तक्रिया—अल्प कर्म वाली तथा अल्प दीक्षा पर्याय पालने वाली आत्मा की। मनुष्य भव में उत्पन्न ऐसी अल्प कर्म वाली आत्मा दीक्षित होती है

परन्तु वह न तो घोर तप करती है, न ही घोर वेदना सहती है, बल्कि वह अल्प दीक्षा पर्याय पाल कर ही सिद्ध हो जाती है।

कर्म क्षय के लिये दो बातें आवश्यक है—(१) नवीन कर्मों के आगमन को रोकना तथा (२) संचित कर्मों का नाश करना। नवीन कर्मों का आगमन संवर से रुक जाता है तो संचित कर्मों के विनाश के लिये तपाराधन करना चाहिये (तप का विस्तृत विश्लेषण आगामी अध्याय आठ में किया गया है।)

कर्म क्षय के क्षेत्र में अपने पुरुषार्थ एवं पराक्रम द्वारा क्रमिक विकास करती हुई आत्मा जब तेरहवें गुण स्थान (गुणस्थानों का विस्तृत विश्लेषण आगामी अध्याय नौ में मिलेगा) में पहुंचती है, उस समय उसके चार घाती कर्म नष्ट हो जाते हैं। आत्मा के मूल गुणों की घात करने वाले होने से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय कर्म घाती कर्म कहे जाते हैं। इनमें पहले मोहनीय कर्म का क्षय होता है तब उसके बाद तीनों कर्मों का एक साथ क्षय होता है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय होने पर आत्मा के ज्ञान-गुण पर पड़ा हुआ आवरण हट जाता है। यह आवरण पूर्णतया हटते ही आत्मा अनन्त ज्ञान वाली बन जाती है। दर्शनावरणीय कर्म के क्षय होने पर आत्मा का अनन्त दर्शन रूप गुण प्रकट हो जाता है। मोहनीय कर्म के क्षय होने से आत्मा में अनन्त चारित्र प्रकट हो जाता है एवं अन्तराय कर्म के क्षय हो जाने पर आत्मा में अनन्त शक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य—ये जो आत्मा के चार मूल गुण हैं, वे इन चार घनघाती कर्मों के क्षय हो जाने पर पूर्णतः प्रकट हो जाते हैं। तेरहवें गुणस्थान केवल उनके शुभ कर्मों मात्र एक समय के लिये ही बन्धते हैं।

आगामी चरण कर्म क्षय से कर्म मुक्ति का होता है। चौदहवें गुणस्थान में आत्मा योगों की प्रवृत्ति को भी रोक देती है। उस समय न मन कुछ सोचता है, न वचन कुछ बोलता है तथा न काया में कोई हलचल होती है। इस प्रकार योग निरोध हो जाने से कर्मों का आगमन सर्वथा रुक जाता है। साथ में बाकी बचे चार अघाती कर्म-वेदनीय, नाम, गौत्र तथा आयुष्य भी विनष्ट हो जाते हैं और आत्मा कर्म मुक्त होकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाती है। मुक्ति का अर्थ यही है कि कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाना। चार अघाती कर्मों के क्षय हो जाने से सिद्धात्मा में उसके चार गुण प्रकट होते हैं। वेदनीय कर्म के क्षय से अनन्त या अव्याबाध सुख, नाम कर्म के क्षय से अरूपी स्वरूप, गौत्र कर्म के क्षय से अगुरु लघुत्व तथा आयुष्य कर्म के क्षय से आत्मा को अजरामरता प्राप्त हो जाती है।

संसार में जन्म मरण का कारण कर्म हैं। कर्मों को सर्वथा क्षय कर देना ही इस जन्य मरण के चक्र से छूट जाना है अर्थात् कर्म मुक्ति ही मोक्ष है। मुक्त हो जाने पर आत्मा पुनः संसार में नहीं आती—सदा काल के लिये आठ गुणों से संयुक्त बन कर सिद्धावस्था में ज्योति रूप वन जाती है।

कर्म बंध, कर्म क्षय एवं कर्म मुक्ति के इस विश्लेषण से मैं समझ गया हूं कि कर्म मुक्ति ही मेरा अन्तिम ध्येय है। अतः कर्म मुक्ति के लिये कर्म बंध को अवरुद्ध करना तथा कर्म क्षय हेतु धर्माराधना करना मेरे पुरुषार्थ का प्रधान कर्त्तव्य हो जाता है। इस ध्येय के प्रति नियोजित होने वाला पुरुषार्थ ही आत्मा का सत्पुरुषार्थ कहलाता है। मेरा प्रथम प्रयास हो कि मैं सत्पुरुषार्थी वनूं।

'मैं' में समाहित सर्वहित

मेरी आन्तरिक अभिलाषा बन गई है कि संसार के सभी प्राणी सुखी हों, निरापद बनें और इस अभिलाषा की पूर्ति में मैं किसी भी प्राणी के प्राण को दुःख न दूं तथा जो मुझे किसी भी प्रकार से दुःख पहुंचावे, उसे मैं शान्तिपूर्वक सहन करूं व उसके प्रति रंच मात्र भी द्वेष भाव न लाऊं। फिर मैं दूसरे प्राणियों के दुःखों को देखकर दयाभाव से ओतप्रोत बन जाऊं तथा उनके दुःखों को यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न करूं, उन्हें सुखी बनाने के कार्य करूं। सर्वकल्याण की मेरी यह भावना मेरे स्वकल्याण का मार्ग भी प्रशस्त कर देगी, क्योंकि सर्वहित में 'मैं' भी समाहित हो जाता हूं।

वस्तुतः मेरी आत्म साधना सर्वहित की साधना बन जाती है। मेरा जीवन अहिंसापूर्ण बनता है, इसका सीधा प्रभाव मेरे सम्पर्क में आने वाले प्राणियो पर पड़ता है कि वे मेरी ओर से संभावित हिंसा के प्रहारों से बच जाते हैं। मेरे ही समान जब अधिकाधिक आत्माएं इस प्रकार की साधना में प्रवृत्त होती है तो अनेकानेक प्राणी आशंकित दुःखों से रक्षित होकर वे भी अहिंसा को अपने जीवन में स्थान देने लगते है जिसके कारण समूचे सामाजिक वातावरण में अहिंसा, निर्भयता एवं पारस्परिक सौहार्द्रता का संचार होता है। मैं असत्य के आचरण से विरत होता हूं तो मेरे असत्य प्रयोग से दुःखी बन सकने वाले प्राणी सुरक्षित हो जाते हैं। इसी प्रकार मेरा अचौर्य व्रत अनेक प्राणियों के शोषण एवं संत्रास को रोक देता है तो मेरा ब्रह्मचर्य व्रत सारे समाज को सादगी-की प्रेरणा देता है। संज्ञा पंचेन्द्रिय जीवों की श्वास भी रोक देता है। मैं जब अपरिग्रही बनता हूं तो निश्चय मानिये कि मेरे येन केन प्रकारेण परिग्रह अर्जन एवं संचय के प्रभाव से मुक्त होकर अनेक प्राणी राग द्वेष की विवर्जनाओं से बच जाते हैं और अपने भाव-परिणामों को विशुद्ध बनाने का अवसर पाते हैं। धार्मिकता से युक्त मेरी प्रत्येक क्रिया मेरी आत्मशुद्धि के साथ अन्य प्राणियों को निर्भीक एवं सदाशयी बनाती है। उनके उस आचरण परिवर्तन से समग्र समाज में एक प्रकार का उत्थानकारी धरातल तैयार होता है जिस पर वे प्राणी भी अपने पग बढ़ाने का सत्प्रयास करते हैं जो सामान्य वातावरण में अपनी चेतना को जागृत नहीं बना सकते थे।

समाज और व्यक्ति के अभिन्न सम्बन्धों की मार्मिकता को समझते हुए मैं जानता हूं कि यहां समाज में एक व्यक्ति अपने घर-परिवार ग्राम-समाज, राष्ट्र और विश्व में रहता है जहां प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अनेक अन्य व्यक्तियों एवं प्राणियों के सम्पर्क में आता है। इस दृष्टि से वह अन्य प्राणियों को अपने आचरण से प्रभावित करता है तो दूसरों के आचरण से यत्किंचित् रूप में स्वयं भी प्रभावित होता है। यह पारस्परिक प्रभाव मन, वाणी और कर्म के माध्यम से पड़ता है। कौन बाहर के प्रभाव से कितना ग्रहण करता है अथवा कि कौन अपने प्रभाव को बाहर कितने विस्तार से छोड़ता है—यह व्यक्तिगत आत्म विकास पर निर्भर करता है। समझिये कि एक अन्य व्यक्ति ने मेरे प्रति दुर्भावना बनाई, फिर कुवचन मुझे कहे और मेरे पर आघात करने की चेष्टा की, उस समय यदि मेरे मन, वाणी और कर्म में दुर्बलता होगी तो मेरी वृत्तियां भी तुच्छ बन जायगी और उसकी तरह मैं भी हीन प्रवृत्तियों में लग जाऊंगा। इसके विपरीत यदि मेरा मन, मेरा वचन और मेरा कर्म सधा हुआ होगा तो मैं उसके समूचे व्यवहार को इस धैर्य और शान्ति से सह लूंगा कि वह स्वयं अपने व्यवहार पर लज्जित होकर उसमें शुभ परिवर्तन लाने का संकल्प कर लेगा।

इस रूप में व्यक्ति-व्यक्ति अपना सत्प्रयास करें तो सारे समाज के सभी व्यक्तियों के आचरण में धीरे-धीरे ही सही, किन्तु एक शुभ परिवर्तन ला सकते हैं। इस प्रयास को ही लोक

कल्याण की संज्ञा दी जाती है, वरन् वह है स्व-कल्याण का ही सत्प्रयास। स्व जब प्राभाविक बनता है तो वह दूसरों को भी प्रभावित बनाता है। सर्व हित की रूपरेखा इसी प्रकार के व्यक्तिगत प्रयासों के आधार पर बनती, फूलती और फलती है। इसी दृष्टि से मेरे हित में सर्वहित समाहित होता है तो सर्वहित में स्वहित समाहित रहता है।

सर्वदा और सर्वत्र सुख और समाधि

कर्म क्षय की राह पर आगे बढ़ते हुए मैं यही चिन्तन करता हूँ कि सर्वदा और सर्वत्र सुख और समाधि का वातावरण प्रसारित होता रहे। सब हर जगह और हर समय सच्चे सुख और शान्त समाधि के शोधक बन जायें। जब मैं चाहता हूँ कि सब शोधक बना जाये तो पहले मेरा स्वयं का शोधक बनना तो आवश्यक है ही। इसलिए मैंने अपने मन, अपने वचन तथा अपने कर्म की समूची तुच्छता और हीनमन्यता को दूर करने का पुरुषार्थ प्रारंभ कर दिया है। मेरी तुच्छता मिटेगी और हृदय में उदारता व्याप्त होगी तो मुझे आन्तरिक सुख मिलेगा—मेरी वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ समाधि ग्रहण करेंगी। सुख और समाधि मुझे मिलेगी तो वह मेरे भीतर ही बन्द थोड़े ही रहेगी—उस की आनन्द लहरें बाहर भी लहरायेगी और अन्य प्राणियों को भी स्पर्श-सुख देगी। मेरी साधना की गूढ़ता के साथ ये आनन्द लहरें आगे से आगे बढ़ती ही जायेगी और फैलती ही जायेंगी।

मेरे मन का सुख, मन की समाधि में परिणत होता जायेगा। मन की समाधि यह होगी कि मैं किसी एक श्रेष्ठ उद्देश्य पर अपना ध्यान केन्द्रित करूंगा और उसी के स्व-समीक्षण में लम्वे समय तक अपने मन को लगाये रखूंगा—वह होगी मेरी चित्त समाधि और मन में कुछ भी नहीं सोचते हुए मन के योग व्यापार को परिपूर्ण नियंत्रण की अवस्था में रखूंगा जो मेरी मध्यम चित समाधि होगी और उत्कृष्ट चित्त समाधि के लिए शुक्ल ध्यान के अग्रिम दो चरणों के अनुरूप साधना का स्वरूप बनाऊंगा। इस योगाभ्यास से कई सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती है, किन्तु मैं उनके प्रलोभन में नहीं पड़ते हुए अपने आत्म-विकास की महायात्रा में निरन्तर प्रगतिशील बना रहूंगा।

सर्वदा और सर्वत्र प्रवर्तित रहने वाली समाधि-अवस्था तक पहुँचने के लिए मैं ऐहिक और पारलौकिक फल की इच्छा न रखते हुए तप करूंगा, प्राणियों का आरंभ समारंभ नहीं करूंगा तथा धर्माराधना हेतु शुद्ध संयम का पालन करूंगा। ऊँची, नीची और तिरछी दिशाओं में जितने त्रस और स्थावर प्राणी हैं, अपने हाथ पैर और काया को वश में करके उन्हें किसी तरह से दुःख नहीं दूंगा तथा दूसरे द्वारा बिना दी हुई वस्तु भी ग्रहण नहीं करूंगा। मैं श्रुत धर्म और चारित्र धर्म को यथार्थ रूप से कहूंगा, वीतराग देवों की आज्ञा में निःशंक बनूंगा एवं समस्त प्राणियों को अपने समान मानूंगा। मैं विवेक और समाधि में रहते हुए अपनी आत्मा को धर्म में स्थिर करूंगा तथा प्राणातिपात आदि पापों से पूर्णतया निवृत्त होऊंगा। मैं समस्त संसार को समभाव से देखूंगा—न कोई मेरा प्रिय होगा, न अप्रिय। परिषह एवं उपसर्ग आने पर अथवा अपनी पूजा एवं प्रशंसा के अवसरों पर संयम में मैं अविचल रहूंगा। असत्य के त्याग को मैं सम्पूर्ण समाधि और मोक्ष का मार्ग मानकर सत्य की आराधना करूंगा। मैं न विषय विकार के लिए जीने की इच्छा रखूंगा, न दुःख से घबराकर मरने की, बल्कि शरीर पर भी ममत्व को त्याग कर सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर विचरूंगा।

यही नहीं, मैं सर्वविरति साधु अवस्था को दीपाते हुए पंडित मरण की अभिलाषा रखूंगा। विनय समाधि, श्रुत समाधि, तप समाधि तथा आचार समाधि का आनन्द लेकर मेरी आत्मा में इतनी

विशुद्धता व्याप्त हो जायेगी कि अपने इस जीवन के अन्त में मरण को सुधार कर सारे जीवन और आगामी भव को भी वह सुधार लेगी। विनय समाधि से मैं जितेन्द्रिय बनूंगा। श्रुत समाधि से ज्ञान प्राप्ति के लिए, चित्त को एकाग्र करने के लिए, विवेक पूर्वक धर्म में दृढ़ता प्राप्त करने के लिए तथा स्वयं स्थिर होकर दूसरों को धर्म में स्थिर करने के लिए मैं स्वाध्यायी बनूंगा। तप समाधि की दृष्टि से मैं न इस लोक के फल के लिए, न परलोक के फल के लिए और न कीर्ति, वाद, प्रशंसा या यश के लिए तप करूंगा, बल्कि मात्र निर्जरा के लिए ही तप करूंगा। मेरी आचार समाधि का उद्देश्य भी आश्रव निरोध और कर्म क्षय ही होगा। मैं मानता हूँ कि मन, वचन और काया से शुद्ध बन कर जो व्यक्ति संयम में अपनी आत्मा को सुस्थिर बनाता है और चारों प्रकार की समाधियों को प्राप्त कर लेता है, वह अपना तथा सबका विपुल हित करता है एवं अनन्त सुख देने वाले कल्याण रूप परम पद को प्राप्त कर लेता है।

यह मैं मान गया हूँ कि जिसको सम्यक् समाधि जीवन में और सम्यक् समाधि मरण में हो, वह जीवन धन्य हो जाता है। मैं भी ऐसे ही धन्य जीवन की आकांक्षा रखता हूँ।

'एगे आया' की दिव्य शोभा

ऐसा सम्यक् समाधिमय जीवन और मरण ही 'एगे आया' (एकात्मा) की दिव्य शोभा का प्रतीक होता है। एकात्मता का अर्थ है सभी आत्माओं की समानता। जो निरन्तर ज्ञान आदि पर्यायों को प्राप्त होता है, वह आत्मा है एवं सभी आत्माओं का ज्ञान, उपयोग या चैतन्य रूप लक्षण एक है अतः 'एगे आया' का सम्बोधन किया गया है।

मेरा विचार है कि यह सम्बोधन अतीव महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बोधन में न केवल संसार की समस्त आत्माएँ सम्मिलित है, अपि सिद्ध आत्माएँ भी सम्मिलित हैं। चैतन्य गुण सभी आत्माओं का है। गुण की दृष्टि से सभी बद्ध एवं बुद्ध आत्माओं में एकरूपता है। न्यूनाधिक विकास की दृष्टि से पर्याय भेद होता है किन्तु पर्याय भेद से स्वरूप भेद नहीं होता। इस दृष्टिकोण की महत्ता इस सत्य में समाहित है कि संसार में परिभ्रमण करने वाली आत्मा अपने अष्ट कर्मों को क्षय करके परमात्मा बनती है। आत्मा ही परमात्मा बनती है जिसका मूल सन्देश यह है कि परमात्मा अर्थात् मुक्त ईश्वर बनने का सामर्थ्य मेरी अपनी आत्मा और संसारी आत्माओं में रहा हुआ है। यह सन्देश ही संसारी आत्माओं के लिए पुरुषार्थ का प्रबल प्रेरणा स्रोत है कि ईश्वरत्व इस आत्मा से ऊपर कोई शक्ति नहीं है। इसलिए मेरे मन में यह उत्साह समा जाता है कि मूल स्वरूप से मैं भी ईश्वर हूं और ईश्वर बन सकता हूँ, काश कि ईश्वर बनने का मेरा आत्म-पुरुषार्थ पूर्ण रूप से सफल बन जाय। आत्मा अलग है और ईश्वर अलग है—ऐसा जो मानते हैं, वे आत्म-पुरुषार्थ का द्वार ही बंद कर देते हैं और आत्म-विकास की भावना को हताशा में डुबो देते हैं। यदि यह विचार जम जाय कि मैं सर्वशक्तिमान् नहीं हो सकता तो मैं निराश हो जाऊंगा कि मैं कोई भी शक्ति अर्जित नहीं कर सकूंगा। अतः आत्मा से परमात्मा बनने की धारणा ही वास्तविक धारणा है जो संसारी आत्माओं को समाधिस्थ होने की प्रेरणा देती है कि यह समाधि ईश्वरत्व की पूर्ण समाधि में परिवर्तित हो सकती है और जो प्राप्ति हो सकती है, उसके लिए ही सम्पूर्ण पुरुषार्थ लगा देने की उमंग सदा बनी रहती है। यही पुरुषार्थ को प्रबल बनाये रखने का प्रगतिशील पाथेय है।

प्रबल पुरुषार्थ की भावना ही मुझे और सभी प्राणियों को परस्पर एक समझने तथा एकरूप बनने की निष्ठा जगाती है। यही एकात्मता शिक्षा देती है कि परम धर्म रूप अहिंसा को अपने जीवन की समग्र वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों में गहराई से रमा लो—इतनी गहराई से कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि स्थूल प्राणी ही उसकी अहिंसा के रक्षा क्षेत्र में न हों बल्कि पृथ्वी, पानी, पवन, अग्नि, वनस्पति आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव भी अहिंसात्मक आचरण से सुरक्षित बन जाय। मैं इसीलिये संयम में सुस्थिर होकर सफल साधु जीवन की आकांक्षा रखता हूँ कि जिस जीवन में स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों की हिंसा न करने न करवाने और न करते हुए को अनुमोदन देने तथा सभी जीवों को अभयदान देने का महाव्रत लिया हुआ होता है। सभी छः काया के जीवों का संरक्षण ही 'एगे आया' का विराट् रूप है— उसकी दिव्य शोभा है।

यह विराट् रूप और दिव्य शोभा मेरे अन्तर्मन में रम कर एक रूप हो जाय तभी मैं अपना समस्त जीवन लोक कल्याण में विसर्जित कर सकता हूँ। यह विसर्जन ही अहिंसा का सर्वोत्कृष्ट आचरण कहलायेगा। यह भी मैं मानता हूँ कि जो अहिंसा का सर्वोत्कृष्ट आचरण बना लेता है, वही सत्य का साक्षात्कार भी कर सकता है। मैं मानता हूँ कि आत्मविकास की इस महायात्रा में यदि पूर्ण अहिंसामय आचरण परिपुष्ट बन जाता है तो पूर्ण सत्य का प्रकाश भी उस जीवन में खिल उठता है। सभी सिद्धान्तों को एक शब्द में यदि गूँथना चाहें तो वह है अहिंसा। अहिंसा अपनी आत्मा के प्रति कि वह कहीं भी हिंसक न हो और संरक्षक बनी रहे तथा अहिंसा संसार की समस्त आत्माओं के प्रति जो अहिंसा का रसास्वादन करके निर्भय बनें और सत्य शोधक बनें।

मैं देखता हूँ कि इसीलिए अहिंसा सम्पूर्ण धार्मिकता की सिरमौर है—परम धर्म है। अहिंसा का ही विधि रूप है दया, अनुकम्पा और करुणा। यही कारण है कि मेरे सुदेवों (वीतराग देवों) ने और सुगुरुओं (निर्ग्रंथ मुनि) ने दयामय धर्म को ही 'सुधर्म' कहा है। कौन प्रबुद्ध और सहृदय ऐसा व्यक्ति होगा, जो ऐसे सुदेव, सुगुरु और सुधर्म में अपनी सम्पूर्ण आस्था को प्रतिष्ठित करना नहीं चाहेगा ? ये तीनों तत्त्व जहाँ आस्था के मूल बन जाते हैं, वहाँ 'एगे आया' की निष्ठा भी सुदृढ़ वन जाती है और व्यक्ति स्व-पर कल्याण को अपना चरम लक्ष्य मानकर तदनुकूल पुरुषार्थमय साधना में संलग्न हो जाता है।

'एगे आया' की इस दिव्य शोभा को मैं मेरे भीतर अभिव्यक्त करने के लिए क्या पुरुषार्थ करूं —यह प्रश्न मेरे हृदय में उठता है। मेरी इस जिज्ञासा का समाधान आप्त वचनों में मिल जाता है कि मैं कुछ ऐसी साधना करूँ कि वीतराग, अरिहंत और तीर्थंकर बन सकूं। तीर्थंकर वे जो लोक-कल्याण के सर्व प्राणीहितकारी कार्य करते हैं तथा सर्वात्माओं के उत्थानकारी उपदेश प्रदान करके चार तीर्थों की स्थापना करते हैं। आत्मा के तरण-स्थल को तीर्थ कहते हैं और तीर्थों की छाया में प्रत्येक आत्मा को ऊर्ध्वगामिता प्राप्त होती है। ये तीर्थ हैं—साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका — जो व्यक्तिपरक नहीं, गुणपरक तीर्थ होते हैं। अहिंसा आदि की साधना में जो अपने आपको सर्वात्मना समर्पित कर देती है। वही आत्मा साधना के उत्कर्ष के बल पर अनंतज्ञानादि की अभिव्यक्ति पाती हुई भव्य आत्माओं के लिए तीर्थ रूप तारक बन जाती है। गुणमय चतुर्विध तीर्थों की स्थापना करने से ही ये महापुरुष तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर इसी कारण महानतम माने जाते हैं कि वे अरिहन्त (करमनाशक) बन कर वीतराग (राग द्वेष नाशक) तो होते ही हैं किन्तु लोक

कल्याण के शिखर पर विराजमान होकर तीर्थंकरत्व भी धारण करते हैं। वे सर्वहित में समाहित हो जाते हैं। सर्वहित में समाहित हो जाने वाले महापुरुष ही सर्वोच्च कहे जाते हैं।

तो मैं अपने अन्तःकरण में आकांक्षा रखता हूँ कि मैं भी तीर्थंकर बनूं और मेरी यह आकांक्षा पुरुषार्थमय उत्साह से परिपूरित है। आकांक्षा रखने से ही कोई भी आकांक्षा सफल नहीं हो जाती है अपितु उसके योग्य पुरुषार्थ करने की अपेक्षा रहती है। मैं आशावान हूँ कि मेरी आकांक्षा सफल हो सकती है और इसी कारण मैं परम पुरुषार्थी भी होना चाहता हूँ। मेरे सुदेवों ने मुझे भी सुदेव बन जाने का मार्ग दिखा रखा है और मैं उसी पर चल कर अपनी इस आकांक्षा को पूर्ण करना चाहता हूँ। मैं निम्नानुसार पुरुषार्थ कर सकूं तो मैं भी तीर्थंकर बन सकता हूँ :

(१) मैं उन अरिहन्त भगवान् के गुणों की नित स्तुति करूं और उनकी विनय भक्ति करूं, जिन्होंने चार घनघाती कर्मों का नाश कर दिया और जो अनन्त ज्ञान-दर्शनादि से सम्पन्न बन इन्द्र आदि द्वारा वन्दनीय बन गये।

(२) मैं उन सिद्ध भगवान् का भी गुणग्राम करूं और उनकी विनय भक्ति करूं जो सकल कर्मों के नष्ट हो जाने से कृतकृत्य हो गये, परम सुख एवं ज्ञान-दर्शन में लीन बन गये तथा लोकाग्र स्थित सिद्ध शिला से ऊपर ज्योति रूप विराजमान हो गये।

(३) मैं विनय भक्ति पूर्वक प्रवचन का ज्ञान सीखूँ और उसकी आराधना करूं तथा प्रवचन के ज्ञाता पुरुषों की विनय भक्ति करूं, उनका गुणोत्कीर्तन करूं तथा उनकी आशातना टालूं। बारह अंगों (आगमों) के ज्ञान को प्रवचन कहते हैं तथा उपचार से प्रवचन ज्ञान के धारक संघ को भी प्रवचन कहते हैं।

(४) मैं धर्मोपदेशक गुरु महाराज की बहुमान भक्ति करूं, उनके गुण प्रकाश में लाऊं एवं आहार, वस्त्रादि द्वारा उनका सत्कार करूं।

(५) मैं स्थविर महाराज के गुणों की स्तुति करूं, उनकी वन्दनादि रूप से भक्ति करूं तथा प्रासुक आहारादि द्वारा उनका सत्कार करूं। जाति, श्रुत और दीक्षा पर्याय के भेद से स्थविर (१) वयः स्थविर (आयुवृद्ध) (२) सूत्र स्थविर (ज्ञानवृद्ध) तथा (३) प्रव्रज्या स्थविर (दीक्षावृद्ध) रूप से तीन प्रकार के होते हैं।

(६) मैं बहुश्रुत मुनियों की वन्दना-नमस्कार रूप भक्ति करूं, उनके गुणों की श्लाघा करूं, आहारादि द्वारा उनका सत्कार करूं तथा उनके अवर्णवाद या उनकी आशातना का परिहार करूं। प्रभूत श्रुतज्ञानधारी मुनि को बहुश्रुत कहते हैं जो सूत्र-बहुश्रुत, अर्थ-बहुश्रुत या उभय बहुश्रुत होते हैं।

(७) मैं तपस्वी साधुओं की विनय भक्ति करूं, उनके गुणों की सराहना करूं, आहारादि द्वारा उनका सत्कार करूं एवं उनके अवर्णवाद व उनकी आशातना का परिहार करूं। तपस्वी मुनिराज वे जो अनशन-ऊणोदरी आदि छः बाह्य तपों तथा प्रायश्चित-विनय आदि छः आभ्यन्तर तपों की कठोर आराधना करते हैं।

(८) मैं निरन्तर ज्ञान में अपना उपयोग बनाये रखूं।

(९) मैं निरतिचार (विना अतिचार लगाये) शुद्ध सम्यक्त्व धारण करूं।

(१०) मैं ज्ञान आदि का यथायोग्य विनय करूं।

(११) मैं भावपूर्वक शुद्ध आवश्यक प्रतिक्रमण आदि कर्त्तव्यों का पालन करूं।

(१२) मैं निरतिचार शील और व्रत अर्थात् मूल गुण एवं उत्तर गुणों का पालन करूं।

(१३) मैं सदा संवेग भावना एवं शुभ ध्यान का सेवन करता रहूं।

(१४) मैं यथाशक्ति बाह्य एवं आभ्यंतर तपों की आराधना करता रहूं।

(१५) मैं सुपात्र को साधुजनोचित प्रासुक अशन आदि का दान दूं।

(१६) मैं आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, नवदीक्षित, सहधार्मिक, कुल, गण, संघ की भक्तिभावपूर्वक वैयावृत्त्य करूं जो इस प्रकार हो सकती है कि मैं आहार लाकर दूं, पानी लाकर दूं, आसन लाकर दूं, उपकरण की प्रतिलेखना करूं, पैर पूंजू, वस्त्र दूं, औषधि दूं, मार्ग में सहायता दूं, दुष्ट, चोर आदि से रक्षा करूं, उपाश्रय में प्रवेश करते हुए म्लान या वृद्ध साधु की लकड़ी लूं, तथा उनके उच्चार, प्रश्रवण एवं श्लेष्म के लिये पात्र दूं।

(१७) मैं गुरु आदि का कार्य-सम्पादन करूं तथा उनके मन को प्रसन्न रखूं।

(१८) मैं नवीन ज्ञान का निरन्तर अभ्यास करता रहूं।

(१९) मैं श्रुत की भक्ति और बहुमान करूं।

(२०) मैं देशना द्वारा प्रवचन की प्रभावना करूं।

ये बीस बोल (बातें) हैं जिनकी मैं जितनी गहराई से साधना कर सकूं, करूं तो मैं आशा रख सकता हूँ कि इस साधना के फलस्वरूप मैं भी कभी तीर्थंकर पद प्राप्त कर सकूंगा। यह तीर्थंकर पद 'एगे आया' की दिव्य शोभा का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। मेरा लक्ष्य तो सर्वकर्म मुक्त सिद्धावस्था पाना है।

चौथा सूत्र और मेरा संकल्प

मैं सुज्ञ हूँ इसलिए अपने और सबके कल्याण का सुमार्ग जानता हूँ और मैं संवेदनशील हूँ अतः दयामय हूँ- किसी के दुःख को देख नहीं सकता तो भला अपनी ही आत्मा के दुःखों को क्या मैं देख सकूंगा? और जब मैं उन्हें देखूंगा तो मुझे लगेगा कि मेरे अपने मानस वचन और कर्म की तुच्छता से बढ़कर मेरे लिये और क्या दुःख हो सकता है? मेरी सुज्ञता और मेरी संवेदनशीलता मुझे अनुप्राणित करती है कि मैं अपनी जड़ग्रस्तता के स्वरूप और उसके कारणों की खोज करूं। यह खोज मुझे बताती है कि यह सारी जड़ग्रस्तता मुझे अष्ट कर्मों से बांधती है तो फिर ये बंधे हुए अष्ट कर्म मेरे भीतर अज्ञान एवं अविवेक की मौजूदगी से मेरी जड़ग्रस्तता को बढ़ाते ही रहते हैं तथा मेरी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों को अधिकाधिक तुच्छ व हीन बनाते रहते हैं।

यह तुच्छता और हीनमन्यता ही मेरी सबसे बड़ी आन्तरिक दुर्बलता बन जाती है जिसकी वजह से मेरी दृष्टि विकृत बनकर अपनी आत्मा के मूल स्वरूप को ही नहीं देख पाती है, मेरा ज्ञान मेरे दमित पुरुषार्थ को जगा नहीं पाता है एवं मेरा उपयोग अपने ही विकारग्रस्त स्वरूप की गहरी परतों को भेद नहीं पाता है। इसलिये मैं संकल्प लेता हूँ कि मैं मेरे मानस, मेरी वाणी तथा मेरे कर्म की तुच्छता को मूल से मिटा देने का कठिन पुरुषार्थ करूंगा और यह पुरुषार्थ होगा शुभ कर्मों के

वंध से लेकर सम्पूर्ण कर्म क्षय तक का और मेरे इस पुरुषार्थ का अवलम्बन होगा वह दयामय सुधर्म जो अन्तःकरण को करुणा से आप्लावित करता हुआ समस्त विश्व को दयामय बना देने की क्षमता रखता है।

सुमर्यादित रहकर मैं संकल्प लेता हूँ कि मैं ऐसे दयामय धर्म की आराधना करूंगा। लोक कल्याण से अपनी महानता का निर्माण करूंगा तथा 'एगे आया' की दिव्य शोभा को साकार रूप दूंगा।

अध्याय छः

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : ५ :

मैं समदर्शी हूँ, ज्योतिर्मय हूँ!

मुझे सोचना है कि मेरा मन कहाँ-कहाँ घूमता है,

वचन कैसा-कैसा निकलता है और

काया किधर-किधर बहकती है?

अन्तर्ज्योति के जागरण से मुझे प्रतीति होगी कि अंधकार की परतों में पड़ा हुआ मेरा मन भौतिक सुख-सुविधाओं की ही प्राप्ति हेतु विषय-कषायों में उलझकर कितना मानवताहीन, वचन कितना असत्य-अप्रिय तथा कर्म कितना विद्रूप-अधर्ममय हो गया है? मैं दृढ संकल्प के साथ मन, वचन एवं काया के योगों को सम्पूर्ण शुभता की ओर मोड़ दूंगा तथा भावनाओं के धरातल पर समदर्शी बनने का प्रयास करूँगा।

पांचवां सूत्र

मैं समदर्शी हूँ क्योंकि समदर्शिता मेरी आत्मा का मूल गुण है। मेरी यह समदर्शिता मेरे समभाव से उपजती है और समतामय बन कर पूर्णता प्राप्त करती है। मैं जब समग्र विश्व को समभाव से देखता हूँ, तब मेरी समदृष्टि होती है। समभाव और समदृष्टि एकमेक होकर जब मेरे प्रत्येक कर्म में समाविष्ट हो जाते हैं तब मेरा समूचा जीवन समता से ओतप्रोत बन जाता है। तब मैं न किसी को ऊँचा देखता हूँ, न किसी को नीचा। मैं न किसी का प्रिय करता हूँ, न किसी का अप्रिय। मैं तब अपने पराये के भेद से परे हो जाता हूँ। मेरी समदर्शिता मुझे निरपेक्ष आत्म-दृष्टा बना देती है।

मैं समदर्शी हूँ क्योंकि मैं सुज्ञ हुआ और संवेदनशील बना। मैं सबको अपना मानने लगा और मैंने अपना अपनत्व सबमें घोल दिया। सब मेरे और मैं सबका हो गया। स्व तथा पर के प्रति मेरी अभिन्न दृष्टि बन गई। मैं समदर्शी हो गया एवं स्वरूप को जान गया तथा उस पर श्रद्धावंत बन गया।

मैं समदर्शी हूँ इसलिए सबको—समस्त जीवों को समान भाव से देखता हूँ। सबको देखता हूँ तो अपने को भी देखता हूँ अपनी आत्मा को भी देखता हूँ। अपनी आत्मा के मूल गुणों को भी देखता हूँ तो उसके विकारों को भी देखता हूँ। जब मैं अपनी ही आत्मा के मूल गुणों को देखता हूँ और अपनी समदर्शिता का रसास्वादन करता हूँ, तब अनुभूति लेता हूँ कि मेरे अन्तःकरण में अमृत ही अमृत भरा हुआ है—ऐसा अमृत जो मुझे ही अमर नहीं बना देगा अपितु जहाँ-जहाँ वह झरेगा, वहाँ वहाँ अमरता की अमर बेल को सींचता चलेगा। अमृत झरता है तो अमिट शान्ति का झरना वह निकलता है और उस झरने के शीतल जल का जो भी स्पर्श पा जाता है, वह कृतकृत्य हो जाता है।

एक समदर्शी महात्मा थे। वे पाद विहार से एक नगर में पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि एक खुली जगह में कई पुरुष, कई स्त्रियां और कई बालक आश्रयहीन होकर भयंकर शीत से ठिठुरते हुए बैठे थे। उनका हृदय अनुकम्पा से भर उठा। वे उनके पास तक चले गये और बोले —क्या आप लोग निराश्रित हैं? हाँ महाराज, इसलिये ही तो यहाँ हैं—उन्होंने उत्तर दिया। महात्मा को क्या सूझा सो उन्होंने कह दिया—आओ, सभी मेरे साथ चलो। वे आगे हो गये और पीछे भीड़। चलते हुए वे सीधे राजमहल में पहुँच गये। महात्मा आये हैं—यह देखकर राजा ने उनका स्वागत किया किन्तु पीछे आम आदमियों की भीड़ को देखकर झुंझला उठा। वह धैर्य न रख सका और बोल पड़ा — आप पधारे सो श्रेष्ठ, किन्तु इन नीच लोगों को अपने साथ यहाँ कहाँ ले आये हैं? यह मेरा राजमहल है, यहाँ मेरी महारानियाँ रहती हैं, मेरे राजकुमार और मेरी राजकुमारियाँ रहती हैं। इन्हें मेरे यहाँ राजमहल के भीतर तक लाकर आपने शोभनीय कार्य नहीं किया है। महात्मा शान्त भाव से बोले—तुम्हारा विचार समीचीन नहीं है कि यहाँ सब कुछ तुम्हारा ही है। तुम भी यहाँ रह रहे हो, ये लोग भी रह लेंगे। यहाँ बहुत स्थान है —निराश्रित देखकर ही मैं इन्हें यहाँ ले आया हूँ। राजा की

भौंहें तन गई, चेहरा लाल होने लगा और उसके विद्रूप से वचन निकले —महात्मन्, शायद आपने अपना विवेक खो दिया है, तभी तो ऐसी अनर्गल बात कह रहे हैं!

महात्मा का शान्त भाव और गहरा हो गया। वे स्नेह से भी भर उठे, कहने लगे —राजन्, ये लोग भी दुःखी थे और तुम भी दुःखी हो। मुझसे किसी का दुःख नहीं देखा जाता—इसीलिए कह रहा हूँ और तुम इसे अनर्गल बताते हो। राजा कुपित हो उठा—मेरे इस वैभव को देखकर भी आप कहने की हिम्मत कर रहे हैं कि मैं दुःखी हूँ। हाँ राजा, क्या वैभव है तुम्हारा? धर्मशाला में ही तो रह रहे हो न? महात्मा की यह बात सुनकर तो राजा आपे से बाहर हो गया —आप हद से बाहर जा रहे हैं जो मेरे राजमहल को धर्मशाला बता रहे हैं!

महात्मा तो समदर्शी थे, राजा को भी यथार्थ रूप में सुखी बनाना चाहते थे उसको उसकी ममत्त्व-मूर्छा से दूर हटाकर। बोले—अच्छा, राजन् तुम यहाँ कितने वर्षों से रह रहे हो? राजा बोला—जन्म हुआ तब से। महात्मा ने पूछा—तुम कितने वर्ष के हो? राजा ने कहा —पैंतीस वर्ष का। महात्मा पूछते गये —तुम्हारे पिता कब स्वर्ग सिधारे? दस वर्ष पहले। तुम्हारे दादा कब स्वर्ग सिधारे? साठ वर्ष पूर्व। तुम्हारे जन्म से पहले यहाँ कौन रहता था? मेरे पिता रहते थे। उनके पहले कौन रहता था? मेरे दादा रहते थे। तुम्हारे स्वर्ग सिधार जाने के बाद यहाँ कौन रहेगा? मेरा राजकुमार रहेगा। तब महात्मा ने बात के मर्म को पकड़ा व कहा —तब तुम कैसे कहते हो कि यह राजमहल तुम्हारा है? तुम्हारे पिता, पिता के पिता, पिता के पिता और कई लोग रहते आये हैं और यहाँ तुम्हारे राजकुमार, राजकुमार के राजकुमार, राजकुमार के राजकुमार और कई लोग रहते रहेंगे— फिर यह राजमहल ही कहाँ रहा? धर्मशाला नहीं हो गया क्या? धर्मशाला में क्या होता है —एक आता है और एक जाता है। आने जाने के क्रम से ही धर्मशाला बनती है और धर्मशाला किसी की अपनी नहीं होती— फिर यह राजमहल तुम्हारा ही कैसे हैं? ये लोग भी यहाँ क्यों नहीं रह सकते हैं? जैसे इस धर्मशाला में तुम अपने परिवार सहित रहते हो, वैसे ये लोग भी रह लेंगे।

राजा सुनता रहा, सुनता रहा। उसे कुछ उत्तर देते नहीं बना। महात्मा की समदर्शिता उसकी दृष्टि में उतरने लगी। उसके भीतर के कपाट खुल गये। वह भाव विह्वल होकर महात्मा के चरणों पर लोट गया, झरते आंसुओं से बोला—महात्मन्, आपने मेरी बंद आंखें खोल दी है। मैं अंधा था और यह सब कुछ जो मेरा नहीं है, मेरा मानकर मूर्छाग्रस्त हो रहा था। अब मुझमें और इन लोगों में भेद नहीं है। इन्हें यहीं रहने की आज्ञा दे दीजिये महात्मन्, और आप भी यहीं विराजिये ताकि मेरी आंखें फिर से बन्द न हो। मैं समदर्शिता की प्रकाश किरण देख चुका हूँ।

मैं समदर्शी हूँ महात्मा के समान कि मुझे राजा और रंक एक समान दिखाई देते हैं। मैं समदर्शी बनता हूँ राजा के समान कि समदर्शिता का अमृत अहर्निश पीता रहूँ। मैं मिट्टी को सोना समझूं और सोने को मिट्टी के समान मानूं। ममत्त्व से ऊपर उठ कर मैं प्रत्येक आत्मा में अपनी ही आत्मा के दर्शन करूं।

मैं समदर्शी हूँ, तभी तो मैं ज्योतिर्मय हूँ। मेरी समता मुझे भीतर बाहर से एक अनूठे आलोक से आलोकित कर देती है। मैं ज्योतिर्मय हो जाता हूँ या यों कहूँ कि मेरे लिये समग्र विश्व ही ज्योतिर्मय हो जाता है। मुझे कहीं भी अंधकार दिखाई नहीं देता-न भीतर, न बाहर। प्रकाश ही प्रकाश फैला है अन्तरंगता में और बहिरंगता में। यह प्रकाश ही मेरा पथ है और पाथेय भी। यह

प्रकाश मेरे सिवाय अन्य कुछ नहीं, मैं ही हूँ। मैं ही ज्योतिर्मय हूँ क्योंकि सम्पूर्ण रूप से ज्योति में विगलित होकर एक दिन मात्र ज्योतिर्मय हो जाने वाला हूँ।

मैं ज्योतिर्मय हूँ—मुझे अपने भीतर जगमगाती हुई ज्योति को प्रकटित करनी ही है और इसलिए समदर्शी भी होना ही है। और समदर्शी होना है तो समभावी बनना है तथा समभावी बनना है तो अपने मन, वचन व शरीर को विषय-कषायों के अशुभ योग व्यापार से बाहर निकालना ही होगा तथा अपने मन, वचन एवं कर्म को समता से आप्लावित बना कर एक रूप करना ही होगा।

भौतिक सुखों की कामनाएँ

राजा की तरह मानव को भी महात्मा का संसर्ग-बोध मिलेगा जब मिलेगा। लेकिन अभी तो वह स्वयं राजा बना हुआ है और वह सोचता है यह कि भवन मेरा अपना है, कौन इसमें प्रवेश करने का साहस कर सकता है? मैं उसे सबक सिखा दूंगा। इसकी सम्पत्ति मेरी अपनी है- मैंने अर्जित की है—कोई इसे छू कर देखे। यह परिवार, यह पत्नी, ये पुत्र पुत्री मेरे अपने हैं —इनके सुख में ही तो मेरा सुख रहा हुआ है। और मेरा यह सुभग शरीर—इसे मैं किसी भी तरह कष्टित नहीं करना चाहता। इसी विचार धारा में वह आगे विचार करता है कि वह सब मेरे अपनों के लिए सुख-सामग्री चाहिये-सुविधा चाहिये। सामान्य सुविधा नहीं, भव्य सुविधा, संसार में उपलब्ध अधिक से अधिक ऊँची सुविधा। इन सुविधाओं के बारे में भी, प्राप्त मेरे लिये नगण्य हो जाती है और प्राप्य का क्षेत्र अति विस्तृत बन जाता है क्योंकि मेरी कामनाएँ अपार है। जो चारों ओर दिखाई देता है, मेरा मन करता है कि यह भी हो, वह भी हो और जो कल्पना लोक में ही घूमती हैं, वे सुविधाएँ भी मुझे मिलें। बाह्य संसार में जितना भौतिक सुख और वैभव है, वह सब मुझे प्राप्त हो जाय। मेरी इच्छाओं का मेरी कामनाओं का अन्तिम छोर मुझे कहीं भी दिखाई नहीं देता।

वह सोचता है कि मुझे धन चाहिये—अपार धन चाहिये। मुझे सत्ता चाहिये—अखंडित सत्ता चाहिये। लोग मुझे उच्च मानें, मेरे वर्चस्व को अपने सिर-माथे स्वीकारें और दिक्-दिगन्त में मेरी यशःकीर्ति की पताका फहरावें। उसे इस संसार के भौतिक सुख कितने चाहिये—इसका उसको खुद को अनुमान नहीं। जो प्राप्त होता जाता है, उसे भूलता रहता है। और प्राप्य के लिये भाग दौड़ करता है। इस भाग दौड़ का कहीं अन्त नहीं है। लाभ बढ़ता है लोभ बढ़ता है और ये लोभ-लाभ बढ़कर मुझे ममत्त्व की मूर्छा में सुलाते रहते हैं। मैं संज्ञाहीन सा बनकर समझ भी नहीं पाता हूँ कि मेरा मन कहाँ-कहाँ घूमता है, वचन कैसा-कैसा निकलता है और काया किधर-किधर बहकती है?

इतना ही नहीं, भौतिक सुखों की ये कामनाएँ मन में रात दिन चिन्ता रूपी ज्वालाएँ जलाये रखती हैं। कहाँ से कितना अधिक प्राप्त कर सकूँ—यही धुन सवार रहती है। भौतिक सुखों के संदर्भ में मुझे इस संसार में दो प्रकार के दृश्य देखने को मिलते हैं। एक तो वह वर्ग है कुछ लोगों का, जिनके पास अतुल वैभव, अबाध सत्ता और विपुल भोग-सामग्री विद्यमान है, फिर भी उन लोगों की तृष्णा थमी नहीं है। वे अपनी सत्ता और सम्पत्ति की शक्तियों के जोर से अधिक से अधिक अर्जित करते चले जाना चाहते हैं इस हकीकत का बिना खयाल किये कि उनकी वह सक्रिय तृष्णा कितने लोगों के जीवन को भारी आघात पहुँचा रही है। कुछ लोगों का यह वर्ग भौतिकता में मदमस्त बना हुआ है। कई लोगों का दूसरा ऐसा वर्ग है जो आर्थिक रूप से अति अभावग्रस्त है—जीवन निर्वाह की मूल आवश्यकताएँ तक इन लोगों को प्राप्त नहीं है। एक तो वे अपने ही अभाव से दुःखी हैं तो

दूसरे, सम्पन्न वर्ग के विलासी जीवन को देखते हुए सामाजिक विषमता से भी दुःखी हैं। यह अभावग्रस्त वर्ग अपनी अनुभव कटुता एवं विचार विश्रृंखलता में कई बार अपना सन्तुलन खो बैठता है क्योंकि इन लोगों की भौतिक कामनाएँ भी उद्दाम हो जाती है। अपवाद दोनों वर्गों में मिलेंगे, किन्तु अधिकांशतः दोनों ही वर्गों में अनैतिकता फैलती हुई दिखाई देगी। एक प्रकार से वर्तमान की आर्थिक विषमता भी भौतिक सुखों के लिये अभावग्रस्त या सम्पन्न, दोनों वर्गों की कामनाओं को भयंकर रूप से भड़काती है। यदि समाज में फैली आर्थिक विषमता मिटे और समानता का वातावरण बने तो नैतिकता एवं धार्मिकता की कई समस्याएँ भी सुन्दर समाधान पा सकती हैं।

परिग्रह की परिभाषा करते हुए मैंने अनुभव किया था कि एक व्यक्ति बिना परिग्रह रखे हुए भी परिग्रही या परिग्रहवादी हो सकता है तथा दूसरा व्यक्ति चक्रवर्ती सम्राट् जितना परिग्रह रखकर भी अनासक्तता के कारण अपरिग्रही या अपरिग्रहवादी जैसा हो सकता है। परिग्रह का भाव रूप अर्थ-विशेष महत्त्वपूर्ण होता है जो ममत्त्व के रूप में माना गया है। ममत्त्व का सम्बन्ध धन रूप परिग्रह से भी अधिक भावना के साथ होता है। परिग्रह नहीं है, अभावग्रस्त स्थिति है फिर भी अगर हाय-हाय लगी हुई है तो वह ममत्त्व की मार से परम दुःखी रहेगा। किन्तु आज दुरावस्था ऐसी है कि सम्पन्नों में से भी अधिकांश तथा अभावग्रस्तों में से भी अधिकांश लोग ममत्त्व की मार से दुःखी बन कर येन केन प्रकारेण परिग्रह, अर्थ के उपार्जन की अंधी दौड़ में बेभान भागे जा रहे हैं। वे यह भी नहीं सोच पाते कि जो अगणित कामनाएँ उन्होंने पाल रखी हैं या वे पालते हुए चले जा रहे हैं, क्या वे पूरी होने लायक भी हैं अथवा क्या उनका सारा श्रम उनकी पूर्ति कर लेने में समर्थ है? शान्त चित्त से वे इतना भी सोच लें तब भी कामनाओं के बोझ और तनाव को वे घटा सकते हैं। इतने—से चिन्तन के बाद तो वे अहिंसामय आचरण के लिये भी जागरूकता ग्रहण कर सकते हैं कि वे अपने उपार्जन का अधिक संचय न होने दें बल्कि अधिक का संविभाग करते रहें।

किन्तु मैं देखता हूँ कि भौतिक सुखों की कामनाओं के पीछे अधिकांश व्यक्ति सत्ता और सम्पत्ति के उपार्जन में बुद्धि और विवेक को तिलांजलि देकर मानो पागलों जैसी क्रियाएँ कर रहे हैं। अर्थ उनके माथे चढ़ गया है और वे भूत से अभिभूत बने जैसे भाग रहे हैं।

विषयान्ध इन्द्रियों का जाल

मैं सोचता हूँ कि मानव की अर्थोपार्जन की ऐसी अंधी दौड़ आखिर क्यों चल रही है? क्या होगा अधिक से अधिक अर्थ उपार्जित और संचित कर लेने के बाद? अर्थ के मामले को लेकर समझदार मनुष्य भी अपना सन्तुलन क्यों खो देता है?

मैं विचार करता हूँ कि अर्थोपार्जन की अँधता का प्रधान कारण है इन्द्रिय सुख। निर्वाह की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति तक के अर्थोपार्जन को तो छोड़ दें और उससे नीचे के वर्ग की दुर्दशा को भी एक वार अलग कर दें, किन्तु उन लोगों के लिये सोचें जो निर्वाह की आवश्यकताओं से अधिक और बहुत अधिक अर्जन करते हैं। क्या उद्देश्य होता है उनके अधिक से अधिक अर्थोपार्जन का? यही कि वे अपनी पांचों इन्द्रियों के विभिन्न विषयों को अधिक से अधिक विलास सामग्री के साथ भोगें। यह विषयान्ध इन्द्रियों का ही जाल होता है कि मनुष्य परिग्रही और परिग्रहवादी बनता है तथा ममत्त्व के जटिल बन्धनों से स्वयं ही बंध जाता है।

ये इन्द्रियां कैसी और कितनी होती हैं तथा ये अपने किन-किन विषयों रमणस्थलों में भ्रमण करती हैं—इसकी जानकारी मानव को होनी चाहिये, तभी इनके स्वरूप को समझ कर इन्हें उन स्थलों से हटा सकें जहां इन्हें रमण नहीं करना चाहिये तथा उन स्थलों पर नियोजित किया जाय जहाँ इन्हें रमण करना चाहिये।

ये इन्द्रियाँ शरीर की अंगभूत होती है, जिसमें आत्मा निवास करती है। चूंकि आत्मा सर्व वस्तुओं का ज्ञान करने वाली तथा भोग करने रूप ऐश्वर्य से सम्पन्न क्षमता वाली होने से इन्द्र कहलाती है, इसके इन अंगों को इन्द्रिय कहते हैं। ये इन्द्रियाँ आत्मा द्वारा इष्ट, रचित, सेवित और प्रदत्त होती हैं। अतः इन्द्रियाँ शरीर के उन साधनों को कहेंगे जो सर्दी, गर्मी, काला, नीला, गरम, ठंडा आदि विषयों का ज्ञान करती है, तथा जो अंगोपांग व निर्माण नाम कर्म के उदय से प्राप्त होती हैं।

ये इन्द्रियाँ पांच प्रकार की होती हैं।

(१) श्रोत्रेन्द्रिय—जिसके द्वारा जीव, अजीव तथा मिश्र शब्द का ज्ञान होता है।

(२) चक्षुरिन्द्रिय—जिसके द्वारा पांच प्रकार के वर्णों का ज्ञान किया जाता है।

(३) घ्राणेन्द्रिय—जिसके द्वारा आत्मा सुगंध और दुर्गंध को जानती हैं।

(४) रसनेन्द्रिय—जिसके द्वारा पांच प्रकार के रसों का ज्ञान किया जाता है।

(५) स्पर्शेन्द्रिय—जिसके द्वारा आठ प्रकार के स्पर्शों का ज्ञान होता है।

इन पांच प्रकार की इन्द्रियों की विशेष प्रकार की बनावट को संस्थान कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—बाह्य और आभ्यंतर। इन्द्रियों का बाह्य संस्थान भिन्न भिन्न जीवों के भिन्न भिन्न प्रकार का होता है—सभी के इन्द्रियों का बाहरी आकार एक-सा नहीं होता हैं किन्तु इन्द्रियों का आभ्यन्तर संस्थान सभी जीवों का एक-सा होता है। इसलिये इन्द्रियों के आभ्यंतर संस्थान का रूप इस प्रकार होता है— (१) श्रोत्रेन्द्रिय (कान) का संस्थान कदम्ब के फूल जैसा होता है। (२) चक्षुरिन्द्रिय (आंखें) का संस्थान मसूर के दाल जैसा। (३) घ्राणेन्द्रिय (नाक) का आकार अति मुक्त पुष्प की चन्द्रिका जैसा। (४) रसनेन्द्रिय (जीभ) का संस्थान खुरपे जैसा तथा (५) स्पर्शेन्द्रिय (शरीर) का आकार अनेक प्रकार का होता है।

अनभिज्ञ मनुष्य ही काम—परायण होते हैं, क्योंकि काम जीवन की समस्त शक्तियों का विनाशक होता है। इन्द्रिय-जन्य उपभोग की कामना करना सत्व रूप काम है तो शब्द, रूप, गंध, रस व स्पर्श का भोग करना द्रव्य काम कहलाता है। काम मूलतः दो प्रकार का कहा गया है—(अ) असम्प्राप्त अर्थात वैचारिक, जो दस प्रकार से उत्पन्न होता है— (आ) सम्प्राप्त अर्थात् मैथुनिक जो चौहद प्रकार से भोगा जाता है —

इसी प्रकार काम वेग दस प्रकार के परिणामों में प्रकट होता है— (१) चिन्ता भोग सम्बन्धी सोच विचार में पड़े रहना (२) दर्शनेच्छा —स्त्री मुख को देखते रहने की कामना करना (३) दीर्घ निश्वास—भोग पूर्ति न होने पर अथवा भोग चिन्ता में निराशापूर्ण श्वास लेना (४) ज्वर—काम ताप से पीड़ित हो जाना (५) दाह —काम ताप से बुरी तरह जलना (६) भोजन अरुचि—शारीरिक पीड़ा से भोजन में अरुचि पैदा हो जाना (७) महामूर्छा—अचेतनावस्था के दौरे पड़ना या

अचेतनावस्था बनी रहना (८) उन्मत्तता पागलपन के दौरे उठना (९) प्राणों में सन्देह बार बार मरणवत् स्थिति का बन जाना तथा (१०) मरण—दयनीय दशा में मृत्यु हो जाना।

एक कामी पुरुष का इस रूप में आरंभ और अन्त होता है। आरंभ उसे भोगने में बड़ा मधुर महसूस होता है किन्तु ऐसा कटुक अन्त सहते हुए भी उससे सहा नहीं जाता है। अत्यन्त मूर्छा भावों में उसका मरण परम दुःखदायी हो जाता है। यह समझने की आवश्यकता है कि ऐसे घोर दुःख देने वाले भीषण परिणाम युक्त इन पांचों इन्द्रियों के विषय और विकार क्या और किस रूप के होते हैं जो मनुष्य को लुभाकर उसका दुःखद अन्त कर देते हैं।

पांच इन्द्रियों का विषय परिमाण भी इस प्रकार बताया गया है—(१) श्रोत्रेन्द्रिय जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग से उत्कृष्ट बारह योजन से आये हुए शब्दान्तर और वायु आदि से अप्रतिहत शक्ति वाले शब्द पुद्गलों को विषम करती है। यह इन्द्रिय कान में प्रविष्ठ शब्दों को स्पर्श करती हुई ही जानती है। (२) चक्षुरिन्द्रिय जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग उत्कृष्ट एक लाख योजन से कुछ दुरी पर रहे हुए अव्यवहित रूप को देखती है। यह अप्राप्यकारी है। इसलिये रूप का अस्पर्श करके उसका ज्ञान करती है। (३-५) घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय तथा स्पर्शेन्द्रिय—ये तीनों इन्द्रिया जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग उत्कृष्ट नव योजन से प्राप्त अव्यवहित विषयों को स्पर्श करती हुई जानती हैं। इन्द्रियों का यह जो विषय परिमाण है उसे आत्मागुल से जानना चाहिये।

इन पांचों इन्द्रियों के काम-गुण होते हैं क्रमशः शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श। ये पांचों काम अर्थात् अभिलाषा उत्पन्न करने वाले गुण होते हैं। इन पांचों विषयों को प्रमाद जनित माना गया है। शब्द, रूप आदि पांचों विषयों में आसक्त प्राणी विषाद आदि को प्राप्त होते हैं अतः इन्हें विषय का नाम दिया गया है। शब्द, रूप आदि विषय भोग के समय मधुर होने से तथा परिणाम में अति कटुक होने से विष से उपमित किये जाने के कारण भी विषय कहलाते हैं। इस विषय प्रमाद से व्याकुल चित्त वाला जीव हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है, इसलिये इन इन्द्रियों के माध्यम से अकृत्य का सेवन करता हुआ वह चिर काल तक संसार के दुःखों में परिभ्रमण करता रहता है। पांचों प्रकार के विषयों में आसक्त प्राणियों में क्रमशः हिरण, पतंगा, भंवरा, मछली तथा हाथी के दृष्टान्त दिये जाते हैं, जो अपने इन्द्रिय—विषयों में इतनी गहराई से डूब जाते हैं कि उन्हें अपने प्राणान्त तक का भान नहीं होता। उसी प्रकार पांचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त जीव भी विषय का उपभोग करते हुए कभी तृप्ति का अनुभव नहीं करता है। विषय भोग में प्रवृत्त रहने से विषयेच्छा शान्त न होकर उसी प्रकार बढ़ती जाती है जिस प्रकार अग्नि में घी डालने से उसकी ज्वालाएं बढ़ती जाती हैं। विषय भोग में अति आसक्ति वाले जीव के दुःख तो इसी जीवन में देखने को मिल जाते हैं और वैसा जीव परलोक में भी नरक एवं तिर्यंच योनियों के महादुःख भोगता है। इसलिये विषय भोगों से निवृत्ति लेने तथा विषयान्ध इन्द्रियों के मोह जाल को तोड़ देने को ही कल्याणकारी कहा गया है।

पांचों इन्द्रियों के तेईस विषय तथा दो सौ चालीस विकार माने गये हैं —(अ) श्रोत्रेन्द्रिय के विषय— (१) जीव शब्द, (२) अजीव शब्द तथा (३) मिश्र शब्द। विकार-कुल बारह—तीनों प्रकार के शब्दों की शुभता और अशुभता से छः तथा छः पर राग और छः पर द्वेष होने से बारह। (ब) चक्षुरिन्द्रिय के विषय (१) काला (२) नीला (३) पीला (४) लाल और (५) सफेद। विकार

कुल साठ —पांचों विषयों के सचित्त, अचित्त तथा मिश्र के भेद से पन्द्रह और पन्द्रह अपनी शुभता व अशुभता से तीस तथा राग और द्वेष से साठ। (स) घ्राणेन्द्रिय के विषय —(१) सुगंध एवं (२) दुर्गंध। विकार बारह —दोनों के सचित्त, अचित्त एवं मिश्र के भेद से छः तथा इन पर राग और द्वेष से बारह। (द) रसनेन्द्रिय के विषय—(१) तीखा (२) कड़ुआ (३) कषैला (४) खट्टा और (५) मीठा। विकार साठ —पांचों विषयों के सचित्त, अचित्त व मिश्र रूप से पन्द्रह तथा पन्द्रह अपनी शुभता और अशुभता से तीस तथा तीस पर राग और द्वेष से साठ हुए। (य) स्पर्शेन्द्रिय के विषय—(१) कर्कश (२) मृदु (३) लघु (४) गुरु (५) स्निग्ध (६) रूक्ष (७) शीत और (८) ऊष्ण। विकार छियान्वे—आठ विषयों के सचित्त, अचित्त और मिश्र रूप से चौबीस तथा चौबीस अपनी शुभता और अशुभता से अड़तालीस तथा राग और द्वेष से छियान्वे। इस प्रकार सब मिलकर २४० विकार हुए।

मैं उपरोक्त विश्लेषण की कुछ गहराई में उतरना चाहता हूं। पांचों इन्द्रियों के जो अपने अपने विषय हैं, उन्हें ग्रहण करना उनका स्वभाव है और इसे सामान्य स्थिति ही मानेंगे। जैसे कि आंख का विषय है रंगों को देखना। जो रंग उनके सामने आवेंगे, वे उनके दृष्टि पथ से गुजरेंगे। जहां तक समक्ष आये हुए दृश्य पटलों का आंखों के दृष्टि पथ से सामान्य रीति से गुजरने का सवाल है, वहां तक कोई बुराई की बात नहीं है। बुराई वहां से पैदा होती है जहां से आसक्ति शुरू होती है। कल्पना करें कि आंखों के सामने कोई सुन्दर रूप आया, उसे एक तो आंखों ने स्वभावगत सामान्य रीति से देख लिया और वे अप्रभावित-सी रही और दूसरे, आंखों ने उस सुन्दर रूप को देखा, देखते रहने की कामना जागी और देखकर व्यामोह-सा होने लगा—आकर्षण पैदा हो गया तो समझें कि वह उन आंखों का आसक्ति भाव है। यह आसक्ति मन्द होगी तो आंखें उसे देखती हुई कुछ तृप्ति या कुछ अतृप्ति लेकर आगे बढ़ जायगी। यदि वह उग्र होगी तो वह वचन में उतर सकती है या काया के हाव-भाव में भी उतर सकती है। वैसी आसक्ति कोमल व्यवहार से अपनी कामना पूर्ति कर सकती हैं अथवा क्रूर व जघन्य रूप भी धारण कर सकती है। इस आसक्ति के उग्र रूप कई प्रकार के हो सकते हैं।

तो मैं मानता हूं कि इन्द्रियों के विषय इतने मुख्य नहीं, जितने उनमें आसक्ति के भाव मुख्य होते है। और यह आसक्ति मन का विषय बन जाती है। मन को जब बल मिलता है तो ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयो का सेवन करने में अंधी और बावली हो जाती है। यह अंधापन और बावलापन अधःपतन की कितनी नीची हद तक पहुंच सकता है— इसके दृश्य संसार मे चारों ओर नजर में आते रहते हैं। इन्द्रियों का यह अंधापन और बावलापन दो तरीकों से फूटता हैं। एक तो आंखों के सामने सुन्दर रूप आता है तब फूटता है और दूसरा जब आंखों के सामने इतना असुन्दर रूप आ जाय कि बरबस घृणा व ग्लानि जाग उठे, तब भी फूटता है। किन्तु इन दोनों तरीकों के फूटने में विपरीत अन्तर होता है। एक अंधापन और बावलापन तो फूटता है राग भाव से तथा दूसरा फूटता है द्वेष भाव से। मनोज्ञ याने मन को भावे ऐसे रूप पर राग जागता है और वह रूप मन को लुभाता है तो अमनोज्ञ याने मन को नहीं भावे ऐसे रूप पर द्वेष भाव से घृणा और ग्लानि जागती है। यद्यपि प्रवृत्तियाँ विपरीत दिशाओं में होती है किन्तु राग और द्वेष दोनों प्रकार की मनःस्थितियों में मन, वचन, काया की अशुभ हलचल होती है। यह अशुभता ही ऊपर विकारों के रूप में वर्णित की गई है।

विषय भोगों का यह अनुभव बाह्य रूप से इन्द्रियाँ करती हैं और उनके माध्यम से मन और आत्मा। भोग भोगने की क्रियाओं का वैचारिक प्रभाव मन और आत्मा पर पड़ता है तथा भोग-जन्य सुख अथवा दुःख का अनुभव भी वे ही लेते हैं। जैसे कि किसी का एक बैल किसी दूसरे के खेत में घुस गया और वह फसल चरने व उजाड़ने लगा, इतने में खेत का मालिक आ गया। इस नाजायज चराई के नतीजे में बैल भी डंडे खा सकता है लेकिन हर्जाने का वजन तो मालिक को ही भुगतना पड़ेगा। अगर किसी का बैल इस तरह उजाड़ करने की कई हरकतें करता रहें तो क्या उसका मालिक चेत नहीं जायगा? जरूर चेतेगा और बैल के नाथ डालकर उसे अपने नियंत्रण में रखेगा। किन्तु इन्द्रियों का मालिक मन और जीव ऐसी जिम्मेदारी को जल्दी नहीं पकड़ते हैं। इन्द्रियां अपने विषयों में आसक्त बनकर विकारपूर्वक भटकने लगती हैं और सद्‌गुणों की फसल को उजाड़ने लगती हैं, फिर भी मन जल्दी चेतता नहीं—जीव जल्दी जागता नहीं, बल्कि आधिक बार ऐसा होता है कि मन और आत्मा भी इन्द्रियों के साथ हो जाते हैं एवं उन्हीं के नियंत्रण में उजाड़ व बिगाड़ करने लग जाते हैं। बैलों को काबू में करने की बजाय अगर मालिक ही बैलों के पीछे - पीछे चलने लगे और उनके करने के मुताबिक खुद भी करता जाय तो उस मालिक की दुर्दशा को कौन मिटा सकता है?

मैं गंभीरतापूर्वक इस परिप्रेक्ष्य में अपनी इन्द्रियों, अपने ही मन और अपनी ही आत्मा पर एक समीक्षात्मक दृष्टि डालना चाहता हूं। पहली बात तो यह कि मेरा मन और मेरी आत्मा का नियंत्रण कौशल पूर्णतया दक्ष होना चाहिये जिसके कारण इन्द्रियाँ उस डोर से बंधी रहें नाथ लगे बैल की तरह। ऐसा तभी हो सकता है जब आत्मा का ज्ञान और विवेक पूर्ण रूप से जागृत हो। दूसरी बात यह हो सकती है कि आत्मा और मन का इन्द्रियों पर नियंत्रण अति कुशल न हो किन्तु एक बार उनके भटक जाने पर उन्हें यथाशक्य शीघ्रता से पुनः वहां से लाकर आत्मस्थ बना सके। तीसरी बात आत्मा और मन की सुप्तावस्था की होती है कि वे इन्द्रियों के विकारों को रोक पाने में अक्षम बने रहते हैं, यहां तक तो फिर भी ठीक है कि सोये हुओं को जगा दिया जाय तो फिर विकृति रुक जायगी। किन्तु जहाँ पर आत्मा और मन भी इन्द्रियों के भटकाव में भटक जाये और परम आसक्ति भाव से मूर्छित बन जाय, तब वह दुरावस्था चिन्तनीय बन जाती है।

आत्मा की ऐसी विदशा पर ही मैं समझता हूं कि वीतराग देवों ने चेतावनियाँ दी हैं कि इच्छा और भोग रूप कामनाओं का नाश करना अति कठिन है। काम भोगों की इच्छा रखने वाली आत्मा उनके प्राप्त न होने पर या उनका वियोग होने पर शोक करती है, खिन्न होती है, मर्यादा भंग करती है, पीड़ित होती है तथा परिताप करती है। काम भोग शल्य रूप है, विष रूप हैं और विषधर सर्प के समान है। काम भोगों का सेवन तो दूर रहा, मात्र उनकी अभिलाषा करने से ही आत्मा दुर्गति में जाती है। काम भोगों में आसक्ति रखने वाले प्राणी कर्मों का संचय करते हैं तथा अमित कर्मों से बंध कर संसार में परिभ्रमण करते हैं। विष के समान इन भोगों को खूब भोग लेने पर भी अन्त में कटुक, अनिष्ट तथा दुःखदायी परिणाम भोगने पड़ते हैं। विषयाभिलाषी आत्मा विषय सुखों के प्राप्त न होने से न उनके समीप होता है और न विषयाभिलाषा का त्याग करने के कारण वह उनसे दूर ही होता है। शब्द, रूप, गंधादि भोग भोगने पर आत्मा कर्म मल से लिप्त होती है किन्तु अभोगी आत्मा लिप्त नहीं होती है। भोगी अथवा भोग की लालसा वाला संसार के दुःखों में डूबा रहता है परन्तु अभोगी संसार बंधन से मुक्त हो जाता है। जैसे कालकूट विष स्वयं पीने वाले को,

उल्टा पकड़ा हुआ शस्त्र शस्त्रधारी को और मंत्रादि से वश नहीं किया हुआ बेताल तांत्रिक को मार डालता है, उसी प्रकार शब्द आदि विषय वाला साधु धर्म भी वेशधारी द्रव्य साधु को दुर्गति में ले जाता है। जैसे तृण काष्ठों से अग्नि तृप्त नहीं होती, हजारों नदियों के मिल जाने पर भी लवण समुद्र सन्तुष्ट नहीं बनता, उसी प्रकार काम भोगों से भी इस जीव को कभी तृप्ति नहीं हो सकती है। जो आत्मा मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ शब्द, रूप, गंध, रस एवं स्पर्श में राग एवं द्वेष नहीं करती है, वही आत्मा ज्ञान, वेद, आचार, आगम, धर्म और ब्रह्म को जानने वाली होती है।

कषाय विकारों की मलिनता

इन्द्रियाँ जो विषय भोग में रत बनती हैं, अपने पीछे विकृत भावनाओं का धुंआ छोड़ती जाती है, वहीं कषाय है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव को कषाय मलिन बनाती है। कष अर्थात् जन्म मरण रूप संसार की प्राप्ति जिन विकारपूर्ण वृत्तियों के कारण हो, वे कषाय वृत्तियाँ कहलाती हैं। ये वृत्तियाँ कषाय मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होती हैं। यह कषाय सम्यक्त्व, श्रावकत्त्व, साधुत्त्व तथा यथाख्यात चारित्र को नष्ट करने वाली होती है।

यह मेरा अनुभव है कि जब इन्द्रियाँ काम भोगों की प्राप्ति की तरफ उन्मुख बनती हैं तो वे उसकी विकृत छाप विचारों पर अवश्य छोड़ती हैं और जब वे काम भोगों में प्रवृत्त होती हैं व लिप्त बनती है तो उस रूप में विकार विचारों को—वृत्तियों को ढालते हैं। यदि किसी के पास काम भोग सामग्री प्रचुरता से उपलब्ध है तो उसके मन-मानस पर अहंकार छा जायगा। यदि उसकी उस उपलब्ध सामग्री को कोई छीनना चाहेगा तो वह क्रोध से भर उठेगा। उपलब्ध सामग्री को संचित करते रहने की वृत्ति उसे लालची बनायगी तो वह अपने लालच की कपटपूर्ण उपायों से पूर्ति करेगा। आशय यह है कि काम भोगों की लिप्तता के साथ कषायों की ज्वालाएं धधकती हैं जो आत्मा के चारित्र गुण को भस्म करती रहती हैं।

मूल रूप से इस कषाय के चार प्रकार कहे गये हैं जो प्रत्येक प्रकार की कषाय के साथ सम्बन्धित होते हैं—(१) अनन्तानुबंधी— जिस कषाय के प्रभाव से जीव अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता है। यह कषाय सम्यक्त्व तक की घात कर देता है तथा जीवन पर्यन्त वना रहता है। इस कषाय से जीव नरक गति के योग्य कर्मों का बंध करता है। (२) अप्रत्याख्यानावरण— जिस कषाय के उदय से देश विरति रूप अल्प त्यागप्रत्याख्यान भी नहीं होता है। इस कषाय से श्रावक धर्म की प्राप्ति नहीं होती। यह कषाय एक वर्ष तक बनी रह सकती है और इससे तिर्यंच गति के योग्य कर्मों का बंध होता है। (३) प्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के उदय से सर्व विरति रूप प्रत्याख्यान रुक जाता है अर्थात् साधु धर्म की प्राप्ति नहीं होती है। यह कषाय चार मास तक बनी रह सकती है और इसके उदय से मनुष्य गति के योग्य कर्मों का बंध होता है। (४) संज्वलन—जो कषाय परिषह या उपसर्ग के आ जाने पर मुनियों तक को भी थोड़ा-सा जलाती है। यह हल्की सी कषाय सबसे ऊंचे यथाख्यात चारित्र में बाधा पहुंचाती है। यह कषाय एक पक्ष तक बनी रह सकती है तथा इससे देवगति के योग्य कर्मों का बंध होता है। उपर्युक्त कषायों की स्थिति तथा गति का जो उल्लेख किया गया है, वह बाहुल्यता की अपेक्षा से है क्योंकि इसके अपवाद रूप उदाहरण भी पाये जाते हैं।

प्रज्वलनशील क्रोध

कषाय के चार भेद किये गये हैं—(१) क्रोध —कृत्य-अकृत्य के विवेक को हटाने वाले प्रज्वलन स्वरूप आत्म परिणाम को क्रोध कहते हैं। क्रोधवश जीव किसी की भी बात को सहन नहीं करता है और बिना विचारे अपने व पराये अनिष्ट के लिये हृदय के भीतर और बाहर जलता रहता है। क्रोधी समभाव को भूल जाता है और आक्रोश में भर कर दूसरों पर रोष करता है। काम से क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोध से आत्मगुणों का क्षय, विवेक शून्यता तथा सूक्ष्मनाड़ी तंत्र का नाश होता है। क्रोध से मानसिक, वैचारिक, वैयक्तिक, शारीरिक, नैतिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि कई प्रकार की असहिष्णुताएं जन्म ले लेती हैं। यह क्रोधाग्नि पहले स्वयं को जलाती है और फिर दूसरे को जलाती हुई स्व-पर दाहक बनती है।

क्रोध इन कारणों से उत्पन्न हो सकता है—(१) दुर्वचन से (२) स्वार्थ या कामपूर्ति में बाधा पड़ने से (३) अनुचित प्रतीत होने वाले व्यवहार से (४) भ्रम से या (५) विचार अथवा रुचि भेद से। क्रोध से उत्पन्न दोष इस रूप में हो सकते हैं —(१) दुस्साहसी बनना (२)चुगली करना (३) वैर बांधना (४) जलन रखना (५) दोष देखना, ढूंढना और आरोपण करना (६) दुष्ट ध्यान में रत रहना (७) कठोर वचन उच्चरित करना तथा (८) क्रूर व्यवहार करना।

क्रोध के चार प्रकार बताये गये हैं—(१) आभोग निवर्तित —पुष्ट कारण होने पर यह सोचकर कि ऐसा किये बिना सामने वाले को शिक्षा नहीं मिलेगी—जो क्रोध किया जाता है वह उस का आभोग निवर्तित प्रकार है। यह क्रोध क्रोध के विपाक को जानते हुए किया जाता है। (२) अनाभोग निवर्तित—जब कोई यों ही गुण दोष का विचार किये बिना परवश होकर क्रोध कर बैठता है अथवा क्रोध के विपाक को न जानते हुए क्रोध करता है तो उसका वह क्रोध अनाभोग निवर्तित होता है। (३) उपशान्त— जो क्रोध सत्ता (अस्तित्व) में तो हो लेकिन उदयावस्था में न हो, उसे उपशान्त क्रोध कहते हैं। (४) अनुपशान्त—जो क्रोध उदयावस्था में आ जाय, वह अनुपशान्त क्रोध कहलाता है।

क्रोध की उत्पत्ति के भी चार प्रकार कहे गये हैं—(१) आत्म प्रतिष्ठित जो अपने आप में ही क्रोध करता रहे। अपने पर ही क्रोध आवे और अपने को ही भीतर जलाता रहे। (२) पर प्रतिष्ठित—जो क्रोध दूसरे के कारण आवे और दूसरे पर बरसे। (३) उभय प्रतिष्ठित—जिस क्रोध का कारण और ठहराव अपने और दूसरे दोनों के निमित्त से हो। (४) अप्रतिष्ठित — जो क्रोध बिना किसी निमित्त के ही भड़क उठे।

कषाय के मूल प्रकारों के समान क्रोध के भी चार प्रकार इस रूप में बताये गये हैं : (१) अनन्तानुबंधी क्रोध—पर्वत के फट जाने पर जो दरार पड़ जाती है। जैसे उस दरार का मिलना कठिन होता है, वैसे ही इस प्रकार का क्रोध किसी भी उपाय से शान्त नहीं होता है। (२) अप्रत्याख्यानवरण क्रोध—सूखे तालाब आदि में मिट्टी के फट जाने पर दरारें पड़ जाती हैं किन्तु जब वर्षा होती है, तब वह फिर से मिल जाती है। वैसे ही इस प्रकार का क्रोध विशेष परिश्रम से शान्त होता है। (३) प्रत्याख्यानावरण क्रोध —बालू में लकीर खींचने पर कुछ समय में हवा से वह लकीर वापस भर जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध कुछ उपाय से शान्त हो, वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध कहलाता है। (४) संज्वलन क्रोध —पानी में खींची हुई लकीर जैसे खिंचने के साथ ही मिट जाती है, वैसे ही किसी कारण से उदय में आया हुआ इस प्रकार का क्रोध शीघ्र ही शान्त हो जाता है।

मूलतः क्रोध आत्मा के शुभ परिणामों का नाश करता है। वह सर्वप्रथम अपने स्वामी को जलाता है और बाद में दूसरों को। क्रोध से विवेक दूर भागता है और उसका विपरीत रूप अविवेक आकर जीव को अकार्य में प्रवृत्त करता है। क्रोध सदाचार को भी दूर करता है और मनुष्य को दुराचार में प्रवृत्ति करने को प्रेरित करता है। क्रोध वह अग्नि है जो चिर काल तक आराधित यम, नियम, तप आदि को पल भर में भस्म कर देती है। दोनों लोक बिगाड़ने वाला पापमय और स्व-पर का अपकार करने वाला यह क्रोध वास्तव में प्राणियों का महान् शत्रु है।

प्रमुख रूप से क्रोध को शान्त करने का एक ही उपाय है और वह है क्षमा। क्षमाभाव के आविर्भाव से शान्ति प्राप्त होती है और शान्त रह कर ही क्रोध पर विजय पाई जा सकती है। क्रोध को तात्कालिक रूप से शान्त करने के लिए इन उपायों का उपयोग किया जा सकता है : (१) क्रोध आते ही एकान्त में चला जावे (२) मौन होकर ध्यान करले (३) क्रोध न करने की अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण करे तथा प्रायश्चित रूप दंड का संकल्प ले (४) मन व विचार की दिशा बदल कर किसी अन्य कार्य में प्रवृत्त हो जावे अथवा (५) श्वास-निरोध द्वारा यौगिक क्रिया करे।

विनम्रता विनाशक मान

(२) मान—जाति आदि गुणों में अहंकार बुद्धि रूप आत्मा के परिणाम को मान कहते हैं। मानवश छोटे बड़े के प्रति उचित नम्र भाव नहीं रहता है। मानी व्यक्ति अपने को वड़ा समझने लग जाता है और दूसरों को तुच्छ समझता हुआ उनकी अवहेलना करता है। गर्ववश वह दूसरों के गुणों को भी सहन नहीं कर सकता हैं।

जैसे क्रोध के वश में हो जाने वाला मनुष्य सुख प्राप्त नहीं कर सकता है, वैसे ही मान के वश में हुआ मनुष्य भी शोक-परायण होता है अर्थात् हर समय चिन्तातुर रहता है। मान या मद आठ प्रकार का कहा गया है : (१) जाति मद (२) कुल मद (३) बल मद (४) रूप मद (५) तप मद (६) विद्या मद (७) लाभ मद और (८) ऐश्वर्य मद। इनमें से किसी भी प्रकार का मद या मान करना नीच गौत्र कर्म के बंध का कारण होता है। मान विवेक को नष्ट करता है तथा आत्मा को शील-सदाचार से पतित बना देता है। वह विनय का भी नाश करता है तो विनय के साथ ज्ञान का भी। एक मानी अपने को मान के माध्यम से ऊँचा वनाना चाहता है लेकिन वह इस तथ्य को नहीं समझ पाता है कि उस से उसके सब कार्य नीच होते हैं।

एक अभिमानी व्यक्ति (१) प्रदर्शन का आग्रही (२) अपमान का प्रतिशोधी (३) अहं का पुजारी (४) स्वयं का प्रशंसक (५) नाममोही (६) दूसरों को नीचा दिखाने की भावना वाला (७) अपनी आन्तरिक शक्तियों को नहीं पहिचानने वाला तथा (८) दूसरों से कुछ भी शिक्षा नहीं लेने वाला बन जाता है। इस वजह से वह इस प्रकार से हानि उठाता है : (१) उसके सद्गुणों का ह्रास होता है (२) उसकी उन्नति में अवरोध पैदा होते रहते हैं (३) उसकी वृत्तियाँ पापों के मूल तक पहुंच जाती हैं (४) उसके आत्म-विकास में बाधाएँ डाली जाती हैं (५) उसको समाज में सहयोग नहीं मिलता है (६) उसका मानी स्वभाव कई प्रकार की आसुरी वृत्तियों का जन्मदाता वन जाता है (७) उसकी ज्ञान प्राप्ति में व्यवधान आते रहते हैं तथा (८) उसके विनय गुण का नाश होता रहता है।

मान कषाय के भी चार प्रकार इस रूप में कहे गये हैं : (१) अनन्तानुवंधी मान —जैसे पत्थर का खंभा अनेक उपाय करने पर भी नहीं नमता, वैसे ही जो मान किसी भी उपाय से दूर नहीं

किया जा सके। (२) अप्रत्याख्यानावरण मान —जिस प्रकार हड्डी अनेक उपायों से नमती है, उसी प्रकार जो मान अनेक उपायों तथा अति परिश्रम से दूर किया जा सके। (३) प्रत्याख्यानावरण मान—जैसे काछ (लकड़ी) तेल वगैरा की मालिश आदि से नम जाता है, वैसे जो मान थोड़े से उपायों से नमाया जा सके तथा (४) संज्वलन मान —जैसे बेंत बिना मेहनत के सहज ही में नम जाती है वैसे जो मान सहज ही छूट जाता है।

जैसे क्रोध के चार प्रकार होते हैं, वैसे ही मान के भी चार प्रकार (१) आभोग निवर्तित (२) अनाभोग निवर्तित (३) उपशान्त तथा (४) अनुपशान्त होते हैं। मान के समानार्थक बारह नाम बताये गये हैं : (१) मान-कषाय (२) मद-हर्ष करना (३) दर्प-घमंड में चूर होना (४) स्तंभ-खंभे की तरह कठोर बने रहना (५) गर्व-अहंकार करना (६) अत्युक्रोश-अपने को दूसरों से उत्कृष्ट बताना (७) परपरिवाद-दूसरों की निन्दा करना (८) उत्कर्ष-अभिमान पूर्वक अपनी समृद्धि प्रकट करना और दूसरे की क्रिया से अपनी क्रिया को उत्कृष्ट बताना (९) अपकर्ष-अपने से दूसरों को तुच्छ बताना (१०) उन्नत-विनय को छोड़ देना (११) उन्नाम-वन्दनीय को भी वन्दन नहीं करना (१२) दुर्नाम-बुरी तरह से वन्दन करना।

मायाविनी माया

(३) माया—मन, वचन एवं काया की कुटिलता द्वारा परवंचना करना याने दूसरों के साथ कपटाई, ठगाई या दगा-धोखा करना। ऐसा आत्मा का परिणाम-विशेष माया कहलाती है। माया अज्ञान और अविद्या की जननी तथा अकीर्ति का कारण होती है। यदि माया के साथ तप, संयम आदि के अनुष्ठानों का सेवन किया जाता है तो वह भी नकली सिक्के की तरह असार होता है। वह स्वप्न तथा इन्द्रजाल की माया के समान निष्फल भी होता है। माया ऐसा शल्य है जो आत्मा को व्रतधारी नहीं बनने देता है क्योंकि व्रती का निःशल्य होना अनिवार्य है। माया इस लोक में तो अपयश देती ही है, परन्तु परलोक में भी दुर्गति देती है। यदि माया कषाय को नष्ट करनी है तो वह ऋजुता और सरलता के भाव अपनाने से ही नष्ट हो सकती है।

मायावी याने कपटी पुरुष सदा ही दूसरों का दास होता है क्योंकि दगाबाज सबके सामने दुगुना नमता है। माया सबसे बड़ा भय भी होती है जो गोपनीयता में पैदा होती है, लोभ में पनपती है, मान में अपना उठाव दिखाती है और क्रोध में बाहर प्रकट होती है। इसके विभिन्न रूप इस प्रकार गिनाये गये हैं—(१) कपट (२) मायाचार (३) प्रतारणा व वंचना (४) दंभ और आडम्बर (५) कुटिलता और जटिलता (६) दुराव तथा छिपाव आदि। इसी प्रकार माया के विविध रूपों को प्रकट करने वाले इसके समानार्थक चौदह नाम अन्यथा भी गिनाये गये हैं : (१) उपधि—किसी को ठगने के लिए प्रवृत्ति करना (२) निवृति—किसी का आदर सत्कार करके फिर उसके साथ माया करना या एक मायाचार छिपाने के लिए दूसरा मायाचार करना (३) वलय —किसी को अपने माया जाल में फंसाने के लिए मीठे-मीठे वचन बोलना (४) गहन—दूसरों को ठगने के लिये अव्यक्त शब्दों का उच्चारण करना या ऐसे गूढ़ तात्पर्य वाले शब्दों का प्रयोग करना व जाल रचना जो दूसरे की समझ में ही नहीं आवे (५) णूम —मायापूर्वक नीचता का आश्रय लेना (६) कल्क —हिंसाकारी उपायों से दूसरों को ठगना (७) कुरूप —निन्दित रीति से मोह पैदा करके ठगने की प्रवृत्ति करना (८) जिह्वाता—कुटिलतापूर्वक ठगने की प्रवृत्ति करना (९) किल्विष —किल्विषी सरीखी प्रवृत्ति

करना (१०) आदरणा —(आचरणा) मायाचार से किसी का आदर करना तथा ठगाई के लिए अनेक प्रकार की क्रियाएँ करना (११) गूहनता—अपने स्वरूप को छिपाना (१२) वंचनता—दूसरों को ठगना (१३) प्रतिकुंचनता —सरल भाव से कहे हुए वचन का खंडन करना अथवा उल्टा अर्थ लगाना (१४) सातियोग—उत्तम पदार्थ के साथ तुच्छ पदार्थों की मिलावट करना। इस प्रकार मायावी पुरुष लोगों को रिझाने के लिए कपट करने वाला, महापुरुषों के प्रति स्वभाव से ही कठोरता का व्यवहार करने वाला, बात बात में नाराज और खुश होने वाला, गृहस्थों की चापलूसी करने वाला, अपनी शक्ति का गोपन करने वाला तथा दूसरों के विद्यमान गुणों को भी ढांकने वाला होता है। वह चोर की तरह सदा सभी कार्यों में शंकाशील बना रहता है तथा कपटाचारी होता है। मूल कषाय की दृष्टि से माया के भी चार भेद कहे गये हैं — (१) अनन्तानुबंधी माया— जैसे बांस की कठिन जड़ का टेढ़ापन किसी भी उपाय से दूर नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार जो माया किसी भी प्रकार दूर न हो तथा सरलता रूप में परिणत नहीं हो सके। (२) अप्रत्याख्यानावरण माया—जैसे मेढ़े का टेढ़ा सींग अनेक उपाय करने पर बड़ी कठिनाई से सीधा होता है, उसी प्रकार जो माया अत्यन्त परिश्रम से दूर की जा सके। (३) प्रत्याख्यानावरण माया—जैसे चलते हुए बैल के मूत्र की टेढ़ी लकीर सूख जाने पर हवा आदि से मिट जाती है, उसी प्रकार जो माया सरलतापूर्वक दूर हो सके। (४) संज्वलन माया—छीले हुए बांस के छिलके का टेढ़ापन बिना प्रयत्न के सहज ही में मिट जाता है, वैसे ही जो माया बिना परिश्रम के शीघ्र ही अपने आप दूर हो जाय।

क्रोध और मान की तरह ही माया के भी चार प्रकार (१) आभोग निवर्तित (२) अनाभोग निवर्तित (३) उपशान्त और (४) अनुपशान्त कहे गये हैं।

जीर्ण न होने वाला लोभ

(४) लोभ—द्रव्य आदि विषयक इच्छा, मूर्छा, ममत्त्व-भाव, तृष्णा एवं असन्तोष रूप आत्मा के परिणाम विशेष को लोभ कहते हैं। लोभ कषाय सभी तरह के पापों का आश्रय होती है। लोभ के पोषण के लिए लोभी माया का सहारा लेता है। सभी जीवों में जीने की इच्छा प्रवल होती है और सभी मृत्यु से डरते हैं, लेकिन लोभ इसके विपरीत ऐसे कार्यों में प्रवृत्ति कराता है जिनमें सदा मृत्यु का खतरा बना रहता है। यदि मनुष्य ऐसी प्रवृत्ति में मर जाता है तो लोभ वृत्ति के परिणाम स्वरूप उसे दुर्गति में भीषण दुःख भोगने पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में उसका यहाँ का सारा शुभ परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। यदि लोभ से लाभ भी हो गया तो उसके भागी अन्य ही होते हैं। लोभी इतना नीच भी बन जाता है कि उसे स्वामी, गुरु, भाई, वृद्ध, स्त्री, बालक, क्षीण, दुर्वल, अनाथ आदि तक की हत्या करने में भी हिचकिचाहट नहीं होती है। यों कह सकते हैं कि नरक गति के कारणरूप जितने दोष बताये गये हैं, वे सभी दोष लोभ से प्रकट होते हैं। लोभ को दूर करना है तो उसका एक ही सबल उपाय है और वह है सन्तोष। इच्छाओं का संयमन करके ही लोभ का परिहार किया जा सकता है।

लोभी मनुष्य सदा ही अर्थपरायण होता है। वह तीन मनोवृत्तियों के चक्र में ही चक्कर काटता रहता है—(१) धन-लाभ की धुन (२) संग्रह और संचय की रट, तथा (३) स्वार्थ परायणता। हकीकत में धन लोभी के अधिकार में नहीं होता, वल्कि वह खुद ही धन के अधिकार में हो जाता है। वह अपने धन के पागलपन के सामने न सम्बन्धी या मित्र के हित को देखता है

और न अपने स्वयं के स्वास्थ्य के प्रति ही ध्यान देता है। लोभ से लाभ और लाभ से लोभ के ध्यान में वह सब कुछ भुला देता है। वह हमेशा रौद्र ध्यान में पड़ा रहता है और सबसे बैर बढ़ाता रहता है। परस्पर अविश्वास उसका पहला दुर्गुण बन जाता है और अनन्त इच्छाओं के भ्रम जाल में वह अपने जीवन को जीर्ण बना लेता है किन्तु उसका लोभ जीर्ण नहीं बनता।

लोभ के विभिन्न रूप उसके समानार्थक चौदह नामों से प्रकट होते हैं —(१) लोभ—सचित्त अथवा अचित्त पदार्थों को प्राप्त करने की लालसा रखना (२) इच्छा—किसी वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा करना (३) मूर्च्छा—प्राप्त की हुई वस्तुओं की रक्षा करने की निरन्तर इच्छा बनाये रखना (४) कांक्षा—अप्राप्त वस्तु की इच्छा करना (५) गृद्धि—प्राप्त वस्तुओं पर आसक्ति भाव बनाना (६) तृष्णा—प्राप्त अर्थ आदि का व्यय न हो ऐसे सोच में पड़े रहना (७) भिध्याविषय भोगों का ध्यान रखना (८) अभिध्याचित्त की चंचलता बनाना (९) कामाशा —इष्ट शब्द रूप आदि की प्राप्ति की कामना करना (१०) भोगाशा—इष्ट गंध, रस आदि की प्राप्ति की कामना करना (११) जीविताशा—जीते रहने की कामना करना (१२) मरणाशा—विपत्ति के समय मरने की कामना करना (१३) नन्दी—वांछित अर्थ की प्राप्ति पर आनन्द मनाना तथा (१४) राग-विद्यमान सम्पत्ति पर प्रगाढ़ राग भाव रखना।

क्रोध, मान एवं माया के समान लोभ के भी मूल कषाय रूप से चार भेद हैं— (१) अनन्तानुबंधी लोभ—जैसे किरमची रंग किसी भी उपाय से नहीं छूटता, उसी प्रकार जो लोभ किसी भी उपाय से दूर न हो। (२) अप्रत्याख्यानावरण लोभ—जैसे बैलगाड़ी के पहिये का कीटा (खंजन) परिश्रम करने पर अति कष्ट पूर्वक छूटता है, उसी प्रकार जो लोभ अति परिश्रम से कष्टपूर्वक दूर किया जा सके। (३) प्रत्याख्यानावरण लोभ—जैसे दीपक का काजल साधारण परिश्रम से छूट जाता है वैसे ही जो लोभ कुछ परिश्रम से दूर हो। (४) संज्वलन लोभ—जैसे हल्दी का रंग सहज ही छूट जाता है वैसे ही जो लोभ आसानी से स्वयं दूर हो जाय। लोभ भी चार प्रकार का अन्य कषायों की तरह ही होता है— (१) आभोग निवर्तित (२) अनाभोग निवर्तित (३) उपशान्त तथा (४) अनुपशान्त।

कषाय से मुक्त होना ही मुक्ति

कषायों की मलिनता का विश्लेषण जान कर मुझे आप्त वचन का स्मरण हो आता है कि एक दृष्टि से मुक्ति वास्तव में कषायों से मुक्त हो जाने में ही है। क्रोध आदि कषाय सांसारिकता की जड़ों को सींचते हैं और संसार के रंगों को गाढ़ा बनाते हैं। अपने चारों ओर तथा कई बार स्वयं को देखने पर मेरे यह तथ्य अनुभव में आते हैं कि कषायों के सेवन से परलोक की दुर्गति को एक तरफ रख दें तब भी इस जीवन में ही इसके जो दुखपूर्ण परिणाम सामने आते हैं, वे सामान्य विवेक की रौशनी में भी चौंकाने वाले होते हैं। क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान से विनयभाव की समाप्ति होती है, माया से मित्रता का नाश होता है और लोभ से प्रीति, विनय तथा मित्रता तीनों नष्ट हो जाते हैं।

चारों प्रकार की कषाय को जीतने के भी चार उपाय बताये गये हैं : —

(१) मैं क्रोध को शान्ति और क्षमा द्वारा निष्फल करके दबा दूं और क्षमावृत्ति को अभिवृद्ध बनाते हुए क्रोध को क्षय कर दूं—ऐसा मेरा पुरुषार्थ जागना चाहिये। कारण, मैं जानता हूं

कि क्रोध की अधिकता से नरक गति में जाना पड़ता है। इसलिये मैं चौरासी लाख योनियों के सभी जीवों से क्षमा मांगता रहूं, किसी भी जीव के साथ वैर-भाव नहीं रखूं तथा सभी प्राणियों के साथ अपने मैत्री भाव का विस्तार कर लूं। आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, सहधार्मिक, कुल और गण के प्रति भी मैं क्रोध आदि कषाय पूर्वक जो व्यवहार करूं, उसके लिये भी मन, वचन और काया से क्षमा चाहूं। मैं नतमस्तक होकर हाथ जोड़कर पूज्य श्रमण समुदाय से अपने सभी अपराधों के लिये विनयपूर्वक क्षमा मांगूं। धर्म में स्थिर बुद्धि होकर मैं सद्भाव पूर्वक सभी जीवों से अपने क्रोध-कषाय पूर्ण व्यवहार के लिये क्षमा चाहूं तथा सद्भाव-पूर्वक सभी जीवों के अपराधों को भी क्षमा कर दूं। क्षमा के साथ ही मेरे हृदय में अपूर्व शान्ति का संचार होगा, जिसके कारण उग्र से उग्र हेतु पैदा हो जाने पर भी क्रोध का मेरे ऊपर उग्र प्रभाव नहीं होगा।

(२) मैं मान पर मृदुता एवं कोमल व विनम्र वृत्ति द्वारा विजय प्राप्त करूं। ज्यों ही मान भाव मेरे मन मानस पर आक्रमण करें, मैं अधिक से अधिक मृदुता एवं विनम्रता ग्रहण कर लूं। मैं विनय को धर्म रूप वृक्ष का मूल मानूं जिसका सर्वोत्तम रस मोक्ष रूप में मिलता है। मैं विनय-साधना से ही पूर्णतः प्रशस्त श्रुत ज्ञान का लाभ ले सकता हूं। मैं जानता हूं कि विनीत पुरुष ही संयमवन्त होता है और जो विनयरहित है, उसको धर्म और तप कहां से हो सकते हैं? मैं गुरु की आज्ञा पालूं, उनके समीप रहकर सेवा करूं तथा उनके इंगितों व आकारों को भलीभांति समझूं तभी मैं विनीत शिष्य कहला सकता हूं। मैं जानता हूं कि गुरु का वचन नहीं सुनने वाला, कठोर वचन बोलने वाला और दुःशील का आचरण करने वाला शिष्य गुरु को भी क्रोधी बना देता है। इसके विपरीत गुरु की चित्त वृत्ति का अनुसरण करने वाला और अविलम्ब गति से गुरु का कार्य करने वाला विनीत शिष्य तेज स्वभाव वाले गुरु को भी प्रसन्न करके कोमल बना देता है।

मैं आप्त वचनों को स्मरण करके प्रतिपल विनय भाव से ओतप्रोत रहना चाहता हूं ताकि किसी भी रूप में मान का अविर्भाव न हो सके। क्योंकि अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है तथा विनीत को सम्पति प्राप्त होती है—जो ये दो बातें जान लेता है, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है। बुद्धिमान् पुरुष अहंकार के दुष्प्रभाव को तथा विनय के महात्म्य को समझकर विनम्र बनता है। लोक में उसकी कीर्ति होती है और वह सदनुष्ठानों का आधार रूप होता है जैसे कि पृथ्वी प्राणियों के लिये आधार रूप होती है। मान का परिहार करके तथा विनय को धारण करके ही मैं तिर्यंच गति को टाल सकता हूं। ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, मन विनय, वचन विनय, काम विनय और लोकोपचार विनय के रूप में मैं अपने सम्पूर्ण आचरण को विनय-भाव से आलोकित बनालूं।

(३) मैं ऋजुता और सरलता की भावनाओं से माया रूप कषाय का मर्दन करूं, जिस से कुटिलता मेरे भीतर प्रवेश तक न पा सके। मैं यह समझ कर अपने मायाचार की आलोचना करूं कि 'मायावी पुरुष इस संसार में सर्वत्र निन्दित और अपमानित होता है।' मायावी का परलोक भी गर्हित होता है—देव बने तो तुच्छ जाति का और मनुष्य बने तो वह नीच कुल में जन्म लेता है। मैं जानता हूं कि मायावी यदि अपनी आलोचना नहीं करता तो वह विराधक बन जाता है। इस कारण आराधक बने रहने के लिये मुझे बार-बार अपनी मायापूर्ण वृत्तियों व प्रवृत्तियों की आलोचना करते रहना चाहिये।

(४) मैं लोभ को जीतने के लिये सन्तोषभाव को शस्त्र के रूप में काम में लूं ताकि लोभ क्षत विक्षत होकर मेरे आत्म-परिणामों में से चला जावे। जब आवे सन्तोष धन तो फिर सब धन मेरे

लिये धूलि समान हो जायेंगे। सन्तोष धारण कर लेने पर लोभ मन्द होगा तो मेरी तृष्णा भी जीर्ण बनेगी तथा समुच्चय में परिग्रह के प्रति ही मेरा मूर्छा भाव घट जायगा। मैं सन्तोष से शान्ति प्राप्त करूंगा। शान्ति के साथ समस्त जीवों के प्रति मेरी प्रीति और धर्मानुरागिता रहेगी तथा सबकी मित्रता एवं लोकप्रियता मुझे मिलेगी। इतना होने पर भी मेरी विनम्रता नित प्रति बढ़ती रहेगी। यह सब सन्तोष का ही सुफल होगा।

मैं मान गया हूं कि क्षमा, नम्रता, सरलता और सन्तोष ये—चारों ही धर्म के द्वार हैं। सहज सरलता, सहज विनम्रता, दयालुता और अमत्सरता ये चार प्रकार के व्यवहार मानवीय कर्म हैं। इन के सुप्रभाव से मनुष्य पुनः मानव जीवन प्राप्त करता है। मैं यह भी मान गया हूं कि क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चारों कषाय पाप की वृद्धि करने वाली हैं, अतः आत्मा का हित चाहने वाला साधक इन दोषों का परित्याग कर दे। धर्म का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल मोक्ष है। जो मनुष्य क्रोधी अविवेकी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी और धूर्त है, वह संसार के प्रवाह में वैसे ही बहता रहता है जैसे जल के प्रवाह में काष्ठ।

मैं इस वीतराग वचन को अपने हृदय में धारण करके कि क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय अग्नि के समान समझूंगा व इस आग्नि को बुझाने के लिये प्रतिपल सतर्क रहूंगा तथा दानशील, सदाचार और तप रूपी शीतल जल की इन कषायों पर निरन्तर वर्षा करता रहूंगा। यही मुक्ति का मार्ग होगा।

बंध और मोक्ष का कारण मन

मैं कल्पना करूं कि एक रथ दौड़ रहा है जिसमें पांच घोड़े जुते हुए हैं। सारथी उस रथ को चला रहा है और रथ में बैठा हुआ है उसका स्वामी। अब मैं दो प्रकार के दृश्यों की कल्पना करता हूं। पहला तो यह कि रथ का स्वामी सावधान और सजग है—उसकी दृष्टि एकटक सारथी की ओर लगी हुई है कि वह रथ को कहाँ और किस तरह ले जा रहा है? क्या सारथी भी जगा हुआ और सतर्क है या नहीं, जो कि पांचों घोड़ों को सन्तुलन से चला रहा है। वह पांचों घोड़ों की चाल की एकरूपता का भी ध्यान रखता है ताकि कुछ भी इधर उधर होने पर सारथी को चेता सके। सारथी भी अपने स्वामी की सजगता को देखकर चौकन्ना रहता है और पांचों घोड़ों की रास को बराबर सम्हाल कर रखता है। घोड़े भी समझदार होते हैं —अपने सारथी के प्रत्येक संकेत का पूरा खयाल रखते हैं। ऐसी स्थिति में रथ किस तरह चलेगा? वह समतल भूमि या मार्ग पर ही चलेगा—एक-सा चलेगा जिससे भीतर बैठे हुओं को तनिक भी धक्का नहीं लगे। वह रथ तीव्र गति से भी चलेगा ताकि गंतव्य स्थान पर जल्दी से जल्दी पहुंच जाय। कभी ऐसा भी हो सकता है कि आराम से बैठे हुए रथ के स्वामी को एकाध नींद का झौंका लग जाय, तब भी सारथी एक हाक लगाकर घोड़ों को भी जरा तेज चला दे और उस हाक से अपने स्वामी को भी जगादें। रथ की गति तब निर्बाध रहती है क्योंकि रथ का स्वामी, सारथी और घोड़े सभी अपनी सावधानी बनाये रखते हैं।

दूसरा दृश्य यह हो सकता है कि रथ तो चल रहा है लेकिन वह किधर जा रहा है, कैसी चाल से चल रहा है और रथ के सामने क्या-क्या खतरे हैं—इन सबसे रथ का स्वामी बेभान हो—मजे से नींद में खर्राटे भर रहा हो। जब स्वामी बेभान हो तो सारथी अपने मन की करने से कब चूकता है? वह घोड़ों की रास को उधर ही घुमाता और उनको उधर ही चलता रहेगा जिस

ओर उसकी इच्छा हो अथवा यह भी हो सकता है कि स्वामी को सोया देखकर सारथी भी सो जाय। फिर क्या है? घोड़े ही जो ठहरे —उछल कूद मचाते हुए अपनी चाल से चलने लग जाय — रास्ते का ध्यान ही छोड़ दें। जिधर हरी हरी घास देखी उधर मुंह मोड़ दिया। किसी और तरफ ललचाये कि उधर चल दिये। वे न तो गंतव्य का ध्यान रखेंगे और न मार्ग या दिशा का। वे उल्टी दिशा में भी मुड़ जाय तो उनको रोकेगा ही कौन? वे घोड़े मस्त होकर रथ को बीहड़ में भटका सकते हैं। तो गढ्ढों में पटक कर उसको क्षत-विक्षत कर सकते हैं। रथ के नष्ट होने की दशा में भी स्वामी नहीं जागे—वह बड़ी दयनीय दशा हो जाती है। अंत तक भी स्वामी चेत जाय तब भी कुछ बचाव हो सकता है। किन्तु यह विदशा की कहानी है।

अब मैं इसके परिप्रेक्ष्य में अपनी ही हकीकत को देखना चाहता हूं। यह रथ है मेरा शरीर, जिसमें मेरा 'मैं' बैठा हुआ है—मेरी आत्मा। मेरे रथ का सारथी है मेरा मन और पांचों घोड़े हैं मेरी पांचों इन्द्रियाँ। इस, में कोई सन्देह नहीं कि मेरा रथ चल रहा है किन्तु विचारणीय विषय ये हैं कि क्या मेरा 'मैं' अपने रथ को भलीभांति देख रहा है? क्या उसकी अपलक दृष्टि अपने सारथी पर लगी हुई है? क्या उसकी पैनी नजर रथ के घोड़ों पर भी लगी हुई है? और सबसे बड़ी बात यह कि क्या रथ गंतव्य स्थान तक पहुंचाने वाले मार्ग पर चल रहा है अथवा मार्ग से भटक कर कुमार्ग पर या अमार्ग पर? इन सारी परिस्थितियों की जांच मेरे 'मैं' को करनी है क्योंकि रथ का स्वामी वही है और रथ स्वस्थ एवं सुन्दर गति से प्रगति करे —यह दायित्व भी उसी का है।

लेकिन जब मैं इतना सोचने के लिये बैठता हूं तो यह निश्चय मान सकता हूं कि मेरे 'मैं' में अवश्य जागरण की किरणें फैल रही हैं और यह सुव्यवस्था तथा प्रगति के लिये शुभ लक्षण है। मेरा 'मैं' जाग रहा है जिसका अर्थ है कि मैं जाग रहा हूं और रथ में बैठा हुआ मैं जाग रहा हूं तो सबसे पहले मेरी दृष्टि मेरे सारथी पर ही गिरनी चाहिये। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वात भी यही है। मैं राजा हूं, हर कर्मचारी से मैं सीधा क्यों भिड़ूं? अपने दीवान को ही ऐसी झाड़ पिलाऊं कि वह तुरन्त कर्त्तव्य परायण हो जाय क्योंकि दीवान अपना काम सम्हाल लेगा तो मुझे फिर किसी दूसरे को देखने की जरूरत नहीं रहेगी। दीवान पर नजर रखने से ही मेरा काम भली प्रकार चल जाएगा।

मन को मैं सम्हालूं, मन को मैं जांचूं परखूं, मन पर अपना पक्का कावू बनाऊं और मन को मैं अपनी मर्जी से चलाऊँ—यह सारा निग्रहकारी काम मुझे ही करना है। यह एकदम सही है कि मन ही मनुष्य के बंध और मनुष्य के मोक्ष का कारण है। मन रूपी सारथी को एकाग्र बना लिया तो घोड़ों की क्या हिम्मत कि वे अपनी चाल तो दूर, नजर को भी इधर उधर करें? मन मजवूत तो आत्मा की सुदृढ़ता को भी कौन डिगा सकेगा? एक मन को जीत लें तो पांचों इन्द्रियां स्वतः ही जीत ली जायगी इस प्रकार पांच इन्द्रियां कषाय और एक मन (आत्मा) दसों को भी जीत लिया जायगा। जव मन एकाग्र हो जाता है— गंतव्य की दिशा में आगे बढ़ने को एकनिष्ठ, तव रथ भी सन्तुलित चलता है तो रथ का स्वामी भी धर्मानुष्ठानों में सन्तुष्ट रहकर संलग्न हो सकता है। कारण, मन एकनिष्ठ तो वचन एकनिष्ठ और मन वचन एकनिष्ठ तो सकल प्रवृत्तियाँ एकनिष्ठा से ही प्रवर्तित होगी। फिर आत्मा को अपना समग्र पुरुषार्थ नियोजित करने में किसी भी प्रकार का व्यवधान कहाँ से आवेगा?

आत्म विकास की इस महायात्रा में जो घातक व्यवधान उत्पन्न होते हैं, वे मूल रूप में अपनी ही आन्तरिकता से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि बाहर से आने वाली भीषण से भीषण वाधा या

कठिनाई भी एक साधक को विचलित नहीं कर सकती है, यदि उसका मन मजबूती से सधा हुआ हो। मन को कैसे साधे—यही मेरे सम्मुख सबसे बड़ा प्रश्न है।

अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए मेरी आत्मा में जागरण की जो कमी रही है, उसके कारण सांसारिक विषयों में उसकी अधिक अभिरुचि रहती आई है। उसकी अभिरुचि की ही छाप मन और इन्द्रियों पर पड़ती आई है अतः सारी नियंत्रणहीनता फैली हुई है भीतर की प्रशासन व्यवस्था में। अब मैं जाग रहा हूं—यह ठीक है लेकिन मुझे सारी प्रशासन व्यवस्था को जगानी और सुचारू बनानी होगी और उसके लिये सर्वप्रथम मन को साधना पड़ेगा। इसको साधने का पहला चरण यह होगा कि मन की गति की दिशा बदल दी जाय। सांसारिक अभिरुचि के विषय-कषायों में जो मन की गति बनी हुई है—पहले तो उसका इस रूप में निग्रह करूं कि उस दिशा में उसे न जाने दूं—प्रवृत्ति के चक्र को विपरीत दिशा में घुमाऊं, उसे निवृत्ति की ओर मोड़ूं।

तो मेरा पहला काम यह हो कि मैं मेरे मन की सांसारिक विषयों में प्रवृत्ति को निवृत्ति में बदलूं —वह संसार की दिशा में दौड़ना बंद करदे। किन्तु क्या मन का दौड़ना मैं कभी भी बंद कर सकूंगा? मन बहुत ही चंचल और सदा गतिशील होता है। उसकी दौड़ कभी बन्द नहीं होगी। इसलिये उसकी निवृत्ति का अर्थ होगा —संसार के विषय कषायों से निवृत्ति, किन्तु तत्काल ही उसकी प्रवृत्ति का भी प्रबंध करना होगा कि उसे आध्यात्मिक, धार्मिक तथा लोकोपकार के क्षेत्रों में प्रवृत्ति कराई जाय। मन की दौड़ न तो बंद की जा सकती है, न बंद होती है। करना यह है कि सिर्फ मन की दौड़ की दिशा बदल दी जाय। अभी वह पश्चिम में दौड़ रहा है तो उसे पूर्व में दौड़ाना शुरू करा दिया जाय। एक प्रवृत्ति से निवृत्ति तथा दूसरी निवृत्ति से प्रवृत्ति ये यों तो मेरे दो काम होंगे लेकिन होगा असल में एक ही काम कि मन की गति की दिशा बदल दी जाय।मन दौड़ता रहे—यह मुझे अभीष्ट होगा, मगर गंतव्य की दिशा में दौड़े।

मन को इस प्रकार एक दिशा में निवृत्ति तथा दूसरी दिशा में प्रवृत्त कराने का काम मेरे लिये कोई आसान काम नहीं होगा। वह बार-बार पश्चिम में छलांग लगायगा और मुझे उसकी टांग पकड़-पकड़ कर पूर्व में धकेलना पड़ेगा। यह कशमकश लगातार और लम्बे अर्से तक चलती रहेगी। यह अवधि ही यथार्थ रूप में मेरा परीक्षा काल होगा। मैं मन को अपने काबू में कर ही लेता हूं या कि मन के आगे मैं अपनी हार मान जाता हूं—उसी रूप में मेरी परीक्षा का परिणाम सामने आवेगा। अतः प्रत्येक प्रतिभावान विद्यार्थी के समान मुझे भी इस परीक्षा में इसी कठिन संकल्प के साथ जुटना होगा कि मैं परीक्षा में सफल बनूं ही।

परीक्षा की इन घड़ियों में मुझे अतीव कठोर परिश्रम करना होगा। जब-जब मन अपने मनोज्ञ और रुचिकर भोग-विषयों की ओर अथवा तज्जन्य काषायिक वृत्तियों की ओर बढ़ने लगे, तब-तब मुझे उन विषयों से उसे दूर करते रहना पड़ेगा ताकि तज्जन्य काषायिकता उत्पन्न ही न हो। सोचें कि मन शब्द, रूप, गंध, रस या स्पर्श के मनोज्ञ पदार्थ को भोगने की इच्छा करे कि अमुक गाना सुनूं या अमुक रूप देखूं या कि अमुक रस चखूं तो तत्काल मुझे उसे उस गाने, रूप या भोजन से वंचित कर देना होगा। निग्रह के इस उपाय को बार-बार प्रयोग में लाने से तथा आध्यात्मिक चिन्तन में उसे लगा देने से उसकी इच्छाओं का अन्त होता जायगा। धीरे-धीरे उसकी एक ओर से निवृत्ति और दूसरी दिशा में प्रवृति सुचारू बनती जायगी। किन्तु ऐसा मेरी निर्मम कठोरता से ही हो

सकेगा। कि मैं मन को हर मौके पर बलात् पीछे खींचता रहूं। प्रारंभ में तो मेरी पूर्ण दृढ़ता ही मुझे सफलता दिला सकेगी किन्तु जब मन शुभ प्रवृत्ति में अभ्यस्त बनता जायगा तब वह आत्मनिष्ठ भी हो जायगा तो एकाग्र भी बन जायगा। तब वह अपनी भी अशुभ वृत्ति तक को प्रविष्ठ नहीं होने देगा।

मैं निग्रह एवं एकाग्र प्रक्रिया से मन को वश में करूंगा और देखूंगा कि मन पांचों इन्द्रियों को कड़ाई से वश में करे। राग के झौंकों और द्वेष के अंधड़ों को दूर हटाते हुए मैं चलूंगा कि मेरा मन और मेरी इन्द्रियां उनसे प्रभावित न हों। फिर वीतराग देवों के अमृतमय उपदेशों का चिन्तन मैं करूंगा, मेरा मन उनसे प्रभावित होगा और मेरी इन्द्रियां उन उपदेशों के अनुसार ही व्यवहार करेगी। मन में तब मैं न तो अधोमुखी संकल्प विकल्पों को उठने दूंगा और न ही उसे संशय में गिरने दूंगा। वह निःशंक होकर संयम के मार्ग पर सुस्थिर बनेगा तो घोड़े भी सरपट भागेंगे और रथ सबको सुरक्षित लेकर प्रगति करता रहेगा। मुझे सावधानी यही रखनी होगी कि यह मन भूल कर भी मैले में मुंह नहीं मारे या कि किसी तरह की गांठ न पटक दे। वह विशुद्ध भी बने और संयम में निर्ग्रंथ भी, मन निर्ग्रंथ हो जाय और आने वाली ग्रंथियों को सही तरीकों से सुलझाना सीख जाय तभी साधक सच्चा निर्ग्रंथ मुनि बन सकता है। ऐसा ही मन सारे बंध तोड़ कर साधक को मोक्ष तक पहुंचा सकता है।

मैं निश्चय कर चुका हूं कि बंध के कारण-रूप मन को उसकी दिशा बदल कर मैं मोक्ष का कारण भूत बना लूंगा। मैं एक पल भी असावधान नहीं रहूंगा या कि चैन नहीं लूंगा और मन को सम्हालता ही रहूंगा कि वह उन्मार्ग की दिशा में देखे तक नहीं। क्योंकि मैं जानता हूं कि यदि मैं मन की चंचलता को दूर करके उसे संयम में एकनिष्ठ नहीं बना सकूंगा तो मेरा जप-तप-ध्यान और ज्ञान-कोई भी अनुष्ठान सार्थक नहीं हो सकेगा। मन की मलिनता के साथ आत्म विकास की महायात्रा के पथ पर एक भी चरण स्वस्थ गति से आगे नहीं बढ़ सकेगा। इसलिये मन की मलिनता का मुझे प्रतिपल बोध होता रहे और उसको दूर करते रहने का मेरा पुरुषार्थ भी प्रति पल जागता हुआ रहे—इसकी मुझे समुचित व्यवस्था करनी होगी। ऐसा करूं कि मैं मन के सामने ऐसा दर्पण लगा दूं कि उसकी कोई भी हरकत मुझसे अजानी न रह सके।

यह है मन के लिये दर्पण

मन कितनी शुभता में घूमा है और कितनी अशुभता में—वह कितना मानवतायुक्त रहा है और कितना मानवताहीन—उसकी प्रतिच्छाया दिखाई देती है लेश्या के दर्पण में। मन के लिए मैं लेश्या को दर्पण मान लेता हूँ।

क्या होती है लेश्या? मन का जैसा योग व्यापार चलता है, वैसे ही कर्म आत्मप्रदेशों के साथ बंधते हैं। किन्तु इन दोनों की क्रियाओं का माध्यम होती है लेश्या। लेश्या वह बेरोमीटर होती है जिसमें मनोवृत्तियों का भी रंग दिखाई देता है और बंधने वाले कर्मों का भी। असल में लेश्या को रंग ही मान लीजिये जिससे मन के रंग की तुरन्त पहिचान हो सके। जिससे कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध हो, उसे लेश्या कहते हैं। या यों कहें कि जिसके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त होती है और जो लिप्तता योगों की प्रवृत्ति से उत्पन्न होती है। संक्षेप में, मन के शुभाशुभ भावों को लेश्या कहते हैं। मन के जो विचार हैं, उनको भाव लेश्या कहते हैं और जिन विचारों से आकर्षित होकर

लेश्या के पुद्गल आत्मा को लगते हैं, उन पुद्गलों को द्रव्य लेश्या कहते हैं। लेश्याओं के नाम द्रव्य लेश्याओं के आधार पर ही रखे गये हैं।

योग परिणामों के अन्तर्गत पुद्गलों के वर्णों की अपेक्षा से द्रव्य लेश्या छः प्रकार की कही गई है :

(१) कृष्ण लेश्या—काजल के समान काले वर्ण वाली यह लेश्या मन के उस रूप को दिखाती है जो पांच आश्रवों में प्रवृत्ति करता है, तीन गुप्तियों से अगुप्त रहता है, छः काया के जीवों की विराधना करता है, तीव्र भावों से आरंभ समारंभ करता है, निर्दयता के परिणामों के साथ क्रूर और नृशंस बनता है और इन्द्रियों को कतई वश में न रखते हुए दुष्ट भावों से युक्त बन कर प्रवृत्ति करता है। कृष्ण लेश्या के दर्पण में मन की जो प्रतिच्छाया आती है, वह कठोर, क्रूर परिणामधारी और अजितेन्द्रिय मन की होती है।

(२) नील लेश्या—अशोक वृक्ष के समान नीले रंग वाली इस लेश्या के माध्यम से मन का वह रूप प्रतिबिम्बित होता है जो ईर्ष्यालु, कदाग्रही, तपस्या नहीं करने वाला, अविद्यायुक्त, मायावी, निर्लज्ज, विषय भोगों में आसक्त, द्वेषी, मूर्ख, प्रमादी, रसलोलुप, भोगों की प्राप्ति के लिए कामुक, आरंभ से निवृत्त नहीं होने वाला, क्षुद्र, तुच्छ तथा दुस्साहसिक और वैचारिकता से हीन होता है। मन के ऐसे भाव नील लेश्या में अभिव्यक्त होते हैं। नील लेश्या वाला जीव सम्यक्ज्ञान एवं तपाराधन में शून्य होता है।

(३) कापोत लेश्या—कबूतर के समान रक्त-कृष्ण वर्ण वाली इस कापोत लेश्या के दर्पण में मन का वह स्वरूप दिखाई देता है जो वक्र (टेढ़ेपन से) विचारने वाला, वक्र वचन निकालने वाला तथा वक्र ही कार्य करने वाला होता है। ऐसे मन का मालिक अपने दोषों को ढकता है, छलपूर्वक बर्ताव करता है और सर्वत्र दोषों का ही आश्रय लेता है। वह मिथ्या-दृष्टि, अनार्य, चोर, मायावी, मत्सरी तथा मर्मभेदी शब्द कहने वाला और दूसरों की उन्नति नहीं सह सकने वाला होता है।

(४) तेजो लेश्या—तोते की चोंच के समान रक्त वर्ण के द्रव्य तेजोलेश्या के पुद्गलों का सम्बन्ध होने पर मन में ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है कि वह अभिमान का त्याग करके मन, वचन और शरीर से विनय वृत्ति वाला बन जाता है। वह चपलता रहित, माया रहित, कूतुहल आदि नहीं करने वाला, परम विनम्र भक्ति रखने वाला, इन्द्रियों का दमन करने वाला, स्वाध्याय आदि में रत रहने वाला, उपधानादि तप करने वाला, धर्म में सुदृढ़ रहने वाला, पाप से भय खाने वाला, सभी प्राणियों का हित चाहने वाला शुभ भावों से युक्त बन जाता है। तेजोलेश्या वाला जीव मुक्ति का अभिलाषी भी बन जाता है।

(५) पद्म लेश्या—हल्दी के समान पीले रंग वाली इस लेश्या के दर्पण में मन का स्वरूपवान् चेहरा सामने आता है। पद्म लेश्याधारी क्रोध, मान, माया, लोभ, रूप कषाय को मन्द बना देता है और शान्त चित्त रख कर अपने को अशुभ प्रवृत्तियों से दूर हटा लेता है। वह अल्प कषाय वाला, शान्त चित्त वाला, अपनी आत्मा का दमन करने वाला, स्वाध्याय तप आदि में निरत रहने वाला, परिमित बोलने वाला, सौम्य, उपशान्त और जितेन्द्रिय बन जाता है।

(६) शुक्ल लेश्या—शंख के समान श्वेत वर्ण के द्रव्य शुक्ल लेश्या के पुद्गलों का संयोग होने पर मन में ऐसा परिणाम होता है कि वह आर्त्त व रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म ध्यान व शुक्ल

ध्यान को ध्याता है[1] प्रशान्त चित्ती व आत्म शोधक बनता है, पांच समिति व तीन गुप्ति का आराधक होता है, अल्परागी अथवा वीतरागी, सौम्य, जितेन्द्रिय तथा उत्तम भावों से युक्त होता है।

इन छः लेश्याओं को समझने के लिए दो दृष्टान्तों का भी उल्लेख किया गया है।

पहला दृष्टान्त है। छः पुरुषों ने एक जामुन का पेड़ देखा। पेड़ पके हुए फलों से लदा था। डालियाँ भार से नीचे की ओर झुकी हुई थीं। यह देखकर सबको फल खाने की इच्छा हो गई। सोचने लगे-फल किस प्रकार खाये जायं? एक ने कहा—पेड़ पर चढ़ने से गिरने का खतरा है इस लिए इसे जड़ से काटकर गिरादें और सुखपूर्वक बैठकर फल खावें। दूसरा बोला—पेड़ को जड़ से काटकर गिराने से क्या लाभ? केवल बड़ी-बड़ी डालियां ही क्यों न काटी जाय? तीसरे ने सुझाव दिया —बड़ी-बड़ी डालियाँ न काटकर सिर्फ छोटी छोटी डालियाँ ही काटें। फल तो छोटी डालियों पर ही लगे हुए हैं। चौथे ने कहा— हमें तो फलों से प्रयोजन है, डालियाँ क्यों काटें? केवल फलों के गुच्छे ही तोड़ लें। पांचवा बोला —गुच्छे भी तोड़ने की क्या जरूरत है? केवल पके हुए फल ही नीचे गिरादें। छठा बोला—जमीन पर ही इतने फल गिरे हुए हैं जो हमारे सबके लिये पर्याप्त हैं। इन्हें ही खालें।

दूसरा दृष्टान्त इस प्रकार है। छः डाकू किसी गाँव में डाका डालने के लिए रवाना हुए। रास्ते में वे विचार करने लगे। पहला बोला—जितने भी मनुष्य और पशु हमको दिखाई दें, उन सबको हम मार डालें। दूसरे ने कहा— पशुओं ने हमारा कुछ नहीं बिगाड़ा है। हमारा तो मनुष्यों के साथ विरोध है इसलिये उन्हीं का वध करना चाहिये। तीसरे ने राय दी—स्त्री हत्या महापाप है, इस कारण क्रूर परिणाम वाले पुरुषों को ही मारना चाहिये। इस पर चौथे ने सुझाया —यह भी ठीक नहीं, शस्त्र रहित पुरुषों पर वार करना व्यर्थ है अतः हम सिर्फ सशक्त पुरुषों को ही मारेंगे। पांचवां कहने लगा— सशस्त्र पुरुष भी अगर डर के मारे भाग रहे हों तो उन्हें नहीं मारना चाहिये। जो शस्त्र लेकर हमसे लड़ने आवें, उन्हें ही मारा जाय। अन्त में छठे ने कहा—हम लोग डाकू हैं। हमें तो धन लूटना है इसलिये जैसे धन मिले वैसे ही उपाय करने चाहिये। एक तो हम लोगों का धन लूटें और दूसरे उन्हें मारें भी—यह उचित नहीं है। यों ही चोरी पाप और उस पर हत्या का महापाप क्यों करें?

दोनों दृष्टांतों के पुरुषों में पहले से दूसरे, दूसरे से तीसरे और इस प्रकार आगे से आगे पुरुषों के परिणाम क्रमशः अधिकाधिक शुभ हैं। इन परिणामों में उत्तरोत्तर संक्लेश की कमी एवं मृदुता की अधिकता है। छहों में इसी प्रकार लेश्याओं में भी क्रमशः परिणामों की विशुद्धता अधिकाधिक रूप से समझना चाहिये। छहों लेश्याओं में पहली तीन अधर्म लेश्या हैं तथा अन्तिम तीन धर्म लेश्या हैं। अधर्म लेश्या से जीव दुर्गति में तथा धर्म लेश्या से सुगति में जाता है। जिस लेश्या को लिये हुए जीव की मृत्यु होती है, तदनुसार ही उसे आगामी जन्म मिलता है।

भाव लेश्या के दो भेद बताये गये हैं—

(१) विशुद्ध भाव लेश्या —अकलुष द्रव्य लेश्या के सम्बन्ध होने पर कषाय के क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम से होने वाला आत्मा का शुभ परिणाम विशुद्ध भाव लेश्या है।

---

१. विशेष जिज्ञासु देखें सद्धर्म मण्डल, द्वितीय आवृत्ति, पेज ७२।७३

(२) अविशुद्ध भाव लेश्या—कलुषित द्रव्य लेश्या के सम्बन्ध होने पर राग द्वेष विषयक आत्मा के अशुभ परिणाम अविशुद्ध भाव लेश्या है। इन्हीं के आधार पर छः द्रव्य लेश्याएं हैं जिनमें से अन्तिम तीन विशुद्ध तो पहले की तीन अविशुद्ध भाव लेश्या समझी जाती हैं।

म लेश्याओं के दर्पण में सदा अपने मन को देखता रहूं तो उसकी प्रतिक्षण होने वाली गतिविधियां मुझसे छिपी हुई नहीं रह सकेगी और उस जानकारी के अनुसार मैं अपने मन पर प्रतिक्षण नियंत्रण साध सकूंगा। मन को पर्याप्त सीमा तक साध लेने पर मैं अपने मन, वचन तथा काया के सम्पूर्ण योग व्यापार पर अपना नियंत्रण स्थापित कर सकूंगा।

त्रिविध योग व्यापार

योग याने परिणाम अर्थात् भाव रूप व्यापार याने क्रियाएं तीन माध्यमों से संचालित होती हैं। सबसे पहला और बड़ा माध्यम होता है मेरा मन, जहाँ किसी भी वृत्ति का जन्म होता है। मन ही उस वृत्ति को पालता, पोषता और परिपक्व बनाता है। वही वृत्ति वचन बनकर तब मुंह से बाहर प्रकट होती है और तदनन्तर काया से जुड़ कर कार्य रूप में परिणत होती है। वृत्ति से वाणी, वाणी से प्रवृत्ति तथा प्रवृत्ति से विभिन्न वचनों और नई-नई वृत्तियों का अभ्युदय —इस प्रकार का त्रिविध योग व्यापार इस जीवन में चलता ही रहता है। मूल में मन शुभ होता है तो वृत्ति शुभ ढलती है और वही शुभता वाणी और प्रवृत्ति में भी बनी रहती है। योग व्यापार की इस शुभाशुभता का दार्शनिक रहस्य मैं जानना चाहता हूं।

योग क्या है ? वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम या क्षय होने पर मन, वचन, काया के निमित्त से आत्म प्रदेशों के चंचल होने को योग कहते हैं अथवा यों कह दें कि शक्ति विशेष से होने वाले साभिप्राय आत्मा के पराक्रम को योग कहते हैं। योग एक शक्ति रूप है, जिस का शुभ अथवा अशुभ अभिप्राय के लिये मन, वचन तथा काया के माध्यम से प्रयोग किया जा सकता है। इस रूप में योग एक शक्ति अथवा पराक्रम का रूपक होता है। यह योग तीन प्रकार का होता हैः —

(१) मनोयोग—आन्तरिक मनोलब्धि होने पर मनोवर्गणा के आलंबन से मन के परिणाम की ओर झुके हुए आत्म प्रदेशों का जो व्यापार होता है, उसे मनोयोग कहते हैं। ऐसी मनोलब्धि नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के परिणाम स्वरूप प्राप्त होती है।

(२) वचन योग—आन्तरिक वाक् लब्धि उत्पन्न होने पर वचन वर्गणा के आलम्बन से भाषा परिणाम की ओर अभिमुख आत्म प्रदेशों का जो व्यापार होता है, वह वचन योग कहलाता है। यह वाक् लब्धि मतिज्ञानावरण, अक्षर श्रुत ज्ञानावरण आदि कर्म के क्षयोपशम से होती है।

(३) काम योग—औदारिक आदि शरीर वर्गणा के पुद्गलों के आलम्बन से होने वाले आत्म प्रदेशों के व्यापार को काम योग कहते हैं।

इन्हीं मुख्य भेदों के विस्तार से योग के पन्द्रह भेद किये गये हैं— (१) सत्य मनोयोग, (२) असत्य मनोयोग (३) मिश्र मनोयोग (४) व्यवहार मनोयोग (५) सत्य भाषा (६) असत्य भाषा (७) मिश्र भाषा (८) व्यवहार भाषा (९) औदारिक (१०) औदारिक मिश्र (११) वैक्रिय (१२) वैक्रिय मिश्र (१३) आहारक (१४) आहारक मिश्र तथा (१५) कार्मण योग। इनमें से सं. १ से ४ मनोयोग से सं. ५ से ८ वचन योग से तथा सं. ९ से १५ काम योग से सम्बन्धित हैं। मन, वचन,

काया की शुभाशुभता का परिचय इन भेदों से होता है। मनोयोग एक शक्ति है, उसका उपयोग सत्य के लिये हो सकता है, असत्य के लिये हो सकता है, सत्यासत्य (मिश्र) के लिये हो सकता है अथवा व्यावहारिक दृष्टि की सम्पूर्ति के लिये हो सकता है जो विभिन्न रूपिणी हो सकती है। इसी प्रकार वचन योग रूप शक्ति का भी और काम योग रूप शक्ति का भी उपयोग हो सकता है।

मुझे अपने भीतर में चल रहे तथा तदनुसार बाहर भी प्रकट होने वाले योग व्यापार को देखना, परखना और वास्तु स्वरूप जानना चाहिये ताकि मैं उस त्रिविध योग व्यापार को अशुभता से शुभता की ओर, असत्य से सत्य की ओर तथा तुच्छता से उच्चता की ओर ले जा सकूं और शुभता, सत्य तथा उच्चता के क्षेत्र में भी उन्हें अधिक उत्कृष्टता प्रदान कर सकूं।

योग व्यापार की परख-प्रक्रिया से ही मुझे ज्ञात हो सकेगा कि अंधकार (अज्ञान) की परतों में पड़ा हुआ मेरा मन कितना मानवताहीन (विषय कषायों के दुष्प्रभाव से), मेरा वचन कितना असत्य और अप्रिय तथा कर्म कितना द्विरूप (दोगला) एवं अधर्ममय हो गया है? मुझे तब यह भी अनुभव होगा कि मनोयोग, वचन योग तथा कामयोग के रूप में मिली शक्तियों का मैंने कितना घोर दुरुपयोग किया है? जिस तकली से सूत कातकर रचनात्मक कार्य किया जाना चाहिये, उसकी नोक से मैंने आंखें फोड़ने का कुकृत्य किया है—यह हकीकत मुझे चौंकायगी और मुझे विवश करेगी कि अपने क्रियाकलापों पर अब तो कम से कम कड़ी नजर रखूं। मेरी विकृति की अनुभूति ही मुझे सत्कृति की ओर मोड़ेगी—यह मेरा विश्वास कहता है। इसी विश्वास के साथ मैं अपने समूचे योग—व्यापार को अधिकाधिक शुभता के क्षेत्र में ले जाने तथा वहीं बनाये रखने का अपना पुरुपार्थ गंभीर रूप से क्रियाशील बना दूंगा।

यों योग के दो भेद भी किये गये हैं—भाव योग और द्रव्य योग। पुद्गल विपाकी शरीर और अंगोपांग नाम कर्म के उदय से मनोवर्गणा, भाषा वर्गणा और कायवर्गणा के अवलम्बन से कर्म—नोकर्म ग्रहण करने की जीव की शक्ति विशेष को भाव योग कहते हैं तथा इसी भाव योग के निमित्त से आत्म प्रदेशों के परिस्पन्दन (कंपन) को द्रव्य योग कहा गया है।

यह योग व्यापार ही मानव के जीवनाचरण का मूल आधार है। जैसा आचरण चाहिये, उसी रूप में इस योग व्यापार को मोड़ देना होगा।

मानवीय मूल्यों का ह्रास

इस योग व्यापार के संदर्भ में मैं जब वर्तमान युग पर एक दृष्टि—निपात करता हूं तो अनुभव होता है कि आज यह योग—व्यापार सामान्यतया अत्यधिक मलिन एवं कलुषित होता जा रहा है। जब इसके कारण ढूंढता हूं तो एक बात समझ में आती है कि मूलतः मन का योग व्यापार बाह्य वातावरण को पृष्ठभूमि बनाकर ही अधिकांशतः चला करता है। इस वाह्य वातावरण में सामाजिक परिस्थितियों, विविध क्षेत्रों में भौतिक विकास, विभिन्न प्रकार की सुख सुविधाओं की उपलब्धि आदि सभी तथ्य सम्मिलित मानने चाहिये क्योंकि इन सभी का मनुष्य के मन-मष्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ता है। मनुष्य भी जब तक अन्तर्मुखी नहीं हो पाता है, तव तक मुख्य रूप से बहिर्मुखी वृत्ति वाला ही होता है। अतः बाह्य संसर्ग से उसके विचार उपजें, प्रकट होवें और अमल में आवें —यह स्वाभाविक है। विशेष रूप से आध्यात्मिक चिन्तन के अभाव में तो मनुष्य वाहरी जीवन ही प्रधान रूप से जीता है।

दूसरे मैं देखता हूं कि व्यक्ति समूह बना कर परिवार गांव या समाज रूप में रहते हैं तो उनके पारस्परिक सम्बन्धों के आधारभूत कारणों का भी मनुष्य के समग्र जीवन पर भारी असर पड़ता है। उनका पारस्परिक व्यवहार परम्परागत भी होता है तो स्थापित परम्पराओं में नई-नई परिस्थितियों के कारण परिवर्तन भी होते रहते हैं। इस दृष्टि से मैं हमारे अपने चारों ओर रहे हुए समाज की ही समीक्षा करूं तो आज से पचास वर्ष पहले के तथा आज के सामाजिक वातावरण में भारी अन्तर दिखाई देगा। इसी अन्तर में ही हम व्यक्ति के जीवन पर पड़ने वाले परिवर्तित प्रभावों की मीमांसा करते हुए उन परिस्थितियों की जानकारी ले सकते हैं जिन्होंने ऐसा अन्तर पैदा किया और उसी के दर्पण में हम बदलते रहने वाले योग व्यापार की दिशाओं का भी ज्ञान कर सकते हैं।

आज से पचास वर्ष पहले का समय हमसे कोई बहुत दूर नहीं रहा है लेकिन दोनों किनारों के सामाजिक वातावरण की तुलना करें तो बहुत दूरी दिखाई देती है। इस दूरी का कारण मुख्य रूप से भौतिक विज्ञान का विकास है जिसने अपने नये नये आविष्कारों से नई नई सुख सुविधाओं की रचना की है। आंखों के सामने सीधा सादा दृश्य हो तो दृष्टि की गति भी सीधी सादी ही रहेगी किन्तु सामने लुभावना रूप आ जाय तो दृष्टि की लोलुपता बढ़ जायगी और यदि सामने अति आकर्षक नाटकीय दृश्य उपस्थित हो जाय तो दृष्टि सब को भूलकर अपने ही सुख के लिये अधीर बन जायगी। वैज्ञानिक विकास ने विचारने और करने की दृष्टि में इसी रूप से परिवर्तन किया है। पहले समाज में जो एक खुला जीवन था कि व्यक्ति अपने पड़ोसी, अपने सम्बन्धी अथवा अपने समाज के हालचाल से वाकिफ रहता था—उनके दुःख सुख में बराबर शरीक होता था, वह खुला जीवन भौतिक सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने हेतु धन कमाने की अंधी दौड़ में धीरे-धीरे बंद होता गया है। आध्यात्मिक शब्दों में यों कहें कि पहले लोगों के मन, वचन, काम का योग व्यापार जो सामान्यतया अपने साथ सारे समाज के सहयोग रूप में पारस्परिक प्रेम एवं सहानुभूति को आधार बना कर मृदुता, सौजन्यता एवं सौहार्द्रता के साथ चला करता था, वही योग व्यापार आज अपने ही स्वार्थ के घेरों में बन्द होकर अत्यन्त कुटिलता, मलिनता और आक्रामकता के साथ चलता है। हृदय की उदारता के संकुचितता में बदल जाने के कुफल स्वरूप योग व्यापार में सामान्य रूप से ऐसा घृणित परिवर्तन आया है।

यही मानवीय मूल्यों में ह्रास का सबसे बड़ा कारण है। सामाजिक वातावरण में जितना खुलापन होता है, पारस्परिक सम्बन्धों का दायरा भी उतना ही व्यापक होता है और तदनुसार हृदय की उदारता भी उतनी ही मानवता पूर्ण होती है। व्यक्ति जब समाज में रहे और मानवीय सद्गुणों को अपने जीवन में नहीं अपना सके तो सामाजिक व्यवहार की सुचारूता का निर्माण ही कैसे हो सकता है? जब पारस्परिक सहयोग से हट कर व्यक्ति अपने ही स्वार्थों के संकुचित दायरे में बन्द हो जाता है तब सामाजिकता प्रभावहीन होने लगती है बल्कि दुष्प्रभावी हो जाती है क्यों कि संकुचितता से आर्थिक एवं अन्य प्रकार की विषमताएं बढ़ जाती हैं। किसी भी क्षेत्र में किसी भी रूप से समतामय वातावरण का घटना और विषमता का बढ़ना निश्चय रूप से मानवीय मूल्यों के ह्रास का ही संकेत होता है।

आज मैं देख रहा हूं कि राष्ट्र में व्यक्तियों की स्वार्थ परता अधिक नजर आ रही है, समाज में कोई व्यवस्थित कार्य प्रणाली कम देखी जाती है। स्वच्छन्दता के साथ अपना जोर आजमाने में

लगा हुआ है कि वह अपने ही लिये लूट मचा कर कितनी सत्ता और सम्पत्ति हस्तगत कर सकता है—संचित कर सकता है? सोचिये कि ऐसी मदमाती सम्पन्नता और तरसती अभावग्रस्तता की परिस्थितियों में व्यक्ति के सामान्य रूप से योग व्यापार की क्या अवस्था हो सकती है? जैसा बाहर दिखाई देगा, सुनाई देगा और महसूस किया जायगा, मन वैसा ही विचार करेगा—वैसी ही प्राप्तियों की कामना करेगा और वैसे ही उपायों से उनके लिये चेष्टारत बनेगा। जैसा मन का योग होगा, उसी रूप में वचन का और काया का योग ढलेगा। तब समग्र रूप में जीवन का उसी प्रकार का आचरण सामने आयगा। वहीं आचरण प्रतिबिम्ब होता है पूरे सामाजिक वातावरण का।

मैं मानता हूं कि मानवीय मूल्य शाश्वत होते हैं। उनके व्यवहार की विधि परिवर्तित हो सकती है किन्तु उनका मूल स्वरूप एक-सा रहता है। सामाजिक वातावरण ही मानवीय मूल्यों के परख की कसौटी होता है क्योंकि सामाजिक वातावरण व्यक्ति-व्यक्ति के ही सामूहिक व्यवहार का प्रतिरूप होता है। उसी कसौटी पर आज जब मानव मूल्यों को चढ़ाते हैं तो उनके ह्रास के घनत्त्व का अनुमान लगता है। धन, सत्ता और विलास की उद्दाम लालसाओं ने मानवीय मूल्यों की धज्जियाँ उड़ा दी हैं क्योंकि इन लालसाओं में व्यामोहित होकर मनुष्य कई बार पशुता एवं राक्षसी रूपों के इर्दगिर्द ही चक्कर काटने लगता है। इस प्रकार मनुष्य अपने मनुष्य-तन में तो रहता है लेकिन मनुष्यता से हीन वन जाता है। उसका कारण है—वह धन, सत्ता और विलास चाहता है अपने ऐन्द्रिक सुखों के लिये—जबकि धन और सत्ता का उपयोग होना चाहिये सामाजिक समानता एवं सुव्यवस्था को बनाये रखने के लिये। वह सामाजिक न्यास के रूप में प्राप्त धन और सत्ता को झौंक देता है अपने विलास और भोग में। भोगों की मोहग्रस्तता से काषायिक वृत्तियाँ भड़कती हैं और उनसे समूचा योग व्यापार विकृत बन जाता है याने कि समूचा जीवन मलिन हो जाता है। एक मलिन जीवन सारे समाज में अपनी मलिनता फैलाते हुए विद्रूप गति की रचना करता है। इसी विकारपूर्ण पृष्ठ भूमि में सामान्य रूप से व्यक्तियों के मन मानवता हीन बनते जाते हैं। मन में मानवता नहीं तो मानवीय चिन्तन कहां से उभरेगा? मानवीय चिन्तन नहीं तो मानवीय मूल्यों की ओर रूझान ही कैसे बनेगा? मन में मानवता नहीं तो वाणी असत्य और अप्रिय वने—इसमें आश्चर्य की बात नहीं होगी। मानवताहीन मन से सत्य फूट ही नहीं सकता क्योंकि वह क्रूर होता है और उस कारण वचन प्रियकारी भी नहीं हो सकता। उलझे या विकारों में फंसे मन और वचन वाला मनुष्य अकृत्य नहीं करेगा तो क्या करेगा? उसके काम कपटपूर्ण भी होंगे तो अधर्ममय भी। उसकी कथनी और करनी का भेद सामने रहेगा। यह दशा ही मानवीय मूल्यों के ह्रास की दशा है।

मैं सोचता हूं कि यदि मानवीय मूल्यों की दृष्टि से अधःपतन की इस दशा में सुधार लाना है तो व्यक्ति और समाज के दोनों किनारों से शुभ परिवर्तन के प्रयास प्रारंभ करने होंगे। व्यक्ति अपने नियमित विचार और आचार में सुधार लावे—यह भी जरूरी है तो सामूहिक प्रयास के वल पर समूचे सामाजिक वातावरण में भी आवश्यक सुधार लाये जाय —यह भी उतना ही जरूरी है।

मेरा विचार है कि सामूहिक प्रयास व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह की उद्दाम लालसाओं पर शक्ति से रोक लगाने के उद्देश्य से किये जाय। सामाजिक व्यवस्था में कुछ ऐसा परिवर्तन किया जाय कि स्वार्थपूर्ति के मामले में चाहकर भी एक व्यक्ति राक्षसी रूप धारण न कर सके। ऐसा प्रतिवंध राजनीतिक, आर्थिक अथवा अन्य प्रकार का हो सकता है। धन और सत्ता पाने की अंधी दौड़ में

अगर समता मात्र आंखें लगा दी जाय तो विषय-कषाय की विकृति के घटती रहने से धीरे-२ जागृति का वातावरण बन सकती है और मानवीय मूल्यों का महत्त्व पुनः बढ़ सकता है।

मैं यह तो मानता ही हूं कि किसी भी प्रकार के संशोधन, परिमार्जन या परिवर्तन का श्री गणेश व्यक्ति के जीवन से ही किया जा सकता है। अतः यदि मानवीय मूल्यों की पुनः सुदृढ़ता से स्थापना करनी है तो आज के वातावरण की प्रलुब्धता को घटाकर व्यक्ति को अपने योग व्यापार में शुभ परिवर्तन लाना ही होगा। किसी भी शुभ कार्य का अंकुर पहले मन में ही फूट सकता है क्योंकि मन का निश्चय ही कार्य की सफलता में परिणत होता है। इसलिये मनुष्य का मन शुभ योग व्यापार में कैसे सधे—उसके आध्यात्मिक उपायों पर गहराई से चिन्तन करना आवश्यक है।

सामाजिक से समभाव की साधना

अशुभ योग व्यापार को शुभता में ढालने का एक मात्र उपाय यही हो सकता है कि मैं पहले अपने मन को साधूं—उसमें समभाव का संचार करूं। कहा गया है कि जैसे- जैसे मन, वचन, काया के योग अल्पतर और मन्दतर होते जाते हैं, वैसे वैसे कर्म बंध भी अल्पतर होता जाता है। कषाय के अपगत होने पर योग चक्र का पूर्णतः निरोध होने पर आत्मा में बंध का सर्वथा अभाव हो जाता है जैसे कि समुद्र में रहे हुए अच्छिद्र जलयान में जलागमन का अभाव होता है।

मैं समझता हूं कि योग चक्र का पूर्णतः निरोध मेरे लिये आदर्श है, जिसकी प्राप्ति मैं विभिन्न चरणों में ही कर सकूंगा। मेरा पहला चरण यह होना चाहिये कि अपने योग व्यापार की वर्तमान अशुभता की मैं कड़ी आलोचना करूं और उसे शुभता में परिवर्तित करने का संकल्प बनाऊं। सबसे पहले मुझे अपने योग चक्र का रूपान्तरण करना होगा, क्यों कि मन, वचन, काया के तीनों योग अविवेकी और अयुक्त पुरुष के लिये दोष के हेतु बनते हैं तो वे ही तीनों योग विवेकी और युक्त पुरुष के लिये गुण के हेतु होते हैं। अतः इन योगों को मैं गुण के हेतु बनाने के लिये मन की साधना आरंभ करूंगा, उसे समभावों से परिपूरित बनाने का पुरुषार्थ बताऊंगा तथा मन से आरंभ करके त्रिविध योग व्यापार का सम्यक् संशोधन करूंगा।

समभाविता के इस लक्ष्य का अभ्यास मैं प्रारंभ करूंगा सामायिक की साधना से। यह सामायिक क्या है? सम का अर्थ है जो व्यक्ति राग द्वेष से रहित होकर सर्व प्राणियों को आत्मवत्-समझता है, सम्यक् ज्ञान दर्शन और चारित्र की प्राप्ति होना सामायिक है। सामायिक में सर्व सावध-हिंसापूर्ण व्यापारों का त्याग करना और निखध अहिंसक व्यापारों में प्रवृत्ति करना होता है ताकि राग द्वेष की मलिन भावनाओं से मुक्त हुआ जा सके। जितना राग द्वेष मिटेगा, उतना ही सम-भाव जगेगा। सम अर्थात् रागद्वेष रहित पुरुष की प्रतिक्षण कर्म निर्जरा से होने वाली अपूर्व शुद्धि सामायिक है। सम अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र की प्राप्ति सामायिक है।

मैं सामायिक के निम्न चार प्रकारों पर चिन्तन करता हूं तो समझ में आता है कि सामायिक का महात्म्य अवर्णनीय है, क्योंकि समभाव के आरंभिक अभ्यास के रूप से विकसित होकर यही सामायिक सर्व विरति रूप विराट् स्वरूप ग्रहण कर लेती है—

(१) सम्यक्त्व सामायिक—देव नारकी की तरह निसर्ग अर्थात् स्वभाव से होने वाला तथा अधिगम अर्थात् तीर्थंकर आदि के समीप धर्म श्रवण से होने वाला तत्त्व श्रद्धान सम्यक्त्व सामायिक है।

(२) श्रुत सामायिक—गुरु के समीप में सूत्र, अर्थ या इन दोनों का विनयादि पूर्वक अध्ययन करना श्रुत सामायिक है।

(३) देशविरति सामायिक—श्रावक का अणुव्रत आदि रूप एक देश विषयक चारित्र देश विरति सामायिक है।

(४) सर्व विरति सामायिक—साधु का पंच महाव्रत रूप सर्व चारित्र सर्व विरति सामायिक है।

श्रावक के बारह अणुव्रतों में से चार शिक्षा व्रत हैं और उनमें पहला व्रत सामायिक व्रत है। यह सामायिक व्रत दो घड़ी याने एक मुहूर्त याने अड़तालीस मिनिट का होता है। इस काल में सावध (हिंसापूर्ण) व्यापार का त्याग कर आर्त व रौद्र ध्यानों से दूर होकर समभाव में आत्मा को लगाना होता है। सामायिक में बत्तीस दोषों की भी वर्जना करनी चाहिये।

सामायिक की यह कालावधि समभाव की साधना तथा योग व्यापार की शुभता का किस प्रकार अभ्यास कराती है—यह इसमें टालने लायक बत्तीस दोषों —मन के दस, वचन के दस तथा काया के बारह —की परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है।

मन के जिन संकल्पों से सामायिक दूषित हो जाती है, वे मन के दोष कहलाते हैं। इन्हें टालने से ही सामायिक की शुद्धता बनती है। ये दोष इस प्रकार हैं—(१) अविवेक औचित्य—अनौचित्य अथवा समय-असमय का ध्यान नहीं रखना (२) यशः कीर्ति—यश, प्रतिष्ठा अथवा आदर पाने की कामना करना (३) लाभार्थ—व्यापार बढ़ने या धन आदि के लाभ की इच्छा रखना (४) गर्व—अपनी सामायिक के सम्बन्ध में अभिमान करना (५) भयराज्य, पंच, लेनदार आदि से बचने के लिये भयपूर्वक सामायिक में बैठ जाना (६) निदान—सामायिक के बदले भौतिक फल की अभिलाषा करना (७) संशय—सामायिक के आध्यात्मिक फल के बारे में सन्देह करना (८) रोष—रोग द्वेष आदि के कारण सामायिक में क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय का सेवन करना (६) अविनय —सामायिक के प्रति अविनय का भाव रखना तथा (१०) अवहुमान—सामायिक के प्रति वांछित आदर भाव नहीं रखना। ये दसों दोष मन के योग व्यापार के माध्यम से लगते हैं। इन दस दोषों से बचने पर ही सामायिक के लिये मन शुद्धि होती है तथा एकाग्रता आती है।

सामायिक में सामायिक को दूषित करने वाले सावध वचन वोलना वचन के दोष कहलाते हैं। वे दस हैं—(१) कुवचन-कुत्सित वचन बोलना (२) सहसाकार —विचार हीनता एवं अप्रतीति से बोलना (३) शच्छन्द —धर्मविरुद्ध राग द्वेष की वृद्धि करने वाले गीत गाना (४) संक्षेप-सामायिक के पाठ या वाक्य को छोटा करके वोलना (५) कलह —क्लेश उत्पन्न करने वाले वचन वोलना (६) विकथा —स्त्री कथा आदि चार (स्त्री, देश, राज, भक्त) विकथा करना (७) हास्य-हंसना, कौतूहल करना या व्यंग अथवा आक्षेप वाले शब्द वोलना (८) अशुद्ध —सामायिक के पाठ जल्दी-जल्दी अशुद्धियों सहित बोलना (६) निरपेक्ष—बिना उपयोग या सावधानी के वोलना तथा (१०) मुणमुण—अस्पष्ट उच्चारण करना। इन दस दोषों से बचने के बाद ही वचन शुद्धि वनती है।

सामायिक में निषिद्ध आसन से वैठना काया का दोष है। इसके बारह भेद हैं —(१) कुआसन—मानपूर्ण या अशुद्ध आसन से वैठना (२) चलासन—वारवार आसन वदलना। (३) चल दृष्टि—विना प्रयोजन इधर उधर देखना (४) सावध क्रिया—शरीर से हिंसापूर्ण क्रिया करना। घर की

रखवाली करना या इशारा करना सावध क्रिया में सम्मिलित माना गया है, (५) आलम्बन — बिना कारण दीवाल आदि का सहारा लेकर बैठना (६) आकुंचन-प्रसारण —हाथ पांव फैलाना व समेटना (७) आलस्य—आलस्य से अंगों को मोड़ना (८) मोडण —हाथ पैर की अंगुलियों के कटके निकालना (९) मल दोष —शरीर का मैल उतारना (१०) विमासन —शोकग्रस्त दशा में बैठना या विना पूंजे खुजलाना अथवा हलन चलन करना। (११) निद्रा—नींद लेना तथा (१२) वैयावृत्य अथवा कम्पन—निष्कारण ही सामायिक में बैठे हुए दूसरे से अपनी वैयावृत्य कराना अथवा घूमना, हिलना या शरीर को कंपाना। ये काया के दोष हैं जिन्हें टालने से सामायिक में काम-शुद्धि होती है।

सामायिक व्रत के निश्चय एवं व्यवहार रूप इस प्रकार होंगे कि आत्मा के ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र गुणों का विचार करना तथा आत्म गुणों की अपेक्षा से सर्व जीवों को एक समान समझना तथा उनमें समता भाव की अवधारणा लेना निश्चय सामायिक व्रत है तो मन, वचन और काया को आरंभ से हटाना ओर आरंभ (हिंसा) न हो इस प्रकार उनकी प्रवृत्ति करना व्यवहार सामायिक है।

सामायिक में बैठने पर सामायिक के इन पांच अतिचारों को भी टालना चाहिये —(१) मनोदुष्प्रणिधान—मन का दुष्ट (बुरा) प्रयोग (२) वाग्दुष्प्रणिधान—वचन का दुष्ट प्रयोग (३) काय दुष्प्रणिधान—काया का दुष्ट प्रयोग (४) सामायिक का स्मृत्यकरण—सामायिक की स्मृति या उपयोग न रखना एवं (५) अनवास्थित सामायिककरण—अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना। पहले तीन अतिचार अनुपयोग के तो बाकी दो प्रमाद की बहुलता के हैं।

सामायिक के समता रस में भींज कर मैं कुछ भी प्रिय या अप्रिय नहीं मानूंगा, किसी वस्तु के लाभ पर हर्ष या हानि पर विषाद नहीं करूंगा तथा अपने प्रत्येक क्रियाकलाप के प्रति निर्भय बना रहूंगा। मैं प्रयासरत रहूंगा कि मेरा समभाव और साम्य विवेक किसी भी कारण से विचलित न हो तथा उससे बनने वाला समतामय आचरण अक्षुण्ण बने। मैं सभी प्रकार की आसक्तियों तथा असमानताओं का त्याग करूं तथा सबके प्रति मध्यस्थ भाव रखूं। मेरी अड़तालीस मिनिट की सामायिक अभ्यास में परिपुष्ट बनती हुई मुझे मेरे चौबीसों घंटों में समभावी बनावे, कठिन व्रत धारण की सक्षमता उत्त्पन्न करे, त्रिविध योग व्यापार को शुभतरता में ढाले, सहिष्णुता का सद्गुण प्रदान करे और अन्ततोगत्वा समदर्शी बनाकर समता-रस में आकंठ डुबो दे —यह मेरी हार्दिक अभिलाषा है और मैं इस अभिलाषा की पूर्ति हेतु कठिन पुरुषार्थ करते रहना चाहता हूं।

शुभ, शुद्ध और भव्य भावनाएं

अशुभ योग व्यापार को शुभता में परिवर्तित करने के लिये सर्वप्रथम मुझे अपने मन की गति का रूपान्तरण करना होगा जिसके लिये मन को साधना पड़ेगा। शुभ, शुद्ध एवं भव्य भावनाओं में रमण करते रहने का अभ्यास बनाना मनः सिद्धि में विशिष्ट रूप से सहायक होता है। शुभ भावनाएं भाने से मनः शुद्धि भी होती है तो मनः सिद्धि भी। भावनारत मन विशुद्धता एवं विवेक के साथ लक्ष्य सिद्धि के लिये भी अनुकूल सामर्थ्य अर्जित कर लेता है। मन सध कर वचन और कर्म को भी साध लेता है। फलस्वरूप त्रिविध योग व्यापार अशुभता से हटकर शुभता में रूपान्तरित होता है और अधिकाधिक आत्माभिमुखी बनता है। इस दृष्टि से भावनाओं का अमित महत्त्व माना जाना चाहिये।

मैं 'भावना' को परिभाषित करूं तो वह परिभाषा इस प्रकार हो सकती है कि संवेग, वैराग्य एवं भाव शुद्धि के लिये आत्म स्वरूप और जड़ चेतन पदार्थों के संयोग-वियोग के प्रति उसके

सम्बन्धों पर गहराई में उतर कर चिन्तन करना। भावना भाते हुए यह ध्यान रखना कि इस रूप में किये जा रहे चिन्तन में आत्म स्वरूप एवं जड़ सम्बन्धों की यथार्थ स्थिति का गूढ़ अनुसंधान हो तथा धार्मिक अनुष्ठान की योग्य भूमिका का निर्माण हो। भावना का दूसरा नाम अनुप्रेक्षा भी है जिसका अर्थ होता है—आत्मावलोकन। अपने आत्म स्वरूप पर अर्थात् अपने मन, वचन, काया के योग व्यापार पर बराबर दृष्टि रखना कि वह सदा शुभता की ओर बढ़े—यही भावना का प्रमुख लक्ष्य माना गया है।

मैं इस उक्ति का ध्यान करता हूं कि 'जिसकी जैसी भावना, वैसी ही उसकी सिद्धि' तो मैं समझ जाता हूं कि भावना आत्म-विकास का वह आधार है जो यदि शुद्ध बन गया तो सम्पूर्ण विशुद्धता की प्राप्ति फिर कठिन नहीं रह जायगी। पांचों मुख्य व्रतों (महाव्रतों) की स्थिरता के लिये भी प्रत्येक की पांच पांच भावनाओं का उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है —

(१) अहिंसा महा व्रत—पांच भावनाएं— (अ) इर्या समिति—स्व व पर को क्लेश न हो वैसी यतनापूर्वक गति करना। (व) मनोगुप्ति—मन को अशुभ ध्यान से हटाना तथा शुभ ध्यान में लगाना। (स) एषणा समिति—किसी वस्तु की गवैषणा ग्रहण और उपभोग तीनों में उपयोग रखकर दोष नहीं लगाना। (द) आदान निक्षेपणा समिति-वस्तु को उठाने और रखने में अवलोकन, प्रमार्जन आदि द्वारा यतना रखना। (य) आलोकित पानभोजन, खाने की वस्तु वरावर देखभाल कर लेना और उपयोग पूर्वक खाना।

(२) सत्य महा व्रत—पांच भावनाएं— (अ) अनुवीचि भाषण-विचारपूर्वक बोलना। (व) क्रोध प्रत्याख्यान क्रोध का त्याग करना। (स) लोभ प्रत्याख्यान—लोभ का त्याग करना। (द) निर्भयता —सत्य मार्ग पर चलते हुए किसी से नहीं डरना। (य) हास्य प्रत्याख्यान—हंसी दिल्लगी का त्याग करना।

(३) अस्तेय महा व्रत—पांच भावनाएं— (अ) अनुवीचि अवग्रह याचन—विचारपूर्वक आवश्यकता निश्चित करना और उतनी ही वस्तु की याचना करना। (व) अभीक्ष्णावग्रह याचन-आवश्यकतानुसार वस्तु को बार-बार मांगना। (स) अवग्रहावधारण—याचना के पहले परिमाण का निश्चय कर लेना। (द) साधर्मिक अवग्रह याचन—पहले साधर्मिक से स्थान का उपयोग मांग लेना। (य) अनुज्ञापित पानभोजन—विधिपूर्वक अन्न पान आदि लाकर गुरु को दिखाना तथा उनकी आज्ञा होने पर उपयोग में लेना।

(४) ब्रह्मचर्य महा व्रत—पांच भावनाएं—(अ) स्त्री पशुपंडकसेवित शयनासनवर्जन—विजातीय लिंग वाले व्यक्ति द्वारा काम में लिये शय्या और आसन का त्याग करना। (व) स्त्री कथावर्जन-रागपूर्वक कामवर्धक बातें नहीं करना। (स) मनोहर इन्द्रियालोक वर्जन—विजातीय व्यक्ति के कामोद्दीपक अंगों को नहीं देखना। (द) स्मरणवर्जन—पहले भोगे हुए काम भोगों को स्मरण नहीं करना। (य) प्रणति रस भोजन वर्जन-कामोद्दीपक रसीले या गरिष्ठ भोजन तथा पेय का त्याग करना।

(५) अपरिग्रह महा व्रत—पांच भावनाएं —(अ) मनोज्ञामनोज्ञ स्पर्श समभाव —अच्छा या बुरा लगने के कारण राग या द्वेष पैदा करने वाले स्पर्श पर समभाव रखना। (व-य) इसी प्रकार रस, गंध, रूप तथा शब्द के मनोज्ञामनोज्ञ अनुभव पर समभाव रखना।

वीतराग देवों ने त्याग को सर्वोच्च स्थान दिया है, इसीलिये पंच महाव्रतधारी साधुओं का स्थान सबसे ऊंचा है। उपरोक्त भावनाएं मुख्यतः साधु जीवन को लक्ष्य करके कही गई है। ये भावनाएं प्रधान रूप से नियमों की संस्मृति रूप ही हैं। अपने-अपने त्याग के अनुरूप दूसरी भी बहुत सी भावनाएँ हैं जिनसे भाव शुद्धि तथा व्रतपालन में सहायता मिलती है। पाप रूप अशुभता से निवृत्ति के लिये इन नियमों की भावना भाई जा सकती है—(१) हिंसा आदि पापों में ऐहिक तथा पारलौकिक अनिष्ट देखना। (२) हिंसा आदि दोषों में दुःख ही दुःख है —इस प्रकार बार-बार चित्त में भावना भाना। (३) प्राणी मात्र में मैत्री अधिक गुणी को देखकर प्रमुदित होना दुःखी को देखकर करुणा लाना तथा कदाग्रही या अविनीत को देखकर मध्यस्थ भाव रखना। (४) संवेग और वैराग्य के लिये संसार और शरीर के स्वभाव का चिन्तन करना।

महाव्रतों की स्थिरता के लिये त्याग का बारम्बार स्मरण चिन्तन भी आवश्यक है तो उस के दोषों का सम्यक् ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है क्योंकि दोषों के बारे में पूरी जानकारी हो जाने से त्याग की रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती है। इसलिये अहिंसा आदि पांचों व्रतों के दोषों को बार-बार देखते रहना चाहिये। यह दोष दर्शन दो प्रकार का होता है—ऐहिक एवं पारलौकिक। हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने आदि का दुष्परिणाम इस जीवन में कैसे उठाना पड़ेगा—यह होगा ऐहिक दोष दर्शन तथा हिंसा, झूठ आदि से नरक आदि गतियों में जाना पड़ेगा—यह देखना पारलौकिक दोष दर्शन है। इन दोनों संस्कारों को आत्मा में दृढ़ बनाना भावना है। यह शुभ भावना है।

इसके विपरीत पांच अशुभ भावनाएं भी बताई गई है जिनका त्याग करना चाहिये। वे इस प्रकार हैं।

(१) कन्दर्प भावना—पांच प्रकार —(अ) कन्दर्प अट्टहास, हंसी मजाक करना, कठोर या वक्र वचन कहना, काम कथा, उपदेश या प्रशंसा करना। (ब) कौत्कुच्य —भांड की सी वचन और काया से कुचेष्टाएं करना। (स) दुःशीलता—दुष्ट स्वभाव बनाना, आवेश में बोलना, मदमस्त बैल की तरह चलना, जल्दबाजी करना आदि। (द) हास्योत्पादन— विचित्र वेश व भाषा से दूसरों को हंसाना और खुद हंसना। (य) पर-विस्मयोत्पादन विविध प्रकारों से दूसरों को विस्मित करना।

(२) किल्विषी भावना—पांच प्रकार (अ-य) श्रुत ज्ञान, केवली, धर्माचार्य, संध और साधु का अवर्णवाद बोलना, उनमें अविद्यमान दोष बतलाना आदि। मायावी होना भी इसी प्रकार में सम्मिलित है।

(३) आभियोगी भावना—पांच प्रकार —(अ) कौतुक—मंत्र, तंत्र, धूप, आदि देना। (ब) भूतिकर्म—शरीर, पात्र, आदि की रक्षा के लिये मिट्टी, सूत आदि से उन्हें लपेटना। (स) प्रश्न—लाभ-अलाभ के प्रश्न पूछना या अंगूठी, दर्पण, पानी आदि में स्वयं को देखना। (द) प्रश्नाप्रश्न—स्वप्न में आराधी हुई देवी की कही बातों को दूसरों को कहना। (य) निमित्त—अतीत, वर्तमान एवं अनागत का ज्ञान विशेष रखना।

(४) आसुरी भावना—पांच भेद —(अ) सदाविग्रहशीलता—हमेशा लड़ाई-झगड़े करते रहना। (ब) संसक्त तप—आसक्त साधु का तप करना। (स) निमित्त कथन—तीन काल की नैमेत्तिक बातें बताना। (द) निष्कृपता—स्थावर जीवों को अजीव मानना, उनके प्रति दयाभाव की उपेक्षा करना तथा किसी के कहने पर अनुताप भी नहीं करना। (य) निरनुकम्पता —दुःखी के प्रति क्रूरता जन्य कठोरता धारण करना।

(५) सम्मोही भावना—पांच प्रकार (अ) उन्मार्ग देशना —आज्ञा के विपरीत मार्ग का उपदेश देना। (ब) मार्ग दूषण—सन्मार्ग व सत्साधुओं में मन कल्पित दोष बताना। (स) मार्ग विप्रतिपत्ति—दूषण लगाकर उन्मार्ग को अंगीकार करना। (द) मोह-गहन ज्ञानादि विषयों में ना समझी से मोह करना तथा अन्ययतियों के आडम्बर से ललचाना। (य) मोह जनन—किसी भी उपाय से अन्य मत में दूसरों का मोह पैदा कराना। इस प्रकार ये कुल पच्चीस भावनाएं चारित्र में विघ्न रूप हैं। इन के निरोध से सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है।

सद्‌गुण ग्रहण करने की अभिलाषा रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिये निम्न चार प्रकार की भावनाओं का चिन्तवन करना अति आवश्यक माना गया है—

(१) मैत्री भावना— मैं प्रत्येक प्राणी को अपने समान और अपना ही समझूं ताकि मैं सभी प्राणियों के प्रति अहिंसक एवं सत्यवादी बन सकूं। मैं जब सभी प्राणियों को अपने आत्मीय जन मानूंगा तब किसी को दुःखी करने की वृत्ति ही मेरे मन में नहीं उपजेगी बल्कि किसी भी दुःखी प्राणी को देखकर मैत्री भावना से भर कर उसके कष्ट दूर करने का यत्न करूंगा। यह मैत्री भावना मुझे स्वस्थ और प्रसन्न रखेगी तो दूसरों को भी सुख और शान्ति प्रदान करेगी।

मैं दूसरों के साथ यह स्मरण करके अपने मैत्री भाव को पुष्ट बनाऊंगा कि ये सभी किसी न किसी जन्म में मेरे माता, पिता, पुत्र भाई, स्त्री, बहिन, आदि रह चुके होंगे अथवा कभी आगामी जन्मों में इस प्रकार के सम्बन्ध बन सकते हैं। सब प्राणियों के अपने प्रति व्यक्त अथवा अव्यक्त उपकार को समझना तथा उपकारी मान कर मैत्री भाव को बढ़ाना मैं अपना कर्त्तव्य मानूंगा। यही भावना मुझे विश्व-बंधुत्व की विशालता के दर्शन करायगी।

(२) प्रमोद भावना—मैं अपने से अधिक गुण सम्पन्न महापुरुषों के दर्शन करके तथा उनके प्रति लोगों द्वारा प्रकट किये जाने वाले मान, सत्कार, पूजा, प्रतिष्ठा के भावों को जान करके अतीव प्रमुदित होऊंगा। सामान्य लोग ऐसे अवसर पर ईर्ष्या या जलन का अनुभव करते हैं किन्तु मैं जानता हूं कि ईर्ष्या या जलन करने वाला सच्चा अहिंसक नहीं बन सकता है। ईर्ष्या वहुत वड़ा दुर्गुण हैं जो मनुष्य को पतित बनाता है। अतः मैं उन सभी पुरुषों का सम्मान करूंगा—गुण गाऊंगा जो विद्या, तप, यश आदि गुणसम्पन्नता से विभूषित होंगे। मैं सोचता हूं, मैं चाहता हूं कि मेरी गुणसम्पन्नता से सभी हर्षित हों और मेरी उन्नति से सभी प्रसन्न वनें तो पहले मुझे ही अपनी ऐसी वृत्ति बनानी होगी। मैं ईर्ष्या नहीं करूंगा तो मैं भी ईर्ष्या का पात्र नहीं वनूंगा। अपने में और दूसरों में मैं प्रमोद भावना का अधिकतम विस्तार करना चाहूंगा।

(३) करुणा भावना—यदि शारीरिक अथवा मानसिक दुःखों से दुःखित प्राणियों को देखकर मेरा मन दया, अनुकम्पा और करुणा से द्रवित नहीं हो जाता है तो मुझे यह समझना पड़ेगा कि अभी मेरे अहिंसक बनने में काफी कमी है। मैं तो इस भावना को सुदृढ़ वनाऊंगा कि मैं दीन, अपंग, रोगी और निर्वल लोगों की सेवा करूं, विधवा और अनाथ वालकों को सहायता दूं, अतिवृष्टि या अनावृष्टि के कारण अकाल के समय असहाय लोगों के खाने पीने का प्रवंध करूं, वेघर लोगों को शरण दूं, महामारी के समय लोगों को औषधियां पहुंचाऊं, स्वजन वियुक्त लोगों को उनके स्वजनों से मिलाऊं, भयभीत प्राणियों के भय को दूर करूं, वृद्ध व रोगी पशुओं की सार-संभाल करूं और यह मानूं कि मेरे मनोबल, धन तथा शरीर वल की सार्थकता ही करुणा एवं करुणा प्रभावित शुभ कार्यों

को सम्पूर्ण करने में समाई हुई है। यह भी विचार करूंगा कि आज की मेरी उपलब्धियां पहले की करुणा के फलस्वरूप ही है तो फिर उसी करुणा को मैं अपने जीवन में साकार स्वरूप क्यों न प्रदान करूं? मेरी मान्यता है कि धर्म का सम्पूर्ण सार एक दया में सन्निहित है, तभी तो दयामय धर्म को ही सच्चा धर्म माना गया है, अतः दुःखी प्राणियों के कष्ट हरण रूप दया को मैं अपने जीवन में सर्वोच्च स्थान देता हूं।

(४) माध्यस्थ भावना—इस संसार में मेरे अनुकूल सम्बन्ध और पदार्थ होते हैं तो प्रतिकूल भी। यदि इस अनुकूलता और प्रतिकूलता को मैं अपने विचारों में स्थान दूं तो निश्चय ही राग और द्वेष की भावनाएं उभरेगी अनुकूल के प्रति राग तथा प्रतिकूल के प्रति द्वेष, जबकि मेरा सारा प्रयत्न ही भावनाओं के माध्यम से राग द्वेष को घटाना है। इस कारण मैं माध्यस्थ भावना का अभ्यास करूंगा कि अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओं के प्रति समान भाव बन जाय। मनोज्ञ पदार्थ मिले तव भी वहीं बात और अमनोज्ञ मिले तब भी वहीं —सुख-दुःख, संयोग-वियोग में एक सरीखी महकासागिरी-यही मेरी माध्यस्थ भावना होगी। मैं भले बुरे का जब अपने ऊपर कोई असर नहीं मानूंगा तो मेरे मन में न तो विचार आन्दोलित होंगे और न वचन तथा काया प्रतिशोधात्मक प्रवृत्ति में जुटेंगे। इससे मेरी आत्मा को अपूर्व शान्ति मिलेगी।

भावना अनुचिन्तन शुभ भावनाओं के कई प्रारूप हो सकते हैं जो भाव शुद्धि और मनः सिद्धि के कारण भूत बन सकें किन्तु मान्य बारह भावनाओं मे जो भाव-प्रेरक अर्थ गाँभीर्य समाहित है, वह अपने ढंग का अनूठा है तथा शाश्वत सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने वाला है। वे भावनाएं हैं —(१) अनित्य भावना, (२) अशरण भावना (३) संसार भावना (४) एकत्व भावना (५) अन्यत्त्व भावना (६) अशुचि भावना (७) आश्रव भावना (८) संवर भावना (९) निर्जरा भावना (१०) लोक भावना (११) बोधि दुर्लभ भावना तथा (१२) धर्म भावना। (इनका विस्तार आगे दिया जा रहा है।)

क्या यहाँ सब अस्थिर नहीं?

मैं इस संसार में चारों ओर देखता हूं तो यहाँ जो कुछ भी दिखाई देता है, वह सब कुछ अस्थिर, परिवर्तनशील और नश्वर दिखाई देता है। दृश्यमान कोई वस्तु शाश्वत नहीं दिखाई पड़ती है। जो पदार्थ जिस रूप में प्रातःकाल में दिखाई देते हैं, वे ही संध्याकाल में अपना रूप बदल लेते हैं। कइयों का तो अस्तित्त्व ही न पहिचाने जा सकने वाले दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाता है याने कि वे पदार्थ नष्ट हो गये हैं—ऐसा लगता है। कुछ ही समय पहले जहाँ मंगल गान होता हुआ सुनाई पड़ रहा था, वहाँ करुण क्रन्दन सुनाई देता है। जिस व्यक्ति को मैं पदासीन होते हुए देखता हूँ, उसी की चिता का धुंआ कुछ समय बाद दिखाई देने लगता है। इस प्रकार सांसारिक घटनाओं की क्षणभंगुरता मेरे सामने स्पष्ट हो जाती है। इन सबको देखते हुए भी यदि मैं अपने जीवन को अमर मान कर इन दृश्यों में अपने आपको व्यामोहित बनाता रहता हूं तो वह मेरी बुद्धिहीनता तथा विवेकहीनता ही होती है।

मैं कई मनुष्यों को देखता हूं कि वे संसार के मोह ममत्त्व में इस प्रकार डूबे रहते हैं, जैसे उन्हें मरना ही नहीं है और सदा यहाँ की उपलब्धियों को भोगते ही रहना है। वे यह भूल जाते हैं कि आज यह शरीर जो युवावस्था के आनन्द उठा रहा है, कल जराग्रस्त एवं रोग ग्रस्त होकर मरण

को प्राप्त होगा। यह शरीर तो वैसे भी रोगों का घर है, फिर इसको जो स्थिर मानकर आत्मार्थी सावधानी ग्रहण नहीं करते हैं, वे पश्चात्ताप के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं करते हैं। यहाँ जवानी के साथ बुढ़ापा जुड़ा हुआ है, ऐश्वर्य के सभी साधन नाशवान हैं तथा जीवन के साथ मृत्यु लगी हुई है।

मेरे अनुभव में आता है कि महात्मा लोग ऐसी अज्ञानी आत्माओं के प्रति दयार्द्र होते हैं और उन्हें चेतावनी देते हैं कि जीवन जीर्ण हो जायगा, किन्तु आशाएं और तृष्णाएं कभी जीर्ण नहीं होगी अतः कम से कम आयु घटने के साथ तो आत्मोत्थान के उपायों पर चिन्तन करो। प्रतिदिन मोह को प्रबल बनाते हो और आत्म कल्याण तथा लोकोपकार में प्रवृत्त होने का विचार नहीं बनाते हो—यह सचीन नहीं है। देखो, इस संसार में सब कुछ अस्थिर है—नाशवान है, तुम्हारे प्राप्त पदार्थ भी, तुम्हारा स्वयं का शरीर और जीवन भी। स्त्री, परिवार और सभी स्वजन क्षणस्थायी हैं। स्वामित्व स्वप्न तुल्य है। यहाँ संयोग भी वियोग के लिये ही होता है। इसलिये चेतो और इस संसार में मात्र शाश्वत और अनश्वर आत्मा की सेवा के लिये सजग एवं सक्रिय बनो।

मैं वीतरागदेवों और सुगुरुओं के उपदेशों को आत्मसात् करता हूं और संसार की अनित्यता तथा अस्थिरता का विचार करते हुए सभी पदार्थों से पीछे हट जाता हूं, उनमें अपनी आसक्ति को घटाते हुए समाप्त कर देना चाहता हूं तथा उनके लिये क्षोभ एवं शोक करने के सभी मानसिक कारणों को भी मिटा देने के लिये तैयार हो जाता हूं। मुरझाई हुई फूलों की माला को छोड़ देने में भला शोक क्यों होना चाहिये?

मेरी शरणहीनता

मैं अपनी रक्षा के लिये अपने शरीर को समर्थ और बलवान बनाता हूं, माता, पिता, पुत्र, भाई, स्त्री से विपत्ति के समय सहायता की आशा रखता हूं तथा अपने धन वैभव से सुरक्षा के साधन जुटाता हूं, किन्तु समय आने पर क्या कोई भी मेरी सुरक्षा कर सकता है—मुझे अभय शरण दे सकता है? जब मैं नाना प्रकार के रोगों से ग्रस्त बन जाता हूं तब क्या कोई मेरे रोग लेकर मुझे स्वास्थ्य प्रदान कर सकता है?

मगध देश के महाराजा श्रेणिक ने अनाथी मुनि से उनके दीक्षित हो जाने का कारण जानना चाहा तो उन्होंने कहा कि मैंने दीक्षा लेली क्योंकि मेरा कोई नाथ और शरणदाता नहीं रहा। तब गर्वोन्नत होकर श्रेणिक ने कहा—मैं आपका नाथ बनूंगा, मैं आपको शरण दूंगा क्योंकि मैं एक विशाल राज्य और उसकी अखूट सम्पत्ति का स्वामी हूं। अनाथी मुनि ने सहज भाव से उत्तर दिया—राजन्, तुम मुझे क्या शरण दोगे? तुम स्वयं शरणहीन और अनाथ हो। मुनि ने अपनी परम दारुण वेदना की कहानी कही तब राजा समझा कि इस संसार में कोई किसी का नाथ और शरण दाता नहीं बन सकता क्योंकि सभी अनाथ और शरणहीन हैं। राजा तो क्या, चक्रवर्ती और तीर्थंकर जैसी परम समर्थ आत्माएँ भी काल के पंजे से नहीं छूट सकती है। इस संसार में कोई भी वस्तु शरण रूप नहीं है।

तब मैं सोचता हूं अपनी शरण-हीनता पर भी। मैं गर्व करता था अपनी भौतिक शक्तियों पर—अपने भुजबल पर, अपने स्वजन बल पर, अपनी सत्ता और अपनी सम्पत्ति के बल पर। किन्तु अब सोचता हूं कि किसी में भी मुझे शरण देने का सामर्थ्य नहीं है। ये रोग, व्याधि, जरा और मृत्यु

जब मुझे घेर लेगी तब कोई भी आगे बढ़कर मुझे उनसे छुटकारा नहीं दिला सकेगा। मैं अपनी सब बाहरी शक्तियों को नाथ समझकर तो अनाथ हो जाऊंगा।

तो मैं क्या करूं? किसकी शरण में जाऊं जो मेरे दुःखों का हरण करें? क्या मेरे लिये कोई शरण नहीं है? है, किन्तु बाहर कोई नहीं। मेरा 'मैं' हो मेरी शरण है, मेरा सुधर्म ही मेरी शरण है। मैं अपने धर्म में रमण करूं तो मैं भी अनाथी मुनि के समान सनाथ हो सकता हूं। मेरी शरणहीनता मेरी भावनाओं में है और मेरी ही शुभता में परिवर्तित भावनाएं मुझे निर्भय शरण प्रदान कर सकती है। जब मैं अनुभव करता हूं और अशरण भावना से भावित बनता हूं तो मेरी धर्म में— अपने आत्मोस्थान में और लोकोपकार में अभिरुचि सुदृढ़ एवं अभिवृद्ध बन जाती है।

संसार के रंगमंच पर

इस संसार के रंगमंच पर मैं और अन्य संसारी प्राणी अभिनेता की तरह अपना-अपना अभिनय दिखा रहे हैं। अपने-अपने कर्मों से प्रेरित होकर विविध जन्मों में विविध शरीर धारण कर रहे हैं और सांसारिकता से पूर्ण अपनी लीलाएं बता रहे हैं। एक जन्म में जो किसी की माता बनती है, वही दूसरे जन्म में उसकी स्त्री बन जाती है। इसी प्रकार पिता पुत्र और पुत्र पिता तथा स्वामी दास और दास स्वामी बन जाते हैं। संसार की विचित्रता इतनी ही नहीं हैं। एक जन्म में जो राजा होता है, रंक बनते देखा जाता है और रंक व्यक्ति राज्य पद को पा लेता है। भांति-भांति के विचित्र परिवर्तन यहाँ देखे जा सकते हैं।

अन्य प्राणियों के समान मैं भी इस संसार में अनादिकाल से जन्म मरण के चक्र में घूम रहा हूं और भयावह दुःखों को सह रहा हूं। मैं अपने अनन्त जन्मों में संसार के सभी क्षेत्रों में रहा हूं, सभी गतियों में घूमा हूं तथा सभी जातियों व कुलों में जन्मा हूं। इस प्रकार कभी न कभी प्रत्येक प्राणी से मेरा सम्बन्ध जुड़ा है जिससे सभी प्राणी मेरे आत्मीय बने हैं। कर्मवश परिभ्रमण करते हुए मैंने लोकाकाश के एक एक प्रदेश को अनन्ती बार व्याप्त किया परन्तु उसका अन्त नहीं आया। नरक योनियों के भीषण दुःख मैंने सहे, तिर्यंच योनियों के क्षुधा, प्यास, रोग, वध, बन्धन, ताड़न, भारारोपण आदि के कष्ट मैंने भुगते, देवयोनि के शोक, भय, ईर्ष्या आदि से भी मैं पीड़ित हुआ तथा इस मानव जीवन के नानाविध ताप—सन्ताप तो मेरे सामने हैं। फिर भी इन दुःखों का अन्त कहाँ है? क्या कहीं भी अमिट सुख का अनुभव होता है? क्या किसी भी अवसर पर आत्मशान्ति मिली है?

यह सत्य है कि मुझे इस संसार में न तो दुःखों का अन्त दिखाई देता है और न ही अमिट सुख तथा आत्मशान्ति का अवसर। संसार में ऐसा एक भी मनुष्य या प्राणी नहीं दिखाई देता है जो सर्व प्रकार के सुखों को भोग रहा हो। कहीं युद्ध है तो कहीं महामारी, कहीं दुष्काल है तो कहीं द्वन्द्व-संघर्ष। किसी को धनाभाव है तो किसी को रोगग्रस्तता, कोई भयाकुल है तो कोई वियोग कष्ट से कष्टित। सभी जगह अशान्ति है, सभी कोई सन्ताप संत्रस्त हैं। क्या मैं भी अशान्त और सन्ताप संत्रस्त ही रहूंगा? नहीं, मैं इस संसार में नहीं, अपनी ही आत्मा में शान्ति और सुख की खोज करूंगा तथा अपनी शुभ भावनाओं के आधार पर उन्हें प्राप्त करके रहूंगा।

एकत्त्व की अवधारणा

मैं सांसारिक परिस्थितियों की गहराई में उतरता हूं तो देखता हूं कि मेरी आत्मा अकेली उत्पन्न हुई है और अकेली ही इस जीवन का त्याग करेगी। कर्मों का बंध भी मेरी आत्मा अकेली ही करती है तथा उदय में आने पर उन कर्मों का फल-भोग भी वह अकेली ही करती है। मेरे स्वजन, मित्र आदि कोई भी मेरे कर्म फल से उत्पन्न मेरे दुःखों को स्वयं नहीं ले सकते हैं। सच पूछें तो इस संसार में वस्तुतः स्वजन कोई भी नहीं है। मृत्यु के समय स्त्री विलाप करती हुई काल प्रवाह में पति को भूल जाती है तो ममता की मूर्ति माता भी अपने बेटे के शव को घर के दरवाजे से बाहर कर देती है। सम्बन्धी और मित्र भी श्मशान पहुंच कर अपने आत्मीय के शरीर को चिता पर रखकर अग्नि दे देते हैं। कहिए कोई जाता है मृत व्यक्ति के साथ में? फिर कैसे कहेंगे उन्हें स्वजन?

मैं देखता हूँ कि मनुष्य इन्हीं स्वजनों के लिये अपने जीवन में भांति भांति के पाप कार्यों को करता हुआ थकता नहीं है। उन्हीं के सुख और आनन्द के लिये दूसरों पर अन्याय और अत्याचार करते हुए वह संकोच नहीं करता। घोर पाप कर्मों का बंध करके वह सम्पत्ति अर्जित करता है जिसे उसके प्रियजन अपना अधिकार मान कर भोगते हैं लेकिन जब उन्हीं कर्मों का दुःखपूर्ण फल उदय में आता है तब उन प्रियजनों में से कोई भी फल भोग में साथ नहीं देता। जन्म और मृत्यु के समय आत्मा की एकता को प्रत्यक्ष करते हुए भी वह पर-पदार्थों को अपना समझता है—यह देखकर ज्ञानी महात्मा भान दिलाते हैं कि इन्द्रिय-सुखों में ममत्त्व रखना, उनका संयोग होने पर हर्षित होना और वियोग होने पर दुःख करना मोह की विडम्बना मात्र है।

एकत्त्व भावना के संदर्भ में मेरा चिन्तन चलता है कि यह जीव अकेला ही अप्सराओं के मुख रूपी कमल के लिये भ्रमर रूप स्वर्ग का देवता बनता है। अकेला ही तलवारों से छेदा जाकर नरक में अपना खून बहाता है। विषय कषायों से लिप्त होकर वह अकेला ही पाप कर्मों का बंध करता है। और उतना ही यह भी सत्य है कि अपना दृढ़ संकल्प बना लेने के बाद वह अकेला ही कर्मों के सभी आवरणों को दूर करके आत्म विकास की महायात्रा को सफल भी बनाता है। अतः परस्त्री को पत्नी समझना जिस रूप में भयावह है, उससे भी अधिक भयावह है परपदार्थों में ममत्त्व रखना, क्योंकि इसी से राग और द्वेष की मलिनता बढ़ती है जो संसार की जड़ है। यह समझ कर मैं पर पदार्थों में अपना ममत्त्व घटाऊंगा, राग-द्वेष को मिटाऊंगा तथा एकत्त्व भावना को भाऊंगा।

शरीर और आत्मा की भिन्नता

मैं कौन हूं? मेरे माता-पिता आदि सम्बन्धी मेरे कौन होते हैं? इनका सम्बन्ध मेरे साथ कैसे हुआ? यह विलास और वैभव सामग्री मुझे कहां से मिली? इन प्रश्नों के मूल में मैं जाता हूं तो मुझे ज्ञान होता है कि ये सब आत्मा से सम्बन्धित नहीं है—मात्र इस शरीर से सम्बन्धित हैं, कारण, शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। शरीर नाशवान होता है और आत्मा अनश्वर। शरीर पुद्‌गलों का समूह है तो आत्मा ज्ञानपुंज। शरीर मूर्त है, इन्द्रियों का विषय है और अशाश्वत है लेकिन आत्मा मूल में अमूर्त, इन्द्रियातीत तथा शाश्वत होती है। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध कर्म वश बना हुआ है। इसलिये इस शरीर को ही आत्मा मान लेना भ्रान्तिपूर्ण है —यह अन्यत्त्व भावना है। शरीर अन्य है और आत्मा अन्य है। 'मैं' जो हूं वह आत्मा हूं, शरीर नहीं। अतः मैं शरीर के कृश होने पर शोक न करूं क्योंकि शरीर के कृश होने अथवा नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का कुछ

नहीं बिगड़ता है। आत्मा तो नित्य, समदर्शी तथा ज्योतिर्मय होती है। जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, भोग, ह्रास या वृद्धि आत्मा के गुण नहीं हैं —ये तो कर्म के परिणाम होते हैं। इसी प्रकार माता पिता, स्त्री पुत्र इस आत्मा के नहीं है और आत्मा भी इनकी नहीं है। यह जीवन तो उस वृक्ष के समान है जहां पर संध्या के समय अलग-अलग स्थानों से कई पंछी पंखेरू आकर मिलते हैं और रात्रि वास तक ठहरते हैं। स्वजनों का संयोग भी इसी रूप में अल्प समय के लिये होता है। प्रत्येक जन्म में इस आत्मा के साथ अन्य कई आत्माओं का संयोग तथा सम्बन्ध होता है किन्तु उन सबसे यह आत्मा अलग भी हो जाती है।

संयोग के साथ वियोग है—यह विचार करके मुझे अपने स्वजन-सम्बन्धियों के मोह ममत्त्व से दूर हटना चाहिये। मुझे सोचना चाहिये कि जिनके लिये मैं प्रत्यन करता हूं, जिनसे मैं डरता हूं, जिनसे मैं प्रसन्न रहता हूं, जिनका मुझे शोक होता है, जिन्हें मैं हृदय से चाहता हूं, जिन्हें पाकर मैं परम प्रसन्न हो जाता हूं और जिनमें मैं अपनी गाढ़ी आसक्ति बनाकर अपने विशुद्ध स्वभाव को अपरूप बना लेता हूं— वे सब पराये हैं, मेरा अपना कोई भी नहीं। पर-पदार्थों में ममत्व भाव धारण करके मेरी विपरीत वृत्ति बन गई है। मैं आत्मा के उत्थान मार्ग को पतन का मार्ग तथा पतन के मार्ग को उत्थान का मार्ग समझने लग गया हूं। इस कारण मैं अपने यथार्थ कर्त्तव्य को भूल गया हूं तथा उसके सम्यक् निर्धारण के उपयोग से भी शून्य बना हुआ हूँ। मैं विचार करता हूं कि मुझे अपने उन्मार्ग को समझ कर वास्तविक आत्म विकास की ओर अग्रसर बनना चाहिये।

चारों ओर गंदगी ही गंदगी है

इस संसार में मैं जिधर भी देखता हूं, उधर गंदगी ही गंदगी दिखाई देती है। औरों को तो छोडूं —मेरा खुद का शरीर भी कितना गंदा और अशुचिपूर्ण है? यह शरीर मांस, रुधिर, अस्थि जैसे घृणित पदार्थों के संयोग से बना है। माता के गर्भ में भी अशुचिपूर्ण पदार्थों के आहार के द्वारा ही इसकी वृद्धि हुई है। उत्तम, स्वादिष्ट और रसपूर्ण पदार्थों का भोजन भी इस शरीर के भीतर पहुंच कर घोर अशुचि के रूप में परिणत हो जाता है। नमक की खान में जो भी वस्तु गिरती है, वह नमक बन जाती है। इस शरीर में कितनी ही सरस वस्तुएं पहुंचावें तब भी वे शरीर के अशुचि धर्म के अनुसार गन्दगी का ढेर बन जाती हैं। आँख, कान, नाक आदि सभी नव मल द्वारों से सदा मैल बहता रहता है। इस शरीर को स्वच्छ, सुगन्धित तथा सुन्दर बनाने के लाखों उपाय किये जाते हैं, फिर भी वह अपने अशुचिपूर्ण स्वभाव को छोड़ता नहीं है। निर्मल से निर्मल साधनों को भी वह मलिन बना देता है।

मैं शान्त और स्थिर बुद्धि से विचार करता हूं तो स्पष्ट हो जाता है कि मेरे शरीर का प्रत्येक अवयव और स्वयं सारा शरीर घृणाजनक पदार्थों से भरा पड़ा है। वह एक नहीं, अनेक रोगों का घर है। मेरा आज का सुन्दर और स्वस्थ शरीर कल कुरूप और जर्जरित हो जाता है। क्या यह परिवर्तन मेरे लिये सचेतक नहीं है? मुझे सोचना चाहिये कि मेरा यह शरीर चमड़ी से ढका हुआ है, वरना सड़ी हुई लाश-सी दुर्गंध भरा हुआ कर्कश हड्डियों का ठट्ठर मात्र है। ऐसा गंदगी से भरा हुआ शरीर मेरे लिये प्रीतियोग्य कैसे हो सकता है? शरीर को गंदगी ही गंदगी का समूह समझते हुए मुझे शरीर पर से अपना मोह घटाना चाहिये। शरीर को सुन्दर, निर्मल तथा बलवान बनाने की भ्रान्ति के पीछे आत्म-विकास की उपेक्षा करना मेरे लिये समुचित नही है तथा न ही यह समुचित है कि मैं अपने इस सदामलिन शरीर के सुख के लिये अपनी भव्य आत्मीय शक्तियों का अपव्यय करता रहूं।

अशुचि भावना के क्षणों में मुझे अनुभूति होती है कि सुधर्म ही सत्य है, पवित्र है तथा मेरी आत्मा को भी पवित्रतम बनने की प्रेरणा दे सकता है। अतः मुझे शरीर-भाव से दूर हटकर आत्म-भाव की ओर उन्मुख तथा उसी भाव में तल्लीन बनना चाहिये।

शुभाशुभ योग व्यापार

मैं जानता हूं कि आश्रव के माध्यम से ही मन, वचन, काया के शुभाशुभ योग व्यापार द्वारा शुभाशुभ कर्म ग्रहण किये जाते हैं। जैसे किसी भी तालाब में उसके चारों ओर से आने वाले नदी नालों से पानी आता है, वैसे ही आश्रव द्वारा आत्मा में कर्मों का आगमन होता है, जिससे वह व्याकुल और मलिन हो जाती है। पांच अव्रत, पांच इन्द्रियाँ, चार कषाय, तीन योग और पच्चीस क्रिया रूप आश्रव बयालीस प्रकार का होता है। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह की लिप्तता से जीव यहीं इसी जीवन में अनेक प्रकार के वध, बन्धन, ताड़न आदि दुःख पाते हैं। एक एक इन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर ही हिरण, पतंगा, भंवरा, मछली, हाथी आदि प्राणी प्राणान्त तक का कष्ट भोगते देखे जाते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों से दूषित प्राणी न स्वयं सुख से जीते हैं और न दूसरों को ही सुख से जीने देते हैं। अशुभ योग व्यापार एवं क्रिया कलाप में पड़े हुए प्राणियों की भी ऐसी ही दुर्दशा होती है। मुझे यह सब देखकर अपने लिये शिक्षा लेनी है कि मैं अशुभ कर्म बंध के कारण भूत ऐन्द्रिक सुखों की असारता को समझूं, धीरे-धीरे ही सही कषायों से अपने को विलग करूं और इन सबके आधार रूप मन आदि के योग व्यापार को शुभता में परिवर्तित करूं जिससे मेरा त्रिविध योग व्यापार परिमार्जित, संशोधित और विशुद्ध बन जाय। मैं जानता हूं कि शुभ योग व्यापार से जिन पुण्य कर्मों का बंध होगा, वे भी मुझे सोने की जंजीर की तरह संसार में रोकने वाले ही होंगे, फिर भी उनके द्वारा प्राप्त होने वाली अनुकूलताओं की सहायता से मैं अपने आत्म-विकास को आसान बना सकता हूं। यह सही है कि अन्ततोगत्वा पुण्य कर्मों को भी क्षय करके ही मैं सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो सकूंगा।

फिर भी आश्रव भावना के द्वारा मुझे यही चिन्तन करना है कि कर्मों की जंजीर चाहे लोहे की हो या सोने की—आत्मा को संसार में ही बांध कर रखती है और मेरी स्वतंत्रता का अपहरण करती है और यह सोचकर अव्रत आदि के कुपरिणाम मुझे समझ लेने चाहिये। मैं भावना पूर्वक निश्चय करूं कि व्रतों को ग्रहण करूंगा, इन्द्रियों और कषायों का दमन करूंगा तथा अशुभ योग व्यापार का निरोध करता हुआ क्रियाओं से निवृत्त होने का प्रयत्न करूंगा।

कर्म-निरोधक क्रियाएं

मैंने अनुभव किया है कि यदि नाव के पेंदे में छेद हो तो उससे पानी भीतर भरेगा और पूरा भर कर नाव को अथाह जल में डुबो देगा। इसी प्रकार आत्मा रूपी नाव में आश्रव रूपी छिद्र से कर्म रूपी पानी बराबर घुसता ही जायगा तो वह आत्मा को डुवोने वाला वनता ही है। इसकी सुरक्षा का उपाय संवर है कि नाव के छिद्रों का निरोध कर दो ताकि वाहर से आने वाला पानी रूक जायगा। अतः संवर उन क्रियाओं को कहते हैं जिन से कर्मों का आना और आत्मा से सम्बद्ध होना रूक जाता है और आत्म विकास की महायात्रा के निर्विघ्न सम्पूर्ण होने की संम्भावना पुष्ट हो जाती है।

मैं कर्म निरोधक क्रियाओं को अपनाने की भावना भाऊं-यह संवर भावना है। संवर के दो भेद हैं—द्रव्य संवर और भाव संवर। आश्रव से जो कर्म ग्रहण होता है, उसका अंश और सर्व रूप से छेदन करना द्रव्य संवर होता है तो भव हेतुक क्रिया का त्याग करना भाव संवर है। समिति, गुप्ति, मुनिधर्म, ध्यान, भावना, परिषह-सहन चारित्र आदि सभी आते हुए कर्मों को रोकते है—इस कारण द्रव्य संवर के रूप होते हैं। संसार सम्बन्धी क्रिया का ही त्याग कर देना भाव संवर है।

मेरी मान्यता है कि आत्म विकास की दिशा में संवर का अत्यधिक महत्त्व होता है। मुझे वास्तविक सुख की खोज है और मैं चाहता हूं कि उसकी प्राप्ति के लिये अपना परम पुरुषार्थ लगाऊं तो उसके लिये संसार की नैमेत्तिक क्रियाओं से विरत होना अनिवार्य है। मैं समझता हूं कि यदि संसार के प्रति मेरे हृदय में उदासीनता का भाव जग जाय, त्याग-भाव के प्रति सच्ची प्रीति उत्तपन्न हो तथा आत्म विकास की तीव्र लगन लग जाय तो कर्म निरोधक क्रियाओं के द्वारा आश्रव को जीत लेना आसान हो जायगा। संवर भावना के नियमित चिन्तन से मेरी आत्मा की संवर क्रियाओं में रूचि बढ़ेगी तथा संवर क्रियाओं का आचरण करते हुए मैं मुक्ति पथ पर अग्रसर बन जाऊंगा।

कर्मों का मूलोच्छेदन

मुझे अपने सुगुरूओं से सद् ज्ञान मिला है कि संवर भावना द्वारा नवीन कर्मों के आगमन को रोकने वाली क्रियाओं की तरफ मैं उन्मुख होऊंगा तो मुझे निर्जरा भावना के माध्यम से यह भी चिन्तन करना होगा कि जो कर्म मेरी आत्मा के साथ लगे हुए हैं, उनका सर्व-प्रकारेण मूलोच्छेदन (नाश) कैसे किया जाय? संसार के परिभ्रमण के कारणभूत कर्मों को उनके बीजों सहित क्षय करने की भावना ही निर्जरा भावना है। यह दो प्रकार की है—सकाम और अकाम। कर्मों का सम्पूर्णतः क्षय हो—इस विचार से तपाराधन द्वारा उनका क्षय करना सकाम निर्जरा है और फल देकर कर्मों का स्वभावतः अलग हो जाना अकाम निर्जरा है। कर्मों का विपाक अपने स्वभाव तथा आत्मा के उपाय —दोनों प्रकार से होता है। जैसे एक आम डाल पर अपने आप पक जाता है और दूसरे आम को घास आदि से ढककर प्रयत्नपूर्वक भी पकाया जाता है। आत्मा के उपाय से जो निर्जरा की जाती है, वह बारह प्रकार के बाह्य एवं आभ्यंतर तपों की आराधना से संभव होती है। आगामी अधापों में तप का विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

मैं जानता हूं कि जिस प्रकार अग्नि सोने के मैल को जलाकर उसे विशुद्ध बना देती है, उसी प्रकार तप रूपी अग्नि आत्मा की कर्म—मलिनता को नष्ट करके उसके शुद्ध-स्वरूप को प्रकट कर देती है। पाप रूपी पहाड़ को चूर्ण करने के लिये तप वज्र रूप है, पाप रूपी सघन धन श्रेणी को विखेर देने के लिये यह आंधी स्वरूप है। तप का आचरण महापापियों के पाप पुंज को भी भस्मीभूत कर देता है। तपा चरण का अपार महत्त्व है। इससे बाह्य और आभ्यंतर शत्रु जीते जा सकते हैं, इसके प्रभाव से लब्धियों और सिद्धियों की प्राप्ति होती है तो यह तपाचरण आत्म स्वरूप प्रकटाने में सहायक होता है।

मैं निर्जरा के गुणों पर गहराई से विचार करूंगा, अपनी आत्मा को निर्जरा के लिये प्रभावित बनाऊंगा एवं कर्मों की निर्जरा के लिये पराक्रम का प्रयोग करूंगा।

स्वचालित यह लोक।

मैं जब लोक के संस्थान का विचार करता हूं तब वह मेरी लोक भावना होती है। इस भावना का चिन्तन करने से तत्त्व ज्ञान की विशुद्धि होती है तथा मन वाह्य विषयों से हट कर आत्मनिष्ठ एवं स्थिर बनता है। मानसिक स्थिरता का अभ्यास बन जाय तो आध्यात्मिक सुखों की उपलब्धि कठिन नहीं रहती है।

लोक का स्वरूप विस्तार से बताया गया है कि यह छः द्रव्यों—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय और पुद्‌गलास्तिकाय से युक्त है। यह लोक किसी का भी बनाया हुआ नहीं है, न ही इसका कोई रक्षक अथवा संहारक हैं। यह लोक अनादि और आश्वत है तथा जीव और अजीव से व्याप्त है। पर्याय की अपेक्षा इसमें वृद्धि और विनाश देखे जाते हैं। लोक का प्रमाण चौदह राजू है। इसके बीचोबीच मेरू पर्वत है। लोक के तीन विभाग हैं—ऊर्ध्वलोक अधोलोक और मध्यलोक। मध्यलोक में प्रायः तिर्यंच और मनुष्य रहते हैं, अधोलोक में प्रायः नारकीय जीव रहते हैं तथा ऊर्ध्वलोक में प्रायः देवता रहते हैं। लोक के अग्रभाग में सिद्धात्मा रहते हैं। लोक का विस्तार मूल में सात राजू है, फिर घटते-घटते मध्य में एक राजू है और फिर बढ़ते बढ़ते ब्रह्मलोक में पांच राजू का विस्तार है और ऊपर जाकर क्रमशः घटते-घटते एक राजू का विस्तार रह गया है। लोक का धन सात राजू है। जामा पहिन कर और पैर फैलाकर कोई पुरुष खड़ा हो, दोनों हाथ कमर पर रखे हों, उस आकार से लोक की उपमा दी गई है। लोक में पृथ्वी घनोदधि पर स्थित है घनोदधि घनवायु पर एवं घरवायु तनुवायु पर स्थित है। यह तनुवायु आकाश पर स्थित है। लोक के चारों ओर अनन्त आकाश है। लोक में नीचे से ज्यों-ज्यों ऊपर आते हैं, त्यों त्यों सुख बढ़ता जाता है। ऊपर से नीचे की ओर अधिकाधिक दुःख है। ऊर्ध्वलोक में सर्वार्थसिद्ध के ऊपर सिद्ध शिला है। आत्मा का स्वभाव ऊपर की ओर जाना है, परन्तु कर्म भार से भारी होने के कारण वह नीचे जाती है। इस स्वरूप को समझ कर कर्मों से छुटकारा पाने के लिये आत्मा को धर्माचरण में प्रवृत्त होना चाहिये।

ज्ञान का प्रकाश दुर्लभ होता है

उस समय मेरा चित्त बहुत ही दुःखी होता है जब मैं अनेक मनुष्यों को मनुष्य जैसा दुर्लभ जन्म प्राप्त करके भी मिथ्यात्त्व और माया में फंसते हुए और संसार के अथाह कूप में गहरे उतर कर इधर उधर भटकते हुए देखता हूं। सोचता हूं कि इनको बोधिरत्न की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? मैं यह आत्मालोचना भी करता हूं कि मेरा अपना बोधिरत्न कितना सुन्दर, कितना स्वरूपवान् और कितना निर्मल है ? सूक्ष्म जीवाणुओं के अत्यन्त दुःख भरे जीवन से निकल कर आत्मा त्रस में, पंचेन्द्रिय में, पर्याप्तावस्था और संज्ञित्व में तथा सबसे ऊपर मनुष्य जन्म में आकर भी आत्म ज्ञान (बोधि) से वंचित रह जाय तो यह एक शोचनीय विडम्बना ही कही जायगी। बोधि प्राप्त करने का मनुष्य जन्म ही एक उपयुक्त अवसर है और यही कारण है कि देवता भी इस जीवन को पाने के लिये लालायित रहते हैं। इस कारण मानव जन्म में आर्य देश, उत्तम कुल, पूर्ण पांचों इन्द्रियां आदि दस प्रकार की उपलब्धियाँ पाकर बोधि प्राप्त करने तथा उसकी रक्षा करने का पूर्ण प्रयत्न किया जाना चाहिये।

मैं अपने ही अन्तरावलोकन से जानता हूं कि बोधि—ज्ञान का प्रकाश दुर्लभ होता है। बोधि ज्ञान को कहूं और सम्यक्त्व को भी कहूं तथा रत्न त्रय भी कहूं तो उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता

है। बोधि का अर्थ है ज्ञान का आन्तरिक प्रकाश और धर्म साधनों की प्राप्ति। धर्म के कोई साधन कितने सत्य स्वरूप हैं—उसकी जांच परख बोधि से ही की जा सकती है। इसीलिये बोधि को रत्न कहा गया है। जैसे रत्न की विशेषता प्रकाश है उसी प्रकार बोधि की विशेषता ज्ञान है जिसकी प्राप्ति अति दुर्लभ मानी गई है। कहा गया है कि उत्तम श्रवण भी मिल जाना संभव है किन्तु सत्य पर यथार्थ श्रद्धा होना बहुत ही कठिन है क्योंकि संसार में मिथ्यात्व का सेवन करने वाले बहुत दिखाई देते हैं।

अतः मैं बोधि दुर्लभ भावना भाता हूं कि अनेक जन्मों के बाद महान् पुण्य के योग से मिले इस मनुष्य जन्म में जब तक शरीर निरोग है, वृद्धावस्था से जीर्ण-शीर्ण नहीं हुआ है और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ हैं, तब तक मुझे धर्म प्राप्ति का पूर्ण प्रयत्न कर लेना चाहिये। यह अवसर अमूल्य है जो आसानी से फिर मिलने वाला नहीं है। इस लिये प्रमाद को छोड़ कर मुझे अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर बन जाना चाहिये, वरना यही कहा जायगा कि दूल्हा विवाह का मुहूर्त आने पर सो गया और विवाह से वंचित रह गया।

धर्म की परमहितकारी भावना

जिस धर्म के प्रभाव से स्थावर और जंगम वस्तुओं वाले ये तीनों लोक विजयवन्त हैं और जो इहलोक व परलोक में प्राणियो का हित करने वाला तथा सभी कार्यों में सिद्धि देने वाला है, उस दयामय धर्म को मैं नित प्रति भाऊं और ध्याऊं, क्योंकि उस धर्म के तेजस्वी सामर्थ्य से अनर्थ जनित पीड़ाएं भी निष्फल हो जाती हैं। ऐसी है धर्म की परम हितकारी भावना।

मैं चिन्तन करता हूं कि धर्म है क्या ? आप्त वचन समाधान देते हैं कि अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म उत्कृष्ट मंगल है। जिसका धर्म चित्त में लगा हुआ है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। वस्तु का स्वभाव धर्म है। क्षमा आदि दस भेद रूप धर्म है। जीवों की रक्षा करना धर्म है और सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र, रूप रत्न त्रय धर्म है। दान, शील तप और भाव रूप भी धर्म है। यह धर्म सत्य है क्योंकि वीतराग देवों ने कहा है और प्राणियों के लिये परम हितकारी है। राग और द्वेष से रहित, स्वार्थ और मोह से दूर, पूर्ण ज्ञानी व लोक त्रय का हित चाहने वाले वीतराग देव द्वारा उपदिष्ट धर्म के अन्यथा होने का कोई कारण नहीं है। धर्म चार पुरुषार्थ में प्रधान है तथा सबका मूल कारण है। इस धर्म की महिमा अपार है—चिन्तामणि, कामधेनु और कल्पवृक्ष—इसके सेवक हैं। धर्म अपने भक्त को क्या नहीं देता ? समुद्र पृथ्वी को नहीं बहाता, मेघ सारी पृथ्वी को जलमय नहीं करते, पर्वत पृथ्वी को धारण करना नहीं छोड़ते, सूर्य और चन्द्र अपने नियम से विचलित नहीं होते —ये सभी मर्यादाएं धर्म से ही बनी हुई है।

इस प्रकार मैं धर्म भावना से अभिभूत होकर अनुभव करता हूं कि धर्म बान्धव रहित का बन्धु है, मित्र हीन का मित्र है, रोगी के लिये औषधि है, धनाभाव से दुःखी लोगों के लिये धन है, अनाथों का नाथ है और अशरण का शरण है। धर्म भावना के प्रभाव से मेरी आत्मा धर्म से च्युत नहीं होगी तथा निरन्तर धर्मानुष्ठान में तत्पर रहेगी।

भाव शुद्धि, आत्मशुद्धि, समदर्शिता

विषयों से मलिन तथा कषायों से विकृत बने अशुभ भावों के रूपान्तरण के पुरुषार्थ को मैं आधारगत रचनात्मक कार्य मानता हूं, क्योंकि भाव-शुद्धि के बिना आगे का कोई भी प्रगतिशील

चरण नहीं उठाया जा सकता है। कोई भी भाव मन में उपजता है —वह कैसा भाव है—इसकी परख भी मन को ही करनी पड़ती है तथा मन को ही निश्चय करना पड़ता है कि उस भाव का प्रकटीकरण अथवा कार्यान्वयन किया जाय या नहीं। इस दृष्टि से मन निर्णायक का कार्य करता है। अब जो आत्मा जागरूक बन कर अपने विकास का सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहती है, उसे सबसे पहले अपने मन को इस रूप में साधना पड़ता है कि वह सदासद का सम्यक् निर्णय कर सके।

जब मेरा 'मैं' भी सजग हो गया है और अपने विकास की महायात्रा को सफल बनाना चाहता है तो उसे पहले मन की गति में दिशा परवर्तन लाना होगा। मैंने यह निश्चय किया है कि मैं अब मन के कहे मुताबिक नहीं चलूंगा, बल्कि मन को अपने आदेश पर चलाऊंगा और उसका यह अर्थ होगा कि मैं प्रतिपल मन के योग व्यापार को अपने नियंत्रण में रखूंगा और मन को अशुभता में भटकने नहीं दूंगा। इस प्रकार अपनी आत्मशुद्धि और भाव शुद्धि को अन्योन्याश्रित बना दूंगा, ताकि मन एकनिष्ठ और एकाग्र बन जाय। विभिन्न प्रकार की शुभ भावनाओं के धरातल पर जब मन का नियमित चिन्तन चलेगा तो आत्मा और मन एकरूप बनने लगेंगे ताकि शुद्धता सुरक्षित हो जायगी।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि आत्म शुद्धि तथा भाव शुद्धि एक रूप होकर मेरी आत्मा में एक नई जागृति का संचार करेगी। शुद्धि और शुभता का मनोयोग निश्चित रूप से वचन योग एवं काम योग को शुद्ध और शुभ बना देगा। तब मन, वचन, काया की शुद्धता ही जीवन की शुद्धता के रूप में ढल जायगी। मेरे जीवन की शुद्धता प्रतिफलित होगी समभाव एवं समदृष्टि के विस्तार में। सभी आत्माएं मेरी आत्मा के समान है—यह समभाव मुझे अहिंसक आचरण प्रदान करेगा तो उससे निर्मित होने वाली समदृष्टि मुझे सत्य की दिशा में अग्रगामी बनायगी। सब प्राणियों के लिये समान भाव रखना तथा व्यवहार की दृष्टि से सबको एक समान देखना —यह आत्म विकास का उच्चतर सोपान होता है।

यही समदर्शिता का सोपान होता है। उस अवस्था में न राग रहता है और न द्वेष। न कोई प्रिय होता है, न कोई अप्रिय। सूक्ष्म प्राणी से लेकर मनुष्य और संसार की सभी आत्माएं उसकी आत्मीय हो जाती है। सबके संरक्षण का वह अभिलाषी होता है। यों कहे कि उस महान् आत्मा की करुणा का विस्तार सम्पूर्ण लोक तक फैल जाता है।

समदर्शिता से ज्योतिर्मयता

समदर्शिता आत्मा का मूल गुण है। ज्यों-ज्यों आत्मा अपने कर्मों के आवरणों को दूर करती हुई अपने मूल स्वरूप को प्रकट करती जाती है, त्यों-त्यों उसके भीतर छिपी हुई ज्ञान और दर्शन की ज्योति भी जगमगाने लगती है। समदर्शिता की परिपुष्टता के साथ यह ज्योतिर्मयता भी अधिकाधिक सुप्रकाशित होती हुई चली जाती है।

समदर्शी ज्योतिर्मय महापुरुषों का आदर्श ही मुझे अनुप्राणित करता है यह समझने के लिये कि मैं भी समदर्शी हूं ज्योतिर्मय हूं और यह पुरुषार्थ बताने के लिये कि मैं भी अपनी आत्मा में आवृत्त अपनी समदर्शिता तथा ज्योतिर्मयता के गुणों को अपने प्रबल पुरुषार्थ से प्रकट कर सकता हूं। मैं समझ चुका हूं कि विषय-कषाय की वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ जब मन्दतर बनती जायगी तो उसके साथ-साथ संसार में भटकाने वाले मूल दोष-राग और द्वेष भी घटते जायेंगे। द्वेष के त्याग से भी राग का त्याग कठिनतर होता है अतः मैं भावना भाता हूं कि मैं द्वेष भी छोड़ूं और अन्ततोगत्वा

राग को भी त्याग दूं। जिस दिन मैं वीतराग भाव का वरण करूंगा, वह दिन मेरा धन्य होगा ऐसा मेरा मनोरथ चलता है। वीतराग भाव की अवाप्ति के साथ ही आत्मा की समदर्शिता एवं ज्योतिर्मयता अपनी पूर्णता को प्राप्त हो जाती है। यह अरिहंत पद का स्वरूप होता है और आत्मा जब सिद्ध पद को प्राप्त होती है तब तो मात्र ज्योति में ज्योति स्वरूप रूपान्तरित हो जाती है। यही आत्म विकास की महायात्रा का गंतव्य है।

पांचवां सूत्र और मेरा संकल्प

मेरी सुदृढ़ आस्था है कि मैं मूल रूप से समदर्शी हूं, ज्योतिर्मय हूं और यह आस्था ही मेरा सम्बल है कि मैं अपने सत्पुरुषार्थ की निरन्तर सक्रियता से कभी न कभी इस या आगामी जन्मों में अपने समदर्शिता तथा ज्योतिर्मयता के गुणों को प्राप्त कर सकूंगा।

अतः मैं संकल्प करता हूं कि अपने गंतव्य तक पहुंचने के लिये आत्मीय गुणों के प्रकटीकरण स्वरूप विभिन्न चरणों को संयम पूर्वक स्वीकार करता हुआ सर्व प्रथम विषय कषायों से विश्रान्ति लेते हुए योग व्यापार की वृद्धिशील शुभता का वरण करूंगा। भाव शुद्धि के क्रमिक अभ्यास के साथ ही गुणों के उच्चतर स्थानों पर मैं आरूढ़ होता जाऊंगा, समभाव एवं समदृष्टि की पुष्टता से समता रस का आस्वादन करूंगा तथा एक दिन समदर्शी एवं ज्योतिर्मय बनूंगा। मेरे इस समुन्नत आत्म स्वरूप का मूलाधार मन, वचन, कर्म का शुभत्व होगा— इस दृष्टि से मेरा संकल्प होगा कि मैं भावनाभिभूत होकर शुभ योगधारी बनूंगा।

अध्याय सात

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : ६ :

मैं पराक्रमी हूँ, पुरुषार्थी हूँ।

मुझे सोचना है कि मैं क्या कर रहा हूँ

और मुझे क्या करना चाहिये?

मेरा आत्मस्वरूप मूल रूप में सिद्धात्माओं जैसा ही है। मुझे देखना और परखना है कि यह मूल स्वभाव कितना विस्मृत हुआ है तथा विभाव कितना बढ़ गया है? अपने आन्तरिक स्वरूप एवं जागतिक वातावरण का द्रष्टा बनकर मैं आत्मशुद्धि का पुरुषार्थ दिखाऊँगा, शुभ परिवर्तन का पराक्रम प्रकट करूँगा एवं अहिंसा, संयम व तप रूप धर्म को धारण करके विश्व के समस्त प्राणियों के साथ समभाव बनाऊँगा तथा उनमें समभाव जगाऊँगा।

सूत्र छटा

मैं पराक्रमी हूं, पुरुषार्थी हूं। मेरी आत्मा अपने मूल गुण की दृष्टि से अनन्त पराक्रम एवं अनन्त पुरुषार्थ को धारण करती है, भले ही उसकी यह धारणा-शक्ति वर्तमान में आच्छादित बनी हुई है। मैं उसे प्रकट कर सकता हूं और इसी पराक्रम एवं पुरुषार्थ के माध्यम से मैं अपनी आत्मा को इस मूल गुण से सुशोभित बना सकता हूं।

मैं पराक्रमी हूं, पुरुषार्थी हूं। मेरा पराक्रम अटूट है और पुरुषार्थ अथक। मैं मेरे पराक्रम को अटूट इसलिये कहता हूं कि वह वज्र के समान हैं। जैसे वज्र कभी टूटता नहीं और अपुरुषार्थ पर गिरे, उसे तोड़े बिना रहता नहीं, वैसे ही मेरा पराक्रम स्वयं कभी खंडित नहीं होता और अपुरुषार्थ के प्रति वह प्रायोजित हो जाता है, उसे अखंडित रखता नहीं। (यह एक देशीय उपमा है।)

मैं पराक्रमी हूं क्योंकि मैं पुरुषार्थी हूं। मेरा पौरुष अपनी गति और प्रगति की कोई सीमाएं नहीं जानता। वह समतल भूमि पर ही चलने में समर्थ नहीं है, अपितु आकाश की अनन्त ऊंचाइयों पर और सागर की अतल गहराइयों में भी उसी वेग से बढ़ता चला जाता है। वह कभी हार नहीं मानता। मेरा पुरुषार्थ अपराजेय है।

मैं पुरुषार्थी हूं—पुरुषार्थ ही मेरा धर्म है, प्रमाद मेरा धर्म नहीं —स्वभाव नहीं, विभाव है। कषाय आत्मा से प्रमाद आता है तो मेरी ज्ञान आत्मा उसे पुरुषार्थ में नियोजित करने का आह्वान करती है और सम्यक् ज्ञान आत्मा दर्शन आत्मा चरित्र आत्मा आदि से जुड़ कर वह आत्मा विकास की महायात्रा में गतिशील बनता है और मानव जीवन को अपने गंतव्य के निकट पहुंचाता है।

मैं पुरुष हूं इसी कारण पुरुषार्थी हूं। यहाँ पुरुष शब्द लिंगवाचक नहीं, गुणवाचक है। जो भी पौरुष को धारण करता है, वह पुरुष होता है। लिंग के वाच्यार्थ से सोचें तो कोई पुरुष होकर भी पुरुष नहीं होता, जबकि कोई पुरुष न होकर भी पुरुष बन सकता है। पुरुष का मूल गुण उसका पौरुष होता है। मैं पौरुष का धनी हूं, इसीलिये पुरुष हूं और पुरुष हूं तो पुरुषार्थ मेरा धर्म हैं।

पौरुष एक गुण होता है, एक शक्ति होती है। उस शक्ति का प्रयोग और उपयोग कहां और किस प्रयोजन हेतु किया जाय—यह सम्यक् ज्ञान, सुदृढ़ आस्था एवं सद्विवेक पर निर्भर है। जब आकाश में सूर्य चमक रहा हो तो उस जाज्वल्यमान प्रकाश में अपना छोटा-सा टिमटिमाता दिया लेकर चलने में कोई बुद्धिमानी नहीं। उस समय सूर्य के प्रकाश का उपयोग ही श्रेयस्कर होगा। वीतराग देवों ने पथ प्रशस्त कर रखा है कि आत्मा को अपना पुरुषार्थ किस दिशा में लगाना चाहिये? मुझे उसी प्रशस्त पथ को अपनाना है तथा अपने पुरुषार्थ को उसी पथ पर गति करने में लगाना है। इस कारण मेरे पुरुषार्थ के सामने शंका या सन्देह का कोई प्रश्न ही नहीं है। उसे जागना

है और इस पथ पर चल पड़ना है। इसीलिये मैं कहता हूं कि मैं पुरुषार्थी हूं —दिशाहीन पुरुषार्थी नहीं, सुदिशा में सम्यक् रीति से अग्रगामी बनने वाला पुरुषार्थी—अपने साध्य को साध लेने वाला पुरुषार्थी।

मैं पुरुषार्थी बनता हूं तभी तो पराक्रमी होता हूं—पुरुषार्थ का उत्कृष्ट स्वरूप ही तो पराक्रम में परिवर्तित होता है। पुरुषार्थ प्रारंभिक रूप होता है तो पराक्रम उसी का विकसित रूप। तब मेरा पराक्रम वज्र स्वरूपी बन जाता है। वह किसी भी शक्ति के तोड़े नहीं टूटता और अति सिष्ट पराक्रम से कर्म तोड़े जाने पर अखंडित नहीं बचते। मेरी आत्मा का और सभी भव्य आत्माओं में ऐसा ही अनन्त पराक्रम और अनन्त पुरुषार्थ होता है।

आत्मा का ऐसा पराक्रम और पुरुषार्थ सदा आत्मा के ही हित में प्रयुक्त होता है —चाहे वह मेरी स्वयं की आत्मा हो अथवा अन्य किसी की भी आत्मा। आत्म-हित ही प्रत्येक आत्मा का श्रेष्ठ पराक्रम और सत्पुरुषार्थ होता है, अतः स्व-पर कल्याण ही पराक्रम और पुरुषार्थ की सुदिशा होती है। मैं पुरुषार्थी हूं, इस कारण हर समय चिन्तन करता रहता हूं और जांचता-परखता रहता हूं कि मेरा पुरुषार्थ सुदिशा में प्रगति कर रहा है अथवा नहीं। मेरी यह जागरुकता मेरे पुरुषार्थ की जागरुकता बन जाती है।

मुझे एक रूपक याद आ रहा है। एक फक्कड़ बाबा थे। उनके दो भक्त थे। एक दिन उन्होंने अपने भक्तों से पूछा—क्या तुम्हारी मेरे में पूरी आस्था है? दोनों ने हृदय से कहा—हमारी आप में पूर्ण आस्था है। आपके कथन को हम सत्य वचन मानते हैं। बाबा तब बोले—अच्छा, तो दोनों मेरे साथ चलो। बाबा के साथ दोनों चल पड़े। चलते-चलते बावा एक बीहड़ जंगल में पहुंच गये। फिर वे एक पहाड़ पर चढ़ने लगे। दोनों भक्त भी उनके साथ चढ़ने लगे। बाबा का वाक्य उनके लिये प्रमाण था।

पहाड़ की चोटी पर चढ़कर बाबा ठहर गये। उन्होंने दोनों को पहाड़ की दूसरी तरफ का दृश्य दिखाया। पहाड़ के नीचे ही बड़े-बड़े गड्ढे और चौड़ी खाइयां थी। गड्ढों और खाइयों के आगे लोगों का बहुत बड़ा झुंड अस्त-व्यस्त अवस्था में दुःख-भाव से घूम रहा था। जमीन के ऊबड़-खाबड़पन में उन्हें कहीं निवास-योग्य स्थान नजर नहीं आ रहा था। चारों ओर भांति-भांति की असुविधाएं मुंह बाये खड़ी थी। वे बोले—यह दृश्य देख रहे हो न? दोनों ने हाँ, में उत्तर दिया तब बावा ने ही पूछा—इसे देखकर तुम क्या सोचते हो? दोनों ही लोगों के हृदय उस झुंड की व्यथा से द्रवित हो उठे थे, अतः कहने लगे —इन लोगों का दुःख दूर किया ही जाना चाहिये। बाबा प्रसन्न हो उठे, कहने लगे—लेकिन जानते हो, यह दुःख दूर कैसे होगा? दोनों बाबा का आदेश सुनने के लिये मौन खड़े रहे।

बावा तव अपनी पौरुषभरी आवाज में बोले—जिस पहाड़ की चोटी पर हम खड़े हैं, इस पूरे पहाड़ को खोद देना होगा और पास के गढ्ढों व खाइयों को उससे पाट देना होगा ताकि सारी भूमि समतल बन जाय और इन लोगों के लिये निवास-योग्य हो जाय। तब दोनों भक्तों का उत्तर एक नहीं रहा। पहला वोला—महाराज, पहाड़ को खोद डालना आसान काम नहीं है किन्तु मेरा पुरुषार्थ भी आसान काम करना नहीं चाहता। आसान काम तो किसी का भी पुरुषार्थ कर डालेगा, फिर मेरे पुरुषार्थ की क्या विशेषता? मैं आपके आदेश का पालन करने के लिये तत्पर हूं और

विश्वासपूर्वक निवेदन करना चाहता हूं कि चाहे जैसी बाधाएं मेरे बीच में आवे, मैं समूचे पहाड़ को खोद दूंगा, गड्ढों और खाइयों को पाट दूंगा और इन लोगों की निवास व्यवस्था में सहायता करूंगा। मेरी सफलता मेरे अथक पुरुषार्थ से मिलेगी और मेरा पुरुषार्थ मेरे भीतर के बढ़ते हुए आनन्द के साथ आगे बढ़ता रहेगा। बाबा का चेहरा खिल उठा।

तब बाबा ने दूसरे भक्त के चेहरे पर अपनी दृष्टि जमाई। वह कुछ नहीं बोला। बाबा ने ही पूछा—तुम चुप खड़े हो, क्या तुम्हें मेरे कथन में विश्वास नहीं है? वह बाबा के चरणों में गिर पड़ा और रूंधे कंठ से बोला—मुझे आपके कथन में अटल विश्वास है, किन्तु....। यह 'किन्तु' क्या है? —बाबा कड़के। वह कहने लगा—इतना बड़ा पहाड़ भला मैं कैसे खोद सकूंगा? मेरे लिये यह असंभव है। बाबा की ओजस्वी वाणी फूटी—तुम पुरुष होकर भी पुरुषार्थी नहीं हो। 'असंभव' शब्द पुरुषार्थी के शब्द कोष में होता ही नहीं है। पुरुषार्थी के लिये कोई भी दूरी अलंघ्य नहीं होती, कोई भी ऊंचाई या गहराई अभेद्य नहीं होती तथा कोई भी कार्य असंभव नहीं होता। हो सकता है कि कोई कार्य वह शरीर के माध्यम से न कर सके किन्तु उसकी भावना में असंभवता कहीं भी नहीं होती। क्या तुमने अपने साथी का उत्तर नहीं सुना? कठिनाई से उसके मुंह से शब्द निकले—सुना है महाराज और मैं आज ही समझ पाया हूं कि हम दोनों की आन्तरिकता में कितना बड़ा अन्तर रह गया है? मैं अब तक दोनों में समान विकास का ही अनुभव कर रहा था। मैं लज्जित हूं देव कि आज तो मैं इस पहाड़ को खोद डालने का विश्वास आपको नहीं दिला सकूंगा। मैं अपने सोये हुए पौरुष को जगाऊंगा और एक दिन आपके विश्वास को साकार बनाने का कठिन प्रयत्न करूंगा। बाबा का चेहरा खिला नहीं, लेकिन मुरझाया भी नहीं। वे इतना ही बोले—वत्स, यह तुम्हारी पुरुषार्थहीनता तुम्हारे प्रमाद के कारण है। प्रमाद को मिटाये बिना पुरुषार्थ नहीं जागता। पुरुषार्थ को जगाने के लिये निरन्तर यह सोचते रहना पड़ता है कि मैं क्या कर रहा हूं और मुझे क्या करना चाहिये? और जब पुरुषार्थ जाग जाता है तो वह न कहीं भी थकता है और न कभी हारता है। वह असंभव को संभव बना देता है।

मैं सोचता हूं कि मैं फक्कड़ बाबा का कौनसा भक्त हूं? पहला या दूसरा? अथवा कोई भी नहीं? क्या आज मैं अपने पुरुषार्थ को सजग और सक्रिय बनाये हुए हूं? या अभी भी मुझे अपने पुरुषार्थ को जागृत करना शेष है? अथवा क्या अभी तक मैं अपना भावनापूर्ण निश्चय ही नहीं कर पाया हूं कि मुझे अपने अथक पुरुषार्थ को जगाना है और प्रमाद की गहरी नींद में सोया हुआ हूं? मुझे अपनी दशा और विदशा पर तीखी नजर डालनी है। मैं अगर बाबा के किसी भी भक्त के समान नहीं होऊं तो मेरे लिये अतीव लज्जापूर्ण अवस्था है, जिसे बदलने के लिये मुझे तत्काल सन्नद्ध हो जाना चाहिये। फिर तुरन्त बाबा का पहला भक्त न भी बन सकूं तो दूसरा भक्त तो हो ही जाऊं—स्व-पर कल्याण हेतु अपने पुरुषार्थ को जगाने का संकल्प तो ले ही डालूं।

चिन्तन, संशोधन एवं परिवर्तन की इस प्रकार की प्रक्रिया में मैं निरन्तर सोचता रहूं कि मैं पराक्रमी हूं, पुरुषार्थी हूं—अटूट पराक्रम एवं अथक पुरुषार्थ का धनी।

ज्ञेय, हेय एवं उपादेय

मैं पुरुषार्थी हूं तो मैं अपने पुरुषार्थ के क्षेत्रों का सम्यक् ज्ञान करूंगा और यह जानूंगा कि किन-किन तत्त्वों एवं विषयों को मैं समझूं, उन में से किन-किन तत्त्वों एवं विषयों का मैं त्याग करूं।

तथा किन-किन तत्त्वों एवं विषयों को मैं ग्रहण करूं। यहाँ विषय का अर्थ है तत्त्वों का स्वरूप यथार्थ वस्तु स्थिति। तत्त्वों एवं विषयों या यह स्वरूप ही ज्ञेय, हेय एवं उपादेय रूप में तीन प्रव का कहा गया है। वीतराग देवों की आज्ञा है कि इस संसार में वर्तने वाले तत्त्वों को जानो अ जाने गये तत्त्वों में से त्यागने लायक तत्त्वों को त्यागो तथा ग्रहण करने लायक तत्त्वों को ग्रहण करो। ज्ञेय, हेय एवं उपादेय का सम्यक् ज्ञान ही मुझे आत्मोद्धारक तत्त्वों को ग्रहण करने की प्रेरणा देगा।

यों तो संसार के सभी तत्त्व एवं वस्तु-विषय ज्ञेय हैं—जानने लायक हैं, फिर भी उनका इस रूप में वर्गीकरण किया गया है :

(१) कर्म—चेतन तत्त्व को जड़ तत्त्व से सम्बद्ध बनाये रखने वाले कार्मण वर्गणा के पुद्गलों को कर्म कहते हैं और वस्तुतः इन्हें मनुष्य के कार्य रूप में ही देखें कि जिनके आधार पर कर्मों का वंधन होता है। जैसा कार्य, वैसे कर्म और जैसे कर्म वैसा फल। इस चक्र को जो समझ लेता है, वह अपने कार्यों के स्वरूप को भी समझने लग जाता है। प्रत्येक कार्य को करते समय मनुष्य की यह सावधानी वन जाती है कि उसका कार्य कैसा है —वह शुभ है या अशुभ ? दूसरों को सुख देने वाला है या दुःख देने वाला ? और उस के आधार पर वह समझ लेता है कि कौनसा कार्य उसे करना चाहिये और कौनसा कार्य उसे नहीं करना चाहिये ? उसके सामने कारण स्पष्ट हो जाता है कि जैसा कार्य वह करेगा, वैसे ही कर्म उसकी आत्मा के साथ बंध जायेंगे और ये कर्म बिना अपना तदनुसार फल भुगताएं छूटेंगे नहीं।

(२) भाग्य—मनुष्य के सामने जो फल-भोग आता है, उसे ही भाग्य का नाम दिया गया है भाग्य मनुष्य पर कोई भी अन्य शक्ति थोपती नहीं अथवा कोई भी शक्ति प्रसन्न अथवा अप्रसन्न होकर उसके भाग्य का निर्माण करती नहीं। यह मनुष्य के स्वयं के ही पहले किये हुए कार्य होते हैं जो कर्म रूप में वंध कर उसे अच्छा या बुरा फल-भोग देते हैं। उस रूप में अपने भाग्य अथवा नियति का स्वयं आत्मा ही रचयिता होती है। आत्मा के साथ ही उसके कार्यों के परिणाम स्वरूप कर्मों का बंधन होता है, जो आत्मा के साथ ही जुड़ा रहता है जिसके कारण पिछले जन्म का फल भोग इस जीवन में या आगे के जन्मों में उदय में आता रहता है। यही भाग्य-चक्र होता है जो भव भवान्तर तक चलता रहता है। शरीर अथवा अन्य साधन-सुविधाओं की प्राप्ति इसी भाग्य चक्र के अनुसार होती रहती है। मूल तत्त्व इस रूप में ज्ञेय है कि मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माता होता है और यदि वह चाहे कि उसे सौभाग्य प्राप्त हो तो शुभ कार्यों में उसे सदा प्रवृति करनी चाहिये तथा वह अशुभ कार्यों में प्रवृत्त होता रहेगा तो उसे दुर्भाग्य भुगतना ही पड़ेगा। भाग्य के इस स्वरूप को समझ लेने पर अपने कार्यों के सम्बन्ध में मनुष्य का विवेक अवश्यमेव जागृत होगा।

(३) मन—यद्यपि मनुष्य अपना प्रत्येक कार्य आत्मा से ही करता है, पर उसमें महत्त्वपूर्ण सहायक मन होता है मन द्वारा जिस प्रकार का विचार किया जाता है, उसी का रूपान्तरण उसके कार्यों में झलकता है। इस रूप में मनुष्य का बन्धन और उसका मोक्ष उसके स्वयं से ही उत्पन्न होता है। आवश्यकता है व्यक्ति अपनी आत्मा को सम्यक् ज्ञान से अनुरंजित बनाकर मन के सहारे आत्माभिमुखी गति करे।

(४) भाषा—मनुष्य के कार्यों का विचार आत्मा द्वारा मूल मन में पैदा होता है तो उनका उच्चार भाषा के माध्यम से बाहर फूटता है। विचार का प्रहार दूसरे के अनुभव में उतने वेग से नहीं

आता, जितना भाषा का प्रहार आता है। कहा जाता है कि कटु वचन तलवार की तेज धार से भी अधिक मारक होता है। तलवार से पड़ा हुआ घाव तो फिर भी समय गुजरने पर भर जाता है, मगर वचन का घाव बड़ी मुश्किल से ही भरता है। अतः भाषा का विवेक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण माना गया है।

(५) मृत्यु—जीवन में सतत जागृति के लिये मृत्यु का स्वरूप जान लेना परमावश्यक है। इस संसार में अपनी विकारपूर्ण कामनाओं को पूरी कर लेने की धुन में मनुष्य अपनी आयु के अन्तिम छोर तक भी इस बेपरवाही से भागदौड़ करता है जैसे उसको इस संसार से कभी विदा ही नहीं होना है—मरना ही नहीं है वह सरंजाम सौ बरस के करता है जबकि एक पल का भी पता नहीं होता कि वह किस पल यहाँ इस जीवन से उठ जायगा। मृत्यु को सदा ध्यान में रखते हुए मनुष्य विषय-कषायों से दूर हटे तथा संयम साधना में प्रवृत्त रहे—यह है मृत्यु के स्वरूप ज्ञान का एक पहलू। दूसरा पहलू यह होगा कि वह मृत्यु के ही संदर्भ से आत्मा की अमरता का ज्ञान करे। मृत्यु एक जीवन और उस जीवन में प्राप्त शरीर का अन्त करती है, आत्मा के अस्तित्व का नहीं। जीर्ण वस्त्र त्याग कर जैसे नया वस्त्र धारण किया जाता है, वैसे ही यह आत्मा एक जीर्ण शरीर को छोड़कर आयुष्य समाप्ति के बाद नया शरीर धारण कर लेती है। मृत्यु के इन दोनों पहलुओं का ज्ञान मनुष्य को सतत आत्म-जागृति तथा अपने अस्तित्व की निरन्तरता का बोध देता है।

(६) परिवार—मनुष्य गर्भावस्था में और अपने जन्म के साथ अपनी माता से लेकर अपने परिवार जनों के ही प्रथम सम्पर्क में आता है। यही कारण है कि अति विस्तृत मानव समाज में परिवार ही एक आधारभूत घटक माना गया है, सांसारिक परिस्थितियों के थपेड़ों में पड़ने के बाद मनुष्य तथा उसके परिवार जनों का पारस्परिक व्यवहार भी शुभता और अशुभता के रंगों में से होकर गुजरता है। इसमें जितना सद् विवेक सब में होता है, उतने ही परिवार में शुभ रंग खिलते हैं और पारिवारिक आत्मीयता से जुड़े हुए होने पर भी परिवार के सदस्य यदि स्वार्थ और कलह में डूब जाते हैं तो अशुभता के बदरंग भी साफ नजर में आ जाते हैं। यह परिवार का एक स्वरूप है किन्तु हमारी विकसित संस्कृति इसका दूसरा स्वरूप भी बताती है कि सारी वसुधा ही हमारा परिवार है अर्थात् सम्पूर्ण संसार के समस्त जीवों का परिवार ही हमारा परिवार है। यह आत्मा अनादिकाल से इस संसार में भव भ्रमण कर रही है और इस संसार का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं बचा है जो इस आत्मा के जीवन सम्पर्क में न आया हो अथवा ऐसा कोई जीव भी नहीं होगा जिस के साथ किसी न किसी जन्म में इस आत्मा का सम्बन्ध न रहा हो अतः जन्म जन्मों का परिवार यह समूचा संसार है। वर्तमान परिवार तो मात्र इसी जन्म का परिवार है। अतः विशाल परिवार के प्रति मनुष्य को कर्त्तव्यनिष्ठ होना चाहिये।

(७) मित्र-शत्रु—सामान्य परिभाषा के अनुसार जो सहायता करे वह मित्र और जो विरोध करे वह शत्रु कहलाता है। यह स्थूल परिभाषा है जबकि शत्रु-मित्र की सूक्ष्मता मनुष्य के अन्तर्मन की भावनाओं से सम्बद्ध रहती है। मैत्री की मूलाधार भावना होती है—सदाशयता और शत्रुत्व की स्वार्थ मूलक विद्वेषात्मक भावना। इस दृष्टि से शत्रु या मित्र दूसरा व्यक्ति नहीं होता बल्कि अमुक प्रकार की भावना से जुड़ने के कारण शत्रुत्व या मित्रत्व उसमें आता है। अतः सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो व्यक्ति नहीं, अच्छी भावनाएं ही असल में मित्र और बुरी भावनाएं ही शत्रु होती हैं। अतः बुरी

भावनाओं को परास्त करें तथा अच्छी भावनाओं को जीवन में स्थान दें। तब शत्रु कोई नहीं रहेगा और संसार के समस्त के समस्त जीव मित्र महसूस होंगे। जो बुरी भावनाओं के समस्त शत्रुओं को जीत लेता है, वही तो अरिहंत कहलाता है। अरिहंत बनना ही तो भव्य आत्मा का साध्य है अतः मित्र-शत्रु भेद को सम्यक् रीति से समझ लेना उसके लिये अनिवार्य है।

(८) सवल-दुर्वल—यह भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने योग्य विषय है कि वल किसे कहते हैं और वह कहाँ रहता है? बिना यथार्थ तत्त्व ज्ञान के मनुष्य झट से कह सकता है कि बल शरीर का होता है, धन का होता है, सत्ता और पद का होता है, परिवार या कुल का होता है अथवा राज्य और सेना का होता है किन्तु यह उसकी स्थूल विचारणा होती है। वह जब अपनी आत्मा को बली बना लेता है और आत्म बल की शक्ति का अनुभव करता है तब उसके सामने ये सारे बल तुच्छ हो जाते हैं। वह इनमें से या ऐसे किसी बल से भयभीत नहीं होता। अतः प्रमुख होता है आत्मबल और इस बल से जो संयुक्त है वह सवल तथा इस बल से हीन दुर्वल होगा। अन्य बलों से संयुक्त होने पर मनुष्य क्रूर वनता है किन्तु आत्म वल से सबल बनने पर वह दया का सागर हो जाता है।

(९) धनी-निर्धन—इसी प्रकार आत्म-जागरण ही सबसे बड़ा धन होता है और आत्म जागृत ही धनी तथा आत्म मूर्छित ही निर्धन होता है। अतः आत्मा का स्वरूप दर्शन ही अतुलनीय धन कहा गया है।

(१०) भोजन—जीवन आत्मा एवं शरीर के संयोग से बनता है तथा जीवन चलाने के लिये भोजन अनिवार्य होता है। भोजन शरीर के लिये भी चाहिये और आत्मा के लिये भी चाहिये। शरीर का भोजन इस रूप में संयत और सन्तुलित हो कि वह धर्माराधना मे कार्य रत बने। ऐसा कार्योद्दीपक नहीं कि वह उन्मार्ग पर इन्द्रिय सुख में भटकता फिरे। जब शरीर को सही भोजन दिया जाता है तब आत्मा को भी उस का सही भोजन मिलता है और यह भोजन होता है त्रिविध योग व्यापार का संयम एवं ज्ञानार्जन। इस प्रकार का भोजन जीवन को स्वस्थ और सुखद बनाता है।

(११) औषधि—भोजन के समान ही औषधि (दवा) का स्वरूप भी समझना चाहिये। औषधि शरीर के स्वास्थ्य को बनाये रखने वाली तो भाव रूप औषधि आत्मा की स्वस्थता को बढ़ाने वाली होनी चाहिये।

(१२) स्थावर—त्रस-चलने फिरने वाले जीवों की जानकारी तो सामान्य रूप से हो जाती है किन्तु स्थावर जीवों (न चलने फिरने लायक) की जानकारी इस कारण ज्यादा जरूरी है कि उनकी रक्षा के प्रति मनुष्य की सावधानी रहे और उसकी दया उन तक विस्तृत बने।

(१३) पशु-पक्षी—मनुष्य चूंकि अति विकसित शक्तियों का धनी होता है अतः उसे अबोले पशुपक्षियों के प्रति भी दयावान् होना चाहिये।

इन ज्ञेय तत्त्वों के सम्पर्क से ऐसे तत्त्वों का प्रकटीकरण होता है जिन्हें ग्रहण न करने या ग्रहण करने की अवधारणा बनानी चाहिये। पहले इस दृष्टि से हेय तत्त्वों का मुख्य विवरण दिया जा रहा है—

(१) काम—विषयेच्छा और इन्द्रिय-भोग सांसारिकता की जड़ें हैं। काम लिप्तता आत्मा को विकारी बनाती है क्योंकि काम से ही क्रोध व अन्य कषायों की उत्पत्ति होती है अतः काम का त्याग मूल त्याग वन जाता है जिसकी नींव पर सम्पूर्ण त्याग का भव्य प्रासाद निर्मित होता है।

(२) क्रोध—क्रोध को क्रूर कर्मी चांडाल कहा गया है जो स्व-पर दाहक होता है। यह ऐसा दुर्गुण है जो खुद को पहले दुःखी बनाता है और फिर दूसरों को भी दुःखी करता हैं। क्रोध कषाय का मूल होता है जिसे उखाड़ने पर अन्य कषायों को समाप्त करना सरल हो जाता है।

(३) मान—आप्तवचन है कि जो क्रोध को देख लेता है, वह मान को भी देख लेता है इस रूप में ठीक मान से ही अधिकांशतः क्रोध की उत्पति होती है। मनुष्य को अपने मान की अवहेलना सहन नहीं होती और वह तुरन्त कुपित हो उठता है। इस कारण मनुष्य को मान की कठोरता का त्याग करके विनम्रता धारण करनी चाहिये।

(४) माया—संसार के दो बीज माने गये हैं —राग और द्वेष। मनोज्ञ वस्तु पर राग और अमनोज्ञ वस्तु पर द्वेष। द्वेष से पैदा होता है क्रोध और मान तथा राग से उपजने वाली कषाय होती है माया और लोभ। माया का मतलब होता है कपटाई और धूर्तता। मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति दूसरों को ठगकर करना चाहता है और उसका यह मायावी आचरण अति निकृष्ट होता है जिस का त्याग किया जाना चाहिये।

(५) लोभ—लोभ को पाप का मूल बताया गया है क्योंकि लोभ से लाभ कमाने के पागल पन में किसी कृत्य-अकृत्य का ध्यान नहीं रहता और लोभ से लाभ एवं लाभ से लोभ का कुटिल चक्र चलता रहता है। इस चक्र को तोड़ने से ही कषाय का चक्र टूट सकता है।

(६) मोह—आत्म स्वरूप पर जिस कर्म का बंधन रूप सर्वाधिक दुष्प्रभाव होता है, वह मोह कर्म ही होता है। मोह में पतित होने वाली आत्मा का विवेक समाप्त हो जाता है तथा वह अनियंत्रित मन तथा इन्द्रियों के कठिन जाल में उलझ कर अपने शुद्ध स्वरूप को क्षत विक्षत वना लेती है। अतः मोह को छोड़ना सबसे ज्यादा कठिन भी है तो उतना ही जरूरी भी।

(७) अज्ञान—काम भोगों और कषायों में आत्मा इसलिये भटकती है कि वह, अज्ञानग्रस्त होती है। अज्ञान के अंधेरे में वह देखना भी चाहे तो उसे सन्मार्ग दिखाई नहीं पड़ता है और अज्ञान युक्त धर्म क्रिया का भी इस कारण कोई महत्त्व नहीं होता अतः अज्ञान निवारण—यह आत्मा का पहला पुरुषार्थ होना चाहिये।

(८) पाप—अज्ञान, विषय, कषाय एवं प्रमाद से पैदा होने वाली मनुष्य की समस्त वृत्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ पाप की परिभाषा में समाविष्ट होती हैं। अठारह प्रकार के पापों का जव आत्मा सेवन करती है तो वह अशुभ कर्मों का बंध करती हुई अपने स्वरूप को अति विकृत वना लेती है तथा दीर्घकालीन दुर्भाग्य को निमंत्रित करती है। अतः पाप पूर्ण वृत्ति और प्रवृत्ति का त्याग करते हुए आगे वढ़ना चाहिये।

(९) तृष्णा—यह एकदम ठीक उक्ति है कि मनुष्य-जीवन जर्जरित हो जाता है किन्तु उसकी तृष्णा जीर्ण नहीं बनती है। ऐसा लालसामय अंधा रूप होता है तृष्णा का जिसके जाल में फंस कर मनुष्य मकड़ी की तरह छटपटाता है किन्तु आसानी के छूट नहीं पाता है। तृष्णा प्राप्त की नहीं, अप्राप्त की होती है और अप्राप्त की कोई सीमा नहीं होती, तृष्णा का भी कभी अन्त नहीं आता। इसीलिये वेतरणी नदी के समान इस तृष्णा का त्याग करना ही श्रेयस्कर कहा गया है।

(१०) बाल मरण—इसे भी एक हेय तत्त्व माना गया है। जिसका जीवन सम्यक् सार पूर्ण रहा हो तो यह और भी अधिक आवश्यक है कि उसका मरण अति सारपूर्ण वने, क्योंकि मरण

काल की आत्म जागृति विपुल रूप से सुफल दायक होती है। सारपूर्ण जीवन के अन्त में बाल (अज्ञान) मरण हो तो वह अर्जित सार भी कई बार असार बन जाता है। किन्तु इसके विपरीत यदि असारपूर्ण जीवन के अन्त में भी मरण बाल मरण न होकर पंडित मरण हो जाय तो असार जीवन भी सारपूर्ण बन सकता है। यह आपेक्षिक दृष्टि कोण है अतः बाल मरण की दुरावस्था से बचा जाना चाहिये।

(११) पर स्त्री गमन—परनारी को पैनी छूरी कहा है जो अंग अंग को छेद डालती है। इस दुर्गुण से मनुष्य स्वयं के चरित्र को बिगाड़ता है तो समाज के चरित्र को भी कलंकित बनाता है। दूसरे, वह इस भव और पर भव दोनों को बिगाड़ता है, इस कारण उसे इस दुर्गुण से दूर ही रहना चाहिये।

(१२) राग द्वेष—संसार के इन बीजों की उर्वरा शक्ति को कुचल डालने पर ही सांसारिकता समाप्ति की जा सकती है। द्वेष को कुचलना अपेक्षाकृत आसान कहा गया है जबकि राग को कुचल डालना बहुत कठिन। इसी कारण द्वेष के बाद राग को भी समाप्त कर देने वाली महान् आत्माओं को वीतराग कहा जाता है। राग के सम्पूर्ण क्षय हो जाने पर संसार भ्रमण समाप्त हो जाता है तथा निर्वाण प्राप्त हो जाता है।

इन हेय तत्त्वों को जानकर छोड़ देना चाहिये तथा उन तत्त्वों को ग्रहण कर लेना चाहिये जिन्हें उपादेय अर्थात् ग्रहण योग्य बताया गया है। ये उपादेय तत्त्व निम्नानुसार कहे गये हैं —

(१) धर्म—आत्मा का मूल स्वभाव ही उसका धर्म कहलाता है। अहिंसा, संयम और तप मय जो धर्म होता है, वही सर्वोत्कृष्ट मंगल कहलाता है। धर्म एक होता है अनेक नहीं। जो अनेक होते हैं, वे मत होते हैं और विवाद के मूल होते हैं। अपने धर्म को आत्मा तभी पहिचान पाती है जब वह अधर्ममय विषय कषाय का सेवन करना घटा दे और रोक दे। धर्म ही सबसे महान् शरण और त्राण होता है तथा धार्मिक क्रियाओं को करते हुए अन्तर्हृदय का आनन्द फूटता हुआ चला जाता है। सच पूछें तो इस दुर्लभ मानव तन का मूल अनुष्ठान ही धर्माचरण माना गया है। धर्म के चार द्वारों—क्षमा, सरलता, नम्रता व सन्तोष में जो अपनी आत्मा को प्रविष्ठ कराता रहता है वह जीवन में चाहे कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों नहीं आवे, सदा सत्य और नीति पर अडिग रहता है। धर्मज्ञ का मन, वचन और कर्म सदा सरल होता है और वह धर्म पर सुदृढ़ रहकर वीर बन जाता है।

(२) अहिंसा—'जीओ और जीने दो' का सन्देश देने वाली अहिंसा को परम धर्म कहा गया है क्योकि अहिंसा के आचरण से व्यक्ति का जीवन संशुद्ध बनता है तो सामाजिक जीवन में पारस्परिक सहानुभूति एवं सहयोग की धारा प्रवाहित होती है। अहिंसा का निषेध रूप भी बहुत सूक्ष्म होता है तो उसका विधि रूप भी। प्रमत्त योग से प्राणी के दस प्राणों में से किसी भी प्राण को कष्टित करना हिंसा है तथा उस हिंसा से बचना अहिंसा का निषेध रूप होता है। कोरे वध से ही हिंसा का आचरण नहीं होता, बल्कि प्राणी की किसी भी इन्द्रिय, मन, वचन, आदि को कष्टित करना भी हिंसा रूप ही होता है अतः अहिंसा का निषेध रूप भी बड़ा व्यापक होता है और उससे भी अधिक व्यापक होता है उस का विधि रूप —जिसे रक्षा, दया, अनुकम्पा आदि नाम दिये गये हैं। संसार के समस्त जीवों के प्रति रक्षा एवं अनुकम्पा का भाव रखना तथा उस रूप में अहिंसा का आचरण करना—यह समता का उत्कृष्ट स्वरूप होता है।

(३) सत्य—सत्य जीवन का साध्य है या यों कहें स्वयं ईश्वर है। सम्यक् विचार-समन्वय की प्रक्रिया से गुजर कर ही सत्यांश को पहिचाना जा सकता है तथा सबके विचारों के प्रति आदर भाव रखकर व सबकी सुनकर सत्यांशों को एकत्रित करके पूर्ण सत्य के दर्शन किये जा सकते हैं। सत्य मन, वाणी और कार्य में समा जाना चाहिये। तथा उसे हितकारी और प्रियकारी होना चाहिये। असत्याचरण मनुष्य को अप्रतिष्ठित भी बनाता है तो अविश्वसनीय भी। असत्य के साथ जब कपटाचार जुड़ जाता है तो वह अत्यन्त घातक रूप ले लेता है। बोले गये शब्द तीर के समान होते हैं जो कभी वापस लौटकर नहीं आते अतः उन्हें तौल-तौल कर बोलना चाहिये ताकि वे सत्य भी हो एवं प्रियकारी और मधुर भी। जिसकी कथनी और करनी में जब सत्य समा जाता है तो वह सत्य के साक्षात्कार के निकट पहुंचने लगता है। सत्याचरण व्यक्ति को निर्भय, निर्लोभी, निर्विवाद एवं निर्मल बना देता है।

(४) अस्तेय—जो वस्तु प्राप्त नहीं है या नहीं दी गई है —ऐसी वस्तु को हस्तगत करना चौर्य कर्म है। चोरी में ठगाई और सीनाजोरी शामिल हो जाती है। जो लाभ श्रम के बल पर होता है, उसे जब पूंजी के बल पर हड़प लिया जाता है तो वह लाभांश भी चोरी ही कहा जायगा। अतः व्यक्ति की अर्जनशैली ही नहीं बल्कि समाज की आर्थिक नीति भी ऐसी होनी चाहिए जिसमें शोषण या चोरी की गुंजाइश नहीं हो। अस्तेय का एक अर्थ यही निकलता है संविभाग—अपने अर्जन को यथायोग्य यथा स्थान समान रूप से सबमें बांटो। इसका व्यापक अर्थ यह होगा कि समाज की अर्थ नीति को ही इस तरह ढाले कि सत्ता और सम्पति का एक या कुछ हाथों में संचय न हो सके तथा संविभाग का सिद्धान्त ऐसी व्यवस्था में स्वयं ही साकार रूप ग्रहण कर ले।

(५) अपरिग्रह—अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना में अपरिग्रह व्रत की आराधना भी हो जाती है। मनुष्य स्वयं व्रत ले कि वह सत्ता और सम्पत्ति का संचय नहीं करेगा तथा परिग्रह प्राप्ति के लिये मूर्छित नहीं बनेगा। वह परिग्रह को अपनी आवश्यकता के अनुसार ही रखेगा तथा उपभोग—परिभोग की वस्तुओं की मर्यादा भी ग्रहण करेगा। अपरिग्रह व्रत के प्रति निष्ठा पहले भाव रूप में जागनी चाहिये ताकि मूर्छा के अभाव में उसका द्रव्य रूप स्वतः ही सध जायगा। अपरिग्रही निर्ग्रंथ हो जाता है।

(६) सम्यक् दर्शन—दर्शन का अर्थ होता है देखना अतः सम्यक् रीति से देखने का नाम सम्यक् दर्शन है। दर्शन आस्था का आधार होता है अतः सम्यक् आस्था के साथ जो ज्ञानार्जन किया जाता है, वही सम्यक् ज्ञान का रूप लेता है। सम्यक् दर्शन से समभाव उमड़ता है, समदृष्टि बनती है तथा अन्ततोगत्वा जीवन के सम्पूर्ण आचरण में समता का समावेश हो जाता है। दर्शन सम्पन्नता की पृष्ठभूमि पर ही ज्ञान की ज्योति जलती है तथा वही दर्शन परिपूर्ण बन कर क्षायिक सम्यक्त्व का स्वरूप धारण करता है सम्यक् दर्शन के बिना आत्मा का पराक्रम शुद्ध नही बन सकता है। इसी कारण सम्यक् दर्शन को मोक्ष का प्रथम सोपान कहा गया है जिस पर चढ़ कर आत्मा आगे के सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र के सोपानो पर आरूढ़ होती है।

(७) सम्यक् ज्ञान—सम्यक् आस्था युक्त ज्ञान सदा आचरण की प्रेरणा देता है। इसीलिये ज्ञान और क्रिया के सफल संयोग से ही मोक्ष का द्वार खुलता है। सम्यक् आस्था के साथ सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति सरल बनती है। ज्ञानी आत्मा—यथा स्थान स्व-पर कल्याण को ही अपना परम उद्देश्य

काल की आत्म जागृति विपुल रूप से सुफल दायक होती है। सारपूर्ण जीवन के अन्त में बाल (अज्ञान) मरण हो तो वह अर्जित सार भी कई बार असार बन जाता है। किन्तु इसके विपरीत यदि असारपूर्ण जीवन के अन्त में भी मरण बाल मरण न होकर पंडित मरण हो जाय तो असार जीवन भी सारपूर्ण बन सकता है। यह आपेक्षिक दृष्टि कोण है अतः बाल मरण की दुरावस्था से बचा जाना चाहिये।

(११) पर स्त्री गमन—परनारी को पैनी छूरी कहा है जो अंग अंग को छेद डालती है। इस दुर्गुण से मनुष्य स्वयं के चरित्र को बिगाड़ता है तो समाज के चरित्र को भी कलंकित बनाता है। दूसरे, वह इस भव और पर भव दोनों को बिगाड़ता है, इस कारण उसे इस दुर्गुण से दूर ही रहना चाहिये।

(१२) राग द्वेष—संसार के इन बीजों की उर्वरा शक्ति को कुचल डालने पर ही सांसारिकता समाप्ति की जा सकती है। द्वेष को कुचलना अपेक्षाकृत आसान कहा गया है जबकि राग को कुचल डालना बहुत कठिन। इसी कारण द्वेष के बाद राग को भी समाप्त कर देने वाली महान् आत्माओं को वीतराग कहा जाता है। राग के सम्पूर्ण क्षय हो जाने पर संसार भ्रमण समाप्त हो जाता है तथा निर्वाण प्राप्त हो जाता है।

इन हेय तत्त्वों को जानकर छोड़ देना चाहिये तथा उन तत्त्वों को ग्रहण कर लेना चाहिये जिन्हें उपादेय अर्थात् ग्रहण योग्य बताया गया है। ये उपादेय तत्त्व निम्नानुसार कहे गये हैं —

(१) धर्म—आत्मा का मूल स्वभाव ही उसका धर्म कहलाता है। अहिंसा, संयम और तप मय जो धर्म होता है, वही सर्वोत्कृष्ट मंगल कहलाता है। धर्म एक होता है अनेक नहीं। जो अनेक होते हैं, वे मत होते हैं और विवाद के मूल होते हैं। अपने धर्म को आत्मा तभी पहिचान पाती है जब वह अधर्ममय विषय कषाय का सेवन करना घटा दे और रोक दे। धर्म ही सबसे महान् शरण और त्राण होता है तथा धार्मिक क्रियाओं को करते हुए अन्तर्हृदय का आनन्द फूटता हुआ चला जाता है। सच पूछें तो इस दुर्लभ मानव तन का मूल अनुष्ठान ही धर्माचरण माना गया है। धर्म के चार द्वारों—क्षमा, सरलता, नम्रता व सन्तोष में जो अपनी आत्मा को प्रविष्ठ कराता रहता है वह जीवन में चाहे कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों नहीं आवे, सदा सत्य और नीति पर अडिग रहता है। धर्मज्ञ का मन, वचन और कर्म सदा सरल होता है और वह धर्म पर सुदृढ़ रहकर वीर बन जाता है।

(२) अहिंसा—'जीओ और जीने दो' का सन्देश देने वाली अहिंसा को परम धर्म कहा गया है क्योकि अहिंसा के आचरण से व्यक्ति का जीवन संशुद्ध बनता है तो सामाजिक जीवन में पारस्परिक सहानुभूति एवं सहयोग की धारा प्रवाहित होती है। अहिंसा का निषेध रूप भी बहुत सूक्ष्म होता है तो उसका विधि रूप भी। प्रमत्त योग से प्राणी के दस प्राणों में से किसी भी प्राण को कष्टित करना हिंसा है तथा उस हिंसा से बचना अहिंसा का निषेध रूप होता है। कोरे वध से ही हिंसा का आचरण नहीं होता, बल्कि प्राणी की किसी भी इन्द्रिय, मन, वचन, आदि को कष्टित करना भी हिंसा रूप ही होता है अतः अहिंसा का निषेध रूप भी बड़ा व्यापक होता है और उससे भी अधिक व्यापक होता है उस का विधि रूप —जिसे रक्षा, दया, अनुकम्पा आदि नाम दिये गये हैं। संसार के समस्त जीवों के प्रति रक्षा एवं अनुकम्पा का भाव रखना तथा उस रूप में अहिंसा का आचरण करना—यह समता का उत्कृष्ट स्वरूप होता है।

(३) सत्य—सत्य जीवन का साध्य है या यों कहें स्वयं ईश्वर है। सम्यक् विचार-समन्वय की प्रक्रिया से गुजर कर ही सत्यांश को पहिचाना जा सकता है तथा सबके विचारों के प्रति आदर भाव रखकर व सबकी सुनकर सत्यांशों को एकत्रित करके पूर्ण सत्य के दर्शन किये जा सकते हैं। सत्य मन, वाणी और कार्य में समा जाना चाहिये। तथा उसे हितकारी और प्रियकारी होना चाहिये। असत्याचरण मनुष्य को अप्रतिष्ठित भी बनाता है तो अविश्वसनीय भी। असत्य के साथ जब कपटाचार जुड़ जाता है तो वह अत्यन्त घातक रूप ले लेता है। बोले गये शब्द तीर के समान होते हैं जो कभी वापस लौटकर नहीं आते अतः उन्हें तौल-तौल कर बोलना चाहिये ताकि वे सत्य भी हो एवं प्रियकारी और मधुर भी। जिसकी कथनी और करनी में जब सत्य समा जाता है तो वह सत्य के साक्षात्कार के निकट पहुंचने लगता है। सत्याचरण व्यक्ति को निर्भय, निर्लोभी, निर्विवाद एवं निर्मल बना देता है।

(४) अस्तेय—जो वस्तु प्राप्त नहीं है या नहीं दी गई है —ऐसी वस्तु को हस्तगत करना चौर्य कर्म है। चोरी में ठगाई और सीनाजोरी शामिल हो जाती है। जो लाभ श्रम के बल पर होता है, उसे जब पूंजी के बल पर हड़प लिया जाता है तो वह लाभांश भी चोरी ही कहा जायगा। अतः व्यक्ति की अर्जनशैली ही नहीं बल्कि समाज की आर्थिक नीति भी ऐसी होनी चाहिए जिसमें शोषण या चोरी की गुंजाइश नहीं हो। अस्तेय का एक अर्थ यही निकलता है संविभाग—अपने अर्जन को यथायोग्य यथा स्थान समान रूप से सबमें बांटो। इसका व्यापक अर्थ यह होगा कि समाज की अर्थ नीति को ही इस तरह ढाले कि सत्ता और सम्पति का एक या कुछ हाथों में संचय न हो सके तथा संविभाग का सिद्धान्त ऐसी व्यवस्था में स्वयं ही साकार रूप ग्रहण कर ले।

(५) अपरिग्रह—अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना में अपरिग्रह व्रत की आराधना भी हो जाती है। मनुष्य स्वयं व्रत ले कि वह सत्ता और सम्पत्ति का संचय नहीं करेगा तथा परिग्रह प्राप्ति के लिये मूर्छित नहीं बनेगा। वह परिग्रह को अपनी आवश्यकता के अनुसार ही रखेगा तथा उपभोग—परिभोग की वस्तुओं की मर्यादा भी ग्रहण करेगा। अपरिग्रह व्रत के प्रति निष्ठा पहले भाव रूप में जागनी चाहिये ताकि मूर्छा के अभाव में उसका द्रव्य रूप स्वतः ही सध जायगा। अपरिग्रही निर्ग्रंथ हो जाता है।

(६) सम्यक् दर्शन—दर्शन का अर्थ होता है देखना अतः सम्यक् रीति से देखने का नाम सम्यक् दर्शन है। दर्शन आस्था का आधार होता है अतः सम्यक् आस्था के साथ जो ज्ञानार्जन किया जाता है, वही सम्यक् ज्ञान का रूप लेता है। सम्यक् दर्शन से समभाव उमड़ता है, समदृष्टि बनती है तथा अन्ततोगत्वा जीवन के सम्पूर्ण आचरण में समता का समावेश हो जाता है। दर्शन सम्पन्नता की पृष्ठभूमि पर ही ज्ञान की ज्योति जलती है तथा वही दर्शन परिपूर्ण बन कर क्षायिक सम्यक्त्त्व का स्वरूप धारण करता है सम्यक् दर्शन के बिना आत्मा का पराक्रम शुद्ध नही बन सकता है। इसी कारण सम्यक् दर्शन को मोक्ष का प्रथम सोपान कहा गया है जिस पर चढ़ कर आत्मा आगे के सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र के सोपानो पर आरूढ़ होती है।

(७) सम्यक् ज्ञान—सम्यक् आस्था युक्त ज्ञान सदा आचरण की प्रेरणा देता है। इसीलिये ज्ञान और क्रिया के सफल संयोग से ही मोक्ष का द्वार खुलता है। सम्यक् आस्था के साथ सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति सरल बनती है। ज्ञानी आत्मा—यथा स्थान स्व-पर कल्याण को ही अपना परम उद्देश्य

मानती है तथा सभी प्रकार की ऊंची नीची परिस्थितियों में समभाव रखने को उच्च आदर्श। ज्ञान से ही वस्तु का सत्य स्वरूप जाना जाता है तथा यथा दृष्टि से देखने का अभ्यास बनता है। सबके सब भावों को जानना ज्ञान का श्रेष्ठ कार्य कहा गया है क्योंकि उस से अहिंसामय आचरण ढलता है और चारित्र सहित ज्ञान जब परमोत्कृष्ट हो जाता है तो वह केवल ज्ञान होकर सम्पूर्ण लोकालोक को हस्तामलकवत् देखता है। ज्ञानी सदा सुखी रहता है और अज्ञानी सदा दुःखी। अतः स्वाध्याय में निरत रहकर सदा ज्ञानार्जन हेतु सचेष्ट रहना चाहिये।

(८) सम्यक् चरित्र—आस्था भी हो और ज्ञान भी, लेकिन यदि ये दोनों गुण आचरण में नहीं उतरे तो वे पूर्ण फल प्रदायी नहीं होती हैं। आचरण ऐसी कसौटी होती है जिस पर किसी की आस्था अथवा ज्ञान-गंभीरता का मूल्यांकन किया जा सकता है। मोक्ष भी ज्ञान और क्रिया दोनों के संयोगी पुरुषार्थ से ही हो सकता है।

(६) श्रद्धा—धर्म सुन लें, समझ लें किन्तु उस पर यदि श्रद्धा —विश्वास न करें तो उस आत्मा का कभी भी उद्धार संभव नहीं है क्योंकि संशयात्मा, विनष्ट हो जाती है। जो अपनी श्रद्धा को सम्यक् बना लेता है, वह अपने मार्ग पर कहीं रुकता नहीं है क्योकि उसके मार्ग पर हमेशा उसके श्रद्धा पुरुष का प्रकाश छाया हुआ रहता है। ज्ञान दुर्लभ, तब श्रद्धा कठिन और उससे भी कठिन होता है पुरुषार्थ —किन्तु यदि ये तीनों मिल जांय तो आत्म विकास में विलम्ब नहीं लगता।

(१०) आत्मा—आत्मा अपने मूल गुणों के अनुसार सर्वशक्तिमान् होती है किन्तु उसकी यह शक्ति कर्म पुदगलों से आच्छादित होकर धूमिल बनी हुई रहती है अतः कर्मों के संवर तथा निर्जरा की प्रक्रिया द्वारा जब कर्मावरण समाप्त कर दिये जाते हैं तब यहीं बद्ध आत्मा बुद्ध और सिद्ध बन जाती है। संसार रूपी महासागर में यह आत्मा गोते खा रही है लेकिन यदि यह अपने शरीर को नौका बनाकर स्वयं कुशल नाविक हो जाय तो खेवापार हो सकता है। आत्मा स्वयं की स्वयं ही ज्ञाता और दृष्टा होती है तथा स्वयं ही कर्त्ता और भोक्ता होकर अपने स्वरूप के प्रति जागृत हो जाय तो उसके समान उसका अन्य कोई मित्र नहीं होता और जब तक वह विषय-कषायों के दल-दल में फंसी रहती है तब तक वह अपनी ही शत्रु बनी रहती है। अतः आत्मा जब स्वयं को ही जीतती है तब वह अपने आपको कर्म मुक्त कर लेती है।

(११) मोक्ष—आत्मा का उसके मूल स्वरूप में पूर्णतः कर्मावरणों से अनावृत्त हो जाने का नाम ही मोक्ष है। आत्मा पौदगलिक जड़ के साथ संयुक्त होने के कारण ही संसार में संसरण करती है और जब आसक्ति मूलक इस संयोग को सर्वथा समाप्त कर दिया जाता है तब उस आत्मा का मोक्ष हो जाता है। तब आत्मा सम्पूर्णतः स्व स्वरूप में स्थित होकर केवल ज्ञान स्वरूप हो जाती है। रत्न त्रय की साधना या ज्ञान क्रिया की आराधना ही आत्मा को मोक्षगामी बनाती है। और यह साधना व आराधना समता भाव की सम्पूर्ण अवाप्ति से ही सफल बनती है। जन्म-मरण के बंधन से मुक्त होकर आत्मा अपने अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य में रमण करती है। सिद्धात्मा ज्योति में ज्योति स्वरूप एकीभूत होकर सदा काल के लिये आनन्दमय बनी रहती है। मोक्ष पद ही आत्म-विकास की इस महायात्रा का चरम गंतव्य होता है।

(१२) तप—तप का अर्थ होता है तपना और तपने से मैल क्षय होता है व निर्मलता आती है। यह आत्मा संसार के विषय-कषायों में रमती हुई कर्मों का मैल अपने स्वरूप पर लेपती

जाती है जिससे वह मलयुक्त बनी रहती है। जैसे मलयुक्त स्वर्ण को अग्नि में तपाने से वह शुद्ध बनता है, उसी प्रकार आत्मा जब अपने आपको कठिन तपश्चरण की आग में तपाती है तब उसका कर्म रूपी मैल नष्ट होता जाता है तथा उसका निर्मल स्वरूप प्रकाशित होता जाता है। तप कर्मों की निर्जरा करता है और आत्मा को मुक्ति की ओर ले जाता है। तप की आराधना देह-मोह को नष्ट करती है और आत्मानन्द को प्रकट करती है। आत्मा के विकास में तपाचरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(१३) संयम—तप करना यदि आग में तपना हैं तो संयम का अर्थ आत्म-मल का प्रक्षालन करना है। प्रक्षालन शान्त प्रक्रिया होती है तो तप एक कठिन प्रक्रिया। संयम का अर्थ है इच्छाओं का संशोधन ज्यों-ज्यों इच्छाओं के शंसोधन का अभ्यास संयम के माध्यम से बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों विषय-कषायों का आवेग, राग द्वेष की तीव्रता तथा प्रमाद की उन्मत्तता घटती जाती है और जीवन के सभी क्रिया कलाप आत्माभिमुखी होने लगते हैं। एक बार समता के साथ दृढ़तापूर्वक जब यह आत्मा अपने स्वरूप को समझ लेती है तो उसका पुरुषार्थ संयम के मार्ग पर सजग एवं सक्रिय बन जाता है। इसीलिये कहा है कि संयम पर चलना तलवार की धार पर चलने के समान होता है, क्योंकि पल पल पर भटक जाने वाले मन तथा इन्द्रियों को संयमित करना होता है। संयम की साधना आत्मा की निर्मलता एवं तेजस्विता को प्रखर बनाती है।

(१४) अभयव्रत्ति—जो मनुष्य अपने साथियों तथा अन्य प्राणियों के मन में अपनी शक्तियों के दुष्प्रयोग से भय उपजाता है, वह भयभीत भी रहता है, इस कारण भय को बहुत बड़ा दुर्गुण माना गया है। भय के भाव को जीतना ही अभय व्रत है। इसका लक्षण है कि सबको अभय बनाओ अपने समभाव, अपनी समदृष्टि तथा अपने समतामय आचरण से और स्वयं भी अभय बन जाओ। अपने हृदय का समस्त स्नेह जो संसार के समस्त जीवों पर उडेल देता है और उन्हें सुखी बनाने के सच्चे पुरुषार्थ में जुट जाता है, वह अभय और निर्भय बन जाता है। जो आत्म बल को अभिवृद्ध बना लेता है, उसकी अभयता स्थायी और सुदृढ़ बन जाती है। आत्म बल के सिवाय अन्य सभी प्रकार के बल तुच्छ और भय प्रदायक होते हैं। आत्म बली ही अभय हो सकता है तो वही सभी को अभय दान भी दे सकता है।

(१५) विनय—विनय, रूप तप और सद्गुण को धर्म का मूल कहा गया है। विनय गुण को अपनाये बिना धार्मिकता का आविर्भाव ही संभव नही बनता है। विनय मूल में होना चाहिये, तभी सभी आत्म-गुणों का विकास हो सकता है। अपने अभिमान को छोड़ने पर ही विनय प्रकट होता है। एक ओर अभिमान क्रोध आदि अन्य कषायों को उत्तेजित बनाता है तो दूसरी ओर अपने मद पोषण के लिये अपार सत्ता और सम्पति का संचय करने में ऊंधा बन जाता है। वहीं विनय गुण उस के आत्मिक अधःपतन की दिशा को ही बदल देता है और धर्म रूपी वृक्ष को हरा भरा बना देता है। विनय धर्म है, तप है और सम्पूर्ण आत्म-विकास का मूल है। ज्ञान विनय, दर्शन विनय आदि सात प्रकार के विनय से आत्म स्वरूप में धृति, मृदुता और कान्ति का संचार हो जाता है।

(१६) वैराग्य—संसार में राग भाव का होना ही आत्मा की कलुषितता का मुख्य कारण है। द्वेष तो राग की ही प्रतिक्रिया का रूप होता है। अतः राग से विरत होने की भावना का नाम ही वैराग्य है और यही वैराग्य जब अपनी सम्पूर्ण उत्कृष्टता के रूप में प्रतिफलित होता है तब

वीतरागता की प्राप्ति संभव बन जाती है। जब आत्म-चिन्तन के क्षणों में सांसारिकता की दुरावस्था का भान होता है, सांसारिक सम्बन्धों एवं कामनाओं की तुच्छता अनुभव में आती है तथा विषय-कषाय जन्य कष्टों का सामना करना पड़ता है, तब वैराग्य की भावना उद्भूत होती है। वैराग्य की धारा में सांसारिकता की हेयता स्पष्ट हो जाती है। तब विरागी आत्मा संसार त्याग करके संयम के पुरुषार्थ में संयोजित हो जाती है। एकत्व आदि भावनाएं वैराग्य को प्रबल और प्रखर बनाती रहती है तथा आत्मा को आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित बनाये रखती है। आत्मा को धर्म की चिर शरण में ले जाने वाला वैराग्य होता है।

(१७) पुण्य—पुण्य यद्यपि कर्म बंधन है, फिर भी अपनी शुभता के कारण आत्म-विकास में एक सहयोगी की भूमिका निभाता है तथा संसारी आत्माओं को शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करने की सफल प्रेरणा देता रहता है। पुण्य को उस जहाज की उपमा दी गई है जिसमें सारी सुविधाओं के साथ बैठकर सरलतापूर्वक समुद्र पार किया जाता है। यह दूसरी बात है कि उप पार पहुंचने पर जहाज को भी छोड़ देना पड़ता है। संसार रूपी महासमुद्र को सरलता से पार कराने में पुण्य कर्म ऐसे ही जहाज का रूप बन कर आत्मा को उत्थान के चरम बिंदु तक पहुंचाता है। पुण्य कर्म के उदय में आने पर जिस प्रचुर मात्रा में सुख सुविधाएं प्राप्त होती है, उनके बीच में बैठकर आत्मा अगर मूर्छित हो जाय तो वह पाप पंक में डूब जाती है किन्तु उन्हीं सुविधाओं को यदि वह अपने उत्थान मार्ग के अनुकूल बना लेती है तो वह अपने गंतव्य तक भी पहुंच सकती है।

(१८) सत्संग—एक कहावत है कि काले के पास गोरा बैठ जाय तो वह उसका वर्ण तो नहीं ले सकेगा मगर उसके 'लक्खण' जरूर ले लेगा। इसका अर्थ है कि संगति का जीवन पर भारी प्रभाव पड़ता है। जैसी संगति में मनुष्य रहता है, वैसे ही गुण वह अपना लेता है। इस दृष्टि से प्रकृति के इस तथ्य को ही ले लीजिये कि स्वाति नक्षत्र में आकाश से बरसी बूंद सीप के मुंह में पहुंच कर अनमोल मोती बन जाती है तो वही बूंद सर्प के मुंह में गिर कर मारक विष का रूप ले लेती है। फिर मनुष्य की तो बात ही क्या है? इसीलिये सत्संग की महिमा गाई गई है। दुर्जनों का संसर्ग मनुष्य के मन को दुर्गुणों से भर देता है तो सत्पुरुषों के सम्पर्क में रहकर मनुष्य अपने मन का संताप ही नहीं मिटाता बल्कि अपने आपको सद्धर्ममय व सद्गुण-सम्पन्न भी बना लेता है। स्वल्प सत्संग भी मनुष्य का उसी रूप में कल्याण करता है जिस रूप में स्वल्प लवण सम्पूर्ण भोजन को सुस्वादु बना देता है। सत्संग सद्धर्थ का प्रेरक होता है।

(१६) क्षमा—क्षमा को वीरों का भूषण बताया है, कायरों का नहीं। जो स्वयं आत्मशक्ति से सम्पन्न होता है, वहीं दूसरों को क्षमादान दे सकता है। क्रोध और प्रतिशोध की अग्नि का शमन करके क्षमा रूपी शीतल जल का जो सर्वदा और सर्वत्र सिंचन करता है, वह स्वयं ही महात्मा नहीं बनता बल्कि जिन्हें क्षमादान देता है, उन्हें भी अपने साथ स्व-पर कल्याण के मार्ग पर अग्रगामी बना देता है। क्षमापना से आत्मा को अत्यन्त आह्लाद का अनुभव होता है और क्षमावान अन्य किसी के अपकार को नहीं, उपकार को ही स्मृति में रखता है। क्षमा का ही दूसरा नाम सहनशीलता है और सभी तरह के संकटों को जीत लेना एक क्षमावान के ही सामर्थ्य में होता है, मनुष्य का आभूषण सद्गुण है, सद्गुणों का आभूषण ज्ञान तो ज्ञान का आभूषण क्षमा धर्म है। एक क्षमावान सर्व जीवों से अपने अपराधों की निश्छल भाव से क्षमा चाहता है और वैसे ही उदार भाव से सभी को क्षमा

करता है, क्योंकि वह समस्त प्राण, भूत सत्व और जीवों को अपने मित्र समझता है, किसी के भी प्रति तनिक भी वैरभाव नहीं रखता है।

(२०) अप्रमत्तता—आत्म-विकास के विस्तृत मार्ग को एक वाक्यांश में इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि एक समय (काल का सूक्ष्मतम घटक) के लिये भी प्रमाद मत करो। इससे प्रमाद का अति आत्मघातक स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है। विषय-कषाय के उग्र आवेश में रमण करते हुए आत्मा जिस मूर्छा एवं उन्मत्तता को प्राप्त होती है, वह दुरवस्था उसके प्रमाद की होती है। प्रमाद के वशीभूत होकर वह हिंसा भी करती है और असत्य, चौर्य, कुशील व परिग्रह का सेवन भी करती है। इस प्रकार प्रमाद उसके पतन का महाद्वार बन जाता है। इसी दृष्टि से अप्रमत्तता को आत्म जागृति का रूपक कहा गया है। उन्माद हटे, तभी तो बुद्धि प्रकट हो सकती है और बुद्धि सुबुद्धि बनकर स्व-पर कल्याण के साध्य को साध सकती है। मद्य, निद्रा, विकथा, विषय और कषाय रूप प्रमाद जहां सुषुप्ति का कारण भूत होता है वहाँ अप्रमत्तता आत्मा को सदा जागृत रखती है और विकास के मार्ग पर सुरक्षा प्रदान करती है।

(२१) समभाव—समभाव को समत्व योग कहिये जिसके सद्भाव में मनुष्य सम्पत्ति और विपत्ति में, मित्रता और शत्रुता में तथा मनोज्ञ और अमनोज्ञ में समान भाव रखता है तथा उसी प्रकार सभी छोटे बड़े या ऊंचे नीचे प्राणियों के प्रति भी अपने सकल व्यवहार में वह समानता बरतता है। समभाव की यह साधना आत्मदमन, जितेन्द्रिय तथा आचरण समता के कठिन अभ्यास से ही सफल बनती है। एक समभावी ही सुव्रती हो सकता है और सुव्रत से समता की उत्कृष्ट श्रेणियों में पहुंचा जा सकता है। समभाव का अड़तालीस मिनिट की सामायिक के रूप में प्रारंभ हुआ प्रशिक्षण सम्पूर्ण जीवन की सामायिक-साधुता में परिणत हो सकता है। समभाव ही भीतर बाहर की सारी गांठें खोल कर साधक को निर्ग्रंथ बना देता है। समत्व योगी की अभेद दृष्टि हो जाती है।

इस प्रकार ज्ञेय हेय एवं उपादेय तत्त्वों का ज्ञान इस दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देता है कि सबको जानों बुरों को छोड़ो और अच्छों को अपना लो। किन्तु इसके साथ ही आत्मा में यह चेतना जागनी भी जरूरी है कि उसका अपना मूल स्वभाव क्या है, वह आवृत्त होकर विभाव कैसा ढल गया है तथा विभाव मिटाकर स्वभाव को प्रकट करने के सहयोगी तत्त्व कौन कौन से हो सकते हैं?

आत्म-स्वभाव-विभाव चर्चा

मैं पराक्रमी हूं, पुरुषार्थी हूं और समझिये कि मैंने ज्ञेय, हेय और उपादेय तत्त्वों का ज्ञान भी कर लिया है। किन्तु उपादेय तत्त्वों का सहयोग मेरी जागृत आत्मा ही ले सकती है। अतः मुझे आत्म स्वरूप का दर्शन करना होगा और यह अनुभव करना होगा कि मेरी आत्मा का मूल स्वभाव क्या है और वर्तमान में वह कितने स्व-भाव में और कितने विपरीत भाव (विभाव) में रमण कर रही है? फिर मुझे अपना पुरुषार्थ जगाना होगा कि मैं अपनी आत्मा को उपादेय तत्त्वों के ज्ञानाचरण के द्वारा विभाव से निकालू और स्व-भाव में अधिकाधिक प्रतिष्ठित करूं।

अतः सर्वप्रथम मैं समझूं कि आत्मा का मूल स्वभाव क्या होता है और उसके विभाव का कैसा रूपक बनता है? आत्म-स्वभाव-विभाव की चर्चा से मैं आत्मा के वास्तविक विकास के मार्ग का सम्यक् प्रकारेण निर्धारण कर सकूंगा।

मेरा अनुभव यह है कि स्वभाव चाहे जितना दब जाय, छिप जाय अथवा विस्मृत हो जाय—वह कभी भी सही अपनी झलक दिखाना नहीं छोड़ता है। मैंने महसूस किया है कि जब मैं कोई ऐसा विचार मन में लाता हूं, ऐसा वचन बोलता हूं अथवा ऐसा कार्य करना शुरू करता हूं जो अन्तर्मन से मेरी आत्मा नहीं चाहती—उसके विरुद्ध वह अपनी पहली आवाज जरूर उठाती है। यह दूसरी बात है कि मैं उस आवाज को अनसुनी कर दूं और अवांछित विचार, वचन या कार्य में प्रवृत्ति करता रहूं। यह पहली भीतरी आवाज आत्मा की आवाज होती है। इसी प्रकार ऐसे किसी विचार, वचन या कार्य में मेरी प्रवृत्ति होती है जो अन्तर्मन से मेरी आत्मा को अच्छा लगता है तो भीतर से एक अनूठे आनन्द की धारा फूटती है जिसका अनुभव संसार में महसूसे जाने सुख के अनुभव से अलग और अनूठा ही होता है। इस रूप में 'ना' या 'हाँ' की संकेतक आत्मा की आवाज का अनुभव मुझे ही नहीं, सभी को अवश्य होता होगा। बुरी आदत यही बन जाती है कि अधिकतर लोग आत्मा की आवाज को कुचलते हुए उन्मार्ग पर आगे बढ़ते चले जाते हैं।

आत्मा को क्या अच्छा लगता है और क्या बुरा—यह समझने-समझाने की अपेक्षा भी स्वानुभूति का विषय अधिक है। समझने-समझाने में तर्क-कुतर्क उठाये जा सकते हैं और केवल प्रमाणित करने की ही दृष्टि से अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा भी प्रमाणित किया जा सकता है किन्तु जब कोई एकाग्र जागरण के साथ भीतर झांकता और भीतर की आवाज को सुनता है तो सत्य उसके समक्ष प्रकाशित हुए बिना नहीं रहता। यों अच्छे-बुरे की जो लौकिक परिभाषाएं अथवा संवेदनाएं हैं, वे भी स्वानुभूति का धरातल बन सकती हैं। मैं सोचता हूं कि मैंने जब कभी किसी पीड़ा से कराहते हुए व्यक्ति को देखा होगा तो मेरे हृदय में करुणा और सहयोग का जो आवेग उठा होगा, उससे मुझे अवश्य ही अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव हुआ है। इसके विपरीत जब कभी मैंने अत्यन्त गुप्त रूप से भी किसी को कष्टित करने का कोई प्रपंच रचा होगा तो मेरी आत्मा ने पहले क्षण में मुझे धिक्कारा ही होगा। उस समय मेरे जागृत भाव रहे होंगे तो मैंने अपना हाथ उस प्रपंच से पीछे खीच लिया होगा अन्यथा उस आवाज को दबा कर मैं अपने उस कुकृत्य की दिशा में आगे बढ़ गया होऊंगा। ऐसी मनोदशा से सभी प्राणी गुजरते हैं किन्तु अन्तर यही रहता है कि जागृत उस आवाज को सुनते हैं, उसका अनुसरण करते हैं तथा आत्मा को बलशाली बनाते रहते हैं, अन्यथा मोहग्रस्त उस आवाज को क्या कुचलता है कि अपने गुण सम्पन्न जीवन को ही कुचलता रहता है और अपने आत्मस्वरूप को अधिकाधिक कलंकित बनाता रहता है।

स्वानुभूति से मैं जान लेता हूं कि आत्मा को क्या अच्छा लगता है और क्या बुरा। जो 'अच्छा' अच्छा लगता है वह उस का स्वभाव होता है और जो 'अच्छा' भी उसे बुरा लगने लग जाता है अथवा जो 'बुरा' भी उसे अच्छा लगने लग जाता है, वह उसका विभाव हो जाता है। स्वभाव को जहां तक आत्मा स्मृति में रखती है और उसमें स्थित रहने का प्रयास करती है, वहां तक उसकी जागृत अवस्था ही समझी जानी चाहिये। इस जागृत अवस्था की न्यूनाधिक कई श्रेणियाँ हो सकती हैं। जब मेरी आत्मा भीतर से अपनी आवाज उठाती है और वह सामर्थ्यवान होती है तो अपने मन और अपनी इन्द्रियों को वैसा अनिच्छित कार्य करने से रोक देती है। यदि उसका इस प्रकार से रोकना सफल होता रहता है तो वह स्थायी रूप से अशुभ कार्यों से दूर रह जाती है। किन्तु यदि उसकी नियंत्रण शक्ति ढीली होती है तो वह अपने मन व इन्द्रियों को रोक नहीं पाती है। ऐसी आत्मा अपने ही मन और अपनी ही इन्द्रियों के पीछे घिसटती हुई चलने लगती है। उसकी

ऐसी अनियंत्रित अवस्था ही उसकी सुप्राप्ति बन जाती है। तब उसका भटकना अपने विभाव में होता है। वह विभाव उसे कर्म बंधनों में बांधता रहता है और उसे भारी बनाता रहता है। फिर वह उस कर्म भार के कारण नीचे से नीचे गिरती रहती है और विभाव की सघन स्थिति में फंस जाती है।

मैं अनुभव करता हूं कि आत्मा मूल रूप में हलकी होती है और जब तक वह हलुकर्मी रहती है तब अपने स्वभाव के ऊपर तैरती रहती है। किन्तु कर्मों के भार से जब वह भारी बनने लगती है तो फिर वह डूबने लगती है। विभाव की अतल गहराई में वहां कहां तक नीचे डूबती चली जाती है, वह उसकी प्रमाद अवस्था की सघनता पर निर्भर करता है। यह नियम भी नहीं है कि जब वह तैरती है तो तैरती ही रहती है अथवा डूबना शुरू करती है तो डूबती ही चली जाती है क्योंकि आत्मा का यह तैरना और डूबना उसकी भाव-सरणियों पर आधारित होता है। तैरते रहने की दशा में जब भावनाएं विकृत होती है तो वह डूबने लगती है। डूबते-डूबते भी जिस रूप में उसकी भावनाओं में संशोधन होने लगता है तो उस परिमाण में वह फिर ऊपर उठने लगती है। यह तैरना और डूबना इस प्रकार निरन्तर चलता रहता है जो गतियों में परिलक्षित होता है। जैसे कि यह आत्मा के ऊपर उठ आने का प्रमाण है कि मुझे मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ। यदि मैं इस उपलब्धि का सदुपयोग करूं और अपनी भावनाओं को शुभता के रूप में परिवर्तित करता हुआ चलूं तो मैं अपनी आत्मा को और ऊपर उठाता हुआ चल सकता हूं—यहां तक कि वह सतह तक पहुंच जाय और पूर्ण हलुकर्मी बन जाय। इसके विपरीत मैं आत्माभिमुखी न रहकर संसार के काम भोगों में लिप्त होता रहूं तो तैरने के प्राप्त स्तर को छोड़कर नीचे डूबता चला जाऊंगा और यह भी मेरी करणी पर निर्भर करेगा कि मैं कितना नीचे पहुंच जाऊं। इस जन्म के बाद उस दृष्टि से मैं आगामी जन्म में पशु योनि प्राप्त करलूं या नरक में ही पहुंच जाऊं। इसी प्रकार तिर्यंच या नरक गति में रहे हुए जीव भी अपनी भावनाओं का यत्किंचित परिष्कार करते हुए ऊपर की गतियों में आ सकते हैं। जब तक ऊपर उठने और नीचे जाने का आत्मा का यह क्रम बना रहता है तब तक उसका संसार में भव भ्रमण भी बना रहता है—स्वभाव और विभाव में आवागमन चलता रहता है। कभी स्वभाव में अधिक स्थिति हो जाती है तो कभी विभाव में भटकाव बढ़ जाता है। जब विभाव के घेरे से पूरी तरह निकल कर आत्मा स्वभाव में स्थित हो जाती है तभी उसकी विभाव से मुक्ति होती है।

अपने स्वभाव तथा विभाव में इधर उधर आने जाने की आत्मा की प्रक्रिया को एक दृष्टान्त से समझें। एक लकड़ी के टुकड़े का स्वभाव पानी की सतह पर तैरना होता है। उसे आप पानी में डालें तो वह पानी की सतह पर तैरने लगेगी। अब उसी लकड़ी के टुकड़े को हल्के टिन की डिबिया में बंद करके पानी में डालें तो वह कुछ कुछ नीचे डूबने लगेगा और उसी लकड़ी के टुकड़े को मोटे लोहे के डिब्बे में बंद करके पानी में डालें तो वह कुछ-कुछ नीचे डूबने लगेगा और उसी लकड़ी के टुकड़े को मोटे लोहे के डिब्बे में बन्द करके पानी में डालें तो वह डूब कर पुनः तले तक चला जायगा। इसी तरह उसे तले से उस डिब्बे से निकाल कर खुला छोड़ दें तो वह ठेठ ऊपर उठ आयगा। कहने का आशय यह है कि उस हल्के लकड़ी के टुकड़े के साथ जितना वजन बंधा होगा उसी परिमाण में वह पानी की गहराई में नीचे उतरेगा या ऊपर उठेगा। अब उस लकड़ी के टुकड़े का पानी की सतह पर तैरना स्वभाव है और उसके साथ डिबिया या डिब्बे का बंधन उसका विपरीत स्वभाव या विभाव होता है। वह टुकड़ा स्वभाव के कारण तैरता है और विभाव के कारण डूबता है। आत्मा की तुलना इसी लकड़ी के टुकड़े से कीजिये। मूल स्वभाव से आत्मा संसार सागर

की सतह पर पहुंचती है किन्तु विभाव में पड़ कर जितना कर्म-भार अपने साथ बांधती है, उसी परिमाण में वह डूबती हुई चली जाती है। जल की गहराई में भी उसका ऊपर उठना या नीचे उतरना इसी कर्म भार की न्यूनाधिकता के अनुसार चलता रहता है।

स्व-भाव ही धर्म होता है

किसी भी पदार्थ को उसका स्वभाव ही धारण करता है या यों कहें कि अपने अमुक स्वभाव के कारण ही अमुक पदार्थ उस रूप में जाना जाता है। जल का स्वभाव शीतल होता है इसी कारण उसे जल कहते हैं। अग्नि का स्वभाव जलाने का होता है तो उसे अग्नि कहते हैं। यह सामान्य समझ सबमें होती है। सब समझते हैं कि कहीं कुछ जल रहा हो तो उस पर पानी डाल दो ताकि शीतलता ऊष्णता को दबा देगी। शीतलता और ऊष्णता को जल और अग्नि का धर्म भी कह दिया जाता है।

जो यह सत्य वीतराग देवों ने उद्‌घाटित किया और घोषणा की कि वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म होता है। जल का धर्म शीतलता है और अग्नि का धर्म ऊष्णता है, इसी दृष्टि से आत्मा का धर्म क्या होगा—यह उपरोक्त विश्लेषण से सोचना होगा। एक शब्द में इसका उत्तर बतावें तो आत्मा का धर्म ज्ञाता दृष्टादि भावों के साथ ऊर्ध्वगामिता होगा—ऊपर उठने की अन्तिम ऊंचाई तक ऊपर उठ जाना और फिर सदा सर्वदा के लिये उस उच्चतम बिन्दु पर स्थित हो जाना। आत्मा का यह ऊर्ध्वगामिता का स्वभाव ही उसका धर्म कहलायगा।

धर्म के सम्बन्ध में जो सामान्य समझ है—वह कहां तक सही है? सामान्य रूप से धर्म समझा या कहा जाता है विभिन्न सिद्धान्तों को अथवा विभिन्न महापुरुषों के उपदेशों को। इसी रूप में धर्म की धारणा ली जाती है कि अमुक महापुरुष ने जो उपदेश दिये, वे उसके नाम से एक धर्म के रूप में प्रचलित हो गये। इस धारणा के आधार पर ही वैष्णव, इस्लाम या ईसाई आदि 'धर्म' कहलाते है। समय-प्रवाह में इन्हीं धर्मों के दायरों में अलग-अलग गुरुओं के उन्हीं उपदेशों के बारे में जब अलग-अलग अर्थ विन्यास हुए तो वे इसी धर्म में अलग-अलग मतों के नाम से जाने जाने लगे। यों कई धर्म और एक धर्म में कई मत आज जाने जाते हैं। वस्तुतः यह सामान्य समझ इस रूप में सही नहीं है। इस समझ के सही नहीं होने का ही सबूत है कि विभिन्न धर्मानुयायियों में पारस्परिक विवाद खड़े होते हैं और आज ऐसे विवादों ने जटिल संघर्षों तथा दंगों तक का हिंसक रूप ले लिया है। धर्म के नाम पर भी यदि लड़ना है तो फिर एक रहने की शिक्षा कौन देगा? इसलिये धर्म के स्वरूप को सही तरीके से समझने की आज महती आवश्यकता है।

फिर धर्म क्या है? वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म होता है और तदनुसार आत्मा का धर्म समभाव पूर्वक ज्ञाता दृष्टा आदि भावों के साथ ऊर्ध्वगामिता है। मनुष्य का धर्म आत्मा के धर्म में समाहित हो जाता है क्योंकि मनुष्य तन में भी उसकी आत्मा का निवास होता है। अतः मनुष्य का धर्म भी हुआ कि वह अपने स्वभाव की उच्चता पर स्थित हो। उच्चस्थ स्थिति ही उसका धर्म है। इस दृष्टि से धर्म एक स्थिति या अवस्था का नाम है, जहां इस विभावग्रस्त आत्मा को पहुंचना है।

अतः स्पष्ट तौर पर समझें कि धर्म उस विशुद्धावस्था का नाम है जहां पर आत्मा पूर्ण रूप से अपने स्वभाव में स्थित हो जाती है। धर्म प्राप्ति के योग्य उच्चतम अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त करना आत्मा का सर्वोच्च लक्ष्य है और इस रूप में यही उसका स्वभाव है एवं यही उसका धर्म

है। वर्तमान में आत्मा चूंकि उसके स्वभाव में पूर्णतया रमण नहीं करती है या यों कहें कि वह जितनी विभाव में प्रगाढ़ रूप से विस्मृत बनी हुई है उतनी ही वह अपने स्वभाव से दूर है और उसी रूप में अपने धर्म से भी दूर है। अपने स्वाभाविक गुणों को वह जितने अंशों में ग्रहण करती जायगी, उतने ही अंशों में वह अपने धर्म के निकट पहुंचती जायगी। किन्तु उसने धर्म को प्राप्त कर लिया है —यह तभी कहा जायगा जब वह अपने विभाव को पूर्णतया समाप्त कर लेगी तथा सम्पूर्णतया अपने स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जायेगी। यही उसकी सिद्धावस्था होगी।

इस दृष्टि से अपने धर्म को प्राप्त कर लेना—यह आत्मा का लक्ष्य है—साध्य है। धर्म ऐसी अवस्था है जिसमें आत्मा को अन्तिम रूप से प्रतिष्ठित होना है। संसारी आत्माओं को इस रूप में अपने धर्म को प्राप्त करना है क्योंकि वे अपने धर्म या स्वभाव से अभी तक दूर हैं। इस प्रकार धर्म साध्य है, साधन नहीं। आत्मा को अपने धर्म को प्राप्त करने के लिये जिन साधनों को समझ कर अपनाने की आवश्यकता होती है, वे हैं महापुरुषों के उपदेश। इन उपदेशों के आधार पर आत्मा ऐसा पुरुषार्थ कर सकती है कि वह अपने धर्म के निकट पहुंचती चली जावे और एक दिन उसे प्राप्त कर ले।

विभाव मुक्ति अथवा स्वभाव प्राप्ति इस प्रकार आत्मा का धर्म हुआ जो कि उसका साध्य है। इसी प्रकार जो विविध उपदेश हैं, वे इस साध्य को प्राप्त कराने में आत्मा के लिये साधन रूप बन सकते हैं। पहली बात यह है कि आत्मा के सामने अपना साध्य स्पष्ट हो जाना चाहिए। फिर वह अपने विवेक से अपने साध्य के अनुकूल साधनों का चयन करे जिन्हें सामान्यतया विभिन्न धर्मों के रूप में जाना जाता है, वे स्वयं धर्म नहीं है उन्हें धर्मनीतियों का नाम दिया जा सकता है जो आत्मा को धर्म तक पहुंचाने का दावा करती हैं। इन धर्मनीतियों की परीक्षा इसी कसौटी पर की जा सकती है कि वे किस रूप में आत्मा को उसके साध्य की ओर प्रगतिशील बनाने की क्षमता रखती हैं। एक ईश्वरत्व तक पहुंचने के ये भिन्न-भिन्न मार्गों के रूप में जानी जा सकती हैं यदि उनमें आत्म-धर्म प्राप्ति रूप साध्य की स्पष्टता विद्यमान हो।

धर्म और नीति समीक्षा

मन के स्वामी मनुष्य की प्रमुख शक्ति है विचार शक्ति। वह अपनी संस्कारिता, परम्परा या परिस्थितियों के अनुसार विचार करता है और निर्णय लेता है। उन विचारों और निर्णयों की वास्तविकता उसकी ज्ञान परिपक्वता पर आधारित होती है। यथार्थ का उसे जितना अधिक बोध होता है उतनी ही उसकी वैचारिकता और निर्णयशक्ति वास्तविक बनती है।सम्यक् ज्ञान और चरित्र के पुष्ट संयोग से विचारों का सम्यक्त्व अभिवृद्ध बनता है। अतः धर्म नीतियों की परख करते समय यह मानदंड सामने रखना होगा कि उनके उपदेशकों ने अपने जीवन की किस रूप में उच्चता प्राप्त की अथवा उनके जो दिये हुए उपदेश हमारे सामने हैं, वे आत्मोच्चता की किस स्थिति को प्रतिभासित करते है? एक छोटी सी वस्तु भी जब क्रय की जाती है तो क्रेता उसकी अपनी बुद्धि के अनुसार परीक्षा करता है और वह वस्तु उसकी परीक्षा में खरी उतरती है तभी उसका वह क्रय करता है। तो आत्मोत्थान जैसे महान् साध्य के लिये उपयुक्त साधनों का चयन तो एक महत्त्वपूर्ण दायित्व है क्योंकि चयन में भ्रम या भूल रह जाय तो आत्म विकास की गति ही विगति बन जाती है तथा प्रगति का स्थान पतन ले लेता है। साधनों की परीक्षा बुद्धि—यह आत्मा की अपनी विशिष्टता

होनी चाहिये। इसी विशिष्टता को आधार बना कर आत्मा सुदेव, सुगुरु तथा सुधर्मनीति का चयन कर सकती है।

प्रधानतः धर्म रूप साध्य अपनी दृष्टि में स्पष्ट हो तो तदनुकूल साधनों का याने कि नीतियों का चयन अधिक कठिन नहीं रहता है। कई प्रकार की नीतियों में धर्म नीति भी एक प्रकार होती है किन्तु वह विशिष्ट प्रकार रूप होती है। अन्य नीतियों की बात बाद में करें, पहले धर्मनीतियों के झंडों के नीचे पलने वाले मत-मतान्तरों की थोड़ी-सी चर्चा करलें।

मैं यह मानकर ही चलता हूं कि प्रत्येक विवेकपूर्ण विचार में कुछ न कुछ सत्यांश होता है और इस दृष्टि से प्रत्येक मत में कहीं न कहीं कुछ न कुछ सत्यांश होने की कल्पना करता हूं,अतः ऐसे प्रत्येक विचार का समादर करता हूं, और उसमें यदि कोई सत्यांश है तो उसे खोजने की चेष्टा करता हूं। किन्तु यह भी हो सकता है कि कई मत मात्र हठ, दुराग्रह या अपने मत को थोपने की कुचेष्टा से भी प्रचलित किये जाते हैं, ताकि ऐसे मत को थोपने वाले का सच्चा झूठा वर्चस्व बना रहे। ऐसे मतों की हठवादिता से ही पारस्परिक विवाद बढ़ते हैं। कई बार प्रारंभ में कोई विचार सदाशयी होता है किन्तु उसकी पकड़ बाद में अंधेपन से करादी जाती है जिससे भी कलहपूर्ण विवाद बढ़ते है। विशेष रूप से मत मतान्तर एकान्तवादिता के दुराग्रह के कारण भी पनपते है जो किसी दूसरे विचार को सहन करना ही नहीं चाहते, जिससे विद्वेष के आधार पर ही उनका पोषण होता है। इन सभी मतमतान्तरों के प्रति मेरा विचार है कि अनेकान्तवादी दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिये ताकि विचार सामंजस्य का वातावरण बन सके और विचार-मंथन से विचार-सार प्राप्त किया जा सके।

विचार सामंजस्य का जहां तक प्रश्न है, मेरा मानना है कि विभिन्न प्रकार की तथाकथित धर्म-नीतियों में भी अनेकान्तवादी दृष्टिकोण का प्रयोग आवश्यक है। जब आत्मा का साध्य स्पष्ट न हो तो साधनों में विभिन्नता भी दोषपूर्ण ही कही जायगा। साध्य का एक ही सशक्त साधन होना चाहिए। नाम भेद भी वहां पर अनुपयुक्त होता है। सद्गुणों अथवा सत्सिद्धान्तों के स्वरूप में सामान्यतः कोई अन्तर नहीं होता है, जो अन्तर होता है वह आराधना या उपासना की पद्धतियों में होता है। इस विभिन्नता में भी सद्विचार की सहायता से सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।

और यही विचार सामंजस्य धर्मनीतियों के अलावा अन्य प्रकार की सामाजिक नीतियों में भी स्थापित किया जा सकता है। सामाजिक नीतियों में राजनीति, अर्थनीति या ऐसी ही सामूहिक प्रभाव वाली नीतियों की गणना की जा सकती है। वस्तुतः इन नीतियों का उद्देश्य भी सामाजिकता को श्रेष्ठ बना कर प्रत्येक मनुष्य के भौतिक एवं तदनुरूप आध्यात्मिक विकास का मार्ग खोजना ही होता है। इस क्षेत्र में भी व्यक्ति (शासनस्थ या अन्य प्रकार से वर्चस्व रखने वाला) की हठवादिता, स्वार्थ-परता अथवा दुराग्रह की ही बाधाएं आती हैं जिन्हें विचार सामंजस्य के प्रयोग से दूर करने की अपेक्षा रहती है। राजनीति में भी शासन की कई पद्धतियाँ प्रचलित है और इसी प्रकार अर्थनीति में भी विभिन्न पद्धतियाँ हैं जो मनुष्य को स्वशासित बनाने का दावा करती हैं। इनमें सर्वाधिक विकसित लोकतंत्रीय पद्धति है जो राजनीति और अर्थनीति को समानता के सिद्धान्त पर चलाना चाहती है। प्रत्येक नागरिक को अपना शासन चलाने और अर्थनीति को समाजवादी ढंग से ढालने में यह लोकतंत्रीय पद्धति विश्वास रखती है। कई बार व्यक्ति अपनी विकास की प्रक्रिया में वस्तु

विचार विभिन्नता लिये हुए रहते हैं और एक बिन्दु तक पहुंच जाने पर नई पद्धति का विकास करते हैं। अतः मूल प्रश्न निष्ठा का है। निष्ठा सही लक्ष्य की तरफ है तो विचार भेद भी विकास का श्रेष्ठ फल देते हैं। और यदि निष्ठा दूषित रही तो वह उस विचार भेद को मन भेद तक ले जाकर अच्छे विचार को भी विवाद का विषय बना देती है। अतः अच्छे व्यक्तियों की प्रभाव-वृद्धि सामाजिक स्वास्थ्य के लिये सदैव लाभप्रद होती है।

मेरी मान्यता है कि अच्छे व्यक्तियों का निर्माण मुख्यतः श्रेष्ठ धर्मनीति के माध्यम से ही किया जा सकेगा क्योंकि धर्म नीति सबसे पहले व्यक्ति के सदज्ञान एवं सदाचरण पर ही बल देती है। व्यक्ति को सुधारने के लिये चाहे व्यक्तिगत प्रयोग किये जांय अथवा सामाजिक प्रयोग—सर्वप्रथम उसकी स्वयं की जागरूकता आवश्यक होती है और पहले बिंदु पर उसकी जागरूकता उभारने के लिये उसके निजी विचार एवं आचार पर ही ध्यान देना पड़ेगा और यह कार्य पारिवारिक संस्कारिता के साथ धर्मनीति ही सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकती है।

मानव निर्माण की भूमिका

व्यक्ति चूंकि एकाकीवास नहीं करता, वह अपने साथियों के समूह के बीच में रहता है या यों कहें कि समाज में रहता है अतः वह सामाजिक शक्तियों से भी पूर्णतः प्रभावित होता है। और आज तो विविध वैज्ञानिक आविष्कारों एवं अनुसंधानों ने सामाजिकता का दायरा अत्यधिक विस्तृत बना दिया है। जहाँ पहले व्यक्ति का एक छोटे से निकटस्थ समूह से ही विशेष सम्पर्क रहता था, वहां आज वह करीब-करीब परोक्ष रूप से सारे ज्ञात संसार से सम्पर्करत होता है। वास्तव में उसकी जानकारी का दायरा इतना ही फैल गया है और जब विस्तृत सम्पर्क का क्षेत्र है तो यों मानिये कि उस पर उतनी ही विस्तृत सामाजिकता का भी असर पड़ता है। एक दूसरे समूह की सभ्यता और संस्कृति समूचे वातावरण पर भी अपना प्रभाव छोड़ती है। इस दृष्टि से आज मानव में मानवता का विकास एक रूप में जटिल बना है तो दूसरे रूप में सरल भी हुआ है। जटिल इस रूप में कि विविधताओं का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है जिसमें विचार सामंजस्य स्थापित कर एकरूप मानवता का विकास दुरूह बन गया है। और सरल इस रूप में कि अब व्यक्तिगत प्रयासों के साथ सामाजिक प्रयास इतने सशक्त बन गये हैं जिनका प्रभावशाली प्रयोग किया जाय तो उद्देश्य प्राप्ति अधिक समीप आ सकती है।

मानव में मानवता का निर्माण सभी को अभीष्ट है—धर्मोपदेशक भी यही कहता है तथा राजनेता अर्थवेता अथवा समाज सुधारक भी। निजी स्वार्थों में पड़ जाने से कथनी करनी का भेद अवश्य पैदा हो जाता है लेकिन उद्देश्य के प्रति एकरूपता है। मनुष्य जगेगा—मनुष्यता अपनायगा—तभी उसका विकास संभव है और साथ-साथ में समाज एवं समाज के विभिन्न संस्थानों का विकास भी संभव होता है। इस कथन में आपेक्षिक अनुसंधान आवश्यक है कि पहले व्यक्ति का विकास होगा, तभी समाज का विकास हो सकेगा, क्योंकि व्यक्ति और व्यक्ति से ही तो समाज की रचना होती है। किन्तु एक दृष्टि यह है कि व्यक्ति की अपनी शक्ति के अलावा भी सुव्यवस्था की दृष्टि से व्यक्ति द्वारा ही प्रदत्त शक्ति से एक सामाजिक शक्ति का अलग से विकास होता है और कई अर्थों में यह सामाजिक शक्ति भी व्यक्तिगत जीवन पर नियंत्रण करती है। पारिवारिक शक्ति इसी सामाजिक शक्ति का प्रारंभिक रूप होता है जो मोहल्ला, ग्राम, नगर, राष्ट्र आदि के स्तरों पर विकसित होती हुई एक अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति का रूप ले लेती है।

मेरे कहने का आशय यह है कि मानव निर्माण के महत् कार्य में इस सामूहिक शक्ति का भी लाभ लिया जाना चाहिये और धर्म नीति एवं एन्य नीतियों के प्रयोग से ऐसा वातावरण रचा जाना चाहिये जो मानवता को उत्प्रेरित करे। धर्म नीति का प्रयोग जहां अधिकांशतः व्यक्तिपरक होता है, वहां विभिन्न सामाजिक शक्तियों का प्रयोग समूह-परक। यह समूह अपने-अपने क्षेत्र के अनुसार विशाल, विशालतर या विशालतम हो सकता है। अतः दोनों प्रकार की नीतियों का प्रयोग साथ-साथ किया जा सकता है। धर्मनीति व्यक्ति को सद्ज्ञानाचरण की प्रेरणा से शक्तिशाली बनायगी तो सामाजिक नीतियों के द्वारा समाज के वातावरण को इस रूप में अनुकूल बनाया जा सकेगा कि सदाशयी व्यक्तियों को मानवता-निर्माण के कार्य में सरलता हो सके और स्वयं वे भी निरबाध रूप से आगे बढ़ सके।

इस उभय पक्षी प्रयोग की महत्ता को इस प्रकार समझें कि एक व्यक्ति को चलना है। उसके सामने जहां चलना है उस भूमि की दो प्रकार की दशा हो सकती है। एक तो यह हो कि कोई मार्ग बना हुआ नहीं है—भूमि कंटीली, पथरीली और ऊबड़-खाबड़, जहां पथिक को ही अपना मार्ग खोजना है और उस बीहड़ भूमि पर आगे से आगे चलना है। उस चलने में पैरों से कितना खून बहेगा, अंग अंग में किस तरह दर्द होगा और कितना पसीना बहाकर वह आगे बढ़ सकेगा—इसका उसे कोई अनुमान नहीं। इस तथ्य का भी वह अनुमान नहीं लगा सकेगा कि वह ऐसे भयावह धरातल पर कितनी दूरी तक आगे बढ़ सकेगा। दूसरी यह दशा हो सकती है कि भूमि चाहे जैसी है लेकिन उस पर पक्की सड़क बनी हुई है, संकेत चिह्न लगे हुए हैं कि यह सड़क कहां तक जायगी। और मार्ग में किसी प्रकार का भय भी नहीं है। अब कल्पना करें कि धरातल की दृष्टि से पथिक की यात्रा पर कैसा प्रभाव पड़ेगा? समझ लें कि पथिक सुदृढ़ शारीरिक शक्ति एवं अटूट इच्छा शक्ति का धनी है, फिर भी हो सकता है कि पहली दशा वाले धरातल पर चलते-चलते कहीं न कहीं विकट स्थिति में उसका साहस छूट जाय या शरीर ही टूट जाय। यह भी मान लें कि वह उन सारी परिस्थितियों को जीतता हुआ ही आगे बढ़ जायगा लेकिन क्या सभी सामान्य पथिक ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों का सहज रूप से सामना कर सकेंगे? इक्की टुक्की मीनारें इस वातावरण में खड़ी हो सकती हैं लेकिन अधिकांश भाग तो गड्ढों वाला ही रह जायगा।

अब दूसरी दशा वाले धरातल की कल्पना करें। सड़क है, संकेत है और भय नहीं है तो सामान्य शक्ति वाले पथिक भी निश्चिंत होकर उस पर चल सकते हैं और निश्चित स्थान पर बेखटके पहुंच सकते हैं। तो सुगम धरातल के निर्माण का कार्य सामाजिक नीतियां करती है। धर्मनीति व्यक्ति में शक्ति का संचार करती है तो विविध सामाजिक नीतियाँ उसकी प्रगति के लिये श्रेष्ठ धरातल का निर्माण करती हैं।

इस रूप में सामाजिक नीतियों के प्रयोग को समझें। राजनीति में मानव को प्रमुखता देने वाली लोकतंत्रीय पद्धति का विकास हुआ है तो प्रत्येक नागरिक को मताधिकार मिला है। यह मताधिकार मागरिक की चेतना को जगाता है कि वह शासन चलाने में स्वयं भागीदार है और उसके लिये अपनी मनमर्जी के प्रतिनिधि का चुनाव कर सकता है। यह चेतना स्वयं उसे अपने महत्त्व का भान कराती है। इससे उसे अधिकार बोध भी होता है तो अपने कर्तव्यों का बोध भी। इसी प्रकार अर्थ नीति में समाजवाद का विकास प्रत्येक नागरिक को अर्जन के समान अवसर प्रदान करना

चाहता है तो अधिक अर्जन पर प्रतिबंध लगाकर सामाजिक सम्पति का संविभाग अथवा समूह के लाभार्थ नियोजन करने की प्रणाली बनाता है। समाज-सुधार के कार्यक्रम भी कुरीतियों को समाप्त कर सबकी समानता को प्रोत्साहित करने वाली परम्पराओं को ढालना चाहते हैं। मूल में सभी नागरिकों के बीच समानता का वातावरण बनाने का सभी सामाजिक नीतियों का प्रयास कहा जाता है।

और समानता या समता का वातावरण ही वह प्रधान केन्द्र है जहां से मानवता का झरना फूटता है। इस समानता के लिये व्यक्ति के छोर से धर्मनीति कार्य करे और समूह के छोर से सामजिक नीतियों का प्रयोग किया जाय तो समता के प्रसार तथा मानवता के निर्माण कार्य से सारपूर्ण उपलब्धि प्राप्त की जा सकती है।

एक बात यह भी कि चाहे धर्मनीति का क्षेत्र हो या समाज नीतियों का क्षेत्र —वहां पर दोनों प्रकार की वृत्तियों वाले व्यक्ति मिलेंगे। सद् एवं असद् दोनों प्रकार की वृत्तियों के व्यक्ति, बल्कि असद् वृत्ति के व्यक्तियों का बाहुल्य ही होगा। अतः सर्वत्र सत्कार्य को उभारने और आगे बढ़ाने का बीड़ा तो सद् वृत्ति वाले प्रबुद्ध एवं सज्जन व्यक्तियों को ही उठाना पड़ेगा जो आत्म-भोग देकर भी स्व-पर कल्याण के योग्य वातावरण का सृजन करते हैं। सभी क्षेत्रों में सामान्य रूप से सत्प्रचार द्वारा ऐसा जनमत बनाया जाना चाहिये जो प्रबुद्ध व्यक्तियों को उनके सत्कार्य में सक्रिय या मौन सहयोग दे सके। मानव के मन में मानवता जागृत हो एवं स्थिर रूप ग्रहण करे—यह लक्ष्य सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट होना चाहिये।

आन्तरिक रूपान्तरण का पुरुषार्थ

आत्म स्वभाव एवं विभाव तथा धर्म एवं नीति सम्बन्धी विस्तृत विवरण को दृष्टिगत रखते हुए मैं सोचता हूं कि मुझे सबसे पहले अपने पुरुषार्थ को अपने ही आन्तरिक रूपान्तरण के लिये लगाना चाहिये। क्या होगा यह आन्तरिक रूपान्तरण? अपने भीतर के रूप को बदलना। जब किसी रूप को बदलना है तो यह जानना जरूरी है कि अभी वह रूप कैसा है और उसे बदल कर कैसा बनाना है? यह रूप है आन्तरिक रूप मन-मानस की भीतरी विचारणा का रूप अर्थात् सामान्य रूप से सोच-विचार का रूप। जब सोच-विचार के रूप को भली प्रकार जानना चाहूंगा तो उसे बाहर के अपने क्रिया कलापों से जानना आसान रहेगा।

इस दृष्टि से मुझे सोचना है कि मैं क्या कर रहा हूं और मुझे क्या करना चाहिये? इस सोच में दो बिन्दु हैं। एक तो है आन्तरिकता का वर्तमान रूप तथा दूसरा है रूपान्तरण क्या होना चाहिये?

आन्तरिकता के वर्तमान रूप के लिये मुझे मेरे क्रिया कलापों का तथा क्रियाकलापों से अपनी वृत्तियों का लेखा जोखा लेना होगा, किन्तु इस लेखे जोखे के लिये, उसका आंकड़ा तैयार करने के लिये तथा रूपान्तरण का आधार सुनिश्चित करने के लिये मुझे योग्य मानदंड की आवश्यकता होगी। किस क्रिया-कलाप को नामे की तरफ लिखूं, किसको जमा की तरफ और क्यों? आंकड़े में भी क्या लाभ दिखाऊं और क्या हानि? रूपान्तरण का भी वस्तु विषय चाहिये कि वर्तमान को बदलूं तो भविष्य की क्या रूपरेखा हो?

मैंने ऊपर इसी मानदंड की ही विस्तृत चर्चा की है और यह मानदंड है आत्मा के स्वभाव तथा विभाव का। आत्मा में जहाँ तक निज स्वरूप की चेतना रहती है और जीवन की वृत्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ जहां तक उस चेतना के अनुकूल चलती हैं, वे क्रियाकलाप आत्मा के स्वभावगत होंगे। किन्तु जहाँ आत्मिक चेतना की जागृति अत्यल्प है तथा उसका अनुशासन भी ढीला है, वहां मन तथा इन्द्रियों की अनियंत्रित गति उस आत्मा के विभाव स्वरूप को प्रकट करती है। वस्तुतः मेरा कौनसा कार्य मेरी आत्मा के स्वभाव में सम्मिलित किया जायगा तथा मेरा कौनसा कार्य उसके विभाव में गिना जायगा-इसका निर्णय किसी बाहरी आलोचना या चर्चा की अपेक्षा स्वानुभूति के क्षणों में ठोस होगा। जितनी भीतर बाहर की मानसगत बारीकियाँ अपने काम काज के बारे में मैं जानता हूं, दूसरा अपूर्ण व्यक्ति नहीं जान सकता तथा कोई कारणों से किसी भी अपने काम काज का पूरा स्वरूप मैं दूसरों को न समझा सकूं, लेकिन मैं स्वयं तो अपने काम काज पर एक समूची नजर डालकर उसके समग्र गुण दोषों का सही आकलन कर ही सकता हूं। अतः रूपान्तरण की निष्ठा के साथ मैं स्वानुभूति के क्षणों में अपनी आत्मा के स्वभाव एवं विभाव की तुला पर अपनी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों को चढ़ाऊंगा और स्वभावगत सद् तथा विभावगत असद् की तुलना करूंगा। इस तुलना से प्रकट हो सकेगा कि मेरी तुला का कौनसा पलड़ा ज्यादा भारी है—सद् का याने आत्म स्वभाव का अथवा असद् का याने आत्म विभाव का? आंकड़ा भी सदासद के जमाखर्च के मुताबिक ही बनेगा तथा रूपान्तरण का पुरुषार्थ भी इसी तथ्य पर चलाया जा सकेगा कि मेरी आत्मा में उसका अपना स्वभाव प्रबल है अथवा उसका विभाव? और स्वभाव को प्रबल बनाना तथा विभाव को घटाते हुए समाप्त करना—यही मेरे आन्तरिक रूपान्तरण का लक्ष्य होगा।

अब मैं अपने उस पुरुषार्थ पर विचार करूं जो मेरे आन्तरिक रूपान्तरण को सफल बनादे और मेरा आत्मिक-स्वभाव प्रभावपूर्ण रीति से सुप्रकट हो जाय।

यह मैं समझ चुका हूं कि मेरा आत्म स्वरूप भी मूल रूप में सिद्धात्माओं के स्वरूप जैसा ही पूर्ण सत्यमय एवं निर्मल है, परन्तु यह स्वरूप वर्तमान में मेरी अपनी आत्मा की विभावगत स्थिति एवं असद् वृत्ति-प्रवृत्तियों से ढका हुआ है। इसलिये मुझे देखना और परखना यह है कि मेरी आत्मा ने अपने मूल स्वभाव को कितने अंशों में आच्छादित कर रखा है तथा कितने अंशों में विभाव को छोड़कर स्वभाव को अपनाने की तैयारी है? मेरा मानना है कि जहाँ मैं अपने आन्तरिक रूपान्तरण का निश्चय करता हूं तथा उसके लिये अपना पुरुषार्थ प्रायोजित करना चाहता हूं, मेरे में आत्माभिमुखी होने की जागृति अवश्य जग गई है। अब मैं इस जागृति को बढ़ाता रहूं तथा प्रतिक्षण अपनी समस्त वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों को जांचता-परखता रहूं —अपनी ही आत्मा के स्वभाव और विभाव की कसौटी पर तथा ज्यों ही किसी भी वृत्ति और उसके द्वारा उपजी प्रवृत्ति को विभाव की ओर मुड़ते हुए महसूस करूं, त्यों ही उसका निरोध कर डालूं। मैं दृढ़ निश्चय कर लूं कि आत्म-स्वभाव के विरुद्ध मैं मन और इन्द्रियों की एक नहीं चलने दूंगा और स्वभाव विरोधी वृत्ति या प्रवृत्ति को उपजने के बिन्दु पर ही निग्रहित कर दूंगा। मैं धार लूं कि मेरे जीवन में केवल वही विचार, वचन या कर्म सम्पन्न हो सकेगा, जिसकी अनुमति मेरी आत्मिक आन्तरिकता या सरल शब्द में आत्मा की आवाज देगी। मैं कहीं भी आत्मा की आवाज को तनिक भी नहीं कुचलूंगा, बल्कि अपने मन और इन्द्रियों को ऐसे आज्ञाकारी सेवक बना लूंगा कि आत्म शक्ति और आत्मानुशासन नितप्रति अभिवृद्ध ही बनता जायगा। मेरे इसी निश्चय पर आन्तरिक रूपान्तरण का सूत्रपात हो

सकेगा और यही निश्चय मेरे अपने पुरुषार्थ को सदा व सर्वत्र सजग बनाये रखेगा कि विभावगत कोई भी वृत्ति या प्रवृत्ति मेरे निश्चय को कमजोर बनाने या उलटने का दुस्साहस न करे। मेरा पुरुषार्थ मेरी आत्मा को सजग रखेगा तो मेरे मन और इन्द्रियों को भी आत्मिक सजगता के क्षेत्र में सक्रिय, कि वे भौतिक सुखों की ओर प्रलुब्ध न हों तथा विषय-कषाय जन्य प्रमाद को एकत्रित करके विभाव गत दशा को अधिक प्रगाढ़ न बनावें। दूसरे सोपान पर मेरा पुरुषार्थ मेरी समस्त आत्मिक एवं शारीरिक शक्तियों को विभाव के क्षेत्र से हटाकर उन्हें स्वभाव के क्षेत्र में स्थापित करेगा कि वे पहले से भी अधिक वेग के साथ स्वभाव के क्षेत्र में क्रियाशील बनें।

मेरा पुरुषार्थ इस रूप में मेरी समूची आन्तरिकता को असद् से सद्, असत्य से सत्य तथा अंधकार से ज्योति की दिशा में आगे बढ़ायगा और वही मेरी आन्तरिकता का सच्चा रूपान्तरण होगा। तब भी मेरा पुरुषार्थ थमेगा नहीं, उससे भी अधिक प्रबलता के साथ वह आत्मिक स्वभावगत स्थितियों को संपुष्ट बनाता रहेगा कि विभावगत दशा क्षीणतर बनती जाय। मेरा यही पुरूषार्थ संयम और तप की कठोर आराधना द्वारा समस्त कर्मों का मूलोच्छेद करने के समय पराक्रम का रूप ग्रहण कर लेगा —ऐसा पराक्रम जो आत्मा के विभाव को समूचे रूप से विनष्ट करके पूर्णतया उसे अपने मूल स्वभाव में सदा काल के लिये प्रतिष्ठित कर देता है। क्योंकि आत्मा की विभावमुक्ति ही स्वभाव स्थिति होती है तथा उसकी सम्पूर्ण स्वभाव स्थिति ही उसकी धर्म प्राप्ति कही जायगी। यह धर्म प्राप्ति ही आत्मा का साध्य है, कारण अपने मूल स्वभाव में स्थिति ही उसकी मुक्ति है।

मेरे याने एक व्यक्ति के आन्तरिक रूपान्तरण का पूरे जागतिक एवं सामाजिक वातावरण के परिप्रेक्ष्य में कितना महत्त्व कूंता जायगा—उसका मूल्यांकन भी आवश्यक है।

जागतिक वातावरण पर प्रभाव

समझिये कि मैने अपना आन्तरिक रूपान्तरण कर लिया है याने कि मैं अपने विचार तथा आचार में पूरी तरह से सतर्क हो गया हूं। मैं अपनी ओर से किसी भी प्राणी के किसी भी प्राण को कष्ट नहीं पहुंचाने का प्रयास करता हूं, बल्कि कष्टित प्राणों को देखकर अनुकम्पित होता हूं और उसे सुख पहुंचाने का यत्न करता हूं। मैं उत्सुक भी रहता हूं कि जितना अधिक मैं कर सकूं, मैं अपनी समस्त आत्मिक शक्तियों को स्व-पर कल्याण में नियोजित रखूं। तो मेरी ऐसी अवस्था का क्या मूल्यांकन है ?

एक बात तो निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि इस रूप में मेरा अपना जीवन स्तर समुन्नत हो रहा है तथा मेरी अपनी व्यक्तिगत निष्ठा और नीति तो अहिंसक स्वरूप ग्रहण कर रही है।

लेकिन प्रश्न है कि मेरा यह व्यक्तिगत विकास क्या मेरे ही लिये है अथवा उसका कोई मेरे से इतर लाभ भी है ? मैं यह प्रश्न इस विचार से उठा रहा हूं कि जब केवल आत्मकल्याण की बात की जाती है तो क्या वह केवल स्वार्थ की ही बात कही जायगी ? यह बात सही नहीं है। मैं इस संसार में हूं तो मैं भी इस संसार की गणना में सम्मिलित हूं और यदि मैने अपने जीवन में विकास साधा है तो संसार के उतने भाग का कल्याण हुआ है—इसमें कोई सन्देह नहीं है। किन्तु इस आत्म-कल्याण का महत्त्व उससे भी कई गुना अधिक है।

मैं अकेला नहीं रहता, कई प्राणियों के बीच में रहता हूं तो मेरा आत्म विकास उन सभी को प्रभावित करेगा जो कम से कम किसी भी रूप में मेरे सम्पर्क में आते हैं। मेरे जीवन की संयमितता एवं सन्तुलितता से एक ओर तो उनकी जीवन समस्याएं सरल रूप से समाधान पायगी जो मेरे कारण उलझ जाती थी याने कि यदि मैं सदाशयी नहीं होता तो वे मेरे द्वारा कष्टित होकर जिन समस्याओं में गिरते, वे तो मिट गई। दूसरे, मैं उनके कष्टों में सहयोगी बना तो अन्यथा भी उत्पन्न उनकी समस्याओं के समाधान में मेरी सहायता उनको मिल गई। इस प्रकार मेरा अपना आत्म कल्याण बाह्य प्रभाव की दृष्टि से मुख्यतः लोकोपकारी हुआ। अतः मेरा आन्तरिक रूपान्तरण भीतर से जितना मुझे सुख पहुंचाने वाला बनता है, उससे भी अधिक मैं उस सुख को बाहर बांटने के प्रयास में तत्पर बनता हूं। यही आन्तरिक त्याग की प्रेरणा होती है।

एक फूल खिलकर सुवासित बनता है, एक आम्र वृक्ष सुमधुर फलों से लद जाता है या एक झरना अपने शीतल जल के साथ बहता है तो फूल, आम्रवृक्ष और झरने की ये उपलब्धियाँ क्या उनका अपना स्वार्थ होती हैं? क्या फूल स्वयं सुवास ग्रहण करता है, क्या आम्रवृक्ष स्वयं अपना फल चखता है या क्या झरना स्वयं अपने शीतल जल का स्वाद लेता है? सभी अनुभव करते हैं कि इन तीनों की उपलब्धियों का आनन्द तो दूसरे ही उठाते हैं। आनन्द उठाने के अलावा कोई उनको क्षति भी पहुंचाते हैं तो वे सब सह लेते हैं। इसी रूप में आत्म कल्याण का साधक भी यथार्थ दृष्टि से दूसरों को भी सुख पहुंचाता है। उसकी साधना जितने अंशों में समुन्नत बनती है, उतने ही अंशों में उसका त्याग भाव भी प्रखर बनता जाता है और वह तब पर-कल्याण या जगत् कल्याण के लिये सर्वस्व तक न्यौछावर कर देने के लिये सन्नद्ध हो जाता है।

अतः मेरे अपने आत्म कल्याण का अर्थ है एक ऐसी ज्योति का जलाना, जिसके प्रकाश में सभी अपना सन्मार्ग खोज लेने में आतुर हो उठते हैं। इसे अधिक से अधिक सीधा जगत् कल्याण न भी मानें तब भी परोक्ष रूप से वह जगत् कल्याण ही होता है। यही परोक्ष जगत् कल्याण आत्म विसर्जन के महान् त्याग के साथ तब प्रत्यक्ष जगत् कल्याण हो जाता है। अतः आध्यात्मिक स्व कल्याण में सदा ही पर—कल्याण सन्निहित होता है।

अब मैं यह प्रश्न उठाना चाहता हूं कि इतने विशाल जागतिक वातावरण पर मेरे आन्तरिक रूपान्तरण का कितना प्रभाव हो सकता है? हमारा इतिहास ऐसे अगणित उदाहरणों से भरा पड़ा है, जब एक व्यक्तित्व की तेजस्विता ने सम्पूर्ण समाज को आन्दोलित कर दिया और उसे विकास की दिशा में आगे बढ़ने की सफल प्रेरणा दे दी। यही नहीं, एक व्यक्ति का आदर्श जीवन ऐसा ज्योतिर्स्तंभ बन गया कि वह युगों-युगों तक अपने आदर्श की प्रेरणा देता रहा है और आत्माभिमुखी व्यक्तियों में जीवन भरता रहा है। क्या वीतराग देवों की आत्म कल्याणक वाणी आज भी हमारे हृदयों में नहीं गूंजती है और हमें एक सद्गृहस्थ, सत्साधक और संयमाराधक बनने की उत्प्रेरणा नहीं देती है? ताजा मिसाल महात्मा गांधी की लें कि क्या एक ही व्यक्ति ने पूरे भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति की बलिदान-भरी लगन नहीं जगादी? इससे क्या स्पष्ट नहीं हो जाता कि एक व्यक्ति का आन्तरिक रूपान्तरण एक देश तो क्या, सारे संसार को बदल सकता है। और यह परिवर्तन की धारा उसके अपने ही समय की सीमा में नहीं बंध जाती, अपितु उसके भौतिक जीवनान्त के पश्चात् भी युग युगों तक प्रवाहित होती रहती है तथा व्यापक रूप से वैसे महापुरूष का पुण्य स्मरण किया

जाता रहता है। जागतिक वातावरण पर एक व्यक्ति के रूपान्तरण का कितना व्यापक और विस्तृत प्रभाव हो सकता है—इस विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है। आत्म शक्ति के विकास की प्राभाविकता असीम होती है।

शुभ परिवर्तन का पराक्रम

मेरा आन्तरिक रूपान्तरण अर्थात् आत्म-शुद्धि का मेरा पुरुषार्थ फलित होता है शुभ परिवर्तन के पराक्रम के रूप में। मेरा यह पराक्रम जितनी उच्चता, गूढ़ता और दृढ़ता ग्रहण करता जाता है, उतना ही शुभ परिवर्तन का क्षेत्र भी विस्तृत और व्यापक होता चला जाता है। आत्म-पराक्रम से स्फुरित होने वाली शुभ परिवर्तन की प्रक्रिया देश और काल की सीमाओं से भी परे होती है। ऐसी असीम होती है इस पराक्रम की ओजस्विता।

शुभ परिवर्तन की क्या परिभाषा? एक शिशु जब जन्म लेता है तो निश्छल और निष्पाप-हृदय होता है। तब उसकी प्रत्येक लीला सबको सुहाती है। कभी सोचा है कि ऐसा क्यों होता है? यह शुभता का प्रभाव होता है। बच्चा किसी का बुरा नहीं सोचता, बुरा नहीं बोलता और बुरा नहीं करता, इसलिये हमें सुहाता है। लेकिन चिन्तन करने लायक बात यह है कि यदि हम विवेकपूर्वक जीवन यापन करने लगें किसी का बुरा नहीं सोचें, बुरा नहीं बोले और बुरा नहीं करें, बल्कि हम सभी का भला सोचें, भला बोलें और भला करें तो सोचिये कि हमारी लोकप्रियता कैसी होगी? क्या सुदूर क्षेत्र भी हमारी लोकप्रियता से प्रभावित नहीं हो जायेंगे? यह किसका प्रभाव होगा? हमारी शुभता का ही न? मन की शुभता वचन की शुभता और कार्य की शुभता की कसौटी यही है कि क्या वह अपने से अन्य को सुख पहुँचाती है? उसके दुःख का हरण करती है? लोग मेरी इस शुभता का आकलन उसके बाह्य प्रभाव से ही करेंगे। वैसे भी आन्तरिकता और बाह्यता को एकदम अलग करके नहीं देख सकते हैं। मेरी आन्तरिकता बाह्य-प्रभावी होती है तो वह बाह्य प्रभाव दूसरों की आन्तरिकता को प्रभावित बनाता है और इसी क्रम में शुभता का विस्तार होता है तो इसी क्रम में अशुभता भी फैलती है। जहाँ अशुभता स्वयं के पतन के साथ बाहर भी विषय और कषाय की आग लगाकर दूसरों को जलाती है, वहाँ शुभता का प्रवाह भीतर-बाहर एक-सी शीतलता फैलाकर सबकी नैतिक उन्नति का पथ प्रशस्त करती है।

शुभता के स्वरूप की अनुभूति लेकर मैं सोचता हूँ कि मेरा पराक्रम परिवर्तन का चक्र कैसे और किधर से घुमावे?

मैं देखता हूँ कि वर्तमान जागतिक वातावरण में अशुभता ही बलवती बनी हुई है। शुभता के साधनों का भी अशुभता फैलाने में दुरुपयोग किया जा रहा है। विज्ञान विशेष ज्ञान को कहते हैं तथा भौतिक क्षेत्र में ही आज विज्ञान ने जो प्रगति की है और जो साधन व उपकरण उपलब्ध कराये हैं यदि उनका उपयोग जनहित में किया जाय. तो निश्चय ही सार्वजनिक जीवन की कई विषम समस्याओं का समाधान निकाला जा सकता है तथा सबको समान भाई-चारे की राह पर आगे बढ़ाया जा सकता है। किन्तु विज्ञान कर क्या रहा है या यों पूछें कि सत्ता और सम्पत्ति के पीछे बावला बना मनुष्य उस विज्ञान का किस कदर दुरुपयोग कर रहा है तथा उसे किस रूप में विश्व-विनाश का साधन बना रहा है? क्या आवश्यकता है अणुबमों, प्रक्षेपास्त्रों आदि संहारक शस्त्रास्त्रों की? यह प्रभाव की होड़ ही क्यों लगती है? क्यों सम्प्रदायों, संगठनों या राष्ट्रों के नाम पर

मतभेद और मनभेद की खाइयाँ खोदी जाती है? ऐसी खाइयाँ कि साधारण जन आमने-सामने भी न हो सके। अधिकार-लिप्सा के पीछे महाविनाश की तैयारियाँ क्या मन, वचन एवं कर्म की घोर अशुभता का ही दुष्परिणाम नहीं है?

मोटे कहलाने वालों की मोटी अशुभता की कालिमामय बाढ़ में छोटा कहलाने वाला भी कहाँ बचता है? छोटा अपनी छोटी अशुभता को लेकर ही छोटी लिप्साओं को पूरी करना चाहता है। मोटी हिंसा और छोटी हिंसा में बाहर का फर्क भले हो, लेकिन मन के भावों में घुटती रहने वाली हिंसा के गाढ़ेपन में एक-सी मारक शक्ति दिखाई देगी। चाहे समाज के क्षेत्र में हो या राजनीति अथवा अर्थनीति के क्षेत्र में, किसी भी शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति निर्बलों को कुचलकर अपने ही स्वार्थ पूरे करना चाहता है। और तो और धार्मिक क्रिया-कलापों के वातावरण में भी कई बार कीर्ति लालसा अथवा वर्चस्व लिप्सा सर्व प्रकार की अशुभता को भड़का देती है। सभी ओर फैलती और बढ़ती हुई विविध विषमताओं से अशुभता की यह बाढ़ वेगवती बनती जा रही है। सामान्य जन सामान्य रूप से भेड़ चाल में चलते हैं और वातावरण का अनुकरण करते हुए अनजाने भी इस प्रकार की अशुभता से अपने को रंगते रहते हैं। इस प्रकार मन से उठ कर वचन में निकलती हुई यह अशुभता चहुं ओर लोगों के कार्यों में प्रकट हो रही है तथा निरन्तर वातावरण को अधिक अशुभ, अधिक आक्रामक और अधिक आतंककारी बना रही है।

जहाँ मैंने परिवर्तन का प्रश्न उठाया है, वह परिवर्तन लाना है अशुत्रता की इस बाढ़ में। इस परिवर्तन को मैं शुभ परिवर्तन इस दृष्टि से कहता हूँ कि जितना आज इस संसार में और जन-जीवन में अशुभता का विष घुल रहा है, वह मेरे और सबके पराक्रम से शुभता का अमृत बन जाय।

वर्तमान परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में यह बात ऐसी लगती है जैसी कि कोई उफनते हुए समुद्र की गरजती हुई लहरों और तूफान की अंधड़भरी आंधियों में छोटी-सी नाव लेकर समुद्र-विजय की बात कहे। एक अकेला व्यक्ति, छोटी नाव और छोटी-सी पतवार-जिनके सामने समुद्र का यह विकराल रूप क्या होगा यदि कोई ऐसा साहस कर बैठे? क्या वह अपनी छोटी नाव-पतवार के साथ मृत्यु को ही प्राप्त होगा अथवा विजय की दुन्दुभी बजा देगा? यह आन्तरिक रूपान्तरण की उच्चता का प्रश्न है। महासमुद्र तो क्या—सम्पूर्ण संसार का एक आत्मबली साहस के साथ सफल सामना ही नहीं करता, बल्कि वह अकेला ही सारे संसार में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकता है। ऐसा हुआ है, होता है और होता रहेगा। आन्तरिकता की ओजस्विता के समक्ष सम्पूर्ण अशुभता ने सदा ही हार मानी है और समग्र शुभता ने उसके माथे पर विजय का सेहरा बांधा है। आत्मशुद्धि के पुरुषार्थ को सफल बनाकर व्यक्तित्व का ऐसा तेजस्वी पराक्रम सिद्ध किया जा सकता है कि वह लरजते-गरजते महासमुद्र को बांध दे, अलंघ्य पर्वतों के शिखरों को झुका दे और समस्त संसार में शुभ परिवर्तन का शंख गुंजा दे।

धर्म प्राप्ति के पथ पर

यह एक तथ्य है कि किसी भी क्षेत्र में विकृत मूल्यों को हटाने तथा स्वस्थ मूल्यों को संस्थापित करने का सत्कार्य कुछ प्रबुद्ध व्यक्तित्व ही प्रारंभ करते हैं क्योंकि प्रचलित पद्धति के विरुद्ध विद्रोह का डंका बजाना बड़ी हिम्मत का काम होता है।

यह भी एक तथ्यात्मक प्रक्रिया है कि जब कभी प्रबुद्ध व्यक्तित्वों के हाथों स्वस्थ मूल्यात्मक पद्धति स्थापित कर दी जाती है तब वह प्रारम्भिक जनोत्साह के कारण शुद्ध स्वरूप के साथ चलती है किन्तु काल प्रवाह में उस शुद्ध पद्धति के संचालन में धीरे-धीरे अशुद्धता प्रवेश करती जाती है और धीरे-धीरे ही उसमें अशुद्धता का अंश अधिक हो जाता है तथा शुद्धता कम रह जाती है। व्याख्यात्मक दृष्टि से उस शुद्ध पद्धति को वाद कह दिया गया है तो उसके अशुद्ध बन जाने पर उसका नाम प्रतिवाद दे दिया गया। यह प्रतिवाद मूर्छात्मक अवस्था का प्रतीक हो जाता है। धीरे-धीरे इसके विरुद्ध असन्तोष और विक्षोभ जागता है, तब कुछ प्रबुद्ध-चेता व्यक्ति उस प्रतिवादात्मक स्थिति के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा करते हैं। उनका संदेश होता है कि स्वस्थ मानवीय मूल्यों की पुनः स्थापना की जाय। यह विद्रोह बलिदानात्मक होता है और ऐसी क्रान्ति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उन का बलिदान कितना सघन होता है। अधिकांशतः ऐसे विद्रोह के प्रारंभ कर्त्ताओं को आभास होता है कि उनका बलिदान व्यर्थ जा रहा है क्योंकि उनके सम्पूर्ण प्रयत्नों के बाद भी उन्हें समाज में परिवर्तन आता हुआ नहीं दिखाई देता है। किन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं है। जैसे तपते हुए रेगिस्तान में वर्षा की पहली बूंदे भाप की तरह तुरन्त उड़ जाती है, किन्तु वे बूंदें बाद की बूंदों की सफलता का मार्ग साफ कर जाती है। पहली बूंदें रेगिस्तानी रेत का ताप हरण करके भले अपना अस्तित्व तक मिटा देती हैं, लेकिन जब बाद की बूंदें बरसती है तो तापरहित रेत जल्दी ही गीली हो जाती है। यही अवस्था सामाजिक क्रान्ति की भी होती है। पहले पहल प्रबुद्धचेता व्यक्तित्वों का विद्रोह अप्रभावी जैसा दिखाई देता है और उन्हें आभास होता है कि वे अपने कार्य में विफल हो गये हैं। किन्तु वास्तव में उन्हीं का बुनियादी काम होता है। उनके काम से भीतर ही भीतर बदलाव फैलता है और जब बाद में विद्रोह का स्वर गहरा हो जाता है तब वह बदलाव बाहर प्रकट होने लगता है। अतः मानवीय मूल्यों की स्थापना के कार्य में लगने वाले प्रबुद्ध चेता व्यक्तित्वों को पूरे बलिदान के साथ कार्यरत होना चाहिये और निराशा का भाव कभी भी नहीं लाना चाहिये। सामाजिक क्रान्तियों की प्रक्रिया कुछ ऐसी ही जटिल होती हैं। प्रतिवाद के विरुद्ध विद्रोह तब बल पकड़ कर सारे विकारों को नष्ट कर देता है और पद्धति की अशुद्धता को धो डालता है। पुनः निखरा वह शुद्ध रूप समन्वयवाद कहलाता है जो वाद का रूप ही हो जाता है। शुद्धि और अशुद्धि तथा अशुद्धि से पुनः शुद्धि का यह क्रम बराबर चलता ही रहता है। इस क्रम के अनुसार शुभ परिवर्तन के लिये सदा ही प्रबुद्ध चेता व्यक्तित्वों को आगे आकर अपना नेतृत्व प्रदान करना होता है।

मैं मानता हूँ कि इस दृष्टि से धार्मिक क्षेत्र हो अथवा सामाजिक क्षेत्र-सदा ही प्रबुद्ध व्यक्तित्वों के नेतृत्व की आवश्यकता होती है। और प्रबुद्ध व्यक्ति सदा काल रहते हैं क्योंकि धर्म नीति कभी भी प्रभाव शून्य नहीं होती है। सदा कुछ व्यक्ति तो सर्वत्र ऐसे मिलेंगे ही, जो अपने आन्तरिक रूपान्तरण के लिये पुरुषार्थ रत रहते हैं। ऐसे ही व्यक्ति समय-समय पर अपने पराक्रम को प्रकट करते हैं और समाज में वांछित शुभ परिवर्तन का शंखनाद करते हैं।

अतः मेरी मान्यता में आन्तरिक रूपान्तरण का पुरुषार्थ सर्वाधिक एवं मूलतः महत्त्वपूर्ण है। यही आधार बनता है समग्र समाज की मूल क्रान्ति का। आन्तरकि रूपान्तरण का स्वरूप मेरे समक्ष स्पष्ट है कि मैं विविध विभावों में भटकती हुई अपनी आत्मा को मूल स्वभाव में प्रतिष्ठित करूं तथा उसकी इस प्रतिष्ठा को स्थिरता प्रदान करूं।

मेरे इस उद्देश्य की पूर्ति धर्मनीति पर चल कर ही श्रेष्ठ रीति से हो सकती है। मेरी आत्मा अपने मूल स्वभाव को ग्रहण करती हुई एक दिन उसके अपने धर्म को आत्मसात् कर ले इसके लिये मुझे धर्माराधना की भावनापूर्ण प्रक्रिया अपनानी होगी। धर्म प्राप्ति के पथ पर आगे से आगे बढ़ते रहने का ही नाम धर्माराधना है। धर्माराधना अर्थात् धर्म की आराधना करना कि वह धर्म-आत्मस्वभाव प्राप्त हो।

इस दिशा में मैं आप्त वचनों का पावन स्मरण करता हूँ जिनमें कहा गया है कि धर्म ही आत्मा के लिये उत्कृष्ट मंगल है—वह धर्म जो अहिंसा, संयम तथा तप की आराधना से प्राप्त होता है और जिसके मन में सदा ऐसे धर्म की आराधना बसती है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। अहिंसा, संयम एवं तप रूपी धर्माराधना की सफलता के लिये वीतराग देवों की आज्ञा है—हे समतादर्शी की आज्ञा को पालन करने की इच्छा रखने वाली बुद्धिशालिनी आत्मा, तू अनासक्त हो जा, अनुपम आत्मिक रूप को देख समझ कर अपने कर्म शरीर को दूर हटा। अपने आप को नियंत्रित कर तथा अपने आपके ही मूल स्वरूप में घुलमिल जा। जैसे अग्नि जीर्ण लकड़ियों को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार अपने मूल स्वभाव में लीन आत्मा अनासक्त बन कर राग-द्वेष को नष्ट कर देती है। जो संयमित नैत्रों के होते हुए भी इन्द्रियों के प्रवाह में आसक्त हो जाता है, वह अज्ञानी होता है। फलस्वरूप उसके कर्मबंधन बिना टूटे हुए रहते हैं और उसके विभाव संयोग बिना नष्ट हुए। ऐन्द्रिक विषयों में रमण करने के विभाव के वशीभूत होकर आत्मा इन्द्रियासक्ति के अंधकार के प्रति अनजान होती है, तब उसके लिये समतादर्शी वीतराग देवों के उपदेश तथा उनकी आज्ञा का भी कोई लाभ नहीं होता है। किन्तु जो आत्मा प्रमादजन्य विषमता में नहीं गिरती है, वह समता की साधना में प्रगति करती हैं। अतः हे आत्मा, तू इस देह संगम को देख। यह देह किसी का पहले छूटता है और किसी का बाद में, लेकिन छूटता अवश्य है क्योंकि उसका स्वभाव नश्वर है और तेरा स्वभाव अनश्वर, ध्रुव, नित्य और शाश्वत है। मेरे द्वारा यह सुना गया है और मेरे द्वारा आत्मा सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया गया है कि बंध रूप अशान्ति तथा मोक्ष रूप शान्ति दोनों के कारण तेरे अपने ही मन में रहे हुए हैं। अतः समता धर्म की मानसिकता के साथ अपने कर्मों से युद्ध कर—बाहरी व्यक्तियों से युद्ध करने में कोई लाभ नहीं—तू विषमता से युद्ध करने में अपने को योग्य बना—जो निश्चय ही दुर्लभ है।

ऐसे हैं अनन्त प्रेरणा देने वाले आप्त वचन, जो आत्मा को अपने धर्म को प्राप्त करने हेतु ललकारते हैं। ऐसे वचनों को हृदयस्थ करना, वीतराग देवों की आज्ञा में चलना तथा आत्म धर्म को प्राप्त करना मैं अपना पावन कर्त्तव्य मानता हूं। आत्म शुद्धि एवं विभाव मुक्ति के ये तीन सोपान हैं—अहिंसा, संयम और तप। पहले अहिंसा के सोपान पर आरूढ़ होने के लिये मुझे हिंसा से विरत होना पड़ेगा—स्थूल और तदनन्तर सूक्ष्म हिंसा से। मैंने ज्ञान पाया है कि कुछ लोग प्रयोजन से हिंसा करते हैं और कुछ लोग बिना प्रयोजन भी हिंसा करते हैं। कुछ लोग क्रोध से हिंसा करते हैं, कुछ लोग लोभ से हिंसा करते हैं और कुछ लोग अज्ञान से हिंसा करते हैं। मुझे हिंसा के इन सभी द्वारों को बंद कर देना होगा क्योंकि हिंसा के कटु फल को भोगे बिना छुटकारा नहीं होता है। प्राणवध रूप हिंसा चंड है, रौद्र है, क्षुद्र है, अनार्य है, करुणा रहित है, क्रूर है—और महाभयंकर है। मैं जानता हूं कि जो भी कर्म बंधन एवं कर्म मुक्ति के विषय में गहरी शोध करने वाला होता है, वह अहिंसा का पालन करने वाला मेघावी क्षुद्ध बुद्धि वाला होता है। अपने स्वभाव में रमण करने वाली

आत्मा कर्म बंधन और कर्म मुक्ति के विकल्पों से परे हो जाती है। वह अपनी कुशल बुद्धि से जिस काम को भी करती है, अन्य व्यक्ति व समाज भी उसको ही करें तथा जिस काम को वह बिल्कुल नहीं करती है, अन्य व्यक्ति व समाज भी उसको बिल्कुल नहीं करे। अपने जीवन की समस्त वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में समूचे रूप से अहिंसा का आचरण करने के उपरान्त आत्मा को ऐसी जागरूक एवं कुशल बुद्धि की प्राप्ति होती है।

अहिंसा के आचरण के लिये यह आधारगत चिन्तन होना चाहिये कि सभी जीवों को अपनी आयु प्रिय है, वे सुख चाहते हैं और दुःख से द्वेष करते हैं। उन्हें वध अप्रिय लगता है तथा जीवन प्रिय लगता है, अतएव किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये। जिस प्रकार तुम्हें दुःख अप्रिय लगता है, उसी प्रकार संसार के सभी जीवों को भी दुःख अप्रिय लगता है। ऐसा जानकर अपनी आत्मा की उपमा से तुम्हें सभी प्राणियों पर आदर और उपयोग के साथ दया करनी चाहिये। यह जीव हिंसा की ग्रंथ (गांठ) और अष्ट कर्मों का बंध है। यही मोह है, यही मृत्यु है और यही नरक है। अतः मैं अहिंसा के निषेध रूप से दूर रहकर उसके रक्षा और दया रूप विधि रूप का पूर्णतः पालन करूंगा, जिससे मेरा आचार-विचार अहिंसामय हो जायगा।

संयम अहिंसामय आचरण की पृष्ठ भूमि पर ही सुदृढ़ बनता है— ऐसी मेरी मान्यता है। सर्व प्रकार के सावद्य व्यापार से निवृत्त होना संयम है। पांच आश्रव से निवृत्ति, पांच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषाय पर विजय और तीन दंड से विरति संयम की साधना द्वारा ही संभव बनती है। संयम के सत्रह भेद कहे गये हैं—

(१) पृथ्वीकाय संयम—तीन करण तीन योग (मन, वचन काया से न करना, न करवाना और न अनुमोदन करना) से पृथ्वी काय के जीवों की विराधना न करना।

(२) अपकाय संयम—अपकाय (पानी) के जीवों की हिंसा नहीं करना।

(३) तेजस्काय संयम—तेजस्काय (अग्नि) के जीवों की हिंसा नहीं करना।

(४) वायुकाय संयम—वायुकाय (हवा) के जीवों की हिंसा नहीं करना।

(५) वनस्पतिकाय संयम—वनस्पति काय (पेड़-पौधे आदि) के जीवों की हिंसा नहीं करना।

(६) द्वीन्द्रिय संयम—दो इन्द्रियों वाले जीवों की हिंसा नहीं करना।

(७) त्रीन्द्रिय संयम—तीन इन्द्रियों वाले जीवों की हिंसा नहीं करना।

(८) चतुरिन्द्रिय संयम—चार इन्द्रियों वाले जीवों की हिंसा नहीं करना।

(६) पंचेन्द्रिय संयम—पांच इन्द्रियों वाले जीवों की हिंसा नहीं करना।

(१०) अजीव संयम—अजीव होने पर भी जिन वस्तुओं को ग्रहण करने से असंयम होता है, उन्हें ग्रहण न करना अजीव संयम है। जैसे सोना, चांदी आदि धातुओं अथवा शस्त्रों को पास में नहीं रखना। पुस्तक, पत्र तथा संयम के दूसरे उपकरणों की प्रतिलेखना करते हुए यतनापूर्वक विना ममत्व भाव के मर्यादा अनुसार रखना असंयम नहीं है। इसी तरह गृहीत वस्त्रादि का निरर्थक दुरुपयोग न करना अजीव संयम है।

(११) प्रेक्षा संयम—बीज, हरी घास, जीव-जन्तु आदि से रहित स्थान में अच्छी तरह देखभाल कर सोना, बैठना, चलना आदि क्रियाएं करना प्रेक्षा संयम है।

(१२) उत्प्रेक्षा संयम—मनोज्ञ-अमनोज्ञ पदार्थों में या प्रसंगों में राग-द्वेष न करते हुए उपेक्षा भाव (माध्यस्थ्य भाव) रखना। अथवा—वस्तु को भली-भांति बार-बार देखना।

(१३) प्रमार्जना संयम—स्थान तथा वस्त्र-पात्र आदि को पूंज कर काम में लाना प्रमार्जना संयम है।

(१४) परिष्ठापना संयम—आहार या वस्त्र पात्र आदि को जीवों से रहित स्थान में यतनापूर्वक शास्त्र में बताई विधि के अनुसार परठना परिष्ठापना संयम है।

(१५) मनः संयम—मन में ईर्ष्या, द्रोह, अभिमान आदि विकारी भाव न रखकर उसे धर्मध्यान में लगाना मनः संयम है।

(१६) वचन संयम—हिंसाकारी कठोर वचन को छोड़कर शुभ वचन में प्रवृत्ति करना वचन संयम है।

(१७) काय संयम—गमनागमन तथा दूसरे आवश्यक कार्यों में उपयोग पूर्वक शुभ प्रवृत्ति करना काय संयम है।

ये ही संयम के सत्रह भेद अन्य प्रकार से भी बताये गये हैं—

(१-५) हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह रूप पांच आश्रवों से विरति।

(६-१०) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र-इन पांच इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर जाने से रोकना अर्थात् उन्हें वश में रखना।

(११-१४) क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों का त्याग करना।

(१५-१७) मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति रूप तीन दंडों से विरति।

यों संक्षेप में संयम के चार रूप कहे गये हैं—(१) मन का संयम (२) वचन का संयम (३) शरीर का संयम तथा (४) उपधि सामग्री का संयम। अति संक्षिप्त व्याख्या यह है कि कर्म-बंधन कराने वाले कार्यों को छोड़ देना संयम है। मार्गणा स्थान में अवान्तर भेद से संयम के सात भेद बताये गये हैं—(१) सामायिक संयम (२) छेदोपस्थापनीय संयम (३) परिहारविशुद्धि संयम, (४) सूक्ष्म सम्प्रदाय संयम (५) यथाख्यात संयम (६) देश विरति तथा (७) अविरति।

पाप या दोषों के सेवन से संयम की विराधना होती है। इसे प्रतिसेवना कहते हैं, जो दस प्रकार की कही गई है—

(१) दर्प प्रतिसेवना—अहंकार या अभियान से होने वाली संयम की विराधना।

(२) प्रमाद-प्रतिसेवना—मद्य पान, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा—इन पांच प्रमादों के सेवन से होने वाली संयम की विराधना।

(३) अनाभोग प्रतिसेवना—अज्ञान से होने वाली संयम की विराधना।

(४) आतुर प्रतिसेवना—भूख, प्यास आदि किसी पीड़ा से व्याकुल हो जाने पर की जाने वाली संयम की विराधना।

(५) आपत्प्रतिसेवना—किसी आपत्ति के आने पर संयम की विराधना करना। आपत्ति चार प्रकार की होती है—(अ) द्रव्यापत्-प्रासुक आदि निर्दोष आहार वगैरा न मिलना, (ब) क्षेत्रापत्—अटवी आदि भयानक जंगल में रहना पड़े, (स) कालापत्—दुर्भिक्ष आदि पड़ जाय और (द) भावापत्—बीमारी आदि से शरीर का अस्वस्थ हो जाना।

(६) संकीर्ण प्रतिसेवना—स्वपक्ष और परपक्ष से होने वाली जगह की तंगी के कारण संयम का उल्लंघन करना अथवा ग्रहण योग्य आहार में किसी दोष की शंका हो जाने पर भी उसे ले लेना।

(७) सहसाकार प्रतिसेवना—अकस्मात् अर्थात् बिना पहले समझे-बूझे और प्रतिलेखना किये किसी काम को करना।

(८) भय प्रति सेवना—किसी भी प्रकार के भय से ग्रस्त होकर संयम की विराधना करना।

(९) प्रद्वेष प्रतिसेवना—किसी के ऊपर द्वेष या ईर्ष्या से संयम की विराधना करना। यहाँ प्रद्वेष शब्द में चारों कषाय सम्मिलित है।

(१०) विमर्श प्रतिसेवना—शिष्य की परीक्षा आदि के लिये की गई संयम की विराधना।

संयम के साधक को सदैव इस रूप से जागृत रहना चाहिए कि विराधना या प्रतिसेवना का अवसर नहीं आवे।

मेरी इस मान्यता में अटल आस्था है कि अहिंसामय आचरण से पुष्ट बनी संयम साधना के द्वारा कर्म बंध के कारणों को मन्दतम बनाया जा सकता है। कर्मों का इससे आगमन अवरुद्ध हो जाता है। वैसी अवस्था में बद्ध कर्मों के क्षय की ही समस्या सामने रह जाती है, जिसका सफल उपाय है —तप।

तपश्चरण से कर्मों की निर्जरा होती है और तप महान् पुरुषार्थ और पराक्रम कहा गया है। अहिंसा, संयम और तप के तीन सोपानों को सफलतापूर्वक लांघ लेने के बाद आत्मा की विभाव मुक्ति या स्वभाव प्राप्ति अथवा धर्म प्राप्ति हो जाती है (तप के स्वरूप और भेदों का विस्तृत वर्णन आगामी अध्याय में उपलब्ध है)। यह त्रिविध धर्माराधना साध्य तक पहुँचाने वाली होती है।

स्वाभाविक गुणों का विकास

सफल धर्म नीति वही कही जायगी, जिस का अनुसरण करते हुए आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विकास हो। इन स्वाभाविक गुणों में उन सभी मानवीय गुणों का समावेश हो जाता है जो एक मानव में मानवता के स्वरूप को दर्शाने वाले होते हैं। स्वाभाविक गुणों को प्रोत्साहित करने वाली धर्माराधना को निश्रेयस-कल्याण प्राप्ति की साधिका कहा गया है जो दो प्रकार से आराधी जाती है —

(१) श्रुत धर्म—अंग और उपांग रूप शास्त्रीय वाणी को श्रुत कहते हैं। श्रुत में ही वाचना, प्रच्छना आदि स्वाध्याय के प्रकार भी समाहित माने गये हैं। श्रुत के भी दो भेद हैं—(अ) सूत्र श्रुत—अंग और उपांग रूप शास्त्रों के शब्द रूप मूल पाठ को सूत्र श्रुत कहते हैं, व (ब) अर्थ श्रुत—शास्त्र-पाठों के अर्थ को अर्थ श्रुत कहते हैं।

(२) चारित्र धर्म—कर्मों को नाश करने की चेष्टा को चारित्र धर्म कहते हैं। मूल गुणों व उत्तर गुणों के समूह का नाम भी चारित्र धर्म ही है। एक शब्द में इसे क्रिया रूप धर्म कहते है। इसके भी दो भेद हैं (अ) अगार चारित्र—अगारी-श्रावक के देश विरति धर्म को कहते हैं, व (ब) अनगार चारित्र—अनगार-साधु के सर्वविरति धर्म को कहते हैं। सर्वविरति रूप धर्म में तीन करण तीन योग से त्याग होता है।

एक अपेक्षा से धर्म के तीन भेद भी किये गये हैं—(१) श्रुत (२) चारित्र और (३) अस्तिकाय (धर्मास्तिकाय आदि को अस्तिकाय कहते हैं।)।

एक अन्य अपेक्षा से धर्माराधना के चार प्रकार भी बताये गये हैं जो एक प्रकार से आत्मा के स्वाभाविक गुण ही हैं—

(१) दान—स्व और पर के उपकार के लिये अर्थात् आवश्यकता वाले जीव को जो उसकी आवश्यकता के अनुसार दिया जाता है, उसको दान कहते हैं। दान कई प्रकार के होते हैं—धन-दान, वस्तुदान के अलावा अभयदान, सुपात्रदान, अनुकम्पादान, ज्ञानदान आदि। श्रेष्ठ दान देने में मुक्त हस्तता रखना दान धर्म का पालन कहा जाता है। दान के दस प्रकार—(अ) अनुकम्पादान किसी दुःखी, दीन, अनाथ प्राणी पर दया करके जो दान दिया जाता है, वह अनुकम्पादान है। (आ) संग्रह दान—संग्रह अर्थात् सहायता प्राप्त करना। आपत्ति आदि आने पर सहायता प्राप्त करने के लिये किसी को कुछ देना संग्रह दान है। यह दान अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिये होता है, इसलिये मोक्ष का कारण नहीं होता। (३) भयदान—राजा, मंत्री, पदाधिकारी आदि के भय से अथवा राक्षस, पिशाच आदि के डर से दिया जाने वाला दान भयदान कहलाता है। (ई) कारुण्य दान—पुत्र आदि के वियोग के कारण होने वाला शोक कारुण्य कहलाता है। शोक आदि के समय पुत्र आदि के नाम से दान देना कारुण्य दान कहलाता है। (उ) लज्जा दान—लज्जा के कारण दिया जाने वाला दान लज्जा दान है। जनसमूह के बीच में बैठे हुए किसी व्यक्ति से जब कोई आकर मांगने लगता है, उस समय मांगने वाले की बात रखने के लिये कुछ दे देने को लज्जादान कहते हैं। (ऊ) गौरव दान—यश कीर्ति या प्रशंसा प्राप्त करने के लिये गर्वपूर्वक दान देना। नट, नृत्यकार, पहलवान, सम्बन्धी या मित्र को यश प्राप्ति के लिये जो दान दिया जाता है, वह गौरव दान कहा जाता है। (ए) अधर्मदान—जो दान अधर्म की पुष्टि करने वाला होता है या जो अधर्म का कारण होता है। हिंसा, झूठ, चोरी, परदारगमन और आरंभ-समारंभ रूप परिग्रह में आसक्त लोगों को जो कुछ दिया जाता है, वह अधर्मदान है। (ऐ) धर्मदान—धर्म कार्यों में दिया गया अथवा धर्म का कारणभूत दान धर्मदान कहलाता है। जिनके लिये तृण, मणि और मोती एक समान हैं, ऐसे वीतराग-वाणी पर स्थिर सुपात्रों का जो दान दिया जाता है, वह धर्मदान होता है। ऐसा दान कभी व्यर्थ नहीं होता। इसके बराबर कोई दूसरा दान नहीं है। यह दान अनन्त सुख का कारण होता है। (ओ) करिष्यति दान —भविष्य में प्रत्युपकार की आशा से जो कुछ दिया जाता है, वह करिष्यति-दान है। (औ) कृत दान—पहले किये हुए उपकार के बदले में जो कुछ दिया जाता है, वह कृत दान है। इसे प्रत्युपकार दान भी कहते हैं। इन दस प्रकारों में शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के दान आ गये हैं। शुभ दान की दृष्टि से उसके चार प्रकार हैं : (अ) ज्ञानदान—ज्ञान पढ़ाना, पढ़ने और पढ़ाने वालों की सहायता करना आदि ज्ञानदान है। (ब) अभयदान—दुःखों से भयभीत जीवों को भय रहित करना अभयदान है।

(स) धर्मोपकरण दान—छः काया के आरंभ से निवृत्त पंचमहाव्रतधारी साधु को आहार, पानी वस्त्र, पात्र आदि धर्म सहायक उपकरण देना धर्मोपकरण दान है। (द) अनुकम्पादान-अनुकम्पा के पात्र दीन, अनाथ रोगी, संकटग्रस्त को अनुकम्पा भाव से दान देना अनुकम्पा दान है। वस्तुतः बदला पाने की आशा के बिना निःस्वार्थ बुद्धि एवं करुणा भावना से जो दान दिया जाता है, वही सच्चा दान होता है। ऐसे दाता भी दुर्लभ होते हैं तो निःस्पृहभाव से शुद्ध भिक्षा द्वारा जीवन यापन करने वाले भी विरले ही होते हैं। निःस्वार्थ भाव से दान देने वाले और निःस्पृह भाव से दान लेने वाले दोनों ही दान-गुण के श्रेष्ठ प्रतीक माने गये हैं।

(२) शील (ब्रह्मचर्य)—मैथुन का त्याग करना शील है। शील का पालन करना शील धर्म है। शील सर्व विरति एवं देश विरति रूप दो प्रकार का होता है। देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन का सर्वथा तीन करण तीन योग से त्याग करना सर्व विरति शील है। स्वदार सन्तोष और परस्त्री विवर्जन रूप ब्रह्मचर्य एकदेश शील है। मन वचन और काया को सांसारिक वासनाओं से हटाकर आत्म चिन्तन में लगाना ब्रह्मचर्य है। इसके अट्ठारह भेद हैं—देव सम्बन्धी भोगों का मन, वचन और काया से स्वयं सेवन न करना, दूसरों से न कराना तथा उसका अनुमोदन नहीं करना— इस प्रकार नौ भेद तथा इसी प्रकार मनुष्य, तिर्यंच सम्बन्धी भोगों के भी नौ भेद सो कुल अट्ठारह हुए। इन भोगों का सेवन करना अट्ठारह प्रकार का अब्रह्मचर्य हो गया। कहा गया है कि ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना करने से सभी व्रतों की आराधना सहज हो जाती है। शील, तप, विनय,' संयम, क्षमा, निर्लोभता और गुप्ति— ये सभी ब्रह्मचर्य की आराधना से आराधित होते हैं। ब्रह्मचारी इस लोक और परलोक में यश, कीर्ति और लोक विश्वास प्राप्त करता है। ब्रह्मचारी को स्त्रियों को न रागपूर्वक देखना चाहिये न उनकी अभिलाषा करनी चाहिये। स्त्रियों का चिन्तन एवं कीर्तन भी उन्हें नहीं करना चाहिये। सदा ब्रह्मचर्य व्रत में रमण करने वालों के लिये यह नियम उत्तम ध्यान प्राप्त करने में सहायक है एवं उनके लिये अत्यन्त हितकर है।

(३) तप —जो आठ प्रकार के कर्मों एवं शरीर की सात धातुओं को जलाता है, वह तप है। तप बाह्य एवं आभ्यन्तर रूप से दो प्रकार का है। बाह्य के छः और आभ्यन्तर के छः इस प्रकार तप के बारह भेद होते हैं। तप का अर्थ है इच्छाओं को रोकना तथा कष्टों को सहन करना। जिस तालाब में नया पानी आना बन्द है, उसका पानी बाहर निकालने से तथा धूप से जैसे धीरे-धीरे सूख जाता है, उसी प्रकार नवीन पाप कर्म रोक देने पर संयमी साधुओं के भव-भवान्तरों के संचित कर्म तपश्चरण के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं। पराक्रम रूपी धनुष में तप रूपी बाण चढ़ाकर मुनि कर्म रूपी कवच का भेदन कर देता है और संग्राम से निवृत्त होकर इस संसार से मुक्त हो जाता है। तप ऐसा करना चाहिये कि विचारों की पवित्रता बनी रहे, इन्द्रियों की शक्ति हीन न हो और साधु के दैनिक कर्त्तव्यों में शिथिलता न आने पावे। जो तपस्वी है, दुबला पतला है, इन्द्रियों का निग्रह करने वाला है, शरीर का रक्त और मांस जिसने सुखा दिया है, जो शुद्ध व्रत वाला है तथा जिसने कषाय को शान्त कर आत्मशान्ति प्राप्त की है वही सिद्ध पद का अधिकारी है। तपश्चरण भीतर बाहर के सारे विकार को जला देता है। वह काया को ही कृश नहीं करता बल्कि माया को भी मार देता है। मन का मूर्छा भाव मिटे —यह तप का प्रधान उद्देश्य माना गया है अतः तपस्या का आचरण आन्तरिक विवेक के साथ होना चाहिये। जो आत्मशक्ति को तप में लगाता है, उसकी शक्ति पूर्णतः सार्थक बनती है। तप के माध्यम से ही उस शक्ति की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। यदि तपश्चरण

अनशन आदि बाहरी क्रियाओं तक ही सीमित रह जाता है तो वह उतना हितावह नहीं बनता क्योंकि तप की तेजस्विता से विषय-कषायों से सम्बन्धित मन, वचन एवं काया का अशुभ योग व्यापार जलना ही चाहिये। तप की आराधना से ही आत्मा के अनेक स्वाभाविक गुण प्रकट होते हैं तथा प्रभावपूर्ण बनते हैं। (४) भाव (भावना)—मुमुक्षु आत्मा अशुभ भावों को दूर करके अपने आप को शुभ भावों में तल्लीन बनाने के लिये जो संसार की अनित्यता आदि का विचार करती है, वही भावना है। अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाएँ हैं। मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं मध्यस्था में भी चार भावनाएँ हैं। व्रतों को निर्मलता से पालन करने के लिये व्रतों की पृथक-पृथक् भावनाएँ भी बतलाई गई हैं। मन को एकाग्र करके उसे इन शुभ भावनाओं में लगा देना ही भावनाधर्म है। आत्मा के स्वभावगत प्रत्येक गुण को द्विरूपी माना गया है—एक भाव रूप तथा दूसरा द्रव्य रूप। द्रव्य रूप वह जो उसका स्वरूप और प्रयोग बाहर दिखाई देता है, जबकि गुण का भाव रूप अधिक महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि द्रव्य रूप स्वयं भाव रूप से उपजता है। गुण की आत्मा उसका भाव रूप तो उसका शरीर द्रव्य रूप होता है। चिन्तन, मनन एवं अनुशीलन से अमुक गुण का मर्म जो हृदय में जागता है उसी के प्रभाव से वाणी और कर्म में वह गुण उतरता है तथा आचरण में स्थायित्व पाता है।

इस प्रकार धर्माराधना की प्रक्रिया में ज्यों-ज्यों आत्मा का कलुष और विकार समाप्त होता है, त्यों-त्यों उसके स्वभावगत गुण प्रकट होकर खिल उठते हैं। जीवन में इससे एक ओर निर्मलता प्रतिभासित होती है तो दूसरी ओर स्वाभाविक गुणों का ओजपूर्ण विकास भीतर बाहर के क्षेत्रों में प्रभावी बनता है।

धर्मनीति का व्यापक स्वरूप

मैं इसे सही नहीं मानता कि धर्म नीति का प्रयोग क्षेत्र व्यक्ति तक ही सीमित है। उस का व्यापक क्षेत्र भी है तो व्यापक स्वरूप भी। सामान्य रूप से धर्मनीति का अर्थ नीति और कर्त्तव्य से लिया जाता है। जिस प्रकार व्यक्ति की नैतिकता और कर्त्तव्यनिष्ठा पर धर्माराधना बल देती है, उसी प्रकार ग्राम से लेकर नगर, राष्ट्र और संघ तक की नैतिकता एवं कर्त्तव्यनिष्ठा पर धार्मिकता अपना अभिमत प्रकट करती है। अपने शुद्ध स्वरूप में धार्मिकता और नैतिकता व्यक्तिगत एवं समूहगत दोनों प्रकार की जीवन पद्धतियों को सम्यक् रीति से संचालित करने में समर्थ मानी गई हैं।

कर्त्तव्य बोध की दृष्टि से धर्म के दस स्वरूप इस प्रकार वर्णित किये गये हैं :

(१) ग्राम धर्म—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होता है, अतः जब उसका सम्पर्क अपने मूल परिवार के घटक के बाहर आरंभ होता है तब उसका परिचय कुछ विस्तृत समस्याओं तथा उनके प्रति अपने कर्त्तव्यों से होता है। हरेक गाँव की अपनी परम्पराएँ होती हैं —अपने रीति-रिवाज होते हैं—उनकी सुव्यवस्था कैसे की जाय तथा प्रचलित व्यवस्था में क्या-क्या सुधार किये जायं —इस पर प्रत्येक ग्रामवासी को विचार करना होता है तथा अपनी सम्मति देनी होती है ताकि सब सम्मतियों का समन्वय होकर ग्राम की उन्नति के लिये सुन्दर योजना का निर्माण हो सके। मुख्यतः समूह की दृष्टि से समाज के सबसे छोटे घटक परिवार के ऊपर ग्राम का क्रम आता है। जिस प्रकार परिवार का प्रत्येक सदस्य परिवार से संरक्षण प्राप्त करता है और उसकी उन्नति के लिये त्याग भी करता है, उसी प्रकार उसे ग्राम धर्म यह सिखाता है कि समस्त ग्राम को वह एक बड़े परिवार के

रूप में देखें तथा ग्राम हित के लिये प्राथमिकता से ध्यान दे। ग्राम और ग्रामवासियों के पारस्परिक हितों की व्यवस्था इस रूप में हो कि एक ओर ग्राम सभी निवासियों को आगे बढ़ने के लिये सामूहिक संरक्षण प्रदान कर सके तो दूसरी ओर ग्रामवासी भी अपने स्वार्थों को ग्रामहित से ऊपर न उठने दें। इस सुव्यवस्था की छाया में धार्मिकता और नैतिकता समुन्नत बने—यह ग्राम धर्म का प्रधान लक्ष्य होना चाहिये।

(२) नगर धर्म—नगर की निवास पद्धति को नगर धर्म कहते हैं जो प्रत्येक नगर के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वरूप वाली हो सकती है। वैसे नगर भी ग्राम के ही समान परिवार से ऊपर का घटक होता है अतः ग्रामधर्म एवं नगर धर्म का स्वरूप तथा कर्त्तव्य प्रायः समान ही होते हैं। अन्तर इतना ही होता है कि ग्राम की सीमा से नगर की सीमा विस्तृत होती है तथा आबादी भी बहुसंख्यक, जिसके कारण ग्राम की समस्याओं से नगर की समस्याएँ अधिक जटिल होती हैं और जटिल समस्याओं के समाधान के लिये नगरनिवासियों की कर्त्तव्य निष्ठा भी अधिक गहरी होनी चाहिये। नगर की परम्परागत गुणधर्मिता को संरक्षण मिले तथा प्रत्येक नागरिक को अपने जीवन विकास के मुक्त अवसर—यह नगर धर्म की सफलता का परिचायक होता है।

(३) राष्ट्र धर्म—भौगोलिक दृष्टि से किसी देश की सीमाएँ निर्धारित होती हैं, किन्तु उसमें रहने वाले नागरिकों के मन में जो एकता एवं संयुक्तता का भाव होता है, वह उस देश की राष्ट्रीयता कहलाती है। राष्ट्रधर्म इसी भाव को विकसित करने वाला होता है ताकि उस देश में रहने वाले नागरिक भाषा, रीति-रिवाज या मान्यताओं की विविधता के उपरान्त भी राष्ट्रीय स्तर पर एकजुट रह सकें। यों राष्ट्रीयता भी आक्रामक नहीं होनी चाहिये तथा उसका रुख अन्तर्राष्ट्रीयता तथा विश्वबन्धुत्व की दिशा में गतिशील रहना चाहिये। ऐसा राष्ट्रधर्म ही किसी भी राष्ट्र में वहाँ की व्यवस्था को नैतिक एवं धर्माधारित बनाये रखता है तथा वहाँ के नागरिकों में सहज वातावरण के प्रभाव से स्वाभाविक गुणों को उदात्त बनाता है।

(४) पाखण्ड धर्म—पाखण्ड व्रत को कहते हैं। इसमें लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार के व्रतों के पालन का समावेश हो जाता है। पाखण्ड का एक अर्थ यह भी होता है जो पाप का खण्डन करता है वह पाखण्ड है, व्रत पाप से रक्षा करता है वृताराधन से पाप खण्डित निर्जरित होता है। ऐसे व्रत को जो स्वीकार करता है उसे व्रती या पाखण्डी कहा जाता है। व्यवहार में पाखण्ड को दम्भ अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है किन्तु यहां उसे ग्रहण नहीं किया गया है।

(५) कुल धर्म—समाज का ही यह एक अन्य प्रकार का घटक होता है, जिसका फैलाव ग्राम-नगर से लेकर राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्र तक हो सकता है। गृहस्थों के कुलों का आचार कुलाचार कहलाता है तो साधुओं के गच्छों का आचार समाचारी कहलाती है। इन दोनों की गणना कुल धर्म में होती है। किसी कुल से सम्बन्ध रखने के नाते एक व्यक्ति का कर्त्तव्य अपने कुल की सुव्यवस्था एवं उन्नति के साथ भी सम्बन्धित होता है। अलग-अलग स्तरों पर एक ही व्यक्ति को अपने अलग-अलग धर्मों-कर्त्तव्यों का निर्वाह करना होता है। कुल भी समाज के अन्तर्गत एक प्रकार का समूह ही होता है जिसकी संस्कृति में एक प्रकार की समानता होती है किन्तु समय-प्रवाह में कुलों का स्वरूप भी बदलता रहता है।

(६) गणधर्म—कुलों का समूह गण कहलाता था और उस गण के आचार को गण धर्म का नाम दिया गया। यह प्राचीन युग का पारम्परिक शब्द है तथा इसी नाम से गणराज्य की नींव

पड़ी थी जो आज के युग में भी अपना ली गई है। गण का प्रभुत्त्व उस समय की विशेषता थी क्योंकि तब तक राजतंत्र कर्त्तव्यहीन तथा अत्याचारी बन चुका था और जनता उससे विक्षुब्ध हो चुकी थी। उसी परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति शासन के विरुद्ध गणों का प्रभाव प्रतिष्ठित हुआ तथा गणराज्य के माध्यम से लोकशासन का स्वरूप विकसित हुआ। यों भी समाज ऐसे समूह का नाम होता है जिसमें भांति-भांति के समूह सक्रिय होते हैं। ये समूह कभी क्षेत्रीय तो कभी भाषायी, जातीय या संस्कृति पर आधारित होते हैं। किन्तु जब तक ये समूह अपनी सीमाओं में रहकर स्वाभाविक गुणों के विकास में यत्नशील रहते हैं तब तक ये हानिप्रद नहीं बनते।

(७) संघ धर्म—विचार एवं आचार की एकता के आधार पर जो नागरिक एकता-साध कर अपनी एक व्यवस्था बना लेते हैं, उसे संघ कहा जाता है तथा संघ की आचार पद्धति का नाम संघ धर्म है। उदाहरण के लिये जैन संघ को लिया जा सकता है जिसका नाम चतुर्विध संघ दिया गया है क्योंकि इस संघ में चार प्रकार के सदस्यों ने एक व्यवस्था का रूप दे रखा है। ये सदस्य हैं—साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका। संघ की दृष्टि से भी संघ सदस्यों को अपने गुणात्मक कर्त्तव्यों का निर्वाह करना होता है।

(८) श्रुत धर्म—शास्त्रीय आज्ञा पद्धति को सामने रखकर व्यक्ति को आत्माभिमुखी बना कर ऊपर उठाने वाला यह धर्म उसे आध्यात्मिकता की अमित ऊँचाई तक ले जाने में सक्षम है। आत्म विकास की महायात्रा का प्रारम्भ इसी धर्माराधना की सहायता से सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

(९) चारित्र धर्म—यह श्रुत का आचरणात्मक पक्ष है। संचित कर्मों को इस धर्माराधना से रिक्त कर दिया जाता है। जिससे आत्मा निर्मल स्वरूपी बन जाती है।

(१०) अस्तिकाय धर्म—अस्ति अर्थात् प्रदेशों की काय अर्थात् राशि को अस्तिकाय कहते हैं। काल के सिवाय पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं। ये पांच द्रव्य हैं —धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय। इनके अपने-अपने स्वभाव को अस्तिकाय धर्म कहते हैं। जैसे धर्मास्तिकाय का स्वभाव जीव और पुद्गल को गति में सहायता देना है।

इस रूप में ये दस धर्म धर्मनीति के व्यापक स्वरूप को प्रकाशित करने वाले हैं जिनके क्षेत्र में पूरा मानव समाज समाहित हो जाता है। मानव समाज का व्यवहार सम्पूर्ण जीवों को प्रभावित करता है अतः विभिन्न स्तरों पर यदि मनुष्य अपने धर्म-कर्त्तव्य का निर्वाह निष्ठापूर्वक करने लगे तो एक समतापूर्ण वातावरण का निर्माण हो सकता है। इस वातावरण की पुष्टि के साथ ही मानवता का नया स्वरूप भी प्रस्फुटित हो सकेगा।

मानवता की संरचना

मेरी दृष्टि में मूल प्रश्न यही है कि इस दुर्लभ मनुष्य तन में मनुष्यता का भी निवास हो। क्योंकि मानवताहीन मानव का कोई मूल्य नहीं रह जाता है न स्वयं उसके जीवन के लिये तथा न सामाजिक जीवन के लिये। एक मानव का जीवन मानवीय गुणों से रहित हो —यह एक बात लेकिन दूसरी बात उससे भी अधिक भयावह एवं घातक हो जाती है कि वह पशु बन जाय या उससे भी निकृष्ट राक्षस बन जाय। मनुष्य जीवन की ऐसी दुरावस्था में ही समाज का स्वरूप भी

विकृत हो जाता है तथा वह मूल्य विहीन बन कर सामूहिक यंत्रणा का कारण भूत हो जाता है। एक बांध में अणु जितना छेद भी जल्दी ही दरार का रूप ले लेता है और बांध को फोड़ देता है। मानवीय आचरण का भी यही हिसाब रहता है। बुराई बहुत जल्दी फैलती है और ज्यों-ज्यों एक से दूसरे मनुष्य के जीवन में पशुता व राक्षसी वृत्ति का विस्तार होता है, वह विस्तार पसरता ही जाता है। अतः मनुष्य के आचरण पर ऐसा नियंत्रण आवश्यक है कि पहले तो वह अपनी सीमाओं से बाहर निकल कर आक्रामक न बने और बाद में उसे मानवीय सद्‌गुणों तथा मूल्यों के सांचे में ढाला जाय कि न सिर्फ वह मानवता से विभूषित बने बल्कि देवत्त्व की दिव्यता का वरण करने के लिये भी अग्रगामी हो।

इस रूप में मानवता की संरचना एक व्यक्तिगत ही नहीं, सामाजिक आवश्यकता भी है और इसी रूप में यह स्वयं सम्बन्धित मानव के साथ सम्पूर्ण समाज का दायित्व भी होगा। एक मानव अपने समुचित स्थान से तभी फिसलता है और अपने स्वाभाविक गुणों को भूलता व छोड़ता है जब उसके सामने अपने ही स्वार्थों को पूरा कर लेने का प्रलोभन होता है अथवा अपने प्राप्त स्वार्थों के कुचले जाने का भय। यों मनुष्य को सादगी से अपना जीवन-यापन करना बुरा नहीं लगता यदि वैसा समानता भरा अवसर सभी मनुष्यों के सामने हो, लेकिन जब सामाजिक परिस्थितियों में विषमता हो—कुछ लोग अत्यन्त विलासपूर्ण जीवन जीते हों और अत्याचार करके अथाह सत्ता और अखूट सम्पत्ति संचित करते हों तथा बहुत लोग मूल निर्वाह आवश्यकताओं से भी वंचित रहकर कष्टपूर्ण जीवन बिताते हों तथा ऊपर वालों के अत्याचारों को निरीह बन कर सह लेने को विवश हों। ऐसी विषमता में दोनों ओर पशुता भी पनपती है तो राक्षसी वृत्ति भी राहू बनकर सबको ग्रसित करती है। अतः मानव के दुष्ट प्रयासों पर कड़ा सामाजिक नियंत्रण एक अनिवार्य आवश्यकता बन जाती है। सामूहिक अनुशासन ही उद्दंड मानव की उद्दाम इच्छाओं पर कड़ा प्रतिबंध लगा सकता है।

मानवता की संरचना के भगीरथ प्रयास में इन सभी परिस्थितियों का एक स्वस्थ आकलन होना चाहिये और सभी मोर्चों पर मानवता-विरोधी क्रिया-कलापों पर कड़ी रोक लगनी चाहिये। जैसे कर्म मुक्ति के लिये पहले आने वाले कर्मों पर रोक लगनी चाहिये, वैसे ही मानव समाज में पहले अमानवीय क्रिया-कलापों पर रोक लगनी चाहिये। संवर के बाद जैसे निर्जरा का क्रम लिया गया है, उसी रूप में फिर अस्तित्व में रहे हुए मानवताहीन मूल्यों से संघर्ष किया जाय और मानव की संशोधित वृत्तियों व प्रवृत्तियों तथा कठोर सामाजिक अनुशासन के साथ नये मानव का उदय किया जाय। तब मानव मूल्यों की धीरे-धीरे स्थिर प्रतिष्ठा हो जायगी। इसी प्रकार मानवता की संरचना संभव हो सकेगी।

मानवता की संरचना रूप शुभ परिवर्तन का पराक्रम मुझे भी दिखाना होगा और मेरे साथ सभी प्रबुद्ध चेताओं को भी दिखाना होगा। यह कार्य एक संयुक्त दायित्व का रूप ग्रहण कर लेगा जिसका अपने जीवन के प्रति भी निर्वाह करना होगा तथा दूसरों के जीवन-परिवर्तन के प्रति भी निर्वाह करना होगा। इस दृष्टि से समाज में रहने वाले मानवों के स्वभाव या विभावगत भिन्न-भिन्न प्रकारों को समझ लेने की जरूरत है कि किस प्रकार के मानव का जीवन परिवर्तित करने के लिये किस प्रकार के प्रायोगिक पुरुषार्थ की आवश्यकता होगी ?

आप्त पुरुषों ने विभिन्न उपमाओं से मनुष्यों के वर्गीकरण इस रूप में किये हैं कि फूल की तरह मनुष्य चार प्रकार के होते हैं—

(१) सुन्दर किन्तु गंधहीन। मनुष्य के संदर्भ में सुन्दरता भौतिक सम्पत्ति को मानी है तथा आध्यात्मिक (नैतिक) उन्नति की उपमा सुगन्ध से दी है। तो पहले वर्ग के मनुष्य ऐसे होते हैं जो भौतिकता से सम्पन्न किन्तु उसी में लीन होते हैं। वे आध्यात्मिक या नैतिक चेतना से शून्य-से ही बने रहते हैं।

(२) गंधयुक्त किन्तु सौन्दर्यहीन। दूसरे वर्ग के मनुष्य आध्यात्मिकता में चिन्तनशील तथा नैतिकता के आचरण वाले होते हैं किन्तु भौतिक सम्पत्ति से रहित होते हैं किन्तु उसके लिये वे खेद मग्न नहीं होते, आध्यात्मिक आल्हाद से उल्लासित बने रहते हैं।

(३) सुन्दर भी, सुगंधित भी। तीसरे वर्ग के मनुष्यों के पास भौतिक सम्पन्नता होती है तो उनकी ज्ञान चेतना आध्यात्मिकता से भी सम्पन्न होती है। वे महान् ऋद्धि-सिद्धि के अधिपति होते हुए भी उसमें आसक्त नहीं बनते हैं। उनके लिये उनकी सम्पत्ति ही लोष्ठवत् होती है।

(४) न सुन्दर, न गंधयुक्त। चौथे वर्ग के मनुष्य भौतिक सम्पत्ति से भी हीन होते हैं तो आध्यात्मिक चेतना से भी शून्य। दोनों क्षेत्रों का दारिद्र्य उन्हें घेरे रहता है।

मनुष्य की विभिन्न वृत्तियों के विषय में भी ज्ञानप्रद वर्गीकरण बताये गये हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार है :

(१) घड़ों से मनुष्य की तुलना की गई है। घड़ा मनुष्य के हृदय को माना गया है तो ढक्कन उस की वाणी को। विचार और वाणी की एकरूपता या विभेदता की दृष्टि से यह उपमा है। (अ) मधु का घड़ा और मधु का ढक्कन याने विचार और वाणी दोनों श्रेष्ठ। (ब) मधु का घड़ा और विष का ढक्कन याने विचार श्रेष्ठ किन्तु वाणी कटुताभरी। (स) विष का घड़ा और मधु का ढक्कन याने विचार कलुषित और निकृष्ट, किन्तु उनका वाणी में मायाचार से भरा मीठा प्रकटीकरण। तथा (द) विष का घड़ा और विष का ढक्कन याने विचार और वाणी एक-सी निकृष्ट।

(२) कुछ व्यक्ति सेवा आदि का महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं किन्तु उसका अभिमान नहीं करते। कुछ अभिमान करते हैं, किन्तु कार्य नहीं करते। कुछ कार्य भी करते हैं और अभिमान भी करते हैं। कुछ न कार्य करते हैं, न अभिमान करते हैं।

(३) कुछ साधक सिंह वृत्ति से साधना पथ पर आते हैं और सिंह वृत्ति से ही रहते हैं। कुछ सिंह वृत्ति से आते हैं किन्तु बाद में शृंगाल वृत्ति अपना लेते हैं। कुछ शृंगाल वृत्ति से आते हैं और बाद में सिंह वृत्ति अपना लेते हैं। कुछ शृंगाल वृत्ति लिये आते हैं और शृंगाल वृत्ति से ही चलते रहते हैं।

(४) कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं, जो सिर्फ अपना ही भला चाहते हैं, दूसरों का नहीं। कुछ उदार व्यक्ति अपना भला चाहे बिना भी दूसरों का भला करते हैं। कुछ अपना भला भी करते हैं और दूसरों का भी। कुछ न अपना भला करते हैं, न दूसरों का।

(५) कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् संकल्प करते हैं और समुद्र तैरने जैसा महान् कार्य भी करते हैं। कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् संकल्प लेते हैं किन्तु गोष्पद (गाय के खुर

जितना पानी) तैरने जैसा क्षुद्र कार्य ही कर पाते हैं। कुछ गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र संकल्प करके समुद्र तैरने जैसा महान् कार्य कर जाते हैं। कुछ गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र संकल्प करके गोष्पद तैरने जैसा ही क्षुद्र कार्य कर पाते हैं।

(६) फल की तरह मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं। (अ) कुछ फल कच्चे होकर भी थोड़े मधुर होते हैं अर्थात् कुछ मनुष्य कम उम्र में भी साधारण समझदार हो जाते हैं। (ब) कुछ फल कच्चे होने पर भी पके की तरह अति मधुर होते हैं, याने कि लघु वय में भी बड़ी उम्र वालों की तरह पूरे समझदार हो जाते हैं। (स) कुछ फल पके होकर भी थोड़े मधुर होते हैं अर्थात् बड़ी उम्र में भी कम समझदारी रहती है। तथा (द) कुछ फल पके होने पर अति मधुर होते हैं याने बड़ी उम्र में पूरी समझदारी आ जाती है।

(७) कुछ व्यक्ति अपना दोष देखते हैं, दूसरों का नहीं। कुछ दूसरों का दोष देखते हैं, अपना नहीं। कुछ अपना दोष भी देखते हैं दूसरों का भी। कुछ न अपना दोष देखते हैं, न दूसरों का।

(८) कुछ व्यक्तियों की मुलाकात अच्छी होती है, किन्तु सहवास अच्छा नहीं होता। कुछ का सहवास अच्छा रहता है, मुलाकात नहीं। कुछ की मुलाकात भी अच्छी होती है और सहवास भी। कुछ का न सहवास ही अच्छा होता है और न मुलाकात ही।

(९) मेघ की तरह दानी मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं। (अ) कुछ बोलते हैं, देते नहीं। (ब) कुछ देते हैं, किन्तु कभी बोलते नहीं। (स) कुछ बोलते भी हैं और देते भी हैं। तथा (द) कुछ न बोलते हैं, न देते हैं।

संख्या में न्यूनाधिकता होती है, किन्तु मनुष्यों में इस प्रकार के वर्ग प्रत्येक समय में मिलते हैं। इन वर्गों के परिप्रेक्ष्य में किसी भी समय की शुभता, अशुभता अथवा शुभाशुभता का निर्णय निकाला जा सकता है तथा ऐसे भिन्न-भिन्न उपाय भी निकाले जा सकते हैं जिनका प्रयोग भिन्न-भिन्न वर्गों के साथ सफलतापूर्वक किया जा सके तथा सभी वर्गों में संशोधन की एक-सी धारा प्रवाहित की जा सके।

मेरा मानना है कि उपरोक्त चार वर्गों में एक वर्ग इस प्रकृति का होता है, जो समाजहित को अपने स्वार्थों से ऊपर रखकर आवश्यकतानुसार त्याग के लिये भी तत्पर हो सकता है तो अपनी प्रबुद्धता एवं जागरूकता के आधार पर सामाजिक क्रान्ति का बीड़ा भी उठा सकता है। पहली जरूरत ऐसे ही वर्ग के मनुष्यों को संगठित करने की माई जानी चाहिये जो स्वयं आदर्शजीवी हों तथा आदर्श के लिये सर्वस्व न्यौछावर कर देने के अभिलाषी भी। ऐसे वर्ग का संगठन अवश्य ही समाज को नवसर्जन की दिशा देकर मानव में मानवता की संरचना का पुण्य कार्य सम्पन्न कर सकता है।

सर्वत्र समभाव का जागरण

मानवता की संरचना एवं मानव-मूल्यों की संस्थापना के साथ ही मेरा विचार है कि सामाजिक क्षेत्र में सहयोगात्मक वातावरण का प्रसार होगा तथा संविभाग की भावना भी जन्म लेगी। इससे अर्जन एवं जीवन निर्वाह की पद्धति में भी शुभ परिवर्तन आयगा कि सत्ता या सम्पत्ति के

व्यक्तिगत स्वामित्त्व की लालसा घट जायगी और निर्वाह के स्तर में समानता का प्रवेश होगा। यह परिवर्तन वाहरी सामाजिक नीतियों के प्रभाव से भी आयगा तो भीतरी वृत्तियों का भी परिणाम होगा, वल्कि वाहर से भीतर और भीतर से बाहर दोनों ओर से परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहेगी।

मेरा अनुमान है कि इस प्रक्रिया के बाद जब परिवर्तित वातावरण स्थिरता ग्रहण कर लेगा तो सामूहिक रूप से सारे समाज में एक नया ही भावनात्मक बदलाव दिखाई देगा और यह बदलाव होगा समभाव के पक्ष में। समान अवसर एवं समान स्तर की परिस्थिति में सबके बीच समभाव का जागरण भी अवश्यंभावी बन जायगा। यह समभाव जिस वेग से सर्वत्र फैलता जायगा, उसी वेग से मानवीय मूल्यों की प्रखरता भी प्रदीप्त होती जायगी।

मैं उस समाज की कल्पना करता हूँ जिसका मूलाधार समता पर टिका हुआ हो। व्यक्ति समभाव से आप्लावित होकर समदृष्टि बने तथा अपने समग्र आचरण को समता के पक्के सांचे में ढाल दे। सामाजिक शक्तियों की भी कार्य-दिशा यह हो कि वे उत्थानोन्मुख व्यक्ति को सुन्दर धरातल प्रदान करें और जब उसके चरण लड़खड़ाने लगें, उसको सदाशयता के सम्बल से पुनः गतिशील भी बना दें। इसी रूप में सर्वत्र समभाव का जागरण एक साकार रूप ले सकता है।

समभाव के गूढ़ार्थ को हृदयंगम करते हुए मैं पुरुषार्थ करना चाहूंगा कि मैं सब प्राणियों के प्रति अपने समान विचार रखूं, अपने समान देखूं तथा अपने को प्रिय या अप्रिय लगे उसी प्रकार दूसरों को प्रिय लगने वाला व्यवहार उनके साथ करूं एवं अप्रिय लगने वाला व्यवहार न करूं। मैं अपने लिये प्रिय अथवा अप्रिय, सम्पत्ति या विपत्ति, सुख या दुःख दोनों प्रकार की स्थितियों में भेद नहीं करूं तथा समान भाव रखूं। किसी को भयभीत नहीं करूं तथा किसी से भय भी नहीं खाऊं। किसी वस्तु के लाभ पर न तो मैं गर्व करूं और न किसी हानि पर खेदग्रस्त बनूं। किसी भी संकट के सामने में विचलित नहीं होऊं और अपने समतामय आचरण को नहीं त्यागूं। समभाव की दृष्टि से मैं अपने अन्तर्हृदय को निरन्तर जांचता परखता रहूं और उस सम्बन्ध में किसी भी दोष को प्रविष्ट नहीं होने दूं। अपने ज्ञान, तप एवं आचरण की अभिवृद्धि के साथ मैं समभाव को परिपुष्ट करता रहूं। सुख-दुःख के अनुभवों में समभाव रखते हुए मैं राग द्वेष की कलुषितता से भी दूर रहूं और अपने मध्यस्थ भाव द्वारा दूसरों को भी समभाव की तरफ आकृष्ट करूं। अभिलाषाओं के आवेग में अथवा जीवन-मरण की कामना में फंस कर मैं कभी भी अपने मन, वचन तथा कर्म की साम्यता को आघात नहीं पहुँचाऊं। मैं विश्व के समस्त प्राणियों के साथ समभाव बनाऊं तथा अपने उदाहरण के आदर्श से उनमें भी समभाव जगाऊं।

मैं मानता हूँ कि समभाव के इस जागरण के लिये त्याग भाव के विकास की अपेक्षा रहती हैं। त्याग स्व-कल्याण के लिये और त्याग पर-कल्याण के लिये। वास्तविक त्याग किसे कहते हैं? वस्तुतः वही त्यागी कहलाता है जो मनोहर और प्रिय भोगों के उपलब्ध होने पर भी स्वाधीनतापूर्वक उन्हें पीठ दिखा देता है याने कि छोड़ देता है। जो पराधीनता के कारण विषयों का उपभोग नहीं कर पाते, उन्हें त्यागी नहीं कहा जा सकता। मूल बात यह कि यथार्थ रूप में त्याग के साथ त्याग की स्वतन्त्र एवं उच्च भावना भी होनी चाहिये। भावहीन त्याग महत्त्वपूर्ण नहीं होता। त्याग-भाव के दृढ़ बनने पर सेवा और साधना की वृत्ति पनपेगी जिसका मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के सत्कार्य में सदुपयोग किया जा सकता है। एक साधक को सुख-सुविधा की भावना से निरपेक्ष रहकर उपशान्त

एवं दंभरहित होकर कार्य करना चाहिये। उसका अपनी कामनाओं और इच्छाओं पर भी निरोध होना चाहिये क्योंकि स्वयं ही दल-दल में फंसा रहेगा तो स्व-पर कल्याण कैसे साधेगा ?

साधना को लक्ष्य बनाकर मेरा चिन्तन भी चलता है कि मैं समभाव को केन्द्र में रखकर संयमपूर्ण साधना में निमग्न बनूं और मानवता की संरचना में अपना योगदान दूं। मेरी साधना प्रभावशाली बन जाय, तब भी मैं पूजा प्रतिष्ठा के फेर में न पड़ूं, यश की भूख भी नहीं रखूं तथा मान-सम्मान के पीछे दौड़ता न फिरूं। अपनी साधना में जागृत रहकर प्रतिदिन रात्रि के प्रारंभ और अन्त में सम्यक् प्रकार से आत्म-निरीक्षण करता रहूं कि मैंने क्या सत्कर्म किया है तथा करणीय कर्म क्या नहीं किया है ? और वह कौनसा कार्य बाकी है जिसे मैं कर सकने में सक्षम होने पर भी नहीं कर रहा हूँ।

मैं इस प्रकार अपने पुरुषार्थ का प्रतिदिन लेखा-जोखा लेता रहूं तो मेरा विश्वास है कि मैं विपथगामी नहीं बन सकूंगा। इस लेखे-जोखे से मेरा पुरुषार्थ सक्रिय भी रहेगा तो सन्मार्ग नियोजित भी।

पुरुषार्थ का परम प्रयोग

सर्वोच्च प्रयोजन हित प्रायोजित मेरा पुरुषार्थ ज्यों-ज्यों उत्कृष्ट स्वरूप लेता जायगा, उसका प्रयोग भी परम बनने लगेगा। यह पुरुषार्थ का परम प्रयोग होगा, जो चार प्रकार से ऊर्ध्वगामी बनेगा—

(१) धर्म—जिससे सर्व प्रकारेण अभ्युदय तथा मोक्ष की सिद्धि हो, उसे धर्म कहा जाता है। धर्म पुरुषार्थ ही अन्य सभी प्रकार के पुरुषार्थों की प्राप्ति का कारण होता है। धर्म से पुण्य कर्म का बंध तथा कर्मों की निर्जरा होती है। धर्माराधना से ही व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में सर्वहितकारी प्रगति के दर्शन होते हैं। धार्मिक भावनाओं तथा क्रियाओं से पुण्य कर्म का बंध होता है तो पुण्य कर्म के फलस्वरूप अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। और जब धर्म के आधार पर प्राप्त अर्थ और काम का भोग भी धर्माराधना के साथ किया जाता है तो वह अर्थ और काम भी आत्मा को संसार के दल-दल में फंसाने वाला नहीं बनता, क्योंकि धर्म के प्रभाव से आत्मा का अर्थ व काम के भोग में आसक्ति भाव नहीं रहता। आसक्ति नहीं रहती तो मोह-ममत्त्व भी प्रगाढ़ रूप नहीं लेता और सामान्य मोह-ममत्त्व को आत्मा अपनी संयम साधना से जर्जरित बना लेती है तथा मोक्ष के मार्ग पर प्रगति करने लग जाती है। इसका कारण यह होता है कि आत्मा संयम के साथ कठोर तप का आचरण भी करती है जिससे कर्मों की निर्जरा हो जाती है। इस दृष्टि से मूल पुरुषार्थ धर्म का पुरुषार्थ होता है। अतः आत्मा-रूप पुरुष को अपने पौरुष का भान होना चाहिये तथा उसे अपना पुरुषार्थ धर्माराधना में लगाना चाहिये।

(२) अर्थ—जिससे सभी प्रकार के लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि हो, वह अर्थ हैं। धर्म जिन के मन-मानस में रम जाता है, वैसे सद्गृहस्थ सदा अर्थ का उपार्जन न्याय और नीतिपूर्वक करते हैं। अर्थोपार्जन वे अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रमाण में ही करते हैं तथा उसका संचय भी नहीं करते। यदि किसी कारण से अतिरिक्त उपार्जन हो भी जाता है तो वे उसका तुरन्त संविभाग कर लेते हैं। वे स्वामीद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वासघात, जुआ, चोरी आदि निन्दनीय उपायों का कतई आश्रय नहीं लेते हैं तथा अपनी जाति व कुल की मर्यादा एवं व्यापक जन समुदाय के हित को दृष्टि

में रखते हुए नीतिपूर्वक अर्थ का अर्जन करते हैं। इस रूप में अर्जित अर्थ (धन) उनकी लालसाओं और कामनाओं को भड़काता नहीं है तथा सन्तोष की भावनाओं को स्थिर रूप से बनाये रखता है जिससे वे इस लोक में भी स्व-पर कल्याण साधते हैं तथा परलोक में भी सद्गति को प्राप्त करते हैं। न्याय और नीति से कमाया हुआ धन दो प्रकार से अर्जन करने वाले को लाभ पहुँचाता है। पहला तो यह कि उसकी उस प्रकार के धन में कोई आसक्ति नहीं होती जिसके कारण वह उसको अपने भोग विलास में खर्च करके पाप कर्म का बंध नहीं करता। दूसरे, धर्म भाव के साथ अर्जित किए हुए धन का व्यय भी वह सदा सत्कार्यों में ही करना चाहता है जिसके परिणाम स्वरूप धर्म भाव की ही अभिवृद्धि होती है। जो गृहस्थ अन्याय और अनीति से अर्थोपार्जन करते हैं, वे धनलिप्सु बनकर क्रूरकर्मी भी बन जाते हैं। उनका धन अपने ही स्वार्थ पोषण में लगता है जिससे जीवन में विकृति बढ़ती है। कई बार तो धन-मोह इतना अंधा बन जाता है कि वह कृपण भाव से उसका अपने या अपनों के लिये भी व्यय नहीं कर पाता है। अतः धर्म-पुरुषार्थ को पहले सफल बनाया जाना चाहिये। इसके प्रभाव से अर्थ-पुरुषार्थ भी सफलता प्राप्त करता है। वैसी अवस्था में यह अर्थ पुरुषार्थ स्व-पर कल्याण का कारण भूत बन जाता है तथा सामाजिक वातावरण में भी न्याय और नीति की अभिवृद्धि करके सभी प्राणियों में सदाशय एवं सौहार्द्र का संचार करता है।

(३) काम—मनोज्ञ विषयों की प्राप्ति के द्वारा इन्द्रियों का तृप्त होना काम है। सांसारिक वातावरण में गहराई से देखा जाय तो अर्थ और काम के क्षेत्र में जितना अनर्थ होता है उतना कहीं और नहीं, क्योंकि अमर्यादित एवं स्वच्छन्द अर्थोपार्जन तथा कामाचार की वृत्ति-प्रवृत्ति के साथ ही विविध प्रकार के अन्याय एवं अत्याचार जन्म लेते हैं तथा हिंसक रूप ग्रहण करके मानवीय मूल्यों के विघातक बन जाते हैं। यों देखें तो अर्थ एवं काम सांसारिकता की मूल आवश्यकताएँ भी हैं और जिनका सब प्राणियों के लिये त्याग संभव नहीं है। ये शरीर की मुख्य संज्ञाएँ होती हैं। आवश्यक है तो यह कि अर्थ और काम के क्षेत्रों में ऐसी सुव्यवस्था की रचना की जाय कि व्यक्तिगत प्रलुब्धता बढ़ने न पावे और इन क्षेत्रों में आत्म-संयम का अटल अस्तित्व बन जाय। आज संसार की विषम समस्याओं का तलस्पर्शी ज्ञान लिया जाय तो प्रमुख रूप से रोटी और सेक्स की समस्याएँ ही अधिकांशतः दिखाई देगी। इन समस्याओं को सदा ही अनुभव किया जाता रहा है तथा सम्यक् समाधान भी निकाले जाते रहे हैं। अर्थ और काम स्वच्छन्द व अमर्यादित रूप न ले सकें—इसी दृष्टि से अर्थ और काम रूप पुरुषार्थों को विकासकारी बनाने के उद्देश्य से ही धर्म पुरुषार्थ को सबसे पहले रखा गया है। धर्म पुरुषार्थ के सफल होने का अभिप्राय यह लिया गया है कि मनुष्य की सकल वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों में धार्मिकता एवं नैतिकता का सद्भाव फैल जायगा और तब अर्थ एवं काम के क्षेत्र में जो भी प्रवृत्तियाँ की जायगी, वे धर्म रंग में रंगी हुई होने के कारण पुरुषार्थ नाम से भी जानी जायगी और वे अर्थ व काम के सत्प्रयोजन से पुरुषार्थ की सफलता के रूप में भी सिद्ध हो जायगी। धर्म सहित अर्थ और धर्म सहित काम आत्मा को अधोगामी कभी नहीं बनायगा।

(४) मोक्ष—रागद्वेष द्वारा उपार्जित कर्मवंधन से आत्मा को स्वतन्त्र करने के लिये संवर और निर्जरा में उद्यम करना मोक्ष पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ का परम प्रयोग मोक्ष प्राप्त करना है। इन चारों पुरुषार्थों में भी मोक्ष ही परम पुरुषार्थ माना गया है। जो मोक्ष की परम उपादेयता स्वीकार करते हुए भी मोह की प्रवलता के कारण उसके लिये उचित प्रयत्न नहीं करते अथवा कर नहीं सकते, वे धर्म, अर्थ और काम के पुरुषार्थों में अविरुद्ध रीति से उद्यम करते हैं, वे मध्यम पुरुष

कहलाते हैं क्योंकि उच्च पुरुष वे होते हैं जो धर्म, अर्थ एवं काम के पुरुषार्थों को सफल बनाते हुए मोक्ष के परम पुरुषार्थ को सफल बनाने के लिये भी कठोर साधना करते हैं। किन्तु जो मोक्ष और धर्म रूप पुरुषार्थों की उपेक्षा करके केवल अर्थ और काम रूप पुरुषार्थ में ही अपनी शक्ति का अपव्यय करते हैं, वे अधम पुरुष कहलाते हैं। वे लोग बीज को ही खा जाने वाले किसान-परिवार के समान होते हैं जो भविष्य में धर्मोपार्जित पुण्य के नष्ट हो जाने पर दुःख भोगते हैं।

पुरुषार्थ का अन्तदर्शन करते हुए मेरी मान्यता बनती है कि अर्थ और काम यदि सर्वदा और सर्वत्र धर्म और मोक्ष के बीच में रहें तो वे कभी भी इस संसार में अनर्थकारी नहीं बन सकते हैं। आज जो दुष्कृत्यों भरा वातावरण दिखाई दे रहा है, वह इस कारण है कि धर्म पुरुषार्थ के साथ अर्थ पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थ का प्रयोग नहीं किया जाता तथा मोक्ष पुरुषार्थ को विसार दिया जाता है। केवल अर्थ और काम पुरुषार्थ को महत्त्व दे देने से ही ये सारी वर्तमान परिस्थितियाँ विषम एवं विश्रृंखल बनी हुई हैं। यह मूल में भूल हो रही है। धर्म पहले, फिर अर्थ और काम तथा उनका भी परम प्रयोजन मोक्ष सदा ध्यान में रहे तो वैसे अर्थ एवं काम पुरुषार्थ से भी सांसारिकता के क्षेत्र में सुव्यवस्था का निर्माण हो सकेगा। अतः मेरा निश्चय है कि मैं सबसे पहले धर्म पुरुषार्थ में अपनी सफलता के चरण आगे बढ़ाऊं।

मैं सदा अपने पुरुषार्थ के परम प्रयोग हेतु यत्न करता रहूँ एवं मोक्ष पुरुषार्थ की प्राप्ति का मनोरथ चिन्तता रहूं। मैं जानता हूँ कि मैं पुरुषार्थी हूँ, पराक्रमी हूँ। मेरा पुरुषार्थ कर्म क्षेत्र में आगे से आगे ही बढ़ना जानता है, पीछे हटना नहीं। मैं यह भी जानता हूँ कि जो अपने पुरुषार्थ का परम प्रयोग करके उसको सफल बना लेता है, वही शूर पुरूष कहलाता है। मैं भी शूर पुरुष बनना चाहता हूँ ताकि मेरे पुरुषार्थ का भी अपूर्व शौर्य प्रकाशित हो सके।

आप्त वचनों के अनुसार शूर पुरुष चार प्रकार के होते हैं :—

(१) क्षमाशूर—जो अपने प्रबलतम विरोधी को भी पूरी हार्दिकता से क्षमा कर देते हैं। ऐसे क्षमाशूर अरिहन्त होते हैं जिनकी अनन्त क्षमा की इस धारा युग युगों तक प्रवाहित होती रहकर आत्माभिमुखी पुरुषों को प्रबुद्ध बनाती है।

(२) तपशूर—तपशूर अनगार मुनिराज होते हैं जो अपने कठिन तप द्वारा अल्पतम समय में संचित कर्मों का अन्त कर देते हैं। वे अपने भाव शत्रु रूप कर्मों के लिये अपने आप को दृढ़ प्रहारी सिद्ध करते हैं।

(३) दानशूर—जो निरन्तर दान देने में ऐसी भव्य उदारता दिखाते हैं कि उनकी दान देने की प्रवृत्ति अन्तहीन दिखाई देती है। उनके हृदय के त्याग भाव का उत्कृष्ट रूप उनकी दानशूरता में प्रकट होता रहता है।

(४) युद्ध शूर—युद्ध शूर वे कहलाते हैं जो किसी भी प्रकार के धर्म युद्ध में अपूर्व शूरता का प्रदर्शन करते हुए विजयी बनते हैं। वे अपने विकारों तथा संसार के विकारों के साथ समान रूप से युद्ध करते हैं।

मैं भी भावना भाता हूँ कि मैं क्षमा शूर, तप शूर, दान शूर और युद्ध शूर बनूंगा तथा अपने पुरुषार्थ के परम उत्कृष्ट स्वरूप को प्रकट करूंगा। मेरा यह पुरुषार्थ प्रयोग मेरे आत्म विकास

के लिये भी होगा तथा अन्य प्राणियों के कल्याण के लिये भी क्योंकि सर्वहित से स्वहित सदा सम्बद्ध रहता है। समभाव सर्वहित का सफल संयोजक होता है अतः मेरा पुरुषार्थ सभी क्षेत्रों में सुखकारी सुव्यवस्था स्थापित करने की दृष्टि से समभाव से परिपूर्ण रहेगा। मैं अपनी आत्मा को विभाव क्षेत्र में से निकालने के अपने पुरुषार्थ के साथ यह प्रयत्न भी करता रहूंगा कि अन्य आत्माएँ भी अपने विभाव क्षेत्र के विकारों को समझें तथा वहाँ से बाहर निकलें। आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विकास मेरे भीतर और बाहर संसार में सर्वत्र हो—यह मेरा केन्द्रस्थ लक्ष्य होगा।

छठा सूत्र और मेरा संकल्प

मैं पराक्रमी हूँ, पुरुषार्थी हूँ, क्योंकि मेरी आत्मा पौरुषवती है, इसलिये मैं अपने सोये हुए पुरुषार्थ को जगाऊंगा और उसे धर्माराधना में इतनी प्रबलता के साथ प्रायोजित करूंगा कि मेरा वह पराक्रम और पुरुषार्थ मोक्षगामी बनकर अपने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप को प्रभावान बनादे। मैं संकल्प लेता हूँ कि मैं सदा अपने करणीय का चिन्तन करता रहूंगा—ज्ञेय को जानता रहूंगा तथा हेय को छोड़ते हुए उपादेय को ग्रहण करता रहूंगा। यह भी नित्यप्रति सोचता रहूंगा कि मैं क्या कर रहा हूँ और मुझे क्या करना चाहिये ?

मेरा अवाध चिन्तन चलता रहेगा कि मेरी आत्मा का मूल स्वरूप भी सिद्धों जैसा ही है लेकिन अभी वह अपने ही विभावों के घेरे में फंसी हुई है जिस कारण उसका यह स्वभाव-धर्म कर्मों से आवृत्त बना हुआ है। इस आवृत्त को भेदना ही मेरे पुरुषार्थ का प्रधान लक्ष्य है। मूल स्वभाव की संस्मृति के साथ जब मेरी आत्मा अपने आन्तरिक रूपान्तरण को सफल बना लेगी तो उसके स्वाभाविक गुणों का भी समुचित रीति से विकास होने लगेगा। तब वह अपने पुरुषार्थ-प्रयोग के प्रति अधिक निष्ठा एवं सक्रियता को धारण कर सकेगी। उसका संसार के वातावरण पर भी सम्यक् प्रभाव पड़ेगा तथा बाहरी परिस्थितियों में भी मानवीय मूल्यों की नई क्रान्ति जन्म लेगी। अतः मैं संकल्प बद्ध होता हूँ कि मैं अपने आत्म-स्वरूप तथा जागतिक वातावरण का दृष्टा बन कर आत्म शुद्धि का पुरुषार्थ दिखाऊंगा तथा शुभ परिवर्तन के समग्र रूप से प्रसार का पराक्रम प्रकट करूंगा। मेरा पुरुषार्थ अहिंसा, संयम एवं तप रूप धर्म से आरंभ होकर मोक्ष तक अविचल गति से आगे बढ़ता ही रहेगा और सर्वत्र समभाव को जगाता ही रहेगा।

अध्याय आठ

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : ७ :

मैं मौलिक रूप से परम प्रतापी हूँ, सर्व शक्तिमान हूँ! मुझे सोचना है कि मैं अपने बंधना को कैसे तोड़ सकता हूँ? मेरी मुक्ति का मार्ग किधर है?

अपनी अपार शक्ति के समीक्षण ध्यान में मुझे आत्म-साक्षात्कार होगा कि मैं अपने कर्मों के सारे बंधन कठिन तप की आराधना से कैसे तोड़ सकता हूँ और मुक्ति के मार्ग पर कितनी त्वरित गति से प्रगति कर सकता हूँ?

मैं अपनी अनन्त शक्ति की अनुभूति लूंगा, उसे लोक कल्याण की दृष्टि से सक्रिय बनाऊँगा तथा उस मौलिक परम प्रतापी एवं सर्वशक्तिमान स्वरूप को अनावृत्त करूँगा।

सूत्र सात

मैं परम प्रतापी हूँ, सर्व शक्तिमान् हूँ। मेरा परम प्रताप और शक्ति केन्द्र वस्तुतः परमात्मा के समान ही है क्योंकि यह सिद्धान्त सर्वसत्य है कि आत्मा ही परम पद प्राप्त करके परमात्मा का स्वरूप वरण कर लेती है। परमात्मा कोई पृथक् शक्ति-केन्द्र नहीं होता, वह आत्मा का ही परम विकसित स्वरूप होता है।

मैं परम प्रतापी हूँ। मेरा ताप और प्रताप अनन्त हैं क्योंकि वह तप से उद्भूत होता है और तप की परमोत्कृष्टता से अपार तेजस्विता ग्रहण करता है। जैसे मलयुक्त स्वर्ण अग्नि में तप कर शुद्ध ही नहीं बनता, अपितु अति मूल्यवान कुन्दन बन जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी तप रूपी अग्नि में तप कर शुद्ध और निर्मल ही नहीं बनती, अपितु परम प्रतापी भी बन जाती है।

मैं परम प्रतापी होता हूँ तो सर्व शक्तिमान् भी बन जाता हूँ, क्योंकि उस परम प्रताप से अनन्त शक्तियों एवं ऊर्जाओं का स्रोत प्रस्फुटित होता है। सर्व शक्तियों का प्रकाश उसके स्वरूप को परम प्रकाशित बना देता है। इतना ही नहीं, एक सत्य और भी प्रकट होता है। वह यह कि आत्मा स्वयं ही सर्वशक्तिमान और प्रकाशपुंज नहीं बनती, बल्कि शक्तियों का केन्द्र तथा प्रकाश का प्रसार स्रोत भी बन जाती है।

मैं सर्व शक्तिमान् हूँ, सर्व शक्तियों का केन्द्र हूँ और प्रकाश का प्रसारक भी हूँ। जैसे एक पॉवर हाऊस होता है, जो स्वयं प्रकाशित होने के साथ साथ प्रकाश को सर्वत्र प्रकाशित भी करता है, उसी प्रकार मेरी आत्मा स्वयं प्रकाशित होकर उस प्रकाश शक्ति को विकरित-प्रशरित भी करने लग जाती है। वह प्रकाश पाती है और सबमें प्रकाश भरती है —स्वयं सर्वशक्तिमान् बनती है तथा सर्वत्र शक्तियों का संचार करती है। जो कोई अन्य आत्मा परम प्रतापी तथा सर्वशक्तिमान् आत्मा के साथ लौ लगाती है, वह भी प्रकाशित बनती है—शक्तिशाली होती है।

मैं परम प्रतापी हूँ, सर्व शक्तिमान् हूँ। यह परम प्रताप और शक्ति-सम्पन्नता मुझे मेरी शुभता के चरम विकास से मिलती है। विषय-कषाय के विकार जब तप रूपी अग्नि में जल जाते हैं और उसके ताप से आत्मस्वरूप निखर उठता है तब यह परम प्रताप प्रकट होता है —एकदम निर्मल, शान्त और सबको सुख देने वाला। यह परम प्रताप ही सर्व शक्तियों का केन्द्र स्थल हो जाता है, जहाँ से सम्पूर्ण जीवों का हित तथा विश्व का कल्याण प्रस्फुटित होता है। आत्मा परमात्मा बन जाती है।

मैं वही आत्मा हूँ—भव्य आत्मा, जो परमात्मा बन सकती है। परम प्रतापी और सर्व शक्तिमान् होने का मूल गुण मेरी आत्मा में भी निवास करता है और मेरे पुरुषार्थ से आज आवृत्त यह मूल गुण एक दिन सम्पूर्णतः अनावृत हो सकता है। आवश्यक है कि मैं वैसा पुरुषार्थ करूं, कठिन तप से आत्म स्वरूप के साथ बंधे आठों कर्मों को व शरीर के सात धातुओं को गला दूं तथा अपने जीवन को स्व-पर कल्याण में विसर्जित कर दूं।

मैं परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान् बनना चाहता हूँ—आत्मा की शुभ शक्तियों का धनी, किन्तु वैसा परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान् नहीं, जैसा कि एक राजा ने अपनी भौतिक शक्तियों के गर्व से उन्मत्त होकर अपने को परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान् मान लिया था। कथा है कि एक राजा था—योद्धा और शूरवीर। उसने अपने प्राप्त राज्य को ही सुदृढ़ नहीं बनाया, बल्कि विश्व-विजयी बनने का संकल्प लिया। सौभाग्यशाली था सो आस-पास के राज्यों को जीतता हुआ आगे से आगे बढ़ता गया तथा अनेक राजाओं को अपनी अधीनता स्वीकृत कराता गया। उसकी विजय का डंका चारों ओर बजने लगा—वह महाराजाधिराज हो गया। उसने अपने आपको परम प्रतापी तथा सर्व शक्तिमान् घोषित कर दिया। उस समय एक भी राजा ऐसा नहीं बचा था जो उसकी इस घोषणा को चुनौती देता। उसकी सर्वशक्ति एक प्रकार से स्थापित हो गई। वह अभिमान में फूला नहीं समाता था।

एक महात्मा को लगा कि इस राजा के विजयाभिमान को तोड़ना चाहिये। वे महात्मा वैक्रिय लब्धि के धारक थे तथा छोटे-बड़े रूप बना सकते थे। एक दिन वे उस राजा के दरबार में पहुँच गये। राजा ने उनका स्वागत किया, किन्तु गर्वभरी मुस्कान के साथ। महात्मा को वह व्यवहार अखर गया, फिर भी कुछ बोले नहीं। वे यह सब कुछ जानकर ही तो आये थे और एक वैद्य की तरह राजा के मान रोग की चिकित्सा करना चाहते थे। अनजान से बनकर कहने लगे —राजन्, मैंने सुना है कि तुम परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान् हो? राजा ने जोर का ठहाका लगाया और कहा—अरे महात्मा, तुमने सिर्फ सुना ही है, अब देखकर भी अनुमान नहीं लगा पा रहे हो क्या? महात्मा राजा की आंखों में आंखें डालकर देखते ही रहे। उनकी इस हरकत से राजा असमञ्जस में पड़ गया, बोला —इस तरह क्या देख रहे हो, महात्मा? महात्मा बोले —तुमने ही तो कहा है राजा की ओर देखो और मैं देख रहा हूँ।

राजा धीरज नहीं रख सका, पूछने लगा—अब तो देख लिया न महात्मा और मिल गया न आपके प्रश्न का उत्तर आपको? महात्मा ने 'हाँ' में सिर हिलाया, लेकिन फिर 'ना' में भी सिर हिलाया। अब तो राजा चौंका कि महात्मा आखिर कहना क्या चाहता है? पूछ बैठा—आप का यह सिर हिलाना मुझे समझ में नहीं आया। तब गम्भीर वाणी में महात्मा बोले—राजन्, मैंने सुना था कि तुम परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान् हो किन्तु आज देखने पर विपरीत अनुभव हो रहा है। राजा गरजा—आप कहना क्या चाहते हैं? महात्मा कहने लगे—यही कि न तुम परम प्रतापी हो और न सर्व शक्तिमान्! अपने आपको ऐसा समझने का तुम्हें मात्र दंभ है। क्रोध से फुफकार उठा राजा —मेरे सामने इस तरह बोल लेना आसान नहीं—इसे सिद्ध करो वरना यह झूठी जीभ काट कर फेंक दी जायेगी। अब महात्मा की हँसने की बारी थी, जोर से अट्टहास करके हँस पड़े और बोले—राजा, तुम सर्वशक्तिमान् हो, मुझे कुछ देने की शक्ति भी रखते हो? राजा ने ओछेपन से कहा—मैं तो तुम्हें महात्मा समझा था, मात्र भिक्षुक ही निकले। जो कुछ मांगोगे मिलेगा किन्तु जीभ जरूर कटेगी। महात्मा फिर हंस पड़े, बोले—मुझे मात्र तीन पग भूमि चाहिये। राजा भी हंस पड़ा, कहने लगा—बस, मांगने में भी कृपणता, मैं तीन पग भूमि क्या तीन सौ गांव दे सकता हूँ। राजा का इतना था कि महात्मा ने विराट् रूप धारण किया और एक पग राजा के सम्पूर्ण राज्य के एक किनारे पर तो दूसरा पग राज्य के दूसरे किनारे पर रख कर पूछा—राजा, अब बताओ, तीसरा पग कहाँ रखूं? राजा तो भौंचक्क खड़ा रहा—न बोलते बनता था और न हंसते। लज्जा से उसका सिर झुक गया।

भावाभिभूत होकर राजा महात्मा के चरणों में झुक आया, पश्चाताप भरे स्वर में कहने लगा—महात्मन्, आपने मेरा गर्व खर्व कर दिया है, मेरा उन्माद उतर गया है और परम प्रतापी व सर्व शक्तिमान् होने का मेरा भ्रम भी मिट गया है। महात्मा पुनः अपने रूप में आ गये और स्नेह भरी मुस्कान के साथ बोले—राजन्, तुम्हें शिक्षा देने के लिए ही मैंने यह सब किया, तुम बुरा न मानना। सदा यह ध्यान में रखना कि इस संसार की सभी बाहरी शक्तियाँ किसी को प्राप्त हो जाय तब भी वह सर्व शक्तिमान् नहीं बनता। यथार्थ में सर्वशक्तिमान् बनना आत्म-शक्तियों का ही रहस्य होता है। जिसका बाहरी वैभव नहीं, आन्तरिक वैभव समुन्नत हो जाता है और जो दया का सागर बन जाता है, वही अपनी पूर्ण विकसित आत्मा के साथ परम प्रतापी और सर्वशक्तिमान् होता है। यह परम अवस्था बाहर की विजय से नहीं, भीतर की विजय से प्राप्त होती है।

आत्म शक्ति को उद्बोधन

मुझे जब अपनी आत्मशक्ति के ही इस विराट् रूप का परिचय होता है तो मैं एक अनूठे ही आन्तरिक आनन्द से भर उठता हूँ। मैं वास्तव में इतना शक्ति सम्पन्न हूँ और परमात्मपद का वरण कर सकता हूँ, तब इतना निराश और हताश क्यों हूँ। आशा तभी टूटती है, जब किसी कार्य को सम्पन्न करने की क्षमता टूट जाती है। सक्षम होकर भी मैं निराश हो गया —यह मेरा निरा अज्ञान ही है। मैं अपने ही अज्ञान के इस पर्दे को फाड़ देना चाहता हूँ और अपनी सोई हुई आत्मा को झकझोर कर जगा देना चाहता हूँ। यह मैं कौन ? मैं ही मेरी आत्मा हूँ—दोनों में द्वैत नहीं है। आत्मा ही आत्मा को जगाती है और आत्मा ही आत्मा को उद्बोधन करती है। मैं जागता हूँ, उसका अर्थ ही यह होता है कि मेरी आत्मा जागती है और उस जागृति के फलस्वरूप मैं ही अपनी आत्मशक्ति को उद्बोधन करता हूँ।

इस दृश्य की भी कल्पना की जा सकती है। समझिये कि एक छात्र गहरी नींद में सोया हुआ है। उसने प्रातः चार बजे उठने के लिए घड़ी में अलार्म दे रखा है। चार बजते ही घड़ी का अलार्म जोरों से बज उठता है—काफी देर तक बजता रहता है। छात्र की नींद खुल तो जाती है, मगर आलस्यवश उठ नहीं पाता। उस समय मन ही मन अपने को फटकारता भी है कि तुरन्त उठकर वह पढ़ने क्यों नहीं बैठता तो दूसरी तरफ मीठी मीठी नींद से छुटकारा ले लेने की मर्जी नहीं होती। काफी देर तक भीतर ही भीतर कशमकश चलती रहती है। उठकर पढ़ने बैठने का मन मजबूत होता है तो आलस्य को झटक कर वह बिस्तर से उठ खड़ा होता है और मन का आलस्य मजबूत सावित होता है तो वह फिर से गहरी नींद सो जाता है। उस छात्र के मन की ऐसी कशमकश को हम रोज-ब-रोज महसूस करते हैं। यही स्वयं को स्वयं जगाने की कशमकश होती है। मैं इसी रूप में अपने जागृत पक्ष को सुदृढ़ बनाकर अपनी ही आत्मा को उद्बोधन करना चाहता हूँ।

यह उद्वोधन मैं करता हूँ अपने मन और अपनी इन्द्रियों का निग्रह करके। मन और इन्द्रियाँ मीठी मीठी नींद सोना चाहती हैं—मैं उन्हें सोने नहीं देता। मैं अपने आपको भी दुर्वलता के क्षणों में सावचेत करता हूँ और उठकर पढ़ने के लिए बैठ जाना चाहता हूँ। आत्मा की पढ़ाई वड़ी कठिन होती है तो बड़ी सरल भी। कठिन तो इस कारण कि मैं मन तथा इन्द्रियों का निग्रह कराने वाले तप में अपने सम्पूर्ण पुरूषार्थ को लगा नहीं पाता हूँ जिससे मन और इन्द्रियाँ बारवार छिटक कर मेरे नियंत्रण से बाहर चली जाती है, तब उनको वश में करना कठिन हो जाता है। और सरल

इसलिये कि यदि कठोर तप से मैं आत्म-जेता बन जाता हूँ तो मैं स्व-नियंत्रित शक्ति का धनी बन जाता हूँ। भाव-सरणियों में समुन्नति लाते हुए आत्म जेता बन जाना बड़ा सरल हो जाता है—जन्म जन्मान्तरों का भगीरथ कार्य कुछ ही क्षणों में सम्पन्न बन सकता है। प्रश्न यही है कि आत्मा को उद्‌बोधन कितनी उच्च और उत्कृष्ट भावना के साथ किया जाता है?

कपिल ब्राह्मण का रूपक मुझे याद आता है। अपने दारिद्रय से परम कष्टित होकर वह भूल से मध्यरात्रि में ही घर से निकल पड़ा कि राजा को प्रथम आशीर्वाद देकर वह एक स्वर्णमुद्रा प्राप्त करले। प्रहरियों ने उसे चोर समझकर पकड़ लिया और सुबह राजा के सामने प्रस्तुत किया। कपिल ने सच्ची-सच्ची बात बता दी। राजा खुश हो गया और बोला—जो चाहो सो मुझसे मांग लो। यकायक कपिल को कुछ नहीं सूझा सो सोचने का समय मांग कर पास के उद्यान में जाकर बैठ गया। तब कपिल सोचने लगा कि राजा से क्या मांगूं? एक से एक हजार स्वर्ण मुद्रा तक बढ़ा, फिर भी सोचा कि निर्वाह में यह राशि भी एक दिन समाप्त हो जायेगी और फिर वही दारिद्रय भोगना पड़ेगा। तो फिर उसका पूरा राज्य ही क्यों न मांग लूं?....

इस विन्दु पर पहुंचते ही उसकी आत्मा को एक झटका लगा और विचार-धारा एकदम परिवर्तित हो गई। कपिल सोचने लगा—मुझ सा अधम और कौन होगा, जो अपने ही सहायक को दर-दर का भिखारी बना देने की बात सोच बैठा? धिक्कार है मुझे....और उसकी वह धिक्कार इतनी गहरी होती गई, भाव-सरणि उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर व उत्कृष्टतम बन गई तथा आत्म शक्तियाँ सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर परम जागृत हो गई कि कपिल ब्राह्मण चन्द क्षणों में ही कपिल केवली (कैवल्यज्ञान प्राप्त) बन गया—जन्म जन्मान्तरों का विकास पलों में संध गया। यह अपेक्षिक कथन है आत्मोद्‌वोधन कभी-कभी इतनी मार्मिक और इतनी तत्क्षण सफलता भी प्राप्त कर लेता है। अतः मैं आत्मा को उद्‌वोधित करते समय अपनी भाव-गूढ़ता पर अधिक ध्यान देना चाहता हूँ। आन्तरिकता जितनी निष्पाप और निश्छल बन जाती है, आत्मा का उद्‌वोधन भी उतना ही प्रभावशाली हो जाता है। ऐसा भव्य उद्‌वोधन भी महान् तप रूप हो जाता है कि भावोद्वेग ही सम्पूर्ण कर्म संचय को विनष्ट कर देता है। भाव-श्रेणी की अत्युच्चता आत्मा को निष्कलुष बनाकर अल्पावधि में ही परम प्रतापी एवं सर्वशक्तिमान के पद पर प्रतिष्ठित कर देती है।

मैं अपनी आत्मा को उद्‌बोधन करता हूँ—मैं मुझको ही जगाता हूँ और चिन्तनशील बनाता हूँ कि मैं अपनी आत्मा के याने अपने बंधनों को कैसे तोड़ सकता हूँ तथा कैसे अपने मुक्ति के मार्ग को खोज सकता हूँ? मैं अपने वर्तमान आत्म-स्वरूप का दृष्टा बनकर जब उसे निहारता हूँ तो अपने को—अपनी आत्मा को धिक्कारता हूँ कि कैसा मेरा मूल स्वरूप है परम प्रतापी तथा सर्व शक्तिमान् होने का और वर्तमान में वह कितना प्रताप शून्य एवं अशक्त बना हुआ है? मैं अपने आपको बारबार धिक्कारता हूँ अपने विद्रूप पर और संकल्पित होता हूँ कि मैं अपनी आत्मा को उद्‌वोधन करूंगा, अपनी अपार शक्ति को समीक्षण ध्यान में लूंगा तथा आत्म-साक्षात्कार द्वारा साध्य की ओर त्वरित प्रगति के चरण बढ़ा चलूंगा।

प्रताप और शक्ति की दिशा

मैं अपने आत्मस्वरूप के प्रताप तथा उसकी शक्ति की सही दिशा को पहले समझलूं—यह अति आवश्यक है। मैं सक्रिय बनूं और मेरी क्रियाशीलता की दिशा ही अगर गलत हो तो मेरी

क्रियाशीलता ही गलत हो जायेगी। अतः मुझे सांसारिक प्रताप-प्रभाव एवं भौतिक शक्तियों तथा आत्मिक प्रताप एवं शक्तियों के अन्तर को भलीभांति आंकना होगा। इस अन्तर-अंकन में यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि सांसारिकता में प्रवृत्ति नहीं, बल्कि उससे निवृत्ति लेने पर ही आत्मिक प्रभाव का उद्भव होता है तथा आन्तरिक शक्तियाँ प्रकट होती है। सांसारिकता से निवृत्ति एवं आध्यात्मिकता में प्रवृत्ति— इस दृष्टि से यह मेरा प्रथम चरण होना चाहिये।

सांसारिकता से निवृत्ति का मुझे यह स्पष्ट अर्थ मानना चाहिये कि मेरा पुरुषार्थ संसार के सुख पाने या उनके माध्यम से कीर्ति अर्जन करने की दिशा में नहीं लगे। मेरा पुरुषार्थ स्व-पर कल्याण की दिशा में लगे जो आत्म चिन्तन, आत्म नियंत्रण, आत्म विकास तथा आत्मविसर्जन की श्रेणियों में समुन्नत होता हुआ सफलता को प्राप्त करता है।

इस तरह मैं अपने पुरुषार्थ-नियोजन की सही दिशा का निर्धारण कर लेता हूँ और इस निर्धारण का मूल ही आत्म चिन्तन में समाहित होता है। आत्म चिन्तन ही मुझे आत्म-नियंत्रण की दिशा में ले जाता है। आत्म-नियंत्रण से ही मैं जान पाता हूँ कि जब मैं अपने मन और अपनी इन्द्रियों को गाढ़ी सांसारिकता से खींच कर अपने नियंत्रण में कर लेता हूँ, तब मुझे ऐसे आनन्द का अनुभव होता है जिसका रसास्वादन मैं पहले नहीं कर पाया था। यह मेरा आत्मनियंत्रण क्रमिक अभ्यास के द्वारा पक्का आत्मानुशासन बन जाता है। इस आत्मानुशासन को सुव्यवस्थित एवं सुस्थिर कर लेने के बाद मुझे अनुभूति होती है कि मेरे आत्मस्वरूप में विकास के लक्षण प्रकट हो रहे हैं। आत्म विकास की प्रक्रिया में मैं जो कुछ सोचता हूँ, जो कुछ बोलता हूँ और जो कुछ करता हूँ—वह मेरे लिये अति आनन्ददायक बन जाता है। दृष्य रूप में तब मैं देखता हूँ कि वास्तविकता में मुझे संसार के विषय भोगों में अभिरुचि नहीं रही है और न ही सत्ता व सम्पत्ति की उपलब्धि में आनन्द की अनुभूति होती है। इसके विपरीत जितना मैं सत्कार्यों में प्रवृत्ति करता हूँ तथा जितना मैं उस क्षेत्र में अधिकाधिक त्याग करता हूँ, मेरी आन्तरिकता खिल उठती है। मुझे संसार के समस्त प्राणी अपने महसूस होते हैं और भावना प्रबल बनती है कि मैं उन सबको जो कुछ मेरे पास है—दूं, उनसे लेने की इच्छा भी नहीं रखूं। और दूं भी वह जो मेरे लिये अमूल्य है। उन पर अपने हृदय का समस्त स्नेह उडेलूं, अपनी करुणा बरसाऊँ और उन के सुख में ही अपना सुख मानूं। इस भावना श्रेणी में मुझे अपने भीतर अधिक निर्मलता, अधिक त्यागवृत्ति और अधिक आनन्द की अनुभूति होती है। तव यही समझ में आता है कि मैं अधिक विनम्र हुआ हूँ, अधिक सहृदय और अधिक सक्रिय। तभी मेरी आत्मा की तेजस्विता एवं शक्ति सम्पन्नता प्रखर बनती है। यही परम प्रतापी एवं सर्व शक्तिमान् बनने की सही दिशा भी लगती है।

तब मैं समझ जाता हूँ कि तप से ताप उत्पन्न होता है और ताप से प्रताप तथा प्रताप शक्तियों का केन्द्र बन जाता है। तप की करणीयता और आचरणीयता तब मुझे सर्वोच्च दिखाई देती है। मैं समझ जाता हूँ कि तप ही आत्मा को परम प्रतापी तथा सर्वशक्तिमान् बनाने का मूल कारणभूत करणीय आचरण हो सकता है। क्योंकि तप के ही विशुद्ध आचरण से आत्म विकास परिपुष्ट बनकर आत्म-विसर्जन का परमोत्कृष्ट स्वरूप ग्रहण कर लेता है।

आत्म चिन्तन की रस धारा में प्रवाहित होते हुए तब मैं निश्चय कर लेता हूँ कि मुझे तप का ही आचरण अंगीकार कर लेना चाहिये और वह आचरण निरन्तर कठोर एवं प्रखर बनता रहे।

मैं जानता हूँ कि मैं तप में तपूंगा तो मेरी आत्मा तपेगी और मल रहित होकर निर्मलता का वरण करती जायेगी कर्म बंधनों को तोड़ती हुई हलुकर्मी बनती जायेगी। मैं तप से तपूंगा तो मेरा शरीर तपेगा जो कृश होता जाकर भी दिव्य ओज को अपने भीतर समाता जायेगा। मैं तप से तपूंगा तो मेरे मन तथा मेरी इन्द्रियों की समस्त सक्रियता स्व-पर कल्याण में नियोजित हो जायेगी। तप मेरी आत्मा में परमात्मा बन जाने का सामर्थ्य जगा देगा। और इस रूप में यह तप ही अपनी प्रखरता की उच्चतम साधना में मुझे सच्ची अनुभूति दे सकेगा कि मैं परम प्रतापी हूँ, सर्वशक्तिमान् हूँ।

तप और उसकी ऊर्जा शक्ति

तप क्या होता है? उसकी ऊर्जा शक्ति कैसी होती है? यह सब मैं जानता हूँ वीतराग देवों की वाणी से जिसे सुगुरु मुझे समझाते हैं। कहा गया है कि तप रूप अग्नि है। जीवात्मा अग्नि का कुण्ड है। मन, वचन और काया के शुभ व्यापार तप रूप अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये घी डालने की कुड़छी के समान और यह शरीर कंडों के समान है। कर्म रूप लकड़ी है और संयम रूप साधना शान्ति-पाठ रूप है। इस प्रकार मैं ऋषियों द्वारा प्रशंसित चारित्र रूप भाव होम करता हूँ। यह होम ही तप है और उसकी ऊर्जा शक्ति है आत्म शक्ति।

यों तप की व्याख्या बहुत ही व्यापक होती है। आत्म विकास एवं त्याग के उच्चस्थ स्तरों पर मन, वाणी एवं कर्म की त्रिधारा ही तपोःपूत हो जाती है क्योंकि आत्मा और शरीर दोनों ही तप से तपकर तेज से निखर उठते हैं। तप का मूल मानें तो वह है इच्छाओं का निरोध। आकाश के समान ये अनन्त इच्छाएँ इस संसार में आत्मा को चैन से नहीं रहने देती। इच्छाओं का वेग बड़ा प्रवल होता है। इस वेग को रोक लेना और इच्छाओं का निरोध कर देना अतुल्य तप माना गया है। यही कारण है कि कपिल ब्राह्मण ने इच्छाओं के वेग में भटकते हुए जव भावनापूर्वक उस वेग को ही नहीं रोका बल्कि इच्छाओं का ही रूपान्तरण कर दिया तो उसके उस महान् तप के कारण कुछ ही पलों में वह कपिल केवली हो गया। उसने और कोई तप नहीं किया, केवल इच्छाओं का निरोध किया तथा वह इतनी सघन रीति से कि कुछ ही पलों के उच्चतम तप ने उसे मुक्तिगामी बना दिया।

इच्छाओं का निरोध संशोधन एक क्लिष्ट और विशिष्ट तप है। मूल में आत्म-विवेक जितने अंशों में जागृत रहता है, उतने ही अंशों में तप के किसी प्रकार का अनुष्ठान कर्म क्षय का कारण भूत बनता है। कर्मों के नित्य प्रति होने वाले आगमन को रोक लेने के वाद पूर्वसंचित कर्मों का क्षय तपाराधन से ही संभव होता है अतः यह कहा जा सकता है कि तप से तपे बिना आत्मा को मोक्ष नहीं मिल सकता है। तपस्वी अपने पूर्वोपार्जित कर्मों को उसी तरह अपनी आत्मा से झाड़कर अलग कर देता है जिस तरह कोई पक्षी अपने पंखों को फड़फड़ाकर उनकी धूल को झटक देता है। तप से तपा हुआ साधक अपने तप के तीर से कर्मों के कवच को भेद डालता है।

मैं जानता हूँ कि तप के ताप से जो निर्लिप्त ऊर्जा शक्ति मिलती है, वही आत्मा और देह की पृथकता को स्पष्ट करती है और प्रेरणा देती है कि इस देह को तपाराधन से कृश करते चलो ताकि सांसारिकता का मूल नष्ट होता जाय। देह दमन के तप से ही आत्म-दमन का तप सफल होता है और निर्जरा की शक्ति पैनी वनती है। किसी भी प्रकार का तप करने से पहले विवेक का सधा हुआ रहना जरूरी है। इसी कारण मैं तपाराधन के पूर्व अपने शारीरिक एवं मानसिक वल को आंक लेता हूँ, काल-विकाल को भी परख लेता हूँ, अपने आरोग्य को भी सम्हाल लेता हूँ तथा

स्थान-सुविधा की भी परीक्षा कर लेता हूँ यह भी मैं जानता हूँ कि प्रतिष्ठा या पूजा की ऐहिक कामना के साथ तप का शुद्ध आराधन नहीं होता है और जो साधु बन कर कठिन तपश्चरण करता है लेकिन ऐहिक कामनाओं से ग्रस्त रहता है तो उसका वह कठिन तपश्चरण भी निष्फल जाता है। वस्तुतः धर्म मेरा जलाशय है ब्रह्मचर्य आदि तप शान्ति तीर्थ हैं, आत्मा की शुभ लेश्या मेरा निर्मल घाट है, जहाँ पर आत्म स्नान कर मैं कर्म मल से मुक्त हो जाता हूँ। तप की विशेषता तो प्रत्यक्ष दिखलाई देती है, किन्तु जाति (अन्य बाह्य कारण) की तो कोई विशेषता नजर में नहीं आतीं। तप की ही विशेषता होती है कि साधक अन्ततोगत्वा अव्याबाध सुख की अवाप्ति कर लेता है।

मैं अनुभव कर चुका हूँ कि तप में ही वर्तमान शक्ति लगाने से विविध आत्मिक शक्तियों की अभिव्यक्ति होती है। यह शक्ति इस रूप में लगानी होती है कि मैं अपने क्रोध का दमन करूं, मान को मर्दित बनाऊँ, माया को कृश कर दूं तथा लोभ-लाभ की लालसा छोड़ दूं। इच्छा निरोध से विषय एवं शक्ति प्रयोग से कषाय का अन्त कर दूं तो मेरा तप सफलता की सीढियाँ चढ़ने लगेगा। देह सुखाने के साथ मेरा मोह-ममत्त्व भी सूखेगा तो विविध प्रकार की ग्रन्थियाँ भी सुलझ जायेगी। मोह-विजय तप-शस्त्र से ही संभव है। अनशन आदि तपों के आचरण से मन मंगलमय बनता है तो इन्द्रियों की शक्ति भी संयम की आराधना में लगती है। तप की यह विशेषता प्रकट हो, तभी तप को सार्थक मानना चाहिये कि इन्द्रियों तथा देह की क्षीणता के साथ आत्म-बल क्षीण न हो। आत्म बल तपाराधन से निरन्तर बढ़ता रहे—वही तप वास्तविक तप होगा।

मेरी सुनिश्चित धारणा है कि यथार्थ रीति से तप का आचरण मात्र कर्म क्षय के लिए होना चाहिये, अन्य किसी भी प्रयोजन से नहीं। और किसी भी लौकिक प्रयोजन से किये जाने वाले तप को तो वास्तव में तप कहना ही समुचित नहीं होगा। स्वर्ग, यश अथवा भोग की प्राप्ति के प्रयोजन से किया जाने वाला कठिन तप भी कभी मुक्ति का कारण नहीं बनता। अविवेक-मिथ्याज्ञान को साथ रख कर किया जाने वाला तप बालतप कहलाता है और बाल-तप से आत्म शुद्धि नहीं होती। अतः तप के गूढ़ मर्म का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। वह मर्म है कि तप करते रहने से आत्म बल बढ़ता रहे, विचार शुद्धि होती रहे तथा सत्कर्म-नियोजन सुदृढ़ बनता रहे। यदि तपस्या करने से आत्मशक्ति ही क्षीण लगे, दुर्ध्यान नियंत्रित न हो सके तथा धर्म क्रिया में प्रवृत्ति करना सुखकर प्रतीत न हो तो वैसी तपस्या से क्या लाभ ?

मैं तप के स्वरूप एवं उससे प्राप्त ऊर्जा की सार्थकता इस परिणाम में मानता हूँ कि मेरा तप विषय एवं कषायमय मेरी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों को उपशामित करे, पूर्व संचित कर्मों का विनाश करे तथा मेरे हृदय में अपूर्व शान्ति का संचार करे। तप की अग्नि जितनी तेजस्वी हो, आन्तरिक शान्ति उतनी ही शीतल बनती जाय। मैं मानता हूँ कि एक तपस्वी साधक को धृतिमान, सहनशील तथा क्षमाशील होना चाहिये।

देह-शुद्धि से आत्म शुद्धि तक

तपश्चरण से जहाँ देह के सातों धातुओं को तपाते हैं और ... ते हैं, ...
के आठों कर्मों को भी नष्ट करते हैं। देह तपाराधन से जितनी क्षीण ... , इ
क्षीण हो जाती हैं तथा तृष्णा भी जीर्ण हो जाती है। सच तो यह ... धन
ही तृष्णा को जीर्ण करना है, क्यों कि सामान्यतया मनुष्य का ... हो

उसकी तृष्णा जीर्ण नहीं होती। अतः तपाराधन का देह पर जो प्रभाव पड़ता है, वह यह कि सांसारिक काम भोगों, विषय-कषायों तथा इच्छाओं को पूरी करने व भोगने का सबल सामर्ध्य ही इस देह में नहीं वचता और आत्मा पर उसका जो प्रभाव पड़ता है, वह अप्रतिम होता है। आत्मानुशासन ऐसा कठोर हो जाता है कि मन, इन्द्रियाँ और देह उससे रंच मात्र भी बाहर नहीं निकल सकती हैं और तपस्वी आत्मा सदा धर्म और शुक्ल ध्यान में निमग्न रहती है। इस प्रकार देह शुद्धि से आत्मशुद्धि तक की प्रक्रिया तपश्चरण से सफल बनती है।

यहाँ मैं एक तथ्य पर और विचार कर लेना चाहता हूँ और वह तथ्य है आत्मा एवं देह का पृथकत्व। अधिकांश लोगों की सामान्य समझ यही होती है कि आत्मा और देह में कोई भेद नहीं है। जीवन है जब तक ये हैं और जीवन के साथ ही सब कुछ नष्ट हो जाता है। यह भी माना जाता है कि आत्मा कुछ नहीं होती, यह देह पंच भूत से बनती है तथा मृत्यु के उपरान्त वे ही पंच भूत पंच भूतों में मिल जाते हैं। इस प्रकार आत्मा की अनश्वरता एवं निरन्तरता तथा देह की नश्वरता के विन्दु सामान्य समझ में स्पष्ट नहीं होते हैं। यों तो चेतन व जड़ का संयोग ही सांसारिकता का मूल कारण है तथा दोनों के सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद का नाम ही मोक्ष। किन्तु जीवनों की क्रमिकता एवं निरन्तरता आत्मा एवं देह की पृथकता पर टिकी हुई है। आत्मा अलग और देह अलग है। एक जीवन की समाप्ति पर वह देह नष्ट हो जाती है किन्तु आत्मा नया जीवन धारण करके नई देह अपना लेती है। यह सव उसके कर्म चक्र के अनुसार घटित होता है।

मैं समझता हूँ कि आत्मा और देह के अलगाव की बात सामान्य समझ में ठीक तरह से वैठ जाय, उसकें लिये परदेशी राजा और केशी श्रमण के प्रश्नोत्तर बहुत उपयोगी हो सकते हैं। परदेशी राजा आत्मा और देह की पृथकता को नहीं मानता था और इस विश्वास के कारण वह घोर हिंसामय पाप कार्यों में लगा रहता था। एक बार महान् साधक केशीश्रमण बाहर के उद्यान में ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए पधारे। राजा का सारथी चित्त अपने राजा को धर्म पथ पर मोड़ने को उत्सुक था अतः नये घोड़ों की चाल दिखाने के बहाने वह परदेशी को उद्यान में केशीश्रमण के पास ले चला गया। प्रवचन पर्षदा को देख कर राजा परदेशी की जिज्ञासा जगी और उसने केशीश्रमण से अपने प्रश्न किये तथा केशीश्रमण ने उनके उत्तर दिये, वे इस प्रकार के आशय के थे :

(१) राजा—आत्मा और देह पृथक्-पृथक् हैं—मुझे यह मान्यता असत्य लगती है। प्रमाण देता हूँ। मेरे दादा महाराजा भी दिन रात पाप कर्म में लिप्त रहते थे, लेकिन मुझे वे बहुत ही प्यार करते थे। आप के अनुसार वे नरक में होंगे तो क्या वे मुझे आकर सावधान नहीं बनाते कि पाप मत करो, नरक में भीषण यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। वे नहीं आये है इसलिए मेरी मान्यता सत्य है।

केशीश्रमण—अगर तुम अपनी पटरानी सूरिकान्ता के साथ किसी अन्य विलासी पुरुष को सांसारिक भोग भोगते देख लो तो उसे क्या दण्ड दोगे ?

राजा—मैं विना एक क्षण की भी देरी किये एक ही बार में उसके प्राण ले लूंगा।

केशी—अगर वह पुरुष कहे कि थोड़ी देर ठहर जाओ—मैं अपने सम्वन्धियों को वता कर वापस आता हूँ कि दुराचार का फल ऐसा होता है। तो क्या तुम थोड़ी देर के लिये उसे छोड़ दोगे ?

राजा—ऐसे अपराधी को दण्डित करने में मैं तनिक भी देर नहीं रूकूंगा।

केशी—जिस तरह तुम उस अपराधी पुरुष को दण्ड देने में देरी नहीं करोगे—उसकी दीनता भरी प्रार्थना पर भी कोई ध्यान नहीं दोगे, उसी तरह नरक के परमाधार्मिक देव नारकीय जीवों को निरन्तर यातनाएँ देते रहते हैं —क्षण भर भी नहीं छोड़ते। अतः तुम्हारे दादा महाराजा आना चाहते हुए भी तुम्हें सावधानी दिलाने के लिये आ नहीं सकते हैं।

(२) राजा—मैं अब दूसरा प्रमाण देता हूँ। मेरी दादी श्रमणोपासिका और धर्माराधिका थी, दिन रात धार्मिक क्रियाओं में लगी रहती थी। वह भी मुझे बहुत प्यार करती थी। आपके अनुसार वह स्वर्ग में गई होगी और अगर आत्मा व देह पृथक हैं तो वही मुझे स्वर्ग से सावधान करने के लिए आ जाती कि पाप कार्य मत करो, नहीं करने से स्वर्ग के ऐसे सुख मिलते हैं। किन्तु वह भी नहीं आई। अतः आत्मा और देह अलग-अलग नहीं है।

केशी.—जब तुम नहा धोकर पवित्र वस्त्र पहिन कर किसी पवित्र स्थान में जा रहे हो और तब कोई टट्टी में बैठा पुरुष तुम्हें बुलावे तथा कुछ देर अपने साथ बातचीत करने का कहे तो क्या तुम जाओगे ?

राजा—उससे बात करने मैं अपवित्र स्थान में नहीं जाऊंगा।

केशी—इसी तरह तुम्हारी दादी भी यहाँ आकर तुम्हें समझाने की इच्छा रखते हुए भी मनुष्य लोक की दुर्गंध आदि के कारणों से यहाँ आने में असमर्थ है।

(३) राजा—एक और उदाहरण सुनिये। एक बार एक चोर को मेरे सामने पेश किया गया। मैंने उसे जिंदा ही लोहे की कुंभी में डलवा दिया। मजबूत ढक्कन और पिघले सीसे से कुंभी को पक्की बंद कर दी। मेरे सिपाही भी उस का पहरा दे रहे थे लेकिन कुछ दिनों बाद कुंभी खुलवाई गई तो चोर मरा हुआ पाया गया। आत्मा के उससे बाहर निकलने की तनिक भी कहीं गुंजाइश नहीं थी अतः आत्मा और देह एक ही हैं।

केशी—यदि पर्वत की चट्टान सरीखी एक कोठरी हो—उसके दरवाजे वगैरा पक्के बंद हों तथा चारों ओर से लिपी हुई हो। हवा तक के घुसने का कोई छेद नहीं हो। उस कोठरी में कोई जोर-जोर से भेरी बजाएँ तो उसका शब्द बाहर निकलेगा। या नहीं ?

राजा—अवश्य निकलेगा।

केशी—उसी तरह आत्मा भी कुंभी के बाहर निकल सकती है क्योंकि वह तो शब्द तथा वायु से भी अधिक सूक्ष्म होती है।

(४) राजा—आत्मा और देह को अभिन्न सिद्ध करने के लिए एक और प्रमाण देता हूँ। एक चोर को मारकर मैंने लोहे की कुंभी में डलवा कर उसे पक्की बंद कर दी तथा सिपाहियों का पहरा भी लगा दिया। लेकिन कुछ दिन बाद उसे खुलवाई गई तो वह कीड़ों से भरी हुई थी। ये कीड़े बाहर से कैसे घुस गये ? वे तो उसी देह के अंश थे। वे जीव बाहर से नहीं आये ?

केशी—तुमने आग में तपा हुआ लोहे का गोला देखा होगा —आग उसके प्रत्येक अंश में प्रवेश कर जाती है। गोले में कहीं छेद नहीं होता फिर वह आग भीतर कैसे घुस जाती है ? उसी तरह आत्मा अग्नि से भी सूक्ष्म होती है।

उसकी तृष्णा जीर्ण नहीं होती। अतः तपाराधन का देह पर जो प्रभाव पड़ता है, वह यह कि सांसारिक काम भोगों, विषय-कषायों तथा इच्छाओं को पूरी करने व भोगने का सबल सामर्थ्य ही इस देह में नहीं वचता और आत्मा पर उसका जो प्रभाव पड़ता है, वह अप्रतिम होता है। आत्मानुशासन ऐसा कठोर हो जाता है कि मन, इन्द्रियाँ और देह उससे रंच मात्र भी बाहर नहीं निकल सकती हैं और तपस्वी आत्मा सदा धर्म और शुक्ल ध्यान में निमग्न रहती है। इस प्रकार देह शुद्धि से आत्मशुद्धि तक की प्रक्रिया तपश्चरण से सफल बनती है।

यहाँ मैं एक तथ्य पर और विचार कर लेना चाहता हूँ और वह तथ्य है आत्मा एवं देह का पृथकत्व। अधिकांश लोगों की सामान्य समझ यही होती है कि आत्मा और देह में कोई भेद नहीं है। जीवन है जब तक ये हैं और जीवन के साथ ही सब कुछ नष्ट हो जाता है। यह भी माना जाता है कि आत्मा कुछ नहीं होती, यह देह पंच भूत से बनती है तथा मृत्यु के उपरान्त वे ही पंच भूत पंच भूतों में मिल जाते हैं। इस प्रकार आत्मा की अनश्वरता एवं निरन्तरता तथा देह की नश्वरता के बिन्दु सामान्य समझ में स्पष्ट नहीं होते हैं। यों तो चेतन व जड़ का संयोग ही सांसारिकता का मूल कारण है तथा दोनों के सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद का नाम ही मोक्ष। किन्तु जीवनों की क्रमिकता एवं निरन्तरता आत्मा एवं देह की पृथकता पर टिकी हुई है। आत्मा अलग और देह अलग है। एक जीवन की समाप्ति पर वह देह नष्ट हो जाती है किन्तु आत्मा नया जीवन धारण करके नई देह अपना लेती है। यह सब उसके कर्म चक्र के अनुसार घटित होता है।

मैं समझता हूँ कि आत्मा और देह के अलगाव की बात सामान्य समझ में ठीक तरह से बैठ जाय, उसकें लिये परदेशी राजा और केशी श्रमण के प्रश्नोत्तर बहुत उपयोगी हो सकते हैं। परदेशी राजा आत्मा और देह की पृथकता को नहीं मानता था और इस विश्वास के कारण वह घोर हिंसामय पाप कार्यों में लगा रहता था। एक बार महान् साधक केशीश्रमण बाहर के उद्यान में ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए पधारे। राजा का सारथी चित्त अपने राजा को धर्म पथ पर मोड़ने को उत्सुक था अतः नये घोड़ों की चाल दिखाने के बहाने वह परदेशी को उद्यान में केशीश्रमण के पास ले चला गया। प्रवचन पर्षदा को देख कर राजा परदेशी की जिज्ञासा जगी और उसने केशीश्रमण से अपने प्रश्न किये तथा केशीश्रमण ने उनके उत्तर दिये, वे इस प्रकार के आशय के थे :

(१) राजा—आत्मा और देह पृथक्-पृथक् हैं—मुझे यह मान्यता असत्य लगती है। प्रमाण देता हूँ। मेरे दादा महाराजा भी दिन रात पाप कर्म में लिप्त रहते थे, लेकिन मुझे वे बहुत ही प्यार करते थे। आप के अनुसार वे नरक में होंगे तो क्या वे मुझे आकर सावधान नहीं बनाते कि पाप मत करो, नरक में भीषण यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। वे नहीं आये है इसलिए मेरी मान्यता सत्य है।

केशीश्रमण—अगर तुम अपनी पटरानी सूरिकान्ता के साथ किसी अन्य विलासी पुरुष को सांसारिक भोग भोगते देख लो तो उसे क्या दण्ड दोगे ?

राजा—मैं विना एक क्षण की भी देरी किये एक ही बार में उसके प्राण ले लूंगा।

केशी—अगर वह पुरुष कहे कि थोड़ी देर ठहर जाओ—मैं अपने सम्वन्धियों को वता कर वापस आता हूँ कि दुराचार का फल ऐसा होता है। तो क्या तुम थोड़ी देर के लिये उसे छोड़ दोगे ?

राजा—ऐसे अपराधी को दण्डित करने में मैं तनिक भी देर नहीं रूकूंगा।

केशी—जिस तरह तुम उस अपराधी पुरुष को दण्ड देने में देरी नहीं करोगे—उसकी दीनता भरी प्रार्थना पर भी कोई ध्यान नहीं दोगे, उसी तरह नरक के परमाधार्मिक देव नारकीय जीवों को निरन्तर यातनाएँ देते रहते हैं —क्षण भर भी नहीं छोड़ते। अतः तुम्हारे दादा महाराजा आना चाहते हुए भी तुम्हें सावधानी दिलाने के लिये आ नहीं सकते हैं।

(२) राजा—मैं अब दूसरा प्रमाण देता हूँ। मेरी दादी श्रमणोपासिका और धर्माराधिका थी, दिन रात धार्मिक क्रियाओं में लगी रहती थी। वह भी मुझे बहुत प्यार करती थी। आपके अनुसार वह स्वर्ग में गई होगी और अगर आत्मा व देह पृथक हैं तो वही मुझे स्वर्ग से सावधान करने के लिए आ जाती कि पाप कार्य मत करो, नहीं करने से स्वर्ग के ऐसे सुख मिलते हैं। किन्तु वह भी नहीं आई। अतः आत्मा और देह अलग-अलग नहीं है।

केशी.—जब तुम नहा धोकर पवित्र वस्त्र पहिन कर किसी पवित्र स्थान में जा रहे हो और तब कोई टट्टी में बैठा पुरुष तुम्हें बुलावे तथा कुछ देर अपने साथ बातचीत करने का कहे तो क्या तुम जाओगे ?

राजा—उससे बात करने मैं अपवित्र स्थान में नहीं जाऊंगा।

केशी—इसी तरह तुम्हारी दादी भी यहाँ आकर तुम्हें समझाने की इच्छा रखते हुए भी मनुष्य लोक की दुर्गंध आदि के कारणों से यहाँ आने में असमर्थ है।

(३) राजा—एक और उदाहरण सुनिये। एक बार एक चोर को मेरे सामने पेश किया गया। मैंने उसे जिंदा ही लोहे की कुंभी में डलवा दिया। मजबूत ढक्कन और पिघले सीसे से कुंभी को पक्की बंद कर दी। मेरे सिपाही भी उस का पहरा दे रहे थे लेकिन कुछ दिनों बाद कुंभी खुलवाई गई तो चोर मरा हुआ पाया गया। आत्मा के उससे बाहर निकलने की तनिक भी कहीं गुंजाइश नहीं थी अतः आत्मा और देह एक ही हैं।

केशी—यदि पर्वत की चट्टान सरीखी एक कोठरी हो—उसके दरवाजे वगैरा पक्के बंद हों तथा चारों ओर से लिपी हुई हो। हवा तक के घुसने का कोई छेद नहीं हो। उस कोठरी में कोई जोर-जोर से भेरी वजाएँ तो उसका शब्द बाहर निकलेगा। या नहीं ?

राजा—अवश्य निकलेगा।

केशी—उसी तरह आत्मा भी कुंभी के बाहर निकल सकती है क्योंकि वह तो शब्द तथा वायु से भी अधिक सूक्ष्म होती है।

(४) राजा—आत्मा और देह को अभिन्न सिद्ध करने के लिए एक और प्रमाण देता हूँ। एक चोर को मारकर मैंने लोहे की कुंभी में डलवा कर उसे पक्की बंद कर दी तथा सिपाहियों का पहरा भी लगा दिया। लेकिन कुछ दिन बाद उसे खुलवाई गई तो वह कीड़ों से भरी हुई थी। ये कीड़े बाहर से कैसे घुस गये ? वे तो उसी देह के अंश थे। वे जीव बाहर से नहीं आये ?

केशी—तुमने आग में तपा हुआ लोहे का गोला देखा होगा —आग उसके प्रत्येक अंश में प्रवेश कर जाती है। गोले में कहीं छेद नहीं होता फिर वह आग भीतर कैसे घुस जाती है ? उसी तरह आत्मा अग्नि से भी सूक्ष्म होती है।

(५) राजा—धनुर्विघा जानने वाला तरुण पुरुष एक साथ पांच वाण फैंक सकता है, लेकिन उसकी ऐसी होशियारी उसके बचपन में नहीं होती। शरीर वृद्धि के साथ ही होशियारी आती है जिससे साफ है कि आत्मा और देह एक होते हैं।

केशी.—वह तरुण पुरुष नया धनुष और नई डोरी लेकर ही पांच बाण एक साथ फैंक सकता है—पुराने धनुष व पुरानी डोरी से नहीं। यह उपकरण का प्रभाव है। वैसे ही बचपन में धनुष की शिक्षा रूप उपकरण का अभाव होने से एक बालक वैसा नहीं कर सकता है। यह उपकरण के अभाव का प्रभाव है।

राजा—एक तरुण पुरुष लोहे, सीसे या जस्ते के बड़े भार को उठा सकता है, लेकिन वही वूढ़ा हो जाने पर भार उठाना तो दूर—खुद भी लकड़ी के सहारे चलने लगता है। यदि आत्मा और देह पृथक होते तो वह बुढ़ापे में भी भार उठाने में समर्थ रहता।

केशी.—इतने वड़े भार (कावड़) को तरुण पुरुष ही उठा सकता है लेकिन उसके पास भी बांस फटा व कपड़ा गला हुआ हो तो क्या वह उस कावड़ को उठा सकेगा? उसी प्रकार शारीरिक साधन की दुर्वलता से वृद्ध पुरुष वह भार नहीं उठा पाता है। इसमें आत्मा व देह के एक होने का कोई प्रश्न नहीं है।

(६) राजा—मैंने एक चोर को जिंदा हालत में तोला और मारने के वाद फिर तोला, लेकिन वजन में कोई फर्क नहीं आया। अगर आत्मा नाम की कोई वस्तु होती और वह निकलती तो उसके वजन की तो कमी होनी चाहिये थी।

केशी.—चमड़े की मशक में हवा भर कर तोलो और फिर हवा निकाल कर तोलो—क्या वजन में फर्क पड़ेगा?

राजा—नहीं।

केशी.—आत्मा तो हवा से भी सूक्ष्म होती है क्योंकि हवा गुरु-लघु है लेकिन आत्मा अगुरु-लघु है। अतः यह प्रमाण भी व्यर्थ है।

राजा—आत्मा है या नहीं—यह देखने के लिये मैंने एक चोर को चारों ओर से जांचा-पड़ताला, कहीं आत्मा नहीं दिखी। उसके छोटे-छोटे टुकड़े करवा दिये तव भी कहीं आत्मा नहीं दिखी। इसलिये आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है।

केशी.—तुम तो उस लकड़हारे के समान मूर्ख हो जो लकड़ी के टुकड़े-टुकड़े करके उसमें आग खोजा करता है और आग न मिलने पर निराश हो जाता है। आत्मा देह के किसी खास अवयव में नहीं रहती बल्कि सम्पूर्ण देह में व्याप्त होती है। देह की प्रत्येक क्रिया उसी के कारण होती है। अतः आत्मा और देह की पृथकता स्वयंसिद्ध है।

इस प्रकार उपरोक्त प्रश्नोत्तर सरल एवं सुवोध शैली में आत्मा तथा देह की पृथकता को समझा देते हैं जो सामान्य समझ में भी भलीभांति वैठ सकता है।

मैं मानता हूँ कि आत्मा एवं देह की पृथकता का यह विंदु तपाराधन की आधार भित्ति है, क्योंकि मुख्य रूप से तप के दो प्रकार कहे गये हैं—वाह्य एवं आभ्यन्तर। वाह्य तप के छः भेद हैं तथा आभ्यन्तर तप के भी छः भेद है, जो कुल मिलाकर बारह भेद होते हैं। वाह्य तप का अभिप्राय

है कि देह शुद्धि हो और आभ्यन्तर तप का उद्देश्य आत्मशुद्धि है। दोनों स्थानों में शुद्धि का अर्थ है कि सांसारिक विषय-कषायों का मैल साफ हो जाय। देह का यह मैल तब तक साफ नहीं होता जब तक कि शारीरिक शक्ति उन भोगों को भोगने में लगी रहती है, अतः उनसे विरत होने के लिए बाह्य तप का सेवन किया जाता है ताकि अशुभता में लगने वाली देह की तथा उसके माध्यम से इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाय। देह शुद्धि के साथ-साथ आत्म शुद्धि का कार्य भी चलता रहना चाहिये। आभ्यन्तर तपों का आचरण भीतरी विचारों का मैल साफ करता है। वृत्तियों की शुद्धि के साथ प्रवृत्तियों की शुद्धि एवं प्रवृत्तियों की शुद्धि से वृत्तियों की शुद्धि का क्रम तपाचरण से क्रमशः चलता रहना चाहिये। इस शुद्धि क्रम में आत्मा एवं देह की पृथकता का विन्दु इस कारण से महत्त्वपूर्ण है कि सामान्य रूप से मनुष्य का अपनी देह पर अत्यधिक ममत्त्व होता है। यहाँ तक कि वह कई बार देह को ही 'स्वयं' मानकर चलने लगता है तथा देह के सुख के लिए सभी प्रकार के कार्य-अकार्य करने पर उतारू हो जाता है। अतः इस विन्दु की स्पष्टता के वाद उसकी यह धारणा बन जानी चाहिये कि देह वह 'स्वयं' नहीं है, वह 'स्वयं' तो आत्मा है। इस कारण देह उससे पृथक् है। और इसी कारण देह का पोषण आत्मा का पोषण नहीं है, बल्कि स्थिति इसके एकदम विपरीत है। देह का पोषण कम किया जायेगा—उस पर से अपने ममत्त्व को घटाया जायेगा, तभी वास्तविक रूप से आत्मा का पोषण प्रारंभ होगा। देह मोह जितने अंशों में मिटेगा, उन्हीं अंशों में आत्म स्वरूप की विशेष रूप से अनुभूति होगी। यही आत्मानुभूति तथा उसकी परिपुष्टता तपाराधन का प्रधान लक्ष्य है।

जव मैं भली भांति यह समझ लूंगा कि मैं देह नहीं हूँ, अपितु आत्मा हूँ तथा देह एक रूप से आत्मा के लिए वंधन है जो कामणि देह के रूप में आत्मा को बांधे रखती है तथा इसी के फलस्वरूप आत्मा वार-वार भिन्न-भिन्न देहों के चोले में वंधती है, तभी मेरा देह-मोह घट और मिट सकेगा। वाह्य प्रकार के तप इसी देह मोह को क्षीणतर करते रहने के अनुष्ठान है। देह मोह की क्षीणता के वाद ही आत्मस्वरूप की अनुभूति प्रवल बनती है, जो आभ्यन्तर प्रकार के तपाचरण से प्रवलतर होती हुई चली जाती है।

मैं यह भी मानता हूँ कि इस रूप में समग्र तपश्चरण की कठोरता ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों कार्मण शरीर टूटता जाता हैं याने कि कर्मक्षय का क्रम चल जाता है। तपश्चरण सम्पूर्ण कर्म क्षय का आधार शास्त्र है। मैंने नव तत्त्वों के स्वरूप-विश्लेषण से जाना है कि बंध तत्त्व जहाँ आश्रव तत्त्व के द्वार से कर्मों का आगमन और बंध कराता है, वहाँ संवर तत्त्व की आराधना बाहर से आने और वंधने वाले कर्मों को रोक देती है। तव समस्या रह जाती है पूर्व संचित कर्मों को नष्ट करके आत्मा को सम्पूर्ण स्वरूप से निर्मल वना लेने की। यह निर्जरा तत्त्व होता है जिसकी साधना से पूर्वोपार्जित कर्म नष्ट किये जाते हैं। यह निर्जरा की साधना ही तपाराधना है।

इस रूप में तप के वाह्य छः एवं आभ्यन्तर छः कुल बारह प्रकार क्रमशः निम्नानुसार होते हैं :

(१) अनशन (२) ऊनोदरी (३) भिक्षाचर्या (४) रस परित्याग (५) कायाक्लेश (६) प्रतिसंलीनता (७) प्रायश्चित (८) विनय (९) वैयावृत्य (१०) स्वाध्याय (११) ध्यान तथा (१२) व्युत्सर्ग।

तपों का यह क्रम एक दूसरे से उच्चतरता का आपेक्षिक क्रम है —बाह्य भेद में भी और आभ्यन्तर भेद में भी। अनशन सम्पूर्ण आहार त्याग होता है और ऊनोदरी में अल्प या मित आहार लिया जाता है तब भी ऊनोदरी तप अनशन की तुलना में उच्चतर माना जाता है क्योंकि कुछ न खाने की अपेक्षा भूख से कम खाने की कठोरता अधिक होती है। इसी प्रकार उच्चतरता का क्रम आगे से आगे होता है। भूख से कम खाने की अपेक्षा मान मोड़कर भिक्षा मांग कर लाना और खाना अधिक कठिन होता है जबकि उससे भी अधिक कठिन सारे रस छोड़कर शुष्क (सूखा) खाना खाना। इसी प्रकार आभ्यन्तर तप-क्रम में भी प्रायश्चित सबसे कम कठोर माना गया है जो अपने अकृत्य के प्रति खेद का अनुभव कराता है। उससे उच्चतर होता है विनय—अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों में से अभिमान को निकाल फैंकना और नम्रता की प्रतिमूर्ति बन जाना। इसके बाद क्रमशः वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान के तप आते हैं सर्वोच्च तप है व्युत्सर्ग, जिसका अर्थ होता है सांसारिकता के सम्पूर्ण मोह का सर्वथा त्याग। इसमें शरीर तक का त्याग सम्मिलित होता है।

मैं तपश्चरण के इस क्रम को अनूठा मानता हूँ क्योंकि कई मान्यताओं का तप तो अनशन तक ही सिमट कर रह जाता है जबकि वीतराग देवों ने अनशन को मात्र प्राथमिक तप माना है और वह भी बाह्य-शरीर से सम्बन्धित। बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रकारों में यही अन्तर है कि बाह्य तप देह शुद्धि से प्रारंभ होते हैं तथा आत्म शुद्धि का धरातल तैयार करते हैं तथा आभ्यन्तर तप आत्म शुद्धि से प्रारंभ होकर उसकी परम शुद्धि तक पहुँचते हैं तथा उनका प्रभाव शरीर में तेज एवं ओज के रूप में प्रकट होता है।

मैं साधना के इस श्रेष्ठ अंग—तपश्चरण पर जितना अधिक चिन्तन करता हूँ, उतनी ही गूढ़ता मेरे मन में गहराती जाती है जैसे कि उस गूढ़ता का कहीं ओर-छोर ही न हो। इस कारण मैं जरूरी समझता हूँ कि तप के एक-एक प्रकार पर विस्तृत रूप से सोचूं तथा उनके आत्मप्रेरित आचरण में निष्ठा का संचय करूं। यह विस्तृत विश्लेषण मेरे विचार को स्पष्टता देगा तो मेरे आचार को भी परिपुष्ट बनायगा, ताकि मैं अपनी आत्म विकास की इस महायात्रा में त्वरित गति से आगे बढ़ सकूं।

आहार-त्याग रूप अनशन

मैं मानता हूँ कि शरीर और आत्मा को तपाना ही तप है। जैसे अग्नि में तपा हुआ सोना पूर्ण निर्मल होकर शुद्ध होता है, उसी प्रकार तप रूपी अग्नि में तपी हुई देह और आत्मा मल से रहित होकर शुद्ध-स्वरूप हो जाती है।

तपश्चरण के इस क्रम में पहला है अनशन तप। आहार का त्याग करना अनशन तप है। इसके दो भेद कहे गये हैं—(१) इत्वर—एक दिन के उपवास से लेकर छः मास तक का अनशन तप इत्वर अनशन है। (२) यावत्कथित भक्त परिज्ञा, इंगित मरण और पादोपगमन मरण रूप अनशन यावत्कथित अनशन है। इसे मरण-काल अनशन कह सकते हैं।

इत्वरिक अनशन में भोजन की आकांक्षा रहती है, इसलिये इसे साकांक्ष अनशन भी कहते हैं, जबकि मरण काल अनशन (संथारा) जीवन पर्यन्त के लिये होता है। उसमें भोजन की कतई आकांक्षा नहीं रहती, इस कारण वह निःकांक्ष अनशन भी कहलाता है।

इत्वरिक अनशन छः प्रकार का कहा गया है :-(१) श्रेणी तप—श्रेणी का अर्थ होता है क्रम या पंक्ति। उपवास, बेला, तेला आदि क्रम से किया जाने वाला तप श्रेणी तप है जो क्रमिक रूप से

उपवास से लेकर छः मास तक का होता है। (२) प्रतर तप—श्रेणी को श्रेणी से गुणा करना प्रतर है। प्रतर युक्त तप प्रतर तप कहलाता है। जैसे, उपवास, बेला, तेला और चौला इन चार पदों की श्रेणी होती है। श्रेणी को श्रेणी से गुणा करने पर सोलह पद होते हैं। प्रतर का आयाम विस्तार (लम्बाई चौड़ाई) में बराबर होता है। प्रतर की स्थापना की विधि इस प्रकार है —प्रथम पंक्ति में एक दो तीन चार रखना। दूसरी पंक्ति दो से आरंभ करना और तीसरी व चौथी क्रमशः तीन व चार से आरंभ करना। इस प्रकार रखने में पहली पंक्ति पूरी होगी और शेष अधूरी रहेगी। जिन्हें यथायोग्य आगे की संख्या और फिर क्रमशः बची हुई संख्या रख कर पूरी करना चाहिये। स्थापना यह है— १, २, ३, ४, (२) २, ३, ४, १ (३) ३, ४, १, २ तथा (४) ४, १, २, ३। (३) घन तप—प्रतर को श्रेणी से गुणा करना घन है। यहाँ सोलह को चार से गुणा करने पर आई हुई चौसठ की संख्या घन है। घन से युक्त तप घन तप कहलाता है। (४) वर्ग तप—घन को घन से गुणा करना वर्ग है। यहाँ चौसठ को चौसठ से गुणा करने पर आई हुई ४०९६ की संख्या वर्ग है। वर्ग से युक्त तप वर्ग तप कहलाता है। (५) वर्ग-वर्ग तप—वर्ग को वर्ग से गुणा करना वर्ग-वर्ग है। यहाँ ४०९६ को ४०९६ से गुणा करने पर आई हुई १६७७७२१६ की संख्या वर्ग-वर्ग है। वर्ग-वर्ग से युक्त तप करना वर्ग-वर्ग तप कहलाता है। (६) प्रकीर्ण तप—श्रेणी आदि की रचना न कर यथाशक्ति फुटकर (छुटक) तप करना प्रकीर्ण तप है। नवकारसी से लेकर यवमध्य, वज्रमध्य, चन्द्रप्रतिमादि सभी प्रकीर्ण तप हैं।

एक अन्य अपेक्षा से अनशन तप के बीस भेद भी बताये गये हैं। इत्वरिक के १४ भेद—(१) चतुर्थ भक्त (२) षष्ठ भक्त (३) अष्टम भक्त (४) दशम भक्त (५) द्वादश भक्त (६) चतुर्दश भक्त (७) षोड्शभक्त (८) अर्धमासिक (९) मासिक (१०) द्वैमासिक (११) त्रैमासिक (१२) चातुर्मासिक (१३) पंच मासिक तथा (१४) षाण्मासिक एवं यावत्कथिक के ६ भेद —(१) पादोपगमन (२) भक्त प्रत्याख्यान (३) इंगित मरण तथा इनके निहारी और अनिहारी के भेद से छः भेद हो जाते हैं।

यावत्कथिक अनशन तप (संथारा) के अन्तर्गत आहार का त्याग करके अपने शरीर के किसी अंग को किंचिन्मात्र भी न हिलाते हुए निश्चल रूप से संथारा करना पादोपगमन कहलाता है। पादोपगमन के दो भेद हैं—(१) व्याघातिम—सिंह, व्याघ्र तथा दावानल (वन की आग) आदि का उपद्रव होने पर जो संथारा (अनशन) किया जाता है वह व्याघातिम पादोपगमन संथारा कहलाता है। (२) निर्व्याघातिम—जो किसी भी उपद्रव के बिना स्वेच्छा से संथारा किया जाता है, वह निर्व्याघातिम पादोपगमन संथारा कहलाता है। दूसरे, भक्त-प्रत्याख्यान यावत्कथिक अनशन तप का अर्थ होता है चार अथवा तीन प्रकार के आहार का त्याग कर लेना। और इसी अवस्था में भक्त-परिज्ञा मरण यावत्कथिक अनशन तप भी होता है। इसके तीसरे भेद इंगित मरण के अनुसार दूसरे साधुओं से सेवा सुश्रूषा न करवाते हुए नियमित प्रदेश की सीमा में रहकर संथारा करना होता है। ये तीनों भेद निहारी और अनिहारी रूप होते हैं। निहारी संथारा ग्रामनगर के अन्दर किया जाता है तथा अनिहारी संथारा ग्राम-नगर से बाहर किया जाता है। जिस मुनि का मरण ग्राम-नगर में हुआ हो और उस के मृत शरीर को ग्राम-नगर से बाहर ले जाना पड़े तो वह निहारी मरण कहलाता है। ग्रामनगर के वाहर किसी पर्वत की गुफा आदि में जो मरण हो वह अनिहारी मरण कहलाता है।

यावत्कथिक अनशन के काम चेष्टा की अपेक्षा से दो भेद हैं—(१) सविचार—काया की क्रियासहित अवस्था तथा (२) अविचार—निष्क्रिय। दूसरी अपेक्षा से दो भेद इस प्रकार हैं—(१) सपरिकर्म—संथारे की अवस्था में दूसरे मुनियों से सेवा लेना तथा (२) अपरिकर्म —सेवा की अपेक्षा नहीं रखना।

मैं सबसे पहले क्रम पर रखे गये इस अनशन तप के स्वरूप पर ही जब चिन्तन करता हूँ तो अनुभव करता हूँ कि कितना उत्कृष्ट एवं कष्ट साध्य स्वरूप है इसका? सामान्य जन को एक उपवास भी कठिन लगता है जबकि उपवासों की श्रेणियों, प्रतरों आदि की गुणात्मक आराधना के लिये तो प्रखर आत्म-बल की आवश्यकता होती है। यों भूखा रहना भी आसान नहीं होता है इसी कारण नीति में कहा गया है कि बुभुक्षित (भूखा) पुरुष क्या क्या पाप नहीं कर डालता है। ऐसी दशा में इच्छापूर्वक भूखा रहना और इन्द्रियदमन करना वस्तुतः टेढ़ी खीर है। यह विचार उठ सकता है कि जब पहले तप का ही यह काठिन्य है तो आगे के तपों की आराधना कितनी कठिन होगी, किन्तु कठिनता और सरलता की समझ मनोदशा के अनुरूप होती है। मैं मानता हूँ कि यदि इरादा मजबूत हो तो दूसरों को कठिन समझ में आने वाला काम भी मजबूत इरादे वाले को आसान लगता है। इसके विरुद्ध अगर इरादा ढिलमिल रहता है तो हकीकत में आसान काम भी उस के लिए कठिन बन जाता है। फिर तपश्चरण तो वस्तुतः ही कठिन होता है। जीवितावस्था में अनशन तथा मरणकाल में भी अनशन याने संथारा—तब कहीं पहले तप की सफल आराधना बन पड़ती है।

मैं सोचता हूँ कि जो साधक अपने जीवन में तथा मरण में अनशन व्रत की ही सफल साधना कर लेता है, वह अपनी आत्मा को तपा डालता है और अपने मरण को पंडित मरण बना लेता है।

अल्पता बोधक तपस्या

अल्पता बोधक तपस्या ऊनोदरी होती है कि जिसका जितना आहार है उससे कम आहार करना अर्थात् भूख से कम खाना। भूख से कम खाने की कठिनाई अपनी ही तरह की होती है। मैं सोचता हूं कि यदि मैं उपवास का प्रत्याख्यान कर लूं तो मन में शान्ति आ जाती है कि आज मुझे भोजन करना ही नहीं है—भोजन की लोलुपता सताती नहीं। किन्तु खाना खाने बैठूं भी और खाऊं भी लेकिन भूख से तृप्ति न लूं— तृप्ति के पहले ही खाना बन्द कर दूं—यह स्थिति हकीकत में उपवास की अपेक्षा कठिनतर होती है। खाना खाना शुरू कर देने पर विभिन्न व्यंजनों का स्वाद अनुभव में आता है तो खाने से सम्बन्धित लोलुपता भी उत्तेजित हो जाती है, वैसी अवस्था में तृप्ति के छोर तक पहुंचने से पहले ही अपने को रोक लेना अधिक निरोध शक्ति की अपेक्षा रखता है। मैं समझता हूं कि ऊनोदरी तप की वास्तविक आराधना से ही इस सत्य का सही अनुभव हो सकता है।

ऊनोदरी की तपस्या आहार के सम्बन्ध में ही अल्पता बोधक नहीं है अपितु उपकरणों के सम्बन्ध में भी अल्पता बोधक है। आहार के समान ही आवश्यक उपकरणों से कम उपकरण रखना भी ऊनोदरी तप है। आहार तथा उपकरणों में आवश्यकता से भी कमी करना इस ऊनोदरी तप का द्रव्य रूप है तो इसका भाव रूप यह होगा कि क्रोध आदि कषायों को मंद एवं अल्प किया जाय।

इस रूप में ऊनोदरी तप के प्राथमिक दृष्टि से दो भेद हुए—(१) द्रव्य ऊनोदरी एवं (२) भाव ऊनोदरी। द्रव्य ऊनोदरी के दो भेद बताये गये हैं—(१) उपकरण द्रव्य ऊनोदरी तथा (२) भक्त

पान द्रव्य ऊनोदरी। पहले भेद उपकरण द्रव्य ऊनोदरी के तीन भेद—(१) पात्र (२) वस्त्र और (३) जीर्ण उपधि। दूसरे भेद भक्त पान द्रव्य ऊनोदरी के पांच भेद—(१) अल्पाहार ऊनोदरी—एक से आठ कवल (कवे) प्रमाण आहार करना। (२) उपार्ध ऊनोदरी — नौ से बारह कवल प्रमाण आहार करना। (३) अर्ध ऊनोदरी—तेरह से सोलह कवल प्रमाण आहार करना। (४) पोण ऊनोदरी—सत्तरह से चौबीस कवल प्रमाण याने पोन पांति का आहार करना। एवं (५) किंचित् ऊनोदरी—पच्चीस से इकतीस कवल प्रमाण आहार करना, क्योंकि पूरे बत्तीस कवल प्रमाण आहार करना प्रमाणोपेत आहार कहलाता है। भाव ऊनोदरी के सामान्यतः छः भेद किये जाते हैं—(१) अल्प क्रोध अर्थात् क्रोध का निग्रह करते चले जाने की प्रक्रिया। (२) अल्प मान—सामान्य रूप से अनुभव में आने वाली मान वृत्ति को कम करना। (३) अल्प माया— अपने मायाचार को घटाना। (४) अल्प लोभ—तप का विचार रखते हुए अपनी लोभ वृत्ति में कमी करना। (५) अल्प शब्द —वाणी निग्रह का ध्यान रखना। तथा (६) अल्प झज्झ (कलह)—राग द्वेष की वृत्तियों तथा कलहकारी प्रवृत्तियों में कमी लाना।

ऊनोदरी तप की महत्ता को मैं समझूं तथा इसकी आराधना का व्रत लूं। भोजन और उपकरणों का परिमाण मैं क्रमशः घटाता चलूंगा तो उसका निश्चित रूप से यह प्रभाव होगा कि मैं बाहरी सुख सुविधाओं के सम्वन्ध में अपने चित्त की लिप्तता को कम कर सकूंगा, क्योंकि आहार का परिमाण घटता रहेगा तो देह-मोह घटेगा और खाने के लिये जीने की नहीं, बल्कि जीने के लिये खाने की शुद्ध प्रवृत्ति का विकास हो सकेगा। साधु अवस्था में भी कई बार देह मोह मिटता नहीं है तो उसकी सुख सुविधाओं का खयाल आ जाता है जिसके निराकरण के लिये आहार के साथ उपकरणों की अल्पता का बोध भी इस ऊनोदरी तप के माध्यम से होता है।

मेरा विचार है कि जव साधु के लिये शास्त्र सम्मत आहार (बत्तीस कवल) में भी कमी की जाती है और इसी प्रकार भंड, वस्त्र, पात्र एवं उपकरणों में भी मान्य परिमाण से भी अल्पता ग्रहण होती है, तब निश्चय ही उस सादगी का असर मन के भावों पर शुभ रूप में पड़ता है। भाव ऊनोदरी के रूप में उसके क्रोध, मान, माया तथा लोभ की वृत्तियों में कमी आती है, वह मितभाषी हो जाता है तथा क्रोध के वशीभूत होकर वचन नहीं निकालता है एवं आते हुए क्रोध को शान्त कर देता है। इस प्रकार यह ऊनोदरी तप अपने आचरण में पहले तप अनशन की अपेक्षा कठिन तर होता है। मैं भावना भाता हूं कि इस तप की मेरी आराधना सफल बने ताकि मैं देह—मोह से दूर हटकर आत्म स्वरूप में अधिक रमण कर सकूं एवं अपने कषाय भावों को मन्दतर बना सकूं। मेरे कर्म क्षय की दिशा में मैं इस दूसरे सोपान पर दृढ़ संकल्प के साथ आरूढ़ हो सकूं और तीसरे सोपान पर पहुंचने की शक्ति अर्जित कर सकूं—ऐसी मेरी भावना है।

भिक्षा चर्या वृत्ति-संकोच

विविध अभिग्रह (प्रण) लेकर भिक्षा का संकोच करते हुए विचरना भिक्षा चर्या तप कहलाता है। अभिग्रह पूर्वक भिक्षा करने से वृत्ति का संकोच होता है। इसलिये इसे वृत्ति—संक्षेप भी कहते हैं।

मैं संसार में इस सामान्य तथ्य का अनुभव करता हूं कि मनुष्य के मन में अहंकार बड़ी गहरी जड़ें जमाकर टिका हुआ होता है। इसी कारण कोई किसी का अहसान लेने से झिझकता है।

सामान्य रूप से मनुष्य सोचता है कि वह किसी से क्यों कुछ मांग कर नीचा बने? छोटे से छोटे आदमी में भी दबा—छिपा हो, लेकिन ऐसा अहं जरूर होता है। इस अहंकार को तोड़ना तथा अपने आपको याचक के रूप में प्रस्तुत करना बड़ा कठिन होता है। वैसे भिक्षा के अनुभव भी सामान्य नहीं होते हैं—कहीं घी घणा तो कहीं ओछा चणा। यह तो ठीक, लेकिन दाता के व्यवहार में भी बड़ी विचित्रता दृष्टि में आती है। दाता सद्व्यवहारी भी हो सकता है और असद् व्यवहारी भी। असद् व्यवहारी दाता की अवहेलना एवं अवमानना शान्तिपूर्वक सह लेना सरल नहीं होता है। इस रूप में भिक्षा चर्या का तप तपने वाले की आन्तरिक वृत्तियों की कड़ी परीक्षा लेता है।

मैं चिन्तन करता हूं कि भिक्षा चर्या तप को वृत्ति संक्षेप क्यों कहा है? वृत्ति का अर्थ होता है —निर्वाह के साधन रूप भोजन उपकरण आदि। जब सर्व विरति धर्म का पालक साधु भिक्षा वृत्ति को अपनाता है तब निश्चय ही वह अहंकार जयी बनता है। अहंकार को जीतने के साथ ही यह विचार आना स्वाभाविक है कि जब भिक्षा मांग कर अपना निर्वाह चलाना है तो पहली बात यह कि उसे बहुत ही आवश्यक पदार्थों पर निर्भर रहना चाहिये। दूसरे, उस अति आवश्यकता में भी अल्पता की जाती रहे तो वह श्रेष्ठ है। इस प्रकार भिक्षा चर्या की भावपूर्ण आराधना में वृत्ति संक्षेप एक अनिवार्य निष्पत्ति बनती है। यह वृत्ति संक्षेप ही वृत्ति संकोच होता है।

भिक्षा चर्या के तप में भी शुद्धता की दृष्टि से कड़ी कसौटियां रखी गई हैं। एक निर्ग्रंथ साधु को निम्न नौ कोटियों से विशुद्ध आहार ही ग्रहण करना होता है—

(१) साधु आहार के लिये स्वयं जीवों की हिंसा न करे।

(२) इस हेतु दूसरों के द्वारा भी हिंसा नहीं करावे।

(३) इस हेतु हिंसा करते हुए का अनुमोदन भी नहीं करे अर्थात् उसे भला न समझे।

(४) आहार आदि स्वयं नहीं पकावे।

(५) दूसरे से न पकवावे।

(६) पकाते हुए का अनुमोदन न करे।

(७) आहार आदि स्वयं नहीं खरीदे।

(८) दूसरे को खरीदने के लिये न कहे। तथा

(९) खरीदते हुए किसी व्यक्ति का अनुमोदन नहीं करे।

ये नौ कोटियां मन, वचन एवं काया रूप तीनों प्रकार के योगों से सम्बन्धित मानी जानी चाहिये।

भिक्षाचर्या तप के तीस भेद कहे गये हैं—(१) द्रव्य —द्रव्य विशेष का अभिग्रह लेकर भिक्षा चर्या करना। (२) क्षेत्र—स्वग्राम और परग्राम से भिक्षा लेने का अभिग्रह करना। (३) काल—प्रातः काल या मध्यान्ह में भिक्षाचर्या करना। (४) भाव—गाना, हंसना, आदि क्रियाओं में प्रवृत्त पुरुषों से भिक्षा लेने का अभिग्रह करना। (५) उत्क्षिप्त चरक—अपने प्रयोजनों के लिये गृहस्थी के द्वारा भोजन के पात्र से बाहर निकाले हुए आहार की गवैषणा करना। (६) निक्षिप्त चरक-भोजन के पात्र से उद्घृत और अनुद्धृत दोनों प्रकार के आहार की गवैषणा करना। (७) उत्क्षिप्त—निक्षिप्त

चरक—पहले भोजन पात्र में डाले हुए और फिर अपने लिये बाहर निकाले हुए आहार आदि की गवैषणा करना। (८) निक्षिप्त-उत्क्षिप्त चरक—दाता ने पाक भाजन से अन्नादिक को निकाल कर दूसरे पात्र में रख दिया हो, उसी को हाथ में उठाया हो उससे देने की गवैषणा करना। (६) वर्त्यमान चरक — गृहस्थी के लिये थाली में परोसे हुए आहार की गवैषणा करना। (१०) साहर्त्यमान चरक (साहरिज्ञमाण चरिए)—कूरा (एक प्रकार का धान) आदि जो ठंडा करने के लिये थाली आदि में डाल कर वापस भोजन पात्र में डाल दिया गया हो —ऐसे आहार की गवैषणा करना। (११) उपनीत चरक (उवणीय चरिए)—दूसरे साधु द्वारा अन्य साधु के लिये लाये गये आहार की गवैषणा करना। (१२) अपनीत चरक (अवणीय चरिए) —पकाने के पात्र में से निकाल कर दूसरी जगह रखे हुए पदार्थ की गवैषणा करना। (१३) उपनीतापनीत चरक (उवणीआवणीय चरिए)—उपरोक्त दोनों प्रकार के आहार की गवैषणा करना अथवा दाता द्वारा उस पदार्थ के गुण और अवगुण सुन कर फिर ग्रहण करना अर्थात् एक ही पदार्थ की एक गुण से तो प्रशंसा और दूसरे गुण की अपेक्षा दूषण सुनकर फिर लेना। जैसे यह जल ठंडा तो है लेकिन खारा है आदि (१४) अपनीतोपनीत चरक (अवणीयोवणीअ चरिए)—मुख्य रूप से अवगुण और सामान्य रूप से गुण को सुनकर उस पदार्थ को लेना। जैसे यह जल खारा है लेकिन ठंडा है आदि। (१५) संसृष्ट चरक (संसठ्ठ चरए)—उसी पदार्थ से खरड़े (लिये) हुए हाथ से दिये जाने वाले आहार की गवैषणा करना। (१६) असंसृष्ट चरक (असंसठचरए)—बिना खरड़े हुए हाथ से दिये जाने वाले आहार की गवैषणा करना। (१७) तज्ञात संसृठ चरक (तज्ञाय संसठ्ठचरए) भिक्षा में दिये जाने वाले पदार्थ के समान (अविरोधी) पदार्थ से खरड़े हुए हाथ से दिये जाने वाले आहार की गवैषणा करना। (१८) अज्ञात चरक (अण्णाय चरए)—अपना परिचय दिये बिना आहार की गवैषणा करना। (१६) मौन चरक (मोणचरए)—मौन धारण करके आहार आदि की गवैषणा करना। (२०) दृष्ट लाभिक (दिठ्ठलाभिए)दृष्टिगोचर होने वाले आहार की ही गवैषणा करना अथवा सबसे पहले दृष्टिगोचर होने वाले दाता से ही भिक्षा लेना। (२१) अदृष्टलाभिक (अदिठ्ठलाभिए)—अदृष्ट अर्थात् पर्दे आदि के भीतर रहे हुए आहार की गवैषणा करना अथवा पहले देखे हुए दाता से आहार आदि लेना। (२२) पृष्ठलाभिक (पुठ्ठलाभिए)—हे मुनि, तुम्हें किस चीज की जरूरत है?—ऐसा पूछने वाले दाता से आहार आदि की गवैषणा करना। (२३) अपृष्ठलाभिक (अपुठ्ठलाभिए)—किसी प्रकार का प्रश्न न पूछने वाले दाता से ही आहार आदि की गवैषणा करना। (२४) भिक्षा लाभिक (भिक्खलाभिए)—रूखे सूखे तुच्छ आहार की गवैषणा करना। (२५) अभिक्षा लाभिक (अभिक्खलाभिए)—सामान्य आहार की गवैषणा करना। (२६) अन्नग्लायक (अएण गिलायए)—अन्न के बिना ग्लानि पाना अर्थात् अभिग्रह विशेष के कारण प्रातःकाल ही आहार की गवैषणा करना। (२७) औपनिहितक (ओवणिहए) किसी तरह पास में रहने वाले दाता से आहार आदि की गवैषणा करना। (२८) परिमित पिंडपातिक (परिमिय पिंडवाइए)—परिमित आहार की गवैषणा करना। (२६) शुद्धैषणिक (सुद्धेसणिए)—शंकादि दोष रहित शुद्ध एषणापूर्वक कूरा आदि तुच्छ अन्न वगैरा की गवैषणा करना। (३०) संख्यादतिक (संखादत्तिए)—वीच में धार न टूटते हुए एक बार में जितना आहार या पानी साधु के पात्र में गिरे उसे एक दत्ति कहते हैं। ऐसी दत्तियों की संख्या का नियम करके भिक्षा की गवैषणा करना।

उपरोक्त भेदों से यह स्पष्ट है कि भिक्षाचर्या किसी न किसी अभिग्रह (प्रण) के साथ होनी चाहिये जिससे इस तप की कठोरता बढ़ जाती है। भिक्षा लेने वाले मुनि ने क्या अभिग्रह ले रखा

है—इसका ज्ञान दाता को होता नहीं है, जिससे स्वाभाविक तौर पर ही अभिग्रह की पूर्ति हो तो मुनि भिक्षा ग्रहण करते हैं। अभिग्रह की पूर्ति होगी या नहीं अथवा कब होगी—इसकी कोई निश्चितता नहीं रहती। इस रूप में भिक्षा चर्या के तप में बहुत बड़े त्याग भाव की अपेक्षा रहती है।

मच्छ की उपमा से भिक्षा लेने वाले भिक्षुक के पांच प्रकार बताये गये हैं—(१) अनुस्तोतचारी—अभिग्रह विशेष के साथ उपाश्रय के समीप से प्रारंभ करके क्रम से भिक्षा लेना। (२) प्रतिस्रोतचारी —अभिग्रह विशेष के साथ उपाश्रय से बहुत दूर जाकर लौटते हुए भिक्षा लेने वाला। (३) अन्तचारी—क्षेत्र के पास में अर्थात् अन्त में भिक्षा लेने वाला। (४) मध्यचारी—क्षेत्र के बीच-बीच के घरों से भिक्षा लेने वाला। तथा (५) सर्वस्रोतचारी—सर्व प्रकार से भिक्षा लेने वाला।

वीतराग देवों ने सच्चा भिक्षुक (साधु) उसको कहा है जो तपश्चर्या और सहिष्णुता के साथ आत्म-विकास साधता है। भिक्षा के सम्बन्ध में वह अपने पूर्वाश्रम के सम्बन्धियों में आसक्ति न रखते हुए अज्ञात घरों से भिक्षावृत्ति करके आनन्द पूर्वक संयम धर्म का पालन करता है। वह किसी भी वस्तु में मूर्छा भाव नहीं रखता है तथा परिषहों व उपसर्गों को शान्तिपूर्वक सहन करता है। अपने लिये आवश्यक शय्या (घासफूस) पाट, आहार, पानी अथवा अन्य कोई खाद्य और स्वाद्य पदार्थ गृहस्थ के घर में मौजूद हो किन्तु उसके द्वारा उन पदार्थों की याचना करने पर यदि वह नहीं दे तो सच्चा भिक्षुक उसको जरा भी द्वेषयुक्त वचन न कहे और न अपने मन में बुरा ही माने क्योंकि मुनि को मान और अपमान दोनों में समान भाव रखना चाहिये। वह गृहस्थों से आहार, पानी, खादिम, स्वादिम जो भी पदार्थ प्राप्त करे, उन्हें पहले अपने साथी साधुओं में बांटे और बाद में मन, वचन व काया को वश में रखते हुए स्वयं आहार करे। गृहस्थ के घर से ओसाचण, पतली दाल, जौ का दलिया, ठंडा भोजन, जौ या कांजी का पानी आदि आहार प्राप्त कर जो भिक्षुक उसकी निन्दा नहीं करता और सामान्य स्थिति के घरों में भी जाकर भिक्षावृत्ति करता है, वही सच्चा भिक्षुक होता है, क्योंकि साधु को अपने संयमी जीवन के निर्वाह के लिये ही आहार आदि ग्रहण करना चाहिये, जिह्वा की लोलुपता शान्त करने के लिये नहीं। भिक्षाचर्या के तप की आराधना में श्रेष्ठ समभाव की आवश्यकता होती है तो तप की सफल आराधना से समभाव का उत्कृष्ट रूप निखरता जाता है।

मात्र जीने के लिये खाना

संयम की साधना का साध्य मैं मानता हूं आत्म विकास एवं स्व-पर कल्याण और इस संयम को साधने का साधन रूप होता है शरीर। इस दृष्टि से शरीर जिस रीति से संयम धर्म का साधन बना रहे, उसी रीति का उसका पोषण होना चाहिये। ऐसा पोषण नहीं कि वह किसी भी रूप में अधर्म का साधन बने। अतः रस परित्याग का चौथे प्रकार का तप यह निर्देश देता है कि देह में विकार पैदा करने वाले दूध, दही, घी आदि विगयों तथा उनसे बनाये जाने वाले स्निग्ध एवं गरिष्ठ खाद्य पदार्थों का त्याग किया जाय। खाना बिल्कुल सादा, बल्कि रूखा-सूखा हो। खाने के लिये जीने की लिप्सा तो कतई होनी ही नहीं चाहिये—मात्र जीने के लिये खाने का भाव होना चाहिये।

अतः जिह्वा के स्वाद को छोड़ना रसपरित्याग का तप है। सामान्यतः इसके नौ भेद कहे गये हैं —

(१) प्रणीत रस परित्याग—जिसमें घी दूध आदि की बूंदें टपक रही हों ऐसे आहार का त्याग करना।

(२) आयंबिल—नमक मसाला व विगय रहित रोटी भात आदि को धोवण या उष्ण पानी में डाल कर आहार करना आयम्बिल कहलाता है।

(३) आयामसिक्थभोजी—चावल आदि के पानी में पड़े हुए धान्य आदि का आहार करना।

(४) अरसाहार—नमक मिर्च आदि मसालों के बिना रस रहित आहार करना।

(५) विरसाहार—जिनका रस चला गया हो ऐसे पुराने धान्य या भात आदि का आहार करना।

(६) अन्ताहार—जघन्य अर्थात् जो आहार बहुत गरीब लोग करते हैं ऐसे चने चबीने आदि खाना।

(७) प्रान्ताहार—वचा हुआ आहार करना।

(८) रूक्षाहार—वहुत रूखा-सूखा आहार करना। इसे तुच्छाहार भी कहा गया है अर्थात् सत्त्व रहित तुच्छ एवं निःसार भोजन करना।

(६) निर्विगय—तेल, गुड़, घी आदि विगमों से रहित आहार करना।

मैं रस परित्याग तप को रसना—संयम के रूप में देखता हूं, इसलिये मानता हूं कि घी आदि रसों का अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिये क्योंकि प्रायः करके रसों का सेवन मनुष्यों के मन में काम का उद्दीपन करता है। वैसे उद्दीप्त मनुष्य की तरफ काम वासनाएं ठीक उसी तरह से दौड़ी हुई चली आती हैं जिस तरह स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष की तरफ पक्षी दौड़े आते हैं। पौष्टिक एवं रसीला भोजन विषय वासनाओं को उत्तेजना देता है अतः संयम साधक को ऐसे भोजन का सदा त्याग रखना चाहिये। सांसारिकता का त्याग करने वाला साधु अगर स्वादवश स्वादिष्ट भोजन वाले घरों में भिक्षा के लिये जाता है तो मानना होगा कि वह साधुत्व से बहुत दूर है। वह साधु नहीं, स्वादु होगा।

रस परित्याग तप उसे कहा गया है, जब साधु या साध्वी अशनादि का आहार करते समय, स्वाद के लिये ग्रास को मुंह में वांई ओर से दाहिनी ओर तथा दाहिनी ओर से बांई ओर न करे। इस प्रकार स्वाद का त्याग करने से साधु आहार विषयक लधुता— निश्चिन्तता प्राप्त करता है। जिह्वा को वश में रखने वाले अनासक्त साधु को सरस आहार में लोलुपता का त्याग करना चाहिये तथा स्वाद के लिये नहीं, संयम के निर्वाह मात्र के लिये ही भोजन करना चाहिये। स्वाद रहित नीरस भिक्षा पाकर भी साधु को उस की हीलना नहीं करनी चाहिये। जैसे पहिये को बराबर गति में रखने के लिये धुरे में तेल लगाया जाता है, उसी प्रकार शरीर को संयम यात्रा के योग्य रखने के लिये ही साधु को आहार करना चाहिये। साधु कभी भी न स्वाद के लिये भोजन करे, न रूप के लिये, न वर्ण के लिये और न ही वल के लिये भोजन करे।

मेरे विचार से रसना जय ही आत्मजय का मूलाधार बनता है। इसी दृष्टि से रसनेन्द्रिय पर नियंत्रण साधने के लिये आहार सम्बन्धी तपों का विविध एवं विस्तृत प्रकार से निरूपण किया गया है। आहार जितना मित और सादा होता है, उतना ही सादा और सीधापन विचारों में रहता है तथा देह-मोह भी घेरता नहीं है। रस परित्याग तप की कठिनता का यही कारण है। स्वाद को जीत लेने

से आचरण सम्बन्धी कई जटिल समस्याओं का स्वतः ही समाधान निकल आता है और संयम साधना को बहुत बल मिलता है।

देह-मोह से दूर

देह-मोह को सर्वथा दूर कर लेने का कठिन तप मैं मानता हूं छठे प्रकार के कायाक्लेश तप को। शास्त्र सम्मत रीति से शरीर को कष्टक्लेश पहुंचाना कायाक्लेश तप है। उग्र वीरासन आदि आसनों का सेवन करना, केशलोच करना, शरीर की शोभा सुश्रूषा का त्याग करना आदि कायाक्लेश तप के अनेक प्रकार होते हैं।

यों कायाक्लेश तप के तेरह भेद कहे गये हैं—

(१) स्थानस्थितिक (ठाणट्ठिए)—एक स्थान पर ठहर कर कायोत्सर्ग करना ध्यानावस्थित होकर रहना।

(२) स्थानातिग (ठाणाइये)—आसन विशेष से बैठकर कायोत्सर्ग करना।

(३) उत्कुटुकासनिक (उक्कुडुयासणिए)—उक्कुडु आसन से बैठना।

(४) प्रतिमास्थायी (पडिमट्ठाई)—एक मास की या दो मास की पड़िमा आदि स्वीकार करके विचरण करना।

(५) वीरासनिक (वीरासणिए)—सिंहासन अर्थात् कुर्सी पर बैठे हुए पुरुष के नीचे से कुर्सी निकाल लेने पर जो अवस्था रहती है, वह वीरासन कहलाता है। ऐसे आसन से बैठना।

(६) नैषेधिक (नेसज्जिए)—निषेद्या (आसन विशेष) से भूमि पर बैठना।

(७) दंडायतिक (दंडायए)—लम्बे डंडे की तरह भूमि पर लेट कर तप आदि करना।

(८) लुगंडशायी—इस आसन में पैरों की दोनों एड़ियाँ और सिर पृथ्वी पर लगते हैं तथा बाकी का शरीर पृथ्वी से ऊपर उठा रहता है अथवा सिर्फ पीठ का भाग पृथ्वी पर रहता है और बाकी सिर-पैर आदि सारा शरीर जमीन से ऊपर रहता है। इस प्रकार के आसन से तप करना।

(९) आतापक (आयावए)—शीतकाल में शीत में बैठकर और ऊष्ण काल में सूर्य की प्रचंड गर्मी में बैठकर आतापना लेना। इस आतापना के तीन भेद हैं : (१) निष्पन्न—लेट कर ली जाने वाली आतापना। तीन प्रकार—(अ) अधोमुखशायिता—नीचे की ओर मुख करके सोना। (ब) पार्श्वशायिता—पार्श्वभाग—पसवाड़े से सोना व (स) उत्तानशायिता—समचित्त ऊपर की तरफ मुख करके सोना। (२) अनिष्पन्न—बैठकर आसन विशेष से आतापना लेना। तीन प्रकार—(अ) गोदोहिका—गाय दुहते हुए पुरुष का जो आसन होता है, वह गोदोहिका आसन है। इस प्रकार के आसन से बैठकर आतापना लेना। (ब) उत्कुटासनता—उक्कुडु आसन से बैठकर आतापना लेना। (स) पर्यंकासनता—पलाथी मार कर बैठना। (३) ऊर्ध्वस्थित—खड़े रहकर आतापना लेना। तीन प्रकार—(अ) हस्तिशौंडिका—हाथी की सूंड की तरह दोनों हाथों को नीचे की ओर सीधे लटका कर खड़े रहना और आतापना लेना। (ब) एकपादिका—एक पैर पर खड़े रहकर आतापना लेना। (स) समपादिका—दोनों पैरों को बराबर रख कर आतापना लेना। इन निष्पन्न, अनिष्पन्न और ऊर्ध्वस्थित के तीन भेदों के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से प्रत्येक के तीन-तीन भेद और भी हो जाते हैं।

(१०) अप्रावृतक (अवाडड़ए)—खुले मैदान में आतापना लेना।

(११) अकंडूयक—शरीर को न खुजलाते हुए आतापना लेना।

(१२) अनिष्ठीवक—निष्ठीवन (थूकना आदि) न करते हुए आतापना लेना।

(१३) धुतकेशश्मश्रुलोम (धुयकेसमंसुलोम)—दाढ़ी—मूंछ आदि के केशों को न संवारते हुए अर्थात् अपने शरीर की विभूषा को छोड़कर आतापना लेना।

मैं कायाक्लेश तप का मूल अभिप्राय यह समझता हूँ कि विविध प्रकार से शरीर को विवेकपूर्वक ऐसे कष्ट दिये जांय जिससे एक ओर तो उसकी कष्ट सहिष्णुता बढ़ जाय और दूसरी ओर देह मोह की वृत्ति दुर्बल होती जाय। ऐसा कठिन तप आत्म बल की अपूर्व निष्ठा के साथ ही सफल बनाया जा सकता है। मैं ऐसे तप की आराधना करूंगा और शरीर के प्रति अपने प्रगाढ़ ममत्त्व को मन्दतर बनाता जाऊंगा।

तप जितेन्द्रियता का

मेरा विचार है कि देह मोह की मन्दता के साथ इन्द्रियों की उद्दीपक शक्ति स्वयं ही नष्ट होने लगती है। फिर भी जिस प्रकार कछुआ अपने को सुरक्षित करने के लिए अपने ढालनुमा ढांचे में संकुचित हो जाता है, उसी प्रकार से इन्द्रियों का गोपन करना आवश्यक होता है ताकि काम भोगों की वृत्तियाँ उन्हें किसी प्रकार का आघात न पहुँचा सके। इन्द्रियों का गोपन करना ही छठे प्रकार का प्रतिसंलीनता का तप कहलाता है और इसी तप की सम्यक् आराधना से जितेन्द्रिय अर्थात् इन्द्रिय-जयी बना जा सकता है। वस्तुतः इन्द्रिय-जयी ही आत्म-जयी होता है।

प्रतिसंलीनता तप के चार भेद बताये गये हैं :

(१) इन्द्रिय प्रतिसंलीनता—शुभ अथवा अशुभ विषयों अर्थात् भोग वृत्तियों में रागद्वेष के भावों को छोड़ कर इन्द्रियों को वश में करना इन्द्रिय प्रतिसंलीनता का तप कहलाता है। शुभ विषय में राग न हो तथा अशुभ विषय में द्वेष नहीं आवे तो तटस्थ वृत्ति का विकास होगा एवं जीवन में समभाव प्रभावी बनेगा।

(२) कषाय प्रतिसंलीनता—क्रोधादि कषायों का अपने भावों में उदय न होने देना तथा जो कषाय भाव उदय में आ गये हों उन्हें विफल कर देना कषाय प्रतिसंलीनता का तप है। जब इन्द्रियों को जीतने का प्रयत्न सफल बनने लगता है तो कषाय भावों का निरोध भी अधिक श्रमसाध्य नहीं रहता।

(३) योग प्रतिसंलीनता—अकुशल मन, वचन, काया के व्यापारों को रोकना तथा कुशल व्यापारों में उदीरणा (प्रेरणा) करना योग प्रतिसंलीनता का तप होता है। अशुभता अकुशलता होती है तथा शुभता कुशलता, अतः अशुभ व्यापार वृत्ति से मन, वचन, काया को शुभ व्यापार वृत्ति में लाना तथा उन्हें वहीं बनाये रखना इस तप का मुख्य उद्देश्य होता है।

(४) विविक्त शय्यासनता—स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित एकान्त स्थान में रहना यह विविक्त शय्यासनता का प्रतिसंलीनता तप होता है। इसका अभिप्राय यह है कि काम संसर्गजनितता का कोई दोष तपाराधक को नहीं लगे।

इस तप के ये मुख्य चार भेद होते हैं जो अवान्तर से तेरह भी बताये गये हैं : इंद्रिय प्रति संलीनता के पांच—(१) श्रोत्रेन्द्रिय प्रतिसंलीनता—श्रोत्रेन्द्रिय को उसके विषयों की ओर जाने से

रोकना तथा श्रोत्र द्वारा गृहीत विषयों में राग द्वेष न करना। (२) चक्षुरिन्द्रिय प्रति संलीनता-आंखों को उनके विषयों की ओर प्रवृत्ति करने से रोकना एवं आंखों द्वारा ग्रहण किये गये विषयों में राग अथवा द्वेष के भाव नहीं लाना। (३) घ्राणेन्द्रिय प्रतिसंलीनता—गंध के विषयों का निरोध एवं तटस्थता। (४) रसनेन्द्रिय प्रतिसंलीनता—रसना के स्वादविषयों पर निग्रह रखना तथा मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ पर राग द्वेष नहीं करना। (५) स्पर्शेन्द्रिय प्रतिसंलीनता—स्पर्श विषयों में प्रवृत्त नहीं होना तथा राग द्वेष नहीं करना। कषाय प्रतिसंलीनता के चार (६) क्रोध प्रतिसंलीनता—उदय में आये हुए क्रोध को निष्फल बना देना। (७) मान प्रतिसंलीनता—मान कषाय पर नियंत्रण रखना अर्थात् अहंकार को निष्फल कर देना। (८) माया प्रतिसंलीनता —माया के अशुभ भावों को रोकना व विफल करना। (९) लोभ प्रतिसंलीनता—उदयित लोभ को निष्फल कर देना। योग प्रतिसंलीनता के तीन (१०) मन प्रतिसंलीनता—मन की अकुशल प्रवृति को रोकना, कुशल प्रवृत्ति कराना तथा चित्त को एकाग्र-स्थिर बनाना। (११) वचन प्रतिसंलीनता—अकुशल वचन को रोकना, कुशल वचन बोलना तथा वचन को स्थिर करना। (१२) काय प्रतिसंलीनता—अच्छी तरह समाधिपूर्वक शान्त होकर हाथ पैर संकुचित करके कछुए की तरह गुप्तेन्द्रिय होकर आलीन प्रलीन अर्थात् स्थिर होना काय प्रतिसंलीनता है। (१३) विविक्त शय्यासनता—स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित स्थान में निर्दोष शयन आदि उपकरणों को स्वीकार करके रहना। आराम, उद्यान आदि में संथारा अंगीकार करना भी विविक्त शय्यासनता है।

मैं चिन्तन करता हूँ कि प्रति संलीनता तप का आचरण बहुत महत्त्वपूर्ण है। काम भोगों के प्रति आकृष्ट होने वाली इन्द्रियाँ होती हैं और उनकी लिप्तता के साथ ही कषायों की उत्पत्ति होती है। असल में विषय के साथ कषाय जुड़ी हुई रहती है और उससे राग द्वेष के घात—प्रतिघात शुरू हो जाते हैं। इनके कुप्रभाव से त्रिविध योग व्यापार की शुभता समाप्त होने लगती है। इस प्रकार जहाँ याने कि जिस आत्मा में विषय-कषाय का प्राबल्य हो जाता है तथा योग व्यापार निरन्तर अशुभता में भ्रमित होता रहता है, उस आत्मा का अधःपतन होता रहता है। इस दृष्टि से मैं प्रतिसंलीनता तप के महत्व को आंकता हूँ कि इसकी कठिन आराधना से इन्द्रियों, कषायों तथा योगों पर सफल नियंत्रण साधने का यत्न किया जाता है।

मेरी धारणा बनती है कि प्रतिसंलीनता का तप वास्तविक रूप में जितेन्द्रियता का तप होता है जो कामांग रूप इन्द्रियों को वश में करता है तो उस निग्रह के प्रभाव से कषायों एवं योग व्यापारों पर जागृत आत्मा का नियंत्रण स्थापित करता है। जब विषय और कषाय मन्दतम हो जाते हैं तथा मन, वचन काया का योग व्यापार अधिकांशतः शुभता में ही रमण करता है, तब आत्म विकास की महायात्रा का एक महत्त्वपूर्ण चरण सम्पन्न हो गया है—ऐसा मानना चाहिये।

ये उपरोक्त छः प्रकार के तप मुक्ति प्राप्ति के बाह्य अंग रूप हैं। इन्हें बाह्य द्रव्य आदि की अपेक्षा रहती है तथा ये तप प्रायः करके बाह्य शरीर को ही अधिक मात्रा में तपाते हैं। इन तपों की आराधना का शरीर पर विशेष असर पड़ता है तथा शरीर में आत्मिक ओज समा जाता है जो तेज रूप में बाहर परिलक्षित होता है। इन छः प्रकारों को बाह्य तप इसलिये भी कहा गया है कि इन तपों का सफल आराधक लोक में तपस्वी रूप से प्रसिद्ध हो जाता है। वैसे आभ्यन्तर एवं बाह्य उभय तप विशेष परस्पर सापेक्ष है। बाह्य तप में आभ्यन्तर तप गौण भाव में रहता है और

आभ्यंतर तप में बाह्य गौण भाव में। एक दूसरे का परस्पर घनिष्ठ संबंध है उभय प्रकार के तप यथा स्थान आत्म शुद्धि में सहायक है। शब्द श्रवण मात्र से एक दूसरे को उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

प्रायश्चित से पाप शुद्धि

प्रायश्चित—यह तपों के आभ्यन्तर वर्ग का पहला तथा पूरे क्रम में सातवां तप है। मूलतः आभ्यन्तर तपों का सम्बन्ध आत्मा के भावों से जुड़ा रहता है तथा इनका आचरण अधिकांशतः भीतर ही भीतर चलता है। प्रायश्चित दो शब्दों से मिल कर बना है—प्रायः अर्थात् पाप और चित्त का अर्थ है शुद्धि अर्थात् पापों से शुद्धि का नाम प्रायश्चित है और इस कारण यह आभ्यन्तर तप है। जिससे मूल गुण एवं उत्तर गुण विषयक अतिचारों से मलिन तथा अनादिकालीन पाप स्थानों से मलीन आत्मा अपनी आत्म शुद्धि करले—उसे प्रायश्चित तप कहा है। इस तप के अनुष्ठान से आत्मा के साथ संलग्न पाप रूपी मैल धुल जाता है तथा उसका स्वरूप शुद्ध हो जाता है।

मैं सोचता हूँ कि यह प्रायश्चित का तप बड़ा प्रभावकारी होता है क्योंकि मनुष्य अनजाने में भी भूलें करता हैं तो जानकर भी भूलें करता हैं और उसका प्रमुख कारण होता है सांसारिक काम भोगों का आकर्षण। यह आकर्षण विविध रूप से कषायों को जगाता है और मनुष्य को प्रमादग्रस्त बनाता है। इस रूप में वह भूलें करता है किन्तु भूलें करके भी यदि वह बाद में शुद्ध हृदय से प्रायश्चित कर ले और आगे से वैसी भूलें न करने का संकल्प ले ले तो उसकी आत्म शुद्धि हो जाती है। शुद्धिकरण की इस प्रक्रिया में उसकी करणीयता बनी रहे तो वह पाप मुक्त हो सकता है। प्रमादवश किसी दोष के लग जाने पर उसे दूर करने के लिए जो आत्मालोचना एवं तपस्या विधि पूर्वक की जाती है, वही प्रायश्चित का तप है। इसके आठ भेद बताये गये हैं :

(१) आलोचना के योग्य अर्थात् जिन पापपूर्ण वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों की शुद्धि अपनी आलोचना के द्वारा हो जाय।

(२) प्रतिक्रमण के योग्य अर्थात् जिनके शुद्धि करण के लिए प्रतिक्रमण करना पड़े और उन पापपूर्ण वृत्ति प्रवृत्तियों को पुनः न दोहराने का संकल्प लिया जाय।

(३) आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों के योग्य अर्थात् उनके लिये आत्मालोचना एवं पुनः न दोहराने का संकल्प दोनों करने हों।

(४) विवेक अशुद्ध भक्त पानादि परिठवने योग्य अर्थात् विवेक को अशुद्ध बनाने वाले खाद्य व पेय पदार्थों को परठा दिया जाय।

(५) कायोत्सर्ग के योग्य अर्थात् देह मोह को सर्वथा विसार कर ध्यानावस्था में ठहरा जाय।

(६) तप के योग्य अर्थात् उनके लिये प्रायश्चित तपश्चरण के साथ किया जाय।

(७) दीक्षा पर्याय का छेद करने योग्य अर्थात् पापपूर्ण वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों की अशुभता ऐसी गहरी हो कि साधु के दीक्षा काल में दंडस्वरूप कमी की जाय।

(८) मूल के योग्य अर्थात् फिर से महाव्रत लेने के योग्य। वह अशुभता अति प्रगाढ़ हो कि जिससे साधुत्व ही समाप्त हो जाय। इसके दंड स्वरूप जो प्रायश्चित लिया जाता है वह नई दीक्षा के रूप में लिया जाता है।

अन्य अपेक्षा से प्रायश्चित तप के पचास भेद भी किये गये हैं :

(१) मूल प्रायश्चित दस प्रकार का—आलोचना के योग्य, प्रतिक्रमण के योग्य, आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों के योग्य, विवेक के योग्य, व्युत्सर्ग के योग्य, तप के योग्य, छेद के योग्य, मूल के योग्य, अणवट्ठप्पारिहे (तप के बाद दुबारा दीक्षा देने योग्य) पारंचियारिहे (गच्छ से बाहर करने योग्य)।

(२) प्रायश्चित देने वाले के दस गुण—वह आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, अपव्रीडक (लज्जित शिष्य की मधुरता से लज्जा दूर करके आलोचना कराने वाला), प्रकुर्वक (आलोचित अपराध का प्रायश्चित देकर अतिचारों की शुद्धि कराने में समर्थ), अपरिस्रावी (आलोचना करने वाले के दोषों को दूसरे के सामने प्रकट नहीं करने वाला) निर्यापक (अशक्त साधु को थोड़ा थोड़ा प्रायश्चित देकर निर्वाह करने वाला) अपायदर्शी (आलोचना नहीं लेने में परलोक का भय तथा दूसरे दोष दिखाने वाला) प्रियधर्मा (धर्म प्रेमी) तथा दृढ़धर्मा हो।

(३) प्रायश्चित लेने वाले के दस गुण—वह जाति सम्पन्न, कुल सम्पन्न, विनय सम्पन्न, ज्ञान-सम्पन्न, दर्शन सम्पन्न, चारित्र सम्पन्न, क्षमावान्, दान्त (इन्द्रियों का दमन करने वाला), अमायी (निष्कपटी) तथा अपश्चातापी हो।

(४) प्रायश्चित के दस दोष—आकंपयित्ता (प्रसन्न होने पर गुरु थोड़ा प्रायश्चित देंगे—यह सोच कर उसे सेवा से प्रसन्न करके फिर आलोचना करना) अट्ठमाणइत्ता (बिल्कुल छोटा अपराध बताने से थोड़ा दंड देंगे यह हमें सोचकर अपराध को छोटा करके बताना) दिट्ठं (जिस अपराध को आचार्य ने शुरू किया हो उसी की आलोचना करना) वापकं (सिर्फ बड़े बड़े अपराधों की आलोचना करना) सुहुम (जो अपने छोटे छोटे अपराधों की भी आलोचना कर देता है, वह बड़े अपराधों को कैसे छोड़ सकता है—यह विश्वास पैदा करने के लिए सिर्फ छोटे-छोटे अपराधों की आलोचना करना) छिन्नं (अधिक लज्जा के कारण प्रछन्न स्थान में आलोचना करना) सद्दालु अयं (दूसरों को सुनाने के लिए जोर जोर से आलोचना करना) बहुजण (एक ही अतिचार की कई गुरुओं के सामने आलोचना करना) अव्वत्त (साधु को किस अतिचार के लिए कैसा प्रायश्चित दिया जाता है—इसका पूरा ज्ञान नहीं हो उसके सामने आलोचना करना) एवं तस्सेवी (जिस दोष की आलोचना करनी हो उसी दोष को सेवन करने वाले आचार्य के पास आलोचना करना।

(५) दोष प्रतिसेवना के दस कारण—दर्प-अहंकार, प्रमाद, अनाभोग (अज्ञान), आतुर (पीड़ा की व्याकुलता) आपत्ति (द्रव्य क्षेत्र काल भाव सम्बन्धी) संकीर्ण (संकुचित स्थान अथवा शंकित दोष) सहसाकार (अकस्मात्) भय, प्रद्वेष, विमर्श।

प्रायश्चित का पहला उद्देश्य जब पाप शुद्धि होता है तो मैं मानता हूँ कि इस तप की आराधना पूर्ण शुद्ध हृदय से की जानी चाहिये। प्रायश्चित के साथ मायाचार कतई योग्य नहीं होता है। किन्तु ऐसा भी होता है कि मनुष्य हृदय में कपट को स्थान देकर बाहर निम्न कारणों से प्रायश्चित करने का ढोंग दिखाता है : (१) निन्दा और अपमान से बचने के लिए (२) उपपात की गर्हा बचाने के लिए (३) मनुष्य जन्म की गर्हा बचाने के लिए (४) विराधक न समझे जाने के लिए (५) आराधक होना दिखाने के लिए (६) आलोचना करना दिखाने के लिए (७) अपने को दोषी न दिखाने के लिए तथा (८) मायावी नहीं समझें—इस भय के लिये। किन्तु ऐसा भी होता है कि

मनुष्य मायावी आचरण करते हुए भी उसकी कैसी भी आलोचना नहीं करता, दोष के लिये प्रतिक्रमण नहीं करता, आत्मसाक्षी से निन्दा नहीं करता, गुरु के समक्ष आत्मगर्हा नहीं करता, उस दोष से निवृत्त नहीं होता, शुभ विचार रूपी जल के द्वारा अतिचार रूपी कीचड़ को नहीं धोता, भूल को दुबारा नहीं करने का निश्चय नहीं करता तथा दोष के लिये उचित प्रायश्चित नहीं लेता। उसकी ऐसी प्रायश्चितहीन मनोवृत्ति के ये आठ कारण बताये गये हैं जो त्याज्य हैं—(१) वह यह सोचता है कि जब मैंने अपराध कर लिया है तो अब उसका प्रायश्चित क्या करना? (२) अब भी मैं उस अपराध को कर रहा हूं और निवृत्ति नहीं तो आलोचना कैसी? (३) मैं उस अपराध को फिर करूंगा तब आलोचना क्यों? (४) आलोचना करने से अपकीर्ति होगी वरना अपराध को कौन जानता है? (५) अवर्णवाद या अपयश (चारों ओर) होगा। (६) पूजा सत्कार मिट जायगा (७) कीर्ति मिट जायगी तथा (८) यश मिट जायगा।

मैं अपने अपराध को अपराध समझते हुए भी प्रायश्चित न करूं अथवा मायाचार के साथ प्रायश्चित करूं—यह कतई योग्य नहीं है क्योंकि प्रायश्चित तभी सफल होता है जब शुद्ध हृदय से संचित पाप का छेदन किया जाय। मेरा प्रायश्चित तप का कृत्य अपने अपराध से मलिन चित्त को शुद्ध बनाने वाला होना चाहिये। चित्त की अशुद्धि न मिटे और प्रायश्चित का मात्र ढोंग किया जाय—उससे हृदय की अशुद्धि और अधिक बढ़ जाती है। मैं अपनी चित्त—शुद्धि के लिये निम्न रूप में चार प्रकार से प्रायश्चित करता हूं—(१) ज्ञान प्रायश्चित —पाप को छेदने एवं चित्त को शुद्ध करने वाला होने से ज्ञान ही प्रायश्चित रूप है—ऐसा चिन्तन करना ज्ञान प्रायश्चित होता है। ज्ञान के अतिचारों की शुद्धि के लिये विधिसम्मत आलोचना करना इस तप की आराधना करना है।

(२) दर्शन प्रायश्चित—इसी प्रकार दर्शन के सम्बन्ध में आलोचना करना।

(३) चारित्र प्रायश्चित—इसी प्रकार चारित्र के सम्बध में आलोचना करना।

(४) व्यक्तकृत्य प्रायश्चित—गीतार्थ मुनि छोटे बड़े का विचार कर जो कुछ करता है, वह सभी पाप—विशोधक हैं। इसलिये व्यक्त अर्थात् गीतार्थ का जो कृत्य है, वह व्यक्तकृत्य प्रायश्चित होता है।

प्रायश्चित के अन्य भेद से भी चार प्रकार कहे गये हैं—

(१) प्रतिसेवना प्रायश्चित—निषिद्ध अथवा अकृत्य का सेवन करना प्रतिसेवना कहलाता है, उसका जो आलोचना रूप प्रायश्चित होता है, वह प्रतिसेवना प्रायश्चित है।

(२) संयोजना प्रायश्चित—एक जातीय अतिचारों के मिल जाने को संयोजना कहते हैं। जैसे कोई साधु शय्यातर पिंड लाया, वह भी गीले हाथों से और उसे भी कोई सामने लेकर आया तथा वह भी आधाकर्मी। अतः जुड़े हुए इन सभी अतिचारों का प्रायश्चित संयोजना प्रायश्चित है।

(३) आरोपणा प्रायश्चित—एक अपराध का प्रायश्चित करने पर बार बार उसी अपराध को सेवन करने से विजातीय प्रायश्चित का आरोप करना आरोपणा प्रायश्चित है। जैसे एक अपराध के लिये पांच दिन (उपवास) का प्रायश्चित आया। फिर उसी के सेवन करने का दस दिन का। फिर उसको सेवन करने का पन्द्रह दिन का। इस प्रकार छः मास तक लगातार प्रायश्चित देना। (छः मास से अधिक तप का प्रायश्चित नहीं दिया जाता है।)

(४) परिकुंचना प्रायश्चित—द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की अपेक्षा अपराध को छिपाना या उसे दूसरा रूप देना परिकुंचना है। इसका प्रायश्चित परिकुंचना प्रायश्चित कहलाता है।

किसी पर झूठा कलंक लगाने को अतीव ही जघन्य माना गया है, बल्कि उसके लिये उतने ही प्रायश्चित का निर्देश दिया गया है कि जितना स्वयं उस कृत्य को करने से लिया जाना चाहिये। निम्न छः बातों में झूठा कलंक लगाने वाले को उतना ही प्रायश्चित आता है, जितना उस दोष के स्वयं वास्तविक सेवन करने पर आता है—(१) हिंसा न करने पर भी किसी व्यक्ति पर हिंसा का दोष लगाना। (२) झूठ न बोलने पर भी झूठ बोलने का दोष लगाना (३) चोरी न करने पर भी चोरी का दोष लगाना (४) ब्रह्मचर्य का भंग नहीं करने पर भी दुराचार का दोष लगाना (५) झूठमूठ कह देना कि कोई हिंजड़ा है या (६) झूठमूठ कह देना कि कोई क्रीत दास है।

विनय : धर्म का मूल

मेरी सुदृढ़ आस्था है कि विनय धर्म का मूल होता है—विनय की जड़ पर ही आत्म-धर्म फूलता फलता है। मैं विनय का अर्थ लेता हूं, विशेष रूप से झुकना नम्र बनना। क्यों झुकना? इसलिये कि विनय रूप क्रिया से आठ प्रकार के कर्मों को अलग करने का पुष्ट हेतु उत्पन्न करना। इसमें सम्माननीय, गुरुजनों के आने पर खड़ा होना, हाथ जोड़ना, उन्हें आसन देना, उनकी सेवा सुश्रूषा करना आदि ऐसे सभी शुभ कार्य सम्मिलित है।

मैं मानता हूं कि विनीत पुरुष ही संयमवन्त होता है और जो विनय रहित होता है, वह न तो संयम का सम्यक् रीति से पालन कर सकता है और न ही तप का आराधन। जो गुरु की आज्ञा पालता है, उनके पास रहता है, उनके इंगित तथा आकारों को समझता है, वही शिष्य विनीत कहलाता है। जैसे संसार में सुगंध के कारण चन्दन, सौम्यता के कारण चंद्रमा और मधुरता के कारण अमृत प्रिय होता है, उसी प्रकार विनय के कारण मनुष्य लोक प्रिय बन जाता है। इसलिये बुद्धिमान पुरुष विनय का माहात्म्य समझ कर विनम्र बनता है। इससे लोक में उसकी कीर्ति होती है और वह सदनुष्ठानों का उसी प्रकार आधार रूप होता है जिस प्रकार यह पृथ्वी प्राणियों के लिये आधार होती है। विनीत शिष्य क्रोधी गुरु को भी अक्रोधी बना देता है।

विनय के मूल सात भेद बताये गये हैं जिसके अवान्तर से १३४ भेद होते हैं। वे इस प्रकार है —(१) ज्ञान विनय (२) दर्शन विनय (३) चारित्र विनय (४) मन विनय (५) वचन विनय (६) काया विनय तथा (७) लोकोपचार विनय। १३४ अवान्तरभेद (१) ज्ञान विनय के पांच—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि ज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान, केवल ज्ञान। (२) दर्शन विनय के दो—सुश्रूषा व अनाशातना। सुश्रूषा विनय के दस भेद—अभ्युत्थान, आसनाभिग्रह, आसन प्रदान, सत्कार, सम्मान, कीर्तिकर्म, अंजलिप्रग्रह, अनुगमनता, पर्यूपासनता व प्रतिसंसाधनता। अनाशातना विनय के ४५ भेद—अरिहन्त, अरिहन्त प्ररूपित धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, सांभोगिक, क्रियावान्, मतिज्ञानवान्, श्रुतज्ञानवान्, अवधि ज्ञानवान्, मनःपर्ययज्ञानवान् एवं केवल ज्ञान्वान्—इन पन्द्रह की आशातना नहीं करने याने इनका विनय करने, भक्ति करने और गुणग्राम करने रूप ४५ भेद हो गये। (३) चारित्र विनय के पांच भेद—सामायिक, छेदों पस्थापनीय, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सम्पराय, यथारचात चारित्र— इन पांचों प्रकार के चारित्रधारियों का विनय करना। (४) मन विनय के दो भेद —प्रशस्त मन एवं अप्रशस्त मन। अप्रशस्त मन विनय के बारह

भेद—सावध, सक्रिय, सकर्कश, कटुक, निष्ठुर, कठोर (फरूस) आश्रवकारी, छेदकारी, भेदकारी, परितापनाकारी, उपद्रवकारी एवं भूतोपघातकारी। इनसे विपरीत प्रशस्त मन के भी बारह भेद होते है। (५) इसी प्रकार वचन विनय के भी प्रशस्त-अप्रशस्त के भी दो भेद तथा दोनों के क्रमशः बारह-बारह भेद से चौबीस भेद होते हैं। (६) काय विनय के भेद —प्रशस्त एवं अप्रशस्त। प्रशस्त काय विनय के सात भेद—सावधानी से गमन करना, ठहरना, बैठना, सोना, लांघना, बारबार लांघना तथा सभी इन्द्रियों व योगों की प्रवृत्ति करना। इसके विपरीत अप्रशस्त काय विनय के भी सात भेद जो सावधानी की जगह असावधानीपूर्वक होते हैं। (७) लोकोपचार विनय के सात भेद—अभ्यासवृत्तिता (गुरु आदि के पास रहना) परच्छन्दानुवर्तिता (गुरु आदि की इच्छा के अनुकूल कार्य करना) कार्य हेतु (गुरु के कार्य को पूर्ण करने का प्रयत्न करना) कृत प्रतिक्रिया (अपने लिये किये उपकार का बदला चुकाना) आर्त गवैषणा (बीमार साधुओं की सार-संभाल करना) देश कालानुज्ञता (अवसर देखकर कार्य करना) तथा सर्वार्थाप्रतिलोभना (सब कार्यों में अनुकूल प्रवृत्ति करना)।

इस प्रकार विनय को स्व-पर कल्याण की प्राप्ति का आधार एवं श्रेष्ठ तप मानकर जो विनय की प्रधान रूप से आराधना करता है, वह विनयवादी कहलाता है। विनयवादी ३२ प्रकार के होते है—देव, राजा, यति, ज्ञाति, स्थविर, अधम, माता और पिता—इन आठों का मन, वचन, काया एवं दान रूप प्रकारों से विनय बत्तीस रूप में होता है। किन्तु जो एकान्त रूप से विनय को ही आधार मानकर विनयवादी कहलाना चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है क्योंकि विनय तप की प्रधानता भी एक अपेक्षा से कही जाती है, एकान्त रूप से नहीं। इसी प्रकार कोरी क्रिया ही सार्थक नहीं वनती —ज्ञान और क्रिया का सफल संयोग होना चाहिये। अतः विनयी साधक को अनेकान्तवादी दृष्टिकोण वाला एवं सम्यक् दृष्टि होना चाहिये।

आचार्य भी अपने विनयी शिष्य को चार प्रकार की प्रतिपत्ति सिखा कर उऋण होता है, जो निम्नानुसार विनय प्रतिपत्ति रूप कहलाती है—

(१) आचार विनय—चार प्रकार —(अ) संयम समाचारी संयम के भेदों का ज्ञान करना, सत्रह प्रकार के संयम का स्वयं पालन करना तथा संयम में उत्साह देना व संयम में शिथिल होने वाले को स्थिर करना। (व) तप समाचारी—तप के बाह्य और आभ्यन्तर भेदों का ज्ञान करना, स्वयं तप करना व तप करने वाले को उत्साह देना, तथा तप में शिथिल होते हों तो उन्हें स्थिर करना। (स) गण समाचारी—गण के ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि करते रहना, सारणा वारणा आदि द्वारा भलीभांति रक्षा करना, गण में स्थित रोगी, बाल, वृद्ध एवं दुर्बल साधुओं की यथोचित व्यवस्था करना। (द) एकाकी विहार समाचारी—एकाकी विहार प्रतिमा का भेदोपभेद सहित सांगोपांग ज्ञान करना, उसकी विधि को ग्रहण करना, स्वयं एकाकी विहार प्रतिमा को अंगीकार करना एवं दूसरे को ग्रहण करने हेतु उत्साहित करना। यह एकांकी विहार प्रतिमा पूर्व घर मुनि तथा क्षमा आदि यति धर्मों से सम्पन्न हो साथ ही अनुकूल प्रतिकूल परिषह उपसर्गों को सहन करने परिपक्व एवं स्थिर चित्त हो वह किसी भी परिस्थिति में सिद्धांत एवं सच्चरित्र निष्ठा से किंचित् भी विचलित न होने की सामर्थ्य वाला है, अतिशय ज्ञानी-मुनि की आज्ञा से ही प्रतिमा ग्रहण की जाती है, इससे विपरीत प्रवर्तन वाले ससरी किया (२) श्रुतविनय—चार प्रकार (अ) मूल सूत्र पढ़ाना (ब) अर्थ पढ़ाना (स)

हित वाचना देना अर्थात् शिष्य की योग्यता के अनुसार मूल व अर्थ पढ़ाना एवं (द) निःशेष वाचना देना अर्थात् नय, प्रमाण आदि द्वारा व्याख्या करते हुए शास्त्र की समाप्ति पर्यन्त वाचना देना। (३) विक्षेपणा विनय—चार प्रकार (अ) धर्म नहीं जानने तथा सम्यक् दर्शन का लाभ नहीं लेने वाले को प्रेमपूर्वक सम्यक् दर्शन रूप धर्म दिखाकर सम्यक्त्वी बनाना। (ब) जो सम्यक्त्वी है, उसे सर्वविरति रूप चारित्र धर्म की शिक्षा देकर सहधर्मी बनाना। (स) जो धर्म से भ्रष्ट हों, उन्हें धर्म में स्थिर करना। (द) चारित्र धर्म की जैसे वृद्धि हो वैसी प्रवृत्ति करना।

(४) भेद निर्धातन विनय—चार प्रकार (अ) मीठे वचनों से क्रोधी के क्रोध को शान्त करना। (ब) दोषी पुरुष के दोषों को दूर करना। (स) उचित कांक्षा को निवृत्त करना तथा (द) क्रोध, दोष, कांक्षा आदि में प्रवृत्ति न करते हुए आत्मा को सुमार्ग पर लगाना।

इस प्रकार के सुकृत्यों द्वारा आचार्य अपने शिष्य की विनीतता का ऋण चुकाता है।

विनय तप का उपर्युक्त विश्लेषण मुझे प्रेरित करता है कि मैं इस तप की विशुद्ध हृदय से आराधना करूं। मैं गुरु सेवा में रहते हुए अहंकार, क्रोध, छल तथा प्रमाद का त्याग करूं और अपने गुरु को मन्द बुद्धि, अल्पवयस्क और अल्पज्ञ जानकर भी उनकी निन्दा न करूं, क्योंकि जो अविनीत शिष्य गुरु की भारी आशातना करता है, वह मिथ्यात्व को प्राप्त होता है। ज्ञान में न्यूनाधिक होने पर भी मैं सदाचारी और सद्गुणी गुरुजनों का अपमान नहीं करूं। कारण, आचार्य की आशातना करना जलती हुई आग पर पैर रखकर चलने के समान होता है। मैं अपने आचार्य को प्रसन्न रखने के लिये सदा प्रयत्नशील रहूं जिससे मुझे अनाबाध मोक्ष सुख की प्राप्ति हो। मैं अपना कर्त्तव्य समझूं कि गुरुके पास आत्म विकास करने वाले धर्मशास्त्र की शिक्षा लूं, उनकी पूर्ण विनय भक्ति करूं, हाथ जोड़ सिर नंवा कर नमस्कार करूं तथा मन, वचन, काया से उनका सदा उचित सत्कार करूं। मैं आचार्य द्वारा प्रदत्त उपदेशों को सुनकर अप्रशस्त भाव से उनकी सेवा करूं तो अवश्य मुझे सद्गुणों की प्राप्ति होगी तथा एक दिन सिद्धि की भी प्राप्ति हो सकेगी।

मैं वीतराग देवों की वाणी को आत्मसात् करता हूं तो विनय तप के आचरण के प्रति अपार आस्था जागती है और जानता हूं कि धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका उत्कृष्ट फल। विनय से ही कीर्ति श्रुत और श्लाघा वगैरा सभी वस्तुओं की प्राप्ति होती है। संसार में विनीत स्त्री और पुरुष सुख भोगते हुए, समृद्धि-सम्पन्न तथा महान् यश कीर्ति वाले देखे जाते हैं। मैं भी विनय को अपनी समस्त वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में रमा लेना चाहता हूं। मैं अपनी शय्या, गति, स्थान और आसन आदि सब नीचे ही रखूं, आचार्य को नीचे झुककर पैरों में नमस्कार करूं तथा नीचे झुककर विनयपूर्वक हाथ जोड़ूं। मैं गुरु के मनोगत अभिप्रायों तथा उनकी सेवा करने के सुमचित उपायों को नाना हेतुओं से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार जानकर समुचित प्रकार से उनकी सेवा करूं। मुझे आशा है, कि यदि गुरु की आज्ञानुसार चलूंगा तथा धर्म और अर्थ का ज्ञाता बनकर विनय में चतुर होऊंगा तो संसार रूप दुरूत्तर सागर को पार करके एवं कर्मों का क्षय करके उत्तम गति प्राप्त कर सकूंगा।

मैं आप्त-पुरुषों द्वारा उपदेशित विनीत के निम्न पन्द्रह लक्षणों का चिन्तन करते हुए अपने गुरुजनों की सेवा सुश्रुषा करने की भावना रखता हूं—

(१) विनीत गुरुजनों के सामने नमकर रहता है, नीचे आसन पर बैठता है, हाथ जोड़ता है और चरणों में धोक लगाता है।

(२) विनीत प्रारंभ किये हुए काम को नहीं छोड़ता, चंचलता नहीं लाता, जल्दी-जल्दी नहीं चलता किन्तु विनयपूर्वक धीरे-धीरे चलता है एक जगह बैठ कर वह हाथ पैर आदि अंगों को भी नहीं हिलाता है। वह असत्य, कठोर तथा अविचारित वचन नहीं बोलता एवं एक काम को पूरा किये बिना दूसरा काम शुरू नहीं करता।

(३) विनीत सरल होता है तथा अपने गुरु जनों के साथ छल नहीं करता।

(४) विनीत कौतूहल—क्रीड़ा से सदा दूर रहता है और खेल तमाशे देखने की लालसा नहीं रखता।

(५) विनीत अपनी छोटी-सी भूल को भी दूर करने का यत्न करता है और किसी का अपमान नहीं करता।

(६) विनीत क्रोध नहीं करता एवं क्रोध को पैदा करने वाले कारणों से भी दूर रहता है।

(७) विनीत मित्र का प्रत्युपकार करता है और कभी भी कृतघ्न नहीं बनता।

(८) विनीत विद्या पढ़कर अभिमान नहीं करता किन्तु जैसे फलों से लदने पर वृक्ष नीचे की ओर झुक जाता है, उसी प्रकार विद्या रूपी फल को प्राप्त करके वह विशेष नम्रता धारण कर लेता है।

(९) विनीत किसी समय आचार्य आदि द्वारा किसी प्रकार की स्खलना (भूल) हो जाने पर भी उनका तिरस्कार या अपमान नहीं करता।

(१०) विनीत बड़े से बड़ा अपराध मित्रों द्वारा हो जाने पर भी कृतज्ञता दिखाते हुए उन पर क्रोध नहीं करता।

(११) विनीत अप्रिय मित्र का भी पीठ पीछे दोष प्रकट नहीं करता, अपितु उनके लिये भी कल्याणकारी वचन ही बोलता है।

(१२) विनीत कलह और क्लेश (डमर) से सदा दूर रहता है।

(१३) विनीत कभी भी अपना कुलीनपना नहीं छोड़ता और अपने को सौंपे हुए काम को पूरा करता है।

(१४) विनीत ज्ञानवान् होता है तथा किसी समय बुरे विचारों के आ जाने पर भी वह कुकृत्य में प्रवृत्ति नहीं करता। तथा

(१५) विनीत विना कारण गुरुजनों के निकट या दूसरी जगह इधर उधर नहीं घूमता फिरता।

इस प्रकार के गुणों से युक्त पुरुष विनीत पुरुष कहलाता है।

सेवा की तन्मयता

मैं ज़ानता हूं कि सेवा धर्म को परम गहन तथा योगियों के लिये भी अगम्य कहा गया है। इसी से इसकी महत्ता स्पष्ट है। इसे ही नववें क्रम पर वैयावृत्य तप कहा गया है। धर्म साधन के लिये गुरु, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित आदि को विधिपूर्वक आहार आदि लाकर देना तथा उन्हें संयम में यथाशक्ति सहायता देना वैयावृत्य तप कहलाता है।

वैयावृत्य तप का मूल्यांकन करते हुए मुझे समझ में आता है कि प्रायश्चित, विनय और वैयावृत्य तपों की जैसे एक कड़ी है तथा यह कड़ी लोकोपकार की महत्ता को प्रकाशित करती है। किसी को कष्ट दिया हो तो उसका खेद करना व फिर किसी को कष्ट न देने की प्रतिज्ञा करना प्रायश्चित तप है तो विनय तप मन-मानस को ऐसा शुभ मोड़ दे देता है कि सबके प्रति सहिष्णु बन जाय तथा सबका समादर करें। उसके बाद क्रम आता है कि अपने विचार और आचार से सभी प्राणियों को सुख पहुंचावें। इस उद्देश्य की पूर्ति में ही व्यक्तिगत सुख पहुंचाने की प्रक्रिया वैयावृत्य तप से प्रारंभ होती है जो विशाल एवं व्यापक रूप लेती हुई समाज, राष्ट्र एवं मानवता तथा सम्पूर्ण प्राणी समूह की सेवा के रूप में परिणत हो जाती है। इस सेवा के कई रूप हो सकते हैं, किन्तु उद्देश्य यही रहता है कि अपने क्रिया कलापों से अधिक से अधिक लोग या प्राणी सुख का अनुभव करें। इस तप की आराधना में सेवा की तन्मयता इतनी गहरी हो सकती है कि तपस्वी अपने स्वार्थों को तो त्यागता ही है, लेकिन अपने हितों तक को भूल जाता है एवं सेवा कार्यों में सर्वस्व न्यौछावर करके आत्म विसर्जित बन जाता है।

मैं मानता हूं कि वैयावृत्य व्यक्ति की तथा सेवा समाज (अपने वृहत्तम अर्थ में) की होती है। जैसे एक साधु होता है, वह अपने आचार्य, गुरु आदि की वैयावृत्य करता है, अपनी सेवा से उन्हें सुख शाता उपजाता है तो क्या वह वीतराग वाणी के उपदेशों का प्रसार करके और कल्याण का मार्ग दिखा कर सम्पूर्ण विश्व की सेवा नहीं करता? कोई सेवा किसी रूप में करता है तो कोई अन्य रूप में किन्तु सेवा का लक्ष्य एक ही होता है कि अधिक से अधिक प्राणियों को सुख मिले। दया और दान क्या होते हैं? इस सेवा के ही तो प्रकारान्तर हैं। किन्तु सेवा के इतने प्रकार होते हैं कि लोग उन्हें समझ नहीं पाते और उसके परिणामों के प्रति निष्कर्ष नहीं निकाल पाते हैं—इसी कारण सेवा धर्म को अगम्य माना गया है। वह अगम्य उनके लिये ही नहीं होता जो सेवा पा रहे हैं, बल्कि कई बार उनके लिये भी अगम्य रह जाता है जो स्वयं सेवा कर रहे होते हैं। सेवा की गूढ़ता खोजना और उसका रसास्वादन करना महान् तपस्या का ही सुफल होता है।

वैयावृत्य या सेवा तप की एक आन्तरिकता और होती है। दूसरों को सुख पहुंचावें —यह तो इस तप में है ही किन्तु जब दूसरों को सुख पहुंचाना चाहते हैं तो निश्चय ही अपना सुख गौण हो जाता है लेकिन सेवा के क्षेत्र में एक कदम और आगे बढ़ना होता है। वह इस रूप में कि दूसरों (गुरुजनों) की वैयावृत्य करते हुए अथवा व्यापक रूप से सेवा करते हुए स्वयं को कष्ट भी उठाने पड़ते हैं। किन्तु सेवा तप की भावना इतनी उत्कृष्ट होती है कि तप का आराधक उन कष्टों को कष्ट रूप मानने को ही तैयार नहीं होता, बल्कि उन कष्टों को अपने आत्मिक आनन्द का स्रोत मानता है। इस रूप में सेवा तप की आराधना एक सच्चे आराधक के लिये आत्म-विकास का महान् चरण रूप होती है।

मैं वीतराग वाणी का ध्यान करता हूं, जिस में कहा गया है कि वैयावृत्य तप की सम्यक् आराधना से कर्मों की महानिर्जरा होती है तथा पुनः कर्मों के उत्पन्न न होने से महापर्यवसान होता है अर्थात् उस तपस्वी आत्मा का आत्यन्तिक अन्त होता है। इस महानिर्जरा और महापर्यवसान के पांच बोल बताये गये हैं—(१) आचार्य (२) उपाध्याय (सूत्र पढ़ाने वाले ज्ञानदाता) (३) स्थविर (४) तपस्वी तथा (५) ग्लान साधु की ग्लानिरहित बहुमानपूर्वक वैयावृत्य करता हुआ श्रमण निर्ग्रंथ

महानिर्जरा वाला होता है और पुनः उत्पन्न न होने से महापर्यवसान अर्थात् आत्यन्तिक अन्त वाला होता है। इसी के पांच बोल इस प्रकार भी हैं —(१) नवदीक्षित साधु—थोड़े समय की दीक्षा पर्याय वाले (२) कुल—एक आचार्य की शिष्य मंडली को कुल कहते हैं। (३) गण—कुल के समुदाय को गण कहते हैं। (४) संघ—गणों के समुदाय को संध कहते हैं। एवं (५) साधर्मिक—लिंग और प्रवचन की अपेक्षा से समान धर्म वाला साधु साधर्मिक कहा जाता है, इस प्रकार इन पांचों की ग्लानिरहित बहुमानपूर्वक वैयावृत्य करने वाला साधु महानिर्जरा और महापर्यवसान् वाला होता है।

यों वैयावृत्य के दस भेद बताये गये हैं जिनमें उपरोक्त दस बोलों का समावेश हो जाता है—(१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) स्थविर (४) तपस्वी (५) ग्लान (६) शेक्ष (नवदीक्षित) (७) कुल (८) गण (९) संघ तथा (१०) साधर्मिक की वैयावृत्य करना। अपने से बड़े या असमर्थ की सेवा सुश्रूषा का दूसरा नाम ही वैयावृत्य है। इन दस भेदों में भी पीछे के चार भेद व्यक्ति वाचक से अधिक समूहवाचक है और इनकी सेवा में सामूहिक दृष्टिकोण का समावेश करना होता है। कुल, गण या संघ का वैयावृत्य व्यक्ति से अधिक विस्तृत रूप का होता है और यही वैयावृत्य अप्रत्यक्ष रूप से जब सम्पूर्ण विश्व के प्रति होता है तो वह सेवा का विशालतम रूप होता है।

मैं ऐसे वैयावृत्य और सेवा धर्म में अपने आपको इतना तन्मय बनाना चाहता हूं कि अन्ततोगत्वा मैं अपने आप तक को भी भूल जाऊं —सेवा की वेदी पर अपने आपको विसर्जित कर दूं। यह आत्म विसर्जन सर्वोत्कृष्ट तप होगा जो आत्म कल्याण तो करेगा ही किन्तु विश्व कल्याण की भी सुदृढ़ पृष्ठभूमि का निर्माण कर देगा। योगियों को भी अगम्य सेवा धर्म की आराधना एवं अनुभूति अति विशिष्ठ ही होती है।

आत्म चिन्तन का अध्याय

मैं स्वाध्याय तप की अचिन्त्य महिमा मानता हूं, क्योंकि मेरे 'मैं' से इसका गहरा सम्बन्ध होता है तथा उसके रूपान्तरण का भी यह तप सबल माध्यम बनता है। स्वाध्याय शब्द स्व+ अधि+ अय से मिल कर बना है जिसका अर्थ होता है अपने में गमन करना अर्थात् आत्मा में रमण करना-आत्म चिन्तन करना। इसे आत्म चिन्तन का अध्याय कह सकते है और साथ ही यह अध्याय आत्म चिन्तन के लिये भी हो। आत्मा का चिन्तन तथा आत्मा के लिये चिन्तन-इन दोनों का समावेश स्वाध्याय में हो जाता है।

मैं अपनी आत्मा का चिन्तन करता हूं—इसका अभिप्राय यह होगा कि मैं अपनी आत्मा के मूल स्वरूप का चिन्तन करता हूं—उस में निहित अनन्त सुख और अनन्त वीर्य का चिन्तन करता हूं तथा उसके परम प्रताप एवं सर्वशक्तिमत्ता का चिन्तन करता हूं कि वह जागृत होकर सक्रिय हो और सर्वोच्च विकास का पुरुषार्थ करे। मैं अपनी आत्मा के लिये चिन्तन करता हूं जिसका अर्थ होगा कि मैं उन शास्त्रों, सूत्रों अथवा ग्रंथों का पठन और मनन करता हूं जो आत्म विकास की सही दिशा का ज्ञान देते है। इस रूप में स्वाध्याय तप का सम्बन्ध मूलतः आध्यात्मिक याने आत्मा के प्रति होता है। आन्तरिक चिन्तन और वाह्य अध्ययन दोनों का लक्ष्य एक ही है।

इस आध्यात्मिक अध्ययन को स्वाध्याय का बाह्य रूप मानते हुए इसके पांच भेद बताये गये हैं —

(१) वाचना—शिष्य को सूत्र (शास्त्र) एवं उनका अर्थ पढ़ाना वाचना कहलाता है। शिष्य का कर्त्तव्य है कि गुरु जिस रूप में सूत्र की वाचना दें व उच्चारण करे, उसी रूप में वह वाचना ले तथा उच्चारण करे। वाचना में सूत्र के शब्दों एवं उसके अर्थ —भावार्थ पर पूरा ध्याय दिया जाना चाहिये। उसमें हीनाक्षर, अत्यक्षर, पदहीन, घोषहीन आदि दोषों से बचने का पूरा यत्न होना चाहिये।

(२) पृच्छना—वाचना ग्रहण करने के वाद उस में किसी प्रकार का संशय होने पर पुनः पूछना पृच्छना कहलाता है। पहले सीखे हुए सूत्र आदि के ज्ञान में भी शंका होने पर प्रश्न करना पृच्छना है। इसका अभिप्राय यह है कि शिष्य को वाचना लेने के बाद उस पर पहले ही अपने मन में तर्क-वितर्क और चिन्तन मनन करना चाहिये तभी पढ़े हुए ज्ञान में शंका की स्थिति पैदा हो सकती है। ज्यों ही किसी भी प्रकार की शंका उत्पन्न हो, उसे गुरु से पूछकर उसका समाधान ले लेना चाहिये।

(३) परिवर्तना—पढ़ा हुआ ज्ञान विस्मृत न हो जाय, इस उद्देश्य से उसे वार बार फेरने को परिवर्तना कहते हैं। एक-एक पढ़े हुए सूत्र को वार वार फेरने से उसे भुलाया नहीं जा सकेगा, इस कारण शिष्य को परिवर्तना पद्धति की सहायता लेनी चाहिये।

(४) अनुप्रेक्षा—सीखे हुए सूत्र के अर्थ का विस्मरण न हो जाय इस लक्ष्य से उस अर्थ का बारबार चिन्तन-मनन करना अनुप्रेक्षा है। यह शिष्य का दायित्व है कि वह सूत्र वाचना को ग्रहण करने के बाद तात्त्विक दृष्टि से उस पर गंभीर चिन्तन-मनन बार बार करता रहे ताकि उसका अर्थ विन्यास उसके मष्तिष्क में जम जाय। यह अनुप्रेक्षा की पद्धति बहुत महत्त्व की है क्योंकि किसी भी विषय पर जब बार-बार चिन्तन-मनन किया जाता है तो उस सूत्र या वाचना के अर्थ की गूढ़ता में प्रवेश होता जाता है एवं नवीन अर्थ की प्राप्ति होती रहती है।

(५) धर्मकथा—उपरोक्त चारों प्रकार से शास्त्र एवं अन्य ज्ञान का अभ्यास करने पर श्रोताओं को प्रवचन देना धर्मकथा है। सूत्र-वाचना, पृच्छना, परिवर्तना एवं अनुप्रेक्षा के उपायों से सीखे हुए ज्ञान की परिपक्वता पैदा हो जाती है और ऐसा अनुभव होने के बाद ही प्रवचन देना सार्थक हो सकता है। चिन्तन-मनन एवं आत्मनिर्णय के पश्चात् ही किसी तत्त्व का स्वरूप दूसरों को बताने पर श्रोताओं की जिज्ञासा को सम्यक् रीति से शान्त की जा सकती है। अधूरे ज्ञान के साथ व्याख्यान देना समुचित नहीं कहा गया है, क्योंकि उससे अज्ञान का प्रचार संभव है। धर्मकथा की इस प्रक्रिया की उपमा मधुमक्खियों की प्रक्रिया से दी जाती है। जैसे मधुमक्खी अपने विवेक से योग्य पुष्प देखकर उस पर बैठती है, उसका रस ग्रहण करती है और उस रस को पचा कर फिर अपने छत्ते में व्यवस्थित रखती है। ऐसा रस जब शहद रूप में लोगों को मिलता है तब वह आरोग्य प्रदायक होता है। इसी प्रकार एक शिष्य को न केवल सूत्र के शब्दों का सही उच्चारण करना आना चाहिये, बल्कि उन के अर्थ को जान कर अर्थ पर अपना गंभीर चिन्तन मनन करना चाहिये। मधुमक्खी द्वारा पुष्प चयन की तरह उसे श्रेष्ठ ग्रंथों का चयन करना चाहिये, उनसे ज्ञान का अपने मन मानस में एक धारा-प्रवाह बनाना चाहिये और भीतर ही भीतर आत्म विश्वास पैदा करना चाहिये कि वह उस विषय पर अधिकारपूर्वक प्रवचन दे सकता है। इस प्रकार की आत्मविश्वस्ति के पश्चात् ही वह व्याख्यान दे और श्रोताओं की शंका विशंकाओं का समुचित समाधान देने का सामर्थ्य पैदा करे।

स्वाध्याय के इन भेदों पर जब मैं गंभीर चिन्तन करता हूँ तो मेरा हृदय प्रकाश से भर उठता है। वीतराग देव सर्वज्ञ थे और वे जानते थे कि यदि ज्ञानार्जन पूर्ण नहीं होगा और उसके पहले ही प्रवचन देना प्रारंभ कर दिया गया तो उसके दो परिणाम सामने आ सकते हैं। एक तो यह कि स्वयं शंका-पूर्ण हृदय वाला प्रवचन-दाता जब प्रवचन देगा और श्रोताओं की शंकाओं का निराकरण नहीं कर सकेगा तो उससे सद्ज्ञान के प्रसार की अपेक्षा भ्रान्तियों का ही प्रसार अधिक होगा। कई बार तो इस अधकचरेपन से सम्यक् ज्ञान भी लांछित होगा। दूसरे, यदि श्रोताओं में अधिक ज्ञानी पुरुष हुए और उन्होंने प्रवचन दाता को सही तत्त्व स्वरूप बताना चाहा तो उससे प्रवचन दाता के प्रति सामान्य लोगों की अश्रद्धा भी पैदा हो सकती है। मैं सोचता हूँ कि यों तो ज्ञान के महासागर को आत्मसात् करना अत्यन्त श्रमसाध्य विषय है, फिर भी यथासाध्य ज्ञान की पूर्णता साधने का शिष्य का यत्न होना चाहिये और कम से कम जिन विषयों का वह प्रवचन में उल्लेख करना चाहता है, उन पर उसका गूढ़ आत्म विश्वास एवं अधिकार होना चाहिये। ऐसा होने पर ही सद्धर्म का प्रभावशाली प्रचार संभव होता है।

मैं इस विश्लेषण से अनुभव करता हूँ इस मर्म का कि स्वाध्याय को तप क्यों कहा गया है? वह भी इतना ऊँचा तप जो आभ्यन्तर तप क्रम में भी बहुत ऊपर रखा गया है। स्वाध्याय के रूप में आत्म चिन्तन के लिए अध्यायों का अध्ययन हो तथा उससे आत्म चिन्तन विकसित बने, तभी जाकर अपने ज्ञान की धारा बाहर प्रवाहित की जा सकती है क्योंकि वैसी अजस्र धारा ही दूसरों को अपने आत्म विकास की बलवती प्रेरणा दे सकती है। वीतराग देवों ने यह भी बताया है कि गुरु शिष्य को वाचना देने एवं सूत्र सिखाने के समय निम्न बोलों को ध्यान में रखें :

(१) शिष्य को शास्त्र ज्ञान का ग्रहण हो और उनके श्रुत का संग्रह हो —इस प्रयोजन से शिष्य को वाचना देवे।

(२) उपग्रह के लिए शिष्य को वाचना देवे, जिससे सूत्र सीखा हुआ शिष्य आहार, पानी, वस्त्र आदि की शुद्ध गवैषणा द्वारा प्राप्ति कर सके और जो गवैषणा उसके संयम की सहायक बन सके।

(३) सूत्रों की वाचना देने से मेरे कर्मों की निर्जरा होगी—इस विचार से गुरु वाचना देवे।

(४) गुरु यह सोचकर भी वाचना देवे कि वाचना देने से मेरा सूत्रज्ञान भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

(५) शास्त्र का व्यवच्छेद न हो और शास्त्र की परम्परा चलती रहे —इस प्रयोजन से गुरु शिष्य को वाचना देवे।

शिष्यों के लिए भी निर्देश दिये गये हैं निम्न पांच प्रकारों में कि वे किस प्रयोजन से ज्ञानार्जन करें :

(१) तत्त्वों के ज्ञान के लिए सूत्र सीखें।

(२) तत्त्वों पर श्रद्धा करने के लिए सूत्र सीखें।

(३) चारित्र के लिए सूत्र सीखें।

(४) मिथ्याभिनिवेश छोड़ने के लिए अथवा दूसरों से छुड़वाने के लिए सूत्र सीखें।

(५) सूत्र सीखने से यथावस्थित द्रव्य एवं पर्यायों का ज्ञान होगा —इस विचार से सूत्र सीखें।

स्वाध्याय की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि शोभन रीति से मर्यादापूर्वक अस्वाध्याय काल का परिहार करते हुए शास्त्र का अध्ययन करना स्वाध्याय है जिसके अनुसार रीति एवं मर्यादा के साथ काल-समय को भी विशेष महत्त्व दिया गया है। इस रूप में अस्वाध्याय के प्रकार निम्न बताये गये हैं :

(१) दश आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय जिनमें उल्कापात (तारा टूटने से एक प्रहर तक), दिग्दाह (दिशा विशेष में आग जैसी रौशनी दीखने पर एक प्रहर तक), गर्जित (मेघ गर्जना पर दो प्रहर तक) विद्युत (बिजली चमकने पर एक प्रहर तक वर्षा ऋतु में नहीं) निर्घति (व्यन्तर आदि की प्रचंड ध्वनि होने पर एक अहोरात्रि तक) यूपक (शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया को संध्या के समय प्रभा के मिल जाने से रात्रि के प्रथम प्रहर तक) यक्षादीप्त (व्यन्तर कृत अग्नि दीपन पर) धूमिका (धूवर पड़ने पर पड़ने तक) महिका (जल रूप धुंधल गिरने पर गिरने तक) तथा रज उद्घात (चारों ओर धूल छा जाने पर) शामिल हैं। ये सब अस्वाध्याय काल माने गये हैं।

(२) दश औदारिक सम्बन्धी अस्वाध्याय—अस्थि, मांस और रक्त किसी पंचेन्द्रिय तिर्यंच या मनुष्य का साठ या सौ हाथ के भीतर होने पर, अशुचि (मल मूत्र) निकट होने या उसकी दुर्गंध आने पर, श्मशान के चारों ओर सौ सौ हाथ तक, चन्द्रग्रहण होने पर आठ से बारह प्रहर तक, सूर्यग्रहण होने पर बारह से सोलह प्रहर तक, राजा के निधन पर दूसरे के सिंहासनारूढ़ होने तक, राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर शान्ति होने तक, उपाश्रय में तिर्यंच या मनुष्य का निर्जीव शरीर पड़ा होने पर सौ हाथ तक अस्वाध्याय होता है।

(३) चार महाप्रतिप्रदा (आषाढ़, आश्विन, कार्तिक व चैत्र पूर्णिमाओं के बाद की प्रतिपदाएँ) तथा इन चारों महापूर्णिमाओं को स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

(४) प्रातः काल, मध्याह्न, सायंकाल और अर्धरात्रि—इन चारों संध्या काल में भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

मैं मानता हूँ कि स्वाध्याय प्रत्येक चिन्तनशील मानव के लिये एक अनिवार्य तप और अनुष्ठान है। उसकी चिन्तनशक्ति को सत्प्रेरणा सूत्र-शास्त्र और सत्साहित्य के अध्ययन से ही मिल सकती है। उसका अध्ययन जितना गहरा, जितना अध्यवसायपूर्ण और जितना हार्दिकता के साथ होगा उतना ही उसका ज्ञान परिपुष्ट, प्रखर एवं परिपक्व बनेगा। स्वाध्याय की श्रेष्ठ रीति के लिये इन नियमों का अनुपालन लाभप्रद हो सकता है :

(१) स्वाध्याय के समय चित्त की एकाग्रता सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं आवश्यक होती है। मन इधर उधर डोलता रहे और पाठों का उच्चारण चलता रहे तो अर्थ क्या शब्द भी सही तरीके से पल्ले नहीं पड़ेंगे। चारों ओर से ध्यान हट कर अपनी अध्ययन सामग्री में ही वह केन्द्रित हो जाना चाहिये। मानसिक चंचलता में स्वाध्याय का आनन्द आ ही नहीं सकता है।

(२) स्वाध्याय का स्थान भी इस दृष्टि से स्वच्छ, शान्त और एकान्त होना चाहिये। स्थान की अनुकूलता आवश्यक है क्योंकि चहल पहल, कोलाहल या गंदगी वाले स्थान पर बैठकर मानसिक एकाग्रता नहीं साधी जा सकती है।

(३) स्वाध्याय प्रतिदिन यथासमय किया जाना चाहिये। उसमें विक्षेप नहीं होना चाहिये तथा नियम का कड़ाई से पालन किया जाना चाहिये।

(४) स्वाध्याय के ग्रंथों का चयन करते समय सदा यह लक्ष्य रहना चाहिये कि उसमें ऐसा कोई भी साहित्य सम्मिलित न हो जो किसी भी प्रकार से विषय-कषाय के दुर्गुणों को किसी भी रूप में उत्तेजित करे। स्वाध्याय के विषय संयम एवं ज्ञानार्जन को परिपुष्ट बनाने वाले ही होने चाहिये।

(५) स्वाध्याय करते समय अध्येता को यह आत्म विश्वास होना चाहिये कि वह विषय की गूढ़ता को समझ रहा है तथा स्वाध्याय से उसके हृदय में ज्ञान के प्रकाश की किरणें प्रकाशित हो रही हैं। वह अपने संकल्प को दृढ़ीभूत करता रहे।

मैं स्वाध्याय के स्वरूप को समझता हूँ तथा आत्म चिन्तन रूप जागृति को निरन्तर बनाये रखने के लिए प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं अपनी रूपान्तरण की प्रवृत्ति का प्रति समय निरीक्षण करता रहूँ कि (१) मन किसी अशुभ विचार की ओर तो उन्मुख नहीं हो रहा है, (२) गुणों की ओर मेरा जो आकर्षण बना है, वह अभिवृद्ध हो रहा है या नहीं, (३) दोषों के प्रति मेरी जो गर्हा बनी थी, वह गहरी हो रही है अथवा नहीं (४) गुणों के पोषक स्थान अहिंसा, सत्य, क्षमा आदि और वैसे निमित्तों का सेवन भी जारी है या नहीं—और इन्हीं आधारों पर मैं अपने स्वाध्याय-तप का मूल्यांकन करूंगा तथा आत्म चिन्तन के अध्याय को सम्पन्न और सम्पूर्ण बनाऊंगा।

उच्चता ध्यान साधना की

प्रायश्चित से पवित्र बना, विनय धर्म से मंडित, सेवा में तन्मय और आत्म चिन्तन का अध्येता होकर मेरा मन जब ध्यानावस्थित होगा तो निश्चय ही वह उसकी उच्चता को भी साध सकेगा। ध्यान तप की साधना से मेरी आत्म शक्तियां प्रकाशित भी होंगी तथा प्रभावशाली भी। उनके सुप्रकटीकरण से मेरी आत्मा का परम प्रताप एवं सर्वशक्ति वैभव मुझे असीम आनन्द की अनुभूति देगा।

ध्यान तप की महत्ता का आकलन करने के लिये पहले ध्यान के प्रकारों को समझ लेना आवश्यक है। वैसे ध्यान को योग का सातवां अंग कहा गया है। बहुत देर तक चित्त को किसी एक ही तत्त्व या बात को सोचने में लगाये रखना भी एक तरह का ध्यान कहलाता है। इस प्रकार यदि बारह सेकिंड मात्र तक भी चित्त एक स्थान पर स्थिर रह जाय तो उसे धारणा भी कहते हैं। वस्तुतः बारह धारणाओं का एक ध्यान होता है। अशुभ एवं शुभ ध्यान रूप ध्यान के चार भेद एवं ४८ उपभेद निम्नानुसार कहे गये हैं :

(१) आर्तध्यान—दुःख के निमित्त अथवा दुःख में होने वाला ध्यान कहलाता है। यह आर्त याने दुःखी प्राणी का ध्यान होता है। मनोज्ञ वस्तु के वियोग एवं अमनोज्ञ वस्तु के संयोग आदि के कारणों से जब चित्त में आकुलता-व्याकुलता फैलती और बढ़ती है और आत्मा जब मोहवश राज्य या सत्ता के उपभोग, धन वैभव, शयन, आसन, वाहन, स्त्री, गंध, माला, मणि, रत्न, आभूषण आदि पदार्थों की जो अतिशय कामना करती है तब वह आर्तध्यान रूप अशुभ ध्यान में रत बनती है। इस ध्यान के चार प्रकार हैं—(अ) अमनोज्ञ वियोग चिन्ता-अमनोज्ञ, अप्रिय या अनिच्छित शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श, विषय एवं उनके साधन भूत पदार्थों का संयोग होने पर उनकी वियोग स्थिति की

चिन्ता करना वियोग हो जाने पर सुख का अनुभव करना तथा भविष्य में भी उनका संयोग न हो सके ऐसे प्रयत्नों में व्याकुल बने रहना— यह आर्त्तध्यान का पहला प्रकार है। इस प्रकार का मूल कारण अमनोज्ञ के प्रति द्वेष होता है। (ब) रोग चिन्ता—शूल, सिर दर्द आदि रोगों का आक्रमण होने पर उनकी चिकित्सा में व्याकुल होकर रोगों के मिट जाने की चिन्ता करना और भविष्य में रोग संयोग न हो इस के लिए आतंकित रहना रोग चिन्ता आर्तध्यान है। (स) मनोज्ञ संयोग चिन्ता-पांचों इन्द्रियों के विषय एवं उनके साधन रूप स्वयं, माता, पिता, भाई, स्वजन, स्त्री, पुत्र, धन तथा साता वेदना के संयोग में, उनका वियोग न हो ऐसी चिन्ता करना तथा भविष्य में भी उनके संयोग की इच्छा रखना—यह आर्तध्यान का तीसरा प्रकार है। इस प्रकार का मुख्य कारण राग माना गया है। (द) निदान (नियाणा)—सम्राट, इन्द्र, चक्रवर्ती वासुदेव आदि की ऋद्धि या रूप राशि देखकर अथवा सुनकर उनमें आसक्ति लाना तथा यह सोचना कि मैंने जो तप-संयम आदि के धर्मकृत्य किये हैं, उनके फलस्वरूप मुझे भी ऐसी ऋद्धि और रूपराशि प्राप्ति हो —यह निदान आर्त्तध्यान है। इसे अधम चिन्ता कही गई है। इसका मूल कारण अज्ञान होता है क्योंकि अज्ञानी ही दूसरों के प्राप्त सुखों में आसक्ति भाव लाते हैं। ज्ञानी पुरुषों के चित्त में तो सदा ही मोक्ष की लगन लगी रहती है।

यह चार प्रकार का आर्तध्यान राग, द्वेष से युक्त होने के कारण संसार में अधिक भव भ्रमण कराने वाला है आर्तध्यान के चार लक्षण बताये गये हैं—(अ) आक्रन्दन-ऊँचे स्वर से रोना और चिल्लाना, (ब) शोचन-आंखों में आंसू लाकर दीन-भाव धारण करना, (स) परिवेदना-बार-बार आर्त भाषण करना तथा विलाप करना एवं (द) तेपनता —झार झार आंसू गिराना। इष्ट-वियोग, अनिष्ट संयोग और वेदना के निमित्त से ये चारों चिह्न एक आर्तध्यानी में दिखाई देते हैं।

(२) रौद्र ध्यान—हिंसा की ओर उन्मुख बनी आत्मा द्वारा प्राणियों को कष्टित कर रूलाने और संत्रस्त बनाने वाले व्यापार का चिन्तन करना रौद्र ध्यान होता है। हिंसा की ओर उन्मुख होने वाली आत्मा हिंसा के साथ झूठ, चोरी, धन रक्षा आदि से भी अपने मन को जोड़ती है और वैसी दशा में अतिक्रूर परिणामों से ग्रस्त वनकर वह रौद्र ध्यानी होती है। उस प्रकार के ध्यान में छेदना, भेदना, काटना, मारना, वध करना, प्रहार करना, दमन करना, शोषण करना, अधीन बनाना आदि के संकल्प-विकल्प ही चलते रहते हैं और ऐसा रौद्र ध्यानी इन सब कुकृत्यों के प्रति राग भाव रखता है और उसके हृदय में अनुकम्पा-दया का भाव नहीं रहता है। रौद्रध्यान के चार प्रकार कहे गये है : (अ) हिंसानुवन्धी—प्राणियों को चाबुक, बेंत आदि से मारना, कील आदि से नाक वगैरा बींधना, किसी को रस्सी, जंजीर आदि से बांधना, अग्नि में जलाना, अग्नि-दाग (डाम) लगाना, तलवार आदि धारदार शस्त्र से प्राण-वध करना अथवा इस प्रकार के व्यवहार न करते हुए भी क्रोध के वश हो कर निर्दयतापूर्वक निरन्तर इन हिंसाकारी व्यापारों को करने का चिन्तन करना हिंसानुबंधी रौद्र ध्यान है। (ब) मृषानुवन्धी— रौद्रध्यान के इस प्रकार में दूसरों को ठगने की मायावी प्रवृत्तियाँ चलाई जाती हैं तथा छिप कर पापाचरण करते हुए अनिष्ट सूचक शब्द, असभ्य वचन, असत् अर्थ का प्रकाशन, सत् अर्थ का अपलाप एवं एक के स्थान पर दूसरे पदार्थ आदि का कथन रूप असत्य वचन तथा प्राणियों के उपघात करने वाले कहे जाते हैं अथवा कहने की निरन्तर चिन्ता की जाती है। (स) चौर्यानुवन्धी —तीव्र क्रोध एवं लोभ से व्यग्रचित्त वाले पुरुष की प्राणियों के उपघातक अनार्य काम जैसे, पर द्रव्य हरण आदि में निरन्तर चित्तवृत्ति का उलझी हुई रहना चौर्यानुबन्धी रौद्र ध्यान है। (द) संरक्षणानुबन्धी—पांचों इन्द्रियों के शब्द, रूप आदि पांच विषयों के साधन रूप धन की रक्षा करने

की फिक्र में लगे रहना एवं न मालूम दूसरा क्या करेगा—इस आशंका से रात-दिन ग्रस्त रहना और दूसरों का उपघात करने की कषायमयी चिन्तना करना रौद्र ध्यान के इस प्रकार में होता है।

रौद्र ध्यान उन लोगों के साथ लगा रहता है जो राग, द्वेष एवं मोह से सदा आकुल व्याकुल रहता है। हिंसा, मृषा, चौर्य एवं संरक्षण स्वयं करना, दूसरों से कराना एवं करते हुए की प्रशंसा (अनुमोदना) करना—इन तीनों कारण विषयक चिन्ता करना रौद्रध्यान का रौद्र रूप होता है। रौद्रध्यान के भी चार लक्षण बताये गये हैं : (अ) आसन्न दोष—रौद्र ध्यानी हिंसा आदि से निवृत्त न होने के कारण बहुलता पूर्वक हिंसा आदि में से किसी एक पाप में प्रवृत्ति करता है—यह आसन्न दोष है। (ब) बहुलदोष —रौद्रध्यानी हिंसा आदि सभी पापों व दोषों में प्रवृत्ति करता है —यह वहुलदोष है। (स) अज्ञान दोष —अज्ञान के कारण कुशास्त्र के कुसंस्कार से नरक आदि गति दिलाने वाले अधर्म-स्वरूप हिंसा आदि कार्यों को धर्म कार्य मान कर उस बुद्धि से उन्नति के लिये प्रवृत्ति करना अज्ञान दोष है। इसे नानादोष भी कहते हैं, क्योंकि रौद्र ध्यानी विविध हिंसा आदि के उपायों में अनेक वार प्रवृत्ति करता है। (द) आमरणान्त दोष— मरण पर्यन्त क्रूर हिंसा आदि के कार्यों में अनुताप या पछतावा नहीं होना और हिंसा आदि के कार्यों में प्रवृत्ति करते रहना यह दोष है।

(३) धर्म ध्यान—वीतराग प्रणीत धर्म और उनकी आज्ञा के अनुरूप वस्तु-स्वरूप के चिन्तन मनन में मन को एकाग्र वनाना धर्म ध्यान है। यह ध्यान श्रुत एवं चारित्र धर्म से युक्त होता है। धर्मध्यानी सूत्र एवं अर्थ की ज्ञान-साधना करता है, महाव्रतों को धारण करता है, बंध और मोक्ष तथा गति और आगति के हेतुओं का विचार रखता है, पांचों इन्द्रियों के विषयों से निवृत्ति लेता है तथा प्राणियों के प्रति दया भाव से द्रवित होता है और इन सभी प्रवृत्तियों में स्थिरचित्ती बनता है। धर्म ध्यान में रत रहने वाली आत्मा वीतराग एवं सुगुरु के गुणों का कथन करने वाली, उनकी प्रशंसा करने वाली, श्रुतिशील एवं संयम में अनुरक्त होती है।

धर्मध्यान के चार प्रकार होते हैं—(अ) आज्ञा विचय—वीतराग देव की आज्ञा (उपदेश वाणी) को सत्य मानना, उस पर श्रद्धा करना तथा उसमें प्रतिपादित तत्त्वों पर चिन्तन और मनन करना। वीतराग देवों की वाणी कैसी होती है? सूक्ष्म तत्त्वों की विवेचना करने से यह अति निपुण, अनादि-अनन्त, सभी प्राणियों के लिये हितकारी, अनेकान्त का ज्ञान कराने वाली, अमूल्य, अपरिमित, अन्य प्रवचनों से अपराभूत, महान् अर्थवाली, महाप्रभावशाली, नयभंग एवं प्रमाण से गहन अतएव अकुशल जनों के लिये दुरज्ञेय होती है। वीतराग आज्ञा की पूर्ण सत्यता में ऐसा निःशंक विश्वास होना चाहिये कि यदि वीतराग देवों के प्रतिपादित तत्त्व के रहस्य को समझाने वाले आचार्य महाराज समक्ष न हों, ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से या दुर्वल बुद्धि के कारण कोई स्वरूप, हेतु या उदाहरण समझ में नहीं आवे, तव भी विचारों में किसी प्रकार का सन्देह प्रविष्ठ नहीं होना चाहिये। यही विचारधारा रहनी चाहिये कि वीतराग देवों द्वारा असत्य कथन का कोई कारण नहीं है क्योंकि वे अनुपकारी जन के प्रति भी उपकार में तत्पर रहने वाले जगत् में प्रधान, त्रिलोक और त्रिकाल के ज्ञाता, एवं राग, द्वेष व मोह के विजेता होते हैं। इस निष्ठा के साथ वीतराग वाणी का चिन्तन-मनन करना और गूढ़ तत्त्वों के विषय में कोई शंका न रखते हुए उन्हें दृढ़तापूर्वक सत्य समझना तथा वीतराग की आज्ञा में मन को एकाग्र करना आज्ञा विचय धर्मध्यान है। (ब) अपाय विचय—इस प्रकार के अनुसार राग, द्वेष, कषाय आदि के अपायों के चिन्तन करने में मन को एकाग्र करना है। राग-द्वेष, कषाय, मिथ्यात्व, अविरति आदि आश्रव एवं क्रियाओं से होने वाले ऐहिक व पारलौकिक कुफल और हानियों पर विचार करना।

जैसे कि रोग ग्रस्त व्यक्ति को अपथ्य अन्न की लालसा होती है, वैसे ही कर्मग्रस्त आत्मा प्राप्त हुए राग को अपने से चिपकाये रखना चाहती है किन्तु अपथ्य अन्न की तरह प्राप्त राग भी अतीव हानि प्रद होता है। इसी प्रकार प्राप्त हुआ द्वेष भी आत्मा को उसी प्रकार तपा देता है जैसे कोटर में रही हुई आग वृक्ष को जल्दी ही जला डालती है। राग और द्वेष इहलोक और परलोक दोनों को बिगाड़ते हैं। यही अवस्था अनियंत्रित क्रोध, मान, माया तथा लोभ कषायों की होती है जो बढ़ते हुए संसार रूपी वृक्ष को सींचते रहते हैं। कषायी आत्मा प्रशय आदि गुणों से शून्य तथा मिथ्यात्व से मूढ़ होती है। कषायों से भी अज्ञान अधिक दुःखदायी होता है क्योंकि अज्ञानी आत्मा अपना हिताहित भी नहीं पहिचानती है। हिंसा आदि आश्रव से अर्जित पापकर्मों के कारण आत्मा दीर्घकाल तक नीच गतियों में भटकती हुई अनेक अपायों (दुःखों) की भाजन होती है। इन दोषों से होने वाले, कुफल का चिन्तन करने वाली आत्मा इन दोषों से अपनी रक्षा करने में सावधान हो जाती है, जिससे वह सफलतापूर्वक आत्म-कल्याण की साधना कर सकती है। (३) विपाक विचय—आत्मा के मूल शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करना कि वह अनन्त ज्ञान, दर्शन एवं सुख रूप है किन्तु कर्मावृत्त होने के कारण उसके मूल गुण दबे हुए हैं और उसी से उसका संसार परिभ्रमण चल रहा है। सम्पत्ति-विपत्ति या संयोग-वियोग आदि से होने वाले सुख-दुःख आत्मा के ही पूर्वार्जित शुभाशुभ कर्मों के फल होते है क्योंकि आत्मा ही अपने सुख-दुःख का भोक्ता और कर्ता होती है। आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में कर्मों के ही भिन्न-भिन्न फल होते हैं। इस प्रकार कषाय एवं योग जनित शुभाशुभ कर्म प्रकृति वंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध, प्रदेश बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता इत्यादि कर्म विषयक चिन्तन में मन को एकाग्र करना विपाक विचय धर्मध्यान है। (द) संस्थान-विचय—इस अनादि अनन्त संसार सागर का चिन्तन करना कि धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य एवं उनकी पर्याय, जीव-अजीव के आकार, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, लोक का स्वरूप, जीव की गति आगति एवं जीवन मरण आदि संसार संसरण के रूपक हैं तथा इस संसार सागर में आत्मा और उसके कर्म से उत्पन्न जन्म जरा रूप जीवन मरण अथाह जल रूप है, क्रोध आदि कषाय जल-तल (पाताल) है, विविध दुःख मगरमच्छ आदि हैं, अज्ञान रूपी वायु उठती रहती है तथा संयोग-वियोग रूपी लहरें रात दिन चलती रहती हैं। इसके साथ ही यह भी चिन्तन करना कि इस संसार सागर को पार कराने में समर्थ चारित्र रूपी नौका होती है, जिसको सम्यक् ज्ञान रूपी नाविक चलाता है और जो सम्यक् दर्शन रूपी बंधनों से सुदृढ़ होती है। यह नौका संवर से छेदरहित, तप रूपी पवन से वेगवती, वैराग्य मार्ग पर चलने वाली किन्तु अपध्यान से न डगमगाने वाली बहुमूल्य शील रत्न से परिपूर्ण होती है। जिसे मुनि रूपी व्यापारी निर्बाध रूप से खेकर निर्वाण रूपी नगर को पहुँच जाते हैं। मोक्ष के अक्षय, अव्याबाध, स्वाभाविक व निरूपम सुखों की अभिलाषा रखते हुए वीतराग देवों द्वारा उपदेशित सिद्धान्तों के गहन अर्थ चिन्तन में मन को एकाग्र करना संस्थान विचय धर्म ध्यान है।

धर्म ध्यान के भी चार लक्षण बताये गये हैं: (१) आज्ञा रुचि—सूत्र में प्रतिपादित अर्थों पर रुचि धारण करना (२) निसर्ग रुचि—स्वभाव से ही विना किसी उपदेश के वीतराग भाषित तत्त्वों पर श्रद्धा करना, (३) सूत्र रुचि—सूत्र द्वारा वीतराग प्ररूपित द्रव्यादि पदार्थों पर श्रद्धा करना तथा (४) अवगाढ़ (उपदेश) रुचि—वीतराग देवों के उपदेशों जो सुगुरु द्वारा कहे जावें के भावों पर श्रद्धा करना। समुच्चय में तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यक्त्व ही धर्म ध्यान का प्रमुख लक्षण होता है। धर्मध्यानी वीतराग देव एवं सुगुरु के गुणों का कथन करता है, उनकी प्रशंसा और स्तुति करता है, गुरु आदि का विनय करता है, दान देता है, तथा श्रुत, शील एवं संयम में अनुराग रखता है। धर्म

ध्यान रूपी महल पर चढ़ने के लिये स्वाध्याय के चार प्रकार वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा प्रधान अवलम्बन होते हैं। धर्म ध्यानी की चार भावनाएँ मुख्य होती हैं— (१) एकत्त्व भावना—इस संसार में मैं अकेला आया हूँ, मेरा कोई नहीं है और मैं किसी का नहीं हूँ। (२) अनित्य भावना—शरीर अनेक विघ्न बाधाओं एवं रोगों का स्थान है और प्रत्येक पदार्थ नश्वर हैं। (३) अशरण भावना—जन्म, जरा, मृत्यु भय से पीड़ित एवं वेदना से व्यथित इस संसार में आत्मा का त्राण रूप कोई नहीं है सिवाय सद्धर्म के। (४) संसार भावना—संसार की अवस्थाएँ अति विचित्र होती है।

एक अन्य अपेक्षा से भी धर्म ध्यान के चार भेद किये गये हैं : (१) पिंडस्थ (पृथ्वी अग्नि आदि पांच धारणाओं का एकाग्रता से चिन्तन करना) (२) पदस्थ (पंच परमेठि में किसी पद पर आश्रित होकर मन को एकाग्र करना (३) रूपस्थ (अरिहंत भगवान के शान्त रूप को हृदय में स्थापित करके मन को एकाग्र करना। एवं (४) रूपातीत (निरंजन निर्मल सिद्ध भगवान् का आलंबन लेकर उनके साथ अपनी आत्मा की एकरूपता का चिन्तन करना)।

(४) शुक्ल ध्यान—जो ध्यान आठ प्रकार के कर्मों का मैल दूर करता है तथा जो सम्पूर्ण शोक को नष्ट करता है, वह शुक्ल ध्यान है। इस ध्यान के माध्यम से पूर्व विषयक श्रुत के आधार पर मन की अत्यन्त स्थिरता एवं योग का निरोध साधा जाता है तथा विना किसी दूसरे के अवलम्बन के निर्मल आत्म स्वरूप पर तन्मयता पूर्वक चिन्तन किया जाता है। शुक्लध्यानी इन्द्रिय-सम्बन्धित विषयों का सम्बन्ध होने पर भी अपने वैराग्य के बल से अपने चित्त को बाहरी विषयों की ओर नहीं ले जाता एवं अपने शरीर का छेदन-भेदन होने पर भी स्थिर रहकर चित्त को अपने शुक्ल ध्यान से लेश मात्र भी नहीं डिगमिगाता है।

शुक्ल ध्यान के भी चार भेद वताये गये हैं—(अ) पृथकत्त्व वितर्क सविचारी—शुक्ल ध्यान के इस प्रकार में ध्यानी साधक एक द्रव्य से सम्वन्धित अनेक पर्यायों का पृथक् पृथक् रूप से पहले जाने गये श्रुत के अनुसार विस्तारपूर्वक द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि नयों से गंभीर चिन्तन करता है। यह ध्यान विचार सहित होता है तथा विचार का स्वरूप होता है अर्थ, व्यंजन (शब्द) और योगों में संक्रमण। इस ध्यान में अर्थ से शब्द में, शब्द से अर्थ में और शब्द से शब्द में तथा अर्थ से अर्थ में एवं एक योग से दूसरे योग में संक्रमण होता है। यह शुक्ल ध्यान पूर्वधारी को होता है जो पूर्वगत श्रुत के अनुसार विविध नयों से पदार्थों की पर्यायों का भिन्न-भिन्न रूप से चिन्तन करता है। कभी यह ध्यान उनको भी प्राप्त हो सकता है जो पूर्वधारी नहीं हैं। उन्हें यह ध्यान अर्थ, व्यंजन एवं योगों में परस्पर संक्रमण रूप होता है। (ब) एकत्व वितर्क अविचारी—शुक्ल ध्यान के इस प्रकार में ध्यानी साधक पूर्वगत श्रुत का आधार लेकर उत्पाद आदि पर्यायों के एकत्त्व अर्थात् अभेद से किसी एक पदार्थ अथवा पर्याय का स्थिर चित्त से चिन्तन करता हैं। इस ध्यान में अर्थ, व्यंजन एवं योगों का संक्रमण नहीं होता। विना हवा वाले घर में रखे हुए दीपक के समान इस ध्यान में चित विक्षेप रहित होकर स्थिर रहता है। (स) सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती—मोक्ष गमन के पहले केवली भगवान् मन, वचन के योगों का भी निरोध कर लेते हैं और अर्ध काय-योग का भी निरोध कर लेते हैं। उस समय केवली के कायिकी उच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रिया ही रहती है। परिणामों की विशेष उच्चता के कारण इस स्तर से केवली पुनः पीछे नहीं हटते हैं। इस रूप का होता है शुक्ल ध्यान का तीसरा प्रकार। (द) समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती —शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर केवली सभी योगों का

निरोध कर लेते हैं। योगों के निरोध से सभी क्रियाएँ नष्ट हो जाती है। यह ध्यान सदा वना रहता है, इसी कारण इसे समुछिन्न क्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान कहते हैं। शुक्ल ध्यान का पहला प्रकार सभी योगों में होता है, दूसरा किसी एक योग में होता है, तीसरा केवल काय योग में होता है तो चौथा प्रकार अयोगी को ही होता है। छदास्थ अवस्था में मन को निश्चल बनाना तो केवल ज्ञान की अवस्था में काया को निश्चल करना ध्यान कहलाता है।

शुक्ल ध्यान के भी चार लक्षण कहे गये हैं— (१) अव्यथ —शुक्लध्यानी परिषहों व उपसर्गों से डर कर ध्यान से चलित नहीं होता है अतः वह लिंगवाला होता है। (२) असम्मोह— शुक्ल ध्यानी को अत्यन्त सूक्ष्म व गहन विषयों में अथवा देवादि रचित माया में सम्मोह नहीं होता, अतः वह असम्मोह लिंग वाला होता है। (३) विवेक—शुक्लध्यानी आत्मा को देह से भिन्न तथा सर्व संयोगों को आत्मा से भिन्न समझता है अतः वह विवेक लिंग वाला होता है। (४) व्युत्सर्ग —शुक्लध्यानी निःसंग रूप से देह एवं उपधि का त्याग करता है अतः वह व्युत्सर्ग लिंग (लक्षण) वाला होता है। शुक्ल ध्यान के भी चार अवलम्बन बताये गये हैं —(१) क्षमा—क्रोध न करना, उदय में आये क्रोध को दवाना व क्रोध का त्याग करना (२) मार्दव — इसी प्रकार मान का त्याग करना (३) आर्जव-इसी प्रकार माया का त्याग करके सरलता लाना एवं (४) मुक्ति —लोभ का त्याग करके शोच निर्लोभता प्रकट करना। शुक्लध्यानी की चार भावनाएं होती हैं—(१) अनन्त वर्तितानुप्रेक्षा—भव परम्परा की अनन्तता की भावना करना (२) विपरिणामानुप्रेक्षा—वस्तुओं के विपरिणमन पर विचार करना (३) अशुभानुप्रेक्षा—संसार के अशुभ स्वरूप पर विचार करना एवं (४) अपायानुप्रेक्षा-आश्रवों से होने वाले, जीवों को दुःख देने वाले विविध अपायों से चिन्तन करना।

मैं सर्वोत्कृष्ट शुक्लध्यान के परमोच्च स्वरूप पर चिन्तन करता हूं तो मेरा हृदय आत्मोत्साह से आल्हादित हो उठता है। पापपंक से कलंकित बनी यह आत्मा अपने परमपुरुषार्थ से इस रूप में परम प्रतापी बन सकती है—तब अनुत्साह का क्या कारण है ? मात्र दिशा परिवर्तन की आवश्यकता है कि मोहग्रस्त यह आत्मा अपने मोहावरण को सर्वथा समाप्त कर देने का कठिन संकल्प ग्रहण करले और शुक्ल ध्यान की श्रेणी तक पहुंचने का अध्यवसाय वनावे।

समत्त्व के शिखर पर

मैं भावना भाता हूं कि तपाराधन के क्रम में आठ कर्मों के बंधनों को तोड़ता हुआ मैं भी एक दिन व्युत्सर्ग तप का आचरण करते हुए समत्त्व के शिखर पर आरूढ़ होऊं। प्रायश्चित से लेकर व्युत्सर्ग तक के छः आभ्यन्तर तप मोक्ष प्राप्ति के अन्तरंग कारण माने गये हैं।

अन्तर्दृष्टि आत्मा ही इनका सेवन करती है तथा वही इन्हें तप रूप में जानती और देखती है। इन तपों की आराधना का असर आन्तरिक राग, द्वेष, कषाय आदि पर पड़ता है, जिसे बाह्य दृष्टि से लोग देख नहीं पाते हैं। आभ्यन्तर तपों की शृंखला में व्युत्सर्ग अन्तिम एवं सर्व श्रेष्ठ तप है जिसका अर्थ है ममत्व का सर्वथा त्याग कर देना और ममत्व के सर्वथा त्याग का ही प्रतिफल होता है समत्व के शिखर पर आरूढ़ हो जाना।

सामान्य रूप से व्युत्सर्ग तप के दो भेद कहे गये है—(१) द्रव्य —गण, शरीर, उपधि और आहार का त्याग करना एवं (२) भाव —कषाय, संसार और कर्म का त्याग करना। यों निःसंग अर्थात् ममत्वरहित होकर शरीर और उपधि के त्याग रूप इस व्युत्सर्ग तप के सात भेद भी किये गये

हैं —(१) शरीर व्युत्सर्ग—ममत्व रहित होकर शरीर का त्याग करना, (२) गण व्युत्सर्ग—अपने सगे सम्बन्धी या शिष्य वगैरा का त्याग करना, (३) उपधि व्युत्सर्ग-भंड, पात्र, उपकरण आदि का त्याग करना, (४) भक्तपान व्युत्सर्ग—आहार पानी का त्याग करना, (५) कषाय व्युत्सर्ग—क्रोध, मान, माया तथा लोभ कषायों का त्याग करना, (६) संसार व्युत्सर्ग—नरक आदि के आयुष्य-बंध के कारण संसार के कारणभूत मिथ्यात्व आदि का त्याग करना एवं (७) कर्म व्युत्सर्ग—कर्म बंधन के कारणों का त्याग करना। इन सात व्युत्सर्गों में से प्रथम चार द्रव्य तथा अन्तिम तीन भाव व्युत्सर्ग कहलाते हैं। जैसे कषाय व्युत्सर्ग के क्रोध मान, माया, लोभ रूप चार भेद होते है, वैसे ही संसार व्युत्सर्ग के भी चार भेद हैं—नैरयिक, तिर्यंच, मनुष्य व देव एवं कर्म व्युत्सर्ग के आठ भेद हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गौत्र तथा अन्तराय।

मैं अपने अनुभव के आधार पर चिन्तन करता हूं कि यह ममत्व ही संसार परिभ्रमण का मूल है और इसी कारण आठ कर्मों में मोहनीय कर्म सर्वाधिक शक्तिशाली माना गया है —कर्म दल का सेनापति। अतः कर्मों के सारे वंधनों को तोड़कर मुक्ति मार्ग की ओर गति करनी है तो मुझे अपनी अपूर्व आत्मशक्ति का स्वरूप दर्शन करना होगा जो समीक्षण वृत्ति की सहायता से ही मैं कर पाऊंगा। अपनी आत्म-साक्षात्कार की अवस्था में मैं स्पष्ट जान लूंगा कि मेरी मुक्ति का मार्ग किधर है? और वह मार्ग है तपाराधन का, जिसकी पूर्णाहूति होती है व्युत्सर्ग तप से। ममत्व का सर्वथा त्याग ही आध्यात्मिक जीवन का परम साध्य है क्योंकि इस त्याग के पश्चात् संसार के सभी हेतु विनष्ट हो जाते हैं तथा समत्व योग की प्राप्ति हो जाती है। समभाव, समदृष्टि एवं समता के सर्वोच्च्य आनन्द में आत्मा का रमण अव्यावाध और शाश्वत बन जाता है। आत्मा की अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एवं अनन्त सुख की यह अवस्था ही उसे अनन्त शक्ति की अनुभूति देती है तथा सर्वशक्तिमान् के पद से विभूषित वनाती है।

तपस्या का अ आ इ ई

मैं वारह प्रकार के तपाराधन का यह विवेचन समझता हूं तो एक बात मन में उठती है कि प्रवुद्ध, भव्य और सशक्त आत्माओं के लिये तो साधना का विशाल क्षेत्र है, किन्तु अपने आपको अशक्त मानने वाली आत्मा यदि किंचित् जागरण के प्रभाव से तपाराधन प्रारंभ करना चाहे तो वह क्या करे? उसके लिये तपस्या का अ आ इ ई याने आरंभ क्या हो सकता है? उसके लिये ऐसे तप होने चाहिये जिनकी साधना सरल हो किन्तु फल की दृष्टि से भी उनका महत्त्व कम नहीं हो। ऐसे तपाराधन के प्रति सामान्य जन भी सहज रूप से प्रभावित हो सकते हैं।

मैं समझता हूं कि अति सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति को भी आत्मा और शरीर के अलगाव का ज्ञान करा दिया जाय, कर्मों के मैल से आत्मा की स्वरूप विकृति का भान दिला दिया जाय और यह वता दिया जाय कि विषय कषाय के घात—प्रतिघातों से इस सांसारिक जीवन में कितने घोर कष्ट भोगने पड़ते हैं तो उसकी चेतना को तपाराधन की दिशा में प्रभावकारी मोड़ दिया जा सकता है। उसे तपाराधन के निम्न सामान्य प्रयोग वताये जा सकते हैं। तथा उसे प्रेरित किया जा सकता है कि वह उस प्राथमिक अवस्था में अपनी संकल्प शक्ति को सुदृढ़ बनाता हुआ आगे बढ़ता जावे—

(१) प्रतिदिन तीन मनोरथ का चिन्तवन किया जाय। इसमें त्याग कुछ नहीं करना है, केवल त्याग की भावना बनानी होती है। तीन मनोरथ इस प्रकार हैं—(अ) वह दिन मेरे लिए धन्य होगा,

जिस दिन मैं संसार के समस्त प्राणियों से सम्बन्धित आरंभ एवं समारंभ तथा सभी प्रकार के बाह्य एवं आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करूंगा। (ब) वह दिन मेरे लिये धन्य होगा, जिस दिन मैं द्रव्य से अपने मस्तक तथा भाव से अपने मन को मुंडित बना कर साधु धर्म की दीक्षा अंगीकार करूंगा। एवं (स) वह दिन मेरे लिये धन्य होगा जिस दिन मैं अठारह पाप तथा चारों आहार का त्याग करके आत्मालोचना एवं संलेखना सहित पंडित मरण को प्राप्त करूंगा। मनोरथ चिन्तन की निरन्तरता से आत्म भाव की पुष्टि होती रहेगी और इस रूप में यह पावन कार्य तप रूप ही होगा।

(२) प्रतिदिन इसी प्रकार चौदह नियमों का भी चिन्तवन किया जाय जिससे त्याग की वैचारिक पृष्ठभूमि का निर्माण होता चले। तथा सामान्य त्याग का अभ्यास भी बनता चले। चौदह नियम इस प्रकार हैं—(अ) सचित (आ) द्रव्य (इ) विगय (ई) उपानह (पगरखी वगैरा) (उ) ताम्बूल-पान (ऊ) वस्त्र (ए) पुष्प (ऐ) वाहन (ओ) शय्या (मलमूत्र स्थान सहित) (औ)लेपन (अं) ब्रह्मचर्य (अः) स्नान (ऋ) दिशा तथा (ॠ) भोजन में प्रतिदिन कुछ न कुछ यथाशक्ति मर्यादा ली जाय तथा प्रतिदिन अधिकतर त्याग की भावना रखी जाय।

(३) मृत्यु अवश्यंभावी है लेकिन कब होगी—यह अज्ञात है अतः विना त्याग प्रत्याख्यान के अकस्मात् मृत्यु हो जाय तो आत्म संशोधन नहीं होगा —इस भावना से प्रतिदिन रात्रि को सोते समय आश्रव क्रियाओं का त्याग करके सागारी संथारा कर लेना चाहिये जिसकी अवधि दूसरे दिन प्रातः उठने तक के समय की होगी। सुविधा के लिये यह पाठ उच्चारित कर लिया जाय —'आहार, शरीर, उपधि, पचखूं पाप अठार। मरण पाऊं तो वोसिरे, जीऊं जागूं तो आगार।' ऐसा ही तपोपाय दिन भर आहार क्रिया से बचने के सम्बन्ध में भी किया जा सकता है। प्रति समय खाया तो जाता नहीं है किन्तु उसका त्याग भी नहीं होता है अतः एक अंगुली में अंगूठी पहिन कर व्रत ले लिया जाय कि जब भी खाना होगा अंगठी उतार कर व महामंत्र पढ़कर खाऊंगा, वरना अंगूठी पहने-पहने भोजन का त्याग रहेगा। इससे भी तपश्चरण की भावना पुष्ट होगी तथा अनावश्यक क्रिया रूप पाप बंध से बचा जा सकेगा।

(४) प्रति दिन अथवा दिन रात में शुभ समय मिलने पर वन्दना करने का नियम लिया जाय। यह वन्दना सुदेव व सुगुरु के प्रति भक्ति दर्शाने वाली हो तथा उनके गुणों का स्मरण कराने वाली हो। ऐसे भक्ति सहित वन्दन नमन से आन्तरिकता में रही हुई कषाय वृत्तियाँ मन्द होगी तो नमने से कर्मों की निर्जरा भी होगी।

(५) अनशन तप की सीमा एक नवकारसी या पहरसी से लेकर छः माह तक की होती है। कम से कम शक्ति वाला व्यक्ति भी नवकारसी (रात्रि बारह बजे से सूर्योदय के बाद ४८ मिनिट तक कुछ भी नहीं खाना पीना) तथा पहरसी (एक पहर तक कुछ भी नहीं खाना पीना) की तपस्या कर सकता है। कठिनाई मामूली है लेकिन फल ऊंचा माना गया है। कहते हैं एक नवकारसी करने से सौ वर्ष नरक में जितने दुःख भोगे उतने अशुभ कर्मों का क्षय होता है और एक पहरसी से हजार वर्ष नरक में जितने दुःख भोगे उतने अशुभ कर्मों का क्षय होता है। एकासना तप का इससे भी अधिक फल मिलता है।

तपोपूत आत्म-शक्ति

जैसे तपस्या का अ आ इ ई होता है, वैसे उसका डि. लिट् भी होता है तपाराधना के रूप में तथा उसमें भी सर्वोच्य आभ्यान्तर तपों की साधना में। इन तपों का आचरण करते हुए कर्मों का

मैल प्रक्षालित होता रहता है और आत्म-स्वरूप निर्मल बनता जाता ऐसी तपोपूत आत्मा ही शक्ति का केन्द्र बनती है। मैं वैसी आत्म शक्ति का दर्शन वीतराग देवों के जीवन में करता हूं और चिन्तन करता हूं कि ऐसी शक्ति का धारक बनकर मैं भी लोकोपकार के नये नये आयाम साधूं।

मैं इस दृष्टि से अपनी आत्मा को भी तपोपूत बनाने का निश्चय करता हूं, क्योंकि मैं जानता हूं कि बिना तपाराधन के मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है, कारण, बिना तपाराधन के कर्मों की निर्जरा नहीं होती है। अतः मैं तप करने के उद्देश्यों की मीमांसा करना चाहता हूँ और उन उद्देश्यों को इस रूप में रखता हूं—

(१) आत्म रूपान्तरण—मैल से गंदे बने कपड़े को साबुन सोड़े से धोने का प्रयत्न करेंगे, तभी स्वच्छ निकल कर उस कपड़े का रूपान्तरण हो सकेगा। मैं भी तपाराधन से इस रूप में अपने आत्मस्वरूप का रूपान्तरण करना चाहूंगा। यह रूपान्तरण अशुभता से शुभता में होगा। आत्मा के लिये साबुन-सोड़े का काम तप करता है जो कर्म मैल को निर्जरा के रूप में दूर कर देता है। मैं तपाराधन द्वारा कर्मक्षय करके आत्मा के रूप को निर्मलता में परिवर्तित कर दूंगा। मैं तप की आराधना अपने मनोवल, शारीरिक शक्ति, श्रद्धा, आरोग्य, क्षेत्र को दृष्टि में रखते हुए करता हूं किन्तु प्रयत्न करता हूं कि मेरा मनोबल निरन्तर बढ़ता रहे। मैं तपश्चरण को उसी रीति में योग्य समझता हूं जिससे मन समाधि में रहे, अमंगल की चिन्ता न हो, आर्त व रौद्र ध्यान न सतावें तथा इन्द्रियों व योगों का हनन न् हो। तपाराधना में न तो प्रदर्शन की कामना होनी चाहिये तथा न ही अन्य प्रकार की ऐहिक शंसाएं। तपाराधन की केन्द्र स्थली आत्मा रहे तथा मैं आत्म रूपान्तरण के प्रति सदा सतर्क रहूं।

(२) देह-मोह-नाश—तपाराधना के क्षणों में मैं अपने आत्मस्वरूप पर गंभीर चिन्तन करूं तथा अनुभूति लूं कि मैं अर्थात् मेरी आत्मा मेरे ही शरीर से पृथक है। मैं जो तप कर रहा हूं, उसका उद्देश्य एक ओर आत्मा को तपा कर निर्मल वनाना है तो दूसरी ओर देह को तपाकर उसके प्रति जमे हुए मोह से भी मुझे मुक्ति लेनी है। तप का उद्देश्य देह त्याग नहीं, बल्कि देह बुद्धि और देह मोह का त्याग करना तथा विदेही की अनुभूति लेनी है। मैं सोचता हूं कि भूख प्यास, पीड़ा वेदना देह को होती है, आत्मा को नहीं अतः अनन्त आनन्द की शाश्वत स्रोत आत्मा का धर्म अलग है तथा देह का धर्म अलग है।

(३) इच्छाओं और आसक्ति का अन्त—मैं तपश्चरण का यह महत्वपूर्ण परिणाम समझता हूं कि तप जितना दृढ़ संकल्प के साथ साधा जायगा, उतनी ही त्वरित गति से इच्छाओं का संशोध और आसक्ति का अन्त होता जायगा जबकि अनेकानेक इच्छाएं व आसक्तियां ही आत्मा को लुभाती हैं और पतन के गहर में गिराती है। मैं तप काठिन्य को बढ़ाता हुआ अज्ञान, विषय व कषाय का समूल विनाश करता रहूंगा।

तपश्चरण के महान् उद्देश्यों को केन्द्रस्थ बनाकर मैं तप के महात्म्य का भी निरन्तर चिन्तन करता रहूंगा ताकि तपश्चरण के प्रति मेरी अभिरुचि अभिवृद्ध होती जाय। मेरी मान्यता है कि आत्म विकास की महायात्रा को सफल बनाने के लिये तप ही आध्यात्मिक उष्मा और ऊर्जा है, जो आत्म गति को ऊर्ध्वगामी बनाती है। मोह-ममत्व एवं कर्मो के लेप को हटाना तप सेवन के बिना अशक्य है। तपश्चरण से आत्मा निर्मल होती है तथा बाह्य एवं आन्तरिक जीवन निर्विकार बनता है। इस रूप

में तपश्चरण शारीरिक एवं मानसिक रोगों से भी मुक्ति दिलाता है। जिन आधि-व्याधियों की चिकित्सा करनें में चिकित्सक और चिकित्सा प्रणालियाँ विफल हो जाती हैं उन्हें तप की क्रमिक साधना जड़ मूल से दूर कर देती है। अनशन तप के नियमित नियम से व्याधियाँ नहीं आती हैं और शरीर निरोग बना रहता है।

मेरे अनुभव में आया है कि तप की प्राभाविकता भी विपुल होती है। तपस्वी के समक्ष शक्तिशाली पशुवल भी हार मान लेता है क्योंकि उसका आत्मवल अजेय वन जाता हैं। तपश्चरण से धर्म की समूची आराधना समन्वित रूप में हो जाती है। तप आत्मा को धर्म के सन्निकट ले जाता है। संवर के बाद तप से ही कर्म क्षय होते है और निर्जरा के वाद ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। तप ऐसी प्रखर अग्नि होती है जिसमें अनिकाचित कर्म तक नष्ट हो जाते हैं। विना तप के मोक्ष नहीं है और तपश्चरण से शीघ्र मोक्ष मिलता है। अतः मैं तप का आराधन विवेक सहित तथा समभाव पूर्वक करता हूं और यह निश्चय करके कि तपाराधना में कोई लौकिक एषणा नहीं रखूंगा, मात्र कर्म क्षय करने का हेतु ही समक्ष रखूंगा। मेरे तपाराधन में वन्दन-स्तुति का भाव भी नहीं रहेगा तथा तप के मूल तत्त्व धैर्य और समत्व भाव को आत्मसात् करके निश्चल वना रहूंगा। इस प्रकार मेरी आत्मा तप में तपेगी, अपने स्वकरूप में पवित्र वनेगी एवं शक्ति संचय में अग्रगामी होगी। तपोपूत आत्मशक्ति की तभी मुझे प्रत्यक्ष अनुभूति हो सकेगी।

सातवां सूत्र और मेरा संकल्प

तपोपूत आत्म शक्ति की प्रत्यक्ष अनुभूति से मेरी आत्मा का समग्र स्वरूप उल्लसित हो उठेगा क्योंकि महाप्रतापी और सर्वशक्तिमान वनने का उसका लक्ष्य समीप आता हुआ दिखाई देगा। तव मेरा सोचना भी सार्थक हो जायगा कि कर्म वंधन कैसे टूटते हैं और मुक्ति के मार्ग पर कैसे पहुंचते हैं? मैं उस स्तर तक पहुंचने के लिये आज अपनी आत्म-शक्ति पर समीक्षण ध्यान करता हूं और आत्म-साक्षात्कार तक पहुंचना चाहता हूं। मैं जानता हूं कि यह महद् कार्य मैं वीतराग देवों की आज्ञा में अपने पुरुषार्थ को नियोजित करके ही सम्पन्न कर सकूंगा।

अतः मैं संकल्प लेता हूं कि मैं वीतराग देवों की आज्ञा में ज्ञान और क्रिया का संयोग बनाकर मुक्ति के मार्ग पर अग्रगामी वनूंगा। इसी प्रगति में मैं बारह प्रकार के तपों की कठोर आराधना करूंगा और कर्म वंधनों को तोड़ता हुआ देहमोह से भी मुक्त होने की अवस्था तक पहुंच जाऊंगा।

मैं अपने संकल्प में सुदृढ़ रहते हुए अपनी अनन्त आत्मिक शक्ति की अनुभूति लूंगा, उसे लोक कल्याण की दृष्टि से सक्रिय बनाऊंगा तथा महाप्रतापी एवं सर्वशक्तिमान् होने का उपक्रम करूंगा।

अध्याय नौ

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : ८ :

मैं ज्ञान पुंज हूँ, समत्व योगी हूँ।

मुझे सोचना है कि मुझे अमिट शान्ति क्यों नहीं मिलती, अमिट सुख क्यों नहीं प्राप्त होता?

ज्ञान के प्रकाश में मैं अनुभव करूँगा कि मेरा आत्म-समीक्षण एवं विश्वकल्याण का चारण कितना पुष्ट और स्पष्ट हो गया है? तब मैं वीतराग देवों की आज्ञा में रहता हुआ एकावधानता से सम्यक् ज्ञान, दर्शन व चारित्र की आराधना करूँगा, गुणस्थानों के सोपानों पर चढ़ता जाऊंगा और समत्व योग के माध्यम से अमिट शान्ति एवं अक्षय सुख को प्राप्त कर लूंगा।

सूत्र आठवां

मैं ज्ञानपुंज हूं, समत्व योगी हूं। मेरी आत्मा में अज्ञान आया हुआ है, ज्ञान मूल में है और वह ज्ञान भी सामान्य नहीं, अनन्त ज्ञान है। इसीलिये मैं ज्ञानी ही नहीं; ज्ञानपुंज हूं।

मैं ज्ञानपुंज हूं, अपार ज्ञान का धारक हूं। अज्ञान इस सांसारिकता में मेरे आत्म स्वरूप से संलग्न हुआ है और उसने मेरी ज्ञान शक्ति को आछन्न कर दी है, किन्तु उस अज्ञान को दूर कर देने का सामर्थ्य भी मेरे ही भीतर रहा हुआ है—अंधकार को समाप्त कर देने वाला प्रकाश भी मेरी ही आन्तरिकता में समाया हुआ है। मैं उस प्रकाश का आह्वान करूं —उसे अनावृत्त करने का पुरुषार्थ करूं तो मैं प्रकाश पुंज बन सकता हूं, ज्ञानपुंज हो सकता हूं। ज्ञान पुंज ही प्रकाश पुंज होता है।

मैं ज्ञानपुंज हूं और उसकी ही सम्पूर्ति मे मैं समत्व योगी भी हूं। मेरा सम्यक् ज्ञान ही मेरा पथ दर्शक बनकर मुझे समत्व योग तक पहुंचाता है—समता रस का पान कराता है। मैं अपने ही ज्ञान के उत्तरोत्तर उर्ध्वगामी सोपानों पर आरूढ़ होता हुआ समत्व को प्राप्त करता हूं तो शिखर पर पहुंच कर समत्व—योगी बन जाता हूं।

मैं ज्ञानपुंज हूं, समत्व योगी हूं। मेरा ज्ञान ही चारित्र में ढलता है, मुझे चारित्र्यशील बनाता है और ज्ञान एवं चारित्र का गतिशील सामंजस्य स्थापित कर देता है। मेरा ज्ञान मेरी आत्मा की आंखें बन जाता है और मेरा चारित्र उसके सशक्त पांव—तब समता के मार्ग पर उसकी दौड़ आसान हो जाती है। मेरी आत्मा तब समतावादी से समता धारी और समता धारी से समतादर्शी हो जाती है। समतादर्शी हो जाना ही समत्त्व योग की चरम परिणति होती है। मैं समत्व योगी हो जाता हूं।

मैं समत्व योगी हूं। इसी योग के सुफल स्वरूप मुझे अमिट शान्ति मिलती है और मिलता है अक्षय सुख। उस शान्ति और सुख का मैं तब शाश्वत धनी हो जाता हूं। वह शान्ति मुझसे फिर कभी विलग नहीं होती, वह सुख मुझे फिर कभी नहीं छोड़ता—सदा शान्ति, सदा सुख मेरी ज्योतिर्मयी आत्मा के सतत साथी बन जाते हैं।

मैं समत्व योगी होता हूं तो सबको-सभी जीवों एवं पदार्थों को यथावत् रूप में समता की दृष्टि से देखता हूं, सबका हित चिन्तन करता हूं और अभिलाषा रखता हूं कि सभी अपने सम्यक् ज्ञान को जगावें, सम्यक् चारित्र को सक्रिय बनावें और समता के प्रशस्त पथ पर बढ़ चलें।

मैं ज्ञानपुंज होना चाहता हूं और समत्व योग तक सफलता पूर्वक पहुंचना चाहता हूं, इसी कारण अपने लिये भी चाहता हूं और सभी भव्य जीवों के लिये भी चाहता हूं कि ज्ञान और क्रिया (चारित्र) का श्रेष्ठ समन्वय किया जाय और दोनों को एकरूपता में ढाल कर आत्मविकास का शक्तिशाली माध्यम बना दें।

मैं अपने ज्ञान और समता (दया या क्रिया) के संयोग से जानता हूं कि पहले ज्ञान और फिर दया (क्रिया) की आवश्यकता होती है क्योंकि मैं अपने ज्ञान के प्रकाश में ही सुयोग्य क्रिया का

चयन करता हूं। ज्ञान के बिना ही क्रिया को पकड़ लूंगा तो मैं उसके सही स्वरूप को नहीं जान पाऊंगा और उस क्रिया की शक्ति को भी नहीं पहिचान पाऊंगा कि वह मुझे मेरी आत्म-विकास की महायात्रा में सफलता दिला सकेगी अथवा नहीं। इसके विपरीत केवल ज्ञान को ही पकड़ लूंगा तो प्रकाश अवश्य फैल जायगा किन्तु क्रिया के अभाव में गति नहीं पकड़ सकूंगा। प्रकाश में ही सही— लेकिन अपने प्रस्थान के स्थान पर ही ठहरा रहूंगा तो अपने गंतव्य तक पहुंचूंगा कैसे? समत्व योग तक पहुंचूं—उसके लिये मुझे प्रकाश भी चाहिये और गति भी। मुझे न अंधकारपूर्ण गति चाहिये और न प्रकाशपूर्ण स्थिति। मेरा ज्ञान और मेरी समता ही परस्पर जुड़ कर मेरी आत्मा को ऊर्ध्वगामी प्रगति प्रदान करेंगे। क्योंकि ज्ञान और क्रिया—दोनों की एकरूप क्रियाशीलता से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ज्ञान और क्रिया के सहयोगी स्वरूप का एक रूपक है। एक वीहड़ जंगल में एक लंगड़ा व्यक्ति पड़ा हुआ था, वह पास के नगर में पहुंच कर सुख से जीवन विताना चाहता था। उसे नगर तक पहुंचने का सही मार्ग भी मालूम था, लेकिन वह एक कदम भी चल नहीं सकता था, इसलिये नगर में पहुंचे तो पहुंचे कैसे? उसकी मार्ग की सही जानकारी और सुख पाने की अभिलाषा भी उसके कुछ काम नहीं आ रही थी। वह असहाय वना चारों ओर नजर घुमा रहा था कि कहीं उसका कोई सहायक मिल जाय। अचानक उसे कुछ दूरी पर एक दूसरा व्यक्ति दिखाई दिया। वह कभी एक पड़े से टकरा रहा था तो कभी किसी झाड़ी में गिर रहा था। कभी वह पत्थर से ठोकर खा जाता तो कभी उसका सिर किसी नीची डाल से टकरा जाता। कभी वह गिरते-गिरते बच जाता तो कभी गिर कर अपने घुटने तोड़ ही डालता। वह लहूलुहान था। उसकी वह दुर्दशा देखकर लंगड़ा व्यक्ति चौंक उठा।

उसके दिमाग में एक नया ही विचार कौंधा। वह लंगड़ा व्यक्ति समझ गया कि सामने से आने वाला व्यक्ति जरूर ही अंधा है। उसने देखा कि इतनी ठोकरें खाते रहने पर भी उसके पांवों में अच्छी ताकत है, क्योंकि तव भी वह काफी स्थिर गति से चल रहा था। उसने विचार किया कि अगर वे दोनों मिल जाय तो उसकी अभिलाषा पूरी हो सकती है। उसने अंधे व्यक्ति को जोर से पुकारा कि वह उसके पास चला आवे। फिर पुकारता रहा ताकि आवाज के सहारे वह उस तक पहुंच सके। धीरे-धीरे वह अंधा व्यक्ति भी उसके पास पहुंच गया। वह बहुत घवरा रहा था। उसने पूछा—तुम कौन हो? तुमने मुझे यहां क्यों बुलाया है? लंगड़ा व्यक्ति उसके हाव भाव समझ कर बोला—पहले मैं पूछूं कि तुम जंगल में क्या कर रहे थे? अपनी खोज खबर लेने की हार्दिकता से अंधे व्यक्ति का दिल भर आया, रूंधे हुए कंठ से वह बोला—भाई, तुम देख रहे होवोगे कि मैं अंधा हूं। अपनी गलत हठ के कारण मैं घर से रवाना हो गया और इस जंगल में भटक गया। अव तुम्हीं मुझे पार लगादो और पास के नगर तक पहुंचा दो।

एक ठंडी आह भर कर लंगड़े व्यक्ति ने अपनी सहानुभूति का हाथ अंधे व्यक्ति की पीठ पर फिराया और कहा—भाई, तुम देख नहीं पा रहे हो, लेकिन मैं भी तुम्हारी ही तरह अशक्त हूं। मैं भी पास के नगर तक जाना चाहता हूं किन्तु चल नहीं सकता हूं। मैं लंगड़ा हूं, इसीलिये यहाँ पड़ा हुआ हूं। अंधे व्यक्ति की व्याकुलता भी फूट पड़ी —भाई, हम दोनों दुखी हैं, फिर भी क्या हुआ? दोनों मिल जायं तो कोई न कोई राह निकल ही आयगी। लंगड़े व्यक्ति ने कहा—राह तो मैंने सोच भी ली है भाई, अगर तुम मान जाओ तो बेड़ा पार हो सकता है।

अंधा व्यक्ति खुशी के मारे लंगड़े व्यक्ति से लिपट गया क्योंकि वह अपने अंधेपन के भारी कष्टों को भुगत चुका था और बोला—लो भाई हम दोनों लिपट कर एक हो गये हैं, अब बताओ राह। लंगड़े व्यक्ति ने तब समझाते हुए कहा—मेरे पांव नहीं है और तुम्हारे पांव हैं। तुम्हारे आंखें नहीं है, और मेरी आंखें हैं। मैं तुम्हारी आंखें बन जाऊं और तुम मेरे पांव बन जाओ —बस हम दोनों चल पड़ेंगे। फिर जहां भी हम पहुंचना चाहेंगे, खुशी से पहुंच सकेंगे।

फिर क्या था ? अंधे ने लंगड़े को अपने कंधों पर बिठा लिया। फिर लंगड़ा स्पर्श के संकेतों से अंधे को रास्ता बताता रहता और अंधा अपने मजबूत पांवों से चलता रहता। एक की चमकदार आंखें और दूसरे के मजबूत पांव जब तक अलग अलग थे, दोनों व्यर्थ हो रहे थे और बीहड़ जंगल में पड़े हुए थे—भटक रहे थे। लेकिन जब दोनों एक हो गये तो गति बन गई—केवल गति ही नहीं, सुमार्गगामी गति बन गई।

मैं सोचता हूं कि ज्ञान लंगड़ा होता है और क्रिया अंधी। ज्ञान चल नहीं सकता और क्रिया देख नहीं सकती। क्रिया बिना ज्ञान ठहरा रहेगा और ज्ञान के बिना क्रिया भटकती रहेगी। और जब दोनों एक बन जायेंगे तो सीधे और सपाट मार्ग पर तीव्र गति से प्रगति कर लेंगे।

मैं ज्ञानपुंज हूं इसीलिये ज्ञान को साधता हूं—प्रकाश की किरणें फैलाता हूं। ज्ञान के प्रकाश में ही मैं सत्य मार्ग की शोध करता हूं और अपने शाश्वत गंतव्य का निर्धारण करता हूं। मैं समत्व योगी हूं, तभी तो आचरण की महत्ता को समझता हूं —गति के आनन्द का अनुभव लेता हूं। प्रकाश और प्रगति मेरे सहचर बन जाते हैं।

मैं ज्ञानपुंज और समत्व योगी बनने की अपनी आत्मिक शक्ति को पहचान चुका हूं तो मेरा दृढ़ विश्वास बनता है कि मैं एक दिन ज्ञान पुंज और समत्व योगी बन भी जाऊंगा।

मैं ज्ञानपुंज और समत्व योगी बन जाऊंगा किन्तु कब ? मैं ज्ञान और क्रिया की समवेत साधना करूंगा और वह भी उन वीतराग देवों की आज्ञा में रहकर— जिन्होंने स्वयं ने ऐसी समवेत साधना सिद्ध की और संसार के समक्ष न सिर्फ अपना आदर्श ही प्रस्तुत किया, अपितु वह सुपथ भी प्रशस्त किया है जिस पर चलकर सभी भव्य आत्माएं ज्ञानपुंज और समत्व योगी बन सकती हैं। मैं भी उसी पथ पर अटल निश्चय और निश्चल गति से आगे बढ़ूंगा—मोक्ष-पथगामी बनूंगा।

मोक्ष का राजमार्ग

मेरा ज्ञान सजग बनता है और मैं यह जानना चाहता हूं कि मोक्ष क्या है ? और वहां पहुंचने का राजमार्ग कौनसा है ? मैं आप्त वचनों का स्मरण करता हूं और जानता हूं कि सम्यक् ज्ञान सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र और तप—ये चारों मोक्ष मार्ग अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के उपाय हैं जिनकी आराधना करने से आत्मस्वरूप का विकास होता है। सम्यक् ज्ञान द्वारा आत्मा जीव अजीव आदि तत्त्वों व पदार्थों को जानती है, सम्यक् दर्शन द्वारा उन पर श्रद्धा करती है, चारित्र द्वारा नवीन कर्मों को आने से रोकती है तथा तप द्वारा पुराने कर्मों को क्षय करके शुद्ध स्वरूपी बनती है।

मैं चिन्तन करता हूं कि जब मैं जीव, अजीव आदि तत्त्वो को भलीभांति जान लेता हूं तो सव जीवों की नानाविध नरक तिर्यंच आदि गतियों को भी जान लेता हूं और तदनुसार पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष को भी जान लेता हूं। जब मैं पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष को जान लेता हूं तो देवता और मनुष्य सम्वन्धी समस्त काम भोगों को असार जानकर उनसे विरक्त हो जाता हूं एवं माता पिता

व सम्पत्ति रूप बाह्य संयोग तथा राग द्वेष कषाय रूप आभ्यान्तर संयोग को भी छोड़ देता हूं। जब मैं उक्त बाह्य एवं आभ्यन्तर संयोग को छोड़ देता हूं तो मुंडित होकर अनगार वृत्ति (मुनिधर्म) को अंगीकार कर लेता हूं। जब मुंडित होकर अनगार वृत्ति को अंगीकार करता हूं तो मैं सर्व प्राणातिपात आदि विरति रूप उत्कृष्ट संवर—चारित्र धर्म का यथावत् पालन करता हूं और चारित्र धर्म के इस पालन के साथ मैं मिथ्यात्व रूप कलुष परिणाम से आत्मा के साथ लगे हुए कर्म रज को झाड़ देता हूं। कर्म क्षय के पश्चात् अशेष वस्तुओं को विषय करने वाले केवल ज्ञान और केवल दर्शन की प्राप्ति होती है। यह प्राप्ति आत्मा को जिन और केवली बनाकर लोक और अलोक का सम्पूर्ण ज्ञान करा देती है। केवल ज्ञानी अपनी स्थिति पूरी होने पर मन, वचन, काया रूप योगों का निरोध करता है तथा शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है। तदनन्तर अशेष कर्मों का सर्वथा क्षय करके वह कर्म रहित होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। तब वह सिद्ध गति में रहने वाला शाश्वत सिद्ध हो जाता है।

मोक्ष मार्ग पर प्रस्थान करने से लेकर गंतव्य तक पहुंचने का इस प्रकार मैं संक्षिप्त विवरण जानता हूं और इस पर मनन करता हूं। इसी का सार रूप संक्षिप्ततम विवरण भी मुझे वीतराग-वाणी में मिलता है जो इस प्रकार है—(१) सत्संग से धर्मश्रवण (२) धर्म श्रवण से तत्त्व ज्ञान (३) तत्त्वज्ञान से विज्ञान विशिष्ट तत्त्व बोध (४) विज्ञान से प्रत्याख्यान सांसारिक पदार्थों से विरक्ति तथा व्रत ग्रहण (५) प्रत्याख्यान से संयम (६) संयम से अनाश्रव-नवीन कर्मागमन का अभाव (७) अनाश्रय से तप (८) तप से पूर्व बद्ध कर्मों का नाश (६) पूर्वबद्ध कर्मनाश से निष्कर्मता—सर्वथा कर्मरहित स्थिति और (१०) निष्कर्मता से मोक्ष-सिद्धमुक्त अवस्था।

मैं इस रूप में मोक्ष प्राप्ति का मार्ग जानता हूं ज्ञान और क्रिया का —इसमें श्रद्धा को स्थान देने से रत्न त्रय की रचना होती है याने कि सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र—ये तीन मोक्ष के मार्ग हैं। तप को चारित्र में समाहित कर लिया जाता है। रत्नत्रय का सरल अर्थ मैं इस रूप में करता हूं कि मैं सही जानूं और जो सही जानूं उसे मानूं— उस पर अपनी आस्था बनाऊं क्योंकि केवल जानना ही कार्य करने के लिए पर्याप्त नहीं होता है —उस जानने को मन से मानना भी जरूरी है। इस प्रकार जो मैं जानूं और मानूं, वैसा ही करूं। जब ज्ञान, आस्था और कर्म (कार्य) का संगम होता है तथा इनकी एकरूपता सधती है तब कोई भी साध्य कठिन नहीं रहता। मोक्ष का साध्य भी इनकी उत्कृष्ट साधना से सिद्ध होता ही है।

यों मोक्ष प्राप्ति में पांच कारणों का संयोग होना भी बताया गया है —(१) कालसमयावधि की परिपक्वता, (२) स्वभाव—अपने भाव में स्थिति की अवस्था (३) नियति—भाग्य (४) पूर्वकृत कर्मक्षय—पहले के संचित कर्मों का नाश तथा (५) पुरुषकार—पुरुषार्थ। इनमें से किसी एक, दो या पांच से कम कारणों के मिल जाने पर भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। पांचों कारणों का संयोग तद् हेतु आवश्यक है।

मैं जानता हूं कि अनादि काल से जीव निगोद आदि गतियों में परिभ्रमण कर रहा है। कई जीव ऐसे हैं जिन्होंने स्थावर अवस्था को छोड़कर त्रस अवस्था को भी प्राप्त नहीं की है। अतः त्रसत्व आदि मोक्ष के पन्द्रह अंग बताये गये हैं। जिनकी प्राप्ति भी बहुत कठिन होती है—

(१) जंगमत्व (त्रसत्व)—निगोद तथा पृथ्वीकाय आदि को छोड़कर जंगम अवस्था (द्वीन्द्रिय आदि) को प्राप्त करना।

(२) पंचेन्द्रियत्व—जंगम अवस्था (द्वीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक) से निकल कर पंचेन्द्रियपना प्राप्त होना।

(३) मनुष्यत्त्व—पंचेन्द्रिय अवस्था प्राप्त होने के बाद भी नरक, तिर्यंच आदि गतियों से निकल कर दुर्लभ मनुष्य भव मिलना।

(४) आर्यदेश—मनुष्य भव भी अनार्य (संस्कृतिविहीन) देश में न मिलकर धर्म संस्कृति से समुन्नत आर्य देश में मिले।

(५) उत्तम कुल—नीच कुल की अपेक्षा धर्म क्रिया की यथासाध्य सामग्री जहां प्राप्त हो—ऐसे उत्तम कुल का प्राप्त होना।

(६) उत्तम जाति—पितृपक्ष को कुल और मातृपक्ष को जाति कहते हैं जिसके अनुसार जाति भी सुसंस्कारयुक्त मिले।

(७) रूप-समृद्धि —पांचों इन्द्रियों की पूर्णता, समर्थता एवं सम्पन्नता को रूप समृद्धि कहते हैं ताकि धर्माराधना यथाविधि की जा सके। विकलांगता से धर्म क्रियाओं में बाधा पड़ती है।

मोक्ष तत्त्व का विचार उसके निम्न नौ द्वारों से भी किया जाता है —

(१) सत्पद प्ररूपणा—मोक्ष सत्स्वरूप है क्योंकि मोक्ष शुद्ध एवं एक पद है। एक पद वाले सभी सत्स्वरूपी होते है। इस द्वार का वर्णन चौदह मार्गणाओं द्वारा भी किया जाता है जो इस प्रकार है—गति (चार) इन्द्रिय (पांच) काय (छः) योग (तीन) वेद (तीन) कषाय (चार) ज्ञान (आठ) संयम (सात) लेश्या (छः) भव्य (दो) सम्यक्त्त्व (छः), संज्ञी (दो) तथा आहार (दो)। इन ६२ भेदों में से जीव को मोक्ष में पहुंचाने वाली मार्गणाएं हैं—मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस काय, भव्यसिद्धिक, संज्ञी, यथाख्यात चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्त्व, अनाहारक, केवल ज्ञान और केवल दर्शन। कषाय, वेद, योग, और लेश्या मार्गणाओं से जीव कभी मोक्ष में नहीं जा सकता।

(२) द्रव्य द्वार—सिद्ध जीव अनन्त हैं।

(३) क्षेत्र द्वार—लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में सब सिद्ध अवस्थित हैं।

(४) स्पर्शन द्वार—लोक के अग्रभाग में सिद्ध रहे हुए हैं।

(५) काल द्वार—एक सिद्ध की अपेक्षा से सिद्ध जीव सादि अनन्त हैं और सब सिद्धों की अपेक्षा से सिद्ध जीव अनादि अनन्त हैं।

(६) अन्तर द्वार—सिद्ध जीवों में अन्तर नहीं है। सब सिद्ध केवल ज्ञान और केवल दर्शन की अपेक्षा से एक समान हैं।

(७) भाग द्वार—सिद्ध जीव संसारी जीवों के अनन्तवें भाग हैं।

(८) भाव द्वार—सिद्ध जीवों में पांच भावों में से दो भाव —केवल ज्ञान व केवल दर्शन रूप क्षायिक भाव तथा जीवत्त्व रूप पारिणामिक भाव ही होते हैं।

(९) अल्प वहुत्त्व द्वार—सबसे थोड़े नपुंसक सिद्ध, स्त्री सिद्ध उनसे संख्यात गुणे अधिक तथा पुरुष सिद्ध उनसे संख्यात गुणे हैं।

इस प्रकार मोक्ष के राजमार्ग तथा मोक्ष के स्वरूप पर मैंने चिन्तन किया है तथा ज्ञान लिया है कि क्रमिक विकास करती हुई आत्मा जब गुण स्थानों के सोपानों (गुणस्थानों का विस्तृत

वर्णन आगे इसी अध्याय में है) पर चढ़ती हुई चार घाती कर्मों को नष्ट कर लेती हैं, तब उसके स्वरूप पर पड़े ज्ञान, दर्शन, मोह और अन्तराय के आवरण हट जाते हैं तथा उसके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र एवं अनन्त शक्ति के मूल गुण प्रकट हो जाते हैं। तेरहवें व चौदहवें गुणस्थानों में गति पूरी करके आत्मा शेष चार कर्मों का भी क्षय कर लेती है। तब उसमें सिद्धों के चार गुण प्रकट होते हैं—अव्याबाध सुख, अनन्त स्थिति, अरूपीत्व तथा अगुरुलघुत्व। यों मुक्तात्मा के आठ गुण हो जाते हैं।

ऐसे मोक्ष रूपी गंतव्य पर कौन भव्य आत्मा जल्दी से जल्दी नहीं पहुंच जाना चाहेगी? किन्तु यह प्राप्ति पुरुषार्थ के बिना संभव नहीं है तथा आत्मा को यह पुरुषार्थ करना पड़ेगा रत्न-त्रय की साधना में। जानो, मानो और करो का पुरुषार्थी क्रम बिठाना होगा।

रत्न-त्रय की साधना

मैंने समझ लिया है कि सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की युति ही रत्न त्रय कहलाती है तथा रत्न त्रय की साधना ही मोक्ष प्राप्ति की साधना होती है। यह विचारणीय तथ्य है कि यह युति सम्यक् होनी चाहिये वरना बिना सम्यक्त्व के तीनों रत्न नहीं रहते। ज्ञान जीव मात्र में पाया जाता है तथा ऐसा कोई समय नहीं आता, जब जीव ज्ञान रहित हो जाय, क्योंकि ज्ञान का सर्वथा अभाव हो तो जीव जीव नहीं रहेगा, जड़ हो जायगा और जीव कभी भी अजीव (जड़) होता नहीं है। ज्ञान तो होता ही है लेकिन वह मिथ्या ज्ञान भी हो सकता है और सम्यक् ज्ञान भी। मिथ्या ज्ञान को अज्ञान भी कहा जाता है। अतः मिथ्या एवं सम्यक् ज्ञान के अन्तर को समझना आवश्यक है। इस अन्तर को एक शब्द में यों कह सकते हैं कि जब ज्ञान सम्यक् दर्शन से युक्त होता है तब वह सम्यक् ज्ञान हो जाता है।

इस दृष्टि से मैं समझता हूं कि आस्था सही होगी तो ज्ञान भी सही होगा —दर्शन की इस कारण सही होने की अपेक्षा रहती है क्योंकि दर्शन भी मिथ्या और सम्यक् दोनों प्रकार का हो सकता है। मिथ्या दर्शन रहेगा तब ज्ञान भी मिथ्या ही रहेगा। इसलिये सम्यक्त्व की प्रथम अनिवार्यता मानी गई है। मोक्ष का अर्थ होता है आत्म शक्तियों का सम्पूर्ण विकास। इस दृष्टि से इसका यह अर्थ भी हुआ कि आत्म शक्ति के विकास में बाधा डालने वाले तत्त्वों का विनाश। इस अर्थ के अनुसार सम्यक् ज्ञान वह होगा जो आत्म शक्तियों का विकास साधे और मिथ्या ज्ञान वह होगा जो इस विकास में बाधाएं खड़ी करे। यह कसौटी है जिस पर ज्ञान के खरेपन या खोटेपन की हर समय परीक्षा की जा सकती है। सम्यक्त्वधारी आत्मा अपनी प्रत्येक वृत्ति एवं प्रवृत्ति को इस कसौटी पर कसकर उसकी जांच कर सकती है। जिससे भ्रम या संशय समाप्त किया जा सकता है। वैसे भी सम्यक्त्वधारी आत्मा सदा सत्य की शोध में रत रहती है कि वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान ले सके।

मेरी दृढ़ मान्यता है कि जब ज्ञान और दर्शन दोनों में सम्यक्त्व का समावेश हो जायगा तब चारित्र भी निश्चय रूप से सम्यक् बन जायगा। सम्यक्त्वी आत्मा अपने ज्ञान का उपयोग सांसारिक वासनाओं के पोषण में नहीं करती है, अपितु उसे अपने आध्यात्मिक विकास में नियोजित रखती है। किन्तु सम्यक्त्व रहित आत्मा का व्यवहार इसके विपरीत होता है। कई बार उसका ज्ञान सही भी होता है किन्तु आस्था सही नहीं होने से वह अपने मत के प्रति दुराग्रही होती है तथा दूसरों की सही

सम्मति को भी तुच्छ समझती है। वह अपने ज्ञान का उपयोग सांसारिक वासनाओं की पूर्ति में करती है। सम्यक्त्वधारी आत्मा का प्रमुख उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति का होता है अतः उसका सारा पुरुषार्थ इसी ओर लगा रहता है चाहे वह सांसारिक शक्तियों से सम्बन्धित हो अथवा आध्यात्मिक शक्तियों से सम्बन्धित। इस प्रकार उद्देश्यों की भिन्नता के आधार पर ही ज्ञान मिथ्या अथवा सम्यक् कहलाता है।

सम्यक् ज्ञान की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि प्रमाण और नय से होने वाला जीवादि तत्वों का यथार्थ ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है जो वीर्यान्तराय कर्म के साथ ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने से उत्पन्न होता है। अतः प्रमाण और नय के द्वारा वस्तु स्वरूप को जानना सम्यक् ज्ञान है। तब यह समझें कि प्रमाण और नय क्या है? जो ज्ञान शब्दों में उतारा जा सके या जिसमें वस्तु को उद्देश्य और विधेय रूप में कहा जा सके उसे नय कहते हैं। उद्देश्य और विधेय के विभाग के विना ही जिसमें अविभक्त रूप से वस्तु का भाव हो उसे प्रमाण कहा जाता है। दूसरे शब्दों में जो ज्ञान वस्तु के अनेक अंशों को जाने वह प्रमाण ज्ञान है तथा अपनी विवक्षा से किसी एक अंश को मुख्य मानकर व्यवहार करना नय है। नय और प्रमाण दोनों ज्ञान हैं। किन्तु वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म को ग्रहण करने वाला नय है और अनेक धर्मों वाली वस्तु का अनेक रूप से निश्चय करना प्रमाण है। जैसे दीपक में नित्य धर्म भी रहता है और अनित्य धर्म भी। यहां अनित्यत्त्व का निषेध न करते हुए अपेक्षावश दीपक को नित्य कहना नय है। प्रमाण की अपेक्षा दीपक नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों धर्मों वाला होने से उसे नित्यानित्य कहा जायगा।

नयों के निरूपण का अर्थ है विचारों का वर्गीकरण, अतः नयवाद का अर्थ हुआ विचारों की मीमांसा। इस वाद में विचारों के कारण, परिणाम या विषयों की पर्यालोचना मात्र नहीं है। वास्तव में परस्पर विरुद्ध दीखने वाले किन्तु यथार्थ में अविरोधी विचारों के मूल कारणों की खोज करना ही नयवाद का मूल उद्देश्य है। नय के संक्षेप में दो भेद हैं—(१) द्रव्यार्थिक नय—वस्तु के सामान्य अंश पर किया गया विचार तथा (२) पर्यायार्थिक नय—वस्तु के विशेष अंश पर किया गया विचार। पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का विचार करते समय दोनों प्रकार के नय उपयोग में लिये जाते हैं। नय के विशेष रूप से सात भेद हैं—(१) नैगम नय —जो विचार लौकिक रूढ़ि या संस्कार का अनुसरण करे, (२) संग्रह नय—जो भिन्न-भिन्न वस्तुओं या व्यक्तियों में रहे हुए किसी एक सामान्य तत्त्व के आधार पर सवमें एकता बतावे (३) व्यवहार नय —जो विचार संग्रह नय के अनुसार एक रूप से ग्रहण की हुई वस्तुओं में व्यावहारिक प्रयोजन के लिये भेद डाले। ये तीनों नय सामान्य दृष्टि के होने से द्रव्यार्थिक वर्ग में आते हैं। (४) ऋजुसूत्र नय—जो विचार भूत और भविष्य काल की उपेक्षा करके वर्तमान पर्याय मात्र को ग्रहण करे, (५) शब्द नय —जो विचार शब्द प्रधान, हो और लिंग, कारक आदि शाब्दिक धर्मों के भेद से अर्थ में भेद माने, (६) समभिरूढ़ नय—जो विचार शब्द के रूढ़ अर्थ पर निर्भर न रह कर व्युत्पत्ति के अर्थानुसार समान अर्थों वाले शब्दों में भी भेद माने तथा (७) एवंभूत नय—जो विचार शब्दार्थ के अनुसार क्रिया होने पर ही उस वस्तु को उस रूप में स्वीकार करे।

प्रमाण और नय से जाने गये वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर ही अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का सिद्धान्त आधारित है। वस्तु के विभिन्न धर्मों को जानकर उनका समन्वय करना स्याद्वाद है, कारण

स्याद्वाद पहले वस्तु धर्म के सारे पहलुओं की जानकारी कर लेता है। सभी पहलुओं को सप्तभंगी के रूप में बताये जाते हैं—(१) कथंचित् है (२) कथंचित नहीं है (३) कथंचित् है और नहीं है (४) कथंचित् कहा नहीं जा सकता (५) कथंचित् है फिर भी कहा नहीं जा सकता, (६) कथंचित् नहीं है फिर भी कहा नहीं ज़ा सकता तथा (७) कथंचित् है, नहीं है, फिर भी कहा नहीं जा सकता। वस्तु के विषयभूत अस्तित्व आदि प्रत्येक पर्याय के धर्मों के उक्त रूप में सात प्रकार के ही होने से व्यस्त और समस्त, विधि निषेध की कल्पना से सात ही प्रकार के सन्देह उत्पन्न होते हैं, अतः सात ही प्रकार के उत्तर उपरोक्त सप्तभंगी में दिये गये हैं।

प्रमाण की परिभाषा यह बताई गई है कि यह सच्चा ज्ञान अपना और दूसरों का निश्चय कराता है। प्रमाण ज्ञान वस्तु को सब दृष्टि बिन्दुओं से जानता है अर्थात् वस्तु के सभी अंशों को जानने वाले ज्ञान को प्रमाण ज्ञान कहते हैं। इसके चार भेद कहे गये हैं—

(१) प्रत्यक्ष—अक्ष का अर्थ आत्मा और इन्द्रिय है अतः इन्द्रियों की सहायता के बिना आत्मा के साथ सीधा सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान अवधि ज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान तथा केवल ज्ञान होता है और इन्द्रियों से सीधा सम्बन्ध रखने वाला इन्द्रिय ज्ञान होता है। दोनों ही प्रत्यक्ष होते हैं। आत्मा की सहायता से होने वाला ज्ञान निश्चय में तथा इन्द्रियों की सहायता से होने वाला ज्ञान व्यवहार में प्रत्यक्ष प्रमाण होता है।

(२) अनुमान—लक्षण या कारण को ग्रहण करके सम्बन्ध या व्याप्ति के स्मरण से पदार्थ का जो ज्ञान होता है याने साधन से साध्य का जो ज्ञान होता है, वह अनुमान प्रमाण है।

(३) उपमान—जिसके द्वारा सदृशता से उपमेय पदार्थों का ज्ञान होता है उसे उपमान प्रमाण कहते हैं। जैसे गवय गाय के समान होता है।

(४) आगम—शास्त्र द्वारा होने वाला ज्ञान आगम प्रमाण कहलाता है।

मैं नय और प्रमाण के विश्लेषण से यह जान पाया हूं कि वीतराग देवों ने आत्मा को स्वतंत्र विचार एवं निर्णय का कितना विशाल क्षेत्र सौंपा है? मात्र आगम प्रमाण के सिवाय सभी प्रमाण और नय की कसौटी पर आत्मा को ही सम्यक्त्त्व का ज्ञान करना होता है और उसी रूप में अपनी वृत्तियों को परख कर निर्णय लेना होता है। इस दृष्टि से आत्मा प्रत्येक वस्तु-स्वरूप पर स्वयं चिन्तन करे और निर्णय ले जिसका समाधान सम्यक्त्त्व की कसौटी पर और आगम प्रमाण के अनुसार किया जा सकता है।

मूलतः ज्ञान एवं दर्शन के समन्वित रूप को उपयोग कहा गया है। जो उपयोग पदार्थों के विशेष धर्मों का जाति, गुण, क्रिया आदि का ग्राहक है वह ज्ञान है। जो उपयोग पदार्थों के सामान्य धर्म याने सत्ता का ग्राहक है वह दर्शन है। ज्ञान साकार उपयोग और दर्शन निराकार उपयोग होता है।

ज्ञान के दो भेद किये गये हैं—(१) प्रत्यक्ष व (२) परोक्ष। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना साक्षात् आत्मा से जो ज्ञान हो वह प्रत्यक्ष ज्ञान है जैसे अवधि, मनःपर्यय व केवल ज्ञान। इन्द्रियों और मन की सहायता से जो ज्ञान हो वह परोक्ष ज्ञान है जैसे मति व श्रुत ज्ञान। इस रूप में ज्ञान के पांच भेद हुए।

(१) मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता से योग्य देश में रही हुई वस्तु को जानने वाला ज्ञान। इसे आभिनिबोधिक ज्ञान भी कहते हैं। इसके चार प्रकार हैं —(अ) अवग्रह—सामान्य प्रतिभास के बाद होने वाला अवान्तर सत्ता सहित वस्तु का सर्वप्रथम ज्ञान। जैसे दूर से किसी चीज का ज्ञान होना। (ब) ईहा—सर्वप्रथम ज्ञान में संशय को दूर करते हुए विशेष की जिज्ञासा। दूर से दीखने वाली चीज मनुष्य या पशु ऐसा संशय दूर करके यह जान लेना कि वह मनुष्य होना चाहिये। (स) अवाय-ईहा से जाने हुए पदार्थों में यह वही है, अन्य नहीं है। ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान। जैसे यह मनुष्य ही है। (द) धारणा— से जाने हुए पदार्थों के ज्ञान का दृढ़ हो जाना कि जो विस्मृत न हो।

(२) श्रुतज्ञान—वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध द्वारा शब्द से सम्बद्ध अर्थ को ग्रहण कराने वाला इन्द्रिय और मन के कारण से होने वाला ज्ञान। यह ज्ञान मतिज्ञान के बाद होता है तथा शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से उत्पन्न होता है। जैसे कि घट शब्द के सुनने पर या आंख से घड़े को देखने पर उसके बनाने वाले का, उसके रंग का और इसी प्रकार के उससे सम्बन्धित भिन्न भिन्न विषयों का विचार करना श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के दो प्रकार है —(१) अंगप्रविष्ठ श्रुतज्ञान—जिन आगमों में गणधरों ने तीर्थंकर भगवान् के उपदेश को ग्रथित किया है उन आगमों को अंगप्रविष्ठ श्रुतज्ञान कहते हैं। इसमें आचारांग आदि बारह अंगों का ज्ञान सम्मिलित है। (२) अंगबाह्य श्रुतज्ञान द्वादशांगों के बाहर का शास्त्र ज्ञान बाह्य श्रुतज्ञान कहलाता है।

(३) अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, मर्यादा लिये हुए रूपी द्रव्य का ज्ञान। यह मर्यादा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की होती है। इसके दो प्रकार हैं —(१) भव-प्रत्यय अवधिज्ञान—जिस अवधिज्ञान के होने में भव ही कारण हो। जैसे नारकीयों व देवताओं को जन्म से ही अवधिज्ञान होता है (२) क्षयोपशम प्रत्यय अवधिज्ञान—ज्ञान, तप आदि कारणों से मनुष्यों और तिर्यंचों को जो अवधिज्ञान होता है, वह क्षयोपशम प्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। इसे गुण प्रत्यय या लब्धि-प्रत्यय भी कहते हैं।

(४) मनःपर्यय ज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, मर्यादा को लिये हुए संज्ञी जीवों के मनोगत भावों का ज्ञान। इसके दो प्रकार हैं —(१) ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान —दूसरे के मन में सोचे हुए भावों को सामान्य रूप से जानना। जैसे अमुक व्यक्ति ने घड़ा लाने का विचार किया है। (२) विपुल मति मनःपर्यय ज्ञान—दूसरे के मन में सोचे हुए पदार्थ के विषय में विशेष रूप से जानना। जैसे अमुक व्यक्ति ने अमुक रंग का, अमुक आकार वाला या अमुक समय में बना घड़ा लाने का विचार किया है। विचार की विशेष पर्यायों व अवस्थाओं को जानना।

(५) केवलज्ञान—मति आदि ज्ञान की अपेक्षा के बिना, त्रिकाल एवं त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् हस्तामलकवत् (एक साथ हाथ में रखे हुए आंवले के समान) जानने वाला ज्ञान। केवल ज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान होता है।

सम्यक् ज्ञान की महत्ता को हृदयंगम करते हुए मैं जानता हूं कि पहले ज्ञान और उसके वाद क्रिया। यह आत्मा सुनकर कल्याण का मार्ग जानती है और सुनकर ही पाप का मार्ग जानती है, अतः साधक का कर्त्तव्य है कि दोनों मार्गों का श्रवण करे और जो श्रेयस्कर प्रतीत हो उस का आचरण करे। जैसे धागा पिरोई हुई सुई कचरे में पड़ जाने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार

श्रुतज्ञान वाली आत्मा संसार में रहकर भी आत्म स्वरूप को नहीं भुलाती है। ज्ञान इस दृष्टि से आत्म विकास का प्रकाश स्तंभ होता है।

तत्त्वार्थ श्रद्धान् को सम्यक् दर्शन कहा है जो मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। सम्यक् दर्शन हो जाने पर मति आदि अज्ञान भी सम्यक् ज्ञान रूप में परिणत हो जाते हैं। सम्यक् दर्शन हो जाने पर वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयत्न किया जाता है, शरीर को आत्मा से अलग समझा जाता है तथा सांसारिक भोगों को दुःखमय एवं निवृत्ति को सुखमय माना जाता है। सम्यक् दर्शन से आत्मा में ये गुण प्रकट होते हैं—(१) प्रंशम (२) संवेग (३) निर्वेद (४) अनुकम्पा एवं (५) आस्तिक्य।

मैं सम्यक् दर्शन की शुभ भावनाओं से जब अभिभूत होता हूं तो मेरी आस्था दृढ़तर बन जाती है कि जिन्होंने राग-द्वेष, मद, मोह आदि आत्म शत्रुओं को जीत लिया है, वे वीतराग देव मेरे सुदेव हैं, पांच महाव्रत पालने वाले सच्चे साधु मेरे सुगुरु हैं तथा राग-द्वेष रहित वीतराग देवों द्वारा कथित यथार्थ वस्तु स्वरूपमय धर्म ही मेरा सुधर्म है।

मैं मानता हूं कि दृढ़ विश्वास और श्रद्धा सफलता की कुंजी होती है तथा सभी प्रकार की आधि भौतिक एवं आध्यात्मिक सिद्धियों के लिये तो आत्म-विश्वास परमावश्यक है। मोक्ष के लिये भी यह आवश्यक है कि मोक्ष के उपाय में दृढ़ विश्वास हो और यही सम्यक् दर्शन है। विश्वास में जो व्यक्ति डांवाडोल रहता है या हो जाता है, उसकी सफलता भी संदिग्ध बन जाती है। इसलिये सम्यक् दर्शन के पांच दोष बताये गये हैं—(१) शंका—मोक्ष मार्ग में सन्देह करना, (२) कांक्षा—मोक्ष के निश्चित मार्ग को छोड़कर दूसरी बातों की इच्छा करने लग जाना, (३) वितिगिच्छा—धर्माराधन के फल में सन्देह करना, (४) परपाखंडप्रशंसा—धर्महीन ढोंगी (पाखंडी) की लौकिक ऋद्धि को देखकर उसकी प्रशंसा करना, तथा (५) परपाखंडसंस्तव—ऐसे ढोंगी का परिचय करना तथा उसके पास अधिक उठना-बैठना। सम्यक् दर्शन का अर्थ अन्ध विश्वास मैं कतई नहीं मानता हूं क्योंकि अन्ध विश्वास का अर्थ होता है हिताहित, सत्यासत्य अथवा सदोष-निर्दोष का भान नहीं रखना तथा अपने मत का हठ पकड़कर बैठ जाना। जबकि सम्यक् दर्शन का अर्थ है कि जो वस्तु स्वरूप सत्य हो, उसी पर दृढ़ विश्वास करना। मैं सम्यक् दर्शन का श्रद्धान् यही मानता हूं कि जीव आदि तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर उसका मनन करना, परमार्थ का यथार्थ स्वरूप जानने वाले महात्माओं की सेवा भक्ति करना तथा सम्यत्त्व से गिरे हुए पुरुषों एवं कुदार्शनिकों की संगति नहीं करना। सम्यत्त्व विहीन पुरुष को सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और सम्यक् ज्ञान बिना चारित्र-गुण प्रकट नहीं होते। गुणरहित पुरुष का सर्व कर्म क्षय रूप मोक्ष नहीं होता। यह भी कहा है कि चारित्र भ्रष्ट आत्मा भ्रष्ट नहीं है, पर दर्शन भ्रष्ट आत्मा ही वास्तव में भ्रष्ट है। सम्यक् दर्शन धारी आत्मा संसार में परिभ्रमण नहीं करती। सम्यत्त्व धारी आत्मा की भावना सम्यक् होती है, इसलिये उसे सम्यक् या असम्यक् कोई भी बात सम्यक् रूप से ही परिणत होती है।

दर्शन के चार प्रकार बताये गये हैं—(१) चक्षु दर्शन—चक्षु दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर चक्षु द्वारा जो पदार्थों के सामान्य धर्म का ग्रहण होता है, उसे चक्षु दर्शन कहते हैं। (२) अचक्षुदर्शन —अचक्षु दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर चक्षु के सिवाय शेष स्पर्श, रसना, घ्राण और श्रौत्र इन्द्रिय तथा मन से जो पदार्थों के सामान्य धर्म का प्रतिभास होता है, उसे

अचक्षु दर्शन कहते हैं। (३) अवधि दर्शन—अवधि दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को रूपी द्रव्य के सामान्य धर्म का जो बोध होता है, वह अवधि दर्शन है। तथा (४) केवल दर्शन—केवल दर्शनावरणीय कर्म के क्षय होने पर आत्मा द्वारा संसार के सकल पदार्थों का जो सामान्य ज्ञान होता है उसे केवल दर्शन कहते हैं।

कर्मों को नाश करने की चेष्टा को मैं चारित्र धर्म कहता हूं जिसका कारण भूत मूल गुणों तथा उत्तर गुणों का समूह भी है तो धर्म सम्बन्धित क्रियाएं भी। मैं अनुभव करता हूं कि आत्म विकास के मार्ग पर चलने वाले सभी लोग समान शक्ति वाले नहीं होते। कोई इतना दृढ़ होता है जो मन, वचन और काया से सब पापों को त्यागकर एक मात्र आत्म विकास को अपना ध्येय बना लेता है। दूसरा कुछ दृढ़ दुर्वल ऐसा होता है कि सांसारिक इच्छाओं को एकदम रोकने का सामर्थ्य नहीं होने से धीरे-धीरे त्याग करता है। इसी तारतम्य के अनुसार चारित्र के दो भेद किये गये हैं —

(१) सर्व विरति चारित्र, अणगार धर्म या साधु धर्म—सर्वविरति रूप धर्म में पंच महाव्रत होते हैं तथा तीन करण तीन योग (मन, वचन, काया तीनों से न करना, न करवाना तथा न करने का अनुमोदन करना) से त्याग होता है। साधु सदोष क्रियाओं का सम्पूर्ण रूप से त्याग करता है। पूर्ण होने से ही उसके व्रत महाव्रत कहे जाते हैं। ये पांच होते हैं।

(२) देशविरति चारित्र, सागार धर्म या श्रावक धर्म—श्रावक द्वारा आगार सहित व्रतों के पालन को देशविरति चारित्र कहते हैं। पूर्ण त्याग का सामर्थ्य न होने पर भी त्याग की भावना होने से श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार मर्यादित त्याग करता है। साधु की अपेक्षा छोटे होने से श्रावक के व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं। ये बारह होते हैं।

मेरी मान्यता है कि मूल रूप से विरति परिणाम को चारित्र कहते हैं जो अन्य जन्म में ग्रहण किये हुए करम संचय को दूर हटाने के लिये मोक्षाभिलाषी आत्मा को सर्वसावद्य योग से निवृत्त करता है। अन्य अपेक्षा से इसके पांच भेद हैं—

(१) सामायिक चारित्र—आत्मा के प्रतिक्षण अपूर्व निर्जरा से होने वाली आत्म विशुद्धि का प्राप्त होना सामायिक है। सामायिक के क्रियानुष्ठान से आत्मा जन्म मरण के चक्र से होने वाले क्लेश को प्रतिक्षण नाश करती है, चिन्तामणि, कामधेनु एवं कल्पवृक्ष के सुखों का तिरस्कार करती है और निरूपम सुख पाती हुई ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की श्रेष्ठ पर्यायों को प्राप्त होती है। सामायिक चारित्र का अर्थ है सर्व सावद्य व्यापार का त्याग करना एवं निरवद्य व्यापार का सेवन करना। यों तो चारित्र के सभी भेद सावद्य योग विरति रूप हैं और वैसा भेद सामायिक भी है किन्तु जहां दूसरे भेदों के साथ छेद आदि विशेषण होने से नाम और अर्थ से भिन्न बताये गये हैं, वहां सामायिक सामान्य रूप ही है। सामायिक के दो भेद हैं —(१) इत्वरकालिक सामायिक—अल्प काल की सामायिक जिसमें भविष्य में दूसरी वार फिर सामायिक व्रत का व्यपदेश हो। पहले और अन्तिम तीर्थंकरों के तीर्थ में जव तक शिष्य में महाव्रत का आरोपण नहीं किया जाता तब तक उसके इत्वरकालिक सामायिक होती है। तथा (२) यावत् कथिक सामायिक—यावज्जीवन की सामायिक जो शेष बावीस तीर्थंकरों के तीर्थ में होती है, क्योंकि इन शिष्यों को दूसरी बार सामायिक व्रत नहीं दिया जाता।

(२) छेदोपस्थापनिक चारित्र—पूर्व पर्याय का छेद करके जो महाव्रत दिये जाते हैं, उसे छेदोपस्थापनिक चारित्र कहते हैं। इसमें पूर्व पर्याय का छेद एवं महाव्रतों में उपस्थापन-आरोपण होता

है। यह चारित्र प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकरों के तीर्थ में ही होता है। इसके भी दो भेद कहे गये हैं—(१) निरतिचार छेदोपस्थापनिक—जो इत्वर सामायिक वाले शिष्य के एवं एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में जाने वाले साधुओं के व्रतों के आरोपण में होता है तथा (२) सातिचार छेदोपस्थापनिक—जो मूल गुणों की घात करने वाले साधुओं के व्रत के आरोपण में होता है।

(३) परिहार विशुद्धि चारित्र—जिस चारित्र में परिहार तप विशेष से कर्म निर्जरा रूप शुद्धि होती है। इसमें अनैषणीय आदि का परित्याग विशेष रूप से शुद्ध होता है। स्वयं तीर्थंकर भगवान् के सामने पहले जिसने यह चारित्र अंगीकार किया हो, उसके पास ही यह प्रकार भी अंगीकार किया जाता है। नव साधुओं का गण परिहार तप अंगीकार करता है —इनमें से जो चार तप करते हैं, वे पारिहारिक कहलाते हैं। जो चार वैयावृत्य करते हैं, वे अनुपारिहारिक कहलाते हैं। परिहार तप का कल्प अट्ठारह मास में पूर्ण होता है। इस तप के भी दो प्रकार हैं—(१) निर्विश्यमानक परिहार तप—तप करने वाले पारिहारिक साधु निर्विश्यमानक कहलाते हैं और उनका चारित्र निर्विश्यमानक परिहार विशुद्धि चारित्र, एवं (२) निर्विष्टकायिक परिहार तप—तप करके वैयावृत्य करने वाले अनुपारिहारिक साधु और तप करने के बाद गुरु पद पर रहा हुआ साधु निर्विष्टकायिक कहलाता है तथा उसका चारित्र निर्विष्टकायिक परिहार विशुद्धि चारित्र।

(४) सूक्ष्म सम्पराय चारित्र—जिस चारित्र में सम्पराय (कषाय) सूक्ष्म अर्थात् संज्वलन लोभ का सूक्ष्म अंश रहता है। इसके दो भेद हैं —(१) विशुद्धयमान—क्षपक श्रेणी एवं उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाले साधु के परिणाम उत्तरोत्तर शुद्ध रहने से उनका चारित्र सूक्ष्म सम्पराय चारित्र शुद्धयमान कहलाता है, तथा (२) संक्लिश्यमान—उपशम श्रेणी से गिरते हुए साधु के परिणाम संक्लेशयुक्त होते हैं इसलिये उन का सूक्ष्म सम्पराय चारित्र संक्लिश्यमान कहलाता है।

(५) यथाख्यात चारित्र—सर्वथा कषाय का उदय न होने से अतिचार रहित पारमार्थिक रूप से प्रसिद्ध चारित्र यथाख्यात चारित्र कहलाता है। यह अकषायी साधु का निरतिचार यथार्थ चारित्र होता है। इसके भी दो भेद हैं— छद्मस्थ यथाख्यात व केवली यथाख्यात इन दोनों के भी दो-दो प्रकार हैं (१) जो चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से प्राप्त होता है वह उपशांत छद्मस्थ यथाख्यात चारित्र होता है (२) जो चारित्र मोहनीय कर्म की पूर्ण प्रकृतियों के क्षय से प्राप्त होता है साथ ही अप्रतिपाति भी होता है यह केवल ज्ञान के पूर्व की अवस्था होती है।

संयम में बाधक चारित्र कथा को विकथा कहते हैं। चारित्र विकथा के सात भेद हैं —(१) स्त्री कथा काम विकार को बढ़ाने वाली स्त्रियों से सम्बन्धित चर्चा करना जिसमें प्रशंसा और निन्दा दोनों शामिल है। यह जाति कथा, कुल कथा, रूप कथा और वेशकथा के रूप में हो सकती है। स्त्री कथा करने व सुनने वालों को मोह की उत्पत्ति होती है और लोक में भी निन्दा होती है। इससे सूत्र और अर्थ के ज्ञान में हानि होती है, ब्रह्मचर्य में दोष लगता है, संयम से पतन होता है तथा साधु वेश में रहकर अनाचार सेवन करके कुलिंगी हो जाता है।

(२) भक्त (भात) कथा—आहार सम्बन्धी चंर्चा करने से उसमें गृद्धि होती है और आहार किये बिना ही गृद्धि (आसक्ति) के कारण साधु को दोष लगते हैं। इससे लोकनिन्दा भी होती है कि यह साधु जितेन्द्रिय नहीं है। स्वाध्याय, ध्यान आदि छोड़कर आहार की चर्चा करता है। आसक्ति

भाव से उसे षट्जीव निकाय के वध की अनुमोदना भी लगती है और उसका एषणा शुद्धि का विचार भी ढीला होता है। भक्त कथा भी चार प्रकार की होती है —आवाय कथा (भोजन बनाने की विधि की कथा), निर्वाय कथा (अन्न, व्यंजन की विविधता की कथा), आरंभ कथा (जीव हिंसा सम्बन्धी कथा बनाने में) तथा निष्ठान कथा (भोजन में लागत की कथा रुपयों की)।

(३) देश कथा—देश कथा करने से विशिष्ट देश के प्रति राग या दूसरे देश से अरुचि होती है जो कर्म बंध का कारण बनता है। स्वपक्ष व परपक्ष की चर्चा में वादविवाद से कलह भी खड़ा हो सकता है तथा कई प्रकार के दोष लग सकते हैं। इसके भी चार भेद हैं—देशविधि कथा (देश विशेष के भोजन, मणि, भूमि आदि की चर्चा) देश विकल्प कथा (देश विशेष में धान्य उत्पत्ति, सिंचाई साधन, भवन आदि की चर्चा) देश छंद कथा (गम्य, अगम्य विषयक चर्चा) तथा देश नेपथ्य कथा (स्त्री पुरुषों के स्वभाव, शृंगार आदि की चर्चा)।

(४) राज कथा—राजा या राज्य से सम्बन्धित राजनैतिक चर्चा करना। चार प्रकार—अतियान कथा (राजा के नगर प्रवेश व वैभव का वर्णन) निर्याण कथा (नगर से बाहर जाने व ऐश्वर्य का वर्णन) वल वाहन की कथा (राजा की चतुरंगिणी सेना, वाहन आदि का वर्णन) तथा कोष और कोठार की कथा (राजा के खजाने और भंडार का वर्णन)।

(५) मृदुकारुणिकी—पुत्र आदि के वियोग से दुःखी माता आदि के करुण, क्रन्दन की चर्चा।

(६) दर्शनभेदिनी—दर्शन याने सम्यक्त्व में दोष लगे ऐसी चर्चा करना जैसे ज्ञान आदि की अधिकता के कारण कुतीर्थी की प्रशंसा करना।

(७) चारित्रभेदिनी—चारित्र की उपेक्षा या निन्दा करने वाली चर्चा जैसे आज कल साधु महाव्रतों का पालन नहीं कर सकते, साधुओं में प्रमाद बहुत बढ़ गया है आदि।

चारित्र शुद्धि की दृष्टि से धर्मकथा को ही महत्व दिया गया है। यह कथा —चर्चा दान, दया, क्षमा आदि धर्म के अंगों का वर्णन करने वाली तथा धर्म की उपादेयता बताने वाली होनी चाहिये। यह चार प्रकार की है —आक्षेपणी (श्रोता को मोह से हटाकर तत्व की ओर आकर्षित करना आचार, व्यवहार, प्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद की अपेक्षा से) विक्षेपणी (श्रोता को कुमार्ग से सन्मार्ग पर लाना अपने सिद्धान्त के गुणों, स्थापना, अभिप्राय और आस्तिक्य बताकर) संवेगनी (श्रोता में विपाक की विरसता वताकर वैराग्य उत्पन्न करना इहलोक, परलोक, स्वशरीर और पर शरीर के भेदों से) तथा निर्वेदनी (श्रोता में पाप-पुण्य के शुभाशुभ फल को बताकर संसार से उदासीनता पैदा करना भव भवान्तरों की कर्म फल विचित्रता का वर्णन करके)।

मैं इससे रत्न त्रय की महत्ता को जानता हूं और विचार करता हूं कि इसकी सम्यक् साधना कितनी निष्ठा, वैचारिकता, विवेक, संयम तथा तपाराधना से की जानी चाहिये क्योंकि इसी का शुभ परिणाम मोक्ष प्राप्ति में प्रतिफलित होता है।

संसार से मोक्ष कितनी दूर ?

मैंने मोक्ष का स्वरूप जाना है, मोक्ष के राजमार्ग पर आगे बढ़ाने वाली रत्न-त्रय की साधना के स्वरूप को पहिचाना है और अब मैं सोचता हूं कि संसार से मोक्ष की कितनी दूरी है —इसको

भी समझ लूं। मोक्ष प्राप्ति ही इस आत्मा का चरम लक्ष्य है—इस दृष्टि से यदि मैं मोक्ष की दूरी का अनुमान लगा लूं तो अपनी गति की त्वरितता पर ध्यान दे सकूंगा।

संसार से मोक्ष की कितनी दूरी है—यह ज्ञान कोई संख्यात्मक नहीं है कि इतने कोस या मील है सो अमुक गति से चलेंगे तथा इतने समय में उसे पार लेंगे। वस्तुतः यह दूरी गुणात्मक है—पथिक या साधक की स्वयं की गुणपूर्ण साधना पर आधारित है। यह गुणों की साधना जब भी परमोत्कृष्ट बन पड़ेगी, तभी मोक्ष प्राप्त हो जायगा। यों इस आत्मा को संसार के जन्म मरण के चक्र में भ्रमित होते हुए अनन्त समय हो गया है और साधना की परिपक्वता न बन पड़े तो अनन्त समय और निकल सकता है। और यों इस साधना की परमोत्कृष्टता सध जाय तो मोक्ष की दूरी कुछ ही पलों में पूरी हो सकती है।

इसमें भी मैं एक तथ्य पर और सोचता हूं और वह तथ्य यह है कि क्या इस संसार की सभी आत्माएं कभी न कभी मोक्ष में चली जायगी ? यदि कभी न कभी सभी आत्माएं मोक्षगामी बन जायगी तो क्या संसार का अन्त आ जायगा ? आप्त वचनों के अनुसार ऐसा कभी नहीं होगा। आत्माओं के दो वर्ग माने गये हैं—एक तो भवि आत्माएँ और दूसरी अभवि आत्माएँ। भवि आत्माओं में तो कभी न कभी मोक्ष पद प्राप्त कर लेने का सामर्थ्य माना गया है परन्तु अभवि आत्माएं कदापि मोक्ष में नहीं जायगी। वे इस दृष्टि से सामर्थ्य हीन आत्माएं हैं। जैसे चने भिगाये जाते हैं और काफी समय तक भीगते रहने के बाद भी उनमें जो घोरडू (बिना भीगे चने)रह जाते हैं, वे कितने ही पानी में कितनी ही देर रखे जाय, तब भी भीगते नहीं हैं, उसी प्रकार अभवि आत्माएं धर्म-रस में कभी भी भीगती नहीं है और धर्म रस में भीगती नहीं तो मोक्ष भी प्राप्त कर सकती नहीं हैं। इस प्रकार भवि आत्माओं का वर्ग ही मोक्ष प्राप्ति की साधना को सफल बना सकता है और इस साधना की सफलता उनकी अपनी गुण-विकास शक्ति पर निर्भर करती है। पर भव्यात्माएं भी संसार में अनन्त होने से अनन्त भव्यात्माओं के मोक्ष जाने पर भी, संसार कभी भी भव्यात्माओं से खाली नहीं होगा क्योंकि अनन्त भी अनन्त प्रकार का होता है, और अनन्त का कभी अन्त नही होता।

मैं सोचता हूं कि संसार से मोक्ष की दूरी इस रूप में भवि-आत्माएं ही पार करती हैं, इसीलिये इन्हें भव्य आत्माएं कहा गया है। किन्तु भव्य और अभव्य आत्माएं दोनों गुणों के स्थानों या सोपानों पर चढ़ती-उतरती हैं और अपनी भाव—सरणियों की उच्चता एवं निम्नता के अनुसार ऊपर नीचे होती रहती हैं। कभी कभी तो बहुत ऊंचाई तक ऊपर चढ़कर भी कई आत्माएं संसार-मोह के धक्कों में विचलित हो जाती हैं और बहुत नीचे तक गिर जाती हैं। विरली भव्य आत्माएं ही अपनी सुस्थिर गति से ऊपर से ऊपर तक चढ़ती जाती हैं और अन्ततोगत्वा सभी गुण के स्थानों को पार करती हुई मोक्ष के परम पद को प्राप्त कर लेती हैं।

यह सब सोचकर जब मैं ध्यानमग्न होता हूं तो मुझे अनुभूति होती है कि मैं संसार से मोक्ष की इस दूरी को अवश्य ही पार कर सकूंगा और वह भी यथासाध्य शीघ्रातिशीघ्र। मेरी यह अनुभूति ही मुझे अपने आत्म गुणों के विकास की सबल प्रेरणा देती है। इसी अनुभूति के प्रभाव से मैं घनान्धकार में खड़ा हुआ भी प्रकाश की किरणें देखता हूं, प्रकाश पाने के लिये मचलता हूं और प्रकाश को आत्मसात करने लगता हूं। प्रकाश की इस दौड़ में मेरे भीतर और मेरे बाहर का समूचा वातावरण प्रकाशमय होने लगता है। ज्यों-ज्यों प्रकाश का घनत्व और उसकी तेजस्विता अभिवृद्ध

होती है, त्यों-त्यों मेरी आत्मा ऊर्ध्वगामी बनती है। यह ऊर्ध्वगामिता ही उसका मूल स्वभाव या धर्म होता है, जिसकी प्राप्ति के साथ वह गुणों के सोपानों पर भी ऊपर से ऊपर तक चढ़ती हुई चली जाती है।

मुझे इसी प्रकाश की अपेक्षा है। मैं अंधकार से इसी प्रकाश में आगे से आगे बढ़ते रहने का दृढ़ इच्छुक हूं। मैं अंधकार से जागता हूं और उससे दूर हटता हूं तो सांसारिक मोह-व्यामोह से दूर होता हूं तथा उसी परिमाण में कर्म बंधनों से मोक्ष की दिशा में आगे बढ़ता हूं। इसका अर्थ होता है कि मैं विषय-कषाय की आग से दूर होता हूं और सत्कृत्यों की शीतलता को प्राप्त करता हूं। अशान्ति से दूर होता है और शान्ति का रसास्वादन करता हूं। दुःखों की असह्य वेदना को भूलता हूं और आत्म सुख की अनुभूति लेता हूं। यही अवस्था गुण-विकास की होती है।

आत्मा के गुण विकास की अवस्थाएं

आत्मा के गुण-विकास की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान मैं अपने लिये आवश्यक मानता हूं, क्योंकि यह ज्ञान ही मुझे संसार से मोक्ष तक की दूरी के बीच में पड़ने वाले मील के पत्थरों की जानकारी देता है। वीतराग देवों ने ये मील के पत्थर चौदह की संख्या में बताये हैं और यह भी बताया है कि किस प्रकार की साधना के बल पर एक मील के पत्थर से दूसरे मील के पत्थर तक पहुंचा जा सकता है और अपनी प्रगति की निरन्तरता को कैसे बनाई हुई रखी जा सकती है? साधना की उस उत्कृष्टता का स्वरूप भी समझाया गया है कि जिसकी सफल क्रियान्विति से ऊपर की ऊंची चढ़ाई पर पहुंच जाने के बाद पांव फिसल कर नीचे की ढलान पर वापस लुढ़क जाने से भी बचा जा सकता है। इन ऊर्ध्वगामी सोपानों को गुणस्थान् नाम से पुकारा गया है जो चौदह हैं—

गुणस्थानों का द्वारों से विचार

मेरी मान्यता है कि आत्मिक गुणों के इन स्थानों का सभी अपेक्षाओं से विचार किया जाना चाहिये ताकि उनका स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट हो सके। ये सारे गुणस्थान कषाय की तारतम्यता पर प्रमुखतः आधारिक हैं अतः कषाय के बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता, स्थिति, क्रिया, निर्जरा आदि का ज्ञान आवश्यक है।

(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान—जैसे पीलिये रोग वाले को सफेद रंग की वस्तु भी पीली दिखाई देती है, उसी प्रकार मिथ्या दृष्टि वाली आत्मा वस्तु स्वरूप को विपरीत रूप में देखती है। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा की श्रद्धा और ज्ञान की ऐसी विपरीत दृष्टि बनती है। मिथ्यात्वी आत्मा कुदेव में देव बुद्धि, कुगुरु में सुगुरु बुद्धि तथा कुधर्म में धर्म बुद्धि रखती है। आत्मा की इसी अवस्था को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहते हैं।

आश्रव के पांच भेदों में पहला मिथ्यात्व है, जो कर्मों के आगमन का मुख्य स्रोत होता है। इस विपरीत श्रद्धान रूप मिथ्यात्व के पांच भेद होते हैं—आभिग्रहिक —सिद्धान्त का पक्षपात पूर्ण मंडन व खंडन। अनाभिग्रहिक—गुण दोष देखे बिना सब सिद्धान्तों को समान बतलाना। आभिनिवेशिक—अपने पक्ष को असत्य जानते हुए दुराग्रह करना। सांशयिक—देव गुरु के स्वरूप में शंका लाना तथा अनाभोगिक इन्द्रिय—विकल जीवों को रहने वाला मिथ्यात्व। यों मिथ्यात्व दस माने गये हैं जो धर्म, मार्ग, जीव, साधु तथा मुक्तात्मा से सम्बन्धित है। यह विपरीत श्रद्धान् आत्मा को गुणों के निकृष्ट स्थान रूप पहले गुणस्थान में पतित बनाये रखता है।

(२) सास्वादान सम्यक् दृष्टि गुणस्थान—जो आत्मा औपशमिक सम्यक्त्व वाली है किन्तु अनन्तानुवंधी कषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़ कर मिथ्यात्व की ओर झुकती है, वह आत्मा जव तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करती, तब तक सास्वादान सम्यक् दृष्टि कहलाती है। और उसकी इस प्रकार की अवस्था से इस दूसरे गुणस्थान का नाम और लक्षण है। यद्यपि आत्मा का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है तथापि खीर खाकर उसका वमन करने वाले मनुष्य को खीर का विलक्षण स्वाद अनुभव में आता है, उसी प्रकार वैसी आत्मा को भी कुछ काल के लिये सम्यक्त्व गुण का आस्वाद अनुभव में आता है।

(३) मिश्र गुणस्थान—मिश्र मोहनीय कर्म के उदय से जब आत्मा की दृष्टि कुछ सम्यक् और कुछ मिथ्या रहती है, तब इस सम्यक् मिथ्या दृष्टि गुण स्थान (मिश्र) का अस्तित्व रहता है। इस में अनन्तानुबंधी कषाय का उदय नहीं रहने से आत्मा में शुद्धता तो मिथ्यात्व मोहनीय के अर्ध विशुद्ध पुंज का उदय हो जाने से अशुद्धता रहती है। जैसे गुड़ मिले हुए दही का स्वाद कुछ मीठा और कुछ खट्टा होता है, वही अवस्था आत्मा के श्रद्धान् की होती है जो कुछ सच्चा और कुछ मिथ्या होता है। इस कारण से आत्मा वीतराग देवों द्वारा उपदेशित तत्त्वों पर न तो एकान्त रुचि रखती है और न ही एकान्त अरुचि। जैसे नारियल वाले द्वीप के निवासी चावल नहीं जानते सो उसके स्वाद में न रुचि रखते है, न अरुचि, वही अवस्था आत्मा की इस गुणस्थान में वीतराग मार्ग पर होती है। किन्तु यह अवस्था अन्तर्मुहूर्त ही रहती है, फिर सम्यक्त्व या मिथ्यात्व इन दोनों में से जिसकी स्थिति प्रबल होती है उधर आत्मा मुड़ जाती है। अतः इस तीसरे गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की ही मानी गई है।

(४) अविरति सम्यक् दृष्टि गुणस्थान—जो आत्मा सम्यक् दृष्टि होकर भी किसी प्रकार के व्रत नियम को धारण नहीं कर सकती है, वह इस गुणस्थान में रहती है। सावद्य व्यापारों को छोड़ देना और पापजनक कार्यों से अलग हो जाना—यह विरति कहलाता है और यही चारित्र एवं व्रत होता है। इस गुणस्थान में आत्मा अविरति रूप रहती है जिसके सात प्रकार हो सकते हैं—जो लोग व्रतों को न जानते हैं, न स्वीकारते हैं और न पालते हैं ऐसे साधारण लोग जो व्रतों को जानते नहीं, स्वीकारते नहीं किन्तु पालते हैं—ऐसे अपने आप निर्णय लेने वाले बाल तपस्वी जो व्रतों को जानते नहीं किन्तु स्वीकारते हैं और स्वीकार करके पालते नहीं हैं—ऐसे ढीले पासत्थे साधु संयम लेकर निभाते नहीं जिनको व्रतों का ज्ञान नहीं है किन्तु उनका स्वीकार और पालन बराबर करते हैं ऐसे अंगीतार्थ मुनि जो व्रतों को जानते हुए भी उनका स्वीकार तथा पालन नहीं करते जो व्रतों को जानते हुए भी उनका स्वीकार नहीं कर सकते किन्तु पालन करते हैं जो व्रतों को जान कर स्वीकार कर लेते हैं किन्तु बाद में उसका पालन नहीं कर सकते। व्रत की सफलता का रहस्य सम्यक् ज्ञान, सम्यग्ग्रहण तथा सम्यक् पालन में निहित होता है—किसी एक की भी कमी से व्रताराधन का पूरा फल नहीं होता है। उपरोक्त सात प्रकार के अविरतों में से पहले चार अविरत जीव तो मिथ्यादृष्टि ही हैं क्योंकि व्रतों का यथार्थ ज्ञान ही नहीं है। पिछले तीन प्रकार के अविरत सम्यक् दृष्टि हैं क्योंकि वे व्रतों का यथाविधि ग्रहण या पालन न कर सकने पर भी उन्हें अच्छी तरह जानते हैं। इस गुणस्थान में कोई औपशमिक सम्यक्त्व वाला होता है तो कोई क्षायिक सम्यक्त्व वाला। व्रतों के ज्ञान के बावजूद भी पालन आत्मा इसलिये नहीं करती कि उसमें अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता है और उसके उदय में रहते चारित्र का ग्रहण और पालन अवरुद्ध रहता है।

(५) देशविरत गुणस्थान—प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जो आत्मा पापजनक क्रियाओं से सर्वथा निवृत्त न होकर एक देश से निवृत्त होती है, वह उसका देशविरति अथवा श्रावक व्रत होता है। कोई श्रावक एक व्रत को धारण करता है अथवा एकाधिक व्रत भी अंगीकार करता है किन्तु उसका यह त्याग दो करण तीन योग (अनुमोदन का त्याग नहीं) से होता है। अनुमोदन या अनुमति तीन प्रकार की है— प्रतिसेवनानुमति—अपने या दूसरे के लिये बने हुए भोजन आदि का उपभोग करना। प्रतिश्रवणानुमति—पुत्र आदि किसी सम्बन्धी द्वारा किये गये पाप कर्म को सुनकर भी पुत्र आदि को उस पाप कर्म से नहीं रोकना तथा संवासानुमति—जो श्रावक पाप जनक आरंभों में किसी प्रकार से योग नहीं देता, केवल संवासानुमति को सेवता है, वह अन्य सब श्रावकों से श्रेष्ठ है।

(६) प्रमत्त संयत गुणस्थान—जो आत्मा पापजनक व्यापारों से सर्वथा निवृत्त हो जाती है वही संयत (मुनि धर्म का पालन करती हुई) होती है। संयत होने पर भी जब तक प्रमाद का सेवन चलता है तब तक वह प्रमत्त संयत कहलाती है और उसका यह छठा गुणस्थान होता है। संयत (मुनि) को सावद्य व्यापार का सर्वथा त्याग होता है —वह संवासानुमति का भी सेवन नहीं करता। इस गुणस्थान से लेकर आगे तक किसी भी गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नहीं रहता।

(७) अप्रमत्त संयत गुणस्थान—जो मुनि निन्द्रा, विषय, कषाय, विकथा आदि प्रमादों का सेवन नहीं करते, वे अप्रमत्त संयत होते हैं और उनका स्वरूप इस गुणस्थान वाला होता है। आत्मा में अशुद्धि का कारण प्रमाद होता है।और प्रमाद छूटने से आत्मा की विशुद्धि बढ़ने लगती है। यही कारण है कि इस सातवें गुणस्थान से आत्मस्वरूप उत्तरोत्तर विशुद्ध होने लगता है तथा इस गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में अवस्थित मुनि-आत्माएं प्रमाद का सेवन नहीं करती। वे मुनि जागृत होते हैं।

(८) निवृत्ति बादर गुणस्थान—जिस आत्मा के अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया व लोभ चारों निवृत्त हो गये हों उसके स्वरूप विशेष को निवृत्ति बादर गुणस्थान कहते हैं। इस गुण स्थान से दो श्रेणियां प्रारंभ होती हैं —उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी। उपशम श्रेणी वाली आत्मा मोहनीय की प्रकृतियों का उपशम करती हुई ग्यारहवें गुणस्थान तक जाती है और क्षपक श्रेणी वाली आत्मा मोहनीय कर्म का क्षपण करती हुई दसवें से सीधी बारहवें गुणस्थान में जाकर अप्रतिपाती हो जाती है—नीचे नहीं गिरती है। जो आत्माएं इस आठवें गुणस्थान को प्राप्त कर चुकी है, प्राप्त कर रही है और जो प्राप्त करेगी, उन सबके अध्यवसाय स्थानों की संख्या असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेशों के बराबर है। इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है। जितनी आत्माएं और जितने समय, उतने ही अध्यवसायों के प्रकार। अन्तिम समय तक पूर्व पूर्व समय के अध्यवसाओं से पर-पर समय के अध्यवसाय भिन्न-भिन्न समझने चाहिये तथा पूर्व पूर्व समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों की अपेक्षा पर-पर समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त गुना विशुद्ध समझने चाहिये। आठवें गुणस्थान के समय जीव पांच वस्तुओं का विधान करता है—स्थिति घात —जो कर्म दलिक आगे उदय में आने वाले हैं, उन्हें अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने-अपने उदय के नियत समयों से हटा देना रस घात —बंधे हुए ज्ञानादि कर्मों के प्रचुर रस को अपवर्तना करण के द्वारा मन्द कर देना। गुणश्रेणी—जिन कर्म दलिकों का स्थितिघात किया जाता है उनको प्रथम के अन्तर्मुहूर्त में स्थापित कर देना। गुण संक्रमण—जिन शुभ कर्म प्रकृतियों का बंध अ[illegible] रहा है

उनमें पहले बंधी हुई अशुभ प्रकृतियों का संक्रमण कर देना। अपूर्व स्थिति बंध—पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प स्थिति के कर्मों का बांधना। जैसे राज्य पाने की योग्यता मात्र से राजकुमार राजा कहा जाता है, वैसे ही आठवें गुणस्थान में रही हुई आत्मा चारित्र मोहनीय के उपशमन या क्षपण के योग्य होने से उपशयक या क्षपक कहलाती है। चारित्र मोहनीय के उपशमन या क्षपण का प्रारंभ तो नवें गुणस्थान में ही होता है, आठवें गुणस्थान में तो केवल उसकी योग्यता होती है।

(९) अनिवृति बादर सम्पराय गुणस्थान—केवल संज्वलन क्रोध, मान, माया रूप कषाय से जिस आत्मा की निवृत्ति नहीं हुई हो, वैसी आत्मा की उस अवस्था विशेष को अंनिवृत्ति वादर सम्पराय गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। एक अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं, उतने ही अध्यवसाय स्थान इस गुणस्थान में माने जाते हैं क्योंकि इसमें जितने जीव समसमयवर्ती रहते हैं उन सबके अध्यवसाय एक समान शुद्धि वाले होते हैं। इस गुणस्थान के अन्तिम समय तक पूर्व पूर्व समय के अध्यवसाय स्थान से उत्तर उत्तर समय के अध्यवसाय स्थान को अनन्तगुना विशुद्ध समझना चाहिये। आठवें गुणस्थान की अपेक्षा इस गुणस्थान की यही विशेषता है कि उस गुणस्थान में तो समान समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसाय शुद्धि के तरतमभाव से असंख्यात वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं जबकि इसमें समसमयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों का समान बुद्धि के कारण एक ही वर्ग हो सकता है। कषाय संक्लेश की कमी के साथ साथ परिणामों की शुद्धि बढ़ती जाती है। इस गुणस्थान में विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उसके अध्यवसायों की भिन्नता आठवें गुण स्थान की भिन्नताओं से बहुत कम हो जाती है। दसवें गुणस्थान की अपेक्षा इस गुणस्थान में स्थूल कषाय उदय में आता है तथा नवें गुणस्थान के समसमयवर्ती जीवों के परिणामों में निवृत्ति नहीं होती। इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाली आत्माएं दो प्रकार की होती हैं—एक उपशमक और दूसरी क्षपक। चारित्र मोहनीय कर्म को उपशम करने वाली उपशमक तथा उस का क्षय करने वाली क्षपक।

(१०) सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान—इस गुणस्थान में सम्पराय अर्थात् लोभ कषाय के सूक्ष्म खंडों का ही उदय रहता है और आत्माएं भी उपशमक और क्षपक दोनों प्रकार की होती हैं। संज्वलन लोभ कषाय के सिवाय अन्य कषायों का उपशम या क्षय तो पहले ही हो जाता है, अतः इस गुणस्थान में आत्मा लोभ कषाय का उपशम या क्षय करती है और इसी दृष्टि से वे उपशमक या क्षपक कहलाती है।

(११) उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान—जिनकी कषाय उपशान्त हो गई हैं, जिनको राग अर्थात् माया और लोभ का भी बिल्कुल उदय नहीं है और जिनको छद्म (आवरण भूत घाती कर्म) लगे हुए हैं, वे आत्माएं उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ कहलाती हैं और उनका गुणस्थान यह ग्यारहवां गुणस्थान होता है जिसकी स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मानी गई है। इस गुणस्थान में वर्तमान आत्मा आगे के गुणस्थानों को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होती हैं, क्योंकि जो आत्मा क्षपक श्रेणी पूर्ण करती है, वही आगे के गुणस्थान में जा सकती है। इस गुणस्थान वाली आत्मा नियम से उपशम श्रेणी वाली ही होती है, अतः वह इस गुणस्थान से पतित हो जाती है। इस गुणस्थान का समय पूर्ण होने से पहिले ही जो आत्मा आयुष्य के क्षय होने से काल कर जाती है, वह अनुत्तर विमान में उत्पन्न होती है। उस समय वह ग्यारहवें गुणस्थान से

गिर कर चौथे गुणस्थान को प्राप्त कर लेती है क्योंकि अनुत्तर विमानवासी देवों में चौथा गुणस्थान ही होता है। वहां वह आत्मा उस गुणस्थान की उदय-उदीरणा आदि शुरू कर देती है। किन्तु जिस आत्मा के आयुष्य के शेष रहते इस गुणस्थान का समय पूरा हो जाता है वह आरोह क्रम से गिरती है अर्थात् इस गुणस्थान तक चढ़ते समय उस आत्मा ने जिन-जिन गुणस्थानों को जिस क्रम से प्राप्त किया था या जिन कर्म प्रकृतियों का जिस क्रम से उपशम करके वह ऊपर चढ़ी थी, वे सब प्रकृतियां उसी क्रम से उदय में आती हैं। इस प्रकार गिरने वाली कोई आत्मा बीच के गुण स्थानों में रुक सकती है। तो कोई-कोई पहले गुणस्थान तक गिर जाती है। क्षपक श्रेणी के बिना कोई आत्मा मोक्ष में नहीं पहुंच सकती है और इस गुणस्थान में उपशम श्रेणी वाली आत्मा ही आती है, इस कारण वह अवश्य गिरती है। एक जन्म में दो वार से अधिक उपशम श्रेणी नहीं की जा सकती है और क्षपक श्रेणी तो एक बार ही होती है। जिस आत्मा ने एक बार उपशम श्रेणी की है, वह उसी जन्म में क्षपक श्रेणी द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकती है किन्तु जो दो बार उपशम श्रेणी कर चुकी है, वह फिर उसी जन्म में क्षपक श्रेणी नहीं कर सकती। अन्य सिद्धान्त के अनुसार एक जन्म में एक ही श्रेणी की जा सकती है इसलिये जिसने एक बार उपशम श्रेणी की है, वह फिर उसी जन्म में क्षपक श्रेणी नहीं कर सकती। उपशम श्रेणी के आरंभ का क्रम इस प्रकार है —चौथे, पांचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में वर्तमान आत्मा पहले अनंतानुबंधी कषायों का उपशम करती है। इसके वाद अन्तर्मुहूर्त में एक साथ दर्शन मोहनीय कर्म की तीनों प्रकृतियों का उपशम करती है। तदनन्तर वह छठे सातवें में सैंकड़ों बार आती जाती है, फिर आठवें गुणस्थान में होकर नवें गुणस्थान को प्राप्त करती है और नवें गुणस्थान में चारित्र मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियों की उपशम शुरू करती है। सबसे पहले वह नपुंसक वेद का उपशम करती है, फिर स्त्री वेद का। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुष वेद, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण के क्रोध, मान, माया, लोभ तथा संज्वलन के क्रोध, मान और माया—इन सब प्रकृतियों का उपशम वह नवें गुणस्थान के अन्त तक करती है। संज्वलन लोभ का उपशम वह दसवें गुणस्थान में करती है।

(१२) क्षीणकषायछद्मस्थ वीतराग गुणस्थान—जो आत्मा मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर देती है किन्तु शेष तीनों घाती कर्म अभी विद्यमान हैं उसे क्षीण कषाय छद्मस्थ वीतराग कहते हैं और उस आत्मा का गुणस्थान यह बारहवां होता है। इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और इसमें क्षपक श्रेणी वाली आत्माएं ही आ सकती हैं। क्षपक श्रेणी का कर्म इस प्रकार है—जो आत्मा क्षपक श्रेणी वाली होती है वह चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में सबसे पहिले अनन्तानुवंधी क्रोध, मान, माया और लोभ का एक साथ क्षय करती है। उसके बाद वह अनन्तानुवंधी कषाय के शेष अनन्तवें भाग को मिथ्यात्व में डाल कर दोनों का एक साथ क्षय करती है। आठवें गुणस्थान में वह अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय प्रारंभ करती है। इन आठ प्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने से पहिले ही नवें गुणस्थान को प्रारंभ कर देती है और उसी समय इन सोलह प्रकृतियों का क्षय कर देती है—निद्रा, निन्द्रा प्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरक गति, नरकानुपूर्वी, तिर्यंच गति, तिर्यंचानुपूर्वी, [illegible] नाम कर्म, द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म, त्रीन्द्रिय जाति नाम कर्म, चतुरिन्द्रिय जा[illegible], उधोत, स्थावर, सूक्ष्म, तथा साधारण। तदनन्तर अप्रत्याख्यानावरण और [illegible], माया और लोभ के अवशिष्ट भाग का क्षय करती है। फिर क्रमशः नपुं[illegible]

पुरुषवेद, संज्चलन क्रोध, मान और माया का क्षय करती है और संज्चलन लोभ का क्षय वह दसवें गुणस्थान में करती है।

(१३) सयोगी केवली गुणस्थान—जिन आत्माओं ने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय रूप चार घाती कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान प्राप्त किया है, वे सयोगी केवली कहलाती हैं और उनकी इस अवस्था विशेष को सयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं। योग का अर्थ होता है आत्मा की प्रवृति या व्यापार जिसके तीन साधन हैं, इस कारण तदनुसार योग के भी तीन भेद हैं—मनोयोग, वचन योग तथा काया योग। किसी को मन से उत्तर देने में केवली भगवान् को मन का उपयोग करना पड़ता है। जिस समय कोई मनःपर्ययज्ञानी अथवा अनुत्तर विमानवासी देव केवली को शब्द द्वारा कोई प्रश्न न पूछकर मन से ही पूछता है, उस समय केवली भी उस प्रश्न का उत्तर मन से ही देते हैं। प्रश्न करने वाला उस उत्तर को प्रत्यक्ष जान लेता है और अवधिज्ञानी उस रूप में परिणत हुए मनोवर्गणा के परमाणुओं को देखकर ज्ञात कर लेता है। उपदेश देने के लिये केवली वचन का उपयोग करते हैं। हलन चलन आदि की क्रियाओं में वे काय-योग का उपयोग करते हैं।

(१४) अयोगी केवली गुणस्थान— जो केवली भगवान् योगों से रहित हैं, वे अयोगी केवली कहे जाते हैं। उनकी इस अवस्था एवं स्वरूप विशेष को अयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं। तीनों प्रकार के योगों का निरोध करने से अयोगी अवस्था प्राप्त होती हैं। केवली भगवान् सयोगी अवस्था में जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट कुछ कम एक करोड़ पूर्व तक रहते हैं। इसके बाद जिस केवली के आयुकर्म की स्थिति और प्रदेश कम रह जाते हैं तथा वेदनीय, नाम और गौत्र कर्म की और प्रदेश आयुकर्म की अपेक्षा अधिक बच जाते हैं, वे समुद्धात करते हैं, जिसके द्वारा , नाम और गौत्र की स्थिति आयु के समान कर ली जाती है। जिन केवली आत्माओं के वेदनीय आदि उक्त तीनों कर्मों की स्थिति तथा प्रदेशों में आयुकर्म की समानता होती है, उन्हें समुद्धात करने की आवश्यकता नहीं है, इस लिये वे समुद्धात नहीं करती। सभी केवल ज्ञानी सयोगी अवस्था के अन्त में एक ऐसे ध्यान के लिये योगों का निरोध करते हैं जो परम निर्जरा का कारण, लेश्या से रहित तथा अत्यन्त स्थिरता रूप होता है। योगों के निरोध का क्रम इस प्रकार है— पहले बादर (स्थूल) काय योग से बादर मनोयोग तथा बादर वचन योग को रोकते हैं। बाद में सूक्ष्म काय योग से बादर कामयोग को रोकते हैं और फिर उसी सूक्ष्म कामयोग से क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग तथा सूक्ष्म वचन योग को रोकते हैं। अन्त में सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान के बल से सूक्ष्म काय योग को भी रोक देते हैं। इस प्रकार सब योगों का निरोध हो जाने से केवलज्ञानी अयोगी बन जाते हैं और सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान की सहायता से अपने शरीर के भीतर पोले भाग याने मुख, उदर आदि को आत्मप्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं। इसके बाद अयोगी केवली समुछिन्न क्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान को प्राप्त करते हैं और मध्यम रीति से पांच ह्स्व अक्षरों (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने समय का 'शैलेशीकरण' करते हैं। सुमेरू पर्वत के समान निश्चल अवस्था अथवा सर्व संवर रूप योग निरोध अवस्था को 'शैलेशी' अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में वेदनीय, नाम और गौत्र कर्म की गुण श्रेणी से और आयु कर्म की यथास्थिति श्रेणी से निर्जरा करना शैलेशीकरण है। इसको प्राप्त करके वे चार अघाती या भवोपग्राही या आत्मा को संसार में बांध कर रखने वाले कर्मों का भी सर्वथा क्षय कर देते हैं। इस गुण स्थान में आत्म प्रदेश

इतने घनीभूत हो जाते हैं कि वे उनके शरीर के दो तिहाई भाग में ही समा जाते हैं। उक्त कर्मों का क्षय होते ही वे उसी एक समय में ऋजुगति से ऊपर की ओर सिद्ध क्षेत्र में चले जाते हैं। व अटल अवगाहना रूप से लोकाग्र में स्थिर हो जाते हैं। उसके आगे किसी आत्मा या पुद्गल की गति नहीं होती है क्योंकि आगे गति में सहायक धर्मास्तिकाय नहीं होती। कर्म मल के पूर्णतः हट जाने पर शुद्ध आत्मा की ऊर्ध्व गति इस विन्दु पर आकर अवस्थित हो जाती है।

समत्व योग की अवाप्ति

मेरा चिन्तन अतीव गूढ़ और गंभीर हो जाता है जब मैं आत्म स्वरूप के इन चौदह गुणस्थानों की सूक्ष्मताओं पर बहुत गहराई से विचार करता हूं, क्योंकि यह मुझे ही निश्चित करना होता है कि मैं किस गुणस्थान में वर्तता रहता हूं। गुणस्थानों में ऊपर चढ़ना या नीचे गिरना मेरी अपनी भाव श्रेणियों की उच्चता या निम्नता पर अवलम्बित रहता है। अतः मैं ही अपनी भाव श्रेणी को परखूं, उसकी अशुभता मिटाता रहूं और ऊपर चढ़ता रहूं—यह मेरा ही पुरुषार्थ होता है।

यह मैं जान गया हूं कि मेरा ही सम्यक् ज्ञान और मेरी ही सम्यक् आस्था मुझे मेरे सम्यक् चारित्र में मेरी आत्मा को अवस्थित वनायगी और इस अवस्था को ज्यों-ज्यों मैं ऊर्ध्वगामी बनाता रहूंगा, मेरा समत्व योग भी समुन्नत बनता रहेगा। तो मैं समत्व योग की अवाप्ति करलूं —यह पूरी तरह से मेरे ही ऊपर निर्भर है। इसलिये मुझे अपने दायित्व को समझ कर दृढ़ संकल्प करना होगा कि मैं अपनी विषय वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों के मूल कारणों को समझूं, उन्हें अपनी शुभता व संयमितता से दूर हटाऊं एवं अपने आत्मोत्थान की बागडोर अपने हाथ में मजबूती से सम्हाल लूं। विषमता जितने अंशों में मिटती जायगी, उतने अंशों में मैं समता की अवाप्ति करता जाऊंगा।

मैं अपने ध्यान में लूं कि मेरी सम्पूर्ण विषमता किस प्रकार के काले विचारों से रंगी हुई है? मैं इसके मूल में पांच कारण देखता हूं—ये हैं —मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। मिथ्यात्व सबसे घटाटोप अंधकार की अवस्था होती है क्योंकि वहां आचरण और आस्था की बात तो दूर —सम्यक् ज्ञान के अस्तित्व की ही स्थिति नहीं होती है। अतः तब सर्वथा विषमता का ही साम्राज्य होता है। इस कारण मैं सबसे पहले इस घटाटोप अंधकार में सम्यक्त्व की प्रकाश किरणें खोजूं और उस दिशा में आगे बढ़ते हुए मिथ्यात्व की अटवीं को पार करूं। मैं प्रतिक्षण जागृत भी रहूं कि मेरे कदम कहीं भी पीछे नहीं हटें क्योंकि बार बार ऐसे अवसर आवेंगे जब मेरा ही मन और मेरी ही इन्द्रियाँ सांसारिकता के मोह में उलझ कर मुझे बलात् पीछे धकेलें। मुझे उनका निरोध करना होगा जिसके लिये मेरी अपनी संकल्प शक्ति सुदृढ़ बननी चाहिये। उद्दंड सेवकों को जिस प्राभाविकता एवं कुशलता से अपने नियंत्रण में रखना होता है, अपनी आत्मा के इन सेवकों को वश में रखने के लिये उससे भी अधिक एकाग्र प्राभाविकता एवं सतत जागृत कुशलता की आवश्यकता होगी।

जब मैं विषमता के इस पहले कारण को कमजोर बना दूंगा तो मेरे समक्ष प्रकाश फैलता जायगा और उस प्रकाश में मेरा आत्म विकास का भगीरथ कार्य भी सरल होता जायगा, क्योंकि मैं अपनी आन्तरिकता का दृष्टा बन जाऊंगा और आन्तरिकता को विकृत बनाने वाले विषम तत्त्वों को स्पष्टतः देख पाऊंगा। अंधेरे में कोई भी शत्रु कहीं भी वार कर सकता है और उसका प्रतिकार कठिन हो जाता है लेकिन सम्यक्त्व का प्रकाश मेरा सबसे बड़ा सहायक हो ज

में मैं अविरति के कारण को दूर करूंगा। मैं जान जाऊंगा कि कोरा ज्ञान पंगु होता है और बिना आस्था के वह अज्ञान ही होता है अतः आचरण के धरातल पर मेरे चरण जब चलेंगे तो मेरा आस्थामय ज्ञान अपनी सार्थकता ग्रहण करेगा। आचरण का पहला चरण होता है व्रताराधन याने त्याग का शुभ श्री गणेश। अविरति की अवस्था टूटेगी और मैं व्रतों की उच्चतर श्रेणियों पर चढ़ता रहूंगा। देश विरति याने आंशिक संयम से मैं सर्वविरति अर्थात् साधु जीवन में प्रवेश करूंगा और व्रतों की कठोर आराधना करूंगा।

व्रतों की कठोर आराधना से मेरा प्रमाद टूटेगा। यह प्रमाद अपनी जड़ें जमाता है सांसारिक काम भोगों की वासनाओं की भूमि पर, अतः मैं इस भूमि को ही खोदने लगूंगा। यह भूमि मेरी आत्मा के सिवाय अन्य भूमि नहीं है। मैं मेरे संकल्पों-विकल्पों में से विषयेच्छाओं का अन्त करता चलूंगा। मैं अपने मन और अपनी इन्द्रियों को काम भोगों के रास्ते से पूरी तरह हटा लूंगा तो फिर प्रमाद किस बात का रहेगा? मैं इस आप्तवचन को सदा स्मृति में रखूंगा कि एक समय (काल का सबसे छोटा भाग) के लिये भी प्रमाद नहीं किया जाय, क्योंकि प्रमाद ही पाप के रास्ते पर ढकेलता है। प्रमाद के घटते रहने से मेरी आत्मजागृति निरन्तर बनी रह सकेगी। तभी मुझे अनुभूति होगी कि मुनि किस प्रकार सोते हुए भी जागृत रहते हैं?

मैं मानता हूं कि कषाय समाप्ति का काम सबसे ज्यादा कठिन होता है और इसी विचार से कहा गया है कि कषाय से मुक्ति ही वास्तव में मुक्ति होती है। मुझे इस तथ्य का भलीभांति ज्ञान हो गया है कि यह कषाय आत्म-स्वरूप का पल्ला बड़ी मुश्किल से छोड़ती है कषाय के चारों विकारी तत्त्वों का प्रहार बड़ा घातक होता है। क्रोध, मान, माया और लोभ— साधु अवस्था में भी पीछे पड़े रहते हैं। बार बार नियंत्रित करते रहने पर भी ये फिर फिर भड़क उठते हैं और आत्म स्वरूप पर कालिख का लेप कर देते हैं। सांसारिक क्षेत्रों में तो इनका रूप विकराल बना ही रहता है, लेकिन धार्मिक क्षेत्र में भी यदि इनके रूप को गहराई से समझ कर इन पर अंकुश लगाया हुआ न रखा जाय तो ये पलों में संयमी जीवन की अमूल्य उपलब्धियों को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। कठिन तप का आराधक तपस्वी भी क्रोध के चक्कर में आ जाता है तो संयम से प्रदीप्त साधु भी मान की मार खा जाता है। चाहे धार्मिक अनुष्ठानों पर ही आचरण किया जा रहा हो, माया से अपना वर्चस्व दिखाने की दुर्भावना जाग उठती है तो लोभ आत्मोत्थान की कई सीढ़ियों तक प्रहार कर सकता है। इस दृष्टि से मैं अपने आपको पूर्ण सजग बनाता हूं और इस प्रहारक कषाय को दूर करने में सन्नद्ध रहना चाहता हूं।

यही सावधानी मैं अपने योगों के प्रति भी कायम करना चाहता हूं। ये योग हैं, मेरे अपने मन के विचार, मेरे अपने वचन और मेरे अपने कार्य—ये तीनों मन, वचन और काया इन योगों के माध्यम हैं। जो कुछ भी मैं सोचता हूं तो वैसा ही बोलता हूं और वैसे ही कार्य करता हूं। मन, वाणी और कर्म में ही मेरे आत्म स्वरूप की झलक देखी जा सकती है। ये योग ही अशुभ बने रहकर मुझे नीचे गिराते हैं तो ये योग ही शुभता धारण करके मुझे ऊपर चढ़ाते हैं, योगों की अशुद्धता और शुद्धता पल पल आत्मा के पलड़ों को ऊंचा नीचा करती रहती है जिसके कारण इनके प्रति सावधानी परम आवश्यक है कि ये योग एक ही ऊर्ध्वगामी दिशा की ओर प्रवाहित हों। यह तभी संभव हो सकता है जब मेरी आत्मा अपनी नियंत्रण शक्ति को स्वकेन्द्रित बना ले।

मुझे यदि साम्य योग की सम्पूर्णतः अवाप्ति करनी है तो वीतराग देवों द्वारा उपदेशित संयम और तप के मार्ग पर अपने पुरुषार्थ का प्रयोग करना होगा तथा उनकी आज्ञा में रहकर विषमता के इन पांचों कारणों को घटाना और मिटाना होगा। इस समग्र कारण-निवारण की एक ही रामबाण औषधि है कि मैं अपने मन को वश में करूं—मन गतिशील अवश्य रहे और वह गतिशील रहेगा लेकिन उसकी गति सांसारिक विषयों में न रहकर आत्म विकास की ऊंचाइयों की ओर मुड़ जाय। मुझे अपने सारे पुरुषार्थ का प्रयोग यों समझिये कि इस एकाकी बिन्दु पर लगाना है। इस बिन्दु पर यदि मेरी एकाग्रता जम जाती है तो मैं मान सकता हूं कि मेरी सफलता की जड़ भी जम जाती है। कारण, मन का नियंत्रण ही वचन और काया के नियंत्रण में आसानी से ढल जाता है।

अब मेरी धारणा स्पष्ट हो जाती है कि मन को वश में करके मुझे क्या करना है? इसी संदर्भ में मैं जान जाता हूं कि आत्म विकास के कई सोपान साध लेने पर भी जरा-सी असावधानी किस प्रकार आत्मा को नीचे गिरा देती हैं? मैं समझ जाता हूं कि गुणस्थानों में उन्नति करना एक प्रकार से तलहटी से पर्वत के शिखर पर चढ़ना है और गुणस्थान रूपी यों मानिये कि सोपान (सीढ़ियां) लगे हुए हैं। तलहटी है केश्यात्व की - निर्गुणी आत्मा की, कठिन विषमता के अंधकार की। पहले सोपान ऐसे आते हैं कि आत्मा का इन पर उतार-चढ़ाव बहुत होता रहता है क्योंकि मन को वश में करने का अभ्यास आत्मा आरंभ ही करती है। उस आरंभिक अवस्था में कभी आत्मा मन को वश में करके ऊपर चढ़ती है तो कभी मन उद्दंड बन कर उससे दूर छिटक जाता है और उसको नीचे गिरा देता है। अभ्यास की परिपक्वता के साथ ही इस अवस्था में सुधार होने लगता है जबकि मन का खतरा कई सोपानों की चढ़ाई तक बराबर बना रहता है। अतः मन को विशिष्ट आत्मिक प्राभाविकता के साथ विषमता निवारण के काम में लगाये रहना चाहिये।

मैं यह मानकर चलता हूं कि मन जैसा कमठ माध्यम भी दूसरा नहीं होता है। यदि वह किसी कार्य में पागल बन कर लग जाय तो सफलता साधकर ही चैन लेता है। उसका अर्थ है कि मेरी आत्मा अपने साध्य के प्रति सर्वथा एकनिष्ठ बन जाय और उसी निष्ठा के साथ अपने मन को जोड़ ले तो मैं अपने पुरुषार्थ को सफल बना सकता हूं।

योग शुद्धि और कषाय मुक्ति—यह अन्तिम लक्ष्य बन जाना चाहिये। यह शुद्धि और शुभता क्रमिक अभ्यास के साथ ही प्राप्त हो सकेगी। अशुभता से शुभता के इस क्रम को भी मुझे समझ लेना चाहिये। जैसे किसी के व्यवहार का यह रूप हो सकता है कि वह सबके साथ अपकार करता है—यहाँ तक कि अपना उपकार करने वाले के साथ भी वह अपकार करने से नहीं चूकता। वह कुछ सुधरे तो यह कर ले कि औरों के साथ अपकार करे, किन्तु अपना उपकार करने वाले के साथ तो अपकार न करे। अगला संशोधन यह हो सकता है कि वह किसी का अपकार न करे चाहे किसी का उपकार करे या नहीं करे। उसकी योग शुद्धि अधिक बढ़े तो वह सबका उपकार करने का व्रत ले सकता है कि वह किसी का अपकार कतई नहीं करेगा। अन्ततोगत्वा वह उस स्तर तक पहुंच सकता है कि उसे अपना अपकार करने वाले का भी उपकार ही करके हर्ष होगा। यह अशुभता से शुभता का क्रमिक विकास कहा जा सकता है जो योग शुद्धि की तरतमता के अनुसार लम्बे अभ्यास से या अल्पावधि में ही साधा जा सकता है। कषाय मुक्ति का क्रम तो इससे भी कठिन होता है कि यह आत्म विजय की समस्या होती है। यह भीतर का युद्ध बाहर के युद्ध से अत्यधिक जटिल एवं दुष्कर होता है।

मैं देखता हूं कि एक प्रकार से इसी युद्ध का चित्र खींचते हैं चौदह प्रकार के गुणस्थान कि किस प्रकार एक साधक आत्मयोद्धा बन अपनी आन्तरिकता के शत्रुओं से जूझता है, गिरता है, बढ़ता है और चढ़ता है? मिथ्यात्व को पछाड़ कर एक बार साधक ऊपर चढ़ने लगता है तो वह सम्यक्त्व का वरण करता है, व्रतों को ग्रहण करता है, श्रावक धर्म अंगीकार कर लेता है और अप्रमत्त संयत अवस्था तक पहुंच जाता है, किन्तु तनिक-सी असावधानी, तनिक-सी कषाय वृद्धि और तनिक सी मोहाविष्टता उसे वहां से गिराती है तो उसे नीचे से नीचे लुढ़काती हुई मिथ्यात्व के घटाटोप अंधकार में पटक देती है। यदि वही अप्रमत्त संयती सतत जागृत रहता है और योग शुद्धि व कषाय मुक्ति के पथ पर अविचल गति से आगे बढ़ता रहता है तो वह कषाय के तीनों प्रकारों अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, और लोभ से निवृत्ति ले लेता है। उस समय सिर्फ संज्वलन कषाय से निवृत्ति लेनी शेष रहती है। साधना को उच्चता देते हुए वह अपनी कषाय को अति सूक्ष्य कर लेता है कि मात्र संज्वलन लोभ के सूक्ष्म खंड ही बचे रहते हैं। वहां से वह और ऊपर के सोपान पर चढ़ जाता है, जहां कषाय उपशान्त हो जाती है और छद्मस्थ वीतरागता मिल जाती है। इस बिन्दु पर भी कषाय और योगों का ऐसा उद्वेग आ सकता है कि वह वहां से गिरे तो उससे नीचे की सीढ़ी पर और गिरता चला जाय तो ठेठ नीचे तलहटी में पहुंच जाता है। किन्तु यही बिन्दु, ऐसा होता है कि जहां से ऊपर के सोपान की ओर दृढ़ता से पांव बढ़ गये तो वे क्षीण—कषाय वीतरागता व सयोगी केवली के उच्चस्थ स्थानों तक निश्चय रूप से पहुंचा देते हैं। यही नहीं, अयोगी केवली बनकर वैसे साधक का मुक्तिगामी हो जाना भी सुनिश्चित हो जाता है।

मेरा आशय यह है कि आत्म विकास के क्रम में ज्यों-ज्यों ऊंचाई प्राप्त होती जाय, त्यों-त्यों सावधानी अधिकाधिक बढ़ती रहनी चाहिये। इस का यह भी अर्थ मान लिया जाय कि जहां संयम के प्रभाव से आते हुए कर्मों को रोकने में सफलता पाई जाय, वहाँ तपाराधन की उग्रता से संचित कर्मों की निर्जरा भी की जाती रहे। गुणस्थान—सिद्धान्त का यही संकेत है कि योग शुद्धि और कषाय मुक्ति का साधनाक्रम इतना परिपुष्ट तथा परिपक्व बनता जाय कि ये सांसारिक विकार किसी भी स्तर पर आत्म स्वरूप पर आक्रमण करके सम्पादित उच्चता को व्यर्थ न कर सकें।

मैं इस साधना को ही विषमता के विरुद्ध युद्ध कहता हूं। विषमता पहले मन में उपजती है तभी वचन से बाहर निकलती है और कार्य से विस्तार पाती है। एक व्यक्ति इस प्रकार विषमता उगलता है जिसकी क्रिया प्रतिक्रिया की श्रृंखला बन जाती है और यही श्रृंखला सामाजिक अथवा राष्ट्रीय विषमता का भयानक रूप ले लेती है। तब यह विषमता व्यक्ति के व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार में इस तरह घुलमिल जाती है कि मनुष्य अपनी मनुष्यता को ही भुला बैठता है। तब वह अपने सामने रख लेता है मात्र अपने ही स्वार्थों को और उनको येन-केन प्रकारेण पूरे कर लेने के लिये वह पागल हो जाता है। यह पागलपन जितना फैलता है— पशुता फैलती है, राक्षसी वृत्ति फैलती है। उसे ही विषम समाज कहा जाता है।

जब सबके सामने इस फैलती हुई विषमता को दूर करने का सवाल आता है तो मैं बुनियादी रूप से सोचता हूं और उस स्रोत को देखना चाहता हूं जहां से विषमता का बीज फूटता है। वह स्रोत मुझे मनुष्य का मन दिखाई देता है—यों ही कह दूं कि वह मेरा स्वयं का मन भी हो

सकता है। इसलिये विषमता के विरुद्ध जो युद्ध करना है, वह मनुष्य को अपनी ही आन्तरिकता में करना है तथा अपने ही विमार्ग में भटकते हुए मन से करना है। मैं सोचता हूं कि जब मेरे मन की विषमता घट या मिट जाती है तो उतना ही मैं साम्ययोग का साधक बन जाता हूं। विषमता को घटाने और मिटाने के लिये ममता (सांसारिकता के प्रति मोह-ग्रस्तता) को घटानी और मिटानी पड़ेगी तथा जब विषमता घटती और मिटती जायगी तो समता उसी रूप में फूलती और फलती हुई चली जायगी।

मेरा चिन्तन गहरे उतरता है कि मैं समतावादी से समताधारी बनता जाऊंगा तो समतादर्शी बन जाने का साध्य भी मेरे समक्ष स्पष्ट हो जायगा। समता दर्शी हो जाना ही साम्य योग की अवाप्ति कर लेना है। समता की इस राह पर मेरा आगे बढ़ना क्या मेरे ही आत्म विकास को प्रभावित करेगा? यह तो उपलब्धि होगी ही किन्तु प्राभाविकता का क्षेत्र उससे भी कई गुना बड़ा होगा। मेरा समभाव, मेरी समदृष्टि और मेरा साम्य योग मेरे सम्पर्क में आने वालों में एक नये परिवर्तन का बीजारोपण करेंगे। जैसे एक मन से विषमता धीरे-धीरे या जल्दी दूर तक फैल जाती है, वैसे ही एक विशुद्ध मन से उपजी समता भी चाहे धीरे-धीरे ही असर करे लेकिन, दूर-दूर तक असर जरूर करेगी। समता के इस विस्तार में सामाजिक प्रयोग भी किये जाय तो समता का क्रियात्मक रूप अत्यधिक विस्तृत बनाया जा सकता है। सामाजिक प्रयोगों की सफलता के लिये किन्हीं प्रबुद्ध जनों की मन शुद्धि तो आवश्यक होती ही है। इस प्रकार मनुष्य के मन को ही सम्पूर्ण विकास का मूल आधार मानने के सिवाय दूसरा कोई चारा नहीं है।

इसलिये मेरा निश्चित मत है कि चाहे सामाजिक विषमता हो अथवा राष्ट्रीय विषमता या भले ही वह सम्पूर्ण मानव समाज की विषमता हो—उसका मूलोच्छेदन तो एक मनुष्य के मानस परिवर्तन के साथ ही प्रारंभ किया जा सकेगा। कार्य कितना ही विशाल क्यों न हो—किन्तु उसकी सम्पूर्ति के लिये उसके किसी न किसी छोटे छोर से ही कार्यारंभ करना होगा। विश्व की विषमता मिटानी है तब भी मनुष्य के मन की विषमता पर ही पहले प्रहार करना होगा। मनुष्य-मनुष्य के मन बदलते हुए एक समूह तक भी परिवर्तन का प्रसार हो जायगा तो उस सामूहिक शक्ति का प्रयोग भी साथ साथ में प्रारंभ किया जा सकेगा। व्यष्टि और समष्टि का इस रूप में सहयोग समता के अधिकतम विस्तार का कारण भूत हो सकता है।

मैं चिन्तन करता हूं कि मैं साम्य योग की अवाप्ति करूं और उस अवाप्ति को विश्वकल्याण का माध्यम बनाऊं। इस दृष्टि से मुझे अपने आत्म-समीक्षण में परिपक्वता लानी होगी और एकावधानता को सुदृढ़ बनानी होगी।

संसार के समस्त जीवों का परिवार

मेरा आत्म-समीक्षण ध्यान मुझे नई अन्तःप्रेरणा देगा और वह यह कि सारी वसुधा ही मेरा कुटुम्ब है। दूसरे शब्दों में यह कि संसार के समस्त जीवों का परिवार ही मेरा पूरा और सच्चा परिवार है। जैसे मैं अपने छोटे घटक रूप परिवार का हितैषी और सहयोगी होता हूं, वैसी ही मेरी हित भावना और सहयोगी शक्ति अपने इस बड़े परिवार के प्रति भी होनी चाहिये। यों पूछें तो वह अधिक होनी चाहिये क्योंकि मेरे छोटे घटक परिवार में तो वयस्क होकर सभी सदस्य आत्म निर्भर एवं स्वावलम्वी वन जाते है किन्तु इस बड़े परिवार में तो पृथ्वी, पानी, वायु, वनस्पति और निगोध

आदि के ऐसे सूक्ष्म जीव तथा जीवाणु होते हैं जिनकी रक्षा के लिये मेरी आन्तरिक जागृति सदा प्रदीप्त रहनी चाहिये। ये सभी जीव छः काया के जीव होते है—चौरासी लाख योनियों के जीव, जिनमें से किसी के प्रति मेरी हिंसक वृत्ति उत्तेजित नहीं बननी चाहिये। मैं उनमें से एक भी जीव के एक भी प्राण को कष्टित नहीं करूं—इतना ही मेरा कर्तव्य नहीं है बल्कि मैं सभी जीवों के प्रति दयावान् होऊं तथा प्रत्येक जीव की रक्षा में अनुकम्पित होकर तत्पर बनूं—यह भी आवश्यक है। ये सभी जीव मेरे बड़े परिवार के सदस्य हैं और मैं समझता हूं कि मेरी करुणा की इन्हें अपेक्षा है।

यह मैं समझ चुका हूं कि मैं संसार के समस्त जीवों के इस परिवार का सच्चा सदस्य तभी कहला सकता हूं जब मैं साधु धर्म को स्वीकार करके इन छः काया के जीवों का सच्चा रक्षक और हिताकांक्षी बनूं। हृदय को इतना विशाल, उदार और विराट् बनाना सरल नहीं है। इसके लिये मैं जानता हूं कि मुझे कठोर साधना करनी होगी—मेरे अपने स्वार्थों को समाप्त करके सर्वहित में अपने निजत्व को समर्पित कर देना होगा। ऐसी साधना रत्न त्रय की सर्वोच्च आराधना से ही सफल बनती है और तभी साम्ययोग की अवाप्ति होती है। साम्ययोगी बनकर ही मैं समतादर्शी होता हूं—सबको समदृष्टि से देखता हूं और सबके हित के लिये अन्तः प्रेरित होता हूं।

मुझे वीतराग देवों की वह उक्ति बराबर ध्यान में है जिसमें कहा गया है कि समस्त मानव जाति एक है और मैं इस एकता के फलस्वरूप अपने कर्तव्यों की दृष्टि से समस्त मानव जाति से जुड़ा हुआ हूं। यह प्रश्न किया गया है कि सर्व शास्त्रों का सार क्या है? सम्पूर्ण आचरण का सार क्या है? और वहीं उत्तर भी दिया गया है कि सम्पूर्ण प्ररूपणा का सार है आचरण, जो संसार के समस्त जीवों की रक्षा तक विस्तृत बनना चाहिये और तब सम्पूर्ण आचरण का सार बताया गया है निर्वाण। कहा गया है कि नारकीयों की दिशा अधोदिशा है और देवताओं की दिशा ऊर्ध्वदिशा अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि से अधोमुखी विचार नारक के प्रतीक होते हैं तो ऊर्ध्वमुखी विचार देवत्व की झलक दिखाते हैं।

संयम की साधना का मुझे दीर्घ अनुभव है और मैं जानता हूं कि जैसे जैसे मन, वचन, काया के संघर्षशील योग अल्पतर होते जाते हैं, वैसे वैसे कर्मों का बंध भी अल्पतर होता जाता है। योग चक्र का पूर्णतः निरोध होने पर बंध का सर्वथा अभाव हो जाता है जैसे कि समुद्र में रहे हुए अच्छिद्र जलयान में जलागमन का अभाव होता है।

साधक का जीवन मैं जानता हूं कि अन्तर्मुखी तथा ऊर्ध्वमुखी होता है। कछुआ जिस प्रकार अपने अंगों को अन्दर में समेट कर खतरे से बाहर हो जाता है, वैसे ही साधक भी अध्यात्म योग के द्वारा अन्तर्मुख होकर अपने को पाप वृत्तियों से सुरक्षित रखता है और अपनी सुख सुविधा की भावना से अनपेक्ष रहकर उपशान्त एवं दंभरहित होकर विचरता है। साधक की चार श्रेणियां मानी गई हैं—एक दर्पण के समान स्वच्छ हृदय वाला होता है, वहां दूसरा साधक हवा में उड़ती हुई पताका के समान अस्थिर हृदय वाला भी हो सकता है। तीसरी श्रेणी का साधक स्थाणु के समान मिथ्याग्रही और चौथी श्रेणी का साधक तीक्ष्ण कंटक के समान कटुभाषी होता है। पिछली तीनों श्रेणियां साधक की साधना की खोट बताती है। वस्तुतः आत्मदृष्टा साधक मधुकर (भंवरा) के समान होते हैं—वे कहीं किसी एक वस्तु या व्यक्ति की आसक्ति में आबद्ध नहीं होते।

भीतर प्रकाश, बाहर प्रकाश

मैं जो ज्ञानपुंज और समत्व योगी बनने का अभिलाषी हूं, मैं जानता हूं कि सिर मुंडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, मौन रखने मात्र से कोई मुनि नहीं होता और वल्कल धारण करने से कोई तापस नहीं होता। वास्तव में समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस कहलाता है। कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य तथा कर्म से ही शूद्र होता है। जो भोगों में आसक्त है, वह कर्मों में लिप्त होता है और जो अभोगी है—भोगासक्त नहीं है, वह कर्मों से लिप्त नहीं होता। भोगासक्त संसार में परिभ्रमण करता है और भोगों में अनासक्त ही संसार से मुक्त होता है। इसलिये सर्वप्रथम ज्ञान साधना आवश्यक है क्योंकि स्वाध्याय करते रहने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है और हृदय के समस्त भाव प्रकाशयुक्त बनते हैं।

भीतर प्रकाश और बाहर प्रकाश तभी प्रसारित होता है जब वस्तु स्वरूप का यथार्थ रूप जाना जाता है जो सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र से संभव होता है। सम्यक्त्व के अभाव में चारित्र नहीं हो सकता और ज्ञान से भावों का सम्यक् बोध होता है, दर्शन से श्रद्धा होती है, चारित्र से कर्मों का निरोध होता है तथा तप से आत्म-स्वरूप निर्मल बन जाता है। यह निर्मलता ही भीतर, बाहर और सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश प्रसारित कर देती है।

मैं भावना भाता हूं कि मैं भी मुनिजनों के हृदय के समान अपने हृदय को बनाऊं जो शरद्कालीन नदी के जल की तरह निर्मल होता है। मैं भी मुनियों के आत्म स्वातंत्र्य को प्राप्त करूं जो पक्षियों की तरह बन्धनों से विमुक्त होता है तथा मैं भी मुनियों के समभाव के समान अपनी आन्तरिकता में समभाव का सृजन करूं जो पृथ्वी की तरह समस्त सुखों व दुःखों को सहन करता है। मैं मुनि धर्म में उत्कृष्टता प्राप्त करता हूं तभी मुक्ति पथ पर अग्रगामी बनता हूं और निर्मल प्रकाश की दिव्याभा को पहिचान व प्राप्त कर सकता हूं।

अमिट शान्ति और अक्षयसुख

मैं और मेरी तरह प्रत्येक प्राणी सदा ही शान्ति और सुख की अभिलाषा रखता है, किन्तु समस्या वहां यही बनी रहती है कि अपने मन, वचन तथा काया के योग उसके अनुसार नहीं बनाये जाते हैं। बबूल बोते रह कर आम का फल पाने की अभिलाषा रखते हैं, जिसके कारण अभिलाषा की पूर्ति नहीं होती है। यह मूल में ही भूल होती रहती है अतः चाहने पर भी शान्ति नहीं मिलती, सुख प्राप्त नहीं होता। इसलिये सबसे पहले इस अज्ञान को दूर करके यह सम्यक् प्रतीति लेनी होगी कि क्या करने से और क्या नहीं करने से शान्ति मिलेगी और सुख प्राप्त होगा? यह सम्यक् प्रतीति ही आस्था तथा आचरण के चरणों को सुदृढ़ व स्थिर बनाकर अमिट शान्ति और अक्षय सुख का मार्ग दिखाएगी।

मुझे अमिट शान्ति और अक्षय सुख मिले या यों कहूं कि पहले सच्ची शान्ति और सच्चे सुख का तनिक भी रसास्वादन कर सकूं, उसके लिये अशान्ति और दुःख के कारणों की खोज करनी होगी क्योंकि एक बार भी यदि सच्ची शान्ति और सच्चे सुख के रसानन्द का मैं अनुभव कर लूंगा तो फिर उस मार्ग पर चलने का मेरा उत्साह जाग उठेगा। यह खोज अपने भीतर ही करनी होगी, कारण, शान्ति भी वहीं से प्रवाहित होती है तथा अशान्ति भी वहीं से फूटती है और सुख-दुःख का

अनुभव भी वहीं जन्म लेता है। यह तथ्य मुझे हृदयंगम कर लेना चाहिये और इसकी गांठ बाँध लेनी चाहिये कि बाहर के पदार्थ और व्यक्ति अशान्ति और दुःख पैदा करने में निमित्त मात्र होते हैं —वे स्वयं मेरे हृदय में अशान्ति और दुःख पैदा नहीं कर सकते हैं। सांसारिक सुख सुविधाओं को प्राप्त करने के सम्बन्ध में अनन्त इच्छाएं और कामनाएं जब तक भड़की हुई रहती हैं, उस हृदय में शान्ति और सुख की क्षीण प्रकाश रेखा भी नहीं चमकती। मनुष्य का सामान्यतया यह स्वभाव (विभाव) देखा जाता है कि बाह्य पदार्थों की वृष्टि से उसे जो कुछ प्राप्त होता है, उससे वह सन्तुष्ट नही रहता तथा अपनी नजरें ऊपर रखता हुआ वह अप्राप्त की चिन्ता करता जाता है। यह दीन हीन मनुष्यों पर ही लागू नहीं होता बल्कि अच्छे सम्पन्न लोगों में भी यह वृत्ति बहुलता से देखी जाती है। इसी वृत्ति को तृष्णा कहते हैं। तृष्णाग्रस्त होकर मनुष्य अपने प्राप्त सुख को भी सुख मानकर नहीं भोगता है और अधिकतम प्राप्त करने के भारी तनावों के बीच दुःखभरी जिन्दगी जीता है। तब उसके मन-मानस में अशान्ति ही उमड़ती-घुमड़ती है और अप्राप्त की चिन्ताग्रस्तता के कारण दुःख का अनुभाव बढ़कर गंभीर होता रहता है। इसके विपरीत यदि अपनी आन्तरिकता को सन्तोष के शीतल जल से शान्त बनालें और अपनी नजर नीचे की तरफ घुमाते रहें तो जो कुछ प्राप्त है, उसके सुख को भी भोगा जा सकेगा तथा हृदय को भी शान्त बनाया जा सकेगा।

मैं मानता हूं कि शान्ति और सुख के अनुभव का विषय मुख्यतः अपनी ही अवधारणाओं पर अवलम्बित रहता है। इसके लिये इच्छाओं और कामनाओं का निरोध ही करणीय पुरुषार्थ होता है। तृष्णा पर अंकुश लगाते ही कई तनाव एक साथ समाप्त हो जाते हैं। इच्छा निरोध का धीरे-धीरे ही सही, किन्तु क्रमिक विकास मैं जानता हूं कि हृदय को सन्तुलित बना देगा और तब शान्ति एवं सुख का लाभ लेना अपने ही वश की बात हो जायगी। बाहर के मनोज्ञ पदार्थ मिलें या चले जाय और अमनोज्ञ पदार्थों का दुर्योग हो जाय, तब भी परतत्व मेरे निजत्व को किसी भी रूप में प्रभावित नहीं कर पायेंगे और न ही मेरे हृदय में अशान्ति की ज्वाला सुलगा सकेंगे या दुःख की पीड़ा पैदा कर सकेंगे। यही संयम की साधना का प्रारंभ होगा।

ज्यों-ज्यों मेरा संयम सुदृढ़ एवं सुस्थिर बनता जायगा, त्यों-त्यों मेरी शान्ति भी अधिकाधिक शीतल और सुख भी अधिकाधिक आह्लादकारी बनता जायगा। यही नहीं, उत्तरोत्तर आत्म विकास के साथ मेरी शान्ति और मेरे सुख में स्थायित्व भी आता जायगा। क्षण-क्षण शान्ति और अशान्ति के पलड़ों में मेरा झूलना भी बंध हो जायगा।

संयम और तप की आराधना के साथ कर्म बंध से ज्यों-ज्यों मुक्ति मिलती जायगी और ज्यों-ज्यों मेरी आत्मा ऊपर से ऊपर के गुणस्थान के सोपानों पर आरूढ़ होती जायगी कि अन्ततोगत्वा मुझे अमिट शान्ति और अक्षय सुख की परम उपलब्धि भी हो जायगी। तब शान्ति और सुख का रूप अव्याबाध हो जायगा।

आठवां सूत्र और मेरा संकल्प

वीतराग देवों द्वारा प्रदत्त ज्ञान के प्रकाश में मैं अनुभव करूंगा कि मेरा आत्म-समीक्षण एवं विश्व कल्याण का चरण कितना पुष्ट और स्पष्ट हो गया है, क्योंकि ज्ञान के ही प्रकाश में मैं अपने साध्य को समझकर तदनुकूल साधनों का अभिग्रहण कर सकूंगा। मैं जब अपना साध्य अमिट शान्ति

तथा अक्षय सुख के रूप में मोक्ष प्राप्ति को बना लूंगा तो यह भी निश्चय कर लूंगा कि मैं वीतराग देवों की आज्ञा में रहता हुआ एकावधानता से रत्नत्रय की सफल आराधना करूं।

मैं मूल में ज्ञानपुंज हूं, समत्व योगी हूं तो मुझे अपने मूल स्वरूप को अनावृत्त करना ही है कि मैं व्यक्त रूप से ज्ञानपुंज एवं समत्व योगी बन जाऊं। इस दृष्टि से मैं संकल्प लेता हूं कि मैं अपनी सम्पूर्ण निष्ठा के साथ सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र की आराधना करूंगा तथा योग शुद्धि व कषाय मुक्ति की ऊर्ध्वगामी गति के माध्यम से आत्मिक गुणस्थानों के सोपानों पर आरूढ़ होता हुआ क्रमिक रूप में आत्मोन्नति करता जाऊंगा। मैंने जान लिया है कि समत्व योग की सर्वोच्च साधना से ही मैं अमिट शान्ति एवं अक्षय सुख की प्राप्ति कर सकूंगा अतः दृढ़ संकल्प पूर्वक मैं मोक्ष के पथ पर आगे बढ़ता जाऊंगा।

सूत्र नवम

मैं शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध निरंजन हूं। मैं आत्मस्वरूप हूं—ज्ञान सम्पन्न हूं। इसी कारण मैं जानता हूं कि वास्तव में मैं क्या हूं और आज मैं किस स्वरूप में चल रहा हूं? मैं यह भी जानता हूं कि मैं जिस संसार में अभी चल रहा हूं, उसका सही स्वरूप क्या है तथा संसार के स्वरूप ने मेरे आत्म-स्वरूप को किस रूप में प्रभावित कर रखा है?

मैं यह सब जानता हूं, इसीलिये मानता हूं और कहता हूं कि मैं शुद्ध हूं —सर्व प्रकारेण शुद्ध। मेरी मूल शुद्धता या निर्मलता में किसी भी प्रकार के मल का कोई अंश नहीं है। मैं पूर्णतया निर्मल और शुद्ध हूं।

मैं शुद्ध हूं इसीलिये बुद्ध हूं—प्रबुद्ध हूं। मेरे बोध की कोई सीमा नहीं है—मेरा बोध असीम है— सम्पूर्ण लोक को जानता है, लोक की प्रत्येक आत्मा और वहां रहे हुए प्रत्येक पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानता है। प्रत्येक को द्रव्य रूप में भी जानता है और उसकी विविध पर्यायों को भी पहिचानता है।

मैं बुद्ध हूं और तदनुसार सिद्ध हूं—कोई सिद्धि ऐसी नहीं जो मेरे से अछूती रह सके। मैं अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य का धारक हूं। मेरी बुद्धता अपार है तो मेरी सिद्धि मेरे परम स्वरूप की द्योतक है। सिद्ध होकर मैं आनन्द निमग्न हो जाता हूं।

मैं शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध हूं, अतः तदनुसार निरंजन हूं। मेरी शुद्धता, बुद्धता और सिद्धि मुझे शरीर के बंधन से मुक्त बनाकर निरंजन-निराकार बना देती है और वस्तुतः मेरी आत्मा का वही परम और चरम स्वरूप है।

यद्यपि यह सत्य है कि आज मैं शुद्ध नहीं हूं, बुद्ध नहीं हूं, सिद्ध नहीं हूं और निरंजन भी नहीं हूं तथापि यह भी उतना ही सत्य है कि शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध और निरंजन स्वरूपी बन जाने का अमित सामर्थ्य मेरी ही आत्मा में समाया हुआ है। मैं अपने अपूर्व पुरुषार्थ से शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध और निरंजन बन सकता हूं। यह मेरी प्रयास साध्य अवस्था है—मेरा साध्य है।

मैं जानता हूं कि मैं आत्म स्वरूपी हूं। मैं आत्मा हूं, शरीर नहीं। शरीर तो मात्र मेरा वस्त्र है जिसे मैं अपने कर्मानुसार बदलता रहता हूं। मैं स्वयं शरीर नहीं हूं। किन्तु इस संसार में विडम्बनाभरी स्थिति यही है कि अधिकांश प्राणी अपने को शरीर स्वरूप ही मानकर चलते हैं, अपने आत्म-स्वरूप की अनुभूति नहीं लेते हैं। वे 'मैं' और 'मेरे शरीर' के भेद को आंकते नहीं हैं। ऐसी अनुभूति और अंकन के अभाव में वे न तो सत्य साध्य का निर्धारण कर पाते हैं और न ही सत्य साधनों का चयन। वे संसार और वर्तमान जीवन को ही सब कुछ मानकर मोहग्रस्तता के भयानक दुःखों को भोगते हैं। किन्तु मैं अपने मूल स्वरूप को जानता और पहिचानता हूं और इसीलिये मैं यथार्थ स्वरूप का पूर्णतः प्रतिपादन करना चाहता हूं।

मैं आत्मा हूं और मेरा मूल स्वरूप शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध निरंजन है। मैं अपने वर्तमान अशुद्ध, अबुद्ध, असिद्ध और शरीरी स्वरूप को आत्मा के मूल स्वरूप में कैसे परिवर्तित करूं —उस पुरुषार्थ को भी जानता हूं और इसी सामर्थ्य एवं पुरुषार्थ को सभी भव्य आत्माओं के समक्ष प्रकट करना चाहता हूं। इस पुरुषार्थ के तीन चरण हो सकते हैं—एक, अपने आत्म स्वरूप पर प्रतीति हो, उसकी अनुभूति ली जाय तथा उसके ज्ञाता, दृष्टा, कर्ता, एवं भोक्ता शक्तियों को समझा जाय। दो, सांसारिकता में रमती हुई अपनी वर्तमान आत्मिक अवस्था के कारण जाने जाय, उन्हें दूर करने के उपाय खोजे जाय और उन उपायों की क्रियान्विति पर अपना कठोर पुरुषार्थ नियोजित किया जाय। तीन, सम्यक्त्व को आत्मसात् किया जाय, सर्वविरति त्याग के अन्तर्गत संयम एवं तप की उच्चस्थ साधना की जाय और वीतरागी बनकर शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध एवं निरंजन अवस्था में अपनी आत्मा को सदा काल के लिये अवस्थित बना ली जाय।

अतः आवश्यक है कि मैं अपने भीतर झांकूं, भीतर उतरूं और भीतर की गहराई की थाह लूं—मुझे अपना विराट् आत्म-स्वरूप वहीं पर दिखलाई देगा और वहीं की गूढ़ता से मैं अपने मूल गुणों की पहिचान कर सकूंगा। मैं क्या हूं और मुझे क्या होना चाहिये एवं मैं क्या कर रहा हूं तथा मुझे क्या करना चाहिये—इस सबका वास्तविक बोध भी मुझे वहीं से हो सकेगा।

मैं आत्म स्वरूपी हूं

इसलिये मेरा पहला चरण है कि मैं आत्म स्वरूपी हूं। आत्मा है, वह मैं हूं और मैं वह नहीं हूं जो मेरा शरीर है। आत्मा और शरीर के पृथकत्व को समझकर ही मैं अपने यथार्थ स्वरूप को पहिचानता हूं। शरीर अलग है और आत्मा अलग है और इस कारण जब एक जीवन समाप्त होता है तो उस जीवन में प्राप्त शरीर समाप्त होता है, आत्मा समाप्त नहीं होती। आत्मा तो अजर अमर होती है—इस संसार में भी और सिद्ध-स्थली में अवस्थित हो जाने के बाद में भी। सिद्धावस्था में वह कर्म मुक्त हो शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध और निरंजन बन जाती है तब वह शाश्वत रूप से एक स्वरूपी बन जाती है।

तो मैं आत्मा हूं इसीलिये अनश्वर हूं—अजर अमर हूं। मेरी कभी मृत्यु नहीं होती और जब मेरी मृत्यु नहीं होती है तो शरीर की मृत्यु का अवांछित भय मैं क्यों रखूं? इसी कारण मैं अभय भी हूं। मैं आत्मा हूं, इसीलिये निरन्तर ज्ञान आदि पर्यायों को प्राप्त होता हूं और मेरा लक्षण उपयोग या चैतन्य रूप है। मेरा ही नहीं, संसार के समस्त जीवों का भी यही उपयोग या चैतन्य रूप लक्षण है। इस दृष्टि से मेरी आत्मा और सभी जीवों की आत्माएं एक हैं।

मैं आत्मावादी भी हूं क्योंकि मैं नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देवगति आदि भाव दिशाओं तथा पूर्व पश्चिम आदि द्रव्य दिशाओं में आने जाने वाले अक्षणिक, अमूर्त आदि स्वरूप वाली आत्मा को मानता हूं और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता हूं। मैं आत्मा के इस स्वरूप को नहीं मानता कि वह सर्वव्यापी, एकान्त, नित्य या एकान्त क्षणिक है क्योंकि वैसा मानने पर आत्मा का पुनर्जन्म संभव नहीं होता है।

आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो शंकाशील होते हैं अथवा उसके अस्तित्व को नहीं मानते, उनका पक्ष है कि आत्मा नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है जैसे कि कोई कहे — आकाश में फूल हैं। जो वस्तु विद्यमान होती है, वही प्रत्यक्ष से जानी जा सकती है, जैसे घड़ा।

आत्मा चूंकि प्रत्यक्ष से नहीं जानी जा सकती है, इसीलिये वह नहीं है। परमाणु विद्यमान होने पर भी प्रत्यक्ष से नहीं जाने जा सकते हैं—यह तर्क आत्मा के लिये उचित नहीं है, क्योंकि घड़े आदि के कार्यरूप में परिणत होने पर परमाणु प्रत्यक्ष से जाने जा सकते हैं। आत्मा अनुमान से भी नहीं जानी जा सकती है। प्रत्यक्ष से दो वस्तुओं का अविनाभाव (एक दूसरे के विना नहीं रहना) निश्चित हो जाने के बाद किसी दूसरी जगह एक को देखकर दूसरी वस्तु का ज्ञान अनुमान से होता है। आत्मा का प्रत्यक्ष न होने के कारण उसका अविनाभाव किसी वस्तु के साथ निश्चित नहीं किया जा सकता अतः आत्मा अनुमान से भी नहीं जानी जा सकती है। तीसरे, आत्मा की सिद्धि आगम से भी नहीं होती है, क्योंकि उसी महापुरुष के वाक्य को आगम रूप से प्रमाण माना जा सकता है, जिसने आत्मा को प्रत्यक्ष देखी है। आत्मा प्रत्यक्ष का विषय नहीं है इसलिये उसके अस्तित्व को वताने वाला आगम भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। इसके अलावा अलग-अलग मतों के आगम भिन्न-भिन्न प्ररूपणा करते हैं—कुछ आत्मा के अस्तित्व को बताते हैं और कुछ अभाव को। ऐसी दशा में वह नहीं कहा जा सकता कि अमुक आगम ही प्रमाण है। उपमान या अर्थोपत्ति प्रमाण से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इन दोनों की प्रवृत्ति भी प्रत्यक्ष द्वारा जाने हुए पदार्थ में ही हो सकती है।

वीतराग देवों की अमोघ वाणी के प्रकाश में मैं जव इन तर्कों की विवेचना करता हूं तो स्पष्ट हो जाता है कि ये सारे तर्क सारहीन हैं और इस कारण कुतर्क हैं। मैं समझता हूं कि आत्मा मुझे प्रत्यक्ष है क्योंकि यदि मैं आत्मा के अस्तित्व में संशय भी करता हूं तो वह संशय स्वयं ज्ञान होने के कारण आत्मा का ही विषय है क्योंकि उपयोग ही आत्मा का स्वरूप है। इसी प्रकार अपने शरीर में होने वाले सुख-दुःख आदि का ज्ञान स्वयंवेदी (अपने आपको जानने वाला) होने के कारण आत्मा को ही प्रत्यक्ष करता है। प्रत्यक्ष से सिद्ध वस्तु के लिये दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती है। मैंने किया, मैं करता हूं, मैं करूंगा या मैंने कहा, मैं कहता हूं, मैं कहूंगा अथवा मैंने जाना, मैं जानता हूं, मैं जानूंगा इत्यादि तीनों कालों को विषय करने वाले ज्ञानों में भी 'मैं' शब्द से आत्मा का ही वोध होता है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान से भी आत्मा की सिद्धि होती है। यदि 'मैं' शब्द से शरीर को लिया जाय तो मृत शरीर में भी यही प्रतीति होनी चाहिये, जो नहीं होती है। आत्मा का निश्चयात्मक ज्ञान हुए विना 'मैं हूँ' यह निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें भी 'मैं' शब्द का अर्थ आत्मा ही है।

मैं स्पष्ट समझ रहा हूं कि आत्मा के नहीं होने पर 'आत्मा है या नहीं' इस प्रकार का संशय भी पैदा नहीं हो सकता है, क्योंकि संशय ज्ञान रूप है और ज्ञान आत्मा का गुण है। गुणी के विना गुण नहीं रह सकता। ज्ञान को शरीर का गुण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञान अमूर्त और वोध रूप है तथा शरीर मूर्त और जड़ है। दो विरोधी पदार्थ गुण और गुणी नहीं वन सकते। जैसे विना रूप वाले आकाश का गुण रूप नहीं हो सकता और इसी प्रकार मूर्त और जड़ शरीर का गुण अमूर्त और वोध रूप ज्ञान नहीं हो सकता। सभी वस्तुओं के स्वरूप का निश्चय आत्मा का निश्चय होने पर ही हो सकता है। जिसे आत्मा के अस्तित्व में ही सन्देह हो, वह कर्म बंध, मोक्ष तथा घट, पट आदि के विषय में भी संशय रहित नहीं हो सकता है।

मैं जान रहा हूं कि आत्मा का अभाव सिद्ध करने वाले अनुमान में भी वहुत से दोष हैं। प्रत्यक्ष प्रतीत होने वाली आत्मा का अभाव सिद्ध करने से साध्य प्रत्यक्ष वाधित है तो वह अनुमान विरुद्ध भी है। संशय वाला हूं। इस में 'मैं' शब्द से वाच्य आत्मा का अस्तित्व मानते हुए भी उसका

निषेध करना अभ्युपगम विरोध है। लोक में जिस वस्तु का निश्चय छोटे से लेकर बड़े सभी व्यक्तियों को हो, उस का निषेध करने से यह कथन लोक बाधित भी है। अपने ही लिये 'मैं हूं या नहीं' इस प्रकार संशय करना अपनी माता को बंध्या बताने के समान स्व-वचन बाधित भी है। अतः आत्मा के अस्तित्व को न मानने वाले पक्ष में अपक्षधर्मता के कारण हेतु भी प्रसिद्ध है और प्रमाण सिद्ध आत्मा में ही हेतु की प्रवृति होने के कारण हेतु विरुद्ध भी है।

अतः मैं सूर्य के प्रकाश के समान निश्चित रूप से अनुभव करता हूं कि आत्मा प्रत्यक्ष है। क्योंकि आत्मा के गुण स्मृति, जिज्ञासा (जानने की इच्छा), चिकीर्षा करने की इच्छा और जिगमिषा, संशय आदि प्रत्यक्ष हैं। जिस वस्तु के गुण प्रत्यक्ष होते हैं, वह वस्तु भी प्रत्यक्ष होती है, जैसे घट के गुण, रूप आदि प्रत्यक्ष होने पर घट भी प्रत्यक्ष होता है। यदि गुणों के ग्रहण से गुणी का ग्रहण न माना जाय तो भी गुणों के ज्ञान से गुणवाले (गुणी) का अस्तित्व तो अवश्य ही सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से भी आत्मा का अस्तित्व अखंडनीय है और मेरी मान्यता सुदृढ़ बन जाती है कि मैं आत्म स्वरूपी हूं—मैं आत्मा हूं।

मैं आत्मा हूं तो कैसी आत्मा हूं? इस चिन्तन में मैं अनुभव करता हूं कि मैं अभी बहिरात्मा हूं क्योंकि जब तक आत्मा को सम्यक् ज्ञान नहीं होता और वह मोहवश शरीर आदि बाह्य पदार्थों में आसक्त रहती है कि 'यह मैं ही हूं—मैं इनसे भिन्न नहीं हूं' तब तक वह शरीर आदि को अपने साथ जोड़े रखने के अज्ञान के कारण बहिरात्मा होती है। मैं अन्तरात्मा भी हूं क्योंकि जब मैं बाह्य भावों को दूर हटाकर शरीर से पृथक् शुद्ध ज्ञान-स्वरूप आत्मा में ही आत्मा का निश्चय करता हूं तो मैं आत्म-ज्ञानी पुरुष के रूप में अन्तरात्मा हो जाता हूं। मैं अपने मूल आत्म स्वरूप की दृष्टि से परमात्मा हूं। जब मेरी आत्मा अपने सकल कर्मों का नाश करके अपना शुद्ध ज्ञान स्वरूप प्राप्त कर लेगी और वीतराग तथा कृतकृत्य हो जायगी, तब वह शुद्धात्मा-परमात्मा बन जायगी।

मेरी आत्मा के तीन रूप इस प्रकार के भी होते हैं—बद्ध, बुद्ध और सिद्ध। जब तक मेरी आत्मा कर्म समूह से बंधी हुई रहती है, तब तक वह बद्ध आत्मा है, जब वह घाती कर्म बन्धनों का क्षय करके वीतरागी हो जायगी तो वह बुद्ध आत्मा बन जायगी और जब वह सम्पूर्ण कर्म क्षय करके अन्तिम बन्धन रूप शरीर से भी मुक्त हो जायगी, तब वह सिद्ध आत्मा हो जायगी।

मेरी आत्मा के ये विभिन्न रूप उसकी पर्यायें हैं, जबकि वह शुद्ध रूप में एक द्रव्य है। गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं, जो पर्यायों के रूप में बदलता रहता है। और गुण उसे कहते हैं जो द्रव्य के आश्रित रहे। गुण सदैव द्रव्य के अन्दर ही रहता है, उसका स्वतंत्र कोई स्थान नहीं रहता है। द्रव्य और उसके गुणों में रहने वाली अवस्थाओं को पर्याय कहते हैं। कुल छः प्रकार के द्रव्यों में पांच द्रव्य जड़ हैं और छठा द्रव्य आत्मा है। आत्मा का गुण चैतन्य है और उसमें परिवर्तित होने वाली अवस्थाएं उसकी पर्याय कहलाती हैं। पर्यायें गुण और द्रव्य दोनों में रहती हैं।

मेरी आत्मा अरूपी द्रव्य है जिसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श नहीं पाये जाते हैं तथा जो अमूर्त है पुद्गल के अलावा सभी पांचों द्रव्य अरूपी होते हैं। मेरी आत्मा भी अरूपी है और उसका गुण या लक्षण चैतन्य है। यों उसमें चार गुण हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य। मेरी आत्मा की पर्यायें भी चार हैं —अव्याबाध अनवगाह, अमूर्तिकता तथा अगुरुलधुत्व अनन्त ज्ञान आदि चारों गुण केवल आत्म द्रव्य में ही पाये जाते हैं, अन्य किसी द्रव्य में नहीं। किन्तु

प्रत्येक द्रव्य के समान मेरी आत्मा में भी आठ पक्ष हैं—नित्य, अनित्य, एक, अनेक, सत्, असत्, वक्तव्य और अवक्तव्य। मेरी आत्मा के चारों गुण और तीन पर्यायें नित्य हैं, मात्र अगुरुलघुत्व पर्याय अनित्य है। यों आत्माएं अनन्त हैं, एक आत्मा में असंख्यात प्रदेश हैं तथा अनन्त गुण और पर्यायें हैं। इस अनेकता के उपरान्त भी सर्व आत्माओं में जीवत्व तथा चेतना लक्षण एक समान होने से सबमें एकत्व भी है। मेरी आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से सत् भी है तो पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से असत् भी है। मेरी आत्मा में अनन्त गुण और अनन्त पर्यायें वचन से कही जाने की अपेक्षा से वक्तव्य भी है तो वचन से नहीं कही जाने की अपेक्षा से अवक्तव्य भी हैं। केवली भगवान् सर्व द्रव्य और पर्यायों को देखते हैं, परन्तु वचन से उनका अनन्तवां भाग ही कह सकते हैं। इस प्रकार वक्तव्य और अवक्तव्य विषय का स्वरूप दिखलाया गया है। नित्यअनित्य पक्ष की चौभंगी के अनुसार मेरी आत्मा में ज्ञान आदि गुण अनादि अनन्त हैं याने वह नित्य है। मोक्ष जाने वाली भव्य आत्मा के कर्म का संयोग अनादि सान्त हैं, क्योंकि कर्म अनादि से लगे हुए हैं परन्तु भव्य आत्मा के मोक्ष में चले जाने पर उन कर्मों का सम्बन्ध पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है। आत्मा जन्मान्तर करती हुई देवत्व, नारकत्व, मनुष्यत्व और तीर्यंचत्व प्राप्त करती है तो देवत्व आदि उसकी पर्यायें सादि सान्त हैं क्योंकि देव आदि जन्म में उत्पति भी होती है तो उसका अन्त भी होता है। भव्य आत्मा कर्म क्षय करके जब मोक्ष में चली जाती है तो उसका मुक्तत्व रूप पर्याय उत्पन्न होने से सादि और उसका कभी भी अन्त नहीं होने से अनन्त अर्थात् असादि अनन्त है। द्रव्य, काल, क्षेत्र, भाव की चौभंगी के अनुसार मेरी आत्मा में स्व द्रव्य की अपेक्षा से ज्ञान आदि अनन्त गुण अनादि अनन्त हैं। आत्मा जितने आकाश प्रदेशों में रहती है, वही उसका क्षेत्र है जो सादिसान्त है। आत्मा का काल अगुरुलघु पर्याय से अनादि अनन्त है परन्तु अगुरु लघु की उत्पति और नाश आदि सान्त है। आत्मा का स्वभाव गुण पर्याय अनादि अनन्त है।

गुणों की दृष्टि से मेरी आत्मा में छः सामान्य गुण हैं—(१) अस्तित्व—द्रव्य का सदा सत् अर्थात् विद्यमान रहना अस्तित्व गुण है। इसी गुण के होने से आत्मा में सद्रूपता का व्यवहार होता है। (२) वस्तुत्व—द्रव्य का सामान्य विशेषात्मक स्वरूप वस्तुत्व गुण है। जैसे सुवर्ण घट में घटत्व सामान्य गुण और सुवर्णत्व विशेष गुण है। अवग्रह ज्ञान में सब पदार्थों के सामान्य रूप का आभास होता है और अवाय में विशेष का भी आभास हो जाता है। (३) द्रव्यत्व—गुण और पर्यायों का होना द्रव्यत्व गुण है। (४) प्रमेयत्व—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय होना प्रमेयत्व गुण है। (५) अगुरुलघुत्व—द्रव्य की गुरु अर्थात् भारी या लघु अर्थात् हल्का न होना अगुरुलघुत्व गुण है। यह गुण सूक्ष्म है अतः अनुभव का विषय है। (६) प्रदेशत्व—वस्तु के निरंश अंश को प्रदेश कहते हैं। द्रव्यों का प्रदेश सहित होना प्रदेशत्व गुण है। प्रदेशत्व गुण के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य होता है। ये सामान्य गुण सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं।

द्रव्य रूप से मेरी आत्मा के समान अनन्त आत्माएं हैं—उनके भेद इस प्रकार हैं—संज्ञी मनुष्य संख्यात, और उससे असंज्ञी मनुष्य असंख्यात गुण है। उससे नरक के जीव असंख्यात गुणे हैं। इसी प्रकार देवता असंख्यात गुण, तिर्यंच पचेंन्द्रिय असंख्यात गुण, चतुरिन्द्रिय जीव असंख्यात गुण, तिइन्द्रिय जीव विशेषाधिक, बेइन्द्रिय जीव विशेशाधिक, प्रत्येक शरीर बादर वनस्पति काय असंख्यात गुण, तेइ काय असंख्यात गुण, पृथ्वीकाय विशेषाधिक, अपकाय विशेषाधिक वायुकायविशेषाधिक और उससे सिद्ध जीव अनन्त गुणे हैं। सिद्धों से—निगोद (अनन्त जीवों का

पिण्ड भूत एक शरीर) के जीव अनन्त गुणे हैं। सुई के अग्र भाग पर निगोद पिण्ड का जितना भाग आये, इतने भाग में असंख्यात प्रतर होते हैं, उन प्रतरों में से एक-एक प्रतर में असंख्यात-श्रेणियां होती हैं, एक-एक श्रेणी में असंख्यात गोलक होते हैं। एक-एक गोलक में असंख्यात शरीर होते हैं, उन एक-एक शरीर के आश्रित अनन्त जीव होते हैं। ये निगोद बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकार के होते हैं।

प्रत्येक संसारी आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं। एक-एक प्रदेश में अनन्त कर्म वर्गणाएं लगी हुई हैं, एक-एक वर्गणा में अनन्त पुद्‌गल परमाणु हैं। इस तरह अनन्त परमाणु आत्मा के साथ लगे हुए हैं, उनसे भी अनन्त गुणे पुद्‌गल परमाणु आत्मा से अलग हैं।

द्रव्य रूप से अपनी आत्मा का विस्तृत परिचय लेने के बाद मैं अपनी आत्मा की मुख्य रूप से वर्तमान आठ पर्यायों पर विचार करता हूं। मेरी आत्मा लगातार अन्यान्य स्व-पर पर्यायों को प्राप्त करती रहती है और उसमें हमेशा उपयोग अर्थात् बोध रूप व्यापार पाया जाता है। इसलिये मेरी आत्मा का स्वरूप उपयोग है। उपयोग की अपेक्षा से सामान्य रूप में सभी आत्माएं एक प्रकार की है किन्तु विशिष्ट गुण और उपाधि को प्रधान मान कर आत्मा के आठ भेद बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं —

(१) द्रव्यात्मा—त्रिकालवर्ती द्रव्य रूप आत्मा द्रव्यात्मा है जो सभी आत्माओं के होती है।

(२) कषायात्मा—क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय विशिष्ट आत्मा कषायात्मा है। उपशान्त एवं क्षीण कषाय आत्माओं के सिवाय शेष सभी संसारी आत्माओं के कषायात्मा होती है।

(३) योगात्मा—मन, वचन, काया के व्यापार में प्रवर्तित होती हुई योगप्रधान आत्मा योगात्मा है। योग वाली सभी आत्माओं के योगात्मा होती है। अयोगी केवली और सिद्धों के यह आत्मा नहीं होती, क्योंकि वे योग रहित होती हैं।

(४) उपयोगात्मा—साकार-अनाकार रूप उपयोग प्रधान आत्मा उपयोगात्मा है। यह आत्मा सिद्ध और संसारी-सम्यक् दृष्टि व मिथ्यादृष्टि सभी आत्माओं के होती है।

(५) ज्ञानात्मा—विशेष अनुभव रूप सम्यक् ज्ञान से विशिष्ट आत्मा को ज्ञानात्मा कहते हैं। ज्ञानात्मा सम्यक् दृष्टि जीवों के होती है।

(६) दर्शनात्मा—सामान्य अवबोध रूप दर्शन से विशिष्ट आत्मा को दर्शनात्मा कहते हैं। यह आत्मा सभी जीवों के होती है।

(७) चारित्रात्मा—चारित्र गुण विशिष्ट आत्मा चारित्रात्मा कहलाती है। यह आत्मा विरति ग्रहण करने वालों के होती है।

(८) वीर्यात्मा—यह आत्मा उत्थान आदि रूप कारणों से युक्त होती है तथा सभी संसारी जीवों के होती है। यहां वीर्य का अर्थ लिया जाता है सकरण वीर्य और सकरण वीर्य सिद्ध आत्माओं के नहीं होता अतः उनमें वीर्यात्मा का सद्‌भाव नहीं माना जाता है। किन्तु उनमें भी लब्धिवीर्य की अपेक्षा से वीर्यात्मा का सद्‌भाव माना जाता है।

आत्मा की ये आठों एक प्रकार से पर्यायें हैं। मैं चिन्तन करता हूं कि इन आठों पर्यायों का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है? क्या एक पर्याय की विद्यमानता में दूसरी पर्याय का अस्तित्व रहता है

वीतराग देवों ने इन प्रश्नों के सुन्दर समाधान उपदेशित किये हैं। जब किसी जीव के द्रव्यात्मा होती है तो कषायात्मा होती भी है और नहीं भी होती है। सकषायी द्रव्यात्मा के कषायात्मा होती है और अकषायी द्रव्यात्मा के नहीं। किन्तु जिसके कषायात्मा होती है, उसके द्रव्यात्मा नियम रूप से होती है। क्योंकि द्रव्यत्व के बिना कषायों की संभावना नहीं होती। यही अवस्था योगात्मा की भी होती है और द्रव्यत्व के साथ ही योग व्यापार संभव होता है। परन्तु द्रव्यात्मा के साथ उपयोगात्मा नियम से होती है—दोनों का परस्पर नित्य सम्बन्ध होता है। ये दोनों आत्माएं सिद्ध एवं संसारी सभी जीवों के होती हैं। ज्ञानात्मा सम्यक् दृष्टि द्रव्यात्मा के होती है, मिथ्यादृष्टि द्रव्यात्मा के नहीं, किन्तु जिसके ज्ञानात्मा है, उस के द्रव्यात्मा नियम से होती है। कारण, द्रव्य के बिना ज्ञान नहीं होता। दर्शनात्मा सभी जीवों के होती है। उपयोगात्मा की तरह दर्शनात्मा का भी द्रव्यात्मा से नित्य सम्बन्ध होता है।

ज्ञानात्मा की तरह ही चारित्रात्मा विरत द्रव्यात्मा के होती है, अविरत के नहीं, किन्तु चारित्रात्मा के द्रव्यात्मा होती ही है। यही वीर्यात्मा की अवस्था है। संक्षेप में द्रव्यात्मा में कषायात्मा, योगात्मा, ज्ञानात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा की भजना है पर उक्त आत्माओं में द्रव्यात्मा का रहना निश्चित है।

इस प्रकार मैं आत्म स्वरूपी हूं—अपनी द्रव्यात्मा के साथ आत्मा की अन्य पर्यायों में रमण करता रहता हूं। यह भी मैं जान गया हूं कि मेरी आत्मा अमूर्त होने से इन्द्रियों द्वारा नहीं जानी जा सकती है और अमूर्त होने से ही वह नित्य है। मेरी आत्मा के साथ जो मिथ्यात्व, अज्ञान आदि दोष रहे हुए होते हैं, उन्हीं के कारण मेरे कर्म बंध होता है तथा इस कर्म बंध के कारण ही मेरा संसार में परिभ्रमण चलता है।

मैं जानता हूं कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य तथा उपयोग मेरी आत्मा के लक्षण हैं। मेरी आत्मा है, वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता है, वही मेरी आत्मा है। जो ज्ञान के द्वारा जानती है, वही मेरी आत्मा है। ज्ञान की विशिष्ट परिणति की अपेक्षा से ही मेरी आत्मा ज्ञानात्मा कहलाती है। इस रूप में मैं आत्मवादी हूं क्योंकि मैं मेरे ज्ञान एवं मेरी आत्मा की एकता को जानता हूं और मेरी आत्मा संयम का अनुष्ठान करके सम्यक् पर्याय को प्राप्त करती है।

अपनी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों के संचरण में मैं अनुभव करता हूं कि मेरी आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी और कूट शाल्मली वृक्ष है और मेरी यही आत्मा अपनी उच्चस्थ स्थिति में स्वर्ग की कामधेनु और नन्दन वन है। जब मेरी आत्मा सद् अनुष्ठानों में रत बनती है तब वह सुख देने वाली और दुःख दूर करने वाली हो जाती है। परन्तु जब असद् अनुष्ठानों में भटकने लगती है तो वहीं मेरी आत्मा दुःख देने वाली और सुख छीनने वाली बन जाती है। सदनुष्ठान रत आत्मा उपकारी होने से मित्र रूप है तो दुराचार में प्रवृत्त यही आत्मा अपकारी होने से शत्रु रूप हो जाती है। अतएव मेरा अनुभव है कि मेरी आत्मा ही सुख और दुःख को देने वाली तथा मित्र एवं शत्रु रूप है। इस रूप में मैं अपने आपको उद्बोधन देता हूं कि मैं जागूं और समझूं अपनी आत्मा के स्वरूप को जो सद् अनुष्ठानों में प्रवृत्त रहे तो वही मेरी सबसे श्रेष्ठ मित्र है, फिर मुझे अपने मित्र की बाहर कहां खोज करनी है? इस सत्य को भी मैं हृदयंगम करूं कि दुराचार में लगी हुई मेरी आत्मा मेरा सिर काट देने वाले शत्रु से भी अधिक मेरा अपकार करती है क्योंकि दया रूप क्रिया एवं करुणा से शून्य मेरी आत्मा दुराचार में अंधी प्रवृत्ति करते हुए अपने उत्थान का कोई विचार नहीं कर पाती है और जब अपने वर्तमान जीवन के अन्त तक पहुंचती है तो अपने दुराचारों की याद करके दुःख ग्रस्त बनी पश्चाताप करती है।

आत्म स्वरूप के इस वृहद् विश्लेषण से मुझे विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करना है, उस पर सच्ची श्रद्धा बनानी है और उस आस्थायुक्त ज्ञान को सदनुष्ठानों में ढालना है ताकि मैं अपनी आत्मा को उसका ही ज्ञाता विज्ञाता बनाकर तथा उपकारी मित्र का रूप देकर विरत बनूं —देश विरति से सर्व विरति के सोपानों पर आरोहण करूं। आत्म विकास की मेरी महायात्रा की यही गंतव्य दिशा है।

आत्मानुभव की सर्वोच्च अवस्था में विचरण करते हुए मेरी अनुभूति होगी कि उस का वर्णन करने में सभी शब्द लौट आते हैं और कोई तर्क भी प्रभावी नही होता है। बुद्धि भी उस विषय को ग्रहण करने में सक्षम नहीं होती। मेरी आत्मा की वही अवस्था आभामय होती है और वह किसी अन्य स्थान पर नहीं, अपने ही भीतर आत्म ज्ञाता और आत्मदृष्टा के रूप में होती है। वहीं अवस्था न बड़ी है, न छोटी है, न गोल है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है और न परिमंडल है। न वह काली है, न नीली है, न लाल है, न पीली है और न सफेद है। वह न सुगंधमयी है, न दुर्गंधमयी है और न तीखी है, न कड़ुई है, न कषैली है, न खट्टी है तथा न मीठी है। वह न कठोर है, न कोमल है, न भारी है, न हलकी है, न ठंडी है, न गर्म है, न चिकनी है और न रूखी है। वह न लेश्यावान् है, न उत्पन्न होने वाली है और उसमें कोई आसक्ति भी नहीं है। न वह स्त्री है, न पुरुष और न इसके विपरीत नपुंसक। वह शुद्धात्मा है, ज्ञाता है और अमूर्छित है। उसकी कोई तुलना नहीं। वह एक अमूर्तिक सत्ता है। पदातीत के लिये उसका कोई नाम भी नहीं है। वह शुद्धात्मा न शब्द है, न रूप है, न गंध है, न रस है और न स्पर्श है। वस इतने ही वर्णन से आत्म स्वरूप का ज्ञान पर्याप्त है। तदनुसार शुद्ध स्वरूप के चिन्तन में मुझे प्रतिभासित होगा कि मैं न दीर्घ, न हस्व, न स्त्री, न पुरुष और न नपुंसक हूं और वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श वाला भी नहीं हूं। मैं तो अशरीरी, अरूपी, शाश्वत, अवेदी, अखेदी, अलेशी और अजर अमर आदि गुणों से सम्पन्न हूं। ये वे आध्यात्मिक रहस्य हैं जिनमें प्रगति करने के लिये मेरा कर्तव्य है कि मैं समतादर्शी वीतराग देवों की आज्ञा में चलूं —यही मेरी आत्मा के स्वभाव और धर्म की प्राप्ति का प्रशस्त पथ है। जैसे जल में नहीं डूबा हुआ द्वीप कष्ट में फंसे हुए समुद्र के यात्रियों के लिये आश्रय स्थल होता है, उसी प्रकार समतादर्शी द्वारा प्रतिपादित धर्म सांसारिक दुःखों में फंसे हुए प्राणियों के लिये आश्रय स्थल होता है।

ऐसे आत्मोत्थानकारी सिद्धान्तों के ज्ञान एवं आचरण में विभोर बनकर मेरी आत्मा स्वयमेव को उद्बोधित करती है—हे आत्मन्, तू ही तेरा मित्र है, फिर बाहर की ओर मित्र की खोज क्यों करती है? जिसे तुम ऊंचे आध्यात्मिक मूल्यों में जमा हुआ जानो, उसे तुम आसक्ति से दूरी पर जमा हुआ जानो और जिसे तुम आसक्ति से दूरी पर जमा हुआ जानो, उसे तुम ऊंचे आध्यात्मिक मूल्यों पर जमा हुआ जानो। अतः तुम अपने मन का निग्रह करके ही जीना सीखो और यदि ऐसा करोगे तो दुःखों से छूट जाओगे। तुम ही सत्य का निर्णय करो क्योंकि जो सदा सत्य की आज्ञा में उपस्थित रहता है, वही मेधावी मृत्यु को जीत लेता है। तुम सुन्दर चित्त वाले संयम युक्त बन कर जब धर्म को ग्रहण करोगे तो श्रेष्ठतम को भी भली भांति देख सकोगे। संयमयुक्त चित्तवाले होने से कभी व्याकुलता में नही फंसोगे। तुम अपनी ही अनुपम आत्मानुभूति को जान लो तो सभी विषमताओं को भी जान लोगे। प्रमादी विषमताधारी होता है और इसी कारण सभी ओर से भयभीत भी होता है जबकि अप्रमादी समताधारी किसी ओर से भी भयभीत नहीं होता, अतः तुम भी प्रमाद छोड़कर समता को ग्रहण कर लो और निर्भय बन जाओ।

यह आत्मोद्‌वोधन मेरी भीतरी गहराई तक मुझे छू जाता है और मैं भावाभिभूत हो जाता हूं कि वीतराग देवों की आज्ञा को भली प्रकार से समझ कर मैं कुछ विशिष्ट आत्मिक प्रगति के चरण उठाऊं। आत्मा ही मेरी शरण है। सदाचार ही मोक्ष का सोपान है और यदि चारित्र से विशुद्ध वना हुआ ज्ञान अल्प भी है तब भी महान् फल प्रदायक है। शील गुण से रहित होना मनुष्य जन्म को निरर्थक करना है और इन्द्रियों के विषयों से विरक्त रहना ही शील है। शीलाचार के विना इन्द्रियों के विषय मेरी आत्मा के ज्ञान को नष्ट कर देते हैं। जीव दया, दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यक् ज्ञान, दर्शन, और तप—यह सब शील का परिवार है—आचार के अंग हैं।

मैं आत्म स्वरूपी हूं—एक मात्र उपयोगमय और ज्ञानमय हूं। मैं तो शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूप, सदा काल अमूर्त, एक शुद्ध शाश्वत तत्त्व हूं। परमाणु मात्र भी अन्य द्रव्य मेरा नहीं है। मैं ही मेरा कर्ता हूं और मैं ही मेरा भोक्ता। अपने इस स्वरूप को मैं अपनी ही आत्म प्रज्ञा अर्थात् भेद विज्ञान रूप बुद्धि से जानता हूं। अब नमस्कार महामन्त्र के पांच पदों की दृष्टि से आत्मसमीक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है ताकि हमारी आत्मा को उन उन पदों से संयोजित कर चिन्तन करने पर उसकी गुणात्मकता की अनुभूति हो सके और आत्मा विकास पथ पर प्रयाण करने के सत्साहस को वढ़ा सके।

मैं रत्नत्रयाराधक मुनि हूं!

मैं अपने आत्मस्वरूप को पहिचानता हूं, सम्यक् दृष्टि और सुव्रती बनता हूं तथा रत्नत्रयाराधक मुनि बन जाता हूं।

मैं छः काया के जीवों का रक्षक हूं, अतः मैं ऐसे किसी कार्य का उपदेश नहीं देता जिससे किसी भी प्रकार की जीव हिंसा हो। मैं अहिंसा को परम धर्म मानता हूं और महावीरता। जो व्यक्ति भयंकर शस्त्रास्त्र एकत्रित करके स्वरक्षा और परसंहार के लिये दीनहीन दुःखियों के प्राण हरता है, वह कदापि वीर नहीं हो सकता। यदि उसे वीर कहें तो अधिक झूठ बोलने वाले, चोरी करने वाले, व्यभिचारी और आडम्बरी भी वीर कहलाएं। वीर का अर्थ होता है उत्साहपूर्णता और यह उत्साह फूटना चाहिये अपने ही आत्मदोषों के निवारण में। अपने ही भीतर रहे हुए द्वेष, हिंसा, क्रूरता, क्रोध आदि दोषों से युद्ध करना सच्ची वीरता है। अतः मैं वीर हूं—अहिंसक वीर। मैं किसी भी जीव के प्राणों का व्यतिरोपण न स्वयं करता हूं, न दूसरे से करवाता हूं तथा न करने वाले का किसी भी रूप में अनुमोदन करता हूं। इसका पालन मैं अपने मन, अपने वचन और अपनी काया से करता हूं। अतः मैं कच्चा पानी, कच्चे शाक या फल, कच्चा धान या ऐसी किसी भी वस्तु को जिसमें जीवाणुओं का अस्तित्व हो —उपयोग में तो लेना दूर, उनका स्पर्श तक नहीं करता हूं ताकि छोटे से छोटे जीवों के प्राण भी मेरे द्वारा कष्टित न हों। इतना ही नहीं, भिक्षा के समय यदि जीवाणुओं से युक्त कोई वस्तु भी मेरे लेने योग्य वस्तु से छू रही हो तो उस लेने योग्य वस्तु को भी मैं ग्रहण नहीं करता हूं। समस्त जीवों के प्रति दया, करुणा, अनुकम्पा एवं रक्षा के भावों से मेरा हृदय सदा सर्वदा यतना और सजगतापूर्वक सतत सावधान रहता है।

मैं असत्य अथवा असत्कथन का भी सर्वथा त्यागी होता हूं। असत् कथन तीन प्रकार से हो सकता है —(१) जो वस्तु सत् (विद्यमान) हो उसका एकदम निषेध कर देना, (२) एकदम

निषेधन करते हुए भी उसका वर्णन इस प्रकार करना कि जिससे सुनने वाला भ्रम में पड़ जाय तथा (३) बुरा वचन जिससे सुनने वाले को कष्ट हो या सत्य होने पर भी जिस कथन में दूसरे को हानि पहुंचाने की दुर्भावना हो। यद्यपि असत्कथन को ही अनृत कहा गया है, किन्तु मन, वचन और काया से असत्य का अर्थ लेने पर असत् चिन्तन, असत्कथन और असदाचरण से भी मैं दूर रहता हूं। मैं किसी के विषय में न बुरा सोचता हूं, न बुरा कहता हूं और न बुरा आचरण करता हूं। मैं सत्य की शोध को सफल बनाने के लिये प्रमत्त योग का त्याग करता हूं, मन, वचन, काया की प्रवृत्ति में एकरूपता लाने का अभ्यास करता हूं तथा क्रोधादि कषाय का भी त्याग करता हूं क्योंकि कई वार क्रोधादि के आवेश में भी असत्य भाषण हो जाता है। सत्य होने पर भी मैं दुर्भावना से न किसी बात को सोचता हूं, न बोलता हूं और न करता हूं।

मैं अदत्तादान को स्तेय कर्म मानता हूं और उसका मैं सर्वथा त्याग करता हूं। दूसरे के अधिकार की कोई भी वस्तु चाहे वह तृण के समान मूल्यरहित हो—मुझे अभीष्ट नहीं है। किसी वस्तु के प्रति लालसा की वृत्ति ही मेरे लिये त्याज्य है। मैं मानता हूं कि कहीं भी ग्राम नगर में अथवा अरण्य में सचित्त, अचित्त, अल्प, बहु, अणु, स्थूल आदि वस्तु को उसके स्वामी की बिना आज्ञा लेना अदत्तादान है तो प्राणधारी आत्मा का प्राणहरण भी उसकी आज्ञा न होने से अदत्तादान है। वीतराग देवों द्वारा निषिद्ध आचरण का सेवन करना भी अदत्तादान है तो गुरु की आज्ञा के विना कोई वस्तु ग्रहण करना भी अदत्तादान है। मैं सचित्त पदार्थ हो या अचित्त पदार्थ, अल्पमूल्य पदार्थ हो या बहुमूल्य पदार्थ यहां तक कि दांत कुरेदने का तिनका ही क्यों न हो, स्वामी से याचना किये बिना न स्वयं ग्रहण करता हूं, न दूसरों को ग्रहण करने के लिये प्रेरित करता हूं और न ग्रहण करने वालों का अनुमोदन ही करता हूं।

मैं मैथुन का सर्वथा त्याग कर आत्मस्वरूप में रमण करता हूं, क्योंकि काम राग जनित कोई भी चेष्टा चाहे वह प्राकृतिक हो अथवा अप्राकृतिक—अब्रह्मचर्य होता है तथा अब्रह्मचर्य आत्म विकास का अवरोधक होता है। मैं ब्रह्मचर्य का अमित महत्त्व मानता हूं क्योंकि एक मात्र ब्रह्मचर्य की साधना करने से अन्य सभी गुणों की साधना हो जाती है। शील, तप, विनय, संयम, क्षमा, निर्लोभता और गुप्ति—ये सभी ब्रह्मचर्य की आराधना से आराधित होते हैं। मैं पूर्ण प्रयत्नशील रहता हूं कि स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर वचन, काम चेष्टा एवं कटाक्ष आदि को मन में तनिक भी स्थान न दूं एवं रागपूर्वक देखने तक की भी कोशिशा न करूं, मैं जानता हूं कि मुझे स्त्रियों को न रागपूर्वक देखना चाहिये और न उनकी अभिलाषा करनी चाहिये। स्त्रियों का चिन्तन और कीर्तन भी मुझे नहीं करना चाहिये । मैं सदा ब्रह्मचर्य वर्त का पालन करते हुए उत्तम ध्यान में लीन रहता हूं। मैं अपने मन, वचन, काया को गोपन करने वाला मुनि हूं और वस्त्राभूषण से अलंकृत सुन्दर अप्सराएं भी मुझे मेरे मुनि धर्म और संयम से विचलित नहीं कर सकती हैं, फिर भी मैं सर्वतया हितकारी एकान्तवास का आश्रय लेता हूं। मैं अपने लिये टूटे हुए हाथ पैर वाली और कटे हुए कान नाक वाली सौ वर्ष की बुढ़िया का संग भी वर्जनीय मानता हूं। मैं पूर्णतया स्थिरचित्त होता हूं फिर भी आर्याओं तक का अधिक सम्पर्क समुचित नहीं मानता हूं। मैं अपने लिये शरीर के श्रृंगार, स्त्रियों के संसर्ग तथा पौष्टिक स्वादिष्ट भोजन को तालपुट विष के समान मानता हूं। ये मेरे संयम की घात करने वाले होते हैं। नव वाड से ब्रह्मचर्य का पालन मेरा महाव्रत है।

मैं निग्रंथ और निष्परिग्रही हूं। किसी भी वस्तु में चाहे वह छोटी बड़ी, जड़, चेतन, वाह्य आभ्यन्तर या किसी भी प्रकार की हो, मेरी कोई आसक्ति नहीं है और जव आसक्ति नहीं है तो उसमें बंध जाने या विवेक खोकर परिग्रही कहलाने का प्रश्न ही नहीं उठता। मैं जानता हूं कि वास्तविक परिग्रह धन सम्पत्ति स्वयं न होकर उसमें रही हुई व्यक्ति की मूर्छा रूप होता है। मूर्छा न होने पर चक्रवर्ती सम्राट् भी अपरिग्रही कहा जा सकता है और मूर्छा होने से एक भिखारी भी परिग्रही होता है। भिखारी ही क्यों, अपने वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों में मूर्छा भाव रखकर मुनि भी परिग्रही हो सकता है। मैं किसी भी वस्तु का संग्रह करने की इच्छा तक नहीं करता हूं क्योंकि ऐसी इच्छा करने वाला साधुवेश रखते हुए भी साधु नहीं होता। मैं वस्त्र, पात्र, कंबल और रजोहरण आदि जो भी वस्तुएं रखता हूं, वे एक मात्र संयम की रक्षा के लिये रखता हूं तथा अनासक्त भाव से उनका उपयोग करता हूं। मैं यत्नशील रहता हूं कि अपने शरीर पर भी ममत्व न रखूं—उसे मात्र धर्म साधन मानकर चलाऊं। मैं ममत्व बुद्धि का त्याग करते हुए स्वीकृत परिग्रह का त्याग करता हूं और मेरा विश्वास है कि जब मेरे ममत्व और परिग्रह नहीं होंगे तो मैं ज्ञान दर्शन चारित्र रूप रत्नत्रय की आराधना के मार्ग पर ही अग्रगामी बनूंगा।

मैं निःशल्य व्रती हूं क्योंकि सच्चे त्याग के लिये शल्यरहित होना नितान्त आवश्यक है। शल्य तीन हैं —(१) दंभ, पाखंड या मायाचार, (२) भोगों की लालसा तथा (३) असत्य का आग्रह एवं सत्य के प्रति अश्रद्धा। मैं इन तीनों शल्यों को मानसिक दोष मानता हूं और इन तीनों से मुक्त रहने को श्रेयस्कर, क्योंकि ये तीनों शल्य शरीर, मन और आत्मा को अस्वस्थ बनाते हैं। शल्य रखते हुए कोई भी कैसा भी व्रत ले ले किन्तु उस का वह समुचित रीति से पालन नहीं कर सकेगा। जिस प्रकार शरीर में कोई कांटा या तीखी चीज धंस जाय तो वेदना से तन, मन अशान्त हो जाता है, उससे भी ये तीनों शल्य आत्मा के लिये अत्यन्त वेदनाकारी होते हैं। इसलिये मैं शल्य रहित होकर अपने मुनिव्रतों का अनुपालन करता हूं।

मेरा मुनि धर्म किसी जाति, कुल, सम्प्रदाय, वेश या क्रियाकांड विशेष को महत्त्व नहीं देता। मेरे लिये वीतराग प्ररूपित संयम, त्याग और तप ही महत्त्वपूर्ण हैं। धर्माराधना और शरीर निर्वाह के लिये जितने उपकरणों की मर्यादा है, उससे अधिक मैं नहीं रखता। मैं कोई धातु या उससे बनी वस्तु या रुपया पैसा मुद्रा भी अपने पास नहीं रखता हूं। आवश्यकता पड़ने पर सुई तक भी यदि गृहस्थ के पास से लाता हूं तो उसे उसी दिन सूर्यास्त के पहिले लौटा देता हूं। मैं सूर्यास्त के वाद न कुछ खाता हूं, न पीता हूं न वैसी कोई वस्तु अपने पास रखता हूं। सदा पैदल विहार करता हूं —पैरों में जूते नही पहिनता या सिर पर पगड़ी, टोपी, छाता नहीं लगाता। जलती हुई धूप हो या कड़कड़ाती सर्दी—नंगे पैर और नंगे सिर ही रहता हूं। स्वावलम्वी और निष्परिग्रही होने के कारण नापित आदि से बाल नहीं बनवाता, बल्कि अपने ही हाथों से उन्हें उखाड़ कर लोच करता हूं। इसी प्रकार मैं गृहस्थ से भी कभी सेवा नहीं करवाता और बीमारी या अशक्ति में ही अत्यन्त संकोचपूर्वक अपने साथी मुनि की सहायता लेता हूं। मेरा आहार न मैं किसी से वनवाता हूं और न अपने निमित्त बने हुए आहार को ग्रहण ही करता हूं। जैसे गाय चरती है ऊपर ऊपर के घास को और उसे उखाड़ती नहीं है, उसी प्रकार मैं गृहस्थों के घर से थोड़ा थोड़ा आहार भिक्षा में लाकर गोचरी करता हूं जिससे उन्हें न कष्ट हो और न भोजन दुबारा बनाना पड़े। मैं विविध तपस्याएं करता हुआ संयम पूर्वक अपना निर्वाह करता हूं और आत्म-रमण की अवस्था में रहता हूं। मैं प्रति

दिन प्रातः एवं सायं प्रतिक्रमण के माध्यम से अपने पापों की आलोचना करता हूं, प्रायश्चित लेता हूं तथा भविष्य में उन्हें न दोहराने का संकल्प ग्रहण करता हूं। संयम की रक्षा के लिये कठिन परीषह भी मैं हर्षपूर्वक सहता हूं। अपने आचार के अनुसार निर्दोष आहार न मिले तो मैं स्वेच्छापूर्वक अनशन तप कर लेता हूं तथा निर्दोष जल न मिलने पर शान्तिपूर्वक तृषा को भी सह लेता हूं। मेरी प्रत्येक वृत्ति और प्रवृत्ति समता वृत्ति को बढ़ाने वाली होती है कि मैं समभावी और समदृष्टि बनते हुए समताधारी बनूं।

मैं क्षान्त, दान्त, निरारंभी हूं। मेरी क्षमा और मेरी जितेन्द्रियता मुझे छः काया के जीवों के रक्षक के रूप में निरारंभी बनाती है। समस्त त्रस एवं स्थावर जीवों की रक्षा करने के कारण मैं अनाथ नहीं रहा, उनका नाथ हो गया। जो निर्ग्रंथ धर्म को अंगीकार तो कर लेते हैं किन्तु परीषह एवं उपसर्गों के आने पर कायर वन जाते हैं और साधु धर्म का सम्यक् पालन नहीं करते हैं, यह उनकी अनाथता होती है। मैं ऐसी अनाथता को समझता हूं तथा उसे पास में भी नहीं फटकने देता।

मैं पांच समिति और तीन गुप्ति का आराधक हूं। इस रूप में मैं प्राणातिपात से निवृत्त होने के लिये यतनापूर्वक जो सम्यक् प्रवृति करता हूं वही समिति है। मैं ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के निमित्त युग परिमाण भूमि को एकाग्र चित्त से देखते हुए राजमार्ग आदि में यतनापूर्वक गमनागमन करता हूं, यतनापूर्वक ही भाषण में प्रवृत्ति करता हूं, गवैषण, ग्रहण और ग्रास सम्वन्धी ऐषणा के दोषों से अदूषित विशुद्ध आहार, पानी, उपकरण, शय्या, पार आदि औपग्रहिक उपधि को ग्रहण करता हूं, यतनापूर्वक भांड पात्र आदि उपकरणों को देखता, पूंजता व रखता हूं तथा उपयोग पूर्वक परिठवने योग्य लघुनीत, मल, मैल आदि को परिठवता हूं। मैं इस प्रकार अशुभ योग से निवृत्त होकर शुभ योग में प्रवृत्ति करता हूं। मैं मनोगुप्ति के माध्यम से पापपूर्ण संकल्प-विकल्प नहीं करते हुए योग निरोध के साथ अन्तरात्मा की अवस्था को प्राप्त होता हूं, वचन के अशुभ व्यापार को त्याग कर विकथा न करते हुए मौन रहता हूं एवं कायिक व्यापारों में प्रवृत्ति न करते हुए अयतना का परिहार कर अशुभ व्यापारों का त्याग करता हूं।

मैं आहार् की गवैषणा की शुद्धि के लिये सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादन दोष तथा दस ऐषणा दोष कुल बयालीस दोषों का परिहार करता हूं। उद्गम दोष हैं —(१) आधाकर्म— किसी खास साधु को मन में रखकर उसके निमित्त से सचित्त वस्तु को अचित्त करना या अचित्त वस्तु को पकाना। यह दोष प्रतिसेवन, प्रतिश्रवण, संवसन और अनुमोदन रूप चार प्रकार से लगता है। (२) औद्देशिक —सामान्य याचकों को देने की बुद्धि से आहार आदि तैयार करना। किसी खास साधु के लिये बनाया गया आहार यदि वही साधु ले तो आधाकर्म दोष और दूसरा साधु ले तो औद्देशिक दोष होता है। (३) पूर्तिकर्म—शुद्ध आहार में आधा कर्म आदि का अंश मिल जाना। ऐसा थोड़ा सा अंश भी पूरे निर्दोष आहार को सदोष बना देता है। (४) मिश्रजात — अपने और साधु के निमित्त से एक साथ पकाना। (५) स्थापन—साधु को देने की इच्छा से कुछ काल के लिये आहार को अलग रख देना। (६) प्राभृतिका—साधु को विशिष्ट आहार बहराने के लिये जीमनवार या निमंत्रण के समय को आगे पीछे करना। (७) प्रादुष्करण—आहार आदि को अंधेरी जगह में से प्रकाश वाली जगह में लाना। (८) क्रीत—साधु के लिये आहार मोल लाना। (९) प्रामित्य—साधु के लिये उधार लिया हुआ आहार लाना। (१०) परिवर्तित—साधु के लिये आटा-साटा करके आहार

लाना। (११) अभिहृत—साधु के लिये एक से दूसरे स्थान पर लाया हुआ आहार। (१२) उद्भिन्न—साधु को घी वगैरा देने के लिये सील बन्द कुप्पी का मुंह खोलकर देना। (१३) मालापहृत—एड़ियां उठाकर या निसरणी लगाकर आहार देना। (१४) आच्छेध—अपने आश्रित से छीनकर साधु को देना। (१५) अनिसृष्ट—किसी वस्तु के एक से अधिक मालिक होने पर सबकी इच्छा के बिना देना। (१६) अध्यवपूर्वक—साधुओं के आने का सुनकर आधण में अधिक ऊरा हुआ देना। उत्पादना के सोलह दोष—(१) धात्री-धाय को नौकरी लगवा कर आहार लेना (२) दूती-दूत का काम करके आहार लेना (३) निमित्त—ज्योतिष बता कर आहार लेना (४) आजीव—जाति, कुल प्रकट करके आहार लेना (५) वनीपक—प्रशंसा करके या दीनता दिखाकर आहार लेना (६) चिकित्सा—औषधि बताकर आहार लेना (७) क्रोध—गुस्सा करके या शाप, आदि का डर दिखाकर आहार लेना (८) मान-प्रभाव जमा कर आहार लेना (९) माया—छलावा करके आहार लेना (१०) लोभ—जिह्वा के स्वाद लोभ में अमुक आहार के लिये भटकना (११) प्राक्पश्चात्संस्तव— पहले या पीछे दाता की तारीफ करके आहार लेना (१२) विद्या-विद्या (जप होम आदि से सिद्ध) का प्रयोग करके आहार लेना (१३) मंत्र-मंत्र प्रयोग से आहार लेना (१४) चूर्ण-अदृश्य करने वाले सुरमे आदि के प्रयोग से आहार लेना। (१५) योग-सिद्धियां बताकर आहार लेना (१६) मूलकर्म-सावध क्रियाएं (गर्भपात आदि) बताकर आहार आदि लेना। ग्रहणैषणा के दस दोष—(१) शंकित—आधाकर्म आदि दोषों की शंका हो जाने पर भी आहार लेना (२) म्रक्षित—सचित्त वस्तु से छू जाने पर भी आहार लेना (३) निक्षिप्त—सचित्त वस्तु के ऊपर रखी वस्तु लेना (४) पिहित-सचित्त वस्तु द्वारा ढकी हुई वस्तु लेना (५) साहरित—जिस बर्तन में सचित्त वस्तु रखी हो, उसमें से सचित्त वस्तु निकाल कर उसी बर्तन से दिया हुआ आहार लेना (६) शराब पिये हुए व्यक्ति से या गर्भिणी महिला से या इसी प्रकार के किसी व्यक्ति से जो दान देने का अधिकारी न हो, उससे दान लेना (७) उन्मिश्र—सचित-अचित्त मिला हुआ आहार लेना (८) अपरिणत—पूरे पाक के बाद वस्तु के निर्जीव होने से पहिले ही उसे ले लेना (९) लिप्त—लेप करने वाली रसीली वस्तुओं को लेना (१०) छर्दित—जिसके छींटे नीचे पड़ रहे हो वैसा आहार लेना। मैं इन बयालीस दोषों को टालकर आहार आदि की गवेषणा करता हूं और निर्दोष आहार मिलने पर ही उसे ग्रहण करता हूं, अन्यथा आहार आदि से सम्बन्धित परीषहों को सहन करता हूं।

मैं अपने साध्वाचरण को समाचारी पूर्वक श्रेष्ठ बनाये रखता हूं और उस समाचारी के इन दस नियमों का पालन करता हूं—(१) इच्छाकार—मैं अपने साथी साधु से किसी कार्य की प्रार्थना करते अथवा स्वयमेव उसके द्वारा मेरा कार्य करते समय इच्छाकार कहता हूं अर्थात् कोई भी कार्य वलपूर्वक नहीं किया कराया जाता। (२) मिथ्याकार—संयम का पालन करते हुए कोई विपरीत आचरण हो गया हो तो उस पाप के लिये मैं 'मिच्छामि दुक्कड़' कहकर अपने पाप के निष्फल होने का पश्चाताप करता हूं। (३) तथाकार—मैं सूत्र आदि के विषय में गुरु को जब कुछ पूछता हूं और वे उत्तर देते हैं तो मैं 'जैसा आप कहते हैं, वही ठीक है' ऐसा कहता हूं। (४) आवश्यिका—आवश्यक कार्य के लिये जब मैं उपाश्रय से बाहर निकलता हूं तो 'आवस्सिया' कहता हूं कि मैं आवश्यक कार्य के लिये जाता हूं। (५) नैषेधिकी—बाहर से वापस उपाश्रय में लौटते हुए मैं 'निसीहिया' कहता हूं कि अब मुझे बाहर जाने का कोई काम नहीं है। (६) आपृच्छना—किसी कार्य में प्रवृति करने से पहिले मैं गुरु से 'क्या मैं यह करूं' ऐसा पूछता हूं। (७) प्रतिपृच्छा—गुरु ने पहले

जिस काम का निषेध कर दिया है, उसी कार्य में आवश्यकतानुसार फिर प्रवृत्ति करनी हो तो मैं गुरु से उसकी पुनः आज्ञा प्राप्त करता हूं। (८) छन्दना—पहले लाये हुए आहार के लिये अपने साथी साधुओं को आमंत्रण देता हूं। (९) निमंत्रणा—आहार लाने के लिये अपने साथी साधुओं को निमंत्रण देता हूं या पूछता हूं। (१०) उपसंपद्—ज्ञान आदि प्राप्त करने के लिये मैं अपना गच्छ छोड़कर किसी विशेष ज्ञान वाले गुरु का आश्रय लेता हूं।

मुझ सर्वथा परिग्रह के त्यागी, छः काया के रक्षक संयमस्थित मुनि के लिये बावन बातें आचरण के अयोग्य, अकल्पनीय तथा अनाचीर्ण बतलाई गई है जिनका मैं परिहार करता हूं। वे इस प्रकार हैं—(१) औद्देशिक—साधु के निमित्त से तैयार किये गये वस्त्र, पात्र, मकान, आहार आदि स्वीकार कर सेवन करना। (२) क्रीतकृत—साधु के लिये आहार आदि मोल लिया गया हो उसका सेवन करना। (३) नियाग—आहार पानी के लिये आमंत्रित होकर गृहस्थ के घर से भिक्षा लाना। (४) अभ्याहृत—घर या गांव से सामने लाया हुआ आहार लेना। (५) रात्रि भोजन—रात्रि में आहार लेना या दिन में लाया हुआ रात में खाना। (६) स्नान—देश या सर्व स्नान करना। (७) गंध—चन्दन आदि सुगंधित वस्तुओं का सेवन करना। (८) माल्य—पुष्पमाला का सेवन करना। (९) विजन—पंखे आदि से हवा लेना। (१०) सन्निधि—गुड़ घी आदि वस्तुओं का संचय करना। (११) गृहिपात्र—गृहस्थ के बर्तनों में भोजन करना। (१२) राजपिंड—राजा के लिये तैयार किया गया आहार लेना। (१३) किमिच्छिक—'तुमको क्या चाहिये?' —ऐसा याचक से पूछकर जहां उसकी इच्छानुसार दान दिया जाता है ऐसी दानशाला आदि से आहार लेना। (१४) संबाधन—अस्थि, मांस, त्वचा और रोम के लिये सुखकारी मर्दन अर्थात् हाथ पैर आदि अवयवों को दबाना। (१५) दन्त प्रधावन —अंगुली आदि से दांत साफ करना। (१६) संप्रश्न—गृहस्थ से कुशल आदि रूप सावद्य प्रश्न पूछना। (१७) देह प्रलोकन—दर्पण आदि में अपना शरीर देखना। (१८) अष्टापद नालिका—नाली से पासे फेंककर या अन्यथा जुआ खेलना। (१९) छत्रधारण—स्वयं छत्र धारण करना या कराना। (२०) चिकित्सा—रोग का ईलाज करना या बलवर्धक औषधियों का सेवन करना। (२१) उपानह—जूते मौजे आदि पहिनना। (२२) आरंभ—अग्नि का आरंभ करना। (२३) शय्यातर पिंड—शय्या, मकान आदि देने वाले गृहस्थ के घर से आहार लेना। (२४) आसन्दी—बेंत आदि के बने हुए आसन पर बैठना। (२५) पर्यंक—पलंग, खाट आदि का उपयोग करना। (२६) गृहान्तर निषद्या—गृहस्थ के घर जाकर बैठना या दो घरों के बीच में बैठना। (२७) गात्रोद्वर्तन—मैल उतारने के लिये शरीर पर उबटन करना। (२८) गृही वैयावृत्य—गृहस्थ की सेवा लेना। (२९) आजीववृत्तिता—जाति, कुल आदि बताकर भिक्षा लेना। (३०) तप्तानिवृत्तभोजित्व—मिश्र पानी का भोगना। (३१) आतुर स्मरण—भूख आदि से पीड़ित होने पर पहले भोगे हुए भोज्य पदार्थों को याद करना। (३२) सचित्त—सचित्त मूले का सेवन करना। (३३) सचित्त—अदरख का सेवन करना। (३४) सचित्त—इक्षुखंड (गंडेरी) का सेवन करना। (३५) कन्द—वज्रकंद आदि कंदों का सेवन करना। (३६) सचित्त—मूल (जड़) का सेवन करना। (३७) सचित्त—आम, नींबू आदि सचित्त फलों का सेवन करना। (३८) सचित्त—तिल आदि सचित्त बीजों का सेवन करना। (३९) सचित्त—संचल नमक का सेवन करना। (४०) सचित्त—सैंधव नमक का सेवन करना। (४१) सचित्त—रुमा लवण का सेवन करना। (४२) सचित्त—समुद्री नमक का सेवन करना। (४३) सचित्त—ऊपर से नमक का सेवन करना। (४४) सचित्त—काले नमक का सेवन करना। (४५)

धूपन—अपने वस्त्रादि को धूप आदि देकर सुगंधित करना। (४६) वमन—औषधि लेकर वमन करना। (४७) वस्तिकर्म—मल आदि की शुद्धि के लिये वस्तिकर्म करना। (४८) विरेचन—पेट साफ करने के लिये जुलाब लेना। (४६) अंजन—आंखों में अंजन लगाना। (५०) दंतकाष्ठ—दतौन आदि से दांत साफ करना। (५१) गात्राभ्यंग—सहस्रपाक आदि तेलों से शरीर का मर्दन करना तथा (५२) विभूषण—वस्त्र, आभूषण आदि से शरीर की शोभा करना। इन सभी बावन अनाचार को टालते हुए मैं अपनी संयम-यात्रा करता हूं।

मेरे साधु होने का स्पष्ट अर्थ है कि मैं सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र द्वारा मोक्ष की साधना में रत रहता हूं और तदनुसार अपने में उल्लिखित सत्ताईस गुणों का सद्भाव रहे—ऐसा यत्न करता हूं। वे गुण इस प्रकार हैं— (१-५) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पांच महाव्रतों का सम्यक् पालन करना। (६) रात्रि भोजन का त्याग करना। (७-११) श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय इन पांचों इन्द्रियों को वश में रखना —न इष्ट में राग और न अनिष्ट में द्वेष। (१२) भावसत्य—अन्तःकरण की भावनाओं की शुद्धि रखना। (१३) करण सत्य—वस्त्र, पात्र आदि की प्रतिलेखना तथा अन्य बाह्य क्रियाओं को शुद्ध उपयोग पूर्वक करना। (१४) क्षमा—क्रोध और मान का निग्रह अर्थात् दोनों कषायों को उदय में नही आने देना। (१५) विरागता—निर्लोभी वृत्ति रखना अर्थात् माया और लोभ कषायों को उदय में नहीं आने देना। (१६) मन की शुभ प्रवृत्ति (१७) वचन की शुभ प्रवृत्ति (१८) काया की शुभ प्रवृत्ति (१६-२४) पृथ्वीकाय, अपकाय, तेडकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय रूप छः काय के जीवों की रक्षा करना। (२५) योग सत्य—मन, वचन, काया रूप तीनों योगों की अशुभ प्रवृति का निरोध तथा शुभता में प्रवृत्ति। (२६) वेदनातिसहनता—शीत ताप आदि वेदना को समभाव से सहन करना तथा (२७) मारणन्तिकातिसहनता—मृत्यु के समय आने वाले कष्टों को सहन करना और ऐसा विचार करना कि ये कष्ट मेरे आत्म कल्याण के लिये हैं।

मैं सच्चा साधु या भिक्षु बनने का निरन्तर अध्यवसाय करता रहता हूं क्योंकि (१) मैं वीतराग देवों की आज्ञानुसार दीक्षा लेकर उनके वचनों में दत्तचित्त रहता हूं और न स्त्रियों के वश में होता हूं तथा न त्यागे हुए विषयों का फिर से सेवन करता हूं। (२) मैं पृथ्वी को न स्वयं खोदता हूं, न दूसरे से खुदवाता हूं, सचित्त जल न स्वयं पीता हूं, न दूसरे को पिलाता हूं, तीक्ष्ण शस्त्र के समान अग्नि को न स्वयं जलाता हूं, न दूसरे से जलवाता हूं। (३) मैं पंखे आदि से हवा न स्वयं करता हूं न दूसरे से करवाता हूं, वनस्पति काय का छेदन न मैं स्वयं करता हूं, न दूसरे से करवाता हूं और न बीज आदि सचित्त वस्तुओं का आहार करता हूं। (४) मैं औद्देशिक या अन्य प्रकार से सावद्य आहार का सेवन नहीं करता और भोजन न स्वयं बनाता हूं, न दूसरे से बनवाता हूं न बनाने वाले को अच्छा समझता हूं। (५) मैं वीतराग देवों के वचनों में अटूट श्रद्धा रखते हुए छः काय के जीवों को अपनी आत्मा के समान मानता हूं, पांच महाव्रतों का पालन करता हूं तथा पांच आश्रवों का निरोध करता हूं। (६) मैं चार कषायों को छोड़ता हूं, परिग्रह से रहित होता हूं एवं ग्रहस्थों के साथ आधिक संसर्ग नही रखता हूं। (७) मैं सम्यक् दृष्टि हूं, विवेकवान हूं तथा ज्ञान, तप व संयम पर विश्वास रखता हूं, तपस्या द्वारा पुराने पापों की निर्जरा करता हूं और अपने मन, वचन, काया को वश में रखता हूं। (८) मैं विविध प्रकार के अशन, पान, खादिम और स्वादिम को प्राप्त कर उन्हें दूसरे या तीसरे दिन के लिये न संचित रखता हूं, न दूसरे से रखवाता हूं।

जिस काम का निषेध कर दिया है, उसी कार्य में आवश्यकतानुसार फिर प्रवृत्ति करनी हो तो मैं गुरु से उसकी पुनः आज्ञा प्राप्त करता हूं। (८) छन्दना—पहले लाये हुए आहार के लिये अपने साथी साधुओं को आमंत्रण देता हूं। (६) निमंत्रणा—आहार लाने के लिये अपने साथी साधुओं को निमंत्रण देता हूं या पूछता हूं। (१०) उपसंपद्—ज्ञान आदि प्राप्त करने के लिये मैं अपना गच्छ छोड़कर किसी विशेष ज्ञान वाले गुरु का आश्रय लेता हूं।

मुझ सर्वथा परिग्रह के त्यागी, छः काया के रक्षक संयमस्थित मुनि के लिये बावन बातें आचरण के अयोग्य, अकल्पनीय तथा अनाचीर्ण बतलाई गई है जिनका मैं परिहार करता हूं। वे इस प्रकार हैं—(१) औद्देशिक—साधु के निमित्त से तैयार किये गये वस्त्र, पात्र, मकान, आहार आदि स्वीकार कर सेवन करना। (२) क्रीतकृत—साधु के लिये आहार आदि मोल लिया गया हो उसका सेवन करना। (३) नियाग—आहार पानी के लिये आमंत्रित होकर गृहस्थ के घर से भिक्षा लाना। (४) अभ्याहृत—घर या गांव से सामने लाया हुआ आहार लेना। (५) रात्रि भोजन—रात्रि में आहार लेना या दिन में लाया हुआ रात में खाना। (६) स्नान—देश या सर्व स्नान करना। (७) गंध—चन्दन आदि सुगंधित वस्तुओं का सेवन करना। (८) माल्य—पुष्पमाला का सेवन करना। (६) विजन—पंखे आदि से हवा लेना। (१०) सन्निधि—गुड़ घी आदि वस्तुओं का संचय करना। (११) गृहिमात्र—गृहस्थ के वर्तनों में भोजन करना। (१२) राजपिंड—राजा के लिये तैयार किया गया आहार लेना। (१३) किमिच्छिक—'तुमको क्या चाहिये ?' —ऐसा याचक से पूछकर जहां उसकी इच्छानुसार दान दिया जाता है ऐसी दानशाला आदि से आहार लेना। (१४) संबाधन—अस्थि, मांस, त्वचा और रोम के लिये सुखकारी मर्दन अर्थात् हाथ पैर आदि अवयवों को दबाना। (१५) दन्त प्रधावन —अंगुली आदि से दांत साफ करना। (१६) संप्रश्न—गृहस्थ से कुशल आदि रूप सावद्य प्रश्न पूछना। (१७) देह प्रलोकन—दर्पण आदि में अपना शरीर देखना। (१८) अष्टापद नालिका—नाली से पाशे फैंककर या अन्यथा जुआ खेलना। (१६) छत्रधारण—स्वयं छत्र धारण करना या कराना। (२०) चिकित्सा—रोग का ईलाज करना या बलवर्धक औषधियों का सेवन करना। (२१) उपानह—जूते मौजे आदि पहिनना। (२२) आरंभ—अग्नि का आरंभ करना। (२३) शय्यातर पिंड—शय्या, मकान आदि देने वाले गृहस्थ के घर से आहार लेना। (२४) आसन्दी—बेंत आदि के बने हुए आसन पर बैठना। (२५) पर्यंक—पलंग, खाट आदि का उपयोग करना। (२६) गृहान्तर निषद्या—गृहस्थ के घर जाकर बैठना या दो घरों के बीच में बैठना। (२७) गात्रोद्वर्तन—मैल उतारने के लिये शरीर पर उबटन करना। (२८) गृही वैयावृत्य—गृहस्थ की सेवा लेना। (२६) आजीववृत्तिता—जाति, कुल आदि बताकर भिक्षा लेना। (३०) तप्तानिवृत्तभोजित्व—मिश्र पानी का भोगना। (३१) आतुर स्मरण—भूख आादि से पीड़ित होने पर पहले भोगे हुए भोज्य पदार्थों को याद करना। (३२) सचित्त—सचित्त मूले का सेवन करना। (३३) सचित्त—अदरख का सेवन करना। (३४) सचित्त—इक्षुखंड (गंडेरी) का सेवन करना। (३५) कन्द—वज्रकंद आदि कंदों का सेवन करना। (३६) सचित्त—मूल (जड़) का सेवन करना। (३७) सचित्त—आम, नींबू आदि सचित्त फलों का सेवन करना। (३८) सचित्त—तिल आदि सचित्त बीजों का सेवन करना। (३६) सचित्त—संचल नमक का सेवन करना। (४०) सचित्त—सैंधव नमक का सेवन करना। (४१) सचित्त—रूमा लवण का सेवन करना। (४२) सचित्त—समुद्री नमक का सेवन करना। (४३) सचित्त—ऊसर से नमक का सेवन करना। (४४) सचित्त—काले नमक का सेवन करना। (४५)

धूपन—अपने वस्त्रादि को धूप आदि देकर सुगंधित करना। (४६) वमन—औषधि लेकर वमन करना। (४७) वस्तिकर्म—मल आदि की शुद्धि के लिये वस्तिकर्म करना। (४८) विरेचन—पेट साफ करने के लिये जुलाब लेना। (४६) अंजन—आंखों में अंजन लगाना। (५०) दंतकाष्ठ—दतौन आदि से दांत साफ करना। (५१) गात्राभ्यंग—सहस्रपाक आदि तेलों से शरीर का मर्दन करना तथा (५२) विभूषण—वस्त्र, आभूषण आदि से शरीर की शोभा करना। इन सभी बावन अनाचार को टालते हुए मैं अपनी संयम-यात्रा करता हूं।

मेरे साधु होने का स्पष्ट अर्थ है कि मैं सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र द्वारा मोक्ष की साधना में रत रहता हूं और तदनुसार अपने में उल्लिखित सत्ताईस गुणों का सद्भाव रहे—ऐसा यत्न करता हूं। वे गुण इस प्रकार हैं— (१-५) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पांच महाव्रतों का सम्यक् पालन करना। (६) रात्रि भोजन का त्याग करना। (७-११) श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय इन पांचों इन्द्रियों को वश में रखना —न इष्ट में राग और न अनिष्ट में द्वेष। (१२) भावसत्य—अन्तःकरण की भावनाओं की शुद्धि रखना। (१३) करण सत्य—वस्त्र, पात्र आदि की प्रतिलेखना तथा अन्य बाह्य क्रियाओं को शुद्ध उपयोग पूर्वक करना। (१४) क्षमा—क्रोध और मान का निग्रह अर्थात् दोनों कषायों को उदय में नही आने देना। (१५) विरागता—निर्लोभी वृत्ति रखना अर्थात् माया और लोभ कषायों को उदय में नहीं आने देना। (१६) मन की शुभ प्रवृत्ति (१७) वचन की शुभ प्रवृत्ति (१८) काया की शुभ प्रवृत्ति (१६-२४) पृथ्वीकाय, अपकाय, तेडकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय रूप छः काय के जीवों की रक्षा करना। (२५) योग सत्य—मन, वचन, काया रूप तीनों योगों की अशुभ प्रवृति का निरोध तथा शुभता में प्रवृत्ति। (२६) वेदनातिसहनता—शीत ताप आदि वेदना को समभाव से सहन करना तथा (२७) मारणन्तिकातिसहनता—मृत्यु के समय आने वाले कष्टों को सहन करना और ऐसा विचार करना कि ये कष्ट मेरे आत्म कल्याण के लिये हैं।

मैं सच्चा साधु या भिक्षु बनने का निरन्तर अध्यवसाय करता रहता हूं क्योंकि (१) मैं वीतराग देवों की आज्ञानुसार दीक्षा लेकर उनके वचनों में दत्तचित्त रहता हूं और न स्त्रियों के वश में होता हूं तथा न त्यागे हुए विषयों का फिर से सेवन करता हूं। (२) मैं पृथ्वी को न स्वयं खोदता हूं, न दूसरे से खुदवाता हूं, सचित्त जल न स्वयं पीता हूं, न दूसरे को पिलाता हूं, तीक्ष्ण शस्त्र के समान अग्नि को न स्वयं जलाता हूं, न दूसरे से जलवाता हूं। (३) मैं पंखे आदि से हवा न स्वयं करता हूं न दूसरे से करवाता हूं, वनस्पति काय का छेदन न मैं स्वयं करता हूं, न दूसरे से करवाता हूं और न बीज आदि सचित्त वस्तुओं का आहार करता हूं। (४) मैं औद्देशिक या अन्य प्रकार से सावद्य आहार का सेवन नहीं करता और भोजन न स्वयं बनाता हूं, न दूसरे से बनवाता हूं न बनाने वाले को अच्छा समझता हूं। (५) मैं वीतराग देवों के वचनों में अटूट श्रद्धा रखते हुए छः काय के जीवों को अपनी आत्मा के समान मानता हूं, पांच महाव्रतों का पालन करता हूं तथा पांच आश्रवों का निरोध करता हूं। (६) मैं चार कषायों को छोड़ता हूं, परिग्रह से रहित होता हूं एवं ग्रहस्थों के साथ अधिक संसर्ग नही रखता हूं। (७) मैं सम्यक् दृष्टि हूं, विवेकवान हूं तथा ज्ञान, तप व संयम पर विश्वास रखता हूं, तपस्या द्वारा पुराने पापों की निर्जरा करता हूं और अपने मन, वचन, काया को वश में रखता हूं। (८) मैं विविध प्रकार के अशन, पान, खादिम और स्वादिम को प्राप्त कर उन्हें दूसरे या तीसरे दिन के लिये न संचित रखता हूं, न दूसरे से रखवाता हूं।

(९) मैं विविध प्रकार के अशन पान आदि मिलने पर साधर्मी साधुओं को निमंत्रित करके स्वयं आहार करता हूं और स्वाध्याय में लग जाता हूं। (१०) मैं क्लेश उत्पन्न करने वाली बातें नहीं करता, किसी पर क्रोध नहीं करता, निज इन्द्रियों को चंचल नहीं होने देता, सदा प्रशान्त रहता हूं, मन, वचन, काया को दृढ़तापूर्वक संयम में स्थिर रखता हूं, कष्टों को शान्ति से सहता हूं तया उचित कार्य का अनादार नहीं करता हूं। (११) मैं इन्द्रियों को कंटक के समान दुःख देने वाले आक्रोश, प्रहार तया तर्जना आदि को शान्ति से तथा भय, भयंकर शब्द व प्रहास आदि के उपसर्गों को सममाव से सहता हूं। (१२) मैं श्मशान में प्रतिमा अंगीकार करके भूत, पिशाच आदि के भयंकर दृश्यों को देखकर भी विचलित नहीं होता हूं और विविध प्रकार के तपाराधन में शरीर की चिन्ता नहीं करता हूं। (१३) मैं अपने शरीर के ममत्व को भी छोड़ देता हूं —वार वार धमकाये जाने पर, मारे जाने पर या घायल हो जाने पर भी शान्त रहता हूं तथा निदान या कौतूहल के विना पृथ्वी के समान सभी कष्टों को समभाव पूर्वक सहता हूं। (१४) मैं अपने शरीर से परीषहों को जीत कर अपनी आत्मा को जन्म-मरण के चक्र से निकालता हूं, जन्म मरण को महाभय समझ कर तप और संयम में लीन रहता हूं। (१५) मैं अपने हाथ, पैर, वचन और इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखता हूं— सदा आत्म चिन्तन करता हुआ समाधि में लीन रहता हूं एवं यथार्थ को अच्छी तरह से जानता हूं। (१६) मैं भंडोपकरण आदि उपधि में किसी प्रकार की मूर्छा या गृद्धि नहीं रखता हूं, अज्ञात कुल की गोचरी करता हूं। चारित्र का घात करने वाले दोषों से अलग रहता हूं। मैं क्रय, विक्रय या सन्निधि से दूर रहता हूं और सभी प्रकार के संगों से अलग रहता हूं। (१७) मैं चंचलता रहित होता हूं, रसों में गृद्ध नहीं होता हूं, जीवित रहने की भी अभिलाषा नहीं रखता हूं तथा ज्ञान आदि गुणों में आत्मा को स्थिर करके निश्छल वृत्ति से ऋद्धि, सत्कार, पूजा आदि की इच्छा नहीं रखता हूं। (१८) मैं दूसरे को कुशील नहीं कहता या ऐसी भी कोई वात नहीं कहता जिससे उसे क्रोध आवे और पुण्य व पाप के स्वरूप को जानकर मैं अपने को वड़ा नहीं मानता। (१९) मैं जाति, रूप, लाभ व श्रुत का मद नहीं करता और सभी मद त्याग कर धर्मध्यान में लीन रहता हूं। (२०) मैं वीतराग देवों के सिद्धान्तों का सुपाठक हूं तथा धर्म का शुद्ध उपदेश देता हूं, स्वयं धर्म में स्थिर रहकर दूसरों को स्थिर करता हूं एवं दीक्षित होकर कुशील, आरंभ आदि छोड़ कर निन्दनीय परिहास या कुचेष्टाएं नहीं करता हूं। (२१) मैं भावना भाता हूं कि उपरोक्त गुण-सम्पन्नता प्राप्त करते हुए मैं इस अपवित्र और नश्वर देहवास को छोड़कर मोक्षरूपी हित में अपने को स्थिर करके जन्म मरण के वंधन को तोड़ दूं तथा ऐसी गति में जाऊं जहां से वापस आगमन न हो अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लूं।

मैं सर्वविरति साधु के रूप में तीन मनोरथों का चिन्तन करता हूं कि (१) कव वह शुभ समय आवेगा जव मैं अल्प या अधिक शास्त्र-ज्ञान सीखूंगा (२) कव वह शुभ समय आवेगा, जव मैं एकल विहार की भिक्षु प्रतिमा (भिक्खू पड़िमा) अंगीकार कर विचरूंगा तथा (३) कव वह शुभ समय आवेगा जव मैं अन्त समय में संलेखना स्वीकार कर, आहार पानी का त्याग कर, पादोपगमन मरण अंगीकार कर जीवन मरण की इच्छा नहीं करता हुआ विचरूंगा।

मैं अपने अभिग्रह विशेप रूप भिक्षु प्रतिमाएं अंगीकार करूंगा। ये प्रतिमाएं वारह हैं जो सात एक से लेकर सात मास तक की जाती हैं तथा आठ से दस सात दिवस रात्रि तक और ग्यारहवीं एक अहोरात्रि तक एवं वारहवीं प्रतिमा केवल एक रात्रि तक की होती हैं। वारह प्रतिमाएं इस प्रकार हैं—(१) पहली प्रतिमा में एक दत्ति अन्न की और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है।

एक अखंड धारा को एक दत्ति कहते हैं। जहां एक व्यक्ति के लिये भोजन बना हो, वहीं से भिक्षा लेनी चाहिये। याचनी, पृच्छनी, अनुज्ञापनी, पुठ्ठ वागरणी, आदि चार प्रकार की भाषा बोलनी चाहिये, तीन प्रकार के स्थान पर ठहरना चाहिये तथा विहार कष्ट सहने चाहिये। एक माह की इसकी अवधि है। तदनन्तर दूसरी से लेकर सातवीं प्रतिमा तक पहली प्रतिमा के सभी नियमों का पालन करते हुए प्रतिमा के क्रमानुसार दो से लेकर सात दत्ति अन्न व पानी ग्रहण किया जाता है। फिर आठवीं प्रतिमा में एकान्तर चौविहार उपवास किया जाता है तथा ध्यान में कायक्लेश सहित समय व्यतीत किया जाता है। नवमीं प्रतिमा में चौविहार बेले बेले पारणा किया जाता है एवं दंडासन, लकुड़ासन और उत्कुटासन से ध्यान किया जाता है। दसवीं प्रतिमा में चौविहार तेले तेले पारणा किया जाता है तथा गोदोहनासन, वीरासन व आम्रकुब्जासन से ध्यान किया जाता है। ग्यारहवीं प्रतिमा में, जो अहोरात्रिकी होती है, चौविहार बेला किया जाता है और दोनों पैरों को कुछ संकुचित कर हाथों को घुटनों तक लम्बा करके कायोत्सर्ग किया जाता है। एक रात्रिकी बारहवीं प्रतिमा में चौविहार तेले के साथ अनिमेष नैत्रों से निश्चलतापूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता है।

मैं समता रूप सामायिक को धारण करने वाला श्रमण हूं, अतः (१) सर्प के समान अपना घर नहीं बनाता और एक ही जगह नहीं ठहरता, (२) पर्वत के समान परीषह—उपसर्गो से कम्पित नहीं होता और अनुकूलता—प्रतिकूलता को समभाव से सहते हुए संयम में दृढ़ रहता हूं (३) अग्नि के समान ज्ञान और सूत्राभ्यास से तृप्त नहीं होता तथा तप रूपी तेज से प्रदीप्त होता हूं (४) सागर के समान मर्यादाओं का उल्लंधन नहीं करता और छोटी-छोटी बातों से कुपित नहीं होते हुए ज्ञान गंभीर बना रहता हूं (५) आकाश के समान किसी के भी आलंबन से रहित निरावलम्बी होकर ग्राम नगर आदि में यथेच्छ विहार करता हूं (६) वृक्ष के समान समभाव पूर्वक कष्टों को सहता हूं तथा धर्मोपदेश के द्वारा प्राणियों को मुक्ति का मार्ग बतलाता हूं—अपमान, सम्मान में समभाव रखता हूं (७) भ्रमर के समान एक-एक घर से थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करता हूं ताकि किसी को कष्ट न हो (८) हरिण के समान पाप कार्यों से सदा डरता हूं और पाप स्थानों पर एक क्षण के लिये भी नहीं ठहरता हूं (९) पृथ्वी के समान सभी कष्टों को समभाव से सहता हूं तथा अपने अपकारी-उपकारी, निन्दक-प्रशंसक सबको समान रूप से उपदेश देता हूं, (१०) कमल के समान शरीर की उत्पत्ति काम भोगों से होने पर भी उसे काम भोगों में लिप्त नहीं होने देता हूं और उनसे उसे दूर रखता हूं (११) सूर्य के समान नवतत्त्वों का स्वयं ज्ञाता बनकर धर्मोपदेश द्वारा भव्य जीवों के अज्ञानान्धकार को दूर करता हूं तथा (१२) वायु के समान अपनी इच्छानुसार सभी दिशाओं में अप्रतिबद्ध विहार करता हूं और जन-जन को कल्याण मार्ग बताता हूं।

मैं रत्नत्रयाराधक मुनि हूं—सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सतत आराधना करता हूं, क्योंकि यही मोक्ष का मार्ग है तथा मोक्ष प्राप्ति ही मेरा साध्य है। मुनि पद ही मूल पद है जो उपाध्याय, आचार्य तथा अरिहंत के भी होता है और सिद्ध भी मुनि पद से ही हुआ जाता है।

मैं ज्ञान साधक उपाध्याय हूं

मैं रत्नत्रयाराधक मुनि होता हूं, तभी ज्ञान साधक उपाध्याय हो सकता हूं, क्योंकि गच्छ, गण या संघ की सुव्यवस्था के लिये योग्य साधुओं को विशेष अधिकार युक्त पदवी दी जाती है। सामान्य रूप से इस प्रकार की सात पदवियां निश्चित की गई हैं —(१) आचार्य (२) उपाध्याय

(३) प्रवर्तक —आचार्य के आदेश से वैयावृत्य आदि धर्म कार्यों में साधुओं को ठीक तरह से प्रवृत्ति कराने वाले, (४) स्थविर—संवर से गिरते हुए या दुःखी होते हुए साधुओं को स्थिर करने वाले तथा दीक्षा, वय, शास्त्रज्ञान में वृद्ध, (५) गणी—कुछ साधुओं के समूह एक गच्छ के स्वामी-शास्ता (६) गणधर—आचार्य की आज्ञा में रहते हुए गुरु के कथनानुसार कुछ साधुओं को लेकर अलग विचरने वाले गण के धारक, तथा (७) गणावच्छेदक —गण की सारी व्यवस्था तथा कार्यों का ध्यान रखने वाले। यों तीन से लेकर सात तक की पदवियां आचार्य के अधीन होती हैं अतः इनका उस पद में समावेश मान लिया जाता है। उपाध्याय का पद यद्यपि आचार्य के अनुशासन में ही होता है तथापि अपने कार्य की गरिमा के कारण पांच पदों में एक वन्दनीय पद माना गया है।

मैं ज्ञानसाधक उपाध्याय हूं। मैं शास्त्र और धर्म साहित्य स्वयं पढ़ता हूं तथा जिज्ञासा सम्पन्न साधुओं को पढ़ाता हूं। ज्ञानार्जन तथा अध्ययन-अध्यापन मेरा पुनीत कर्त्तव्य है। मैं शिष्यों को सूत्रों का अर्थ सिखाता हूं तथा सर्वज्ञभाषित एवं परम्परा से गणधर आदि द्वारा उपदिष्ट ग्यारह अंगों तथा वारह उपांगों का अध्ययन कराता हूं। मेरे उपाध्याय पद के साथ पच्चीस गुणों की सम्पन्नता होनी आवश्यक मानी गई है। धारण किये जाने वाले ये पच्चीस गुण इस प्रकार हैं —

ग्यारह अङ्ग

(१) आचाराङ्गसूत्र
(२) सूत्रकृताङ्ग सूत्र
(३) स्थानांग सूत्र
(४) समवायाङ्ग सूत्र
(५) भगवती सूत्र
(६) ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र
(७) उपासकदशाङ्ग सूत्र
(८) अन्त कृछशाङ्ग सूत्र
(९) अनुतरोपपातिक सूत्र
(१०) प्रश्न व्याकरण सूत्र
(११) विपाक सूत्र

वारह उपाङ्ग

(१) ओपपाटिक सूत्र
(२) राजप्रश्नीय सूत्र
(३) जीवाभिगम सूत्र
(४) प्रज्ञापना सूत्र
(५) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र
(६) चन्द्र प्रज्ञप्ति सूत्र
(७) सूर्य प्रज्ञप्ति सूत्र
(८) विरमावक्तिका सूत्र
(९) कल्पवतंसक सूत्र
(१०) पुष्फिया सूत्र
(११) पुष्प चूलिका सूत्र
(१२) वह्निदशा सूत्र

ग्यारह अंगों तथा वारह उपांगों के ज्ञान रूप गुणों के सिवाय चौवीसवां गुण है चरणसप्तति अर्थात् सदा काल जिन सत्तर वोलों का आचरण किया जाता है चरण सत्तर कहलाते हैं जो इस प्रकार हैं—पांच महाव्रत, दस श्रमण धर्म, सत्रह संयम, दस वैयावृत्य, नव व्रह्मचर्य गुप्ति, रत्नत्रय, वारह तप तथा चार कपाय निग्रह। पच्चीसवां गुण कहा गया है करणसप्तति अर्थात् प्रयोजन उपस्थित होने पर जिन सत्तर वोलों का आचरण किया जाता है, वे करण सत्तर कहलाती हैं जो इस प्रकार हैं—चार पिंड विशुद्धि, पांच समिति, वारह भावना, वारह प्रतिभा, पांच इन्द्रिय निरोध, पच्चीस प्रतिलेखना, तीन गुप्ति तथा चार अभिग्रह।

ज्ञान साधना की दृष्टि से ये पच्चीस गुण रूपी ज्ञान का महासागर है, जिसमें उपाध्याय के पद पर रहते हुए निरन्तर डुबकियाँ लगाता हूं और ज्ञानार्जन के अमूल्य मोती एकत्रित करता हूं तथा साधर्मी साधु की भव्य आत्माओं को उनसे अलंकृत बनाता हूं। मेरा यह क्षेत्र ऐसा है जिसमें विचरण करते हुए मुझे असीम आत्मानन्द का अनुभव होता है और यह पूर्ण स्वाभाविक है। कारण, आत्मा का स्वभाव ज्ञानमय है और उस ज्ञान की गहराई में उतरने का जब मेरी आत्मा को ऐसा सुअवसर प्राप्त है तो असीम आनन्द की अनुभूति पूर्णतः स्वाभाविक है। मेरा सम्पूर्ण संसार सम्यक् ज्ञान का संसार है जिसमें मैं अहर्निश रमण करता हूं और ज्ञान के मर्म की शोध करता हूं। यह शोध ही वस्तुतः सत्य की शोध होती है।

संघ व्यवस्था की दृष्टि से भी मेरे पद के आचार्य पद के साथ कई प्रकार के कर्त्तव्य (जिनका विवरण आचार्य पद के विश्लेषण के साथ दिया गया है) निर्धारित हैं, जिनका सम्यक् निर्वाह भी मैं करने में यत्नरत रहता हूं।

मेरे उपाध्याय पद का विशिष्ट महत्त्व है, तभी तो उसे महामंत्र में स्थान दिया गया है। पांच पदों के इस सर्वश्रेष्ठ महामंत्र में मेरा पद चौथे स्थान पर है—आचार्य के पद के पश्चात् ही उसका क्रम है। लोक में विद्यमान सर्व साधुओं को नमस्कार करने के बाद उपाध्याय को नमस्कार किया गया है। यह नमस्कार महामंत्र गुणाधारित है, व्यक्तिपरक नहीं। उस दृष्टि से उपाध्याय को नमस्कार करते हुए किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार नहीं किया जाता, किन्तु उन सभी महापुरुषों को समुच्चय रूप से नमस्कार किया जाता है, जो उपाध्याय पद के धारक हैं तथा इस पद के पच्चीस गुणों से विभूषित हैं। अतः मेरी स्पष्ट मान्यता है कि मुझे उपाध्याय पद से किया जाने वाला नमस्कार मुझे नहीं, अपितु मेरे द्वारा अर्जित गुणों को है। इस दृष्टि से मेरी विनम्रता और अधिक बढ़ जानी चाहिये वरना यदि मैं ही अपने गुणों में हीनता प्राप्त करता हूं तो मैं अपने पद का अधिकारी ही नहीं रहता हूं। मैं ज्ञानसाधक उपाध्याय हूँ और ज्ञानसाधना में तल्लीन बना रहना चाहता हूँ।

मैं अनुशासक आचार्य हूँ

मैं अनुशासक आचार्य हूँ—संघ का अनुशासन मेरा दायित्व है। मैं पंच प्रकार के आचार का स्वयं कठिनता से निष्ठापूर्वक पालन करता हूं तथा संघ के सभी साधुओं से उस आचार का उसी रीति से पालन करवाने की चेष्टा में रत रहता हूं। चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, द्रव्यानुयोग तथा गणितानुयोग रूप चारों अनुयोगों के ज्ञान को मैं धारण करता हूं एवं चतुर्विध संघ (साधु, साध्वी, श्रावक व श्राविका) के संचालन में अपना सामर्थ्य नियोजित रखता हूं। मैं स्वयं आचार्य पद की अभिलाषा नहीं करता हूं किन्तु मेरे आचार्य गुरु जब मेरे जीवन में वैसी योग्यता का सद्भाव देखते हैं और मुझे इस पद के लिये मनोनीत करते हैं तब मेरा परम कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं उनके द्वारा तथा चतुर्विध संघ की पूर्ण सहमति के आधार पर अपने मनोनयन के बाद संघ की संचालन व्यवस्था में अपने दायित्व का पूर्ण नम्रता एवं निष्ठा से निर्वाह करूं।

यों आचार्य तीन प्रकार के माने गये हैं—शिल्पाचार्य, कलाचार्य तथा धर्माचार्य, किन्तु मैं धर्माचार्य के रूप में दायित्वधारी होता हूं। धर्माचार्य स्वयं श्रुत धर्म का पालन करने वाला, दूसरों को उसका उपदेश देने वाला और संघ का नायक होता है और उसकी सेवा पारलौकिक हित-कर्म निर्जरा आदि के लिये की जाती है। वीतराग देवों ने आचार्य पद में तीन प्रकार की ऋद्धि का निर्देश दिया

है —(१) ज्ञानऋद्धि—विशिष्ट श्रुत की सम्पदा, (२) दर्शनऋद्धि—आगमों में शंकारहित होकर प्रवचन की प्रभावना वाले शास्त्रों का ज्ञान, एवं (३) चारित्रऋद्धि—अतिचार हित शुद्ध तथा उत्कृष्ट चारित्र का पालन। इसी दृष्टि से यह भी निर्देशित किया गया है कि धर्माचार्य की पूर्ण विनय भक्ति की जाय जो इस प्रकार हो—धर्माचार्य को देखते ही उन्हें वन्दना-नमस्कार करना, सत्कार-सम्मान देना, यावत् उनकी उपासना करना, प्रासुक ऐषणीय आहार-पानी का प्रतिलाभ देना एवं पीढ़, फलग, शय्या, संथारे के लिये निमंत्रण देना। तदनुसार आचार्य के भी छः कर्तव्य निर्धारित किये गये हैं—(१) सूत्रार्थ स्थिरीकरण—सूत्र के विवाद ग्रस्त अर्थ का निश्चय करना और सूत्र एवं अर्थ में चतुर्विध संघ को स्थिर करना। (२) विनय —सवके साथ विनम्रता का व्यवहार करना। (३) गुरुपूजा—अपने से दीक्षा वृद्ध याने स्थविर साधुओं की भक्ति करना। (४) शैक्षवहुमान— शिक्षा-ग्रहण करने वाले तथा नवदीक्षित साधुओं का सत्कार करना। (५) दानपति श्रद्धावृद्धि—दान देने में दाता की श्रद्धा में अभिवृद्धि करना। एवं (६) बुद्धिवलवर्धन —अपने शिष्यों की विवेक वुद्धि एवं आध्यात्मिक शक्ति को वढ़ाना।

आचार्य पद में छत्तीसगुणों के सद्भाव का उल्लेख है। आठ सम्पदाएं तथा प्रत्येक के चार-चार भेद होने से वत्तीस एवं विनय के चार भेद मिलाने से कुल छत्तीस गुण होते हैं। अन्य अपेक्षा से ज्ञानाचार, दर्शनाचार एवं चारित्राचार के प्रत्येक के आठ-आठ भेद होने से चौवीस तथा वारह तप मिला कर छत्तीस गुण बताये गये हैं। एक अन्य अपेक्षा से आठ सम्पदा, दस स्थिति कल्प, वारह तप और छः आवश्यक कुल छत्तीस गुण कहे गये हैं। आचार्य की आठ सम्पदाएं इस प्रकार मानी गई हैं—(१) आचार सम्पदा— चारित्र की दृढ़ता का सद्भाव। चार भेद (अ) संयम क्रियाओं में ध्रुवयोग युक्त होना (व) गर्वरहित होकर सदा विनीत भाव से रहना (स) अप्रतिवद्ध विहार करते रहना व (द) गंभीर विचार एवं दृढ़ स्वभाव रखना। अल्प आयु हो तब भी गुरु गंभीर रहना। (२) श्रुत सम्पदा—श्रुत ज्ञान रूप शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान। चार भेद —(अ) बहुश्रुत अर्थात् शास्त्र ज्ञानी, पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के दृष्टा तथा प्रचार में समर्थ, (ब) परिचित श्रुत अर्थात् शास्त्रों की पूर्ण स्मृति, उच्चारण शुद्धि तथा स्वाध्याय का अभ्यास, (स) विचित्र श्रुत—अपने और दूसरे मतों को जानकर शास्त्रों का तुलनात्मक ज्ञान, सोदाहरण मनोहर व्याख्यान और श्रोताओं पर प्रभाव। व (द) घोषविशुद्धि श्रुत—शास्त्र का उच्चारण करते समय उदात्त, अनुदात्त, त्वरित, ह्रस्व, दीर्घ आदि स्वर-व्यंजनों पर पूरा ध्यान हो। (३) शरीर सम्पदा—देह का प्रभावशाली एवं सुसंगठित होना। चार भेद—(अ) आरोहपरिणाह सम्पन्न—शरीर की लम्वाई-चौड़ाई-मोटाई सुडौल हो और प्रभाव पूर्ण हो, (व) विकलांग, अधूरा या बेडौल अंग न हो, (स) स्थिर संहनन—शरीर का संगठन स्थिर हो—ढीलाढाला न हो, एवं (द) प्रतिपूर्णेन्द्रिय—सभी इन्द्रियां पूर्ण हो, सदोष न हो। (४) वचन सम्पदा—मधुर, प्रभावी एवं आदेय वचनों की सम्पन्नता। चार भेद—(अ) आदेय वचन—जनता द्वारा ग्रहण करने योग्य, (व) मधुर वचन—मीठे वचन हों, कर्णकटु नहीं, (स) अनिश्चित वचन—कषाय के वशीभूत होकर वचन नहीं निकलें, शान्त भाव से बोले। व (द) असंदिग्ध वचन —आशय स्पष्ट हो, श्रोताओं में किसी प्रकार का संदेह उत्पन्न न हो। (५) वाचना सम्पदा—शिष्यों को शास्त्र पढ़ाने की योग्यता। चार भेद—(अ) विचयोद्देश—किस शिष्य को कौनसा शास्त्र किस समय पढ़ाना चाहिये—इसका ठीक निर्देश कर सके, (व) विचय वाचना—शिष्य की योग्यता के अनुसार उसे वाचना देना, (स) शिष्य की ग्रहण योग्य वुद्धि देखकर उसे पढ़ाना, तथा (द) अर्थ

निर्यापकत्त्व—अर्थ की संगति करते हुए पढ़ाना। यह संगति प्रमाण, नय, कारक, समास, विभक्ति आदि के साथ हो। पूर्वापर संबंध के साथ अर्थ विन्यास किया जाय। (६) मति सम्पदा—मतिज्ञान की उत्कृष्टता। चार भेद (अ) अवग्रह, (ब) ईहा, (स) अवाय व (द) धारणा। (७) प्रयोगमति सम्पदा—अवसर का ज्ञाता कि शास्त्रार्थ या विवाद किस समय किया जाय। चार भेद —(अ) अपनी शक्ति को पहले तोल ले, (ब) सभा को समझ कर शास्त्रार्थ में प्रवृत्त हो, (स) क्षेत्र को समझ कर उपसर्ग आदि का अनुमान लगाले, व (द) शास्त्रार्थ के विषय को भली प्रकार समझ लें। (८) संग्रहपरिज्ञा सम्पदा-वर्षावास आदि के लिये मकान, पाटला, वस्त्रादि का ध्यान रखकर आचार के अनुसार संग्रह करना। चार भेद—(अ) मुनियों के लिये योग्य स्थान देखना, (ब) पीढ़, फलक, शय्या, संथारे वगैरा का ध्यान रखना, (स) समय के अनुसार सभी आचारों का पालन करना तथा कराना, एवं (द) अपने से बड़ों का विनय करना। प्रवचन सारोद्धार के टीकाकार के अनुसार आचार्य के छत्तीस गुण इस प्रकार भी गिनाये गये हैं—(१) देश युत—साढ़े पच्चीस आर्य देशों में जन्म लेने वाला व आर्य भाषा जानने वाला, (२) कुल युत—पितृ पक्ष से उत्तम कुल में उत्पन्न, (३) जातियुत—मातृपक्ष से उच्च जाति में उत्पन्न, (४) रूपयुत—स्वरूपवान्, गुणवान् तथा आदेय वचन युक्त, (५) संहनन युत—विशिष्ट शारीरिक सामर्थ्य युक्त, (६) धृतियुत —विशिष्ट मानसिक स्थिरता एवं धैर्य का धारक, (७) अनाशंसी—श्रोताओं को खरी बात सुनाने वाला निस्पृही, (८) अविकत्थन—आत्मश्लाघा नहीं करने वाला, मितभाषी (९) अमायी—अशठ और सरल परिणामी, (१०) स्थिर परिपाटी—निरन्तर अभ्यास से अनुयोग क्रम को स्थिर कर लेने वाला तथा व्याख्यान में स्खलित नहीं होने वाला, (११) गृहीत वाक्य—उपादेय वचन के साथ सारगर्भित बोलने वाला, (१२) जितपर्षत्—परिषदा को वश में करने में कुशल, (१३) जितनिद्र—निद्रा को जीतने वाला, थोड़ा सोने व अधिक चिन्तन-मनन करने वाला, (१४) मध्यस्थ—सभी शिष्यों के प्रति समभाव तथा सभी का समान पूज्य, (१५-१७) देश, काल और भाव का ज्ञाता (१८) आसन्नलब्ध प्रतिभ—समयानुकूल तत्काल बुद्धि की उत्पत्ति जिससे अन्य तीर्थी प्रभावित हो तथा शासन की महती प्रभावना हो, (१९) नानाविध देश भाषज्ञ—अनेक देशों की भाषाओं का ज्ञाता, (२०-२४) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—इन पांच आचारों का उत्साह व उपयोगपूर्वक पालन करने वाला, (२५) सूत्रार्थ तदुभय विधिज्ञ—सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम का ज्ञाता—व्याख्याता, (२६-२९) आहारण हेतु पनय निपुण—आहारण अर्थात् दृष्टान्त, हेतु, उपनय और नय में कुशल, (३०) ग्राहणा कुशल—दूसरों को समझाने की कला में कुशल, (३१-३२) स्व-पर समय वेदी अपने व अन्य तीर्थियों के सिद्धान्तों का जानकार, खंडन मंडन में सिद्धहस्त, (३३) गंभीर—तुच्छ व्यवहार के अभाव में गौरव का रक्षक, (३४) दीप्तमान् —तेजस्वी प्रभाव सहित, (३५) शिव —कोप न करने वाला लोक कल्याणी एवं (३६) सोम —सौम्य एवं शान्त दृष्टि वाला।

आचार्य पांच प्रकार के कहे गये हैं—(१) प्रव्राजकाचार्य—सामायिक आदि व्रत का आरोपण करने वाले, (२) दिगाचार्य—सचित्त, अचित्त, मिश्र वस्तु की अनुमति देने वाले, (३) उद्देशाचार्य—सर्वप्रथम श्रुत का कथन करने वाले या मूल पाठ सिखाने वाले (४) समुद्देशानुज्ञाचार्य—श्रुत की वाचना देने वाले तथा गुरु के न होने पर श्रुत को स्थिर परिचित करने की अनुमति देने वाले एवं (५) आम्नायार्थ वाचकाचार्य—उत्सर्ग अपवाद रूप आम्नाय अर्थ के कहने वाले।

आचार्य और उपाध्याय में शेष साधुओं की अपेक्षा पांच अतिशय अधिक माने गये हैं — (१) उत्सर्ग रूप से सभी साधु जब बाहर से आते हैं तो उपाश्रय में प्रवेश करने से पहिले बाहर ही पैरों को पूंजते और झटकाते हैं किन्तु आचार्य —उपाध्याय बाहर से लौटकर उपाश्रय के बाहर ही खड़े रहते हैं और दूसरे साधु उनके पैरों का प्रमार्जन व प्रस्फोटन करते हैं। बाहर न ठहर कर भीतर भी आ जाते हैं तो उनके पैरों को पूंजने व झटकाने की सेवा दूसरे साधु करते हैं। यह उनका अतिशय माना गया है। इससे उनके साध्वाचार का अतिक्रमण नहीं होता। (२) आचार्य व उपाध्याय का उपाश्रय में लधुनीत, बड़ीनीत का अवसर देखना या पैर आदि में लगी हुई अशुचि को हटाने में साधु के आचार का अतिक्रमण नहीं होता। (३) आचार्य व उपाध्याय इच्छा हो तो दूसरे साधुओं की वैयावृत्य करते हैं और इच्छा नहीं हो तो नहीं भी करते हैं। (४) आचार्य व उपाध्याय उपाश्रय में एक या दो रात तक अकेले रहते हुए भी साध्वाचार का अतिक्रमण नहीं करते। (५) आचार्य व उपाध्याय उपाश्रय से बाहर एक या दो रात तक अकेले रहते हुए भी साध्वाचार का अतिक्रमण नहीं करते।

आचार्य और उपाध्याय सात बातों का ध्यान रखने से ज्ञान अथवा शिष्यों का संग्रह कर सकते हैं। इनसे संघ में व्यवस्था भी कायम रह सकती है तो दूसरे साधुओं को अपने अनुकूल व नियमानुसार भी चला सकते हैं। वे सात बातें या संग्रह स्थान इस प्रकार हैं— (१) आचार्य और उपाध्याय को आज्ञा और धारणा का सम्यक् प्रयोग करना चाहिये। किसी काम के लिये विधान करने को आज्ञा कहते हैं और किसी बात से रोकने को धारणा। इस तरह के नियोग (आज्ञा) और नियंत्रण (धारणा) के अनुचित होने पर साधु आपस में अथवा आचार्य के साथ कलह करने लगते हैं जिससे व्यवस्था टूटनी शुरू हो जाती है। उसे भी आज्ञा कहते हैं जब देशान्तर में रहा हुआ गीतार्थ साधु अपने अतिचार को गीतार्थ आचार्य से निवेदन करने के लिये अगीतार्थ साधु के सामने जो कुछ गूढ़ार्थ पदों में कहता है। उसे भी धारणा कहते हैं जब अपराध की बार बार आलोचना के बाद जो प्रायश्चित विशेष का निश्चय किया जाता है। इन दोनों का प्रयोग यथारीति से किया जाना चाहिये, ताकि संघ में एकता और दृढ़ता बनी रहे। (२) आचार्य और उपाध्याय को रत्नाधिक की वन्दना आदि का सम्यक् प्रयोग कराना चाहिये। दीक्षा के बाद ज्ञान, दर्शन और चारित्र में बड़ा साधु छोटे साधु द्वारा वन्दनीय समझा जाता है। यदि कोई छोटा साधु रत्नाधिक को वन्दना न करे तो आचार्य और उपाध्याय का कर्तव्य है कि वे उसे वन्दना के लिये प्रवृत्त करें। वन्दना व्यवहार के लोप होने से व्यवस्था के टूटने की आशंका रहती है। (३) आचार्य और उपाध्याय हमेशा ध्यान रखे कि शिष्यों में जिस समय जिस सूत्र के पढ़ने की योग्यता हो अथवा दीक्षा के बाद जब जो सूत्र पढ़ाया जाना चाहिये, यथासमय यथायोग्य सूत्र शिष्यों को पढ़ाया जावे। यह तीसरा संग्रह स्थान है। (४) आचार्य और उपाध्याय को बीमार, तपस्वी तथा विद्याध्ययन करने वाले साधुओं की वैयावृत्य का समुचित प्रबन्ध करना चाहिये। (५) आचार्य और उपाध्याय को दूसरे साधुओं से पूछकर कोई भी काम करना चाहिये, मन माने ढंग से नहीं। शिष्यों से अपने दैनिक कृत्यों के लिये भी पूछते रहना चाहिये। (६) आचार्य तथा उपाध्याय को अप्राप्त आवश्यक उपकरणों की प्राप्ति के लिये सम्यक् प्रकार से व्यवस्था करनी चाहिये। साधुओं के लिये आवश्यक वस्तुओं की निर्दोष प्राप्ति का यत्न इस कारण आवश्यक है कि उनमें अकारण असंतोष न फैले। (७) आचार्य और उपाध्याय को पूर्व प्राप्त उपकरणों की रक्षा का भी ध्यान रखना चाहिये। उन्हें ऐसे स्थान पर नहीं रखने देना चाहिये कि जिससे वे खराब हों या चोर आदि ले जांय। यह सातवां और अन्तिम संग्रह स्थान है।

स्वयं आचार्य या उपाध्याय भी पांच प्रकार के कारण उपस्थित होने पर संघ का परित्याग कर सकते हैं। ये कारण हैं—(१) संघ या गच्छ में साधुओं के दुर्विनीत हो जाने पर जब 'इस प्रकार प्रवृत्ति करो और इस प्रकार न करो' इत्यादि प्रवृत्ति निवृत्ति रूप आज्ञा, धारणा आदि न प्रवर्ता सकें। (२) रत्नाधिक साधुओं की यथायोग्य अथवा साधुओं में छोटों से बड़े साधुओं की जब विनय भक्ति नहीं करा सकें। (३) जो सूत्रों के अध्ययन, उद्देश आदि धारण किये हुए हैं, वे आचार्य और उपाध्याय उनकी यथावसर वाचना न दे जिससे दोनों ओर की अयोग्यता प्रकट होवे। वाचना के प्रति इस असावधानी में दोनों ही तथ्य जिम्मेदार हो सकते हैं कि या तो वाचना लेने वाले साधु अविनीत हो या आचार्य और उपाध्याय ही सुखासक्त और मन्दबुद्धि हों अथवा दोनों ही बातें हों। (४) एक संघ में रहे हुए आचार्य या उपाध्याय अपने या दूसरे संघ की साध्वी में मोहवश आसक्त हो जाये। (५) आचार्य या उपाध्याय के मित्र या ज्ञाति के लोग किसी कारण से उन्हें संघ से निकाल दें। उन लोगों की बात स्वीकार कर उनकी वस्त्रादि से सहायता करने के लिये आचार्य और उपाध्याय संघ से निकल जाते हैं।

इस सम्पूर्ण विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य का पद कितने अमित महत्त्व एवं मूल्य का होता है? तीर्थंकर तीर्थों की रचना करते हैं तथा उनकी सुव्यवस्था बनाते हैं तो जिस समय में तीर्थंकर नहीं विराजते हैं उस समय आचार्य का भी मोटे तौर पर वैसा ही दायित्व होता है। आचार्य संघ की रचना नहीं करते किन्तु वे अपनी दूर-दर्शिता एवं कुशलता से चतुर्विध संघ का संचालन इस रूप में कर सकते हैं कि संघ की एकता और सुदृढ़ता व्यवस्थित बनें तथा सिद्धान्तनिष्ठ संस्कृति की सुरक्षा हो। आचार्य का संघ नायकत्व इस दृष्टि से अति पूज्य होता है।

मैं अनुशासक आचार्य हूं याने कि मैं हो सकता हूं। मुझमें क्षमता है किन्तु अपने अथक पुरुषार्थ से उसे प्रकटानी है। जब मैं अपने पुरुषार्थ को सफल बनाकर शुद्ध, बुद्ध, निरंजन सिद्ध हो सकता हूं तो भला साधु, उपाध्याय और आचार्य क्यों नहीं हो सकता हूं? तब वीतरागी अरिहंत भी तो हो सकता हूं। मेरी आत्मा में और सभी भव्य आत्माओं में मूल रूप में ऐसा उच्चतम विकास साध लेने की शक्ति रही हुई है। वह वर्तमान में आवृत्त है किन्तु उसे अनावृत्त करने का सामर्थ्य भी इसी आत्मा में रहा हुआ है। यथायोग्य सामर्थ्य नियोजित होगा तो उसका यथायोग्य परिणाम भी प्रकट हो सकेगा।

मैं वीतरागी अरिहंत हूं

मैं वीतरागी अरिहंत हूं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय रूप चार सर्वघाती कर्म शत्रुओं का नाश कर देने पर अरिहन्त पद प्राप्त होता है। तब वीतरागपना भी प्राप्त हो जाता है। चार घनघाती कर्मों का नाश कर देने पर आत्मा अरिहन्त अवस्था को प्राप्त कर लेती है सामान्य केवली और तीर्थंकर दोनों का अरिहन्तपद में समावेश हो जाता है अरिहन्त अवस्था में चार मूलातिशय प्रकट होते हैं जो इस प्रकार हैं—(१) अपायापगमातिशय—अट्ठारह दोष एवं विघ्न बाधाओं का सर्वथा नाश हो जाना अपाय का अपगम है जो एक अतिशय है। (२) ज्ञानातिशय — ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से उत्पन्न त्रिकाल एवं त्रिलोक के समस्त द्रव्य एवं पर्यायों को हस्तामलकवत् जानना तथा सम्पूर्ण अव्याबाध अप्रतिपाती ज्ञान को धारण करना। (३) पूजातिशय— अरिहन्त तीन लोक की समस्त आत्माओं के लिये पूज्य हैं तथा इन्द्रकृत अष्ट महाप्रातिहार्यादि रूप

पूजा से पूजित हैं। त्रिलोक पूज्यता एवं इन्द्रादिकृत पूजा ही पूजातिशय है। इनके चौंतिस अतिशय भी पूजा रूप ही हैं। (४) वागतिशय—अरिहन्त राग द्वेष से परे होते हैं तथा पूर्ण ज्ञान के धारक होते हैं अतः उनके वचन सत्य एवं परस्पर बाधा रहित होते हैं। वाणी की यह विशेषता ही वचनातिशय है।

अरिहन्त के बारह गुण ये होते हैं—(१) अनाश्रव (२) अमम (३) अकिञ्चन्य (४) छिन्नशोक (५) निरुपक्षेप (६) व्यपगतराग-द्वेष-मोह (७) निर्ग्रन्थ प्रवचनोपदेशकत्व (८) शास्त्रनायक (६) अनन्तज्ञानी (१०) अनन्तदर्शनी (११) अनन्त चरित्री (१२) अनन्त वीर्य संपन्न।

अरिहंत देव बारह गुण सहित होते हैं तो इन अठ्ठारह दोषों से रहित भी होते हैं —(१) दानान्तराय (२) लाभान्तराय (३) वीर्यान्तराय (४) भोगान्तराय (५) उपभोगान्तराय (६) मिथ्यात्व (७) अज्ञान (८) अविरति (६) काम (भोगेच्छा) (१०) हास्य (११) रति (१२) अरति (१३) शोक (१४) भय (१५) जुगुप्सा (१६) राग (१७) द्वेष तथा (१८) निद्रा। ये अठ्ठारह दोष एक अन्य अपेक्षा से इस प्रकार भी गिनाये गये हैं —(१) हिंसा (२) मृषावाद (३) अदत्तादान (४) क्रीड़ा (५) हास्य (६) रति (७) अरति (८) शोक (६) भय (१०) क्रोध (११) मान (१२) माया (१३) लोभ (१४) मद (१५) मत्सर (१६) अज्ञान (१७) निद्रा तथा (१८) राग (प्रेम)।

मैं अरिहंत देव हूँ वीतरागी, सर्वथा पाप एवं दोष रहित। मेरा अरिहंत पद इस लोक में मंगल रूप, उत्तम तथा शरण रूप माना गया है। मैं मंगल रूप इस कारण हूँ कि मैंने समस्त आत्माओं के मंगल का मार्ग प्रशस्त बना दिया है। उत्तम रूप इस कारण कि जीवन-विकास का इससे अधिक उत्तम स्वरूप दूसरा नहीं हो सकता तथा शरण रूप इस कारण कि कोई भी सांसारिक आत्मा इस पद की शरण में आकर अपने स्वरूप को अशरण बना सकती है। मैंने चार घनघाती रूप कर्मों का नाश कर दिया है और मेरी आत्मा सिद्ध गति के योग्य बन गई है। मुझे पूजा की कोई अभिलाषा नहीं है, किन्तु देव और इन्द्र मेरे जीवन को पूजा का स्थल इसलिये बनाते हैं कि भव्य आत्माएं प्रभावित होकर अपने उत्थान का मार्ग सरलता से खोज ले और अपने विकास की महायात्रा पर अविलम्ब प्रस्थान करदें। मैं केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन से सम्पन्न बनकर तीनों कालों तथा तीनों लोकों के सभी द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों को स्पष्ट देखता हूं तथा वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को सब पर प्रकट करता हूं जिससे मिथ्यात्व का अंधकार दूर हो तथा चहुं ओर सम्यक्त्व का देदीप्यमान प्रकाश प्रसारित हो जाय—समतामय वातावरण बन जाय।

मैं वीतरागी अरिहंत हूं—मेरा द्वेष भी नष्ट हो गया है तो राग भी व्यतीत हो गया है। मैं समतादर्शी हो गया हूं—सम्पूर्ण संसार को समभाव से जानता हूं और समदृष्टि से देखता हूं—सभी आत्माएं मेरे लिये समान हो गई हैं। इसी दृष्टि से मैं उपदेश देता हूं जो सबके लिये समान रूप से हितकारी होते हैं। इसीलिये मेरी लोकोत्तमता है।

मैं शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध हूं

मैं अरिहंत पद में शेष रहे चारों अघाती कर्मो का भी नाश कर देता हूं और शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध हो जाता हूं। ज्यों ही मैं सर्व कर्मों का क्षय कर देता हूं कि मैं जन्म-मरण रूप इस संसार से मुक्त हो जाता हूं। मेरी आत्मा कृतकृत्य हो जाती है और लोक के अग्र भाग पर सिद्ध-शिला से

ऊपर सदा काल के लिये अरुण ज्योति रूप बनकर अवस्थित हो जाती है। मैं मुक्तात्मा हो जाता हूं और पुनः इस संसार में किसी भी रूप में किसी भी प्रयोजन से प्रत्यावर्तित नहीं होता हूं, अपितु किसी भी प्रकार से इस संसार से सम्बन्धित भी नहीं रहता हूं। मैं शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध हो जाता हूं।

सिद्ध पद के ये पन्द्रह प्रकार माने गये हैं—(१) तीर्थ सिद्ध—जीव, अजीव आदि तत्त्वों की प्ररूपणा करने वाले तीर्थंकरों के वचन और उन वचनों को धारण करने वाला चतुर्विध संघ तीर्थ कहलाते हैं अथवा यो कहें कि जिससे संसार रूपी समुद्र को तैर कर पार कर लिया जाय, वह तीर्थ है। इस प्रकार के तीर्थ की विद्यमानता में जो आत्माएं सिद्ध होती हैं, वे तीर्थ सिद्ध कहलाती हैं। (२) अतीर्थ सिद्ध—तीर्थ की उत्पत्ति होने से पहिले या तीर्थ का विच्छेद हो जाने पर बीच में जो आत्माएं सिद्ध होती हैं, वे अतीर्थ सिद्ध कहलाती हैं। जैसे ऋषभदेव तीर्थंकर की माता मरुदेवी तीर्थ की उत्पत्ति होने से पहिले ही मोक्षगामी बन गई थीं। (३) तीर्थंकर सिद्ध —तीर्थंकर पद प्राप्त करके मोक्ष में जाने वाली आत्माएं तीर्थंकर सिद्ध होती हैं। (४) अतीर्थंकर सिद्ध — सामान्य रूप से केवल ज्ञान प्राप्त करके जो आत्माएं मोक्ष प्राप्त करती हैं, वे अतीर्थंकर सिद्ध कहलाती हैं। (५) स्वयंबुद्ध सिद्ध— दूसरे के उपदेश के बिना स्वयंमेव बोध प्राप्त करके सिद्ध हो जाने वाली आत्माएं स्वयं बुद्ध सिद्ध होती हैं। (६) प्रत्येक बुद्ध सिद्ध—जो किसी के उपदेश के बिना ही किसी एक पदार्थ को देखकर दीक्षा धारण करके मोक्ष गामी बन जाती हैं, वे आत्माएं प्रत्येक बुद्ध सिद्ध हो जाती हैं। स्वयंबुद्ध एवं प्रत्येक बुद्ध सिद्धों में समानता होते हुए भी कुछ पारस्परिक विशेषताएं होती हैं जो इस प्रकार हैं—(अ) बोधिकृत विशेषता —स्वयंबुद्ध को बाहरी निमित्त के बिना ही जाति स्मरण (पूर्वभव दर्शन) आदि ज्ञान से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। स्वयं बुद्ध भी दो प्रकार के होते हैं —तीर्थंकर और तीर्थंकर व्यतिरिक्त (प्रत्येक बुद्ध सिद्ध)। प्रत्येक बुद्ध को किसी भी बाहरी कारण के निमित्त से वैराग्य उत्पन्न होता है जैसे बैल, बादल आदि को देखकर। प्रत्येक बुद्ध दीक्षा लेकर अकेले ही विचरण करते हैं। (ब) उपधिकृत विशेषता—स्वयंबुद्ध, वस्त्र, पात्र आदि बारह प्रकार की उपधि (उपकरण) वाले होते हैं और प्रत्येक बुद्ध जघन्य दो प्रकार की और उत्कृष्ट नौ प्रकार की उपधि वाले होते हैं। वे वस्त्र नहीं रखते किन्तु मुखवस्त्रिका व रजोहरण तो रखते ही हैं। (स-द) श्रुतकृत विशेषता तथा लिंग (वेश) कृत विशेषता—स्वयं बुद्ध दो तरह के होते हैं —(१) जिन को पूर्व जन्म का ज्ञान इस जन्म में हो जाता है व (२) जिनको पूर्व जन्म का ज्ञान इस जन्म में नहीं होता। पहले प्रकार के स्वयं बुद्ध लिंग धारण करके नियम पूर्वक संघ (गच्छ) में रहते हैं और दूसरी प्रकार के गुरु के पास जाकर वेश स्वीकार करते हैं जो उन्हें देवता लाकर देते हैं किन्तु यदि उनकी अकेले विचरने की क्षमता और इच्छा हो तो वे अकेले विचर सकते हैं। प्रत्येक बुद्ध को पूर्व जन्म का ज्ञान इस जन्म में अवश्यमेव होता है जो जघन्य ग्यारह अंग और उत्कृष्ट कुछ कम दस पूर्व का होता है। दीक्षा लेते समय देवता उन्हें लिंग (वेश) देते हैं अथवा वे लिंग रहित भी होते हैं। (७) बुद्ध बोधित सिद्ध—आचार्य आदि के उपदेश से बोध प्राप्त करके मोक्ष जाने वाले बुद्ध बोधित सिद्ध कहलाते हैं। (८) स्त्रिलिंग सिद्ध—स्त्री जीवन से सिद्ध होने वाली आत्माएं स्त्री लिंग सिद्ध कहलाती हैं। स्त्रीत्व तीन प्रकार का बतलाया गया है—(अ) वेद (ब) शरीरकृति और (स) वेश। यहां शरीरकृति रूप स्त्रीत्व लिया गया है क्योंकि वेद (स्त्री) के उदय में तो कोई आत्मा सिद्ध हो ही नहीं सकती है और वेश अप्रमाण है अतः यहां शरीर कृति रूप स्त्रीत्व की ही विवक्षा है। (९) पुरुष लिंगसिद्ध—पुरुष की

शरीर कृति में रहते हुए मोक्ष में जाने वाली आत्माएं पुरुष लिंग सिद्ध होती हैं। (१०) नपुंसक लिंग सिद्ध—नपुंसक की शरीर कृति में रहते हुए मोक्ष जाने वाले नपुंसक लिंग सिद्ध हैं। (११) स्वलिंग सिद्ध—निर्ग्रंथ साधु का वेश स्ववेश (स्वलिंग) होता है अतः साधु के वेश में रहते हुए मोक्ष जाने वाले स्वलिंग सिद्ध कहलाते हैं। (१२) अन्यलिंग सिद्ध—परिव्राजक आदि के वल्कल, गेरुए वस्त्र आदि द्रव्य लिंग (अन्य वेश) में रह कर मोक्ष में जाने वाली आत्माएं अन्य लिंग सिद्ध कहलाती हैं। (१३) गृहस्थलिंग सिद्ध—गृहस्थ के वेश में मोक्ष जाने वाली आत्माएं गृहस्थ लिंग (गृहीलिंग) सिद्ध कहलाती हैं। (१४) एक सिद्ध—एक एक समय में एक एक मोक्ष जाने वाली आत्माएं एक सिद्ध होती हैं। तथा (१५) अनेक सिद्ध —एक समय में एक से अधिक मोक्ष जाने वाली आत्माएं अनेक सिद्ध कहलाती हैं। एक समय में अधिक से अधिक कितनी आत्माएं मोक्ष में जा सकती हैं —इसके विषय में विस्तार से बताया गया है। संक्षेप में एक समय से आठ समय तक अधिकतम बत्तीस तक आत्माएं मोक्ष में जा सकती हैं। फिर निश्चित रूप से अन्तरा पड़ता है।

मैं अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध हो जाता हूं तो कर्मों के दुष्प्रभाव से जो आत्मिक शक्तियां दबी हुई रहती थीं, वे सम्पूर्ण प्राभाविक बनकर पूर्णतः प्रकट हो जाती हैं। कर्म मुक्ति से सिद्ध पद में निम्न आठ गुण पूर्ण आत्म विकास के रूप में प्रकाशित हो जाते हैं— (१) केवल ज्ञान —ज्ञानावरणीय कर्म का पूरी तरह नाश हो जाने से आत्मा का ज्ञान गुण अपनी पूर्ण आभा के साथ प्रकट हो जाता है जिसके प्रभाव से केवल ज्ञानी महात्मा सकल पदार्थों को जानने लगती हैं। (२) केवल दर्शन— दर्शनावरणीय कर्म के समूल नाश से आत्मा का दर्शन गुण पूर्णतया प्रकट हो जाता है जिससे सभी पदार्थों को देखने की शक्ति अनावृत्त हो जाती हैं (३) अव्याबाध सुख—आत्मा वेदनीय कर्म के प्रभाव से वेदना का अनुभव करती है, यद्यपि साता वेदनीय कर्म से सुख का अनुभव भी होता है, किन्तु वह सुख क्षणिक, नश्वर, भौतिक और काल्पनिक होता है जबकि वास्तविक एवं स्थायी आत्मिक सुख की प्राप्ति वेदनीय कर्म के नाश से ही होती है। इस कर्म के सम्पूर्ण विनाश से जो अनन्त सुख प्राप्त होता है, वह अव्याबाध होता है, क्योंकि उस सुख के अनुभव में कभी भी कोई बाधा नहीं आती है। (४) अक्षय स्थिति —आत्मा की इसी को अक्षय स्थिति कहते हैं कि मोक्ष में पहुँच कर आत्मा वापस इस संसार में नहीं आती, शाश्वत रूप से वहीं रहती है। संसार में आयु-कर्म का प्रभाव चलता है, इस कारण एक जन्म में जितना आयुष्य बंधा हुआ होता है, उसे भोगकर आत्मा को वहां से दूसरी गति में जाना ही पड़ता है किन्तु सिद्धात्माओं का आयु-कर्म ही नष्ट हो जाता है अतः मोक्ष में स्थिति की कोई मर्यादा नहीं रहती अतः मोक्ष की स्थिति ही अक्षय स्थिति मानी गई है। (५) क्षायिक सम्यक्त्त्व—सिद्धात्माओं के मोहनीय कर्म पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है जबकि मोहनीय कर्म ही सम्यक्त्त्व गुण का घातक होता है। सम्यक्त्त्व का अर्थ है जीव, अजीव आदि पदार्थों को उनके यथार्थ रूप में जानना तथा जान कर उन पर विश्वास करना। अतः मोहनीय कर्म के अभाव में पूर्ण सम्यक्त्त्व का सद्भाव हो जाता है तथा पूर्ण सम्यक्त्त्व ही क्षायिक सम्यक्त्त्व होता है। सिद्धात्माओं में यही क्षायिक सम्यक्त्त्व सदा वर्तता है। (६) अरूपीत्व—बाहर से दिखाई देने वाले रूप की रचना नाम कर्म के उदय से शरीर रूप में होती है और दृष्टिगत रूप ही रूपीपना कहलाता है। चूंकि सिद्धात्माओं के नाम कर्म का भी नाश हो जाता है अतः उनके किसी प्रकार का शरीर नहीं रहता। संसारी जीवों के कार्मण आदि शरीरों का सम्मिश्रण हमेशा रहता

है जिस अपेक्षा से संसारी आत्मा रूपी भी कहलाती है। किन्तु नाम कर्म के अभाव में सिद्धात्माओं से कोई भी शरीर नहीं रहता, इसलिये उनका स्वरूप अरूपी ही रहता है। (७) अगुरुलघुत्व—अरूपी होने से सिद्धात्मा न भारी होती है न हल्की। वह निरंजन होती है अतः अगुरुलघु होती है। (८) अनन्त शक्ति—मूल रूप में आत्मा में जिस अनन्त शक्ति या बल का सद्भाव रहता है, वह सिद्धावस्था में सम्पूर्णतः प्रकट हो जाता है। अन्तराय कर्म के कारण आवृत्त बनी समस्त शक्तियां उस कर्म के नष्ट हो जाने पर पूरी स्पष्टता से अनावृत्त हो जाती हैं। सिद्धात्मा में अनन्त शक्ति व्यक्त बन जाती है।

मैं सिद्ध होता हूं आठों कर्मों का समूल विनाश कर देने से—तो उस अपेक्षा से मेरे पद में इकत्तीस गुणों का उल्लेख भी किया गया है, क्योंकि आठों कर्मों की विदृष्टि से कुल प्रकृतियाँ ज्ञानावरणीय कर्म की पांच, दर्शनावरणीय कर्म की नौ, वेदनीय कर्म की दो, मोहनीय की दो, अन्तराय कर्म की चार, नाम कर्म की दो, गोत्र कर्म की दो तथा अन्तराय कर्म की पांच मिलाकर इकत्तीस प्रकृतियां होती हैं। इन्हीं इकत्तीस प्रकृतियों के क्षय हो जाने से सिद्धात्माओं में ये इकत्तीस गुण प्रकट होते हैं—(१) क्षीण आभिनिबोधिक ज्ञानावरण (२) क्षीण श्रुत ज्ञानावरण (३) क्षीण अवधि ज्ञानावरण (४) क्षीण मनःपर्यय ज्ञानावरण (५) क्षीण केवल ज्ञानावरण (६) क्षीण चक्षुदर्शनावरण (७) क्षीण अचक्षुदर्शनावरण (८) क्षीण अवधिदर्शनावरण (९) क्षीण केवल दर्शनावरण (१०) क्षीणनिद्रा (११) क्षीण निद्रा-निद्रा (१२) क्षीण प्रचला (१३) क्षीण प्रचला-प्रचला (१४) क्षीण सत्यानगृद्धि (१५) क्षीण सातावेदनीय (१६) क्षीण असातावेदनीय (१७) क्षीण दर्शन-मोहनीय (१८) क्षीण चारित्र मोहनीय (१९) क्षीण नैरयिकायु (२०) क्षीण तिर्यंचायु (२१) क्षीण मनुष्यायु (२२) क्षीण देवायु (२३) क्षीण उच्च गौत्र (२४) क्षीण नीच गौत्र (२५) क्षीण शुभ नाम (२६) क्षीण अशुभ नाम (२७) क्षीण दानान्तराय (२८) क्षीण लाभान्तराय (२९) क्षीण भोगान्तराय (३०) क्षीण उपभोगान्तराय तथा (३१) क्षीण वीर्यान्तराय।

सिद्ध पद के गुण इस प्रकार भी बतलाये गये हैं कि सिद्धात्मा पांच संस्थान, पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस, आठ स्पर्श, तीन वेद तथा काय, संग एवं रुह (पुनरुत्पत्ति) को क्षय कर देती है, जिनके क्षय से प्रकट होने वाले गुण भी इकतीस होते हैं। वैसे बीज के जल जाने पर अंकुर पैदा नहीं होता, उसी प्रकार कर्म रूपी बीज के जल जाने से सिद्ध आत्माओं के संसार रूपी अंकुर पैदा नहीं होता।

जब मैं अपने को सिद्ध कहता हूं तो मैं अपनी ही आत्मा के मूल स्वरूप का वर्णन करता हूं। मेरी आत्मा भी सिद्धात्मा जैसी ही है, क्यों कि जो आत्मा होती है वही सिद्ध होती है। आत्मा और सिद्धात्मा के बीच मात्र आठों कर्मों के आवरण होते हैं जो जब सम्पूर्णतः नष्ट कर दिये जाते हैं तब आत्मा अपने मूल स्वरूप को तथा अपने गुणों को प्राप्त करके स्व-स्वभाव में अथवा स्वधर्म में अवस्थित हो जाती है। स्वधर्म स्थित आत्मा ही सिद्धात्मा होती है अतः सिद्धात्मा के स्वरूप के अनुसार ही मेरी आत्मा का मूल स्वरूप भी होता है। इसीलिये मैं कहता और मानता हूं कि अपने मूल स्वरूप में मैं न दीर्घ हूं, न ह्रस्व, न वृत्त हूं, न त्रिकोण या चतुष्कोण और मैं मंडलाकार भी नहीं हूं। मैं न काला हूं, न हरा हूं, न लाल, न पीला और न सफेद हूं। मैं न सुगंध रूप हूं, न दुर्गंध रूप। मैं न तीखा, न कड़वा, न कषैला, न खट्टा व न मीठा हूं तो मैं न कठोर, न कोमल, न भारी, न हल्का, न ठंडा, न गर्म, न चिकना और न रूखा हूं। मैं न स्त्री हूं, न पुरुष हूं तथा न ही नपुंसक

हूं। मैं सर्व संग रहित अमूर्त हूं। मैं ज्ञाता हूं, विज्ञाता हूं और अनन्त ज्ञान, दर्शन तथा अनन्त सुखों से सम्पन्न हूं। मैं अरूपी हूं अतः मेरे स्वरूप का वर्णन रूपी शब्दों द्वारा संभव नहीं है।

ऐसा है मेरी आत्मा का मूल स्वरूप और ऐसा ही होता है सिद्धात्माओं का सदा काल वर्तता हुआ स्वरूप जो रूपी न होकर अरूपी होता है। वे अनन्त सुखों में विराजमान रहती हैं। उनके ज्ञान और सुख के लिये कोई उपमा नहीं दी जा सकती है क्योंकि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसके साथ उनके ज्ञान और सुख की उपमा घटित हो सके। उनका स्वरूप अरूपी होता है, उसका वर्णन रूपी शब्दों के माध्यम से नहीं किया जा सकता है।

मैं अनश्वर ओऽम् हूं

मैं अनश्वर ओऽम् हूं। ओऽम् शब्द पांच अक्षरों से बना है—अ अ आ उ तथा म् और ये पांचों अक्षर महान् आध्यात्मिक पदों के प्रतीक हैं जो इस प्रकार हैं —अ = अरिहंत, अ = अशरीरी (सिद्ध), आ = आचार्य, उ = उपाध्याय एवं म् = मुनि (साधु)। इन अक्षरों की संधि इस प्रकार है—अ + अ = अ, आ+उ=ओ तथा ओ+म्=ओम्। इस प्रकार ओंकार पांचों पदों का प्रतीक संक्षेप हो गया। ओंकार से कुछ बड़ा पद होता है —असिआउसा, जो पांचों पदों के प्रथमाक्षर से मिल कर बना है।

मैं अपनी आत्मा के मूल स्वरूप की दृष्टि से पंच परमेष्ठी हूं। ये ही पांचों पद पंच परमेष्ठी के नाम से उल्लिखित किये जाते हैं। ये पद पांच अवश्य हैं, किन्तु हैं सभी पद इसी आत्मा के। अपने परम स्वरूप अर्थात् उत्कृष्ट आध्यात्मिक स्वरूप में अवस्थित आत्मा को ही परमेष्ठी कहा जाता है। ये पांचों पद आत्मा की ही विभिन्न गुण-अवस्थाएं हैं। इन गुण-अवस्थाओं के उल्लेख का क्रम इस प्रकार रखा गया है—सबसे पहिले अरिहन्त। यद्यपि इस क्रम में सिद्ध पद का पहिले उल्लेख होना चाहिये क्योंकि अरिहन्त चारों घाती कर्मों का ही नाश करते हैं, जब कि सिद्ध आठों कर्मों का नाश करके सर्वथा कर्म-मुक्त हो जाते हैं। किन्तु सिद्ध पद को दूसरे क्रम पर इस दृष्टि से रखा गया है कि स्वयं सिद्ध—अवस्था का ज्ञान भी अरिहन्त के द्वारा ही होता है तथा आत्मोद्धार का सम्पूर्ण उपदेश भी अरिहन्त के द्वारा ही मिलता है। अतः पहले क्रम पर अरिहन्त तथा दूसरे क्रम पर सिद्ध पद को रखा गया है। तीसरा पद आचार्य का है व चौथा उपाध्याय का। पांचवां पद सर्वविरति साधु का है। इस प्रकार इन पांचों पदों को वन्दनीय माना गया है तथा इस वन्दन को महामंत्र की संज्ञा दी गई है जो इस प्रकार है —अरिहन्तों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार, लोक में स्थित सर्व साधुओं को नमस्कार। यह महामंत्र का मुख्यभाग है तथा इसी के अन्तिम भाग में इन नमस्कारों की महत्ता स्पष्ट की गई है जो इन शब्दों में है—ये पांचों नमस्कार सर्व पापों को नष्ट करने वाले हैं, सर्व मंगलों में प्रथम मंगल रूप होते हैं।

इसी महामंत्र का संक्षिप्त रूप है—असिआऊसा नमः ऐसा कहा जाता है, पर महामन्त्र के साधक को तो नमस्कार मन्त्र के पांच पदों का पूरा उच्चारण करना चाहिये। क्योंकि जिनेश्वरों ने जैसा कहा, मन्त्र को उसी रूप में बोलना चाहिए तथा अति संक्षिप्त रूप है ओम् नमः इन पांचों आध्यात्मिक पदों को अथवा आत्मोत्थान की इन पांच उत्कृष्ट अवस्थाओं को नमस्कार करना परम मंगल, परम उत्तम तथा परम शरण रूप माना गया है। ऐसा क्यों है? यह विषयवस्तु गहराई से समझने लायक है। यह अटल नियम है कि गुण गुणी के बिना नहीं टिकता तथा गुणी के माध्यम से

ही गुण प्रकाशित होता है किन्तु गुण और गुणी के भेद में किसको श्रेष्ठतर माना जाय? जैसे क्षमा एक गुण है। इसके स्वरूप का विवेचन करते समय इस गुण के सभी पहलुओं पर विचार करेंगे तथा इसके सर्वोत्कृष्ट विकास का भी प्रतिमान लेंगे, क्योंकि इसी प्रतिमान के आधार पर यह निर्णय लिया जा सकेगा कि किस व्यक्ति में यह क्षमा गुण कितने अंशों में विकसित हुआ है? सामान्य रूप से भिन्न भिन्न व्यक्तियों में मूल्यांकन करने पर इस क्षमा गुण का विकास भिन्न भिन्न स्तरों का मिलेगा। अतः गुण का विकास भिन्न-भिन्न गुणियों में भिन्न-भिन्न रूप से परिलक्षित होता है। गुणी का सम्मान या उसकी मान्यता इस दृष्टि से गुण-विकास पर आधारित रहती है।

गुण और गुणी में इस प्रकार गुण की प्रमुखता मानी जानी चाहिये क्योंकि गुण का सर्व स्वरूप गुणी के समक्ष आदर्श रूप होता है और गुणी की सर्वोत्कृष्ट सफलता तभी मानी जाती है जब वह गुण के उस आदर्श रूप को आत्मसात् करले। गुण को प्रमुखता देने से गुण —गौरव तथा गुण ग्राहकता में वृद्धि होती रहती है। आध्यात्मिक उन्नति के उपरोक्त पांचों प्रतीक भी गुण वाचक हैं और गुणों को सर्वोच्च सम्मान देने की दृष्टि से ही नमस्कार महामंत्र को सर्वोच्च महिमा प्रदान की गई है।

गुणवत्ता की कसौटी पर ही पांचों पदों का विश्लेषण इस सत्य को स्पष्ट कर देता है कि आत्मा किसी व्यक्तिविशेष को नमस्कार नहीं करती बल्कि गुण विकास को ही नमस्कार करती है। इस रूप में विशिष्ट से विशिष्ट हो किन्तु व्यक्ति की प्रभुता आत्मानुभूति को दबा नहीं पाती है। गुण दृष्टि ही बनी रहती है जिससे गुण ग्रहण करने की प्रेरणा भी बनी रहती है। दूसरे शब्दों में कहें तो आत्मा स्वयं को ही नमस्कार करती है—अपनी ही इच्छित अथवा संभावित अवस्थाओं को नमस्कार करती है कि वे अवस्थाएं उसके निज स्वरूप में उद्घाटित हों।

गुण दृष्टि को प्रधानता देने में एक और तथ्य या सत्य उभर कर समक्ष उपस्थित होता है और वह यह कि यह आत्मा और मात्र आत्मा ही सर्वोत्कृष्ट विकास की मूल है —कोई और कैसा भी व्यक्तित्व इस की प्रमुखता को आच्छादित नहीं कर सकता है। कई बार और कई स्थानों पर देखा जाता है कि व्यक्ति का वर्चस्व बढ़ता जाता है और उस वर्चस्व से प्रभावित व्यक्ति अपने महत्त्व को खोते हुए चले जाते हैं। कई बार राजनीति के क्षेत्र में भी ऐसा होता है कि एक व्यक्ति का वर्चस्व सर्व प्रमुख हो जाता है और उसके शासन या दल के अन्य सदस्य उसके सामने अपना महत्त्व—यहां तक कि प्रभावपूर्ण अस्तित्व तक खो देते हैं। कहा जाता है कि बरगद के पेड़ की छाया में कोई दूसरा पौधा नहीं पनपता। व्यक्तिवादी वर्चस्व की ऐसी ही विदशा को समझ कर वीतराग देवों ने सम्पूर्ण संघ व्यवस्था को गुणाधारित स्वरूप प्रदान किया। गुण की ही महिमा, गुण की ही स्तुति और गुण को ही नमस्कार और इसी श्रेष्ठता के उच्चतम स्वरूप में पांचों पद भी गुण विकास के क्रम पर आधारित हैं। गुणी कोई भी हो, वह वन्दनीय है। विकासशील आत्मा उन गुण का सम्यक् रीति से अनुपालन कर सके। उसके समक्ष गुणी का व्यक्तित्व कम और गुण-स्वरूप की श्रेष्ठता अधिकांश में रहनी चाहिये।

संसार में रहते हुए गुण विकास के श्रेष्ठ प्रतीक होते हैं अरिहन्त। यह अरिहन्त किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं, आत्मिक अवस्था विशेष का नाम है कि जिन्होंने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय रूप चार घनघाती कर्मों का नाश करके केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन को प्रकट

कर लिया है तथा जो राग द्वेष को जीत कर वीतराग व अन्तराय रूप बाधा को जीत कर अनन्त वीर्यवन्त हो गये हैं। वे महापुरुष अरिहन्त होते हैं—अपने भीतर के अरियों-शत्रुओं को जिन्होंने नष्ट कर दिया है। उनकी आत्मा तब सिद्धि के योग्य हो जाती है तथा अपने पूर्ण ज्ञान के प्रकाश में वे संसार की सभी आत्माओं को आत्म विकास का मार्ग दिखाते हैं। दूसरा सिद्ध पद भी गुणवत्ता पर आधारित है कि वे संसार के भव चक्र को समाप्त करके मुक्तात्मा बन जाते हैं। तीर्थंकर की विद्यमानता न होने पर संघ संचालन का भार आचार्य उठाते है अतः उनका तीसरा पद है। ज्ञान साधना और ज्ञान दान का महत्त्वपूर्ण कार्य करने वालों का चौथा उपाध्याय का पद है तो पांचवा पद संसार त्याग करके सर्व विरति एवं निर्ग्रंथ बनने वाले साधु का है जो अपना सम्पूर्ण जीवन महाव्रतों के पूर्ण पालन के साथ स्व-पर कल्याण में नियोजित कर देता है। नमस्कार योग्य पद साधु अवस्था से ही प्रारंभ होता है और सामान्यतया साधु, उपाध्याय, आचार्य तथा अरिहन्त के चार पद साधु जीवन से ही सम्बन्धित होते हैं और साध्वाचार की उत्कृष्टता ही दिखाते हैं। सिद्ध अवस्था भी एक दृष्टि से श्रेष्ठ साधु जीवन की उच्चतम श्रेष्ठता की ही उपसंहार रूप होती है। यह समग्र क्रम आत्मा के गुण-विकास का ही क्रम है। आत्मा किस नाम धारी व्यक्ति के शरीर में अवस्थित है—इससे उन आत्मिक गुणों तथा उनकी प्राप्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है जिनका विकास आत्मा को अपनी उन्नति के विभिन्न चरणों में ऊर्ध्वगामी बनाता है। आत्मा को ऐसी निरन्तर गतिशील ऊर्ध्वगामिता प्राप्त हो—यही परम लक्ष्य है क्योंकि इसी का चरम विन्दु मोक्ष प्राप्ति के रूप में प्रतिफलित होता है।

सदासद् संग्राम

यह सब मैंने एक अपेक्षा से कहा है कि मैं रत्नत्रयाराधक मुनि हूं, ज्ञानसाधक उपाध्याय हूं, अनुशासक आचार्य हूं, वीतरागी अरिहन्त हूं, अथवा शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध या अनश्वर ओऽम् हूं, क्योंकि ऐसा कहने और विचारने में 'सोहऽम्' की अनुभूति होती है तथा विकासोन्मुख आत्मा अपने परम व चरम साध्य का निर्धारण करती है।

किन्तु इन उच्च पदों की उपलब्धियां मुझे प्राप्त हो सकेगी एक संग्राम जीत लेने के बाद। यह संग्राम है अपनी ही आत्मा की असद् वृत्ति तथा प्रवृत्तियों का अपनी ही आत्मा की सद् वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों के बीच में और यह आत्मा ही योद्धा है। इसे सदासद् संग्राम कह सकते हैं। आठ कर्मों के रूप में असद् वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों की सेना एक ओर खड़ी है और दूसरी ओर सद् वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों की सेना जो एक दूसरे के साथ लड़ रही है तथा इस लड़ाई की प्रयोजक है स्वयं आत्मा, मन और उसकी इन्द्रियां। आत्मा की सुप्तावस्था और जागृतावस्था का तारतम्य ही इस संग्राम में हार और जीत का निर्णय करने वाला है। यदि सुप्तावस्था घटती जाती है और आत्म-जागृति अभिवृद्ध होती जाती है तो यों समझिये कि असद् वृत्तियां तथा प्रवृत्तियां मिटती जाती हैं और उनके स्थान पर सद् वृत्तियां तथा प्रवृत्तियां आत्मा का सुरक्षा कवच बना लेती है जिस पर फिर असद् वृत्तियों तथा प्रवृतियों का बलप्रयोग व्यर्थ हो जाता है। एक एक करके असद् वृत्तियां तथा प्रवृतियां पराजय का मुख देखती हुई नष्ट होती जाती है। तब इस संग्राम में आत्मा की सद् वृत्तियां तथा प्रवृत्तियाँ विजय की ओर अग्रसर बन जाती हैं।

यह सदासद् संग्राम आत्मा की आन्तरिकता में प्रतिपल चल रहा है —एक पल के लिये भी वह रुकता नहीं है। असद् वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों की सेना में मिथ्यात्व और मोहनीय बहुत जोरदार होते है। ये आत्मा के शत्रु ऐसा मारक प्रहार करते हैं कि आत्मा तिलमिला उठती है—उसके मन

और उसकी इन्द्रियों में बेचैनी और बेहोशी फैल जाती है इसलिये इन दोनों शत्रुओं के प्रति आत्मा की पूरी सावधानी होनी चाहिये। आत्मा के पास इन दोनों शत्रुओं को परास्त कर देने के लिये रत्नत्रय का सुदर्शन चक्र है। सम्यक्त्व के जगमगाते प्रकाश के सामने मिथ्यात्व का अंधेरा टिक नहीं सकता है और ज्यों ही सम्यक्त्व का प्रकाश फैल जाता है, इस आत्मा के समक्ष सदा सद् संग्राम का पूरा दृश्य अति स्पष्ट हो जाता है और उसका सुदर्शन चक्र भी सक्रिय बन जाता है। वह सम्यक् ज्ञान से सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र को पूर्ण रूप से जब मोहनीय कर्म पर प्रहार करती है तो अष्ट कर्म का यह सेनापति बौखला उठता है। वह बार बार आत्मा पर अपने प्रहार करता है, किन्तु बार बार आत्मा का सुदर्शन चक्र मोहनीय कर्म को नीचे पटकता रहता है और तब एक ही झटके में उसका शिरच्छेद कर देता है। मोहनीय कर्म के विनाश के साथ ही आत्मा की शक्ति अनन्त गुना बढ़ जाती है उसका सम्यक् चारित्र सर्व विरति साधु-आचार के रूप में उत्कृष्टता के नये-नये सोपानों पर आरूढ़ होता रहता है। रत्न-त्रय की साधना श्रेष्ठतर होती जाती है और शेष कर्म शत्रु भी नष्ट होते चले जाते हैं। तब वह शुभ दिवस और समय भी आता है, जब पहले चारों घाती कर्म पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं तथा आत्मा का वीतराग भाव जगमगा उठता है। फिर उसके लिये शेष संग्राम विशेष पुरुषार्थ साध्य नही रहता। चारों अघाती कर्मों का नाश करके वह सिद्ध गति की ओर प्रयाण कर देती है और इस प्रकार सदासद् संग्राम में पूर्ण विजय प्राप्त कर लेती है। तब आत्मा स्व-भाव तथा स्व-धर्म में अवस्थित होकर विजेता बन जाती है।

वर्तमान परिस्थितियों में जबकि मेरे सामने सद् वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों एवं असद् वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों की चतुरंगिणी सेनाएं आमने सामने खड़ी हैं। और ज्ञाता-विज्ञाता एवं जागृत दृष्टा बना मैं इस दृश्य को देखता हूं तो मुझे दृढ़ निश्चय करना होता है कि इस संग्राम में चाहे जो हो—मुझे अपनी अन्तिम विजय प्राप्त करनी ही है। सारी रणस्थली में मैं ही योद्धा हूं—मुझे ही लड़ना है अपनी असद् वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों से अपनी सद् वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों की सहायता लेकर। यह ऐसा समय है जब मैं कई बार अर्जुन की तरह घबराता हूं कि मैं कैसे लड़ सकूंगा उन मनोज्ञ विषयों के विरुद्ध जिनसे मेरा मन और मेरी इन्द्रियां सुखाभास लेती रही हैं? कैसे लड़ सकूंगा मैं अपने ही विद्रोही मन और इन्द्रियों से जो मनोज्ञ शब्द, दृश्य, गंध, रस और स्पर्श के घेरों में बार-बार दौड़े हुए चले जाते हैं? किन्तु मेरी आत्मा तब श्रीकृष्ण बन जायगी और अर्जुन की नपुंसकता को दूर करेगी, उसमें योद्धा भाव को जगायगी और उसे अपने रत्न-त्रय का सुदर्शन चक्र चलाने के लिये उत्साहरत बना देगी। यह सब कुछ मेरी ही आत्मा को करना होगा। आत्मा ही सोने लगेगी तो आत्मा ही अपने को जगायगी। आत्मा ही आत्मा से लड़ेगी और आत्मा ही आत्मा को समझायगी। अन्ततोगत्वा यह आत्मा ही अपने द्वन्द्वों को समाप्त करेगी और विजेता बन कर अपने उत्थान के ऊंचे से ऊंचे आयामों को अवाप्त करेगी।

अन्तिम विजय मेरी होगी

मेरी यह निश्चित धारणा बन चुकी है कि इस सदासद् संग्राम में अन्तिम विजय मेरी ही होगी। मैं दृढ़ चेता होकर अपने नये कर्म बंधन को रोकूंगा, पूर्वार्जित कर्मों को तपस्या की अग्नि में भस्म कर दूंगा और अपने आत्म स्वरूप को कुन्दन बना लूंगा। गुणस्थानों के सोपान रूपी कसौटियों पर आत्मा की शुद्धता की जांच मैं हर समय करता रहूंगा और ऊर्ध्वगामी बना रहूंगा। मैं अपने दृढ़

संकल्प के बल पर रत्न-त्रय की कठिनतर साधना करता रहूंगा और नीचे नहीं गिरूंगा। मेरी आत्मा क्रमशः पदोन्नति करती रहेगी और कर्मों के साथ निरन्तर युद्ध करती हुई अन्तिम विजय के सर्वोच्च छोर तक पहुंच कर ही चैन लेगी। यही मेरी आत्म विकास की महायात्रा का सानन्द समापन होगा जहां फिर मेरी आत्मा आनन्द की अजस्त्र धारा में ही सदा सदा के लिये आल्हादित बनी रहेगी।

मेरी अन्तिम विजय के प्रेरक ये आप्त वचन हैं और मैं उनका निरन्तर चिन्तन करता हूं कि जिस प्रकार स्वर्ण अग्नि से तप्त होने पर भी अपने स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता, वैसे ही मैं भी कर्मोदय के कारण उत्तप्त होने पर भी अपने स्वरूप को क्यों त्यागूं? जिस प्रकार पका हुआ फल गिर जाने के बाद पुनः वृन्त से नहीं लग सकता, उसी प्रकार कर्म भी संपूर्ण रूप से मेरी आत्मा से वियुक्त होने के बाद पुनः मेरी वीतरागी आत्मा के साथ नहीं लग सकते हैं। जो अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है, वह शुद्ध भाव को भी प्राप्त करता है, क्योंकि सम्यक् इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर मेरी आत्मा भी अन्तिम विजय की ओर स्वस्थ तथा स्थिर गति से आगे बढ़ती ही जायगी।

मैं अनुभव करता हूं कि मेरी अपनी आत्मा ही ज्ञान रूप है, दर्शन रूप है और चारित्र रूप है। शास्त्र स्वयं ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र स्वयं में कुछ नहीं जानता है इसलिये ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है। जो ज्ञान है, वह मैं हूं और मैं ही शास्त्रों के स्रोत से ज्ञानार्जन करता हूं। चारित्र ही वास्तव में धर्म है, क्योंकि वहीं मेरी आत्मा को उसके धर्म में प्रतिष्ठित करता है और जो धर्म है, वही समत्व है। मोह और लोभ से रहित आत्मा का अपना शुद्ध परिणमन ही समत्व है। अतः आत्मा ही धर्म है अर्थात् धर्म आत्म स्वरूप होता है। समत्व से विभूषित आत्मा सुख दुःख में समान भाव रखती है और तब वह वीतरागी और शुद्धोपयोगी हो जाती है। आत्मा ज्ञान प्रमाण (ज्ञान जितनी) है, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है और ज्ञेय लोकालोक प्रमा(ण है जिससे ज्ञान सर्वव्यापी हो जाता है। यही आत्मा का सर्वव्यापी स्वरूप है।

मैं जब अपने इस अनुभव में विराट् होता हूं तो अपने आत्म स्वरूप को वैसा ही विराट् बना लेने का दृढ़ निश्चयी भी बन जाता हूं। यही दृढ़ निश्चय मेरे आत्म-विकास की महायात्रा का सबल संगी होता है तथा उस के सफल समापन का श्रेयी भी। मेरी दृढ़ता ही मुझे सदासद् संग्राम में विजेता बनाती है तो वही मेरी अन्तिम विजय की प्रतीक बनती है।

नवम सूत्र और मेरा संकल्प

मैं शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध निरंजन हूं। मैंने अनुभव कर लिया है कि मेरा मूल स्वरूप क्या है तथा जान लिया है कि मैं उसे कैसे प्राप्त करूं? यह सारी विधि वीतराग देव बता चुके हैं तथा उनकी चेतावनियों पर भी मैं निरन्तर चिन्तन-मनन करता रहता हूं कि जिस प्रकार वृक्ष के पत्ते समय आने पर पीले पड़ जाते हैं और भूमि पर झड़ जाते हैं, उसी प्रकार मेरा यह जीवन भी आयु के समाप्त होने पर क्षीण हो जायगा, अतएव मैं क्षण भर के लिये भी प्रमाद न करूं। जैसे कुशा (घास) की नोक पर हिलती हुई ओस की बूंद बहुत थोड़े समय के लिये टिक पाती है, ठीक वैसा ही मेरा यह जीवन भी क्षणभंगुर है। अतएव मैं क्षण भर के लिये भी प्रमाद न करूं। मेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, केश पक कर सफेद हो चले हैं। शरीर का सब बल क्षीण होता जा रहा है। अतएव मैं क्षण भर के लिये भी प्रमाद न करूं। मैं इस संसार रूपी महासमुद्र को तैर चुका हूं, फिर किनारे पर आकर क्यों बैठ गया हूं? मैं उस पार पहुंचने की शीघ्रता करूं। समय बड़ा भयंकर है और इधर

प्रतिक्षण जीर्ण शीर्ण होता हुआ शरीर है। अतएव मैं सदा अप्रमत्त होकर भारंड पक्षी (सतत सतर्क रहने वाला एक पौराणिक पक्षी) की तरह विचरण करूं। मैं सोये हुओं के बीच में भी सदा जागृत रहूं और सदा अप्रमत्त बनूं। सकल इच्छाओं का निरोध करके अपनी स्वयं की आत्मा के द्वारा सत्य का अनुसंधान करूं। क्योंकि सत्य ही संसार में सारभूत है।

अतः इस नवम सूत्र के संदर्भ में मैं संकल्प लेता हूं कि मैं निरन्तर अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन करूंगा, गुणाधारित धर्म का पालन करूंगा तथा ज्ञानी व ध्यानी बनूंगा। ऐसा करके मैं अपने कर्मों के आवरण को उसी प्रकार उतार फैंकूंगा, जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुली को उतार कर छोड़ देता है। मुझे यह मंत्र शीघ्र आत्मा विजेता बनने में सहायता करेगा कि जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है, जिसे तू शासित करना चाहता है, वह भी तू ही है और जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह भी तू ही है। जिसे जाना जाता है, वह आत्मा है तथा जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है। यही प्रतीति मेरी अन्तिम विजय की मूल भित्ति है। इसी भित्ति पर मैं अपने गुणाधारित जीवन का निर्माण करता हूं और अपने मूल आत्म स्वरूप को समाहित करने की दिशा में अग्रसर होता हूं।

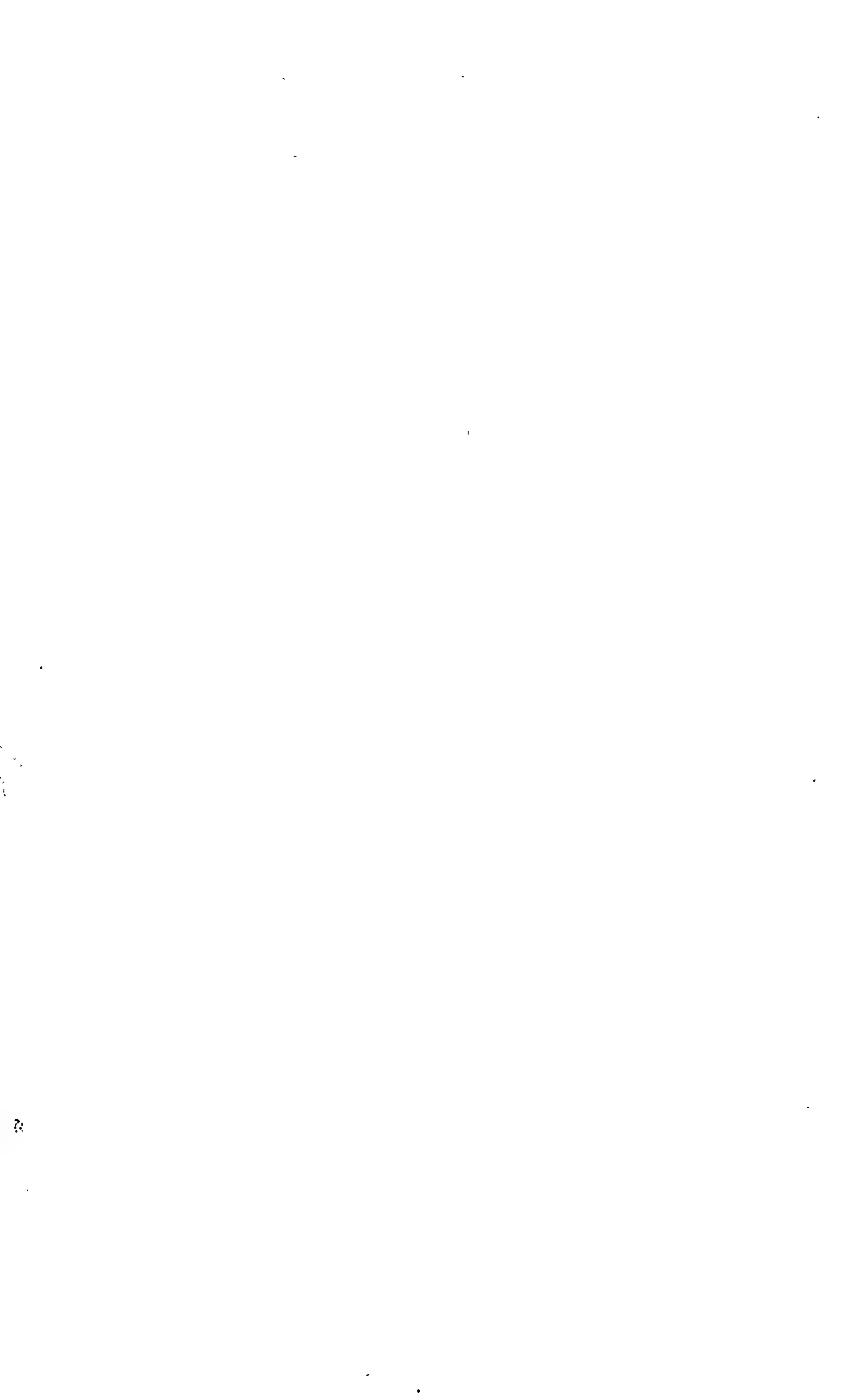
तदनन्तर गुण विकास की क्रमिकता में समुन्नत होता हुआ, मनोरथों एवं नियमों का चिन्तन करता हुआ और उत्कृष्ट भाव-श्रेणियों में विचरण करता हुआ मैं अपने मूल स्वरूप के आलोक को प्राप्त कर लूंगा और शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध बन जाऊंगा।

अध्याय ग्यारह

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र
समता की जययात्रा

अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे,
पलिछिंदियाणं णिक्कम्मदंसी।

हे धीर, तू विषमता के प्रतिफल और आधार का निर्णय कर तथा उसका छेदन करके करमों से रहित अवस्था अर्थात् समता क द्रष्टा बन जा।



अध्याय ग्यारह

समता जीवन विकास का मूलमंत्र तथा जीवन का चरम साध्य है। आत्म-समीक्षण से लेकर समता अवाप्ति तक की जय-यात्रा ही जीवन की जय यात्रा है। समीक्षण का अर्थ है समान रूप से देखना और आत्म समीक्षण होता है अपनी आत्मा को समान रूप से देखना तथा यही समान रूप से देखना होता है संसार की समस्त आत्माओं के संदर्भ में। यह समीक्षण ही बोध देता है आत्म-समता का कि सभी आत्माएं समान है—एक हैं। यह अनुमान और यह दृष्टि ही समता का मूल है अर्थात् समीक्षण मूल है और समता उसका वट वृक्ष जो समस्त संसार को अपनी शीतल एवं सुखदायक छाया में लपेट लेना चाहती है। समीक्षण कारण है तो समता उसका कार्य। समीक्षण मूल है तो समता उसका सुवासयुक्त फूल।

समीक्षण सम्पूर्ण संसार को समान दृष्टि से देखने की प्रेरणा देता है तो समता समस्त संसार को समानता में ढाल देने के अपूर्व कृतित्व को अनुप्राणित करती है। दृष्टि से कृति तक की यह यात्रा ही आत्म विकास की महायात्रा है जो मन, वाणी और कर्म को एकरूपता तथा समरसता प्रदान करती है। समीक्षण ध्यान की साधना से यह आत्मा एक निष्ठ बनती है और मन तथा इन्द्रियां एकाग्र तो इनमें जो एक है और जिसके प्रति एक निष्ठ तथा एकाग्र होना है, वही एक है समता। समता स्थिति भी है तो आचरण भी। समता साध्य भी है तो साधन भी।

सच पूछें तो समता एक व्यक्ति का ही साध्य नहीं अथवा एक आत्मा का ही साध्य नहीं, अपितु सम्पूर्ण संसार का साध्य है। साध्य इस दृष्टि से कि एक व्यक्ति या आत्मा अपनी आन्तरिकता को समता से ओतप्रोत बनाले और अन्ततोगत्वा समत्त्व योगी या समतादर्शी बन जाय। समता सम्पूर्ण संसार का साध्य इस दृष्टि से कही जायगी कि संसार के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि विभिन्न क्षेत्रों में तथा स्वयं व्यक्तियों के सामूहिक रहन सहन तथा व्यवहार में जितना अधिक समता का प्रसार होता जायगा, एक व्यक्ति को समत्व योगी के लक्ष्य तक पहुंचने में उतनी ही सुविधा और सरलता बढ़ती जायगी, क्योंकि सांसारिक जीवन में बढ़ती हुई समता निश्चित रूप से उन मानवीय गुणों को प्राणवान बनायगी जो एक आत्मा को सभी आत्माओं के साथ समान सहृदयता से जोड़ते हैं। तो इस रूप में समानता किसी एक ही व्यक्ति, वर्ग अथवा समूह का ही साध्य नहीं, बल्कि समस्त संसार का साध्य है।

और समता साधन भी है समता ही के व्यापक साध्य को अवाप्त करने का। वही साधन है एक व्यक्ति या आत्मा के लिये तो वही साधन है समूह, समाज या सकल विश्व के लिये भी। समता, समत्व अथवा साम्यवाद एक विचार भी है तो कृति भी है और कृति है तो साधन है। साधन इस कारण कि समता आचरण का सोपान भी है। समता के आचरण की विभिन्न सीढ़ियां है जिन पर क्रमिक रूप से आरोहण करते हुए समता के शिखर तक पहुंचा जा सकता है। अतः समता की साधना समग्र जीवन की साधना है।

एक आत्मा का सर्वोच्च लक्ष्य है कर्म मुक्त हो जाना याने कि आत्मा के मूल स्वभाव पर जितने विकारों के आवरण हैं, उन्हें हटाकर आत्मा को उसके मूल निर्मल स्वरूप में प्रतिष्ठित कर देना। यही आत्मा का मोक्ष होता है, उसकी सिद्धि होती है। सिद्धात्मा ही समत्व योगी और समतादर्शी होती है। ये जो कर्म हैं, आत्मा के विकारों के—पापों के प्रतीक हैं—आत्मा की विकृत कृतियों के द्योतक हैं। कर्म पुण्य रूप भी होते हैं और उनका फल सुखद भी होता है, फिर भी सभी प्रकार के कर्मों का अन्त ही आत्मा को मोक्ष में पहुंचाता है क्योंकि कर्म सदा ही विषमता का परिचायक होता है। जहां तक लेश मात्र भी विषमता है, पूर्ण समता की अवाप्ति नहीं होती है।

पूर्ण समता आध्यात्मिक समता ही हो सकती है और इस दृष्टि से पूर्ण समता की अवाप्ति एक आत्मा द्वारा ही संभव है जो अपनी सजग एवं कठिन साधना द्वारा अपने उत्थान के चरम के रूप में अवाप्त करती है। पूर्ण समता आन्तरिक समता होती है। इसी आन्तरिक समता से बाह्य समता होती है जो बाह्य वातावरण को समानता के सांचे में ढालने का यत्न करती है। बाह्य वातावरण इतना विषम होता है और अनेकानेक आत्माओं के संचरण से इतना जटिल कि वहां पूर्ण समता की कल्पना दुःसाध्य है यह अवश्य है कि यदि पूर्ण समता को साध्य के रूप में सदैव समक्ष रखें तो जटिल विषमता का अन्त किया जा सकता है तथा संसार के बाह्य वातावरण को भी सुखद मानवीय मूल्यों से विभूषित बनाया जा सकता है। आदर्श ही नीचा हो तो उसकी प्राप्ति बहुत नीची होगी, लेकिन सर्वोच्च आदर्श को दृष्टि में रखकर जो भी प्रगति सामूहिक रूप से साधी जा सकेगी, वह भी अति मूल्यवान सिद्ध हो सकेगी।

जीवन का उद्‌भव और संचरण

सांसारिक दृष्टि से एक जीवन का उद्‌भव वर्तमान जन्म के आरंभ से माना जायगा, जवकि आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन के उद्‌भव का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि यह आत्मा अनादिकाल से इस संसार के जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण कर रही है तथा वर्तमान जीवन उसी की एक कड़ी है। दोनों दृष्टियों का समन्वय यों किया जा सकता है कि एक बालक जब गर्भावस्था में आता है तो वह अपने साथ अपने पूर्वजन्म के संस्कार (कर्म बंध) भी लाता है तो वर्तमान जन्म के संस्कारों को भी ग्रहण करता है जो उसे अपने निकट के वातावरण से प्राप्त होते हैं। फिर भी एक बालक और एक वयस्क की तुलना में वह बालक अधिक निश्छल और निर्दोष दिखाई देता है, जिसका स्पष्ट अभिप्राय यही माना जा सकता है कि यह बाह्य संसार जिसमें सभी जीते हैं और जिसको सभी देखते हैं, बहुत अधिक विषम परिस्थितियों में चल रहा है। तभी तो ये विषम संस्कार एक बालक को वयस्क बनते-बनते इतना अधिक जकड़ लेते हैं कि तुलनात्मक दृष्टि से उसका जीवन अधिकाधिक विषम बनता चला जाता है।

आशय यह है कि संसार की वर्तमान परिस्थितियां दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक विषम होती जा रही हैं जो एक बालक से उसकी जन्मजात निश्छलता और निर्दोषता को छीन लेती हैं। कल्पना करें कि यदि एक सीमा तक संसार की इस विषमता को बढ़ने से रोक दें अथवा एक सीमा तक समतामय व्यवस्था की स्थापना कर दें तो क्या यह नहीं हो सकता कि एक बालक की जन्मजात निश्छलता और निर्दोषता सामान्य रूप से अधिक समुन्नत न बन सके तो अधिक विकृत तो न वने। संसार के बाह्य वातावरण को इस सीमा तक तो समतामय बनाया जाय कि एक वालक को, एक

व्यक्ति को या एक आत्मा को अपने शुभ संस्कारों से बिगड़ या गिर कर अशुभता से लिप्त हो जाने के लिये विवश तो न होना पड़े। जीवन के उद्‌भव और संचरण का दृष्टिकोण यही है कि वर्तमान जीवन के उद्‌भव से लेकर संचरण तक के बाह्य वातावरण को अधिकाधिक समतामय बनाने का सुप्रयास किया जाय जिससे सुप्रभावित होकर भव्य आत्माएं सरलता एवं सहजतापूर्वक ऊर्ध्वगामी बनें तथा समतादर्शन की सर्वोच्चता को साध सकें।

मनुष्य के जीवन का उद्‌भव उसकी गर्भावस्था से ही हो जाता है। गर्भावस्था में भी बालक नये संस्कारों को अपनी माता की चेतना के माध्यम से ग्रहण करता है। महाभारत काल में अभिमन्यु इसका ज्वलन्त उदाहरण माना जाता है जिसने गर्भावस्था में चक्रव्यूह में प्रवेश करने की विधि तो जान ली किन्तु उसको भेद कर बाहर निकल आने की विधि न सुन पाने से उससे अज्ञात रही, फलस्वरूप उसके जीवन में जब चक्रव्यूह को भेदने का अवसर आया तब वह उसमें प्रवेश तो कर गया किन्तु वापस बाहर नहीं निकल सका। कहने का अभिप्राय यह है कि गर्भावस्था में भी बालक की चेतना बाह्यवातावरण से बहुत कुछ संस्कार ग्रहण करती है। फिर जन्म ले लेने के बाद बालक अपने आसपास के वातावरण से भी सीखता है और ज्यों-ज्यों उसकी आयु बढ़ती है, उसके सीखने का क्षेत्र भी विस्तृत होता जाता है। इसीलिये कहा जाता है कि बालक को यदि शुभ संस्कारों से भरा-पूरा वातावरण दिया जाय तो उसका निर्माण श्रेष्ठ संस्कार युक्त जीवन के रूप में किया जा सकता है। बाल-शिक्षा का इसी दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व भी माना जाता है कि एक कुम्हार गीली मिट्टी को चाहे तो दीवड़ में बदल सकता है और चाहे तो मल-पात्र में या कोमल टहनी को ऊपर उठाकर ऊपर बढ़ने की दिशा में मोड़ सकते हैं तो नीचे झुकाकर भू लुंठित कर सकते हैं। बालक को इस रूप में गीली मिट्टी या कोमल टहनी मानकर उसके जीवन को सुरचनात्मक बनाने का प्रयास किया जाता है।

यह सुप्रयास इसी दिशा का परिचायक है कि जीवन का उद्‌भव उसके भावी संचरण की स्वस्थ प्रक्रिया में ढाला जाय जिससे उस जीवन का श्रेष्ठ निर्माण हो तो वैसे स्वस्थ वातावरण में पलने वाले सभी जीवनों का श्रेष्ठ निर्माण हो और फलस्वरूप एक समूह, एक वर्ग, एक समाज और परिणामतः सकल विश्व का वातावरण स्वस्थ बने तथा उसमें जन्मने और पलने वाले बालकों के जीवन का श्रेष्ठ निर्माण हो। कम से कम जीवन के उद्‌भव की श्रेष्ठता उसके भावी संचरण में बनी रहे—इतना प्रयास तो सफल बने ही। जीवन निर्माण की ऐसी श्रेष्ठता ही मन, वाणी और कर्म में समाहित होकर समता की आदर्शता तक प्रतिफलित हो सकती है।

इस विश्लेषण से दो परस्पर विरोधी तथ्य उभर कर सामने आते हैं। एक तो यह कि वर्तमान समय में विश्व में विविध प्रकार की विषमताओं ने अति ही जटिल स्वरूप ले रखा है तो दूसरे, उसके बावजूद सामान्य जीवन में यह शुभाकांक्षा और किन्हीं अंशों में यह शुभ चेष्टा विद्यमान है कि नई पीढ़ी के बालकों में श्रेष्ठ संस्कारों का निर्माण हो—उन्हें शुभ, सुभग एवं समुन्नतकारी शिक्षा मिले। एक निराशाजनक स्थिति है तो दूसरी आशापूर्ण। अतः यह आवश्यक है कि वर्तमान विश्व में फैली और फैलती जा रही विषमताओं तथा उनके कारणों का आकलन किया जाय और यह निर्णय लिया जाय कि क्या इस वातावरण में सामान्य रूप से ही सही, किन्तु शुभतामय परिवर्तन लाया जा सकता है ? क्या परिवर्तन की ऐसी संभावना में, नई पीढ़ी के संस्कारों को अधिक शुभता के ढांचे में ढालकर समता के वातावरण को अधिक पुष्ट बनाया जा सकता है ?

जीवन विकास का गतिक्रम

इस ज्ञात संसार के ज्ञात समय के इतिहास को यदि देखा जाय तो उससे मानव जीवन के वर्तमान विकास के गतिक्रम की एक रूपरेखा समझ में आती है। प्रारंभ में मनुष्य जीवन केवल प्रकृति की कृपा पर चलता रहा जब वन के वृक्षों से वह फल और निर्झर नदियों से जल प्राप्त करके अपना निर्वाह चलाया करता था। जीवन निर्वाह के लिये वह कोई पुरुषार्थ नहीं करता था। ऐसा ही उल्लेख युगलिया काल का भी आता है जब पुत्र और पुत्री का एक ही युगल जन्म लेता था जो बड़ा होकर प्रकृति पर ही निर्भर रहा करता था। इस युगलिया काल की परिसमाप्ति ऋषभदेव द्वारा धर्म-कर्म के प्रारंभ के साथ हुई। उन्होंने ही उस युग में असि (रण कौशल), मसि (स्याही-महाजन व्यापार) तथा कसि (कृषि) के व्यवसाय का प्रशिक्षण दिया। इसी अवस्था को आधुनिक इतिहासकारों ने आदिम काल कहा है जब प्रारंभ में अग्नि का आविष्कार भी नहीं हुआ था। अग्नि के आविष्कार के बाद भोजन पकाने की विधि शुरू हुई। इस आदिमकाल में जब प्रकृति द्वारा निर्वाह पूर्ति में अल्पता आने लगी, तब मनुष्य ने खेती तथा पशु पालन का व्यवसाय आरंभ किया। अब तक मनुष्य घूमन्तु बना हुआ था, लेकिन खेती ने उसे एक स्थान पर ठहरने के लिये विवश कर दिया। उसके बाद ही बस्तियों और ग्रामों का क्रम शुरू हुआ। नदियों के किनारे किनारे ग्रामों और नगरों का विकास होने लगा। इस विकास से दो प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हुई। एक तो सुरक्षा की समस्या तो दूसरी आवश्यक पदार्थों की पूर्ति की समस्या। सुरक्षा की दृष्टि से क्षत्रिय जाति का निर्धारण हुआ कि वे अपने ग्राम, नगर या क्षेत्र की अपनी तलवार के बल पर रक्षा करें और समूह उनका जीवन निर्वाह। आवश्यक पदार्थों की पूर्ति की दृष्टि से वैश्यजाति बनी, जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवश्यक पदार्थ पहुंचा कर समुचित लाभ अर्जित करने लगी। यही क्षत्रिय जाति धीरे-धीरे अपनी तलवार ही के बल पर शासक जाति बन गई जिसने सामन्त प्रथा तथा राजतंत्र को जन्म दिया। वैश्य जाति ने अपने व्यापार के क्षेत्र को बढ़ाते और क्षत्रिय जाति से रक्षा पाते हुए अपना वर्चस्व दूर दूर तक फैला दिया। चूंकि प्रकृति की विविध शक्तियों से मनुष्य का साक्षात्कार होने लगा और तब तक प्रकृति की उसकी जानकारी पर्याप्त नहीं थी अतः प्रत्येक शक्ति के अनुभव से उसकी पूजा और तदनुसार धार्मिक क्रियाकांडों का श्रीगणेश हुआ। इसकी जिम्मेदारी ब्राह्मण जाति ने ली। प्रारंभ से कृषि आदि व्यवसाय करने वाली उत्पादक जाति उसकी ही पीठ पर बनी दूसरी जातियों से दबती गई और उसका कार्य इन तीनों प्रभावशाली जातियों की सेवा के रूप में ढल गया जो शूद्र जाति कहलाने लगी। इस प्रकार जहां आदिमकाल में मनुष्यों के बीच में प्राकृतिक समानता थी, वह विभिन्न जातियों ने अपने अपने शक्ति सन्तुलन के आधार पर समाप्त कर दी। व्यवसायों के जातिगत वर्गीकरण के साथ इस रूप में सबसे पहिले विषमता ने जन्म लिया।

पहिले मनुष्य का अपना कहलाने को कुछ नहीं था। वृक्ष सबके थे और नदी निर्झर भी सबके थे। स्वामित्व नाम की कोई स्थिति नहीं थी। उसको खेत का स्वामित्व आया, पदार्थों का स्वामित्व पैदा हुआ तो सम्पति और राज्य का स्वामित्व बना। इस प्रकार शुद्ध समता के वातावरण में रहने वाले मनुष्य अपने-अपने स्वामित्व की दृष्टि से भिन्न-भिन्न जातियों तथा वर्गों में बंट गये। फिर भी प्रारंभ में मानवीय मूल्यों की बहुलता थी, हृदय की सरलता और निर्मलता भी थी जिस के कारण वे एक दूसरे के सहायक और संपोषक रहे। किन्तु सत्ता और सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व ने मनुष्य के मन में अधिकार और तृष्णा की आग लगा दी। अपने लिये अधिक से अधिक संचित करना तथा अपने व अपनों के लिये ही उसका व्यय करना—ऐसी संकुचितता पैदा होने लगी—बढ़ने लगी।

फलस्वरूप मनुष्य गलत दिशा का महत्त्वाकांक्षी बनने लगा। राज्य प्रसार और व्यवसाय प्रसार की होड़ लग गई कि कौन कितना अधिक उपार्जन करता है और कौन अपना अधिक से अधिक वर्चस्व और प्रभाव बनाता है। मनुष्य तब पदार्थों से स्वार्थी बनने लगा और स्वार्थ बढ़ता गया तो उसमें सामूहिक हित की भावना क्षीण होने लगी। उसकी इसी वृत्ति ने बड़े-बड़े राज्यों की और साम्राज्यों की रचना की जिसके साथ ही दमन और शोषण का दौर दौरा भी शुरू हुआ। सेवा करने वाली जाति का काम सेवा करना है—परिश्रम करना है। यह जरूरी नहीं रहा कि परिश्रम करने वालों को उसके परिश्रम का उचित मूल्य मिले ही। वे परिश्रम पूरा करें और प्रभावशाली वर्ग उसे उसके जीवन निर्वाह के लिये जितना दे दें, उससे वह संतोष कर ले। इस व्यवस्था के चलने से राजनीति और अर्थ के नये ही ढांचे खड़े हो गये। राज तंत्र की स्थापना करके राजा सेवक रूप से ईश्वर रूप बन गया—ईश्वर का इस संसार का प्रतिनिधि। उसकी भिक्षा पर पलने वाले ब्राह्मण वर्ग ने राजा की शान में चार चांद लगाने शुरू कर दिये। उधर व्यापारी वर्ग ने भी राजा की सेवा करते हुए अपना व्यापार ही नहीं बढ़ाया बल्कि अपने लाभांशों का भी विस्तार कर दिया। इस प्रकार राजनीति और अर्थ ने अपना गठजोड़ा जोड़ कर समाज में एक ऐसे शक्तिशाली वर्ग को जन्म दे दिया जो समूचे समाज का शासक और भाग्य नियन्ता बन गया।

यह शक्तिशाली वर्ग जरूर बना किन्तु इसी वर्ग में व्यक्तिवादी होड़ भी जारी रही। वे व्यक्तिगत प्रभाव के लिए परस्पर संघर्षशील बन गये। इस कारण साम्राज्यवाद के विकास के साथ भीषण युद्धों का और युद्धास्त्रों का विकास भी होने लगा। धीरे-धीरे सभी देशों में यह विकृति पनपने लगी तथा क्षेत्रवाद और समूहवाद से ऊपर राष्ट्रवाद भी एक आक्रामक शक्ति के रूप में उभरने लगा। यहीं से भयंकर युद्धों का प्रारंभ हुआ। प्रथम विश्व युद्ध (सन् १६१४) तथा द्वितीय विश्वयुद्ध (सन् १६३६) तो आज भी कई लोगों की स्मृति में होंगे। इन युद्धों के बाद यह परिस्थिति स्पष्ट होती जा रही है कि अर्थ का वर्चस्व प्रमुख है और वही राजनीति को चलाता है।

इस सारे विषम विकास के बीच में भी मनुष्य के मन में बसी हुई समता कभी टूटी नहीं। वह अपनी समता की रक्षा के लिये निरन्तर सावधान भी रहा है। एक ओर तो अर्थ तथा राजनीति की शक्तियों ने अपना अलग वर्ग खड़ा कर दिया और समूचे समाज पर शासक के रूप में वे छा गई तो दूसरी ओर सामान्य जन अपने दमन और शोषण के विरूद्ध लड़ते भी रहे। समता की प्रबल आकांक्षा ने ही लोकतंत्रीय पद्धति को जन्म दिया है कि जिसमें सभी नागरिक समानता के आधार पर जी सकें। यह दूसरी बात है कि वह लोकतंत्रीय पद्धति सत्ता और सम्पत्ति के प्रपंची स्वामियों के सामने अपने शुद्ध रूप में विकसित नहीं हो सकी है, लेकिन संघर्ष जारी है।

इस दौरान भौतिक विज्ञान का भी अकल्पनीय विकास हुआ। नये-नये अनुसंधानों तथा आविष्कारों ने अपार शक्ति के स्रोत खोल दिये, जिन्हें सत्ता और सम्पत्ति के स्वामियों ने अपने अधिकार में ले लिये। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि विज्ञान की शक्ति उनकी शासन शक्ति बन गई। जिस वैज्ञानिक विकास को सामान्य जन का सहायक बनना चाहिये था, वह संभव नहीं हो पाया। उसी का कुफल है कि आज का यह विश्व भयानक अणु-शस्त्रों के अम्बार पर बैठा है जिसमें जब भी किसी घोर सत्ता-लिप्सु ने अंगार रख दिया तो सारा विश्व धू धू करके जल उठेगा। उस आग में सिर्फ सत्ता और सम्पत्ति की अन्यायी शक्तियां ही नहीं जलेगी किन्तु वह सब कुछ अमूल्य

सांस्कृतिक और सुसभ्यता की धरोहर भी जल जायगी, जिसे अपने आदर्श ज्ञान और आचरण के बल पर कई महापुरुषों ने मानव जाति के सुपुर्द की है। वह महाविनाश समुपस्थित न हो—इस ओर आज सबका ध्यान केन्द्रित है।

इसे एक रूप में सदासद् संग्राम की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि जब ये वृत्तियां ही मानव हृदयों को मथती है, तभी उन का प्रवृत्तियों के रूप में विस्फोटन होता है। ऐसा सदासद् संग्राम आज मनुष्यों के भीतर भी चल रहा है तो बाहर भी चल रहा है। सद् शक्तियां दुर्बल भले हों लेकिन सजग और सावधान अवश्य है। आवश्यकता है कि इन सद् शक्तियों को अधिक से अधिक लोगों का सम्बल मिले और वे इतनी प्रभावशाली बन जांय कि असद् शक्तियों का शुभ परिवर्तन कर दिया जा सके।

ज्ञात संसार के ज्ञात समय में हुए जीवन विकास के गतिक्रम की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्ता और सम्पत्ति जितने अंशों में अपने अर्जन और संचय की प्रक्रिया में व्यक्तिगत हाथों में केन्द्रित होती हुई चली जाती है, उतने ही अंशों में समाज में विषमता बढ़ती जाती है। कुछ बहुत अधिक सम्पन्न हो जाते हैं और अधिक अभावग्रस्तता की जिन्दगी जीने के लिये मजबूर हो जाते हैं। समता के सूत्र भी बंट जाते हैं—टूट जाते हैं। विषमता कभी अकेली नहीं आती और फैलती, वह अनीति, अन्याय और अत्याचार के अनेकानेक पाशविक और राक्षसी दुर्गुणों को साथ में लाती है एवं मानव मन को पतन के दल दल में फंसाती है। समझने का मूल बिंदु यह है कि व्यक्तिगत स्वार्थ और उसकी निरन्तर बढ़ती हुई तृष्णा के चक्रवात में सामूहिक या सामाजिक हित समाप्त हो जाता है, कुछ लोगों के भौतिक वर्चस्व के नीचे लाखों करोड़ों का जीवन निर्वाह दब जाता है तथा सबसे बड़ी क्षति यह होती है कि मानवीय मूल्य नष्ट होते चले जाते हैं।

किन्तु आशा की किरणें लुप्त नहीं होती। सम्पन्न और अभावग्रस्त वर्गों की नीतिहीनता के बीच में भी समता और मानवता की ज्योति जलती रहती है। उसी ज्योति में प्रकाश भरना होता है प्रबुद्ध जनों को, जो मानवीय मूल्यों के लिये निरन्तर संघर्षशील रहते हैं। अतः आज के विश्व की जटिल विषमता के कारण हमारे सामने हैं जो मूल में व्यक्तिगत लिप्सा से बोतल के भूत की तरह फैले हैं। व्यक्तिगत सत्ता और सम्पत्ति की लिप्सा के इस भूत को जितना जल्दी तथा जितने पुरुषार्थ से वापस बोतल में बंद किया जा सके, उतना ही मानव जाति का कल्याण निकट लाया जा सकता है और उतना ही बाह्य एवं आभ्यन्तर समता का त्वरित विकास भी साधा जा सकता है।

यह जीवन क्या है ?

जीवन विकास के इस गतिक्रम के उपसंहार में आखिर यह जानना जरूरी हो गया है कि यह जीवन क्या है ? इसका वस्तु स्वरूप क्या है और इस जीवन को तदनुसार वास्तविक कैसे बनाया जा सकता है ?

ज्ञान की चिन्तन गूढ़ता एवं आचरण की सत्यानुभूति के साथ जीवन की यह छोटी सी व्याख्या उभर कर आती है कि जो (१) सम्यक् निर्णायक हो तथा (२) समतामय हो, वही वास्तविक जीवन है। इसे जरा विस्तार से समझें।

वर्तमान युग में मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होता है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य जीवन एकाकी नहीं होता। वह समूह और समाज में जन्म लेता है, पनपता है और परिपक्वता ग्रहण

करता है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि वह अपने साथी मनुष्यों के संस्कारों, स्वभावों तथा कृत्यों से स्वयं प्रभावित होता है तथा आयु वृद्धता के साथ वह भी अपनी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का प्रभाव अपने साथियों पर याने कि समाज पर छोड़ता है। व्यक्ति और समाज इस रूप में परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। इस सम्बद्ध स्थिति में ही नवजात शिशुओं के जीवन का श्रीगणेश और विकास होता है और इस तरह जीवन की क्रमबद्धता चलती रहती है। ये परिस्थितियां ही मनुष्य को सामाजिक प्राणी का रूप देती हैं। मनुष्य का सम्पूर्ण बाह्य जीवन एक प्रकार से इसी सामाजिक धरातल पर गतिशील होता है।

समाज में कई व्यक्ति होते हैं भिन्न भिन्न संस्कारों, स्तरों और स्वभावों के। इन भिन्नताओं में क्या सही है और क्या गलत है—जब तक ऐसा निर्णय लेने की बुद्धि और शक्ति न हो, तब तक यह समझ में नहीं आ सकता कि क्या ग्रहण किया जाना चाहिये और क्या छोड़ दिया जाना चाहिये? इस कारण जीवन में निर्णय शक्ति का विकास हो—यह पहली आवश्यकता है, जो हर समय घटित होती हुई परिस्थितियों में निर्णय ले सके कि जीवन का वास्तविक स्वरूप क्या होना चाहिये तथा कौन कौनसे मानवीय मूल्यों से उसे संवार कर एक स्वस्थ जीवन और एक स्वस्थ समाज की रचना की जा सकती है? चारों ओर फैली विविधताओं के बीच में एकता के सूत्र यही सम्यक् निर्णायक शक्ति खोज सकती है तथा समता के सूत्रों को भी यही शक्ति एक साथ संयोजित कर सकती हैं। इसी दृष्टि से जीवन को समतामय बनाने का उल्लेख किया गया है। यों मानिये कि व्यक्ति और समाज के जीवन का परम और चरम लक्ष्य समता है और समता की सृष्टि के लिये सम्यक् निर्णायक शक्ति की पहली और आखिरी आवश्यकता है। व्यक्ति अपने प्रत्येक चरण पर अपने जीवन और समाज के जीवन के प्रति सजग दृष्टि बनाये रखे कि जो भी घटित हो, वह समता के उच्चादर्श की ओर आगे बढ़ाने वाला हो और क्या कार्य इस आदर्श के अनुकूल हैं और क्या कार्य प्रतिकूल —इसका उसी चरण पर सम्यक् निर्णय भी लिया जाता रहे ताकि एक भी चरण मार्ग से भटके नही।

जीवन की वास्तविकता इस प्रकार सम्यक् निर्णायक शक्ति और समता के उच्चादर्श के रूप में ढलनी चाहिये। इस वास्तविकता-बोध के बाद आज के व्यक्तिगत जीवन की मीमांसा और सामाजिक जीवन की समीक्षा करें।

वर्तमान मानव जीवन का आरंभ होता है गर्भावस्था में उत्पत्ति के साथ। गर्भ से ही उस जीवन का जो निर्माण शुरु होता है वह जन्म के बाद तक चलता रहता है। अतः प्रारंभ से ही इस लक्ष्य को ध्यान में रखा जाय कि बालक में निर्णायक शक्ति का विकास हो। वैसे बालमनोविज्ञान की दृष्टि से यह माना जाने लगा है कि शिक्षा का उद्देश्य जीवन को इस या उस दिशा में मोड़ना नहीं होना चाहिये। शिक्षा का यही उद्देश्य हो कि बालक के मन और इन्द्रियों का ऐसा स्वस्थ विकास कर दिया जाय कि वह अपनी प्रगति की दिशा का निर्णय लेने में स्वयं सक्षम हो। वस्तुतः प्रारंभिक संस्कारों और शिक्षा का यही उद्देश्य होना चाहिये। यदि कोई खास दिशा, शिक्षा या गति बालक के मन पर थोप दी जाती है तो उसका स्वस्थ विकास विवशता के भार के नीचे दब जायगा और उसकी जीवनी शक्ति पंगु बन जायगी। यह सही है कि बालक असहाय होता है और उसे भिन्न भिन्न स्तरों पर अपनी माता, अपने परिवार, अपने संगी साथी और अपने समाज की सहायता की अपेक्षा होती है किन्तु वह सहायता उसके लिये रचनात्मक होनी चाहिये। इसे एक उदाहरण से समझिये। सड़क के किनारे पर एक लंगड़ा बैठा हुआ है, उसे अपने गंतव्य तक पहुंचने के लिये आपकी

सहायता की अपेक्षा है। आप कल्पना करें कि उसकी दो प्रकार से सहायता करते हैं। एक तो आपने उसको खड़ा किया, अपने कंधे का सहारा दिया और उसे ले चले उसकी नहीं अपनी मर्जी या अपनी सुविधा से। समझिये कि आपने उसे शहर के बाहर एकान्त में छोड़ दिया और चले आये बिना यह परवाह किये कि उसका वहां क्या होगा? दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि आप उसे अस्पताल ले गये, उसकी टांग का ईलाज कराया और जब वह तन्दुरुस्त हो गया तो उसे अपनी इच्छा के अनुसार जीवन बिताने के लिये स्वतंत्र छोड़ दिया। अब सोचिये कि कौनसा प्रकार सही है और किस प्रकार से जीवन का स्वस्थ विकास हो सकेगा?

बालक के साथ भी यही बात है। प्रारंभिक संस्कारों और शिक्षा से उसमें यह शक्ति पैदा की जाय कि वह स्वतंत्रतापूर्वक अपने जीवन विकास के सम्बन्ध में स्वयं निर्णय ले सके। उसे सहयोग दिया जाय लेकिन वास्तविक विकास भी उस पर थोपा नहीं जाय, क्योंकि थोपने पर मानसिकता अच्छाई तक के भी विरुद्ध हो जाती है। स्वयं के विवेक से जो ग्रहण किया जाता है, वही स्थिरता से पकड़ा जाता है। अतः स्वयं सक्षम बन कर बालक जो निर्णय लेगा, वह अधिकांशतः सही निर्णय होगा। यदि ऐसी निर्णायक शक्ति का विवेक प्रारंभ में ही सजग बना दिया जाता है तो निश्चय मानिये कि उस जीवन का विकास सदा स्वस्थ रीति से चलेगा।

सम्यक् निर्णायक शक्ति के स्थापित हो जाने के बाद समता का मार्ग खोज लेना और उस पर दृढ़ता पूर्वक गति करना कठिन नहीं रह जायगा, क्योंकि समता की आकांक्षा मानव मन के मूल में रहती है और वह प्रत्येक परिस्थिति में जब बाहर प्रकट होने का रास्ता ढूंढ़ती है तो अनुकूल परिस्थितियों में समता की आकांक्षा का फूलना और फलना अनिवार्य है।

समता का मूल्यांकन

समता मानव-मन के मूल में होती है, जो गुण मूल में होता है, वह कभी न कभी अवसर एवं अनुकूलताएं प्राप्त करके अंकुरित होता ही है और तदनुसार पल्लवित एवं पुष्पित भी होता है। अतः समता का मूल्यांकन करने की अपेक्षा हम समता को मूल्य ही मानें तो वह एक अधिक सत्य मान्यता होगी। जो स्वयं जीवन का एक मूल्य है तथा सर्वोच्च मूल्य हैं, वह मूल्यांकन का गुण नहीं, सर्वभावेन ग्रहण करने वाला मूल्य होता है।

अतः समता दृष्टि भी है और कृति भी। दृष्टि जागृत होती है तो कृति आचरण में प्रकट होती है और कृति ज्यों-ज्यों परिपुष्ट होती है, त्यों त्यों दृष्टि निर्मल एवं प्रखर बनती जाती है। अन्ततोगत्वा कृति अपनी समुन्नति के शिखर पर पहुंच जाती है तो दृष्टि भी त्रिकाल एवं त्रिलोक दर्शी बन जाती है। तब दृष्टि ही दृष्टि सर्व सत्य हो जाती है। वही समत्व योग का पूर्ण सत्य होता है।

समता की यह दृष्टि तीन चरणों में पूर्णत्व प्राप्त करती है व्यक्ति के विकासशील जीवन में। पहले वह सम्यक् दृष्टि होती है, फिर गुण दृष्टि बनकर ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के विभिन्न सोपानों पर आरूढ़ होती है और अन्त में समता दृष्टि बनकर सर्वजग हितकारिणी हो जाती है। एक व्यक्ति की अन्तरात्मा में समता का इस रूप में उच्चतम विकास होता है तो उसका बाह्य जगत् में भी यथाविध प्रसार होता है। भीतर की समुन्नत समता बाहर के वातावरण को भी समानता के रूप में प्रभावित करती है और परिवार के घटक से लेकर, समाज, राष्ट्र एवं सम्पूर्ण संसार में पारस्परिक सहृदयता

एवं सहयोग की परिपाटी को प्रारंभ करती है। समता मानव मन में पल्लवित एवं पुष्पित बनकर समग्र संसार को अपनी सुवास से आनन्दित बनाती है।

समता के ये तीन चरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण होते हैं जो मानव-मन को आन्दोलित, आप्लावित और आह्लादित बनाते हैं। अपनी अविकास की अवस्था में मानव-मन अज्ञान के अंधकार में भटकता है, तब उसे अपने ही हिताहित की संज्ञा नहीं होती। अपने ही भौतिक सुख की वितृष्णा में वह भ्रमित होता रहता है और उस सुख की भी उसे प्राप्ति कम और पीड़ा अधिक रहती है। उस समय उसे आवश्यकता होती है सम्यक् दृष्टि की याने कि उसकी मिथ्या दृष्टि मिटे और दृष्टि उन सत्यों को देखें जो उसके लिये अपने स्वस्थ आत्मविकास के प्रेरक होते हैं। उन सत्यों को देखना, समझना, परखना तथा अपनाने की प्रेरणा प्राप्त करना ही सम्यक् दृष्टि का वरण कहलाता है। असत्य को सत्य मानकर तथा दुःखदायक को सुखदायक मानकर चलने वाले मिथ्यात्व से मुक्त होना सबसे पहिले जरूरी है। मिथ्यात्व जब तक बना रहता है तब तक विपथगामिता चलती रहती है और जो विपथगामिता है, वही भटकाव है। इस भटकाव से सत्य-पथ मिले और सत्य-पथ पर चलने की धारणा बने—यही सम्यक् दृष्टि है।

यह सम्यक् दृष्टि सम्यक् ज्ञान की अवधारणा से उत्पन्न होती है। यों तो ज्ञान प्रत्येक आत्मा में लक्षण रूप होता ही है क्योंकि ज्ञान के सर्वथा अभाव में जीवत्व ही नहीं रहता है, किन्तु वह ज्ञान अपने आत्म विकास के पथ को परख ले और अपने साध्य को भलीभांति पहिचान ले — तभी वह सम्यक्त्व में ढलता है। यों मनुष्य संसार की विविध कलाओं का अनूठा ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करले, किन्तु जब तक वह अपने ही मन और अपनी ही इन्द्रियों के निग्रह तथा अपनी अनन्त इच्छाओं के निरोध का ज्ञान प्राप्त करके अपने जीवन को अहिंसक, सत्यमय एवं सुस्थिर नहीं बना पाता है, तब तक उसका अन्य कलाओं सम्बन्धी सारा ज्ञान और विज्ञान अपूर्ण ही कहलायगा। इसका स्पष्ट कारण है। जो स्वयं अपने जीवन को सर्वहितकारी बनाने की कला सीख नहीं पाता, वह दूसरा कितना ही क्यों न सीख जाय—जीवन जीने की कला नहीं सीख पाएगा। जीवन जीने की कला को दो शब्दों में परिभाषित करें कि जीओ और जीने दो। स्वयं इस तरह जीओ कि दूसरे भी सहजतापूर्वक जी सकें। यह दीखने में जितनी छोटी बात है, आचरण करने में उतनी ही कठिन और महत्त्व की बात है।

जीवन जीने की सच्ची कला का ज्ञान ही सम्यक् दृष्टि का निर्माता बनता है। व्यक्ति अपने जीवन में अकेला नहीं रहता, वह सदा ही समूह या समाज में रहता है, जहां उसका अपने ही साथी मनुष्यों से तो अन्य सभी तरह के छोटे बड़े प्राणियों से हर समय सम्पर्क होता रहता है। उन सबके बीच में सबको सुख देते हुए और सुख लेते हुए वह कैसे जी सकता है—यही इसलिये कि प्रकाश तो है लेकिन वह उतने मोटे पर्दों से ढका हुआ है कि उसकी झलक भी नहीं दिखाई देती। ये पर्दे अपनी ही अकर्मण्यता के होते हैं जिन्हें कर्मों के पर्दे कहते हैं। कर्म सिद्धान्त के कर्म कोई अन्य नहीं, अपने ही किये हुए कर्म होते हैं। कल्पना करें कि कोई जान से या अनजान से अपनी ही आंख में कीला चुभो ले तो आंख जरूर फूट जायगी, दृष्टिहीन हो जायगी। तो यह अपना कर्म हुआ कि अपने हाथों अपनी आंख फोड़ली। अब दृष्टि वापस तभी प्राप्त हो सकती है जब उसकी योग्य चिकित्सा कराई जाय तथा वह चिकित्सा भी अपना श्रम और समय लेगी ही। इसके बावजूद भी

दृष्टिहीनता का दुःख लम्बा भी हो सकता है। आंख में यह कीला चुभोते हुए तो आदमी को उसके कुफल का भान रहता है लेकिन अपने सुख के लिये दूसरों को दुःख देते हुए—तड़पाते और कलपाते हुए आदमी को—सभी देखते हैं—अपनी ताकत के गरूर में जरा भी भान नहीं रहता। ऐसा कुकृत्य अपना कुफल तो देगा ही जल्दी या देर से। ऐसे कुकृत्य ही कर्म बंध रूप होते हैं और उनका कुफल मिलना कर्मों का उदय में आना कहा जाता है। कर्म बुरे भी होते हैं तो अच्छे भी। अच्छों का फल अच्छा मिलेगा। यही पाप और पुण्य है। दूसरों को दुःख दोगे तो दुःख मिलेगा और सुख दोगे तो सुख मिलेगा इसलिये अपने आचरण को सुधारो और सन्तुलित बनाओ कि कुकृत्य कम से कम हो और सुकृत्य अधिक से अधिक। तब बुरे कर्म कम बंधेंगे और अच्छे कर्म अधिक—तदनुसार बुरा फल कम मिलेगा और अच्छा फल अधिक। अच्छा फल यह होगा कि आत्मिक स्वरूप में विकास हो, अनावृत्तता आवे तथा आचरण की सुघड़ता पैदा हो। आचरण धीरे-धीरे इतना सुघड़ और स्वस्थ होता जायगा कि नया कर्मबंध नहीं होगा और पुराना झड़ता जायगा। यही गुण-दृष्टि के विकास का क्रम होगा।

गुण दृष्टि के विकास का प्रारंभ होगा श्रेष्ठ आचरण के शुभारंभ से कि जीवन में नियम का अनुपालन शुरू किया जाय। नियम, व्रत या प्रत्याख्यान—एक ही बात है। ये व्रत स्वयं से भी सम्बन्धित होते हैं तो उनका हितकारी प्रभाव दूसरों पर भी पड़ता है। व्रत को दूसरे शब्दों में त्याग भी कह सकते हैं। अपने पास जो भौतिक सुख सामग्री है, उस पर से अपनी आसक्ति कम करते जावें—उसे छोड़ते जावें। यह पदार्थों का व्यक्तिगत त्याग उनके समाज में विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया का रूप भी ले लेता है। संविभाग तब आचरण का अभिन्न अंग हो जाता है। त्याग सामान्य से आंशिक होता है तब श्रावकत्व का व्रत होता है और जब वह त्याग सर्वथा पूर्ण हो जाता है तब साधुत्व का महाव्रत हो जाता है। यह साधुत्व की निसरणी ही अन्तिम साध्य तक पहुंचाती है। साधु 'जीओ और जीने दो' याने कि जीने की कला की जीवन्त मिसाल होता है। इसी अवस्था में गुण दृष्टि परिपक्व होती है—गुणस्थानों के उच्चतर सोपानों पर समुन्नत बनती हुई।

जीवन में श्रेष्ठ आचरण का अवरोधक माना गया है विषय और कषाय को। विषय कहते हैं इन्द्रियों के सुख को, इच्छाओं की लालसा को और सत्ता व सम्पत्ति की लिप्सा को। विषय ही राग द्वेष को जन्म देते हैं। जो अपने को अच्छा लगे—मनोज्ञ हो—उससे राग होता है और अमनोज्ञ के प्रति द्वेष। राग द्वेष की प्रतिक्रियाएं कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ को जन्म देती है—राग से माया और लोभ तथा द्वेष से क्रोध और मान मुख्यतः फूटता है। विषय और कषाय के सम्मिलित कुप्रभाव से सम्पूर्ण जीवन प्रक्रिया में प्रमाद फैलता है और यही प्रमाद श्रेष्ठ आचरण को पनपने नहीं देता। गुण दृष्टि के विकास क्रम में इन्हीं विकारों को जड़ से उखाड़ना होता है और आचरण का प्रबल पुरुषार्थ नियम, संयम एवं तप के रूप में करना होता है। तभी ये सारे जीवन के विकार नष्ट होते हैं। जीवन तब निर्मल होता है और वही निर्मल जीवन दूसरों के लिये आदर्श बन जाता है।

यही गुण दृष्टि जब अपनी परिपूर्णता के चरम बिन्दु तक पहुंच जाती है, तब वही समता दृष्टि बन जाती है—सबको समान दृष्टि से देखने वाली और सबको सत्य की कसौटी पर परखने वाली। समता दृष्टि का वह चरमादर्श रूप होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि समता जीवन में इससे

पहले आती ही नहीं है। समता तो शुरू हो जाती है सम्यक् दृष्टि के आगमन के साथ ही, जो तदनन्तर दृष्टि और कृति में समुन्नत बनती रहती है। अपनी पूर्णता की प्रक्रिया में समता अपने साधक के आचरण को संयमित और सन्तुलित बनाती है तो उसके अन्दर-बाहर को सुधारती है। साधक का ऐसा संशोधित जीवन बाहर की दुनिया में भी नये नये सुधारों को प्रेरणा देता है। इस प्रकार समता का सर्वांगीण स्वरूप क्रियान्विति में अभिवृद्ध होता रहता है।

विषमता का मूल व विस्तार

विषमता भी दृष्टि और कृति में होती है तथा उसका मूल भी विभाव के रूप में मानव-मन में ही उभरता है। मन का यह वैभाविक मूल ही मन के भीतर, मन के बाहर, अपने आसपास के वातावरण में तथा समाज, राष्ट्र व विश्व में विस्तार पा लेता है।

एक प्रश्न उठता है कि समता स्वाभाविक है अथवा विषमता? स्वभाव उसे कहते हैं जो अपने भाव में—अपने विचार में अच्छा लगे। इस अच्छेपन की कसौटी कहीं बाहर नहीं होती और न ही इस अच्छेपन पर फैसला कोई बाहर वाला दे सकता है। यह आत्मानुभव का विषय है। व्यक्ति स्वयं ही अपने स्वभाव की परख करता है। किन्तु यहां एक समस्या भी पैदा होती है। क्या व्यक्ति सदा ही सही परख कर सकता है या कर लेता है? बाहर के क्रिया कलापों से ऐसा नहीं दिखाई देता। कइयों को वास्तव में वैसा आचरण करते हुए देखते हैं जो उनका स्वभाव नहीं होना चाहिये फिर भी वे उसे अपना स्वभाव मान कर वैसा आचरण करते हैं। यह क्या है? यह भ्रमपूर्ण दशा होती है जिसमें जो स्वभाव नहीं होता, उसे स्वभाव मान लिया जाता है। इसे ही विभाव कहते है—अपने भाव से विपरीत भाव।

प्रश्न उठता है कि इस स्वभाव—विभाव को जांचेगा कौन और कौन विभाव को मिटाने की प्रेरणा देगा? यह सब अपना खुद का मन अपनी आत्मा ही करेगी। यह सही है कि व्यक्ति विपरीत आचरण करता है—विषमता से खुल कर खेलता है और फिर भी चेतता नहीं है, किन्तु यह उसका विभाव ही होता है। एक क्रूर से क्रूर व्यक्ति को भी उसके दिल की बात पूछो तो वह कहेगा कि किसी की दयापूर्ण सहायता का वह छोटा सा काम भी कर लेता है तो उसे मन में खुशी होती है। लेकिन अपने स्वार्थ के लिये या अन्य किसी परिस्थिति के वशीभूत होकर वह क्रूर और हिंसक कार्य करता है। इसमें भी वह अपने मन को मारता है। क्रूर कर्म के पहिले या बीच-बीच में उसके अन्तर्मन से यह आवाज जरूर उठती है कि वह ऐसा न करे, किन्तु उस आवाज को वह अनसुनी कर देता है और धीरे-धीरे उसकी वह आत्मा की आवाज उपेक्षित होकर दब जाती है तब यों समझिये कि उसका स्वभाव भी दब जाता है। स्वभाव नष्ट नहीं होता, दबता ही है, इस कारण दबे हुए स्वभाव को फिर से प्रकट करने के लिये चहुंमुखी प्रयासों की आवश्यकता होती है। व्यक्ति में भी जागृति लाई जाय और सामूहिक वातावरण में भी ऐसा सुधार कि जहां विभाव की अवमानना हो और स्वभाव को प्रोत्साहन मिले। मुख्यतः पहिचान और विभाव परिवर्तन की प्रेरणा अपने ही भीतर से उठनी चाहिये, क्योंकि भीतर से उठी हुई प्रेरणा ही कर्मठतापूर्वक क्रियाशील होती है।

विषमता और विभाव एक दूसरे को फैलाने वाले होते हैं। व्यक्ति जब अपने विचार, वचन तथा कार्य में स्वभाव से फिसलता है, तब उसके मन में विभाव अपनी जड़ें जमाता है और जिस रूप में विभाव फैलता है, उतनी ही विषमता उग्र रूप धारण करती है। मन से उपजी हुई विषमता

न सिर्फ वृत्तियों को विषम बनाती है, बल्कि उस व्यक्ति की समस्त प्रवृत्तियों में वह विष घोल देती है और प्रवृत्तियों का वह विष ही सम्पर्क से परिवार, समाज और राष्ट्र में फैल कर जन-जन को विषमता से रंगने लगता है। और ज्यों-ज्यों विषमता फैलती है, उन्मत्तता में, मूर्खता में या कि विवशता में स्वभाव की समता और समरसता कटु बनती रहती है—विभाव का आतंक बढ़ता जाता है।

इसलिये विषमता के विस्तार को रोकने के लिये तथा उसका मूलोच्छेद करने के लिये सबसे पहिले व्यक्ति को अपने विभाव को ही रोकना होगा—विभाव का ही मूलोच्छेद करना होगा। किन्तु इस दिशा में व्यक्ति का पुरुषार्थ तभी जगेगा जब वह विषमता और विभाव के सम्बन्धगत कारणों को भलीभांति समझले।

इस संसार में जन्म लेने के बाद सबसे पहिले जो समस्या मनुष्य के सामने खड़ी होती है, वह होती है जीवन निर्वाह की समस्या। इस समस्या का समाधान अनिवार्य होता है—इस से मुंह नहीं मोड़ा जा सकता। जीवन निर्वाह के साधन और पदार्थ सामान्यतया विपुल नहीं होते या कि सुलभ भी नहीं होते कि सभी लोगों को वे अनायास प्राप्त हो जावें। जीवन निर्वाह के लिये अति आवश्यक पदार्थ भी आयास प्रयास के उपरान्त न मिले तब भी समस्या खड़ी होती है और जिनको वे पदार्थ विपुलता से मिल जाये तथा वे उनको संचित करके अपने अधिकार में दबाये रखें—तब भी समस्या खड़ी होती है। समस्या तब नहीं रहती जब समान हार्दिकता से सभी प्राप्त पदार्थों का सभी लोगों में संविभाग होता रहे। तब यदि पदार्थों की अल्पता भी रहती है तो भी समस्या नहीं आयगी क्योंकि संविभाग और समान न्याय से सभी मन से संतुष्ट रहेंगे। पदार्थ अल्प हो और असंविभाग भी रहे तब समस्या जटिलतर हो जाती है।

समस्या की जटिलता इस तरह फूटती है कि जब कोई हमदर्दी छोड़कर निर्दयी बनता है, साथियों के आंसुओं को पीकर स्वार्थान्ध हो जाता है तो वह अपने ही लिये येन केन प्रकारेण आवश्यक पदार्थों को जुटाने की कुचेष्टा करता है। कुचेष्टा इसलिये कहा जाय कि वह उपार्जन उसका नीतिमय नहीं होता। अनीति और अन्याय से ही वह अधिक पदार्थ लूटता है और उनका संचय भी करता है। ऐसा संचय पहले से पदार्थों की अल्पता को अधिक भयावह और कष्टदायक बना देता है। जिन्हें आवश्यक पदार्थ नहीं मिलते, उनकी सहन शक्ति जबाब दे देती है, उनका धैर्य छूट जाता है। विभाव की बाढ़ के सामने वे भी अपना स्वभाव भूल जाते हैं। इस प्रकार आचरण में आरंभ होती है हिंसा और हिंसा ही समस्या की जटिलता की जड़ होती है। हिंसा ही रक्षक संस्कारों को भक्षक के रूप में विकृत बनाने लगती है। हिंसा की तरफ झुक जाने से व्यक्ति अपने स्वभाव की और अपनी आत्मा की आवाज की निरन्तर उपेक्षा करने लग जाता है क्योंकि हिंसा उसके हृदय के कोमल भावों को कुचल डालती है।

आचरण में हिंसा के फूट पड़ने के बाद जीवन का सारा संतुलन टूट जाता है। फिर हर रास्ता विषमता का रास्ता बन जाता है। यह विस्तृत विषमता का वातावरण कैसा होता है —उसका प्रत्यक्ष अनुभव आज शायद सभी को हो रहा होगा। आज पारस्परिक संबंधों की मर्यादाएं टूट रही हैं, पारम्परिक शिष्टाचार मिट रहा है और अपने स्वार्थों को पूरे करने के लिये कोई भी बेरोकटोक आक्रामक और हिंसक बन जाता है। यही कारण है कि अपराध वृत्ति, दंगे और संघर्ष सामान्य बात

हो गये हैं। हिंसा का द्वार जिस व्यक्ति के अथवा समाज या राष्ट्र के जीवन में खुल जाता है फिर उसकी संस्कृति और सभ्यता भी नष्ट होने लगती है। हिंसा सभी प्रकार के दुर्गुणों तथा पापमय आचरणों की जननी होती है। यह हिंसा रूई में पड़ी चिनगारी से लगी आग की तरह तेज गति से फैलती ही जाती है, तब उस पर काबू पाना भी एक अति कठिन कार्य हो जाता है।

हिंसा का अर्थ स्पष्ट किया जा चुका है कि किसी का वध कर देना ही हिंसा नहीं, अपितु दस प्राणों में से किसी भी प्राण का हनन करना या उसको कष्ट पहुंचाना भी हिंसा है। किसी को आतंकित करना, डराना या उसे अपने अधीन बनाना भी हिंसा है। ये सब हिंसा के रूप जब फैलते हैं तो मानवीय गुणों का ह्रास होता है और जीवन-मूल्य नष्ट होते हैं। इसे एक द्रष्टान्त से समझें। एक परिवार में सभी खून के सम्बन्ध में बंधे होते हैं अतः स्पष्ट है कि हृदय से अपेक्षित या अधिक निकट होते हैं। सोचें कि एक परिवार में पांच छः सदस्य हैं। उनमें वृद्ध भी हैं तो बच्चे भी हैं। यद्यपि धनार्जन का श्रमपूर्ण कार्य युवक सदस्य करते हैं, तब भी अधिक व्यय वृद्धों और बच्चों पर किया जाता है क्योंकि उन्हें पोषक तत्त्वों की अधिक आवश्यकता होती है। कमाने वाले सदस्य ऐसा करके अपने को कर्त्तव्यनिष्ठ मानते हैं और यह नहीं सोचते कि कमाते वे हैं और खर्च उन सदस्यों पर अधिक होता है जो कमाते नहीं है। इस प्रकार की पारिवारिक मर्यादाएं स्वस्थ रूप से ढल जाती हैं और चलती रहती हैं। यह पारिवारिक कर्त्तव्य और शिष्टाचार बन जाता है। अब सोचें कि उस परिवार में अर्जन में कमी आ जाय और पदार्थों की अल्पता होने लगे तब भी पारिवारिक मर्यादाओं के रहते प्रचलित व्यवहार में परिवर्तन नहीं आवेगा। सभी एक दूसरे के लिये कष्ट भोग को तैयार रहेंगे और स्नेह यथावत् रहेगा। इस अल्पता के कष्ट यदि बढने लगे और कोई युवा सदस्य उत्तेजना पकड़ले या फिर क्रूरता अपनाले तो निश्चय मानिये कि दिलों में दरार पड़ जायगी और एक सुखी परिवार दुःखपूर्ण मानसिकता से घिर जायगा। हिंसा का द्वार किसी भी रूप में खुला नहीं कि दुःखों की बाढ़ आई नहीं। कारण, विभावगत विषमता सबके मन-मानस में कटुता भर देगी और देखते देखते परिवार की एकता नष्ट हो जायगी। ऐसा ही सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर भी घटित होता है।

इस रूप में विषमता का विस्तार हिंसा के द्वार से आरंभ होता है और गुण-मूल्य की क्षति के साथ बेरोकटोक फैलता रहता है। सोचना है कि विषमता के इस विस्तार का मूल कहां है? एक शब्द में कहें कि यह मूल है जड़ सम्पर्क से जड़ के प्रति सघन बन जाने वाला चेतन का व्यामोह। विषमता इसी से उपजती है और आध्यात्मिक दृष्टि से कर्मबंधन तथा संसार परिभ्रमण भी इसी से होता है। जब तक इस सत्य को हृदयंगम नहीं करेंगे कि आत्मा चेतना गुण वाली होकर संसार के सभी जड़ पदार्थों से पृथक् है और जड़चेतन संयोग तथा उसके प्रति जटिल व्यामोह इस पृथकत्व को स्पष्ट नहीं होने देता है, तब तक यह व्यामोह कम नहीं होगा और वैसी दशा में विषमता भी कम नहीं होगी।

अधिक जड़ग्रस्तता : अधिक विषमता

संसार में जो कुछ इन बाहर की आंखों से दिखाई देता ... व जड़ है। आत्म तत्त्व चर्म चक्षुओं का विषय नहीं होता, अनुभूति का ... है अ अभ्यास से मिलती है। अतः सम्यक् ज्ञान के अभाव में इन ... ही

है और इन्हीं की प्राप्ति में सुख की कल्पनाएं की जाती हैं। अपने शरीर और अपनी वस्तुओं के प्रति पनपने वाला यह झुकाव ही प्रगाढ़ बनकर ममत्व का रूप ले लेता है।

ममत्व की इस भूमिका पर ही विषमता की विष बेल उगती है। ममत्व का अर्थ है मेरापना। यह मेरा है और यह तेरा है—इसी बिंदु से विषमता शुरू होती है। मेरा मैं रखता हूं और तेरा तू रख की वृत्ति तब तक ही चलती है, जब तक मानवीय मूल्यों का सत्प्रभाव रहता है। यह सत्प्रभाव जब घटने लगता है और जो घटता है ममत्व की मूर्छा के बढ़ते रहने के साथ-तब मेरा भी मैं रखता हूं और तेरा भी मैं रखूंगा—ऐसा क्रूर अनीतिमय स्वार्थ जागता है। इसके साथ ही हिंसा का द्वार खुल जाता है।

ममत्व पैदा होता है आसक्ति से और आसक्ति मूर्छारूप होती है जिससे सदासद् की संज्ञा क्षीण हो जाती है। शरीर मेरा है और इन्द्रियों का सुख मेरा है—इस मान्यता के साथ कामनाएँ जागती हैं कि मुझे शब्द, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के ऊंचे से ऊंचे सुविधापूर्ण साधन मिलें ताकि मैं अपनी इन्द्रियों को तृप्त करूं। यह तृप्ति भी बड़ी अनोखी होती है जो मिलती कभी नहीं और साधनों की प्राप्ति के साथ ज्यादा से ज्यादा भड़कती रहती है। जिन साधनों की कामना की जाती है, उनको पाने में आसक्ति की बहुलता के कारण विचार और व्यवहार की उचितता अथवा नैतिकता भुला दी जाती है। फिर ज्यों-ज्यों इच्छित साधनों की प्राप्ति होती जाती है, त्यों-त्यों प्राप्त का सुख भोगने की अपेक्षा अप्राप्त को प्राप्त करने की चिन्ता अधिक सताती है। तथ्यात्मक स्थिति यह होती है कि तृप्ति कभी होती नहीं, सुख कभी मिलता नहीं। जो सुख महसूस करते हैं, वह सुख भी वैसा ही होता है जैसा सुख एक कुत्ता सूखी हड्डी चबाते रहकर अपने ही खून का स्वाद लेता है और सुख महसूस करता है। जड़ पदार्थों का सुख भी सूखी हड्डी जैसा होता है जो आत्म गुणों का नाश करके इन्द्रियों के सुखाभास में जीवन को भ्रमित बनाता है और विषमता के जाल में फंसाता है।

इसी कारण परिग्रह—सत्ता और सम्पत्ति के प्रति आसक्ति भावना रूप मूर्छा को कहा है क्योंकि यही आसक्ति-भावना परिग्रह धारी या परिग्रह हीन को भी घोर परिग्रहवादी बनाती है। परिग्रहवाद है वही है जड़ग्रस्तता और जीवन में जितनी अधिक जड़ग्रस्तता सघन बनती है, उतनी ही विषमता भी जटिल बनती है। इस विषमता से व्यक्ति के जीवन में शक्तिस्रोतों का सन्तुलन बिगड़ जाता है तो व्यक्ति का असंयमित एवं असन्तुलित जीवन समाज और राष्ट्र के वृहद् शक्ति स्रोतों को भी विकृति की राह पर धकेलता है। जब व्यक्ति की विषमताग्रस्त अवस्था में उस की मानवीय गुणवत्ता, सौजन्यता तथा हार्दिकता कुंठाग्रस्त बन जाती है तो वही कुंठा व्यापक बन कर राष्ट्रीय चेतना पर प्रहार करती है। जड़ग्रस्तता के फैलाव में भोग स्वार्थ और मूर्छा का फैलाव होता है। यह एक ऐसे अँधेपन का फैलाव होता है जिसमें मनुष्य निजी स्वार्थों का संकुचित घेरा बनाकर उसी में अपने को कैद कर लेता है। वह परहित को भूल जाता है, बल्कि अपने निकटस्थों के सुख दुःख से भी द्रवित नहीं होता और अपनी ममत्व-मूर्छा में ही उन्मत्त बन जाता है। तब वह आध्यात्मिक ज्ञान से तो शून्य होता ही है, किन्तु लौकिक व्यवहार से भी शून्य होता जाता है। यही उसके सर्वमुखी पतन का मार्ग होता है।

जड़ग्रस्तताजन्य विषमता छूत के रोग के समान होती है जो अधिक सत्ता और सम्पति येन केन प्रकारेण अर्जित कर लेने का प्रलोभन बिखेरती हुई अधिक लोगों को तीव्र गति से जड़ग्रस्त

वनाती है, इस कारण इसकी रोक व निवारण के उपाय भी उसी स्तर से किये जाने चाहिये जो किसी संक्रामक रोग के लिये किये जाते हैं। यह कार्य प्रबुद्ध जनों, धर्मोपदेशकों आदि का होता है जो जड़ग्रस्तता की हानियों को भली प्रकार समझा कर सामान्य रूप से ऐसी विषमता के विरुद्ध जनमत बनाने का प्रयास करते हैं। इसी से त्याग का रूझान भी बढ़ता है और आत्मोन्मुखी वृत्ति विकसित होती है।

समता की दृष्टियां

विषमता एवं हिंसा से आवृत्त वर्तमान जटिल वातावरण में आशा की किरणें दिखाई देती हैं जो दो प्रकार से मन मानस को हताश नहीं होने देती है। एक तो यह बुनियादी तथ्य है कि मनुष्य का स्वभाव समतामय है और विभावगत विषमता के कितने ही गहरे कीचड़ में वह चाहे फंस जाय, उसका स्वभाव समय समय पर समता की बलवती प्रेरणा के झटके लगाता ही रहता है। अव्यक्त तरीके से तो यह स्वभाव मनुष्य को उसकी प्रत्येक विकृत वृत्ति या प्रवृत्ति के कार्यरत होने से आरंभ में ही चेतावनी देता रहता है, जिसे अनसुनी करते करते भी कभी यह चेतावनी असर कर ही देती है।

इसका पुष्ट कारण यह है कि कोई कितना ही पतन के गढ्ढे में चला जाय, मनुष्य का मन अपनी चंचलता के कारण क्रिया और प्रतिक्रिया के चक्र में घूमना नहीं छोड़ता। जड़तापूर्ण विषमता के प्रति जागी हुई मन की रागात्मक क्रिया भी जब एक सीमा तक कार्यरत हो जाती है तो उसी से उसकी प्रतिक्रिया भी फूटती है। उस प्रतिक्रिया के क्षणों में वह मन अगर सम्यक् बोध पा जाय तो प्रभावशाली परिवर्तन भी संभव हो जाता है।

दूसरी प्रकार की आशा की किरण यह होती है कि सामूहिक और सामाजिक रूप से विषम परिस्थितियां उत्पन्न हो जाने के उपरान्त भी कई प्रबुद्ध व्यक्ति ऐसे होते हैं जो उस पतनावस्था के विरुद्ध विद्रोह और संघर्ष करते हैं तथा अपनी सदाशयता से नीति एवं समतामय परिवर्तन लाने का प्रयास करते हैं। प्रयत्नों की यह निरन्तरता एक ओर विषमताओं को अति सघन नहीं बनने देती तो दूसरी ओर पतनोन्मुख व्यक्तियों के हृदयस्थ भावों में शुभ परिवर्तन का आन्दोलन जगाती रहती है। इस प्रकार व्यक्ति अपने ही मन की बदलती विचारणाओं के कारण और समूह या समाज प्रवुद्ध व्यक्तियों द्वारा बदली जाने वाली धारणाओं के कारण समता के साध्य से पूर्णतः विस्मृत कभी नहीं होता है। इस कारण हताशा कभी भी उत्साही मनों को शिथिल न बनावे—यह शिक्षा लेनी आवश्यक है। विषमता का जितना गहरा घटाटोप अंधकार है, उसमें समता की एक तीली भी कोई जला सके तो वह भी यत्किंचित् प्रकाश की रेखा अवश्य अंकित करेगी। एक व्यक्ति के कई प्रयास या निरन्तर प्रयास जब कई व्यक्तियों के निरन्तर प्रयासों में परिपुष्ट बनते हैं और जब आर्थिक एवं राजनीतिक प्रयास भी समाज में सामूहिक परिवर्तन की दृष्टि से किये जाते हैं तो कोई कारण नहीं कि विषमताओं का चलन बहुत हद तक न घटे और समता को प्रोत्साहन देने वाला सामान्य धरातल भी न वने। ऐसे शुभ कार्य में त्याग और बलिदान की अपेक्षा तो रहेगी ही। रेगिस्तान की तपती हुई रेत में पड़ने वाली और तुरन्त विलुप्त हो जाने वाली वर्षा की पहली बूंदों की तरह विषमताओं को मिटाने के भगीरथ कार्य में भी समर्पित भावना अनिवार्य मानी जानी चाहिये। आज की स्थिति भी इस दृष्टि से असाध्य किसी हालत में नहीं है।

ममता (ममत्व) को घटाने वाले जितने सार्थक प्रयास किये जायेंगे व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों स्तरों पर, उतनी ही समता की सृष्टि सर्जित होती हुई चली जायगी। समता के ऐसे चहुंमुखी विकास के लिये समता के मूल्यों को आत्मसात् कर लेने के साथ समता की दृष्टियों का भी यथार्थ ज्ञान कर लिया जाना चाहिये। प्रधानतः समता की दो दृष्टियां मानी जाती हैं। पहली आभ्यन्तर दृष्टि तो दूसरी बाह्य दृष्टि। ये दोनों दृष्टियां एकदम पृथक्-पृथक् नहीं होती हैं, बल्कि दोनों दृष्टियां अधिकांशतः एक दूसरे की पूरक भी होती रहती हैं। कारण, दोनों प्रकार की दृष्टियों का धारक दृष्टा व्यक्तिशः एक ही होता है, अतः दोनों दृष्टियों का सामंजस्यपूर्ण सहयोग भी समता की पृष्ठभूमि को सुदृढ़ बनाता है।

इस तथ्य में कोई विवाद नहीं कि किसी भी सामूहिक सुकृति अथवा दुष्कृति का आरंभ व्यक्ति रूपी घटक से ही होता है तथा व्यक्ति का वह सुकृति अथवा दुष्कृति रूपी कार्य बाहर क्रियान्वित होने से पहिले उसके हृदय में विचार रूप में जन्म लेता है। इस रूप में मनुष्य के ही हृत्तल से विषमता भी फूटती है तो उसी हृत्तल पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में विद्यमान समता भी वहीं से पल्लवित एवं पुष्पित होती है। किसी भी बाह्य कार्य का कारण सदैव आभ्यन्तर के अनुभाव में पैदा होता है। अतः इस दृष्टि से दोनों दृष्टियों में आभ्यन्तर दृष्टि का महत्त्व ही अधिकतर माना जायगा। इस महत्त्व का सही अंकन यही हो सकता है कि समता को व्यापक रूप से प्रसारित करने का कोई भी अभियान मानव हृदय से आरंभ किया जाना चाहिये, जिसका सम्यक् परिवर्तन ही सम्पूर्ण विषम परिस्थितियों में या यों कहें कि जड़ग्रस्त वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों में शुभ परिवर्तन का बीजारोपण कर सकता है।

समता स्वभावगत होने से सत्य होती है और विभावरूप विषमता असत्य। इस सत्य का उद्घाटन उसी आन्तरिकता में किया जा सकता है और किया जाना चाहिये जहां सत्य आवृत्त और आछन्न बनकर दबा हुआ पड़ा है। इस का अर्थ है कि उस आन्तरिकता में आत्मीय अनुभूति का संचार किया जाय। आत्मीय अनुभूति यह कि संसार की सभी आत्माएं अपने मूल स्वरूप से एक हैं तथा संसार परिभ्रमण में कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में सम्बन्धित रहने के कारण प्रत्येक आत्मा अपनी आत्मीय भी है। आत्मीयता की इस अनुभूति से ममता घटेगी कि सब कुछ मेरे ही लिये क्यों? सब पदार्थ सबके लिये हैं और जब सभी परस्पर आत्मीयता के सूत्र से बंधे हुए हैं तो उन पदार्थों का उपभोग भी सबके लिये सुलभ क्यों न हो? ममता घटेगी तो समता बढ़ेगी कि सब पदार्थ ही क्यों, मैं स्वयं भी सबका हित क्यों नहीं साधूं? सबका हित साधने का संकल्प ही स्व-कल्याण और सर्वस्व त्याग की भूमिका बनाता है। एक हृदय के समत्व स्वभाव को भी यदि उभार कर क्रियाशील बना दिया जाता है तो वह एक बुनियादी काम होगा। एक की आभ्यन्तर दृष्टि में आया हुआ शुभ परिवर्तन न केवल उस व्यक्ति के वचन और व्यवहार को समता का जामा पहिनाएगा, बल्कि उस व्यक्ति की आभ्यन्तर दृष्टि में आया वह परिवर्तन उसकी बाह्य दृष्टि में उतरेगा तथा वह अन्यान्य कई व्यक्तियों को दोनों दृष्टियों से प्रभावित बनाएगा। बाह्य दृष्टि में सुप्रकट समता का स्वरूप उन अनुभव लेने वाले व्यक्तियों की आभ्यन्तर दृष्टि में उतरेगा और उनकी आन्तरिकता में भी समता के समर्थन में एक सफल आन्दोलन चलेगा। आभ्यन्तर और बाह्य दृष्टियों की प्रक्रिया के चक्र में प्रवाहित होता हुआ समता का अनुभाव जब व्यक्ति और समाज की कृति में उतरेगा, तब जो नवनिर्माण होगा, उसी की नींव पर समतावादी समाज की रूपरेखा को साकार रूप दिया जा सकेगा।

समता की आभ्यन्तर दृष्टि को उभारने में आध्यात्मिकता का ही प्रमुख योगदान हो सकता है। मानस परिवर्तन बलात् संभव नहीं होता और बलात् परिवर्तन ला भी दिया जाय तो उसका स्थायित्व सदा संदिग्ध रहेगा। इस कारण शुभ योगमय परिवर्तन की इच्छा ही आन्तरिकता में जगानी होगी। यह इच्छा जगेगी सम्पूर्ण आध्यात्मिक स्वरूप को समझ कर तथा आत्मा के सर्वोच्च विकास को चरम साध्य मानकर। यह दृष्टि आध्यात्मिकता ही प्रदान करती है। वीतराग देवों ने इच्छा निरोध रूप संयम, जड़ पदार्थों से ममत्व त्याग तथा आठों कर्मों के क्षय रूप तप का मार्ग प्रशस्त कर रखा है और इसी मार्ग की प्रेरणा से व्यक्ति के हृदय में परिवर्तन लाकर उसके मन, वचन, काया के अशुभ योगों को शुभता में परिणत कर सकते हैं जिनके आधार पर भीतर और बाहर समता की संरचना की जाय। इस रूप में आत्मीय समता की अनुभूति ही समता की भावना को स्थिरता प्रदान करेगी तो उसे कृतित्व के सांचे में भी ढालेगी। बाह्य वातावरण में जब समता का विस्तार होगा तो उससे बाह्य वातावरण भी सुधरेगा और जन-जन की आन्तरिकता में भी समता का उदय होने लगेगा। अतः समता की दोनों प्रकार की दृष्टियों में शुभ परिवर्तन तथा विकास के प्रयत्न करने के साथ साथ दोनों के पारस्परिक सामंजस्य को भी क्रियाशील बनाते जाना चाहिये ताकि व्यक्ति की आन्तरिकता में और बाह्य वातावरण में याने कि संसार की आन्तरिकता में भी यथोचित परिवर्तन पूर्ण किये जा सकें।

समता का दार्शनिक स्वरूप

समता के दार्शनिक स्वरूप को समता के आचरण का आधार स्तंभ माना जाना चाहिये। दर्शन होता है वह वैचारिक मूल—जिस पर संरचना का सृजन किया जाता है। वैचारिकता यदि यथार्थ, बोधगम्य एवं सानुभव हो तो उसके अनुसार किया जाने वाला कृतित्व सदा ही सार्थक स्वरूप ग्रहण करेगा।

यहां हम समता दर्शन को चार प्रकार के वर्गीकरण से इस रूप में समझने का यत्न करेंगे कि उसकी दार्शनिकता के साथ उसकी व्यावहारिकता भी सुप्रकट हो सके। यदि कोई भी दर्शन व्यवहार्य न हो तो उसकी उपादेयता कम हो जाती है। समता के दार्शनिक स्वरूप का विवेचन करके यही स्पष्ट किया जायगा कि उसे व्यवहार रूप में ढालने पर व्यापक सामाजिक परिवर्तन का सूत्रपात किया जा सकता है, क्योंकि समता दर्शन और उसके व्यवहार से प्रभावित साधकों की बहुत बड़ी संख्या और वह भी स्थान-स्थान पर पहले ही तैयार की जा सकती है। इस दृष्टि से समता का दार्शनिक स्वरूप एक नई ही उत्क्रान्ति का कारणभूत हो सकता है।

किसी भी अच्छे विचार या व्यवहार को गतिशील बनाने के लिये उसके वाहकों की आवश्यकता होती है। विचार दिये की बाती की तरह यदि एक से अनगिन बातियों को नहीं जला पाता तो समझिये कि वह अपने समुचित विकास को प्राप्त नहीं कर सकेगा, किन्तु विचार के ऐसे विकास में उस हाथ की सदा जरूरत रहेगी जो दिए को हाथ में उठा कर उसकी जलती हुई लौ को दूसरे दियों की बातियों से छुआ छुआ कर प्रदीप्त बनाता रहे। इसी तरह व्यवहार को भी उसके चालकों की जरूरत होती है इसलिये समता के विचार और व्यवहार को कार्यक्षम सफलता दिलाने के लिये वाहकों और चालकों की सेना याने निःस्वार्थ साधकों की टोलियां एकदम जरूरी हैं जिनके प्राणवान् सहयोग के बिना समता की ज्योति के प्रकाश को भी अंधेरे दिलों में भरा नहीं जा सकेगा।

इस योजना पर उसी अध्याय में आगे जाकर प्रकाश डाला जायगा कि समता साधकों को समता प्रसार के लिये कैसे तत्पर बनाया जाय और कैसे समता समाज के नव निर्माण की पृष्ठभूमि तैयार की जाय। व्यवहार की योजना के पहले समता के विचार के सभी पक्षों पर गहराई के साथ चिन्तन-मनन करके तत् सम्बन्धी सम्यक् निर्णायक शक्ति को अवश्य ही जागृत बना लेनी चाहिये जो प्रत्येक चरण पर आत्माधारित सम्बल का रूप ले सकेगी।

समता के दार्शनिक स्वरूप को निम्न चार वर्गों के रूप में समझ कर वैचारिक एकरूपता एवं व्यावहारिक कार्यक्षमता का निर्माण किया जाना चाहिए—

(१) सिद्धान्त दर्शन—समता का समारंभ भी स्वयं से शुरू होना चाहिये। पहले हम निज को सम बनावे अर्थात् सम सोचें, सम जानें, सम मानें, सम देखें और सम करें। सम का अर्थ होता है समानता याने सन्तुलित। एक तुला के दोनों पलड़े जब समान होते हैं तब उसे सन्तुलित कहा जाता है। वह तुला सन्तुलित है याने बराबर तोल रही है जिसका सही संकेत मिलता है उस तुला के कांटे से। तुला के समान जब मन का कांटा भेद को भूलकर और केन्द्रित बनकर वस्तु स्थिति को देखता है, उस पर सोचता है एवं तब तदनुकूल करने का निर्णय लेता है—वैसे मन को सन्तुलित कहा जाता है। ऐसा सन्तुलन कब रह सकता है ? जब मन इच्छाओं का दास बनकर न भटकता हो बल्कि संयम का आराधक बनकर एक निष्ठा अपना लेता हो। अपने हित पर चोट भी पड़े तब भी मन का सन्तुलन न बिगड़े —ऐसा अभ्यास संयम कराता है। संयम से सम किसी भी स्तर पर टूटता नहीं है। यदि सम टूट जाय या दुर्बल हो जाय तो विषमता तेज प्रहार करने से नहीं चूकती और उसके प्रहार से आहत होकर मन स्वार्थ, भोग एवं विकार से पुनः घिर जाता है। अतः साधे गये सम की सुरक्षा होती है संयम से तथा संयम सुदृढ़ बनता रहता है त्याग से। त्याग का अर्थ है जो अपने पास है उसे किसी प्रयोजन के हित में छोड़ना। ऐसा छोड़ना हृदय को एक अलग ही प्रकार का आनन्द देता है। इसलिये यह त्याग ही समता का पीठबल होता है।

त्याग और भोग ये जीवन के दो पहलू हैं। एक समता का वाहक है तो दूसरा विषमता का जनक। त्याग के धरातल पर निर्मित हृदय की उदारता से ही समता का प्रसार किया जा सकता है। जबकि भोग मनुष्य को उसकी आन्तरिकता से हटाकर उसे उसके शरीर से बांधता है, परिग्रह की मूर्छा में पटकता है और जड़ ग्रस्त स्वार्थों की अंधी दौड़ में घुटने तुड़वाता है। राग द्वेष और विषय कषाय की आंधियों में आत्मा को धकेल कर वह उसे अविचार पूर्वक अन्याय, अनीति और अत्याचार की राह पर आगे कर देता है। इसलिये अहिंसक जीवन प्रणाली को अपनाने तथा सत्य की शोध में निकल पड़ने के बाद स्वाभाविक और स्वैच्छिक रूप से जो उत्कृष्ट त्याग उभरता है, वह त्याग ही समता सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु है। यह कह सकते हैं कि जितना ऊंचा त्याग, उतनी ही ऊंची समता। समता की साधना के समय विचार एवं कार्य दृष्टि निरन्तर इसी केन्द्र बिन्दु पर लगी रहनी चाहिये। त्याग समतल पर अंकुरित होकर कितनी ऊंचाई तक उठ सकता है—उसकी कोई सीमा नहीं है—अवसर और भावना से ही उसका मूल्यांकन किया जा सकता है। ऐसे त्याग के बल पर ही समता का उच्चादर्श उपलब्ध किया जा सकता है। त्याग की यह सामान्य निष्ठा कही जायगी जब मैं यह प्रण लूं कि मैं किसी भी दूसरे प्राणी के हित पर कतई आघात नहीं करूंगा। किन्तु त्याग की यह विशेष निष्ठा होगी और उस निष्ठा की उच्चता किसी भी सीमा तक निखर सकती है जब मैं

यह निश्चय करूं कि मैं दूसरे प्राणियों के हितों की रक्षा के लिये अपने हितों को भी छोड़ दूंगा, अपितु अपने सर्वस्व तक को न्यौछावर कर दूंगा। ज्यों-ज्यों त्याग सामान्य बिन्दु से विशेषता की सीढ़ियां चढ़ता हुआ ऊपर उठता जाता है, त्यों-त्यों समता की समरसता भी भीतर, बाहर और चारों ओर दूर-दूर तक फैलती जाती है तथा छोटे बड़े सभी स्तरों के मनुष्यों एवं प्राणियों तक के बीच में सबको सुख देने वाला वातावरण रच देती है। यों कह दें कि त्याग समता का पीठ बल होता है जिसके बिना समता की सुस्थिर प्रतिष्ठा संभव नहीं है। इसलिये समता का सिद्धान्त दर्शन सभी मानवीय मूल्यों के हृदय रूप त्याग में प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

आत्मीय गुणों का सार गूंथ कर समता के सिद्धान्त दर्शन की सप्तवर्णी पुष्प माला बनाई गई है जो इस प्रकार है—(अ) आत्मीय समता—अपने मूल स्वरूप में और विकास के चरम में सभी आत्माओं में समता विद्यमान है और उसकी अनुभूति आत्मीय समता को प्रेरित करती है। इस आत्मिक स्वरूप के आधार पर मनुष्य में यह स्वभान जागना चाहिये कि वह किसी भी प्रकार से शूद्र या हीन नहीं है। वह कर्मावरणों को हटाकर अपनी आत्मा को मूल रूप में प्रतिष्ठित करने की क्षमता रखता है। उस में कर्मण्यता का भाव जागना चाहिये कि वह सिद्धात्माओं की समता में पहुंचने का सत्पुरुषार्थ करे। अपने से ऊपर की आत्माओं के साथ समता प्राप्त करने का वह पराक्रम दिखावे तो नीचे के स्तर पर रही हुई आत्माओं पर अपनी करुणा बरसा कर उन्हें भी समता का महत्त्व सिखावें और अपना आश्रय देकर ऊपर उठावे। यही आत्मीय समता के सिद्धान्त का मर्म है। समता के सिद्धान्त दर्शन का इस प्रकार पहला सिद्धान्त यह होगा कि सभी आत्माओं के लिये अपना परम विकास तक सम्पादित करने में अवसर की समानता है—कोई विषमता या विभेदपूर्ण स्थिति नहीं है। जो भी ज्ञान और क्रिया के सच्चे रास्ते पर आगे बढ़ेगा, निरपेक्ष भाव से श्रेष्ठता अर्जित करेगा तथा संसार के समस्त प्राणियों का हिताकांक्षी बनेगा, वह स्वयं समता पाएगा और बाहर समता फैलाएगा। वह समत्व योगी बन जायगा। (ब) 'दु' का परित्याग—आत्मीय समता को उपलब्ध करने के लिये अपने सम स्वभाव का निर्माण होना चाहिये और सम स्वभाव के निर्माण के लिये मन, वाणी एवं कर्म की एकरूपता तथा शुभता आवश्यक है। अपना सोचना, अपना बोलना और अपना करना अपनी मनःस्थिति को व्यक्त करता है जिसकी समता की कसौटी यही होगी कि इन तीनों में समानता है। मन, वाणी तथा कर्म की एकरूपता से ही किसी की विश्वसनीयता तथा प्रतिष्ठा का आधार बनता है और उसे भद्र पुरुष कहा जाता है। किन्तु जो सोचता एक बात है और बोलता दूसरी बात है तथा करता तीसरी बात है—उसको धूर्त कहा जाता है तथा उसका विश्वास कोई नहीं करता।

मन, वाणी और कर्म की समता बनेगी उनकी शुभता से और शुभता के लिये 'दु' का परित्याग करना होगा। दुर्भावना, दुर्वचन और दुष्प्रवृत्ति रूप अशुभ योग व्यापार जब तक चलता रहता है, पूर्ण शुभता नहीं आती और पूर्ण समता अवाप्त नहीं होती । समता का अर्थ है संसार के सभी प्राणियों के प्रति सद्भावना और भावना सद् होगी, तभी वचन और कर्म सद् बन सकेगा। सद् बनाने से असद् छूटेगा, शुभ वरने से अशुभ मिटेगा और विषमता को दूर हटाने से समता जागेगी तथा यह तथ्य-परिवर्तन होना चाहिये समस्त योग व्यापार में। योग व्यापार की शुभता और समता आन्तरिकता से लेकर विश्व के विस्तृत वातावरण तक प्रभावशाली बनेगी। भावना ही वह शक्ति है जो मनुष्य के 'दु' को धोकर उसे सत्साधना में कर्मनिष्ठ बनाती है तथा 'सु' से विभूषित कर देती

है। यह 'सु' ही समता का विवेक सम्पन्न वाहक होता है। (स) जी ओ और जीने दो — यह सिद्धान्त अहिंसक जीवन की प्रतिकृति है। समता सिद्धान्त की यह प्रमुख मान्यता है कि संसार के सभी मनुष्य, बल्कि सभी प्राणी अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं तथा कोई चाहे कितना ही शक्तिशाली हो, किसी दूसरे का अस्तित्व मिटाने का उसको कोई अधिकार नहीं है। वस्तुतः उसका यह कर्त्तव्य होता है कि वह अपनी शक्ति को प्रत्येक प्राणी के स्वतंत्र अस्तित्व की रक्षा में नियोजित करे। यह रक्षा का भाव करुणा और अनुकम्पा से उपजता है। समान कर्मण्यता, समान श्रेष्ठता और समान हार्दिकता का स्पर्श दुर्बल जीवन में नये प्राणों का संचार कर देता है।

इस अहिंसक जीवन शैली में इस सीमा और मर्यादा का पालन करना होता है कि एक अहिंसक कहीं भी किसी अन्य जीवन के साथ टकराव की स्थिति में न आवे तथा सबको 'आत्मवत्' समझे। अपनी आत्मा वैसी सबकी ही आत्मा ऐसा अनुभाव तब पैदा होता है जब मनुष्य अपने दायित्वों के प्रति सजग और सावधान हो जाता है। सब जीवों के प्रति समान रूप से स्नेह, सहानुभूति एवं सहृदयता की वर्षा करने में ही समता की तरल सार्थकता रही हुई है। प्रत्येक् प्राणी के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकारने से ही मनुष्य के समूचे जीवन में एक ऐसा समतामय परिवर्तन आता है जो सारी जीवन विधा को ही बदल देता है। ऐसे मनुष्य में कभी दंभ या हठवाद नहीं भड़कता, क्योंकि उसके विचार में विनम्रता समा जाती है। वह कभी यह नहीं मानता कि मैं ही सब कुछ हूं। वह सबका समादर करता है, इसलिये वह सबके सुख दुःख का सहभागी भी होता है। अहिंसक जीवन शैली की गुण सम्पन्नता समूचे वातावरण को समता के अमृत से आप्लावित बना देती है—विभोर कर देती है। (स) यथायोग्य वितरण—यह सही है कि जड़ पदार्थों के प्रति मनुष्य की मूर्छा घटनी और मिटनी चाहिये लेकिन यह उतना ही सही है कि जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना कोई जीवन चल नहीं सकता और जब इन्हीं जीवनोपयोगी पदार्थों के अधिकार के सम्बन्ध में अन्यायपूर्ण नीति चलती हो तो पहला काम उसे मिटाना होगा। मूल आवश्यकताएं होती हैं—भोजन, वस्त्र और निवास। सभी जीवनधारियों की मूल आवश्यकताएं पूरी हो—यह पहली बात, परन्तु दूसरी बात भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है कि वह पूर्ति विषम नहीं होनी चाहिये जो पास्परिक ईर्ष्या और द्वेष की कटुता को पैदा करे। यही कारण है कि समता के सिद्धान्त दर्शन में समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों के यथाविकास यथायोग्य वितरण पर बल दिया जाता है।

यथाविकास एवं यथायोग्य वितरण का लक्ष्य यह होगा कि जिसको अपनी शरीर दशा, धंधे या अन्य परिस्थितियों के अनुसार जो योग्य रीति से चाहिये, वैसा उसे दिया जाय। यही अपने तात्पर्य में सम वितरण होगा। अब जहां सम वितरण का प्रश्न है—ऐसी सामाजिक व्यवस्था भी होनी चाहिये जो ऐसे वितरण को सुचारू रूप से चलावे। इस दृष्टि से वितरण को सुचारू वनाने के लिये उत्पादन के साधनों पर भी किसी न किसी रूप में समाज का नियंत्रण आवश्यक होगा ताकि व्यक्ति की तृष्णा वितरण की व्यवस्था को अव्यवस्थित न बनादे। उपभोग-परिभोग के पदार्थों की स्वेच्छापूर्वक मर्यादा बांधने से भी सम वितरण में सुविधा हो सकेगी। मूल आवश्यकता के अलावा सुविधापूर्ण पदार्थों का भी वितरण ऐसा हो जो आर्थिक विषमता का चित्र न दिखावे। कारण, पदार्थों का अभाव उतना घातक नहीं होता जितना पदार्थों का विषम वितरण, अतः यथाविकास यथायोग्य वितरण का सिद्धान्त मान्य किया जाय। (द) संपरित्याग में आस्था—समता के एक साधक को संपरित्याग में सदा आस्था रखनी चाहिये तथा अवसर आवे तब सर्वस्व-त्याग की तत्परता

भी दिखानी चाहिये। ऐसा संकट काल हो अथवा शुभ प्रयोजन की पूर्ति में आवश्यक हो तो व्यापक जन कल्याण की भावना से अपने पास जो कुछ हो, उसे त्यागने में भी तनिक हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार की वृत्ति में आस्था होने का यही आशय है कि समता साधक अपनी संचित सम्पत्ति में ममत्व न रखे बल्कि उसे भी समाज का न्यास समझे तथा यथावसर संविभाग हेतु समाज को समर्पित करदे। जन कल्याण का अर्थ भी काफी व्यापक दृष्टि से समझना चाहिये। जैसे अकाल आदि का प्राकृतिक संकट हो, लोग धनाभाव में भूख से मर रहे हो और समता साधक अपनी सम्पत्ति को दबा कर बैठा रहे तो यह उसकी समता साधना नहीं होगी। सामूहिक हित को व्यक्ति के हित से ऊपर मानना होगा। सामूहिक हित साधना में व्यक्ति के त्याग को सदा ही प्रोत्साहित किया जाना चाहिये। सामाजिक व्यवस्था को सर्वजन हितकारी इसी निष्ठा के साथ बनाई जा सकती है।

समता का सिद्धान्त दर्शन तो संपरित्याग की आस्था को मनुष्य के मन में अधिकाधिक विकसित रूप में देखना चाहेगा क्योंकि यह आस्था जितनी गहरी होगी, उतनी ही सम्पत्ति और सत्ता के प्रति मनुष्य की मूर्छा क्षीण होगी। इसका सीधा प्रहार विषमता पर होगा जिससे अर्थ लोलुप परम्पराएं मिटेगी, वितृष्णाजन्य वृत्तियाँ बदलेगी और सामूहिक जीवन में सरसता की नई शक्तियों का उदय होगा। समाज की आर्थिक व्यवस्था यदि सम बन जाती है तो सही जानिये कि व्यक्ति व्यक्ति का चारित्र भी शुभता और शुद्धता का वरण करने लगेगा। (य) गुण और कर्म का आधार — वर्तमान युग अर्थ प्रधान बना हुआ है तथा इसमें श्रेणी, विभाग या वर्गीकरण आदि का आधार अर्थ ही बना हुआ है। अर्थ ही व्यक्ति की प्रतिष्ठा का मानदंड बना हुआ है किन्तु समता की साधना में यह सब मान्य नहीं हो सकता। जब अर्थ को जीवन के शीर्षस्थ स्थान से नीचे उतार दिया जाय और मानवीय मूल्यों से उसे नियंत्रित कर दें तो वर्तमान समाज का सारा ढांचा ही बदल जायगा। जव अर्थ नीचे उतरेगा तो स्वयं ही गुण ऊपर आ जायगा और यही समता के सिद्धान्त दर्शन को अभीष्ट है कि समाज के सारे मानदंड गुणाधारित हो। राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक समता के परिवेश में तब धन सम्पत्ति के आधार पर श्रेणी विभाग नहीं होगा, अपितु गुण एवं कर्म के आधार पर समाज का श्रेणी विभाजन होगा। ऐसा विभाजन मानवता का तिरस्कार करने वाला नहीं होगा वल्कि समता के लक्ष्य की ओर बढ़ाने के लिये स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का अवसर देने वाला होगा। एक वात तब और होगी। अर्थ के नियंत्रण में जब चेतना शक्ति सजग रहेगी तो वितृष्णा की जड़ता कभी पैदा नहीं होगी। वैसी दशा में वह अर्थ भी समाज सुधार में सहायक बन जायगा।

इस कारण सिद्धान्त रूप से एक समता साधक का गुण व कर्म के आधार पर श्रेणी विभाग में विश्वास होना चाहिये। गुण और कर्म का आधार किस रूप में हो—इसे भी समझ लेना चाहिये। समाज में ऊंची श्रेणी, ऊंचा आदर और ऊंची प्रतिष्ठा उसे मिलनी चाहिये जिसने अपने जीवन में ऊंचे मानवीय गुणों का सम्पादन किया हो और जिसके कार्य सदा लोकोपकार की दिशा में गतिशील रहते हों। गुण कर्म युक्त विभाजन का यह सुप्रभाव होगा कि नीचे की श्रेणियों वाला स्वयं अधिक गुणार्जन के साथ ऊपर की श्रेणी में चढ़ने का सत्प्रयास करता रहेगा। गुण और कर्म ही मनुष्यता की महानता एवं समाज की प्रतिष्ठा के प्रतीक हों तथा पौद्गलिक उपलब्धियां उनके समक्ष हीन दृष्टि से देखी जाय यही वांछनीय है। गुणाधारित समाज एक कर्मनिष्ठ समाज होगा और उसमें सर्वांगीण समता की साधना सुलभ हो जायगी।

(र) मानवता प्रधान व्यवस्था—समता के सिद्धान्त दर्शन का निचोड़ यह होगा कि वर्तमान समाज व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन हो और उस परिवर्तन का लक्ष्य यह हो कि शासन जड़ का नहीं, चेतन का हो, सत्ता और सम्पत्ति का नहीं, मानवता का हो। अर्थ की प्राप्ति से नहीं, मानवीय गुणों की उपलब्धि से समाज या राज का नेतृत्व प्राप्त होना चाहिये। मूलतः मानवता प्रधान व्यवस्था का गठन करना होगा।

मानवता प्रधान व्यवस्था से सम्पत्ति व सत्ता के स्वामी को नहीं, मानवीय गुणों के साधक को प्राण प्रतिष्ठा मिलेगी और गुणवत्ता अनुप्राणित होगी। तब सम्पत्ति और सत्ता पाने की छिछली व घिनौनी होड़ भी खत्म हो जायगी तो वास्तव में विषमता के कीटाणु भी नष्ट हो जायेंगे। तब चेतना, मनुष्यता तथा कर्मनिष्ठा की प्रतिष्ठा होगी और सर्वहित में जो जितना ज्यादा त्याग करेगा, वह उतना ही पूजा जायगा। सम वातावरण में दृष्टि सम बनेगी तथा समदृष्टि वस्तु स्वरूप की यथार्थता को देख सकेगी। यह अवलोकन अन्तरावलोकन बन कर आत्मोत्थान का कारण भूत हो जायगा।

(२) जीवन दर्शन—वही सिद्धान्त प्रेरणा का स्रोत बन सकता है जो तदनुकूल कार्य क्षमता को जागृत करे। ज्ञान और क्रिया का संयोग सिद्धि के लिये अनिवार्य है। यह युति ही मनुष्य को सर्व प्रकार के बंधनों से मुक्त बना सकती है। चाहे वे बन्धन कैसे भी हों —पूर्वार्जित कर्मों के रूप में हों अथवा विषमता एवं तज्जन्य विकारों से ही क्यों न उपजे हों, व्यक्तिगत एवं समाजगत शक्तियों के ज्ञान एवं क्रिया के क्षेत्र में साथ साथ कार्यरत होने से विकास में भी विषमता नहीं रहेगी। इससे यह नहीं होगा कि कुछ व्यक्ति तो अपनी उग्र साधना के बल पर विकास की चोटी पर चढ़ जावें और बहुसंख्यक लोग पतन के गढ्ढे में बेभान पड़े रहें। विकास की चोटी पर चढ़ने वाले तो तब भी होंगे किन्तु जीवन विकास की अपेक्षा से सभी लोगों का मुख अवश्य ही चोटी की तरफ होगा और पांव धीमे या जल्दी उधर ही आगे बढ़ रहे होंगे।

व्यवहार, अभ्यास एवं आचरण के चरण उठाते समय समग्र वस्तु ज्ञान को तीन भागों में विभाजित करके तदनुसार अपने क्रिया कलापों को दिशा दी जाय। ये विभाग हो—ज्ञेय (जानने लायक), हेय (त्यागने लायक) और उपादेय (स्वीकारने और आचरने लायक)। सब जानो किंतु जीवन में उतारो उनको ही जो उतारने लायक हों। वर्तमान हेय को छोड़ने तथा उपादेय को ग्रहण करने का क्रम साथ-साथ ही चलेगा जैसे ज्यों-ज्यों विषम आचरण छूटता जायगा, त्यों-त्यों समता का आचरण पुष्ट तर बनता जायगा। समस्त वस्तु ज्ञान का यह त्रिरूपी विभाजन सबसे पहले समता साधक को स्वयं समझना चाहिये तथा निम्नानुसार अपने आचरण को ढालना चाहियेः—

(अ) सप्त कुव्यसन त्याग—मांस भक्षण, मदिरा पान, जुआ, चोरी, शिकार, परस्त्रीगमन और वेश्यागमन ये सात कुव्यसन बताये गये हैं जो सब या एक भी जब व्यक्ति के जीवनाचरण में प्रवेश पा जाता है तो वे उस जीवन को गुणवत्ता की दृष्टि से नष्ट भ्रष्ट कर देते हैं। अतः आचरण शुद्धि के पहले पग के रूप में सप्त कुव्यसन का त्याग लिया जाना चाहिये। ये कुव्यसन जहां व्यक्ति के जीवन को घोर पतन में तिरोहित करते हैं, वहां समाज के वातावरण को भी कलंकित बनाते हैं। इनके रहते सभी ओर पतन की संभावनाओं को स्थायी भाव मिलता है अतः इनके त्वरित परित्याग की ओर कदम शीघ्रातिशीघ्र आगे बढ़ने ही चाहिये। इसके लिये संयम की मुख्य धारा से अपने आपको जोड़ना होगा।

(आ) पंच व्रत आचरण —जब दुराचरण का त्याग करके सदाचरण की ओर उन्मुख हुआ जायगा तब उस सदाचरण का स्वरूप भी स्पष्ट होना चाहिये। इस हेतु पंच व्रतों का अवलम्बन लिया जाना चाहिये जिनका आंशिक पालन श्रावक करता है और सर्वथा पालन साधु धर्म की महत्ता रूप होता है। ये व्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

ये पांच व्रत जीवन विकास की कड़ी के रूप में होते हैं। हिंसा विषमता का महाद्वार होती है, इस कारण जब विषमता त्यागनी है तो हिंसा को पहले त्यागना होगा। अहिंसापूर्ण आचरण को अपनाये बिना समता की दिशा में गतिशील होना तो दूर—उस तरफ उन्मुख भी नहीं हो सकेंगे। अहिंसा का पोषण होगा अचौर्य्य और अपरिग्रह व्रतों से जो परिग्रह की मूर्छा को घटाकर जीवन में संयम—चेतना का विकास करेंगे तथा उसमें अपूर्व सहायता देगा ब्रह्मचर्य व्रत। इस प्रकार इन व्रतों की साधना साधक को सत्य की ओर ही अग्रसर करेगी। सत्य का साक्षात्कार करना ही पूर्णभावेन समता का वरण करना है तथा समदर्शी बन जाना है। मिथ्या का त्याग और सत्य का अनुशीलन ज्ञान एवं क्रिया की युति को स्पष्ट, पुष्ट तथा आत्मनिष्ठ बना देगा।

(इ) उच्च प्रामाणिकता—वास्तव में देखा जाय तो प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता प्रत्येक नागरिक का सामान्य गुण होना चाहिये किन्तु इस अर्थ-प्रधान युग ने उसे दंभी और पाखंडी बना दिया है। समाज का समूचा वातावरण ऐसा दो रंगा बन गया है कि जो है कुछ और लेकिन अपने को बताता है कुछ और। यदि ऐसा पाखंड है तो वह राजनीति, अर्थनीति या समाज नीति में सफलताओं पर सफलताएं पाता हुआ ऊपर से ऊपर उठ जायगा। और आश्चर्य की बात यह होगी कि उसे इस समाज में प्रामाणिकता का जामा भी ओढ़ने को मिल जायगा किन्तु समता की साधना में पाखंड को कहीं भी स्थान नहीं रहेगा। प्रामाणिकता का मूल मंत्र यह होगा कि जो जितने अच्छे क्षेत्र में काम करता है और जितने ऊंचे पद पर जाता है, उसका प्रामाणिकता के प्रति अधिक से अधिक दायित्व बनेगा अर्थात् क्षेत्र की गरिमा तथा पद की मर्यादा के अनुसार प्रामाणिकता लाने पर बल दिया जायगा। प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता की धारा उन लोगों से बहेगी जो समता का स्रोत बन जायगी। उच्च प्रामाणिकता आचरण में से विषमता के मिट जाने पर ही प्रतिष्ठित हो सकेगी और मन, वाणी एवं कर्म की एकरूपता के साथ समता की प्रबल पृष्ठभूमि बन जायगी।

(ई) संयम का अनुपालन—प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता के प्रतिष्ठार्जन के पश्चात् आचरण के चरण अधिक शुद्धि की दिशा में अग्रगामी बनेंगे। तब जीवन में एक स्वस्थ एवं व्यवस्थित परिपाटी का उदय होगा जिसका आधार होगा निष्कपट भाव से मर्यादा, नियम एवं संयम का अनुपालन। मर्यादाएं वे जो व्यक्ति एवं व्यक्ति तप समाज के पारस्परिक सम्बन्धों के सुचारू रूप से निर्वहन के कारण हित परम्पराओं के रूप में ढल गई हों। नियम वे जो जीवन और संगठन को स्वच्छ अनुशासन का रूप देते हों तथा संयम का महत्त्व और गुणगौरव तो सभी को ज्ञात है। ऐसी मर्यादाओं, नियमों तथा संयम के अनुपालन में भावों की निष्कपटता पहले जरूरी है। ऐसी दशा में विश्वासघात एवं आत्मघात की दो स्थितियां स्वतः ही टल जायगी। समता के साधन का जीवन इस रूप में पूर्ण नियमित तथा संयमित बन जाना चाहिये ताकि विषमता के प्रवेश के सभी मार्ग ही वन्द हो जावें और समता की समरसता सभी क्षेत्रों में छा जावे।

(उ) विचारपूर्ण निर्वहन—समाज में रहते हुए व्यक्ति के कई पक्ष होते हैं और इस कारण उसके दायित्व भी बहुमुखी हो जाते हैं। अतः यथास्थान, यथावसर, यथाशक्ति एवं यथायोग्य रीति

से ऐसे बहुमुखी दायित्वों पर ईमानदारी से विचार किया जाय तथा इन्हीं सब 'यथा' के साथ उन दायित्वों का विचारपूर्ण निर्वहन भी किया जाय। ऐसी अवस्था में व्यक्ति अपने स्वयं के प्रति एवं परिवार से लेकर समूचे प्राणी समाज के प्रति अपने सभी दायित्वों एवं कर्त्तव्यों का समुचित रीति से निर्वहन कर सकेगा तथा सर्वत्र समता के स्थायी भाव को संचरित भी बना सकेगा। कर्त्तव्यहीनता यों विषमता का लक्षण बनती है या विषमता की वाहिका, अतः विचारपूर्ण निर्वहन का सदाग्रह सदा प्रदीप्त रहना चाहिये।

(ऊ) सबमें एक : एक में सब—समता के जीवन दर्शन का यह प्रमुख अंग होगा कि सबमें एक और एक में सबकी धारणा बलवती बने तथा अपने व्यवहार में सब एक के लिये और एक सबके लिये सदैव सन्नद्ध रहे। इस सूत्र पर आचरण इतना प्रभावी होगा कि विषमता के विष की आखरी बूंदें भी सूख कर नष्ट हो जायगी और सारा समाज पारस्परिक हित-सहयोग तथा एकता के सूत्र में आबद्ध होकर आध्यात्मिक एवं आत्मोन्मुखी बन जायगा। सहयोग एवं सहानुभूति के सुखद वातावरण से आश्वस्त होकर सभी के चरण समता प्राप्ति की दिशा में तेजी से आगे बढ़ सकेंगे। विचार, वचन और व्यवहार में सर्वत्र समता का समावेश दिखाई देगा।

(ए) व्यापक आत्मीय निष्ठा—जैसे अपने परिवार में रहता हुआ एक व्यक्ति सामान्य रूप से सारे भेद भाव भूल जाता है और अपने सभी कर्त्तव्यों के प्रति सजग रहते हुए सबकी यथायोग्य सेवा भी करता है, उससे भी उन्नत रूप में एक समता साधक समूचे विश्व को अपना परिवार मानकर अपने नैतिक एवं आध्यात्मिक कर्त्तव्यों का एकनिष्ठा से पालन करता है। परिवार में रक्त सम्बन्ध की प्रबलता होती है, परन्तु वसुधा के विशाल परिवार में भावना की सघनता रक्त सम्बन्ध को बहुत पीछे छोड़ देती है, क्योंकि उस भावना का आधार व्यापक आत्मीय निष्ठा पर टिका हुआ होता है। मानव जीवन में विकास के लिये कोई भी ऊंचाई असाध्य नहीं होती। जो सोचता है कि वैसी ऊंचाई नहीं मिलेगी तो यह उसकी दुर्बलता ही होती है। जो जीवन दर्शन की क्रियाशील प्रेरणा से ओतप्रोत होकर समता मार्ग पर आगे बढ़ जाता है, वह सबसे ऊंची ऊंचाई को भी प्राप्त करके रहता है।

(३) आत्म दर्शन—आत्मदर्शन का अर्थ होता है मूल आत्म स्वरूप का दृष्टा बनना, क्योंकि दृष्टा बनकर ही ज्ञाता और विज्ञाता बना जा सकता है तथा यह जाना जा सकता है कि यह आत्मा ही स्वयं कर्त्ता एवं अपने ही किये हुए कर्मों का भोक्ता है। न इसको कोई अन्य चलाने वाला है या सुख दुःख देने वाला है। यही इसकी भाग्य विधाता है—स्वयं भाग्य बनाती है और उसका फल भोगती है।

यह आत्म दर्शन अपनी स्वतंत्र सत्ता और शक्ति का प्रेरक बनेगा। संसार में कोई ऐसी शक्ति नहीं जो इस आत्मा को सुख या दुःख देती हो। जैसा यह आत्मा कर्म करती है अच्छा या बुरा अथवा शुभ या अशुभ, वैसा ही उसका वह फल भोगती है जिसका स्पष्ट अभिप्राय यह होगा कि यदि उसे सुख चाहिये तो शुभ कर्म करने चाहिये। दूसरों को सुख देने वाले कर्म शुभ या पुण्य रूप होते हैं और दूसरों को दुःख देने वाले कर्म अशुभ तथा पाप रूप होते हैं। आत्मा को याने कि मनुष्य को इससे सार यह लेना है कि सुख दोगे तो सुख मिलेगा और दुःख दोगे तो दुःख मिलेगा। यों सुख पाने की प्रत्येक आत्मा को अभिलाषा रहती है किन्तु अज्ञानवश या कि जड़ग्रस्तता से वह सुख के

कारण रूप कार्य करती नहीं है और बबूल बोकर आम के फल लेना चाहती है। आत्म दर्शन की साधना से यह जानकारी और सीख मिलती है कि सुख और शाश्वत सुख पाने के कौनसे उपाय हैं तथा उसकी प्राप्ति का कौनसा मार्ग है?

समता का आत्म दर्शन सबसे पहिले 'मैं' की अनुभूति कराना चाहता है और जड़ चेतन तत्त्व का स्वरूप बोध कराता है। इसके साथ ही आत्मा और शरीर के पृथकत्व का ज्ञान देकर आत्मा के चरम साध्य मोक्ष की साधना विधि बताता है। आत्म दर्शन से ही कर्म सिद्धान्त की जानकारी मिलती है कि कैसे और क्यों कर्म बंधते हैं, किस उपाय से कर्मबंध रुकता है तथा किस साधना से कर्मो का क्षय किया जा सकता है? यह भी ज्ञात होता है कि पूर्वार्जित कर्मों का फल कैसे उदय में आता है और कैसे कर्म फल की शुभता का योग लेकर कर्म मुक्ति का सफल पुरुषार्थ किया जा सकता है? आत्म दर्शन में इस आत्म पुरुषार्थ की फलवत्ता पर भी प्रकाश डाला गया है कि कैसे सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करते हुए व उत्तरोत्तर उच्चस्थ गुणस्थानों में आरोहण करते हुए आत्मा वीतरागी सयोगी केवली होकर अयोगी और सिद्ध हो जाती है? यही समता की अवाप्ति का चरम होता है।

आत्म दर्शन से ही आत्म समत्व का ज्ञान होता है और चिन्तन, मनन एवं स्वानुभूति के आनन्दमय क्षणों का रसास्वादन। तपों की अग्नि में तपकर जब आत्मा शोधित स्वर्ण के समान निर्मल हो जाती है तब वह संसार की सब आत्माओं में एकत्व और समत्व की प्रतीति लेती है। आत्म दर्शन की दिशा में पूर्णता प्राप्त करने की दृष्टि से समता-साधक को नियमित रूप से कुछ भावात्मक अभ्यास करने चाहिये जो इस प्रकार के हो सकते हैं :—

(अ) आत्म चिन्तन एवं आत्मालोचना स्वयं के बारे में सोचें और स्वयं की स्वयं आलोचना करें—यह एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। स्वयं के बारे में सोचने का मतलब है आत्म स्वरूप के बारे में सोचना, वर्तमान आत्म-दशा पर सोचना, शुद्धता पर लगे आवरणों के बारे में सोचना तथा उन आवरणों को हटाकर आत्म गुणों के प्रकटीकरण के बारे में सोचना। इस सोच का क्या अभिप्राय? यही कि मनुष्य बाह्य वातावरण और भौतिक सुखों में ही इतना न रम जाय अथवा विषय-कषाय प्रमाद के दल दल में इतना न फंस जाय कि निजत्व को ही भूल जाय तथा अपने स्वरूप संशोधन के उपाय न करे। प्रतिदिन भीतर झांकते रहने से आत्म स्वरूप ओझल नहीं होता और उसके ओझल नहीं होने से उसकी विदशा को संशोधित और परिमार्जित करने का ध्यान सदा बना रहता है।

इस ध्यान में असावधानी हो अथवा संशोधन व परिमार्जन के काम में भूलें होती रहे उसके लिये आत्मालोचना की प्रक्रिया है कि सही रास्ते से जहां भी या जितने भी दूर हटें उस पर विचार करें और अपनी उस असावधानी या भूल के लिये प्रायश्चित लें। जो किया उसका पश्चाताप और उसे आगे से नहीं दोहराने का संकल्प—यह आत्मालोचना है।

अतः प्रतिदिन प्रातः एवं सायं समता साधक को आत्म दर्शन करना चाहिये याने कि एक दो घड़ी आत्म चिन्तन करना चाहिये तथा विचार पूर्वक आत्मालोचना भी करनी चाहिये। इससे निरन्तर आत्म जागृति बनी रहेगी और प्रमाद न करते हुए समय के मूल्य की अनुभूति होती जायगी।

(ब) सत्साधना का नियम—समता साधना की अन्तरंग धारा तो हर समय प्रवाहित होती रहनी चाहिये किन्तु इस सतत प्रवाह को पुष्ट करने के उद्देश्य से सत्साधना के लिये नियमित समय

निर्धारण का नियम भी आवश्यक है कि प्रति दिन निर्धारित समय पर सत्साधना में बैठा ही जाय और उस समय के कर्त्तव्यों को निष्ठा पूर्वक पूरे किये ही जाय।

सत्साधना के क्षेत्र में किन्हीं विशिष्ट प्रवृत्तियों को भी हाथ में ले सकते हैं जो स्व-पर कल्याण से सम्बन्धित हो तथा यथाशक्ति यथाविकास सम्पन्न की जा सकती हो किन्तु अभ्यास अबाध रूप से नियम पूर्वक चलना ही चाहिये ताकि सभी क्षेत्रों में समता के लिये चाह निरन्तर प्रगाढ़ बनती जाय। इस सत्साधना से आभ्यन्तर एवं बाह्य समता स्थापना हेतु नये शान्तिपूर्ण मार्ग खोजने की प्रेरणा मिलेगी तथा ऐसी पद्धतियों के विकास का अवसर भी मिलेगा जिनके माध्यम से व्यक्ति के जीवन के साथ समाज के विस्तृत क्षेत्र में भी भावात्मक एवं कार्यात्मक एकरूपता पैदा की जा सके। स्वतंत्र चिन्तन पर आधारित ऐसी एकरूपता से ही समतामय वातावरण को सुदृढ़ एवं सुस्थिर बनाया जा सकेगा।

(स) स्वाध्याय—चिन्तन की प्रक्रिया एवं निर्णायक शक्ति तब तक अपूर्ण ही रहेगी जब तक आगम-शास्त्र एवं सत्साहित्य का अध्ययन न हो तथा उनकी नित्य प्रति स्वाध्याय नहीं की जाती हो। यों स्वाध्याय को स्व का अध्याय भी कहते हैं जो आत्म स्वरूप दर्शन की प्रक्रिया हो जाती है। स्वाध्याय की परिपाटी से उन महापुरुषों के उपदेशों को हृदयंगम कर सकते हैं जिन्होंने आत्मदर्शन करके परमात्म-अवस्था को प्राप्त कर ली। इसी परिपाटी से हम उनके उपदेशों पर स्वयं चिन्तन करके उनकी उपादेयता का मूल्यांकन कर सकते हैं। चिन्तन और मनन का अभ्यास स्वाध्याय से ही परिपक्व न बनता है। प्रत्येक आत्मा ज्ञानधारी होती है, तब यह सर्वथा संभव है कि चिन्तन की धारा में कोई भी आत्मा विपुल गहराई में उतर कर विचारों के नये नये मोती ढूंढ लावे।

अतः समता के साधक को प्रति दिन नियमित रूप से स्वाध्याय करनी चाहिये ताकि चिन्तन-मनन की वृत्ति सजग बने। पढ़ें और सोचें—फिर अपना निर्णय लें —यह क्रम ही मनुष्य को सदा विवेकशील एवं प्रगतिशील बनाये रखता है। स्वाध्याय, चिन्तन और स्वानुभूति—ये एक ही आत्म पुरुषार्थ के तीन चरण हैं।

(द) लोकोपकार की भावना—आत्म दर्शन का सार मनुष्य के मन में इस रूप से जागना चाहिये कि क्रमशः यह प्रगति साधी जाय। पहली भावना—मैं किसी को दुःख न दूं। दूसरी भावना—मैं सबको सुख दूं तथा तीसरी भावना—मैं सबको सुख देने में स्वयं को दुःख सहने पड़े तो उन्हें सुखपूर्वक सहूं। ये हैं लोकोपकार की भावना के विकास के तीन स्तर, जो मनुष्य को अधिकाधिक त्याग के लिये अनुप्राणित बनाते हैं। अहिंसक जीवन शैली का सीधा सुप्रभाव लोकोपकार पर पड़ता है क्योंकि निषेध रूप अहिंसा किसी भी प्रकार के हिंसाचरण को रोकती है तो अहिंसा का विधि रूप अनुकम्पा और रक्षा का सर्वोच्च भावात्मक सम्बल होता है।

सबको अपने कठिन त्याग के आधार पर सुख देने की भावना इस दिशा की क्रियात्मक भावना होगी कि लोकोपकार के क्षेत्र को विस्तृत बनाया जाय—उसे सर्वमुखी समता का समतल धरातल प्रदान किया जाय। इस वृत्ति में मनुष्य अपनी आत्मा की सेवा शक्ति के अत्युच्च विकास के साथ समता को सकल विश्व की परिधि तक फैला देने में सक्षम बन जायगा। स्वार्थों को समेटो और आत्मीयता को सर्वत्र फैलाओ —यही एक समता साधक का प्रमुख आचरण —सूत्र बन जाना चाहिये।

(य) आत्म विसर्जन—आत्म दर्शन की आखिरी मंजिल होती है आत्म विसर्जन याने कि त्याग, सेवा और समता दृष्टि से बृहत्तर समता —स्थिति के निर्माण हित अपने आपको भी भुला देना और साध्य में स्वयं को विलीन कर देना। आध्यात्मिक भाषा में यह कायोत्सर्ग की सर्वोच्च तपस्या होगी जब आत्मा देह के ममत्व से भी सर्वथा दूर हो जाती है। इस कठोर तपस्या के माध्यम से आत्म विकास की उस अन्तिम अवस्था को प्राप्त करने के बाद परमात्म दर्शन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

आत्म दर्शन से परमात्म दर्शन तक की यात्रा की सम्पन्नता आत्म विसर्जन के महाद्वार में से होकर गुजरने के बाद ही होती है। यह यात्रा गहन एवं उच्च चिन्तन पर चलती है और कभी कभी विचार श्रेणी इतनी ऊंची एवं समुन्नत बन जाती है कि युगों और वर्षों का मार्ग कुछ पलों में ही तय हो जाता है। समता साधना की सफलता के लिये साधक को आत्म विसर्जन रूप उच्चस्थ विचार श्रेणियों में आरूढ़ होने का प्रयत्न करना चाहिये।

(४) परमात्म दर्शन—आत्मा ही परमात्मा होती है तथा आत्मा ही परमात्मा बनती है। आत्मा और उसकी परम अवस्था में जो अन्तर है, वह उसकी कर्मबद्धता का अन्तर है। इस अन्तर को मिटाने अर्थात् कर्मावरणों को अपने ज्योतिस्वरूप पर से हटाने के बाद यही आत्मा ज्योतिस्वरूप परमात्मा बन जाती है। परमात्म दर्शन का यही सारपूर्ण सिद्धान्त है।

इस दृष्टि से परमात्म दर्शन की मूल प्रेरणा कर्मण्यता है कि आत्मा अपनी कर्मण्यता जगाकर ऐसे कर्म (पुरुषार्थ) करे कि कर्मों के पूर्व संचित दलिक सम्पूर्णतः नष्ट हो जाय। कोई अन्य शक्ति इस आत्मा का उद्धार करेगी—ऐसी वस्तु स्थिति नहीं है। यह आत्मा स्वयं ही स्वयं को सजग बनाकर अपना उद्धार करेगी और वैसा उद्धार उसकी अपनी ही कर्मण्य शक्ति पर आधारित होगा। कोई भी विकास या विकास का चरम बिंदु इस आत्म शक्ति की पहुंच के बाहर का साध्य नहीं होता है। वस्तुतः आत्म शक्ति के शब्द कोष में असंभव शब्द होता ही नहीं है। इस दृष्टिकोण से मानव जीवन में सत्साहस की वृत्ति अपार महत्त्व रखती है। कायरता के लिये सब कुछ असंभव है और साहस के लिये सब कुछ संभव। आत्मा से परमात्मा तक का लक्ष्य इसी सत्साहस की समतापूर्ण उपलब्धि के रूप में प्रकट होता है।

मनुष्य जब तक संज्ञाशून्य होकर पतन के खड्ड में गिरा रहता है, तब तक उसके जीवन के सभी पहलू और उसकी सभी शक्तियां विषम बनकर विकास की अवरोधक के रूप में अड़ी रहती हैं। विषमता की अवस्था में अधिकाधिक विकारों का आक्रमण होता रहता है और आत्म शक्ति उनसे परास्त होकर हताशा में डूबी रहती है किन्तु जिस क्षण कायरता दूर होकर सत्साहस का प्रादुर्भाव हो जाता है, उसी क्षण विकास के चरण गतिमान हो जाते हैं।

आत्मा का ऐसा सत्साहस कैसे प्रकट हो ? कहते हैं कि चोर कायर होता है, क्योंकि उसके पैर कच्चे होते हैं। यदि अपने भीतर कायरता महसूस करते हैं तो सोचना होगा कि अपने भीतर किन किन रूपों में चौर्य्य वृत्तियां अपनी दुष्ट प्रवृत्तियों में लगी हुई हैं और उनके कारण अपनी आत्म शक्ति के पैर कहां कहां कच्चे पड़े हुए हैं ? यह अपनी ही आत्मा की आलोचना का विषय है और अपने ही जागरण का प्रश्न है। जो काम छिप कर करने की इच्छा होती है, जिन विचारों को सहजतापूर्वक प्रकट नहीं किये जा सकते हों अथवा जिन शब्दों को निर्भयता से बोलने की क्षमता न हो तो

समझना चाहिये कि मन, वाणी और कर्म के उन क्षेत्रों में चौर्य्य वृत्ति कार्य कर रही है जिसके कारण आत्म शक्ति के पैर कच्चे पड़े हुए हैं। तब उस कच्चाई को एक एक करके दूर करने की जरूरत पड़ती है। विकास की दृढ़ इच्छा शक्ति के साथ जब सत्साहस का पुट लग जाता है तो उस कायरता को फिर दूर कर देने में देर नहीं लगती। अतः परमात्म दर्शन सिखाता है कि पग पग पर पैदा होने वाली अपनी ही दुर्बलताओं के प्रति सतर्क रहने की दृष्टि से ही समूचा जीवन क्रम चलना चाहिये। समता के सिद्धान्त दर्शन, जीवन दर्शन तथा आत्म दर्शन की अनुभूति के पश्चात् परमात्म-दर्शन की ओर सहजता से प्रगति की जा सकती है तथा इसी आत्मा को परमात्म स्वरूप में ढाल सकते हैं। एक शब्द में इस सत्साहस को परिभाषित करें तो वह यह होगा कि यह सत्साहस आत्म स्वरूप में पर से विषमता के अन्तिम अंश तक को मिटा डाले और उसे पूर्ण समता की उज्ज्वलता से विभूषित बना दे।

परमात्म पद की दार्शनिक भूमिका को भली प्रकार से समझ लेनी चाहिये। आत्मा को अपनी ही विषमता पर प्रहार प्रारंभ करने होते हैं जो अपने कर्म बंध को समाप्त करने के रूप में होते हैं। कर्म ज्यों ज्यों क्षीण होते जाते हैं, आत्मा में रही हुई विषमता भी त्यों-त्यों क्षीण होती जाती है तथा आत्मा अपने मूल गुणों को अवाप्त करती रहती है। गुणों के स्थानों में तब उसकी ऊर्ध्वगामिता आरंभ होती है और गणस्थानों की यात्रा को जब वह आत्मा सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लेती है तो अपने मूल गुणों को प्रकाशमान बनाकर परमात्म पद की अधिकारिणी बन जाती है।

यह दृश्यमान् जगत् जीव और अजीव इन दो तत्त्वों के संयोग—श्रम पर निर्मित हुआ है। यह जीव तत्त्व भी यहां स्वतंत्र नहीं है —अजीव तत्त्व के साथ अपने कर्म बंधनो के कारण बंधा हुआ है। जीव और अजीव के संयोग से ही समस्त जीवधारी दिखाई देते हैं और अजीव के बंधन से ही वे अजीव तत्त्वों के प्रति मोहाविष्ट बनते हैं। यह मोह चाहे अपने या दूसरे के शरीर के प्रति हो अथवा धन, सम्पत्ति, सत्ता या अन्य पदार्थों व परिस्थितियों के प्रति—उसकी रागात्मक वृत्तियां ही जीव को विषय, कषाय तथा प्रमाद में भ्रमित बनाये रखती हैं। इसी दशा में राग और द्वेष के घात प्रतिघात चलते हैं और जीव उन प्रकृतियों के वशीभूत होकर विविध शुभाशुभ कर्म करते हुए उनके फलाफल से भी अपने को प्रतिबद्ध बनाते हैं। जीव-अजीव तत्त्वों के साथ इस तरह बंध तत्त्व जुड़ा है जो पतन का प्रतीक है। जीव का सर्वोच्च विकास का प्रतीक है मोक्ष तत्त्व, जिसकी साधना में वह कर्म बंध रूप आश्रव तत्त्व को रोकता है संवर तत्त्व की सहायता से। फिर सम्पूर्ण कर्म विनाशक रूप होता है निर्जरा तत्त्व, जिसकी सिद्धि से मोक्ष तत्त्व अवाप्त होता है। कर्म बंध के दो शुभाशुभ रूप होते हैं पुण्य तत्त्व तथा पाप तत्त्व। पाप तत्त्व को मिटाने से पुण्य तत्त्व बलवान बनता है जो मोक्षतत्त्व को मिलाने में सहायता करता है लेकिन मोक्ष तत्त्व की अवाप्ति पर पुण्य तत्त्व भी छूट जाता याने कि अजीव तत्त्व का जीव तत्त्व से संयोग सम्पूर्णतः समाप्त हो जाता है। जीव तत्त्व सम्पूर्णतः अजीव तत्त्व (कर्म) से मुक्त हो जाय—यही उसका मोक्ष है। जीव की ईश्वर में इसी रूप से परिणति होती है।

समता का व्यवहार्य पक्ष

किसी वस्तु स्वरूप का ज्ञान होना अपेक्षतया सरल है किन्तु सम्यक् ज्ञान होना कठिन है तथा उससे अधिक कठिन है उस सम्यक् ज्ञान को अडिग रूप से व्यवहार में उतारना तथा अपने

जीवन के समस्त आचरण को तदनुसार ढाल लेना। व्यवहार के मार्ग में ऐसे ऐसे थपेड़े आते हैं कि कई बार अच्छे अच्छे साधक भी चलायमान हो जाते हैं। यह व्यक्तिगत जीवन की बात है लेकिन सामाजिक जीवन में भी ऐसे थपेड़े कभी इतने प्रबलतम होते हैं जो सारी सामाजिक व्यवस्था को अस्त व्यस्त करके व्यक्ति-व्यक्ति के सामान्य जीवन को भी दुःखपूर्ण बना देते हैं। समता के व्यवहार्य पक्ष में भी व्यक्ति और समाज के जीवन—क्षेत्रों में ऐसी कठिनता आवे यह अनहोनी बात नहीं है।

समतामय जीवन को व्यवहार रूप में अपनाने के बीच में भी व्यक्तिगत एवं समाजगत वाधाओं का आरपार नहीं रहता है। समाज में जिस वर्ग के स्वार्थ किसी भी रूप में निहित हो जाते हैं, वह वर्ग अपने स्वार्थों की रक्षा के अंधेपन में सदैव विषमता का पक्षधर बनकर समता का विरोध करने लगता है। तब उसके हृदय परिवर्तन की आवश्यकता महसूस होती है। इसलिये जहां समता के व्यवहार्य पक्ष पर विचार करना होता है, वहां गहराई से यह खोजना जरूरी है कि व्यवहार्य पक्ष की मूल कमजोरियां कौन कौनसी है और उनके विरुद्ध किन किन उपायों से संघर्ष किया जा सकता है एवं व्यवहार्य पक्ष को व्यक्ति एवं समाज दोनों के आधारों पर सुदृढ़ बनाया जा सकता है ?

समता के व्यवहार्य पक्ष को सुदृढ़ बनाने कि लिये प्रत्येक आत्मा में रही हुई स्वहित की संज्ञा एवं उसके उचितानुचित विकास प्रक्रिया को समझ लेना चाहिये। बच्चा गर्भाशय से बाहर आते ही चाहे और कुछ समझे या न समझे, वह अपनी भूख को तो तुरन्त समझ लेता है और जब भी भूख से पीड़ित होता है, वह स्तन पान के लिये मुंह फाड़ फाड़कर रोना शुरू कर देता है। यह बात मानव शिशु के साथ ही नहीं है, छोटे से छोटे जन्तु में भी स्व-हित की या स्व-रक्षा की संज्ञा होती है। जहां चींटियां चल रही हों, वहां जब कोई राख बिखेर देता है तो चींटियां उसे अपने लिये खतरा मानकर बचाव के लिये वहां से तुरन्त खिसक जाती हैं। आशय यह है कि छोटे बड़े प्रत्येक जीव में आरंभ से ही स्वहित एवं स्वरक्षा की जागृत चेतना रहती है। स्वहित की इस आरंभिक संज्ञा का विकास निम्न रूप में तीन प्रकार से हो सकता है जिनका मूल आधार उस प्रकार के वातावरण पर निर्मित होगा— (१) पहला प्रकार यह हो सकता है कि यह स्वहित की संज्ञा एकांगी एवं जटिल बनकर कुटिल स्वार्थ के रूप में ढल जाय कि मनुष्य को उसके आगे और कुछ भला बुरा सूझे ही नहीं। अपना स्वार्थ है तो सब है और वह नहीं तो अपना कोई नहीं —दूसरों के हित की तरफ दृष्टि तक न मुड़े। ऐसी प्रकृति उसके अपने जीवन और अपने संसर्गगत सामाजिक वातावरण में गहन विषमता को जन्म देती है। और समता की जड़ों को मूल से ही काटती है। (२) स्वहित —परहित के सन्तुलन का दूसरा प्रकार एक रूप में समन्वय का प्रकार हो सकता कि अपना हित भी आदमी देखे किन्तु उसी लगन से दूसरों के हित के लिये भी वह तत्पर रहे। अपने व दूसरों के हितों का वह इतना सन्तुलन बनादे कि कहीं दोनों के बीच टकराव का मौका नहीं आवे। साधारण रूप से समाज में समग्र दृष्टि से इस प्रकार की क्रियान्विति की आशा की जा सकती है। यह समता की दिशा होगी।

(३) तीसरा ऊंचे त्यागियों और महापुरुषों का प्रकार हो सकता है जो परहित के लिये स्वहित का भी बलिदान कर देते हैं। ऐसे बलिदानी सर्वस्व त्याग की ऊंची सीमाओं तक भी पहुंच जाते हैं। सच कहें तो विश्व को समता का दिशा दान ऐसे महापुरुष ही किया करते है। उन के त्यागमय चरित्र से ही समता की सर्वोत्कृष्ट अवस्था प्रकाशित होती है।

वातावरण के तदनुकूल निर्माण पर यह निर्भर करता है कि स्वहित की आरंभिक संज्ञा रूढ़ एवं भ्रष्ट हो जाय अथवा जागृति और उन्नति की दिशा में मुड़ जाय। प्रत्येक जीवधारी में स्वरक्षा की संज्ञा हो—यह अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु स्वाभाविक यह होगा कि सबकी स्वरक्षा की संज्ञा को सचेतन बनाई जाय कि कोई भी किसी की इस संज्ञा पर प्रहार न करे या न कर सके। सर्वहित के इस प्रयास के बीच आने वाली बाधाओं को समझना, उनके कारणों को दूर करना तथा उनको जीत कर स्वहित को सर्वहित के समत्व भाव से रंग देना—यही समता का सजग एवं सफल व्यवहार्य पक्ष हो सकता है।

विषमता से समता में परिवर्तन अपनी अपनी साधना शक्ति के अनुसार एक छोटी या लम्बी प्रक्रिया हो सकती है किन्तु इस परिवर्तन का रहस्य अवश्य ही आचरण की गरिमा में समाया हुआ रहता है। कोई भी परिवर्तन बिना क्रियाशीलता के नहीं आ सकता है। बिच्छू काटे की दवा कोई जानता है लेकिन बिच्छू के काटने पर अगर वह उस दवा का प्रयोग करने की बजाय उस जानकारी पर ही घमंड करता रहे या उसे ही दोहराता रहे तो क्या बिच्छू का जहर उतर जायगा? यही विषमता का हाल होता है। विषमता मिटाने का ज्ञान कर लिया, किन्तु उस ज्ञान के अनुसार अपने आचरण को नहीं ढाला तो क्या विषमता मिट जायगी? विषमता मिटाने के लिये उस ज्ञान के निषेध और विधि के दोनों रूप आचरण में उतरने चाहिये। ज्यों-ज्यों निषेध रूप से विकारों की विषमता घटती जायगी त्यों-त्यों विधि रूप से समता की अमिय-वर्षा गहराती जायगी।

समतामय आचरण के अनेकानेक पहलू और रूप हो सकते हैं परन्तु सारे तत्त्वों और समस्त परिस्थितियों को समन्वित करके उसके सारे रूप में निम्न इक्कीस आचरण सूत्रों की रचना की गई है जिन पर यदि मनुष्य अमल करके अपने भीतर और बाहर को सुधारे व बदले तो समता की गहन साधना भी आरंभ की जा सकती है। तथा बाह्य विस्तृत वातावरण में भी समताभरा तालमेल बिठाया जा सकता है—

(१) हिंसा का परित्याग—हिंसा के आंशिकत्यागी श्रावक को अनावश्यक हिंसा का परित्याग करना तथा आवश्यक हिंसा की अवस्था में भी भावना तो प्राणी रक्षा की रखनी चाहिये, लेकिन विवशता से होने वाली हिंसा में लाचारी अनुभव की जानी चाहिये, न कि प्रसन्नता। साध्वाचार में तो हिंसा का सर्वथा परित्याग कर दिया जाता है। समता साधना के प्रारंभ में स्थूल रूप हिंसा का तो परित्याग कर ही देना चाहिये कि वह अपने हित के लिये परहित पर किसी प्रकार का आघात नहीं पहुंचाएगा। सन्तुलन के इस बिन्दु से जब साधना आरंभ की जायगी तो स्वार्थों का संघर्ष अवश्य कम होता जायगा। स्वहित की रक्षा में यदि उसे आवश्यक हिंसा करनी भी पड़ी तो वह उस का आचरण अति खेदपूर्वक ही करेगा जिसका विकास इस रूप में होगा कि आगे जाकर वह परहित के लिये स्वहित का त्याग करने की शुभ भावना का निर्माण कर लेगा। यही विकास जब और आगे बढ़ेगा, तब वह पूर्ण अहिंसक व्रत अंगीकार कर सकेगा।

(२) मिथ्याचार-मुक्ति—कहावत है कि एक झूठ बोल कर उसे टिकाये रखने के लिये सौ झूठ बोलने पड़ते हैं। इसी झूठ पर यह मिथ्याचार पनपता है जो केवल वचन तक ही सीमित नहीं रहता है। कथनी को मिथ्या बनाकर करनी को वह मिथ्याचारी बनाता रहता है। जितना मिथ्याचार उतनी ही अधिक विषमता। इस कारण विषमता से मुक्ति पाने के लिये मिथ्याचार से मुक्ति अनिवार्य

है। मिथ्याचार त्याग कर ही विषमता के विविध रूपों से सफल संघर्ष किया जा सकता है और समता भावना के विस्तार में सत्याचरण एवं सदाचार के बल पर रचनात्मक सहयोग दिया जा सकता है।

(३) चौर्य्य कर्म से छुटकारा—ताला तोड़कर चाबी लगाकर या सेंध लगाकर वस्तु की चोरी करने की कला आज के अर्थ युग में बहुत ही जटिल और व्यापक हो गई है। वस्तु चुराने की वजाय आज मनुष्यता चुराई जाती है, उस का श्रम चुराया जाता है और शोषण की चौड़ी खाइयां खोद दी जाती हैं। चौर्य कर्म से छुटकारा पाने के लिये स्वार्थान्धता और तृष्णाग्रस्तता से दूर हटना पड़ेगा तथा अपने जीवन निर्वाह को उस सीमित स्तर तक सादा बनाना होगा, जहां हिंसा, चोरी या अनीति का तनिक भी आश्रय न लेना पड़े।

(४) ब्रह्मचर्य का मार्ग—वासनाओं पर विजय पाने के अनुक्रम में शारीरिक ब्रह्मचर्य के साथ वासनाओं की मानसिकता पर भी नियंत्रण साधना होता है। एक व्यक्ति के जीवन में फले फूले सदाचार से चारों ओर के वातावरण में भी चारित्र्य-शुद्धि की एक नई हवा बहेगी। ब्रह्मचर्य का पालन सब ओर संयम वृत्ति को बलवती बनायगा तो संयम के संबल से समता के विकास को प्रशस्त करेगा। विषय वासनाओं की आसक्ति के घटने और मिटने से योग व्यापार की त्रिधारा में शुद्धि व शुभता का संचार होगा।

(५) तृष्णा पर अंकुश—मनुष्य का अपने स्वार्थों तथा अपनी तृष्णा पर अंकुश लगाना वहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह अंकुश ही उसके मन की मूर्छा को दूर करके उसे अपरिग्रही तथा अपरिग्रहवादी बनाता है। अपनी अल्पतम आवश्यकताओं के अनुसार तथा अपनी नीति व अपने श्रम से यदि धनार्जन की व्यवस्था ढल जाय तो अर्थ का भूत अधिकांश रूप से माथे से उतर जायगा। तब अनावश्यक संग्रह का चक्कर भी खत्म हो जायगा। उसका स्वार्थ जब सीमा से बाहर नहीं निकलेगा तो वह घातक भी नहीं बनेगा। अतः समता-साधक अपनी तृष्णा पर कठोर अंकुश लगाते हुए अपने धंधे का फैलाव इतना ही करे जिससे नीति भी नहीं छूटे और सम्पत्ति का मोह भी नहीं जागे।

(६) निष्कलंक चारित्र—समता की साधना करने वाले साधक को कभी भी ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिये जिससे उसके चारित्र पर कलंक लगे। व्यक्ति यदि अपनी आवश्यकताओं को सीमा में रखकर चले तो वह कभी भीं ऐसे कार्यों में नहीं उलझेगा जो स्वयं, परिवार, समाज अथवा राष्ट्र के चारित्र्य पर किसी भी रूप में कलंक कालिमा पोते। उसे अपने आचरण को भी नियमित एवं संयमित रखना चाहिये।

(७) अधिकारों का सदुपयोग—समता साधक को अपना यह कर्त्तव्य मानना चाहिये कि वह अपने प्राप्त अधिकारों का दुरुपयोग कतई नहीं करें बल्कि उनका सर्वत्र व्यापक जन कल्याण के हित में निष्ठापूर्वक सदुपयोग करें। समाज या राष्ट्र में अपनी योग्यता, कार्य कुशलता, प्रतिष्ठा आदि के बल पर कई व्यक्ति छोटे या बड़े पदों पर पहुंचते हैं जहां उनके हाथ में अपने पद के अनुसार अधिकारों का वर्चस्व आता है। उन अधिकारों का प्रयोग अपने स्वार्थों या अन्य विषम उद्देश्यों के लिये कभी भी नहीं किया जाना चाहिये। उन अधिकारों के सदुपयोग का अर्थ होगा कि उनका प्रयोग नियमानुसार तथा सार्वजनिक लाभ के लिये किया जाय।

(८) अनासक्त भाव—सत्ता या सम्पति में आसक्ति रखने से उन पर तृष्णा भड़कती है और उनके संचय की मूर्छा पैदा होती है इसलिये समता साधक को सदा अनासक्त भाव का अभ्यास करना चाहिये। ऐसा करने से प्राप्त सत्ता या सम्पत्ति के दुरुपयोग की मनोवृत्ति नहीं बनेगी तथा कर्त्तव्य पालन के प्रति जागरूकता निरन्तर बनी रहेगी।

(६) सेवा की मनोवृत्ति—एक समता साधक अपने को प्राप्त सम्पत्ति एवं सत्ता को मानव सेवा और प्राणी सेवा का साधन मानता है। उसकी सेवा की मनोवृत्ति इस रूप में विकसित हो जाती है कि प्राप्त सम्पत्ति और सत्ता के प्रति उसका तनिक भी ममत्व नहीं रहता, बल्कि उसे वह सेवा के कार्यों में समता भाव से नियोजित कर देता है। वह इनका संचय भी अपने पास नहीं बढ़ाता और अधिकांश रूप से अपनी आवश्यकताओं को कम करके अपने लिये आवश्यक साधनों को भी अपने से ज्यादा आवश्यकता वालों को हर्षपूर्वक वितरित कर देता है। अनासक्त भाव की भूमिका पर निर्मित उसकी सेवा की मनोवृत्ति अटूट बन जाती है।

(१०) सरल व्यक्तित्व—समता का साधक एक ओर व्यक्ति व समाज की विकारपूर्ण विषमता से संघर्ष करता है और क्रान्ति द्वारा मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करना चाहता है तो दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व को अत्यन्त सरल और विनम्र बनाये रखता है। सादगी, सरलता तथा विनम्रता में विश्वास रखना तथा नये सामाजिक मूल्यों की रचना में सक्रिय बने रहना—इसे वह अपना पवित्र कर्त्तव्य मानता है ताकि अपने सरल व्यक्तित्व से समतामय सरलता का प्रसार हो।

(११) स्वाध्याय और चिन्तन—मनुष्य हर समय किसी न किसी कार्य में प्रवृत्ति करता रहता है अतः उसे उसी समय न तो अपने काम की उचितता या अनुचितता का निर्णय निकालने का अवसर मिलता है और न ही उसके परिणामों का विश्लेषण करने की सुविधा। ये दोनों कार्य नियमित स्वाध्याय एवं चिन्तन की प्रवृत्तियों से ही पूरे किये जा सकते हैं। स्वाध्याय से यह ज्ञान और भाव मिलेगा कि किस प्रकार की प्रवृत्तियां शुभ और उपादेय होती हैं तथा किन अशुभ प्रवृत्तियों में मनुष्य को प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। चिन्तन की धारा में प्रवृत्तियों की शुभाशुभता का अंकन भी हो सकेगा तो प्रवृत्तियों के परिणामों पर भी दृष्टिपात करके अपनी भावी प्रवृत्तियों की रूपरेखा निर्धारित की जा सकेगी।

(१२) कुरीतियों का त्याग—जीवन में व्यावहारिक दृष्टि से कुरीतियां वे ही होती हैं या कहलाती हैं जो किसी न किसी रूप में विषमता पैदा करती हैं। रूढ़ परम्पराओं या कुरीतियों का निर्वाह दंभी और निहित स्वार्थी इसलिये करते हैं कि उनके माध्यम से सार्वजनिक जीवन में वे अपनी झूठी प्रतिष्ठा बनाये रखते हैं। सामान्य जन के लिये कुरीतियां सद्‌गुणों और श्रेष्ठता का ह्रास करने वाली होती हैं। इस कारण समता साधक को स्वयं कुरीतियों का त्याग करना चाहिये तथा जीवन में इनके प्रचलन को रोकने का कठिन प्रयास भी जुटाना चाहिये

(१३) नैतिकता का पालन—चाहे कोई भी व्यवसाय या व्यापार हो अथवा सेवा वृत्ति या अन्य कार्य—उसमें समता साधक को सदा शुद्ध नीति याने नैतिकता का पालन करना चाहिये। व्यापार को जब सीधा और सच्चा नहीं रखा जाता—उसमें कपट और मायाचार का पुट मिला दिया जाता है तब शोषण और लूट का व्यवहार बन जाता है। जहां अपने श्रम के रूप में लाभांश होना चाहिये, वहां आज के व्यवसाय और व्यापार में लाभ लूट का पर्याय बन गया है जो कतई

अनीतिपूर्ण कहलायगा। इस दृष्टि से अपनी अर्जक वृत्ति में नैतिकता का निर्वाह किया ही जाना चाहिये जिसके बिना समता का विस्तार संभव नहीं होता।

(१४) यथायोग्य सम वितरण—समता साधक अपने पास आवश्यकता से अधिक धन, धान्य अथवा अन्य पदार्थ न रखे तथा उन्हें यथायोग्य सम वितरण हेतु समाज या राष्ट्र को सौंप दें अथवा स्वयं जन कल्याण में नियोजित कर दें। आवश्यकताओं का भी जहां तक प्रश्न है, वे एक समता साधक की निरन्तर घटती रहनी चाहिये और जीवन निर्वाह में अधिकाधिक सादगी आती रहनी चाहिये। इस विधि से धन सम्पत्ति के प्रति कभी ममत्व पैदा नहीं होगा। जो मन से लेकर मनुष्य के कर्म तक विषमता का विष फैलाता है, वह होता है धन सम्पत्ति रूप परिग्रह और उससे भी अधिक विषम होती है परिग्रह की लालसा। अतः आवश्यकता तक परिग्रह को सीमित कर लेने से उसके प्रति ममत्व नहीं जागता। इस दृष्टि से न्यूनतम आवश्यकताओं के अनुसार एक समता साधक समुचित परिग्रह अपने पास रखें और उसे भी पूर्वनिश्चित मर्यादाओं की अपेक्षा से ताकि वाकी को न्यास समझे तथा यथायोग्य रीति से जन कल्याण में उसका सम वितरण कर दे।

(१५) आध्यात्मिकता का रंग—नैतिक एवं मर्यादित जीवन विधि से समता साधक अवश्य ही अन्तर्मुखी बनता जायगा और अन्तरावलोकन का अभ्यास करेगा। इस दृष्टा भाव का सुपरिणाम यह होगा कि वह आध्यात्मिकता के आनन्द रंग में अपने आपको रंगता जायगा। आभ्यन्तर शुद्धि उसका प्रधान लक्ष्य बन जायगा और उसके साथ ही वह आभ्यन्तर शुद्धि का पुरुषार्थ सब में जगाना चाहेगा। आध्यात्मिकता के रंग से अपना अन्दर-बाहर का जीवन व्यवहार निर्मल बनाकर वह सभी को उस ओर प्रभावित करेगा। जब अपनी अर्जन प्रणाली, दिनचर्या तथा व्यवहार की पूरी परिपाटी नैतिकता के आधार पर ढल जायगी तो उस हृदय से उत्पन्न आध्यात्मिकता ओजस्वी होगी।

(१६) सुधार का अहिंसक प्रयोग—आत्मिक एवं सामाजिक अनुशासन तथा संयम की मर्यादाओं को भंग करने वाले लोगों को एक समता साधक अहिंसक असहयोग के प्रयोग से सुधारना चाहेगा। उसमें लेश मात्र भी उस प्रयोग के समय द्वेष की भावना नहीं होगी। उसका अहिंसक असहयोग एक अच्छे चिकित्सक के समान शुद्ध हिताकांक्षा की दृष्टि से होगा। समता की साधना से वह अहिंसा को ऐसे सशक्त शस्त्र के रूप में तैयार करेगा कि व्यापक क्षेत्र में भी द्वेष एवं प्रतिशोध से रहित होकर उसका सुधार की दृष्टि से सफल प्रयोग किया जा सके। घृणा पाप से हो, पापी से कभी नहीं लवलेश के अहिंसक सिद्धान्त के अनुरूप ही समता साधक सभी प्रकार के सुधार कार्यक्रमों का संचालन करेगा।

(१७) गुण कर्म से वर्गीकरण—एक समता-साधक प्रचलित वर्ण, वर्ग या सम्प्रदाय में अपना विश्वास नहीं रखेगा और व्यक्ति का अंकन उसके गुण और कर्म के अनुसार करेगा। इतना ही नहीं, वह समाज में भी गुण एवं कर्म के आधार पर वर्गीकरण करने तथा उसे प्रभावशाली बनाने का प्रयास करेगा। इस प्रकार के वर्गीकरण से विभिन्न वर्णों, वर्गों या सम्प्रदायों में व्याप्त कटुता तथा विषमता समाप्त होती जायगी तथा उसके स्थान पर मानवीय समता प्रसारित होगी। गुणाधारित वर्गीकरण से गुणों की अभिवृद्धि की ऐसी स्वस्थ होड़ चल निकलेगी कि मनुष्य अपनी प्रतिष्ठा वृद्धि के लिये गुण सम्पन्नता को मुख्य मान लेगा।

(१८) भावात्मक एकता—सम्पूर्ण मानव जाति की एकता के आदर्श को समक्ष रखते हुए एक समता साधक समाज या राष्ट्र की भावात्मक एकता को बल देगा तथा ऐसी एकता के लिये

मन, वाणी एवं कर्म की एकरूपता को प्रोत्साहित करेगा। इस प्रयोग से मनुष्यता को शक्ति मिलेगी तथा जीवन में जड़ तत्त्वों का प्रभुत्व घटेगा। ऐसी एकता केवल बाह्य रूपों में ही नहीं अटक जानी चाहिये बल्कि अनुभावों, उद्देश्यों तथा आदर्शों की एकता के रूप में वह निरन्तर विकसित होती रहनी चाहिये। समता साधक को अपने अन्तःकरण में हो अथवा समाज या राष्ट्र के विशाल अन्तर्हृदय में—ऐसी भावात्मक एकता को स्थिरता पूर्वक स्थापित करने के प्रयास हमेशा जारी रखने चाहिये। कारण, भावात्मक एकता चिरस्थायी एवं शान्ति प्रदायक होती है तथा सभी स्तरों पर समता के वातावरण को परिपुष्ट बनाती है।

(१९) लोकतंत्रीय प्रणाली—एक कथन है कि सत्ता मनुष्य को भ्रष्ट करती है और पूर्ण सत्ता पूर्णतया भ्रष्ट करती है। इसी दृष्टि से सत्ता को एक या कुछ हाथों से हटाकर सम्पूर्ण जनता को सौंपने के दृष्टिकोण की भूमिका पर ही लोकतंत्रीय प्रणाली का विकास हुआ है। यह पारस्परिक नियंत्रण एवं सन्तुलन की प्रणाली के रूप में शासन को चलाती है तो समाज की सारी व्यवस्था को लोकेच्छा एवं लोकशक्ति के आधार पर चलाने के आदर्श को सामने रखती है। राष्ट्र या समाज का समग्र संचालन जनता द्वारा, जनता के लिये तथा जनता का होना चाहिये—यह लोकतंत्रीय प्रणाली की अन्तःप्रेरणा कही जाती है। सत्ता और सम्पत्ति के निहित स्वार्थी अपने भ्रष्ट एवं विकृत उद्देश्यों के लिये ऐसी सर्वहितकारी प्रणाली का भी दुरुपयोग करने की चेष्टा करते हैं अतः समता साधक को ऐसी प्रवृत्तियों का विरोध करना चाहिये तथा समग्र जनता में स्वस्थ चेतना जगानी चाहिये।

(२०) ग्राम से विश्वधर्म—प्रत्येक समता साधक को ग्राम धर्म, नगर धर्म, समाज धर्म, राष्ट्र धर्म एवं विश्वधर्म की निष्ठा के प्रति सतर्क रहना चाहिये एवं उनके अन्तर्गत पहले अपने कर्त्तव्यों एवं नियमों का निर्वाह करना चाहिये, फिर अपने उदाहरण को सामने रख कर दूसरों से उनका अनुपालन करवाने की जागरूकता पैदा करनी चाहिये। ऐसा जन मत, प्रभावी रूप से बनाना चाहिये कि इन धर्मों के निष्ठापूर्वक पालन में कोई किसी तरह की दुर्व्यवस्था पैदा नहीं करे तथा किन्हीं उद्दंड या समाज विरोधी तत्त्वों द्वारा वैसा करने पर अन्य लोग उनके साथ अहिंसक असहयोग का प्रयोग करें।

(२१) समता पर आधारित समाज—एक समता साधक समता के दार्शनिक तथा व्यावहारिक पक्षों के आधार पर निर्मित किये जाने वाले नये समाज की रचना में विश्वास रखे तथा उसके निर्माण में सक्रिय सहयोग प्रदान करे। पहले वह अपने भीतर और बाहर समतापूर्ण वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों का समावेश करे और उसके बाद व्यापक क्षेत्र में रही हुई विषमताओं को समाप्त करने एवं सर्वत्र समतामयी एकरूपता तथा समरसता को संचारित करने में अपना कठोर पुरुषार्थ लगावे। वह अपनी प्रबल प्रेरणा से प्रत्येक व्यक्ति, समूह या संगठन को समता का सशक्त आधार ग्रहण करने के लिये तत्पर बनावे। इसका अन्तिम लक्ष्य यही होगा कि समता का प्रत्येक मानव हृदय में शीतल प्रकाश फैल जाय और एक समता समाज के निर्माण के साथ वह प्रकाश चिरस्थायी स्वरूप ग्रहण करले और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी एवं आगे तक पारम्परिक प्रकाश स्तंभ बन जाय।

आचरण के इन इक्कीस सूत्रों का दोहरा प्रभाव पड़ेगा। एक ओर व्यक्ति इन के अनुसार अपने जीवन-व्यवहार को ढालते हुए अपने आभ्यन्तर और बाह्य जीवन में शुद्धता, शुभता तथा समता की स्थिति को सुस्थिर बनायगा तो दूसरी ओर उसकी उस सुस्थिरता का स्वयमेव भी समाज

के विभिन्न क्षेत्रों में अनुकूल प्रभाव पड़ेगा और समता साधक जब अपने आदर्श उदाहरण के साथ समता का प्रबल प्रचारक बनेगा तब उसकी प्रभावशाली शैली से जन-जन के जीवन में नई समता-चेतना का विकास होगा क्योंकि दूसरों को वास्तविक रीति से प्रभावित करने में शब्दों की अपेक्षा अपना प्रत्यक्ष आचरण हजार गुना अधिक काम करता है।

समताचरण के तीन चरण

साधुत्व की पूर्व स्थिति में समता की साधना करने वाले साधक के लिये अपनी साधना के यथोचित विकास की दृष्टि से तीन चरण स्थापित किये गये हैं, जिनके अनुसार साधक को पहले समता की उपादेयता में स्वयं की प्रतीति स्पष्ट हो, फिर वह समता की अपनी सुस्पष्ट धारणा को क्रियान्वित करे तथा तदनन्तर अपनी समदृष्टि का उच्चतम विकास साधते हुए समतादर्शी बन जाय। सम्यक् प्रतीति तथा वास्तविक पहिचान के पहले चरण के साथ ही साधक के अन्तःकरण में समुन्नति के लिये तीव्र आकांक्षा तथा कठोर पुरुषार्थ की भावना जाग जानी चाहिये। इन्हीं के आधार पर वह द्वितीय चरण की सुदीर्घ साधना की कठिनाइयों का सफलतापूर्वक सामना कर सकेगा एवं तीसरे चरण की सिद्धि के विराट् क्षेत्र में प्रविष्ट हो सकेगा।

इस रूप में समताचरण के तीन चरण निम्नानुसार होंगे—

(१) समतावादी—पहली और प्रारंभिक श्रेणी उन समता साधकों की हो जो समता-दर्शन में गहरी आस्था, नया खोजने की जिज्ञासा तथा अपनी परिस्थितियों की सुविधा से समता के आचरण में सचेष्टता ग्रहण करने की हार्दिक अभिलाषा रखते हों। इस श्रेणी वालों को 'वादी' इस कारण कहा गया है कि वे समता के दर्शन एवं व्यवहार पक्षों का सर्वत्र समर्थन एवं प्रचार करते हों एवं सबके समक्ष समताचरण की श्रेष्ठता को जानने, मानने तथा तदनुसार अपने-अपने व्यवहार को ढालने का सदाशयपूर्ण आग्रह करते हों। स्वयं भी आचरण के क्षेत्र में अग्रगामी बनने की तैयारी करते हों एवं दूसरों को भी उसके लिये तैयार होने की प्रेरणा देते हों। यह नहीं कि एक समतावादी सिर्फ समता का वाद ही करेगा और समताचरण को स्वीकार किन्हीं भी अंशों में नहीं करेगा। वह समता का वाद करते हुए आचरण के क्षेत्र में भी पग धर देगा, लेकिन अपनी परिस्थितियों की विवशता से आचरण की उग्रता का पालन नहीं कर सकेगा। उसके हृदय में समताचरण को पूर्णता प्रदान करने की तीव्र अभिलाषा में कोई न्यूनता नहीं होगी।

समतावादी श्रेणी के साधकों के लिये निम्न नियम आचरणीय हो सकते हैं—(अ) विश्व में रहने वाले समस्त प्राणियों में मूल स्थिति को स्वीकार करना तथा गुण व कर्म के अनुसार उनका वर्गीकरण मानना। अन्य सभी विभेदों तथा विषमताओं को अस्वीकार करना और गुण कर्म के विकास से व्यापक समतापूर्ण स्थितियों के निर्माण का संकल्प स्वीकार करना। (ब) समस्त प्राणीवर्ग में एकता मानते हुए प्रत्येक के स्वतंत्र अस्तित्व को भी स्वीकारना तथा अन्य प्राणों के कष्ट क्लेश को स्व-कष्ट के समान मानना। (स) किसी भी पद को महत्त्व देने के स्थान पर सदा कर्त्तव्यों को अधिक महत्त्व देने की प्रतिज्ञा करना। (द) सप्त कुव्यसनों को धीरे-धीरे ही सही किन्तु त्यागते रहने की दिशा में आगे बढ़ना। (य) प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व कम से कम एक घंटा नियमित रूप से समतादर्शन की स्वाध्याय, चिन्तन, आत्मालोचना में व्यतीत करना तथा उस प्रवृत्ति को समीक्षण ध्यान के स्तर तक ले जाना। (र) कदापि और किन्हीं भी परिस्थितियों में आत्मघात नहीं करने एवं प्राणीघात को

बन्द कर उनकी रक्षा करने का संकल्प लेना। (ल) सामाजिक कुरीतियों को त्याग कर विषमताजन्य वातावरण को मिटाना तथा समतामयी नई परम्पराएं ढालना।

(२) समताधारी—समता के दार्शनिक एवं व्यावहारिक धरातल पर सक्रिय बनकर जो दृढ़ चरणों से चलना आरंभ कर दें, उन्हें समताधारी की दूसरी उच्चतर श्रेणी में लिया जाय। समताधारी साधक समता के चारों दर्शनों— सिद्धान्त, जीवन आत्म एवं परमात्म को हृदयंगम करके व्यवहार के इक्कीस सूत्रों के आचरण पथ पर रचनात्मक प्रगति प्रारंभ कर देता है और निरन्तर प्रगतिशील रहता है। एक प्रकार से समतामय आचरण की सर्वांगीणता एवं सम्पूर्णता की ओर जब साधक गति करने लगे तो उसे समता धारी कहा जाय।

समताधारी साधकों की इस श्रेणी का विशिष्ट महत्त्व माना जाय, क्योंकि ये साधक ही वास्तव में तथा जनता की आंखों में समता की मशाल चमकाकर चलने वाले साधक होंगे, इन्हें और इनके आचरण को प्रत्यक्ष देखकर ही दूसरे लोग इनके प्रति तथा समता के प्रति प्रभावित बनेंगे। इस श्रेणी के साधकों का इस दृष्टि से दायित्व भी गंभीर होगा क्योंकि उनकी छोटी असावधानियां या भूलें भी समता के लक्ष्य को दुर्बल बना सकती हैं और जनता की नजरों में उसके प्रति प्रभाव को कम कर सकती हैं। अतः समताधारी निम्न अग्रगामी नियमों का अनुपालन करें —(अ) विषमता जन्य अपने विचारों, संस्कारों एवं आचारों को स्वयं समझना तथा उन्हें विवेकपूर्वक दूर करना। अपने आचरण से किसी भी प्राणी या उसके किसी भी प्राण को क्लेश नहीं पहुंचाना तथा सबके साथ सहानुभूति रखना। (ब) धन, सम्पत्ति तथा सत्ता प्रधान व्यवस्था के स्थान पर समतापूर्ण चेतना एवं कर्त्तव्य-निष्ठा को मुख्यता देना। (स) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं अनेकान्तवाद के स्थूल नियमों का पालन करना, उनकी मर्यादाओं में उच्चता प्राप्त करना तथा भावना की सूक्ष्मता तक गहरे पैठने का वैचारिकता के साथ प्रयास करते रहना। (द) समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों के समवितरण में आस्था रखना एवं व्यक्तिगत रूप से इन पदार्थों का यथा विकास, यथा योग्य जनकल्याणार्थ अपने पास से परित्याग करना। (य) परिवार की सदस्यता से लेकर ग्राम, नगर, राष्ट्र एवं विश्व की सदस्यता को निष्ठापूर्वक आत्मीय दृष्टि तथा सहयोगपूर्ण आचरण से अपने उत्तरदायित्वों के साथ निभाना। (र) जीवन में जिस किसी पद पर या कार्य क्षेत्र में प्रवृत्त हों वहां भ्रष्टाचरण से मुक्त रहकर समताभरी नैतिकता एवं प्रामाणिकता के साथ कुशलता से कार्य करना। (ल) स्व-जीवन में संयम को तो सामाजिक जीवन में सर्वदा नियमों को प्राथमिकता देना एवं अनुशासन को प्रतिष्ठित बनाना।

(३) समतादर्शी—समतादर्शी की श्रेणी में साधक का प्रवेश तब माना जाय जब वह समता के लिये बोलने और धारने से आगे बढ़कर संसार, राष्ट्र व समाज को समतापूर्ण बनाने व देखने की क्षमता प्राप्त करने लगे—दृष्टित्व को कृतित्व के साथ जोड़ने लगे। तब वैसा साधक अपने व्यक्तिगत व्यक्तित्व से ऊपर उठकर स्वयं एक समाज, संगठन, संस्था या आन्दोलन का रूप ले लेता है, क्योंकि तब उसका लक्ष्य परिवर्तित निजत्व को व्यापक परिवर्तन में समाहित कर लेना वन जाता है। ऐसा साधक साधुत्व के सन्निकट पहुंच जाता है जहां वह स्वहित को भी परहित में विलीन कर देता है तथा सम्पूर्ण समाज में सर्वत्र समता लाने के लिये जूझने लग जाता है। वह समता का वाहन वना रहने की बजाय तब समता का वाहक बन जाता है।

एक समतादर्शी साधक इन उच्चस्थ नियमों को अपने जीवन में रमा ले : (अ) समस्त प्राणीवर्ग को निजात्मा के तुल्य समझना तथा आचरना एवं समग्र आत्मीय शक्तियों के विकास में अपने जीवन के विकास को देखना। अपनी सामान्य विषमताभरी प्रवृतियों को भी त्यागते हुए अपना जीवनादर्श स्थापित करना एवं सबमें समता पूर्ण वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों के विकास को बल देना। (व) आत्मविश्वास की मात्रा को इतनी सशक्त बना लेना कि न अन्य प्राणियों के साथ और न स्वयं के साथ जाने या अनजाने में विश्वासघात की स्थिति पैदा हो। (स) जीवन क्रम के चौबीसों घंटों में समतामय भावना तथा आचरण का विवेकपूर्वक अभ्यास करना एवं जो कुछ करता रहे उसकी नित्यप्रति विशुद्ध भाव से आत्मालोचना भी अवश्य करना। (द) प्रत्येक प्राणी के प्रति सौहार्द्र, सहानुभूति एवं सहयोग रखते हुए दूसरों के सुख दुःख को अपना सुख दुःख समझना तथा पर दुःख निवारण की शुभता में प्रवृत्त रहना। (य) सामाजिक न्याय का लक्ष्य ध्यान में रखकर चाहे राजनीतिक या आर्थिक क्षेत्र में हो अथवा अन्य किसी भी क्षेत्र में —सदा आत्म बल के आधार पर अन्याय की शक्तियों से संघर्ष करना एवं अहिंसक असहयोग एवं अहिंसामय प्रयोग से सुधार लाने का प्रयास करते हुए समता के समस्त अवरोधों पर विजय प्राप्त करना। (र) चेतन व जड़ तत्त्वों के पृथकत्व को समझकर जड़ पदार्थों पर से ममत्व हटाना, सर्वत्र जड़ तत्त्वों की प्रधानता दूर करने में सक्रिय योगदान करना तथा चेतना को स्व-धर्म मानकर उसकी विकासपूर्ण समता में अपने समग्र जीवन को नियोजित कर देना। (ल) अपने जीवन में और बाहर के वातावरण में राग और द्वेष दोनों को संयमित करते हुए सर्व प्राणियों में समदर्शिता का अविचल भाव ग्रहण करना तथा अपनी चिन्तन धारा में उसे स्थायित्व देना। समदर्शिता की अवाप्ति को जीवन की समस्त उपलब्धियों का सार समझकर उस दिशा में एकनिष्ठा के साथ अग्रसर होते रहना।

समता साधना की इन तीनों श्रेणियों को इस रूप में देखना और समझना चाहिये कि तीसरी श्रेणी का समुचित विकास साध लेने पर साधुत्व की स्थिति सन्निकट आ जाती है। तीसरी श्रेणी को गृहस्थ धर्म के सर्वोच्च विकास के रूप में देख सकते हैं। ये जो तीनों श्रेणियों के नियम बताये गये हैं, इनके अनुरूप एक से दूसरी तथा दूसरी से तीसरी श्रेणी में आगे बढ़ने की दृष्टि से प्रत्येक साधक को अपना आचरण विचार एवं विवेक पूर्ण पृष्ठभूमि के साथ सन्तुलित एवं संयमित वनाते रहना चाहिये ताकि समता व्यक्ति के मन में और समाज के जीवन में चिरस्थायी स्वरूप ग्रहण कर सके। यही आत्म कल्याण एवं विश्व कल्याण का प्रेरक पाथेय है। समता साधना के इस क्रम को व्यवस्थित एवं अनुप्रेरक रूप देने की दृष्टि से एक समता समाज की स्थापना का निर्णय भी लिया जा सकता है तथा चाहे छोटे पैमाने से ही प्रारंभ किया जाय—उसके नियमोपनियमों का निर्धारण किया जा सकता है। ऐसा समता समाज सीमित सदस्यों के साथ ही भले प्रारंभ किया जाय किन्तु उन सदस्यों को गहरे दायित्व भाव से अपनी प्रवृत्तियों का संचालन करना होगा। क्योंकि वे समूचे समता दर्शन एवं व्यवहार के ज्योतिधारक तथा संदेशवाहक होंगे।

समता समाज की वैचारिक रूपरेखा

यह सत्य है कि किसी भी तत्त्व की आन्तरिकता ही मूल में महत्त्वपूर्ण होती है, किन्तु उसे अधिक प्राभाविक, अधिक बोधगम्य तथा अधिक कार्यक्षम बनाने के लिये उसके बाह्य स्वरूप की रचना करनी होती है। अपनी गंभीर आन्तरिकता को लेकर जब बाह्य स्वरूप प्रकट होता है तो वह

प्रेरणा एवं अनुकरण का प्रतीक भी बन जाता है। अन्तःकरण में जो कुछ श्रेष्ठ है, वह गूढ़ हो सकता है, किन्तु जब तक उसे सहज रूप में बाहर प्रकट नहीं करें, उसकी विशेषताओं का व्यापक रूप से प्रसार नहीं हो सकता है। समता दर्शन के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि यदि इसके भी बाह्य प्रतीक निर्मित कर दिये जांय तो इसके प्रचार-प्रसार में विशेष सुविधा होगी।

समता दर्शन का कोई अध्ययन करे तथा उसके व्यवहार पर भी कोई सक्रिय हो, किन्तु यदि ऐसे साधकों को एक सूत्र में बांधने तथा बांधे रखकर प्रचार माध्यमों को सशक्त बनाने के लिये किसी संगठन की रचना की जाय तो समता अभियान का एकीकृत रूप बनेगा और साधक भी परस्पर के सम्पर्क से अभियान को विशेष संवल दे सकेंगे। समता अभियान के ऐसे एकीकृत एवं संगठित स्वरूप से अधिकाधिक जन समुदाय इसकी तरफ आकर्षित हो सकेंगे तथा यथायोग्य रुचि लेना चाहेंगे। एक प्रकार से समता के दर्शन एवं व्यवहार पक्षों का मूर्त रूप ऐसा समता समाज होना चाहिये जो समता मार्ग पर स्वस्थ एवं स्थिर गति से अग्रसर हो और उस आदर्श की ओर अधिकाधिक लोगों को प्रभावित करे।

समाज में वर्तमान अनेक संगठनों में एक और संगठन की वृद्धि से क्या लाभ? मानव समाज कई राष्ट्रों में विभक्त होकर इतना विशाल समाज है कि एक ही बार में उसे समग्र रूप से आन्दोलित करना चाहें तो वह एक कठिनतम कार्य होगा और महान् कार्य भी एक साथ नहीं साधा जा सकता है। इसी कारण क्रमबद्ध रूप से आगे बढ़ना होता है। समतामय जीवन प्रणाली की स्थापना का कार्य और वह भी आज की विषमतम परिस्थितियों में अतीव दुरूह कार्य है। अपने नवीन परिप्रेक्ष्य में समता के विचार बिन्दुओं को हृदयंगम कराने तथा उसके आचरण को व्यापक रूप से अमल में लिवाने के लिये क्रमबद्ध कार्यक्रम सहित किसी जीवन्त संगठन का होना अत्यावश्यक है। संगठन की जीवन्तता उसके सदस्यों पर निर्भर करेगी, इसलिये समता समाज के सदस्य इच्छा और कर्मठ शक्ति के धनी होने चाहिये। उनका विचार पक्ष स्पष्ट होना चाहिये, हृदय क्ष सत्य शोधक तथा आचरण पक्ष परम पुरुषार्थी। सदस्यों की कर्मठता पर ही समता समाज को प्राभाविक बनाया जा सकेगा।

समता समाज के इस रूप में उद्देश्य निर्धारित किये जा सकते हैं—(१) व्यक्तिगत रूप से समता-साधक को समतावादी, समताधारी एवं समतादर्शी की श्रेणियों में साधनारत बनाना तथा उनके व्यक्तित्व को विकेन्द्रित करने की दिशा में उन्हें प्रगति कराना। (२) मन की विषमता से लेकर विश्व के विभिन्न क्षेत्रों की विषमताओं से संघर्ष करना एवं सर्वत्र समता की भावना का प्रसार करना। (३) व्यक्ति और समाज के हितों में ऐसे तालमेल बिठाना, जिससे दोनों पक्ष समतामय स्थिति बनाने में एक दूसरे की पूरक शक्तियां बन सकें—समाज व्यक्ति के लिये समतल धरातल बनावे तो व्यक्ति उस पर समता सदन का निर्माण करे। (४) स्वार्थ, परिग्रह की ममता एवं वितृष्णा को सर्वत्र घटाने का अभियान छेड़कर स्वार्थों तथा विचारों के संघर्षों को रोकना तथा सामाजिक न्याय एवं सत्य को सर्वोपरि महत्त्व देना। (५) स्थान-स्थान पर समता साधकों को संगठित करके समाज की शाखाओं उपशाखाओं की स्थापना करना, सामान्य जन को समता का महत्त्व समझाने की दृष्टि से विविध संयत प्रवृत्तियों का संचालन करना एवं सम्पूर्ण समता उत्क्रान्ति की दिशा में सचेष्ट रहना।

यह समाज किसी विशिष्ट सम्प्रदाय, वर्ग या जाति समूह का नहीं होना चाहिये तथा न ही इसे किसी व्यक्ति विशेष से ही प्रभावित रखा जाना चाहिये। सच कहें तो यह संगठन सभी समता साधकों का होगा जो समता के दार्शनिक और व्यावहारिक पक्षों के विचार तथा आचरण में एकनिष्ठा रखते होंगे एवं संगठन को अपने प्राणपण से अभिवृद्ध बनायेंगे। कर्मठ क्रियाशीलता ही संगठन की शक्ति होगी।

समता समाज के संगठन एवं संचालन का कार्य गृहस्थों के अधीन ही रहे क्योंकि समता अभियान के प्रसार का मुख्य कार्य क्षेत्र भी तो मूल रूप में सांसारिक क्षेत्र ही होगा। सांसारिक जीवन की विषमताओं के विरुद्ध ही इस संगठन को पहला मोर्चा साधना होगा और वहां की सफलता के साथ आध्यात्मिक क्षेत्र में भी कार्य का विस्तार हो सकेगा। यों साधकों की साधना मुख्य रूप से समीक्षण ध्यान पद्धति पर आधारित होगी तथा उनकी व्यक्तिगत जीवन शैली अधिकाधिक आध्यात्मिक ही होगी। प्रारंभ में तो समता समाज का अपना विधान हो, उत्तरदायी पदाधिकारी हों तथा अभियान को फैलाते जाने की सुगठ योजना हो। अभियान में ज्यों-ज्यों सफलता मिलती जावे, संगठन के कार्य एवं क्षेत्र का विस्तार होता रहे।

समता समाज के संगठन के सम्बन्ध में एक तथ्य सदा ध्यान में रखा जावे कि यह संगठन अनेकानेक संगठनों की तरह नगण्य संगठन ही बनकर न रह जाय अथवा समग्र सामाजिक दृष्टिकोण से अलग-थलग न पड़ जाय। समता समाज का प्रारंभ इसी विस्तृत दृष्टिकोण के साथ होना चाहिये कि उसका उद्देश्य समूची मानव जाति में समता स्थापित करना है। आरंभ भले छोटे समुदाय से और छोटे क्षेत्र से हो किन्तु भावी विस्तार व्यापक क्षेत्र में होना चाहिये। यह विस्तार इस तथ्य पर निर्भर करेगा कि संगठन सदा व्यापक जनहितों से जुड़ा रहता है और उसके सदस्य विशाल दृष्टिकोण, गहरी आस्था तथा अमित उत्साह से ओतप्रोत बने रहते हैं। किसी भी संगठन को जीवन्त वनाने के लिये उसमें जीवनी शक्ति लगानी पड़ती है तथा आत्मयोग देना पड़ता है।

समता की जय यात्रा

मशाल कुछ हाथ ही थामते हैं किन्तु उसकी रोशनी से अनेक चेहरों को वे रोशन बनाते हैं तो उन चेहरों को रोशनी की आब देकर उन हाथों को भी मशालें उठाने के लिये तैयार कर देते हैं। इसे ही एक बाती से दो और हजार बतियां जलाने की प्रक्रिया कहते हैं। प्रकाश-दान से प्रकाश विस्तार होता है, उसी तरह समता लेने और समता देने से समता का विस्तार और प्रसार होगा।

समतावादी, समताधारी तथा समतादर्शी के स्थूल चरणों में समता का स्वरूप विकसित वनकर छः काय के रक्षक रूप में परिणत हो सकेगा और तव तक समीक्षण ध्यान की साधना में परिपक्वता प्राप्त कर लेगा। फिर समीक्षण ध्यान से समता की यात्रा समता की जय यात्रा के रूप में चलेगी जो चौदह गुणस्थानों के सोपानों पर आरूढ़ होती हुई समदर्शिता के शिखर तक पहुंच जायगी। इस जय यात्रा का समापन सिद्धावस्था में शाश्वत आनन्द, अव्याबाध सुख एवं अक्षय शान्ति के साथ होगा और यही जय यात्रा आत्म विकास की जय यात्रा बन जायगी जो सदा काल के लिये आत्मिक जय विजय का रूप ले लेगी।